

महामहोपाध्याय
गौरीशंकर हीराचंद ओझा

के सम्मान में समर्पित

भारतीय अनुशीलन-ग्रन्थ



हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग



הנהגת הרכבת הלבנה
[1940]

महामहोपाध्याय
गौरीशंकर हीराचंद ओझा

के करकमलों में

उन के ७०वें वर्ष की पूर्ति के उपलक्ष में
उन के देश-विदेश के मित्रों, सहयोगियों और शिष्यों के
ये अनुशीलन

अनेक मंगल-कामनाओं के साथ

समर्पित

११ चैत्र, सं० १९९०
२३वाँ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, दिल्ली

प्राक्कथन

यह ओम्भा-अभिनन्दन-ग्रन्थ सर्व-साधारण, विरोधतः हिन्दीमर्मज्ञ जनता, के समुक्त उपस्थित करने में मुझे वर्षानातीत हर्ष हो रहा है। मेरे प्राचीन एवं प्रतिष्ठित मित्र महामहोपाध्याय रायबहादुर पण्डित गौरीशंकर हीराचन्द जी ओम्भा ने हिन्दी एवं विद्वत्ता की जो कुछ प्रकाण्ड सेवा की है वह केवल हिन्दी-संसार ही क्यों बरन भारतीय एवं योरोपीय विद्वन्मण्डली को भी भली भाँति विदित है। उस का बहुत-कुछ परिचय इस ग्रन्थ-रत्न के अवलोकन से सूक्ष्मरीत्या मिल जायगा और यह भी प्रकट होगा कि विद्वानों में ओम्भा जी का कैसा मान है। मेरे सभापतिव्र मे दिसम्बर १९३२ में जो अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की बैठक ग्वालियर में हुई उस अवसर पर यह प्रस्ताव पास हुआ कि ओम्भा जी की आयु के ७० वें वर्ष की पूर्ति के उपलक्ष्य में सम्मेलन के अगले अधिवेशन पर उन्हें भारतीय और विदेशी विद्वानों के सहयोग से एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया जाय। उक्त ग्रन्थ के आयोजन और सम्पादन के लिए सम्मेलन ने छः सज्जनों की एक उपसमिति नियुक्त की जिस के संयोजक का काम प्रोफेसर जयचन्द्र जी विद्यालंकार को दिया गया।

विद्यालंकार जी ने इस महत् कार्य में किस योग्यता और उत्साह से काम किया इस का परिचय मुझे इस कारण से बहुत-कुछ हो सका कि सम्मेलन के तत्कालीन सभापति के नाते से प्रायः समस्त साल भर बरन कुछ अधिक समय तक अपील, पत्रों इत्यादि पर मुझे निरन्तर हस्ताक्षर करना पड़ा और कभी कभी मैंने उन से कुछ अपनी ओर से भी वडा देने की धृष्टता की। हर्ष का विषय है कि जैसे एतद्देशीय एवं विदेशी विद्वानों ने इस ग्रन्थ के लिए उत्तमोत्तम और सहस्र-पूर्ण लेख भेजे वैसे ही राजा-महाराजाओं के साथ अनेक धनी-भानी मनुष्यों तथा सर्वसाधारण ने भी अच्छी आर्थिक सहायता की, जिस से ग्रन्थ समय पर आप लोगों की सेवा में उपस्थित हो सका। कहना न होगा कि यदि हमारे रईस एवं अन्य धनी भाई कुछ विशेष उदारता से तथा अधिक संख्या में आर्थिक सहायता करने की अनुकम्पा दिखाते तो कार्यकर्ताओं को समय समय पर कुछ भी कष्ट उठाना न पड़ता। अस्तु, जैसे-वैसे काम चल ही गया और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के पिछले (दिल्ली वाले) अधिवेशन के अवसर पर (जिस में मैं भी उपस्थित था) श्रीमान् ओम्भा जी के कर-कमलों में इस ग्रन्थ की एक प्रति समर्पित की जा सकी। ५० जयचन्द्र जी विद्यालंकार भी वहाँ थे और उन्होंने ने अपनी वक्तृता में ग्रन्थ के उपस्थित करने में जो कुछ कठिनाइयाँ पड़ी थीं तथा उस में कौन कौन विगिष्ट बातें हैं इन का रांचक वर्णन किया।

किन किन विद्वानों ने इस ग्रन्थ के लिए कौन कौन से, किन विषयों पर लेख दिये इस के विशेष वर्णन की आवश्यकता नहीं क्योंकि पाठक-गण उसे आप ही देख लेंगे। मैं समझता हूँ कि मित्रवर ओम्भा जी के उक्त पाण्डित्य, पुरातत्व-ज्ञान एवं व्यक्तित्व का ही यह फल है कि हिन्दी, बँगला, मराठी, गुजराती,

उड़िया, आसमिया, सिंधली, मलयालम, फ़ारसी, अँगरेज़ी, जर्मन, अमेरिकन, ओलन्डैज़, फ़्रेंच, स्वीड तथा रूसी विद्वानों ने ऐसे ऐसे चक्कड़ लेख दे कर इस ग्रन्थ-रत्न की शोभा बढ़ाई है। इन के विषय बहुत गम्भीर हैं एवं ढंग गवेषणा-पूर्ण और महत्त्वगर्भित हैं। वैदिक एवं पिछले प्राचीन काल से ले कर वर्तमान समय तक की बातें इन में आई हैं और अवश्य ही इन के अवलोकन से हिन्दी-रसिकों की ज्ञान-वृद्धि होगी। जैसी कि आशा की जा सकती थी यह ग्रन्थ वास्तव में हिन्दी-भण्डार का एक बड़ा ही देदीप्यमान रत्न होगा और सभी हिन्दी-रसिकों को इस का ध्यानपूर्वक पठन एवं मनन करना चाहिए। “को बड़ छोट कहत अपराधू” के भय से हम किसी लेखक अथवा लेखविशेष का विशिष्ट वर्णन करना उचित नहीं समझते। ग्रन्थावलोकन से पाठकों को इस का भान आप ही हो जायगा। तो भी इतना कहे बिना नहीं रहा जाता कि इस में कम से कम एक दर्जन लेख बड़े ही स्व श्रेणी के हैं और ऐसा लेख एक भी नहीं जिस में कुछ न कुछ विशेषताएँ अथवा महत्त्व की सामग्री न हो।

जिन महानुभावों ने दान दे कर इस महत् कार्य में सहायता की है उन के शुभ नाम अन्यत्र मिलेंगे। इन महानुभावों की उदारता के बिना कुछ हो ही नहीं सकता था और ये हिन्दी-रसिकों के विशेष धन्यवाद-पात्र हैं। इन में प्रायः सर्वोच्च दान देने वाले एक-दो ऐसे महापुरुष हैं जिन्होंने ने इतनी उदारता दिखलाते हुए भी अपना कुछ भी पता एवं नाम तक प्रकट नहीं किया। ऐसे दानियों से भारत का शिर अब भी ऊँचा है।

ग्रन्थ-सम्पादन का मुख्य काम भी श्री जयचन्द्र जी विद्यालंकार ने ही बड़ी योग्यता से सँभाला और पूरा किया। विद्वान् सम्पादकों की इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। आप महानुभावों के उत्साह एवं निरन्तर उद्योग के बिना इस में सफलता प्राप्त होना प्रायः असम्भव हो जाता। इन्होंने इस कार्य में जो जो सहायताएँ मिलीं एवं कठिनाइयाँ भेलनी पड़ीं उन का कुछ विस्तृत वर्णन “वस्तु-कथा” नामक सम्पादकीय भूमिका में लिखा गया है। अपनी तथा पाठकों की ओर से विद्यालंकार जी एवं अन्य सम्पादकों तथा लेखकों और सहायकों को भूरि भूरि धन्यवाद देते हुए हम इस बकव्य को यहीं समाप्त करते हैं।

श्यामबिहारी मिश्र

(रावराजा, रायबहादुर)

तत्कालीन सभापति हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन।

गोलागंज, लखनऊ }
रविवार, ज्येष्ठ कृ० }
६ संवत् १८६१, }
ता० ३-६-१८३४, }

वस्तु-कथा

महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपना जीवन भारतीय इतिहास की खोज के लिए अर्पित किया है। वे हम लोगों के बुजुर्ग हैं। अपनी सब रचनायें उन्होंने ने हिन्दी में ही की हैं। उन्हें एक ग्रन्थ भेंट करने का प्रस्ताव कर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने एक शुभ अनुष्ठान किया। इस ग्रन्थ को द्वारा ओझा जी के अनेक मित्रों और सहयोगियों को उन्हें पत्र-पुष्प भेंट करने का अवसर मिला है। इस ग्रन्थ के सम्पादन का कार्य सम्मेलन ने हमें सौंपा। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (२२ वें अधिवेशन, ग्वालियर) का वह प्रस्ताव इस प्रकार था :—

“यह सम्मेलन निश्चय करता है कि प्रसिद्ध भारतीय ऐतिहासिक और पुरातत्ववेत्ता रायवहादुर महामहोपाध्याय पं० गौरीशङ्कर हीराचन्द जी ओझा की आयु के ७० वें वर्ष की पूर्ति के उपलक्ष्य में सम्मेलन के अगले अधिवेशन पर उन्हें भारतीय और विदेशी विद्वानों के सहयोग से एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया जाय। उस ग्रन्थ के आयोजन और सम्पादन के लिए सम्मेलन निम्नलिखित सज्जनों की एक उपसमिति नियुक्त करता है :—

१. आयुत काशीप्रसाद जी जायसवाल
२. ,, दीवानबहादुर हरविलास जी सारवा
३. ,, रायवहादुर हीरालाल जी
४. ,, सरदार माधव विनायक किवे
५. ,, डा० सुनीतिकुमार चटर्जी
६. ,, प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकार (संयोजक)।”

सम्मेलन में यह प्रस्ताव आने से पहिले भी हीरालाल, हरविलास, काशीप्रसाद और जयचन्द्र ने इस विषय पर परस्पर परामर्श किया था। सम्मेलन के प्रधानमंत्री पं० रमाकान्त मालवीय ने कार्य में बड़ी रुचि दिखलाई, इसी से यह प्रस्ताव सम्मेलन में उपस्थित हुआ। प्रस्ताव की सूचना पाने पर माधवराव किवे और सुनीति चटर्जी ने भी सहर्ष अपना सहयोग दिया।

जनवरी १९३३ में काशीप्रसाद और जयचन्द्र ने पटना में मिल कर तथा अन्य सदस्यों से पत्रों-द्वारा परामर्श कर के ग्रन्थ की योजना निश्चित की। यह निश्चय हुआ कि ग्रन्थ में केवल भारतीय खोज-विषयक लेख हों, वे लेख चाहे किसी भी भाषा में हों, और भारतीय भाषाओं के सब लेख नागरी लिपि में छापे जायें। इस के अनुसार विद्वानों से लेख माँगे गये। देश-विदेश के विद्वानों से हमें जो सहयोग मिला, वह बहुत ही उत्साहजनक था।

जर्मनी से तीन लेख हमें इण्डिया इन्स्टिट्यूट ऑफ़ हायर्स एकाडमी की कृपा से प्राप्त हुए हैं, इसी प्रकार आयुत दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य का लेख वरन्ड-अनुमन्थान-समिति राजशाही की कृपा से। हम इन संस्थाओं के

बड़े कृतज्ञ हैं, और विशेष कर इण्डिया इन्स्टीट्यूट के मंत्री डा० फ्रांत्स थियरफेल्डर कं। जर्मनी से आने वाले तीन लेखों में से दो अंगरेज़ी में थे, और उन के विषय में हमें आदेश मिला था कि उन का हिन्दी अनुवाद छापा जाय। गिरनार अभिलेखों के बीच ओम्ना जी का जो पुराना चित्र दिया गया है वह श्रीयुत चिरंजीलाल नाथूलाल व्यास की कृपा से मिला है।

इच्छा रहते हुए भी बीमारी बुढ़ापे आदि के कारण कुछ विद्वान इस कार्य में सम्मिलित न हो सके, उन्होंने न अपनी शुभकामनाये भेजीं। उन में से विशेष उल्लेखयोग्य नाम सिंहल के श्रीयुत विक्रमसिंह, ईंग्लैण्ड के सर एडवर्ड गेट, सर ज्यार्ज मिथर्सन, डा० टर्नर, धूलिया (खानदेश) के पं० श्रीधरशास्त्री पाठक, नेपाल के राजशुक्र श्रीयुत हेमराज पंडितल्यू तथा तोकियो के प्रो० गामो के हैं।

सूची समिति की बैठक कभी एक स्थान पर नहीं हुई, पर जब तब मिल कर तथा पत्रों द्वारा हम लोग इस ग्रन्थ के सम्पादन के विषय में बराबर परामर्श करते रहे हैं। जनवरी १८३३ में काशीप्रसाद और जयचन्द्र पटना में मिले, फरवरी में किये और जयचन्द्र इन्दौर में, अप्रैल में हरद्वारा और जयचन्द्र दिल्ली में, मई में हीरालाल, काशीप्रसाद और जयचन्द्र काशी में, सितम्बर में काशीप्रसाद और जयचन्द्र प्रयाग में, दिसम्बर में हीरालाल, काशीप्रसाद, सुनीति और जयचन्द्र बड़ौदा में।

सितम्बर में पं० रमाकान्त मालवीय के प्रयाग से चले जाने और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का कार्य छोड़ देने से कठिनाई उपस्थित हुई। उन के उत्तराधिकारियों ने ग्रन्थ के खर्च जुटाने का दायित्व लेने से इनकार कर दिया; तब आगरा के अध्यापक रामरत्न जी तथा इस समिति के संयोजक ने वह दायित्व अपने ऊपर लिया।

हमें आर्थिक सहायता दिलवाने का जिन सज्जनों ने विशेष उद्योग किया उन में से सीतामऊ के महाराज-कुमार श्री रघुवीरसिंह जी एम० ए०, एल० एल० बी० का, जो स्वयं एक होनहार ऐतिहासिक हैं, इंगरपुर के महाराजा साहब श्री नागेन्द्रसिंह जी का, इन्दौर राज्य के प्रधान-मंत्री बड़ीबहीला रा० ब० श्री सिरमल जी बापना बी० ए०, बी० एस-सी०, एल० एल० बी०, सी० आई० ई० का, और अजमेर के श्रीयुत किशनलाल दुर्गाशंकर दुबे तथा श्रीयुत नाथूलाल भगीरथ व्यास का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन सब सज्जनों के प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं। सहायता देने वाले महाशयों की सूची अलग प्रकाशित की जा रही है। इण्डियन प्रेस प्रयाग के मालिकों और संचालकों के भी हम अनुगृहीत हैं कि उन्होंने ने रियायती दर पर हमारा ग्रन्थ छापना स्वीकार किया।

प्रेस में ग्रन्थ के सम्पादन के लिए श्रीयुत वीरसेन मेहता विद्यालंकार नियुक्त किये गये। प्रो० हाचअर तथा प्रो० स्ट्रॉस के लेखों के अनुवाद तथा अधिकांश लेखों के हिन्दी सार श्रीयुत वीरसेन ही के किये हुए हैं। भाषातत्त्व-विभाग के अंगरेज़ी लेखों के सारों का हिन्दी अनुवाद श्रीयुत धीरेन्द्र वर्मा ने करने की कृपा की है। विभिन्न भाषाओं से नागरी लिप्यन्तर और अनुवाद करने के काम में निम्नलिखित सज्जनों और संस्थाओं ने सहायता देने की कृपा की है।

बंगला—श्री नारायणदत्त पाण्डेय, बी० ए०, प्रयाग।

श्री अमलानन्द घोष, एम० ए०, प्रयाग।

श्री जयगोपाल चट्टोपाध्याय एम० ए०, प्रयाग।

छहिया—श्री शरच्चन्द्र पटनायक, गोरखपुर।

श्री सामन्त राय, बी० एस-सी०, प्रयाग।

सिंहली—श्री अभयमिह परेरा, काशी।

सलयाल्लम—दक्षिण-भारत-हिन्दी-प्रचार-सभा, मद्रास।

फारसी—श्री मुहम्मद नैसुर्रहमान, पुम० ए०, प्रयाग।

„ मुहम्मद गुलाम फ़ादिर, बी० ए०, प्रयाग।

जर्मन—श्री पाउल ह्यूगो तैमोदोर सेमि, प्रयाग।

श्री चैत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय पुम० ए०, प्रयाग।

हसी लेख का अँगरेज़ी सार लिख देने की कृपा कलकत्ता-विश्वविद्यालय के अरबी-फारसी विभाग के श्रीयुत वेम्दानोव ने की है। श्रीयुत अभयसिंह परेरा, श्रीयुत नैसुर्रहमान तथा श्री अभिलानन्द बोष ने सिंहल, फारसी और जर्मन लेखों को प्रूफ देखने की भी कृपा की है।

दूसरी भाषाओं के कई उच्चारणों के लिए जो नये संकेत हम ने नागरी में बनाये हैं, वे अभी केवल काम-चलाऊ हैं; हम उन्हें पूर्ण और परिपक्व नहीं कहते। इस अंग में और खोज तथा अभ्ययन की आवश्यकता है। हमें खेद है कि फारसी से नागरी में लिप्यन्तर आधुनिक जीवित फारसी उच्चारण के अनुसार नहीं हो सका, प्रत्युत फारसी के भारत में प्रचलित उच्चारण के अनुसार हुआ है। श्रीयुत नैसुर्रहमान की सहायता यदि हमें पहले मिल गई होती तो यह त्रुटि न रहने पाती। बँगला और आसमिया से नागरी लिप्यन्तर करने में उन भाषाओं की लिखावट का अनुसरण किया गया है न कि उच्चारण का। किन्तु इस सम्बन्ध में सुनीति चटर्जी ने निम्नलिखित नियम बना दिये थे—

(१) तद्भव शब्दों में—

‘य’ के बजाय ‘ज’ और ‘व’ के बजाय ‘ब’ लिखा जाय, जैसे ‘याहव’ के बजाय ‘जाहव’, ‘याय’ के बजाय ‘जाय’।

(२) तद्भव भाव-वाची शब्दों के अन्त में ‘या’ के बजाय ‘भा’ लिखा जाय, जैसे ‘यामोया’ के बजाय ‘जामोभा’।

इन अंशों में बँगला और आसमिया का नागरी लिप्यन्तर उच्चारणानुसार किया गया है।

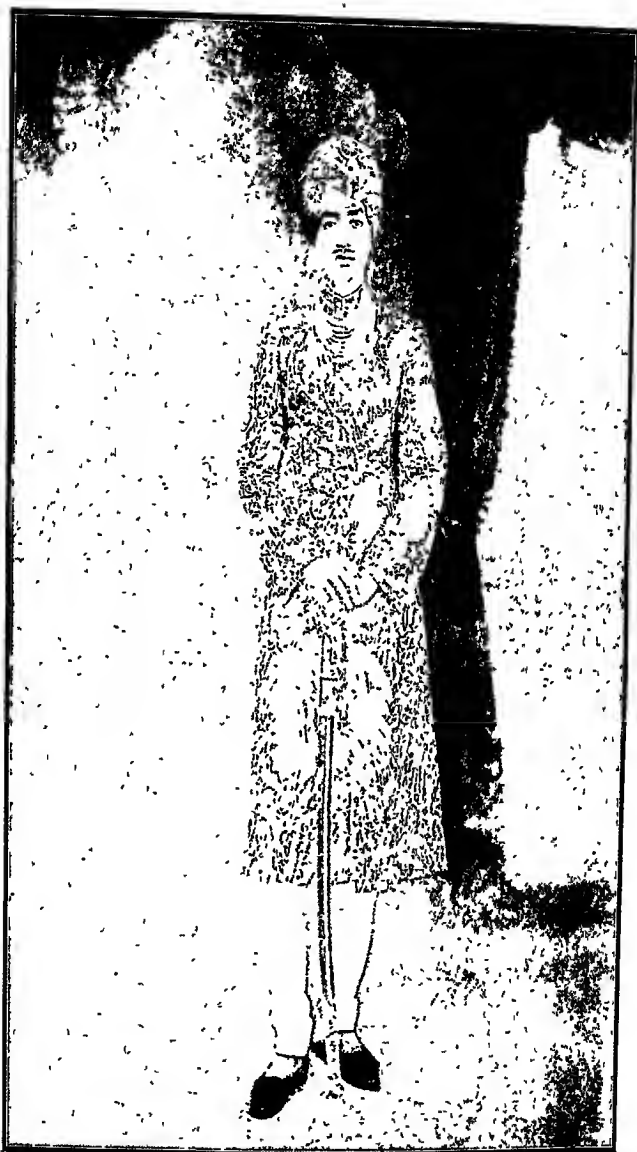
समितिक के मंत्री का ध्यान खर्च जुटाने में लग जाने से तथा आर्थिक सहायता आने में देर होने से, ग्रन्थ के सम्पादन में अनेक त्रुटियाँ रह गई हैं। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की तरफ से छपाई आदि का प्रबन्ध बहुत देर में होने के कारण लेखकों के पास प्रूफ भेजने की समय नहीं रहा। जनवरी १९३४ के अन्त में प्रेस के साथ प्रबन्ध हो पाया और वास्तविक छपाई ५ मार्च से शुरू हुई। २५ मार्च को ग्रन्थ दिल्ली में ओम्हा जी को भेंट किया जाने का था। इस दौड़-भूप में छपाई की बहुत भूलचूक रह गई, जिस के लिए हमें अत्यन्त खेद है। हमें विशेष कर उन लेखकों से क्षमा माँगना है जिन्होंने हमें प्रूफ भेजने का आदेश दिया था।

२४ मार्च की संध्या तक ग्रन्थ के पूर्ण हो जाने का सब प्रबन्ध कर लिया गया था; परन्तु अन्तिम दिनों हमें सूचना मिली कि राजपूताना के दो तीन और राज्य ग्रन्थ की सहायता में योग देना चाहते हैं; इस लिए सहायता की सूची और प्रस्तावना आदि छपाये बिना तथा कुछ लेखों की छपाई भी स्थगित कर के ग्रन्थ की एक

प्रति तैयार की गई और वही १२ चैत्र सं० १८६० (२६ मार्च सन् १८३४ ई०) को दिल्ली में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के २३ वें अधिवेशन में ओझा जी को भेंट की गई।

इस ग्रन्थ से एक नई पद्धति स्थापित हो रही है। विभिन्नभाषी भारतीय विद्वान् अभी तक एक दूसरे की कृति अँगरेज़ी में पढ़ते हैं। परन्तु इस ग्रन्थ से प्रकट होगा कि वे अपनी-अपनी भाषा में लिखें, और उन के लेखों का केवल नागरी लिप्यन्तर कर दिया जाय तो थोड़े ही यत्न से वे एक दूसरे का अभिप्राय समझ सकते हैं। गत वर्ष के आरम्भ में जब हम ने इस शैली का प्रस्ताव किया, तभी बहुत से विद्वानों ने इस का स्वागत किया और अनेक ने स्वयं अपने लेख नागरी में लिख कर भेजे। अनेक महाराष्ट्र, बंगाली और गुजराती विद्वानों ने हिन्दी में ही अपने लेख दिए हैं। भारतीय विद्वानों में अपने विचारों के परस्पर आदान-प्रदान की यह पद्धति क्रमशः पुष्ट होती जाय तो हमारा प्रयत्न सफल होगा। जिन ओझा जी ने आधुनिक हिन्दी में इतिहास-ग्रन्थ लिखने की शैली पहले-पहल चलाई है, उन्हीं को सम्मान में समर्पित इस ग्रन्थ से इस नई पद्धति का सूत्रपात होना आशाप्रद और मंगल-मूलक है।

हीरालाल,
हरविलास सारङ्ग,
का० प्र० जायसवाल,
मा० वि० किवे,
श्री सुनीलकुमार चटर्जी,
जयचन्द्र नारङ्ग।



श्रीमान् द्विज हाइनेस रायरायण महाराजाधिराज महाराजलजी श्री लक्ष्मणसिंहजी बहादुर डुंगरपुर-नरेश
 [आप मेवाड़ के गुहिल राजवंश की बड़ी शाखा के प्रमुख वंशधर हैं। आप होनहार एवं
 साहित्य-प्रेमी नरेश हैं। आपको इतिहास से विशेष अभिरुचि है।]

सहायता की सूची

(प्राप्ति-तिथि-क्रम से)

गुप्त दान ।

विद्याधिकारी बड़ौदा राज्य ।

श्रीमान् हिज़ हाइनेस् राय-ए रायान्, महारावल ओ लक्ष्मणसिंह जी बहादुर, डूंगरपुर ।

श्रीमान् मेजर-जनरल हिज़ हाइनेस् महाराजाधिराज राजराजेश्वरशिरोमणि महाराणा श्री सर गंगासिंह जी बहादुर, जी० सी० एस्० आई०, जी० सी० आई० ई०, जी० सी० वी० ओ०, जी० वी० ई०, के० सी० वी०, एल्-एल्० वी०, ए० वी० सी०, बीकानेर ।

श्रीमान् गोस्वामी श्री ब्रजभूषणलाल जी, कॉकरोली, मेवाड़ ।

श्रीमान् हिज़ हाइनेस् महाराजाधिराज राज-राजेश्वर सवाई बशवन्तराव जी होल्कर बहादुर, इन्दौर ।

श्रीमान् हिज़ हाइनेस् महाराणा श्री वीरभद्रसिंह जी रत्नसिंह जी बहादुर, लूणावाड़ा ।

गुप्त दान ।

श्रीमान् हिज़ हाइनेस् राय-ए रायान् महारावल जी सर पृथ्वीसिंह जी बहादुर, के० सी० आई० ई०, बॉसवाड़ा ।

श्रीमान् हिज़ हाइनेस् महाराजाधिराज महाराणा जी सर भूपालसिंह जी बहादुर, जी० सी० एस्० आई०, के० सी० आई० ई०, उदयपुर (मेवाड़) ।

श्रीमान् महाराजा रामानुजशरणासिंह जी देव, सी० वी० ई०, सरगुजा ।

श्रीमान् हिज़ हाइनेस् धर्मदेवाकर महाराजाधिराज महाराजराना जी राजेन्द्रसिंह जी देव बहादुर, भालरापाटन (भालावाड़) ।

श्रीमान् लेफ्टिनेण्ट-कर्नल हिज़ हाइनेस् राजराजेश्वर महाराजाधिराज नरेन्द्रशिरोमणि महाराजा सर चम्पेदसिंह जी बहादुर, जी० सी० आई० ई०, के० सी० एस्० आई०, के० सी० वी० ओ०, जोधपुर (मारवाड़) ।

प्रतिष्ठापकों की सूची

(तिथि-क्रम से)

सूचना—प्रतिष्ठापक शुल्क २५, रक्खा गया था ।

- १ अध्यापक रामरत्न जी, रत्नाश्रम, आगरा ।
- २ पं० विश्वेश्वरनाथ रेऊ, साहित्याचार्य, अव्यक्त पुरातत्त्व विभाग, जोधपुर (भारवाड़) ।
- ३ रायबहादुर वासुदेव अनन्त बाम्बहेकर, नासिक ।
- ४ सेठ लालचन्द्र जी सेठी, विनोद मिल्स, उज्जैन ।
- ५ पं० हरिनारायण जी पुरोहित, वट्टबीलदारों का रास्ता, जयपुर ।
- ६ पं० शिवदत्त जी शर्मा, रेल्वे क्लियरिंग आफिस, दिल्ली ।
- ७ रावराजा सरदारसिंह जी बहादुर, बखियारा, जयपुर-राज्य ।
- ८ रायबहादुर बाबू नौदमल जी जैन, चन्दननिवास, अजमेर ।
- ९ सेठ भागचन्द जी सांती, अनूप चौक, अजमेर ।
- १० दीवानबहादुर हरवल्लभ जी सारखा, अजमेर ।
- ११ स्व० रायबहादुर डा० हीरालाल जी, डी० लिट०, कटनी ।
- १२ रायबहादुर डा० सरजूप्रसाद जी तिवारी, १२ तुकोगंज, इन्दौर ।
- १३ रावसाहब श्री विजयसिंह जी, मसूदा-भवन, मसूदा, अजमेर-मेरवाड़ा ।
- १४ रावराजा रायबहादुर पं० श्यामबिहारी मिश्र, एम० ए०, १०५ गोलार्गज, लखनऊ ।
- १५ श्रीयुक्त भेलाराम जी वैश्य, भिवानी, हिसार ।
- १६ पं० सर सुखदेवप्रसाद जी, के० टी०, सी० आई० ई०, प्राइम मिनिस्टर, उदयपुर, मेवाड़ ।
- १७ रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास जी, भेलूपुर, काशी ।
- १८ बा० दुर्गाप्रसाद जी खेतान, ४३ ज़करीया स्ट्रीट, कलकत्ता ।
- १९ श्रीयुक्त गांगेय नरोत्तम शास्त्री, गांगेय-भवन, नं० १२ आशुतोष दे लेन, चितरञ्जन एवेन्यू नॉर्थ, कलकत्ता ।
- २० राजा जी साहेब श्री अमरसिंह जी, बनेड़ा, मेवाड़ ।
- २१ श्रीयुक्त बाबू शिवप्रसाद जी गुप्त, सेवा-वपवन, नगवा, काशी ।
- २२ राय रामचरण जी अग्रवाल, एम० ए०, एल्ल-एल्ल० बी०, रईस, बड़ी कोठी, दारार्गज, प्रयाग ।
- २३ श्रीयुक्त बेनीप्रसाद जी अग्रवाल, एम० ए०, एल्ल-एल्ल० बी०, कटरा, इलाहाबाद ।
- २४ सरदार माधव विनायक किशो, सरस्वतीसदन, इन्दौर ।

विषय-तालिका

	पृष्ठ
समर्पण	(३)
प्राक्कथन	(५)
चस्तुकथा	(७)
सहायता की सूची	(११)
प्रतिष्ठापकों की सूची	(१२)
विषय-तालिका	(१३)
चित्र-सूची	(१७)
संक्षेप और संकेत	(१८)

विभाग १. वेद, अविस्ता, प्रागैतिहासिक

हमारा वैदिक तथा आधुनिक प्रचलित पञ्चांग (हिन्दी)	५
गोविन्द सदाशिव आप्टे	
प्रात्यसमस्या और अथर्ववेद का १५वों काण्ड (हिन्दी)	१३
याकोब विन्हेल्म हावन्नर	
सद्गु (हिन्दी)	२३
गॉटो स्ट्रावस	
ऋग्वेद देवता (बंगला)	२४
विनयतोप भट्टाचार्य	
शिभदेव (हिन्दी)	३२
विश्वेश्वर भट्टाचार्य	
ऋग्वेद की दानस्तुतियों में ऐतिहासिक उपादान (हिन्दी)	३४ ✓
मथिलाल धवेज	
ईरान वैज (फारसी)	४३
पूर-मु-दाऊद	
Aryans and the Indus Valley Civilisation (अंगरेजी)	
आर्थर बेरिडेल कीय	

६. वैदिक साहित्य उद्भिदेर कथा (बंगला)	६७-
एकेन्द्रनाथ घोष	
१०. भारतीय संस्कृति का सूत्रपात (हिन्दी)	८१
सुनीतिक्कुमार चट्टोपाध्याय	

विभाग २. पिछला प्राचीन काल

१. The Buddha and his Maternal Clan (अँगरेजी)	३.
जीन प्रडुलूस्की	
२. Note on Takshashīla and Its Name (अँगरेजी)	५
स्टेन कोनौ	
३. आर्यभट्टजुआमूलकल्प (हिन्दी)	१०
काशीप्रसाद नायसवाल	
४. Some Rajput Traditions in South India (अँगरेजी)	१५
साहेद्वै कृष्णस्वामी येयंगर	
५. The Initial Year of the Little Known Eastern Ganga Era (अँगरेजी)	२०
रहबोहि सुब्बाराव	

विभाग ३. मध्य काल

१. New light on the History of the Gujarat Rāshtrakūtas (अँगरेजी)	३.
अनन्त सदाशिव अस्तेकर	
२. कवि धोयी और उस का पवनदूत कान्य (हिन्दी)	७.
केशवलाल हर्षदराय ध्रुव	
३. कर्ण सोलंकी (गुजराती)	१४
रामलाल सुनीलाल मोदी	
४. महाराज कुमारपाल चौलुक्य (हिन्दी)	२६
हिमाञ्जुविजय	
५. जावा के हिन्दू साहित्य के कुछ मुख्य ग्रन्थों का परिचय एवं उन की ऐतिहासिक व्यवयोगिता (हिन्दी)	३८
बहादुरचन्द्र व्यासदा	
६. ओडिशार मध्ययुग राजवंशादिर परिचय (उड़िया)	५०
परमानन्द आचार्य	

How Scholars were Honoured in Ancient India (अंगरेजी)	६१
चिन्ताहरण चक्रवर्ती	
लङ्कावे राजपूतजनय (मिहिरा)	६४
सेनरत पर्यावितान	
माधवाचार्य और अमात्य माधव (हिन्दी)	७०
बलदेवप्रसाद वपाध्याय	
आहोम राज्यर शासन-प्रणाली (आसमिया)	७६
मधुरानाथ गोस्वामी	
श्री चैतन्यदेव कोन् शके अन्तर्हित हन (बंगला)	८२
दीनेशचन्द्र भट्टाचार्य	
मध्ययुग मे राजस्थान और वङ्गाल के बीच माधना का सम्बन्ध (हिन्दी)	८५
जितिमोहन सेन	

विभाग ४. अर्वाचीन काल

भारतीय दुसरा रणसभाम (मराठी)	३
वासुदेव सीताराम वेन्द्रे	
हीरविजय सूरि और अकबर (हिन्दी)	८
विद्याविजय	
राजपूत और मराठे (हिन्दी)	१७
भास्कर रामचन्द्र भाबेराव	
The Author of the First Grammar of Hindustani (अंगरेजी)	३०
बेन फिलिप्प फोल्स	
चौथ आशि सरदेशमुखी (मराठी)	३७
यशवन्त वासुदेव खरे	
हिन्दुस्थानचा लष्करी इतिहास (मराठी)	५३
नानासाहेब शिन्दे	
शिवाजी का चत्रियत्व (हिन्दी)	६४
बालकृष्ण	
राजपूताने मे प्राचीन शांथ (हिन्दी)	७४
हरविलास मारडा	

विभाग ५. अभिलेखों, मुद्राओं, लिपि तथा प्राचीन पोथियों का अनुशीलन

प्राचीन राजशासनालील दानच्छेदाचा निषेध करणारे श्लोक (मराठी)	३
पाण्डुरंग वामन काणे	

२. विजयादित्य का अम्मशिंगि ताम्रपत्र (हिन्दी)	१६
वीरभद्र शर्मा तैलंग	
३. एकटि शिवकालीन मुद्रा (बंगला)	२०
सुरेन्द्रनाथ सेन	
४. मुड़िया लिपि में एक ग्रन्थ (हिन्दी)	२२
कामताप्रसाद जैन	
५. चित्रप्रश्नम् (मलयालम)	२४
अनुजन अचन	

विभाग ६. ललित कला

१. Zur Vorgeschichte des Buddha-Bildes (जर्मन) . . .	३
हेलमुथ फॉन ग्लाज़नाप	
२. Pallava Painting (अंगरेजी) . . .	७
विरुवेकडु नारायणशास्त्री रामचन्द्रन्	

विभाग ७. मानुषविज्ञान, जनविज्ञान

१. Some Tibetan Customs and a Few Thoughts Suggested by Them (अंगरेजी) ..	३
जीवनजी जमसोदजी मोदी	
२. Ksatryas in Greater India (अंगरेजी) . . .	२०
बिजनराज चटर्जी	
३. मध्यप्रदेश तथा मध्य भारत के राजपूत (हिन्दी) ...	२३
हीरालाल	
४. बराह अवतार (हिन्दी)	३२
रामेश्वर गौरीशंकर ओक्का	
५. राजपूत जाति (हिन्दी)	५६
विरवरेवरनाथ रेड	
६. राठोड़ राजवंश का मूल इतिहास (हिन्दी)	६५
जगदीशसिंह गहलोत	

विभाग ८. भूवृत्त

१. नकुल का पश्चिम-दिग्विजय (हिन्दी)	३
जयचन्द्र नारंग	
२. गोमन्त-शोध (मराठी)	१०
वासुदेव अचान्त बाम्बर्डकर	

विभाग ९. भाषा-तत्त्व

Dravidic Names for the Parts of Human Body (अंगरेजी)	३
विरवनाथ रामस्वामी देव्यर	
Conjunctive Participles as Pleonastic Suffixes in the Magadhan Dialect- (अंगरेजी)..	२०
बाणीशान्त काकति	
Some Lexical Material in Jain Mahārāṣṭrī Prakrit (अंगरेजी)	२७
नारमन द्रावण	
O některých jevůch rotacizma v jazyce xindi (रुसी)	३३
आ. बरातिकोफ	
देरेवाली कदावसे (हिन्दी)	४२
सुमित्रादेवी नारंग	

विभाग १०. वैयक्तिक

परिचय (हिन्दी)	३
सम्पादकीय	
Mahamahopadhyaya Gourishankar Ojha : An Impression (अंगरेजी) ..	७
शुण्डि शेपात्रि	
मंगल-कामना (संस्कृत)	१०
धरानाथ फा	

चित्र-सूची

महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा	पृ० (३) के सामने
श्रीमान् इंगरपुर-नरेश	” (११) ”
अभ्युपनि-ताम्रपत्र	वि० ५ ” १६ ”
(१) मुद्रिया लिपि की एक पोथी का एक पृष्ठ तथा वर्णमाला ...	” ” ” २२ ”
(२) ” ” ” एक दूसरी पोथी का एक पृष्ठ .	” ” ” २३ ”
चित्रप्रश्नम् नामक पोथी के दो पृष्ठ ...	” ” ” २५ ”
पाँच बराह प्रतिमाएँ ..	” ७ ” ३२-३३ ”
ओझाजी सन् १८६८ ई० में ...	” १० ” ३ ”
रा० व० श्री सिरमलजी बापना ...	” १० ” ६ ”

संक्षेप और संकेत

(१) नये अक्षर-चिह्न

अः = फ़ारसी ऐन को प्रकट करने के लिए ।

एः = ह्रस्व एकार ।

ऐः = ह्रस्व एकार की मात्रा ।

“ = हिन्दी ‘ऐ’ का उच्चारण, जैसा “जैसे” शब्द में । ‘’ का वास्तविक उच्चारण “अइ” सा होता है, न कि “अय” सा; हिन्दी शब्दों में हम उसे “अय” सा बोलते हैं, और इस ग्रन्थ के हिन्दी अंश में भी उस का उसी उच्चारण के लिए प्रयोग हुआ है । किन्तु अन्य भारतीय भाषाओं में ‘’ का उच्चारण “अइ” सा है, इसलिए हिन्दी ‘ऐ’ उच्चारण को “ से प्रकट किया गया है ।

’ = ह्रस्व ओकार ।

चः = “च” का “स” में ढलता हुआ उच्चारण ।

भः = जैसा फ़ारसी पभ या अंग्रेज़ी लेज़र (leisure) में ।

(२) ग्रन्थ-निर्देश-विषयक

अथ० = अथर्ववेद ।

अ० हि० = विन्सेट स्मिथ कृत अर्ली हिस्टरी ऑफ़ इंडिया ।

आप० = आपस्तम्ब धर्मसूत्र ।

आ० स० इ० = आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इन्डिया, ऐन्थुअल रिपोर्टें ।

आ० स० प० भा० = आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ़ वेस्टर्न इंडिया (पश्चिमी भारत की आर्कियोलॉजिकल सर्वे रिपोर्टें) ।

आ० स० रि० = कनिंघम कृत आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया की रिपोर्टें ।

इ० आ० = इंडियन आण्टिक्वेरी ।

इ० हि० क्वा० = इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली ।

ऋ० = ऋग्वेद ।

ए० इ० = एपिग्राफ़िया इंडिका ।

उप० = उपनिषद् ।

ऐ० ओ० = ऐकटा ओरेंटेलिया ।

ऐत० ब्रा० = ऐतरेय ब्राह्मण ।

क० सं० सि० सू० = कैटलॉग ऑफ़ कौइन्स इन इंडियन न्यूज़ियम, कलकत्ता (कलकत्ता-संग्रहालय सिक्का-सूची) ।

ज० अ० ओ० सो० = जर्नल ऑफ़ दि अमेरिकन ओरियंटल सोसाइटी ।

ज० ए० सो० वं० = जर्नल ऑफ़ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल ।

ज० वं० रा० ए० सो० = जर्नल ऑफ़ दि क्वन्टर्न ब्रान्च ऑफ़ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ।

ज० बि० ओ० रि० सो० = जर्नल ऑफ़ दि बिहार ऐंड बङ्गाला रिसर्च सोसाइटी ।

ज० रा० ए० सो० = जर्नल ऑफ़ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ ग्रेट ब्रिटेन ऐंड आयरलैण्ड ।

जैमि० ब्रा० = जैमिनीय ब्राह्मण ।

तै० ब्रा० = तैत्तिरीय ब्राह्मण ।

ना० प्र० प० = नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका ।

पु० = पुराण ।

प्रा० ध० प्र० = सैक्रेड बुक्स ऑफ़ दि ईस्ट (प्राच्य-धर्म-ग्रन्थमाला) ।

वौ० = वैयाकरण धर्मसूत्र ।

वं० ग० = वंशवृक्ष गज़ेटियर ।

भा० अ० स० = कौर्पस इन्क्वायरी इन्टिकेरेन्स (भारतीय अभिलेख-समुच्चय) ।

भा० भा० प० = लिंक्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इंडिया (भारतीय भाषा-पड़ताल) ।

मनु० = मनुस्मृति ।

म० भा० = महाभारत ।

मा० पु० = मार्कण्डेय पुराण ।

वा० पु० = वायु पुराण ।

वि० पु० = विष्णु पुराण ।

शत० = शतपथ ब्राह्मण ।

साधारणतः वे ही संकेत धर्ते गये हैं जो 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' में हैं । युरोपीय भाषाओं के संकेत सुपरिचित हैं ।

भारतीय अनुशीलन

१

वेद, अविस्ता, प्रागैतिहासिक

(तीन संशोधन)

प्रिंसिपल गोविन्द सहायिब आपटे, एम्० ए०, बी० एस्-सी०, गणकचूडामणि, सुपरिटेण्डेंट,
श्री जिवाजी वेमसाला, रजमिनी।

(१) वैदिक काल मे जिस पञ्चाङ्ग के अनुसार हमारे पूर्वज चलते थे, अर्थात् जिस के आधार पर यज्ञयागादि सर्व धर्मकृत्य करते थे, उसे वेदाङ्ग-ज्योतिष कहते हैं। इस मे यजुर्वेद-काल मे ऋक्-काल की अपेक्षा तेरह श्लोक अधिक थे। कुल श्लोक ४६ हैं। ये सब अङ्कमय हैं। अतः कम से कम आज से ३३०० वर्ष पूर्व उन का जो स्वरूप रहा होगा उस में कई स्थानों मे परिवर्तन अवश्य हुआ है। यहाँ तक कि मूल शब्दों का केवल अनुमान करना पड़ता है। वेदाङ्ग-ज्योतिष के समय उत्तरायण की प्रवृत्ति सूर्य के घनिष्ठा मे आने पर होती थी, ऐसा यजुर्वेद-ज्योतिष श्लोक ६ मे लिखा है। इस आधार पर भारतीय ज्योतिर्विद् शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित तथा लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक जैसे विद्वानों ने वेदाङ्ग-काल शकपूर्व लगभग १४०० या १५०० वर्ष माना है। खीच-खाँच कर बहुत होगा तो वह शकपूर्व ११०० वर्ष पर्यन्त आ सकता है। किन्तु इस से आधुनिक नहीं हो सकता। इस वेदाङ्गज्योतिष-काल मे वर्षमान ३६६ दिन का मानते थे। तथा ५ वर्षों के अनन्तर तिथि नचत्र जैसे के तैसे ही आते थे। ऐसा उन का गणित था। ५ वर्षों मे दो अधिक मास मानते थे। उस पञ्चाङ्ग की आधुनिक पञ्चाङ्ग से तुलना करने के लिए निम्न लिखित अङ्क दिये जाते हैं।

सौर-चान्द्र-चक्र	वेदाङ्ग-काल मे ५ वर्ष	तथा वर्तमान मे १६ वर्ष है
पाँच वर्षों की दिन-संख्या	१८३०	१८२६ १८
६२ चान्द्रमासों के दिन	१८३०	१८३०-८६
पाँच सौर वर्षों मे चान्द्रमास	६२	६१-८४
पाँच सौर वर्षों मे तिथि	१८६०	१८५५-२६३

इतना अन्तरित पञ्चाङ्ग दीर्घ काल पर्यन्त चलना अशक्य है। तब क्या इस अन्तर को हमारे पूर्वज पुराण-प्रियता के हठ से सैकड़ों हज़ारों वर्ष पर्यन्त थे ही बढ़ने देते थे, अथवा जो स्थिति बारम्बार प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती थी उस के अनुसार उपरोक्त मानों में सुधार करते थे ? यह हम को देखना है।

काल-महिमा से इन ४६ श्लोकों में जो पाठान्तर आ गए हैं उन का यथार्थ ज्ञान कर के सुसङ्गत अर्थनिष्पत्ति करने के लिए कई विद्वानो ने प्रयत्न किया है। स्वयं सोमाकर की इन श्लोकों पर टीका है। इस मे साधारणतः

आधे से अधिक श्लोकों का अर्थ सोमाकर से नहीं लगा है। ई० स० १८७६ में डाक्टर थोवो ने यह प्रयत्न किया। उन से ६ श्लोकों का अर्थ सोमाकर से अधिक लगा। आगे सन् १८८५ में जनार्दन बालाजी मोड़क ने और दो तीन श्लोकों का अर्थ लगाया। सन् १८८६ में शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित ने और ८ श्लोकों का व्याख्यान किया। उस के अनन्तर १९०७ में यू० पी० के एक एजिनियर लाला छोटेलाल ने, बार्हस्पत्य नाम धारण कर के अपनी टीका-टिप्पणी के साथ सब श्लोकों का अँगरेज़ी भाषान्तर प्रकाशित किया, और सन् १९१४ में अपनी पुस्तक ज्योतिषवेदाङ्ग लोकमान्य तिलक के पास समालोचना के लिए भेजी। वह उन को मॉडल की बन्दीशाला (जेल) में मिली। लाला छोटेलाल ने जो १०, १२ श्लोक लगाये थे उन पर तिलक महाशय ने अपनी टिप्पणी लिख कर उन्हें दी। सन् १९१८ में, जब मैं पूना में फलों पर था, तिलक महाशय ने प्रकाशित करने से पहले अपनी टिप्पणी देखने के लिए मेरे पास भेजी। मैंने अपनी टिप्पणी लिख कर लोकमान्य को दे दी। उन में से आधे भाग पर उन की मेरे साथ चर्चा भी हुई और शेष भाग के ऊपर उन्होने 'फुरसत से बातचीत करोगे, फिर आओ' ऐसी आज्ञा दी। किन्तु दुर्भाग्य से फिर दूसरी बैठक न हुई और चर्चा का काम अधूरा ही रहा। फलस्वरूप लोकमान्य के पुत्रों ने अपने पिता की टिप्पणी जैसी की तैसी ही प्रकाशित कर दी। मैंने अपनी टिप्पणी के आधार पर यह संशोधन-निबन्ध लिखा है। सन् १९०८ में पं० सुभाकर द्विवेदी ने "याजुष ज्योतिष" करके अपनी टीका समेत एक पुस्तक और छपवाई है। उन्होंने ने भी उस में सभी श्लोकों का अर्थ दिया है।

इतने प्रयत्न होने पर भी उन ४६ श्लोकों में कई स्थान अद्यापि वादग्रस्त हैं। पर मैं समझता हूँ तो भी इस बात का पता हम को चल सकता है कि दीर्घ काल तक वह पञ्चाङ्ग-पद्धति कैसे चली और प्रस्तुत पद्धति उस पद्धति से किस प्रकार सम्बद्ध है।

यजुर्वेदज्योतिष में लिखा है—

दुहेयं पर्व चेत्यादे पादस्त्रिंशत्तु सैकिका ।

भागात्मनाऽवपृथ्वाशात् निर्दिशेदधिको यदि ॥१२॥

इस श्लोक का प्रथम चरण थोड़ा ध्यान देने लायक है। उसी के ऊपर मेरा संशोधन निर्भर है। उस का आपाततः जो अन्वय नज़र आता है सो यों है 'पर्व पादे चेत दुहेयम्'। किन्तु इस में दुहेयम् पद दुर्बोध है। यह दुह धातु का कोई रूप नहीं, क्योंकि यह धातु अदादिगण का होने से उस का दुहाम् रूप होगा, न कि दुहेयम् और आर्ष समझ कर उस रूप को यदि ठीक मान भी लिया जाय तो उस से कोई अर्थ नहीं लगता। इस से यह अनुमान निकालना चाहिए कि दुहेयम् यह किसी अन्य शब्द का अपभ्रष्ट रूप है। कई प्रकार की कल्पना करने के बाद लोकमान्य तिलक ने दुहेयम् यह पाठ सूचित किया और वह मुझे भी बहुत पसन्द आया। किन्तु उस से लोकमान्य तिलक ने जो अर्थ निकाला है^१, वह मुझे मान्य नहीं। दुहेयम् इस का सीधा अर्थ 'एक दिन का त्याग करना चाहिए' ऐसा है। और वह कब ? इस का उत्तर पर्व चेत पादे में है। यानी पर्व की समाप्ति यदि पाद अर्थात् नचत्र के चरण पर हो तब। पाँच वर्षों का यह पञ्चाङ्ग मध्यम मानो से बनाया हुआ है। मन्दफल इत्यादि संस्कार उन दिनों में अज्ञात थे। वैदिक पञ्चाङ्ग का कोष्ठक दीक्षित महाशय ने अपने भारतीय ज्योतिष में दिया

है। उस पर दृष्टि डालने से व्यक्त होता है कि वेदाङ्ग-काल से युग^२ के पाँचों वर्षों के पृथक् पृथक् नाम क्रम से संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और इद्वत्सर थे। इन में परिवत्सर की वैशाख-पूर्णिमा, इदावत्सर के अधिक श्रावण की अमावास्या, अनुवत्सर की कार्तिकी पूर्णिमा और इद्वत्सर की श्रावणी अमावास्या, ये चार पर्व ऐसे हैं जो नक्षत्र के चरणों के अन्त पर ही समाप्त होते हैं। नक्षत्र-चरण ३१ अंशों का होता है क्योंकि पादः त्रिंशत् तु सैकिका ऐसा श्लोक के द्वितीय चरण में लिखा है (त्रिंशत् = ३०, सैकिका = एक से युक्त)। जैसे हम आजकल नक्षत्र की ८०० कला मानते हैं उस प्रकार की गणना उन दिनों नहीं थी। वे एक पञ्चवर्षी युग में ६२ चान्द्रमास एवं ६२ × २ = १२४ पर्व (पक्ष) मानते। सूर्य १२४ पर्वों में २७ × ५ = १३५ नक्षत्र भ्रमण करता है। एक पक्ष में $\frac{1}{2} \times \frac{1}{2} = \frac{1}{4}$ नक्षत्र हुए। अर्थात् १ पक्ष में सूर्य १ नक्षत्र और १२४ अंशों में ११ अंश और अधिक चला। इस प्रकार नक्षत्र के पूरे अंश १२४ माने जाते हैं। हर एक पक्ष में ११ के हिसाब से ३१ वें पर्व के अन्त में $\frac{31 \times 1}{4} = ७\frac{3}{4}$ यानी ८ अंश होते हैं। इसी प्रकार ६२ वें पर्व के अन्त में १८ अंश यानी ६२ अंश, ८३ वें पर्व में ३१ अंश और १२४ वें पर्व के अन्त में १२४ अंश होते हैं, अथवा इन पर्वों के समाप्ति-काल से क्रम से नक्षत्र का ३ रा, २ रा, १ रा तथा ४ रा चरण पूर्ण होता है। इन चारों समयों पर १ दिन त्यागने की आज्ञा है। श्लोक में पादे यह एकवचनान्त प्रयोग है तथापि जाविदर्शक एकवचन का प्रयोग व्याकरणसम्मत है। अर्थात् पादे का अर्थ 'प्रथम पाद के अन्त में', 'द्वितीय पाद के अन्त में' इत्यादि समझना चाहिए। १२४ में से और किसी पर्व के अन्त में ३१ या ३१ के किसी पट के बराबर अंश नहीं आ सकते। इसलिए ५ वर्ष के चक्र में यानी ४ पर्वान्त पर एक एक दिन छोड़ना चाहिए। इस प्रमाण से पाँच वर्षों में चार दिन छोड़े जाते थे। उपरोक्त श्लोक ऋग्वेदज्योतिष में न होने से यह ज्ञात होता है कि आरम्भ में यह बात कि इस प्रकार ४ दिनों का त्याग करना चाहिए, ध्यान में नहीं आई थी, किन्तु जब आई तब आचार्यों ने पुराण-ग्रन्थ में न होत हुए यजुर्वेद-काल में उन का त्याग किया। इस का परिणाम स्पष्टतया ऐसा हुआ कि ५ वर्ष में स्थूल मान से जो ४ दिन अधिक मानते थे उन को छोड़ने से चान्द्र और सौर मान का मेल ठीक बैठने लगा। आरम्भ में इस की आवश्यकता ज्ञात होने का कारण यह मालूम होता है कि गणितगत विषुवदिन नहीं मिलते थे। ३० बटी-मात्रो के समय में दिन पूरा होता चाहिए किन्तु जब कभी आरम्भ में २०, २५ वर्षों में विषुव दिन में २० दिनों का अन्तर पड़ा होगा तब संशोधन करना आवश्यक हुआ होगा।

तीसरे तथा चौथे चरण का अन्वय ऐसा होता है — 'यदि अधिक तर्हि अंशान् भागात्मना अवपृण्य निर्दिशन्'। इस अन्वय में मैंने मूल श्लोक के अधिकः के स्थान में अधिकाः इतना पाठान्तर किया है। क्योंकि उस से अर्थ सुलभ और विशद होता है। इस अन्वय से यह अर्थ व्यक्त होता है कि प्रत्येक पर्व के अन्त में समाप्त होने वाले नक्षत्र के अंश यदि अधिक (यानी १२४ अंश से अधिक) हो, तो नक्षत्र के भागों का जो आत्मा यानी १२४ अंशों का मसुक्चय हो, उस को अवपृण्य यानी घटा कर गेप जो अंश बचे उन्हें ही गणक को यानी (उस काल के) पञ्चाङ्ग-कर्त्ता को बता देना चाहिए। उदाहरणार्थ १२ वें पर्व की समाप्ति पर यदि कोई उस से पूछे तो

१. हे० शं० वा० दंडवित्त—भारतीय ज्योतिःशास्त्र या भारतीय ज्योतिषा चा प्राचीन आशि अर्वाचीन इतिहास (द्वि, पुष्पापेठ १८८६), पृ० ७०-७८।

२. तिथि नक्षत्र आदि के एक पूरे चक्र का नाम युग है, अर्थात् एक के बाद दूसरे युग में ये फिर पहले की तरह ही लौटते हैं।

१३२ अंश हुए हैं यह न कह कर उसे १३२ में से १२४ घटा कर बाकी ८ अंश ही बताने चाहिए। ताकि प्रभकर्त्ता यह जान ले कि दिन घटाने का समय अभी नहीं आया। अर्थात् १२४ से घटाने के व्यतिरिक्त पर्वान्त नचत्र-पाद की समाप्ति पर होता है या नहीं इस का पता सुलभता से नहीं लग सकता। दीक्षित ने १२४ पर्वों की समाप्ति के समय के नचत्रांश दिये हैं। उन को देखने से यह अर्थ सुलभता से व्यक्त हो सकता है।

पाँच सौर वर्षों के दिन १८२६ होने चाहिए, उन के स्थान में वेदाङ्ग-ज्योतिषकार ने १८३० माने हैं। किन्तु वस्तुस्थिति से मिलान के लिए चार दिन का त्याग किस प्रकार करते थे यह ऊपर बतलाया है, इस युक्ति से सौरवर्ष की शुद्धि हो गई। किन्तु ६२ चान्द्र मासों के दिन १८३० के स्थान में १८३१ लेने चाहिए थे, इस के लिए कौन-सी योजना की जाती थी यह समझना आवश्यक है। वह योजना भी यजुर्वेद ज्योतिष के उपरिनिर्दिष्ट श्लोक के अनन्तर एक श्लोक छोड़ कर दूसरे श्लोक में दी है।

स्युः पादोर्ध्वं त्रिपद्यायास्त्रिद्वयेकेऽङ्गः कृते स्थिताः ।

साम्येनेन्दोस्तृणोऽन्येतु पञ्चकाः पर्वसम्भिताः ॥१४॥

मैंने एक हस्तलिखित पोथी प्राप्त की थी। उस में इस श्लोक के प्रथमार्ध में स्थितम् पद आ। उस में थोड़ा परिवर्तन कर के मैंने स्थिताः ऐसा पाठ माना है। इस से इस श्लोक का अन्वय इस प्रकार हो सकता है। 'पादोर्ध्वं, त्रिपद्यायाः अङ्गः कृते त्रिद्वयेके पादाः इन्दोः तृणः साम्येन स्थिताः स्युः। अन्ये तु पञ्चकाः पर्वसम्भिताः (इति मन्यन्ते)।' इस में त्रिपद्या का अर्थ प्रतिपदा तथा स्तु का अर्थ नचत्र होता है, इतना ध्यान में रखना चाहिए। वह रखने पर उपरोक्त श्लोक का अर्थ निम्नलिखित निष्पन्न होता है।

यजुर्वेद-ज्योतिष श्लोक १२ के अनुसार नचत्र-पाद के अन्त में पर्व-समाप्ति होने के अनन्तर जो प्रतिपदा आवेगी उस तिथि के विषय में तीसरा, दूसरा, पहला, यानी तीनों पादों के लिए जिस नचत्र के सामिप्य में चन्द्रमा प्रत्यक्ष होगा उसी नचत्र के तुल्य उस दिन का नचत्र समझना चाहिए (न कि तिथिपत्रों में लिखा हुआ; यदि वह भिन्न हो)। प्रतिपदा का चौथा पाद कुछ कर्मों के लिए निषिद्ध माना गया है। इस कारण जो विशुद्ध तीन पाद हैं, उन्हीं के उपलक्ष्य में प्रतिपदा को त्रिपदा कहते हैं। कई अन्य आचार्यों के मतानुसार प्रतिपदा के चारो पाद और उस के निकट का पूर्णिमा का अन्तिम पाद इन पाँचों के लिए पर्वान्त के समय प्रत्यक्ष दिखने वाला चन्द्र-नचत्र मानना चाहिए; यह एक मतान्तर है। तथापि इतनी बात स्पष्ट है कि नचत्र-पादों पर समाप्त होने वाले पर्व आते ही उन दिनों के लिए गणितागत नचत्र को त्याग कर आकाश में जो नचत्र चन्द्र के पास नज़र आवे उसी नचत्र के ग्रहण करने की आज्ञा है। इस का वस्तुतः तो यह आशय समझना चाहिए कि ऐसे मौकों पर दृग्गोचर नचत्र को मान कर उसी के अनुसार आगे चलते थे। अब भी हम देखते हैं कि चन्द्रमा का मध्यम गणितागत स्थान तथा स्पष्ट स्थान इन में सदैव अन्तर रहता है, और वह अनियत है। उस को जानने के नियम उन दिनों में अज्ञात थे। तथापि यागकर्त्ता ऋत्विजों की यह इच्छा अवश्य थी कि उस दिन का कर्म आकाश में जो नचत्र प्रत्यक्ष हो उसी पर होना चाहिए, और उस इच्छा के अनुसार वे क्या प्रयत्न करते थे, उस का कथन इस श्लोक में है। चन्द्रमा गणित थोड़ा जटिल है। उस में बहुत संस्कार करने पड़ते हैं, आधुनिक आविष्कारों से तो चन्द्र को ४० तक संस्कार हैं, जिन को किये बिना वह ठीक दृग्गोचर नहीं होता। कोई १०, १२ संस्कार करते हैं, कोई ८, ८ करते हैं। किन्तु कम से

कम पाँच तो अत्यन्त आवश्यक हैं। उतने संस्कार न करें तो ग्रहण नहीं मिलते। वेदाङ्ग-काल में तो इन में से एक भी संस्कार ज्ञात न होने से हमारे आचार्यों ने प्रत्यक्ष नक्षत्र को ही देखने की प्रथा डाली थी। गणित की रीतियों में वे सुधार न कर सकें। किन्तु इस में कोई सन्देह नहीं कि वे प्रत्यक्ष फल से काम लेते थे, ६२ चान्द्रमासों के वे १८३० दिन मानते थे। उन में एक दिन कम आता था। वह अन्तर इस युक्ति से उन्होंने न हटाया। इस उपाय से चान्द्रमास दिन सख्या की शुद्धि हो गई।

आचार्यों ने सौरमास शुद्ध किया तथा चान्द्रमास भी शुद्ध किया। किन्तु पाँच सौरवर्षों में ६२ चान्द्रमास मानते थे उस में गलती रही। वास्तव में ६२ के स्थान में ६१ चान्द्रमास चाहिए था। इस का अर्थ यह है कि पाँच वर्ष में सौरमास ६० मानते थे तथा चान्द्रमास दो अधिक लेते थे अथवा इस गणित से ८५ वर्ष में ३८ अधिक मास मानते थे। हम में तीन मास अधिक लेते थे। यह तीन मास का अन्तर निकाल डालने के लिए ८५ वर्ष में तीन चयमास मानने पड़ते हैं। अथवा स्थूलतः ३२ वर्ष में एक चयमास मानना चाहिए। इन दो मार्गों में से आचार्य कौन-से मार्ग का अवलम्बन करते थे यह हम नहीं कह सकते, किन्तु गणित-शुद्धि के लिए चयमास मानते थे इस में सन्देह नहीं, क्योंकि आगे भारत काल में इन चयमासों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। भारत शान्तिपूर्व मोक्षधर्म में लिखा है कि—

चयं संवत्सराणां च मासां च चयं तथा ।

पञ्चचयं तथा दृष्ट्वा दिवसानां च संचयम् ॥ अ० ३०१ ।

इस श्लोक में दिवस, पञ्च, मास तथा वर्ष इन सभी का जय लिखा है। दिन के जय के प्रसङ्ग श्लोक १२ में ज्ञात होते हैं। कभी प्रति पञ्च-वर्षीय युग में चार दिनों का जय मानने की विस्थिति हुई तो २० वर्ष में एक पञ्च के त्याग करने का प्रसङ्ग आता ही होगा। मास का जय प्रति ३२ वर्ष में मानना अनिवार्य हुआ था सो ऊपर बतलाया ही है। परन्तु चय-वर्ष का कोई विचार हमने अब तक नहीं किया है। आधुनिक आविष्कार ऐसा है कि १८ वर्ष में चन्द्र तथा सूर्य क्रान्तिवृत्त में अपने पूर्व स्थान पर आते हैं, और फिर उसी पर्याय का प्रारम्भ होता है। वेदाङ्ग-ज्योतिष के स्थूल नियम से पाँच वर्ष में एक पर्याय, अथवा २० वर्ष में चार पर्याय मानते थे। वस्तुतः वह चार पर्यायों का एक बड़ा पर्याय १८ वर्ष में मानना चाहिए। उसी के अनुसार प्रत्यक्ष अनुभव था। इस कारण प्रत्यक्ष स्थिति से मेल करने के लिए २० वर्ष में १ वर्ष का त्याग करना पड़ता था। इस गणित से हम समझ सकते हैं कि उपरोक्त श्लोक में जो संवत्सर का जय लिखा है वह यथार्थ था। ऋग्वेद-काल में इतनी सूक्ष्मता ध्यान में नहीं आ सकी। किन्तु उस काल के आचार्यों ने इतना अवश्य जाना था कि पाँच वर्षों में कुछ दिन का जय मानना चाहिए। इसी कारण ऋग्वेदज्योतिष में ५ वें श्लोक इस प्रकार का लिखा है —

स्वराकमेते सोमाकौ यदा साकं सवासवौ ।

स्थात्तदादियुगं माघस्तप शुक्लौ दिनं त्यज ॥५॥

यद्यपि ऋग्वेदकाल में दिन, मास तथा संवत्सर का कौन कौन-से प्रसङ्ग पर त्याग करना चाहिए इस का ज्ञान नहीं हुआ था, तथापि कुछ दिनों का त्याग न करे तो पञ्चाङ्ग का प्रत्यक्ष सं मेल नहीं बैठता इतना तो तत्कालीन आचार्यों ने माना था।

सारांश यह है कि वेदकालीन परम्परा से वर्तमान काल पर्यन्त यदि हम इतिहास का विचार करें तो यह स्पष्ट होता है कि आवश्यकतानुसार वे आचार्य और ज्योतिषी अपने गणित में सुधार करने के लिए उद्यत थे। आधुनिक काल में पाश्चात्य राष्ट्रों के पञ्चाङ्ग-विषयक इतिहास के परिवर्तन पर यदि दृष्टि दी जावे तो भी यह व्यक्त होता है कि ईसवी सन् १५८२ में तेरहवें पोप ग्रेगरी ने आज्ञापत्र निकाला था कि उक्त वर्ष के अक्टोबर को ४थी तारीख के दूसरे दिन १५ ता० मानी जावे। इस आज्ञापत्र के अनुसार कई देशों के पञ्चाङ्ग में परिवर्तन हुआ। खुद इंग्लैंड में भी पार्लियामेंट की आज्ञा से सन् १७५२ के सितम्बर महीने में ता० २ के दूसरे दिन ता० १४ मानी गई^१। इस विषय में संसार में किस प्रकार प्रगति हो रही है इस पर यदि हम ध्यान दें तो हमें लज्जित होना चाहिए कि हम सूर्य-सिद्धान्त के काल से आज तक अपने वर्षमान में प्रतिवर्ष ८। पल अधिक मानते आये और इस कारण जो ४ दिन सम्बन्धित हुए हैं उन का त्याग करने की हमारी सम्मति नहीं है। हमें महाराष्ट्र में आजकल जिसे तिलक-पञ्चाङ्ग कहते हैं उसी का स्वीकार करना उचित है। चन्द्रादि ग्रहों के सम्बन्ध में जो आविष्कार नये हुए हैं, जिन का हमें आकाश में प्रत्यक्ष अनुभव होता है, हमें अपने आधुनिक प्रचलित पंचाङ्ग में उन का संशोधन कर लेना चाहिए।

(२) हमारा वर्तमान पञ्चाङ्ग वेदाङ्ग-ज्योतिष से किस प्रकार सिद्ध हो सकता है इस का विवरण मैंने अपनी पुस्तक में दिया है^२। इस लिए उस की पुनरुक्ति यहाँ करना अनावश्यक है।

(३) अन्त में ऋग्वेदाङ्गज्योतिष के १६ वें श्लोक के विषय में मैंने जो संशोधन किया है उसे विद्वानों की सेवा में उपस्थित करता हूँ। इस श्लोक को कई संशोधकों ने दुर्बोध समझ कर छोड़ दिया है, तथा अन्य विद्वानों ने जो उस का अर्थ किया है वह मेरे मत से आक्षेपाह्व है।

अविष्ठाभ्यां गुणभ्यस्तान् प्राग्विलभान् विनिर्दिशेत् ।

सूर्यान् मासान् षडभ्यस्तान् विद्याच्चान्द्रमासान् ऋतून् ॥

इस श्लोक का उच्चारार्द्ध सुलभ सा दिखता है किन्तु पूर्वार्द्ध के अर्थ का कुछ पता नहीं चलता। मैं समझता हूँ मेरे लगाये हुए अर्थ में कुछ सुबोधता है।

पूर्वार्द्ध का गुणभ्यस्त पद एक दुर्भेद चट्टान-सा ज्ञात होता है। मैं उस का काठिन्य इस प्रकार शिथिल करता हूँ। अभ्यस्त का अर्थ है गुणा हुआ। जब गुण शब्द का प्रयोग संख्या सूचित करने के लिए होता है तब उस का अर्थ 'चीन' होता है यह गणितज्ञ जानते हैं। गुणभ्यस्त का अर्थ 'चीन से गुणा हुआ' ऐसा होता है। परन्तु यह अर्थ यहाँ पर नहीं जमता। इसलिए अभ्यस्त का मूल अर्थ क्या है यह देखना चाहिए। किसी वस्तु को बारम्बार करना इसे हम उस वस्तु का अभ्यास करना समझते हैं। जैसे किसी पाठ को बारम्बार पढ़ने से हम उसे उस पाठ का अभ्यास समझते हैं। व्याकरण में भी एक पद की पुनरावृत्ति करने की क्रिया को अभ्यास कहते हैं। उदाहरणार्थ छिद् के रूप को सिद्ध करते समय चर धातु के प्रथमाचर को दुहरा कर चचार, चचर ऐसे रूप होते हैं। और

१. दे. नाटिकल ऐल्मनक (अंगरेजी पञ्चाङ्ग) पृ ७११-१०।

२. सर्वानन्द करणम् पृ० १६१-७०।

यहाँ पर च को अभ्यस्त किया है ऐसा कहते हैं। यानी वस्तु को दुहराना इसे उस का अभ्यास करना कहते हैं। इस नियम के अनुसार गुणभ्यस्त का अर्थ 'तीन तीन से पुनरावृत्त होने वाला' कर सकते हैं। गुणभ्यस्तान् यह मासान् का विशेषण है। इस लिए गुणभ्यस्तान् मासान् इस का अर्थ 'तीन तीन के अनन्तर आने वाले मास को' ऐसा कर सकते हैं। ये 'तीन तीन मास' कहाँ से गिनने चाहिए इसे बताने के लिए श्रविष्ठाभ्याम् पद लिखा है। श्रविष्ठा शब्द का अर्थ धनिष्ठा नक्षत्र है। उस का प्रयोग एकवचन में अथवा बहुवचन में होता है परन्तु इस स्थान में उसे द्विवचन में प्रयुक्त किया है। कदाचित् यह प्रमाद होगा ऐसा कोई कह सकते हैं, किन्तु मेरे विचार में यह द्विवचन हेतुपूर्वक है। वेदाङ्ग-ज्योतिष के काल में सूर्य के धनिष्ठा पर आते ही वर्षारम्भ मानने की प्रथा थी। उस समय उदगयन अथवा प्रस्तुत समय का सायन मकरारम्भ होता था। उस के अनन्तर तीन महीनों के पश्चात् (२१ मार्च को) सूर्य मेष में आता है, और उस समय पहला अथवा वासन्तिक विषुवदिन (जिस राश्व दिन और रात्रि समान होते हैं) आता है। विषुवदिन का महत्त्व वार्षिक यज्ञों में बहुत था। यह हम को तैत्तिरीय संहिता (७४८) तथा ऐतरेय ब्राह्मण (१८१८) इत्यादि से ज्ञात होता है, और इसी कारण उन की उन दिनों में बहुत प्रतीचा करते थे। वासन्तिक विषुवदिन से ६ महीनों के अनन्तर दूसरा विषुवदिन (सितम्बर २१ को) आता है। इस क्रम से पहले विषुवदिन से ६ महीने बीतने पर यानी दूसरे विषुवदिन के तीन महीने पश्चात् फिर उदगयनारम्भ (२२ दिसम्बर) अथवा धनिष्ठार्क होता था। अर्थात् वर्षारम्भ के धनिष्ठार्क के तीन महीने अनन्तर वासन्तिक विषुवदिन आता था। तथा वर्ष के अन्त में जो धनिष्ठार्क होता था उस के तीन महीने पहले शारद विषुवदिन होता था। इस प्रकार एक ही वर्ष के आदि तथा अन्त में होने वाले धनिष्ठार्क से तीन तीन महीनों के अन्तर पर विषुवदिन आया करते थे। अर्थात् दो धनिष्ठाओं से तीन तीन मास आगे तथा पीछे विषुवदिन की पुनरावृत्ति होती थी। जिन महीनों में विषुवदिन आते हैं वे सायन मेषार्क के तथा सायन तुलार्क के महीने होते हैं। इन महीनों के प्रारम्भ में सूर्य ठेठ पूर्व दिशा में उगता है। उस समय उन की अग्रा (उदय समय में पूर्व विन्दु से उस का अन्तर) शून्य होती है। इस कारण उन दोनों मासों को प्राग्विलग्न अर्थात् 'पूर्व विन्दु से लगने वाले' ऐसा कह सकते हैं। इस से यह विशद होगा कि दो धनिष्ठाओं से तीन तीन महीनों पूर्व व पश्चात् पूर्व विन्दु पर संलग्न होने वाले मास कैसे आ सकते थे। पाँच वर्षों के युग में ऐसे १० मास आते थे इसी कारण से पञ्चवार्षिक पञ्चाङ्ग के लिए "मासान्" यह बहुवचनात्मक प्रयोग यथार्थ है। तस्मात् प्रथमार्द्ध का अन्वय अव इस प्रकार बैठता है — श्रविष्ठाभ्यां गुणभ्यस्तान् (मासान्) प्राग्विलग्नान् विनिर्दिशन्। संक्षेप में शब्दशः इस का अर्थ यह है — 'दो धनिष्ठाओं से तीन मास पहले तथा अनन्तर पुनरावृत्त होने वाले मासों का पूर्व दिशा में लग्न मास बता देना चाहिए'। ऐंजिनियर लाला छोटेलाल ने 'गुण' का अर्थ ८ किया है, और उस का कारण यह दिया है कि धनिष्ठा के आगे आठवाँ नक्षत्रपुञ्ज कृत्तिका का होता है और कृत्तिका नक्षत्र का उदय ठीक पूर्व दिशा में होता है ऐसा शतपथब्राह्मण में लिखा है। इस कल्पना से इस श्लोक का अनुवाद वे इस प्रकार करते हैं "श्रविष्ठा से आठवाँ नक्षत्र कृत्तिका होता है और वह प्राग्विलग्न भी है"। हमारा इस पर यह आक्षेप है कि इस से

अभ्यस्त पद का अर्थ ठीक नहीं बैठता तथा प्राग्विलग्नान् इस पुछिगी द्वितीयान्त पद को नक्षत्रान् इस अव्याहृत पद का विशेषण मानना पड़ता है। किन्तु नक्षत्र शब्द नपुंसक होने के कारण यह कल्पना अग्राह्य है। व्याकरण के नियम को तोड़ने का दोष इस में स्पष्ट है। इस को अतिरिक्त और भी एक न्यूनता है। वह यह है कि धनिष्ठाभ्याम् इस द्विवचन का इस में थोड़ा भी समर्थन नहीं है, तथा गुण शब्द का अर्थ 'आठ' करने के लिए गणितशास्त्र में कहीं भी आधार नहीं। वेदकाल (शकपूर्व ३००० वर्ष) में कृत्तिका ठेठ पूर्व दिशा में उदित होती थी यह सच है; परन्तु वेदाङ्गकाल में यह स्थिति कैसी रही इस प्रश्न का उत्तर आपने कहीं भी नहीं दिया है। इन कारणों से उन का किया हुआ अर्थ मान्य नहीं हो सकता।

पण्डित सुधाकर द्विवेदी ने उपरोक्त कारणों से लाला छोटेलाल की कल्पना नापसंद की और मूल श्लोक में "श्रविष्ठाभ्यो गणाभ्यस्तान् प्राग्विलग्नान् विनिर्दिशेत् । स्वार्चान् मासान् षडभ्यस्तान् इत्यादि" । इस प्रकार बहुत परिवर्तन कर के जो अर्थ किया है वह यह है—“गण यानी नक्षत्रगण अथवा २७, इस से, श्रविष्ठा का उदय होने से इष्ट काल पर्यन्त तक में नक्षत्रों के अंश को गुणने से पूर्व बिन्दु पर उदित होने वाले नक्षत्र के अंश मिलते हैं।” इस अर्थ के विरुद्ध बड़े बड़े आक्षेप हो सकते हैं। श्रविष्ठाभ्यां के स्थान में श्रविष्ठाभ्यः यह पाठभेद किसी भी पांथी में नहीं मिलता, न किसी अन्य पण्डित ने सूचित किया है। तीसरे चरण में स्वार्चान् यह पाठभेद भी नया है। गुण के स्थान में गण माना है और उस का अर्थ भगवत् अथवा नक्षत्रों की संख्या यानी २७ किया है। धनिष्ठा प्रतिदिन जब कभी उदित होती है उस समय से इष्ट काल पर्यन्त जो सावयव नक्षत्र बीतते हैं उन्हें २७ से गुणने को कहा है। अर्थात् धनिष्ठोदय से इष्ट काल कितना व्यतीत हुआ यह नक्षत्रांश से ज्ञात कर लेना चाहिए।

किन्तु वह काल और उस काल में मुक्त होने वाले भाश अथवा नक्षत्रांश किस रीति से निकालने चाहिए इस का नियम वेदाङ्गज्योतिष में कहीं भी लिखा हुआ नहीं है, तथा इस अर्थ में भाषान् पद का पूर्णतया अव्याहार करना पड़ता है, और वह मुख्य है। जो अर्थ इतनी खीचातानी से किया गया है वह ग्राह्य नहीं हो सकता। लोकमान्य विलक ने भी उस को अपनी सम्मति नहीं दी।

श्लोक के उत्तरार्द्ध का अन्वय इस प्रकार हो सकता है :—सूर्यान् मासान् षडभ्यस्तान् चान्द्रमासान् श्रुत्वा विधात् । इसका अर्थ यह है—“षष्ठसंवत्सर युग में जितने सौरमास होते हैं उन्हें ६ से गुणने से चान्द्रश्रुतों की संख्या का ज्ञान होता है।” किन्तु इस अर्थ के अनुसार इस श्लोकार्द्ध में पाँच सौरवर्ष में कितनी चान्द्रश्रुतों हैं इतना इस का ठीक ज्ञान नहीं होता। क्योंकि पाँच वर्षों में सौरमास ६० होते हैं। उन को ६ से गुणा करने से ३६० चान्द्रश्रुतों होती हैं। वास्तव में जब चन्द्रमा का नक्षत्रों में एक पर्याय होता है तब उस की ६ श्रुत मान सकते हैं। परन्तु पाँच वर्ष में चन्द्रमा को ६७ पर्याय होते हैं; अर्थात् $६७ \times ६ = ४०२$ चान्द्रश्रुतों होती हैं यानी ४२ श्रुतों अधिक होती हैं। यह अन्तर उपेक्षणीय नहीं है। तथापि यह सत्य है कि ये ४०२ श्रुतों ६, ६ श्रुतों के पर्याय से अपने को पुनरावृत्ति करती हैं। और इस अर्थ को निकालने के लिए षडभ्यस्त का अर्थ '६, ६ के पर्याय से जिन की पुनरावृत्ति होती है' ऐसा समझ सकते हैं। इस अर्थ में असत्यता का तथा व्याकरण के नियमों के विरुद्ध होने का दोष नहीं है।

इतना संशोधन कर के मैं यह अवश्य कहूँगा कि वेदाङ्गज्योतिष का पूर्णतया अर्थ अब तक लगा नहीं है, किन्तु, प्रत्येक प्रयत्न दूसरे संशोधन का मार्गदर्शक होता है इस नियम के अनुसार आशा है मेरा यह अल्प प्रयत्न भी भविष्य में और संशोधकों को लाभदायी होगा। वह आशा सफल हो तथा जिन महानहोपाध्याय पं० गौरीशङ्कर हीराचन्द जी ओझा के पुण्य प्रताप से यह संशोधन प्रसिद्ध करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है वे दीर्घायु हो कर सुखी रहे ऐसी प्रार्थना कर के इस निबन्ध को समाप्त करता हूँ।

त्रात्यसमस्या और अथर्ववेद का १५वाँ काण्ड*

(प्रो० डा० हाबर, व्युत्पत्ति विद्यापीठ, जर्मनी)

अथर्ववेद का १५ वाँ काण्ड वैदिक वाङ्मय की सब से कठिन पहेली समझी जाती है। हमारे प्रमुख संस्कृतज्ञों को इस के बारे में अत्यन्त छुट्टासूचक बातें कहनी पड़ी हैं^१। प्रो० लैन्गन ने इस के महत्त्व को थोड़ा-बहुत पहिचाना है। द्वितीय के अनुवाद पर अपनी प्रारम्भिक टिप्पणी में उन्होंने लिखा है कि, 'इस में दोखने वाले लड़कपन और अस्पष्टता रहते भी यह काण्ड अनुशीलन के अनुपयुक्त नहीं'^२। जब से मुझे पहले पहल इस में योग के कुछ आरम्भिक तत्वों का पता लगा^३, मैं इस दुर्बोध प्रबन्ध का बार बार परिशीलन करता रहा हूँ।

ध्यानपूर्वक विवेचन के बाद मुझे स्पष्टतया विदित हो गया कि यह प्रबन्ध प्राचीन भारत के ब्राह्मणोत्तर आर्य-धर्म को मानने वाले ब्राह्मणों के उस बृहत् वाङ्मय का कीमती अवशेष है जो प्रायः लुप्त हो चुका है^४।

अपनी पुस्तक 'द रात्रात्य' में मैंने बताया है कि रात्रात्य शब्द रात्रि से व्युत्पन्न हुआ है, जिस का अर्थ है रात्रि (= पुण्य-कार्य) में दीक्षित मनुष्य या मनुष्यों का समुदाय। यह ब्राह्मणों के दीक्षितों का ठीक प्रतिवाचक है, ब्राह्मणों के यहाँ ब्राह्मण को सर्वोत्तम दीक्षित कहा गया है। इसी कारण मतपरिवर्तन के बाद जब ब्राह्मणों ने ब्राह्मण-धर्म स्वीकार किया तो ये लोग ब्राह्मण बर्ण में लिखे गये। ब्राह्मण लोग असल में उस विधर्मी सम्प्रदाय के पूज्य व्यक्ति थे, जिस का प्रधान देवता रुद्र था। शुरु में ये लोग अद्भुत वेश वाली टोलिएं में धूमने वाले धर्मगुरु और जादूगर थे, जिन की कई श्रेणियाँ थीं और अपना एक अलग ही पवित्र ज्ञान था, और बाद में एकाकी योगी और सिद्ध जो अपने गुप्त ज्ञान और पवित्र अनुष्ठानों का खजाना लिये देश में घूमते फिरते।

ब्राह्मणों का अधिदेव रुद्र-ईशान-महादेव, जिसने भ्रमण कर के सब पदार्थों को आरम्भ में विश्व का सृजन किया, स्वयं भी रात्रात्य या एक रात्रात्य कहावा। और जैसा कि बृहत्सर्वाङ्गमुक्तमंथी में माना है, अथर्ववेद का १५ वाँ काण्ड इस अनादि रात्रात्य का ही एक स्तुतिपरक प्रकरण है। उस में इस का यों बखाना है—अप्यात्मक मन्त्रोक्तदेवत्या उत रात्रात्यदैवतम्। यह रात्रात्य लौकिक रात्रात्य की सनातन प्रतिमूर्ति है।

* इंडिया इन्स्टीट्यूट ऑफ़ स्टडीज़ एफ़ाईसी, स्युग्न (जर्मनी) की कृपा से प्राप्त।

१. मित्राक्षर, ब्लूमफील्ड—वि अथर्ववेद पेंड गोपथ-ब्राह्मण (मुन्द्रिख डेर इन्वेईरानिश् फिलालाजी अन्द् अन्तरात्तुम्सकुदे—हिन्ड-ईरानी आर्य खोज का विवेक) १४, बडाएक रॉय कृत अथर्ववेद का जर्मन अनुवाद (पाण्डुलिपि—व्युत्पत्ति विद्यापीठ, जर्मनी, के पुस्तकालय में)। २. द्वितीय—अथर्व संहिता जि० २, पृ० ७७०।

३. दी अनाफैंग डेर योगप्राक्सिस इस आल्तन इंडियन पृ० १७२ प्र। ४. हाबर—देर रात्रात्य उंटरसुशि-गनअंधेर दी निश्त ब्राह्मनिश रेसीजिर्मान आल्तइंडिएन्स्, जि० १, स्तुतगर्त, १९२७ (आगे सचिष—देर रात्रात्य०)।

यह काण्ड लगभग दो समान भागों में विभक्त है। प्रथम अनुवाक १—७ सूक्तों तथा द्वितीय अनुवाक ८—१८ सूक्तों का है। इन में पहला अनुवाक तो सुसम्बद्ध और सम्पूर्ण है; उस में ब्रातृ का वर्णन आदिदेव-रूप में तथा उस की उत्पादक चेष्टाओं के साथ है। दूसरा अनुवाक मेरी राय में ब्रातृ अनुश्रुति के विभिन्न अंशों का सङ्कलन है। ८ और ९ सूक्त जिन में राजन्य की उत्पत्ति का विषय है एक स्वतन्त्र भाग है; तथा वैसे ही १०—१३ सूक्त भी जिन में अकेले ब्रातृ की पृथ्वी-विचरण का वर्णन है, सूक्त १५—१७ में ब्रातृ के श्वास-प्रवास को विश्व की धारक शक्ति बताया है; और अन्त में सूक्त १८ में उस का वर्णन विश्व-पुरुष के रूप में है।

इन सूक्तों की साहित्यिक शैली पर्यायों की है। यह सिद्ध किया जा सकता है कि ब्रातृ रचनाओं की शैली मुख्यतः यही थी। ये भजन हैं, जो कि वैदिक साहित्य के वर्णवृत्तों की योजना में नहीं बैठते (यद्यपि बृहत्सर्वानुक्रमणी में उन्हें बैठाने का जतन किया गया है)। तथापि इन में छन्दों की सी गति लगातार विद्यमान है, और शब्दों का अनुपात रखने की स्पष्ट प्रवृत्ति है।

पहले सूक्त में सब पदार्थों के उद्भव का वर्णन है। वह यों चलता है—

१. (आरम्भ आरम्भ में) ब्रातृ घूम रहा था। उस ने प्रजापति को प्रेरित किया^१।

२. उस ने प्रजापतिरूप में सुवर्ण को अपने में देखा। उसे जना (प्राज न यत्)।

३. वह एक हो गया। वह माथे का लला म (तिलक) हो गया। वह महत् हुआ, ज्येष्ठ हुआ, ब्रह्म हुआ; सृजने वाली गर्मी (तप) हुआ, सत्य हो गया और इस प्रकार प्रकट हुआ (प्राज यत्)।

४. वह उदीप्त हो उठा, वह महान् हो गया, महादेव बन गया।

५. वह देवताओं के ईश्वरत्व को लॉघ गया, ईशान हो गया।

६. वह एक ब्रातृ हो गया। उस ने एक धनुष उठा लिया, वही इन्द्रधनुष है।

७. उस का पेट नीला, पीठ लाल है।

८. नीले से ही वह अग्रिय भ्रातृव्य को आवृत (प्र-ऊर्ण^२) करता है, लाल से ही विद्वेषी को बीधता है। ब्रह्मादिदियों का यह कहना है।

यहाँ आदिदेव को ब्रातृ कहा गया है। ब्रातृ-देवविदों ने सब पदार्थों के मूल और एक-मात्र कारण की कल्पना पृथ्वी पर पुण्यात्मा व्यक्ति-विशेष के रूप में की थी, जैसे कई बार आदिदेव को पहला ब्राह्मण (ज्येष्ठ ब्राह्मण, अथ० १०.७.१७) कहा जाता है। इन महात्माओं का परिभ्रमण और अनुष्ठान पृथ्वी पर सभी सचेष्ट शक्ति का कारण था। अतः सनातन और सर्वोत्तम ब्रातृ को भी सब पदार्थों का मूल कारण कल्पित करना और यह सोचना कि उस के परिभ्रमण से विश्व की प्रसुप्त कार्योंत्पादक शक्तियाँ जाग उठी, कोई दूर की या कठिन बात न थी। कहना होगा कि ब्राह्मणों के तप और यज्ञ की तरह यहाँ ब्रातृ के पुण्य कार्यों को ही देवत्व प्रदान किया गया और मूल कारण माना गया। ब्रातृ के इस देवत्व का प्रमाण यह सूक्त ही नहीं—जैमिनीय ब्राह्मण २.२२२ में भी ईशान का, जिस का वहाँ वायु से एकत्व माना गया है, स्वरूप एक ब्रातृ^३ बताया है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३.२१ में वायु को, जो कि विश्वदेव है तथा अन्य सब देवता जिस की नाना

१. 'ब्रातृ आसीदीमान एव स प्रजापति' समैरयत्।' परन्तु वैष्णवादिहस्ता में "ब्रातृ वा इदमग्र आसीत्" यह पाठ है।

२. देव ब्रातृ ०.४०.१६।

अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं, ब्राह्म, एकब्राह्म, अकृत, सब देवों की योनि (विल) और (विकास की) चरमावधि^१ कहा है। प्रश्नोपनिषद् २.११ में सर्वोच्च देवेश के लिए कहा गया है,—“हे प्राण, एकार्षि, विन्ध के भोक्ता, तुम ही एक-मात्र असल स्वामी ब्राह्म हो।”^२ अतः वैदिक काल में किसी न किसी ऐकेश्वरवादी या एकराजेश्वरवादी सम्प्रदाय की अनुश्रुति अवश्य रही होगी, जिस के अनुसार परमेश्वर वायु-ईशान, ब्राह्म था। हम इसे ब्राह्मण-धर्म के मुकाबले में ब्राह्म-धर्म कह सकते हैं। केवल सामवेदीय और आथर्वणिक वाङ्मय में ही यह अनुश्रुति सुरक्षित है, अन्यथा ब्राह्मणों के सारे वाङ्मय से इस ब्राह्म-धर्म की पृथक् सत्ता के चिह्नों को चुन चुन कर नष्ट कर दिया गया है।

प्रजापति, जो कि आदि ब्राह्म के प्रजननक पर्यटन से प्रेरित हो कर प्रकट होने वाली प्रथम दैवी सत्ता है, जैमि० ब्रा० में सहायक देवता है, जो कि एक ब्राह्म को त्यागने वाले ब्राह्मों को शरण देता है। पर हमारे पहले सूक्त में प्रजापति आदिब्राह्म की सृष्टि है। अतः यह उस समय रचा गया होगा जब कि प्रजापति ब्राह्मदेव के मुकाबले में प्रधानता हासिल करने की स्पर्धा कर रहा था और ब्राह्मों के बहुत्व से प्रमुख नेता उस की तरफ हो गये थे। ये ही वे लोग थे जो ब्राह्म-स्तोमों द्वारा ब्राह्मण वर्ण में ले लिये गये थे। यह सूक्त श्रद्धालु ब्राह्मों की तरफ से अपने पुरखों के देवता के प्रति किए गए इस विद्रोह का जवाब था। वे प्रजापति की तथा तप, एकम् आदि ब्राह्मणों के अन्य विचारों की उपेक्षा न कर सकें, पर उन्हें तो उन को ब्राह्म देव का आश्रित बना दिया, जिस ने कि उन्हें उत्पन्न किया। ब्राह्मणों के देवताओं और सिद्धान्तों के साथ ही उन्हें ने अपने परम्परागत लला म^३, महत्, महान् आदिक को भी रक्खा। “सुवर्णमात्मप्रपश्यत्, तत् प्राजनयत्” यह वाक्य बड़े ही महत्त्व का है, क्योंकि सुवर्ण के स्थान में हिरण्यगर्भ बदल कर शेष सारा वाक्य लगभग इसी रूप में ब्राह्म अनुश्रुति से सम्बद्ध एक उपनिषद् ने यों दुहराया है,—यो देवानां प्रभवश्च उद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिर्हिरण्यगर्भजनया मासपूर्वम्।^४ मेरे विचार में यह अवतक का अग्रजनि तत् सुवर्ण ही पिछले साहस्यों का अव्यक्त प्रधान या प्रकृति है, जिस में से व्यक्त (संसार) का विकास होता है। ब्राह्म अनुश्रुति के एक दूसरे सूक्त में त्रिगुणवाद की तरह यहाँ हम पिछले साहस्यों की बहुत-सी परिभाषाओं—महत्, महान्, आदि का मूल भी पाते हैं।

इस सूक्त का, जिसे मैं ब्राह्मकाण्ड में सब से अर्वाचीन समझता हूँ, रचनाचातुर्य इस से प्रकट है कि अव्यक्त सुवर्ण से व्यक्त पहली परम्परा जिस का अन्त सत्य पर होता है, सब नपुंसकलिङ्गी वस्तुओं की है, तब दिव्य पुरुष-सत्ताओं की दूसरी परम्परा आरम्भ होती है जिस का अन्त एक ब्राह्म पर होता है। वह ब्राह्मों के चामत्कारिक धनुष-स्थानीय व्याड्ड को उठाता है और उस से सारे विरोधियों को जीत डालता है और तब अपने विश्व-भ्रमण का आरम्भ करता है, जिस का सूक्त २ प्र में वर्णन है।

१. दे० ब्राह्म० ३.७०।

२. दे० ब्राह्म० ३.१०।

३. ललाम शैवों के साम्प्रदायिक चिह्न पुण्ड्र का पर्याय है। कालाशिकर नामक एक सारी की सारी उपनिषद् इसी पुण्ड्र के विराट् स्वरूप के वर्णन में लिखी गई है।

४. श्वेत० ३.४२।

५. अथ० १०. ८.३३।

सूक्त १ में एक बड़ी कठिनाई है जिस की उपेक्षा नहीं की जा सकती। मंत्र ६ का एकब्रात्य आदिब्रात्य की अन्तिम अभिव्यक्ति है। अतः जै मि० ७ प० ब्रा० की तरह हमारे इस सूक्त में ये दोनों एक नहीं। इस विरोध का कारण यह है कि यह सूक्त आदिब्रात्य से प्रकट होने वाली एक परम्परा स्थापित करना चाहता है; जिस में कि आदिब्रात्य को इस प्रकार हर एक अव्यक्त पदार्थ से परे, देवगाथाओं के क्षेत्र से अलग, एक अथात्म-पुरुष के रूप में माना गया है। इस प्रकार विश्वपुरुष ब्रात्य की पुरानी परम्परागत देवगाथाएँ, जो २—८ तथा १४—१८ सूक्तों में हैं, आदिब्रात्य के एकाकी स्वरूप से मेल नहीं खातीं। अतः इन सूक्तों का मुख्य विषय ब्रात्यों के देवगाथाओं में कल्पित मुखिया एकब्रात्य को बना दिया गया है, यद्यपि मूल प्रसंग ब्रात्य का ही था। इसी से पिछले वाक्य में ब्रात्य और एकब्रात्य को एक माना गया है। सो ठीक भी है, क्योंकि ये एक ही सत्ता के दो विभिन्न रूप हैं।

२—७ सूक्तों में विश्वपुरुष ब्रात्य के भ्रमण और कर्मकाण्ड का वर्णन है, जो कि लौकिक ब्रात्य के नमूने पर है। इन सूक्तों में दो मूल कल्पनाएँ हैं। पहली कर्मकाण्ड-सम्बन्धी, अर्थात् लौकिक ब्रात्य के पर्यटन तथा उस के पवित्र अनुष्ठान; इन में प्रधान कर्म महाव्रत है, जैसा कि मैंने अपनी पुस्तक 'देव ब्रात्य' (पृ० २४६ प्र) में दिखाया है। दूसरी विश्वरचनाविषयक; अर्थात् विश्व का भ्रमण करने वाला आदिब्रात्य वायु है, जिसे हम भारतीय देवों में स (Hermes) या ओदिन (Odin) कह सकते हैं। इन दोनों कल्पनाओं का समन्वय इन सूक्तों में हुआ है, और जैसे लौकिक महाव्रत की परिसमाप्ति वर्षा, अन्न और भूमि का उपजाऊपन आदि विश्व की पोषक शक्तियों की उत्पत्ति से होती है, ठीक वैसे ही पहले अनुवाक के अन्त और दूसरे के आरम्भ में ये शक्तियाँ प्रकट हो कर पृथ्वी और द्युलोक में अपना कार्य आरम्भ कर देती हैं। निस्सन्देह हम कह सकते हैं कि प्रथम अनुवाक के ये सूक्त एक प्रकार से सृष्टि-महाव्रत का वर्णन करते हैं, जिस में मुख्य पात्र सनातन ब्रात्य है। यही विचार १४ वे सूक्त में, जिस में कि विश्वपुरुष ब्रात्य की सवारी द्वारा दिव्य शक्तियों का अवतार होता है, तथा १५—१७ सूक्तों में भी जहाँ कि ब्रात्य का उल्लास-प्रल्लास संपूर्ण विश्व की प्राण-धारक क्रिया के रूप में वर्णित है, है। सृजनेवाली शक्ति के रूप में चमत्कारी उल्लास-प्रल्लास महाव्रत का एक मुख्य अङ्ग था।

दूसरा सूक्त ४ गणों में विभक्त है जिन में से हर एक फिर ७ गणावसाननः में विभक्त है। पहला गण यों है—“वह (विश्व-ब्रात्य) उठ खड़ा हुआ; वह पूर्व दिशा को चला (= अनुव्यचलत्), बृहत् रथन्तर आदित्य और सब देवता (= विश्वदेवता) उस के पीछे चले। ऐसे, विद्वान् ब्रात्य की जो गुराई करता है, बृहत् रथन्तर आदित्य और विश्वदेव सब से अपने को जुदा कर लेता है। जो यों जानता है, वह बृहत् रथन्तर आदित्य और विश्वदेवों का प्रेम-पात्र (= प्रियंशाम) हो जाता है। पूर्व में इस ब्रात्य की अद्वा रखैल (= पुँश्चली), मंत्र भाट (= मागध), विज्ञान वक्त्र, दिन पगड़ी (= उष्णीश) रात्रि केश, दोनों पीछे (= हारीतौ) गोले सूर्य चाँद दो अलंकार (कुण्डल), भूत और भविष्य आगे पीछे चलने वाले दो अनुचर (= परिष्यन्दौ), मन वाहन (= विषथ) मानसूत (= मातरिश्वा) और ढाढ़ (= पवमान) खींचने वाले (= विषथवाहौ), तूफान सारथी, बबूला (= वातुल) चाबुक (= प्रतोद), कीर्ति और यश चोबदार (= पुरःसतौ) हैं। जो यह जाने उसे कीर्ति और यश मिलता है।”

चारों गण इसी तरह हैं। उन में ब्राह्म्य चारों मुख्य दिशाओं में भ्रमण करता है। हर एक दिशा में उस का मार्ग भिन्न है, तथा देवता साम और हर दिशा में अनुसरण करने वाली अन्य शक्तियाँ विभिन्न हैं। वहाँ विश्वब्राह्म्य के साथी सामान आदि सब वही हैं जो धर्मानुष्ठान के लिए देश में घूमने वाले लौकिक ब्राह्म्यों के। जैसे ऋ० १०.८५ में सूर्या के विवाह में उस के वस्त्र सामान सखियाँ आदि मंत्रों सूक्तों व अन्यान्य प्राकृतिक व दैवी सत्ताओं को बनाया गया है, वैसे ही यहाँ विश्व-ब्राह्म्य के। दूसरी तरफ एक छायामयी तुलना द्वारा लौकिक ब्राह्म्य के साथी सामान आदि भी सब वही हैं, यह सूक्त ३ से सिद्ध किया जा सकता है। वहाँ विश्वब्राह्म्य की आसन्दी (=चौकी) को बनाने वाली विभिन्न शक्तियों की तुलना लौकिक पुरोहित की आसन्दी के अवयवों से की गई है।

सूक्त का सामान्य अभिप्राय स्पष्ट है। ब्राह्म्य पहले पूरव को प्रस्थान करता है, फिर दक्षिण को मुड़ता है, तब पच्छिम और उत्तर को। यों उस की सबारी पूरा चक्र काटती है। यह पवित्र प्रदक्षिणा है। महाव्रत में वेदी की प्रदक्षिणा, जिम से कि बहुत-सी गुप्त सिद्धियाँ उस पवित्र आगम में प्रकट हो जातीं और उस की क्रियाशक्तियाँ जाग पड़ती मानी जाती हैं, इसी का प्रतीक है। विश्वब्राह्म्य मानों अपनी अमलदारी की तरह संसार की, जो कि उस की जगत् सृजने और पालने वाली चेष्टाओं की पुण्य लीलाभूमि है, परिक्रमा करता है।

छठे सूक्त में इसी प्रकार एक दूसरी परिक्रमा का वर्णन है। वहाँ प्राकृतिक शक्तियों की एक अत्यन्त कौतुकमयी परम्परा उस का अनुसरण करती है। ज़्यादा विस्तार न कर के सचेष्ट में मैं इतना ही कह देता हूँ कि इन दिशाओं में, जिन में ब्राह्म्य घूमता है, और उन में ब्राह्म्य का अनुसरण करने वाली शक्तियों में खास प्रकार का सम्बन्ध है। सारा विश्व यहाँ विश्वब्राह्म्य के सम्बन्धालन में चलायमान है। दिशाओं किन्हीं अचिन्त्य शक्तियों की तरफ ऊँची-सी उठ रही हैं, जिन में से एक मानव कल्पना से इतना दूर है कि यह समझा गया है कि ब्राह्म्य वहाँ से न लौटेगा। सचयुक्त ही वह उस के बाद म हि मा - स द्रु (=वहती हुई महानता) में परिवर्तित हो जाता—संसार को घेरने वाला महासमुद्र बन जाता—है (सूक्त ७)। ब्राह्म्य वायु की तरह विश्व के कोने कोने में व्याप जाता है, कोई जगह उस की सचेष्ट समुपस्थिति से नहीं बचती, और जहाँ जहाँ वह जाता है प्राकृतिक शक्तियाँ जाग उठती और उस का अनुगमन करती हैं।

इस सूक्त से यह परिणाम निकाला जा सकता है कि ब्राह्म्य-देववादियों की अपनी एक आधिदैविक सृष्टि थी, जिस में बहुत-से लोकों का, जो ब्राह्मण वाङ्मय से एक प्रकार से अपरिचित थे, उल्लेख था, जिन में हर एक का एक अधिष्ठातृदेवता अलग था, और वे सब सनातन ब्राह्म्य—एक सार्वभौम परमेश्वर—के अधीन थे।

तीसरे सूक्त में विश्वब्राह्म्य पूरे एक वर्ष सीधा खड़ा रहता है। ब्राह्म्य का यह अनुष्ठान भी लौकिक महाव्रत के उस अनुष्ठान के नमूने पर है, वहाँ एक सन्तुल्य बहुत देर तक खड़ा रह कर सूर्य का स्तवन करता और वड़े प्रभावोत्पादक स्तोत्र पढ़ता हुआ सूर्य के साथ साथ घूमता है। मैं समझता हूँ स्वप्न के अनुष्ठान की कल्पना भी, जिस का ब्राह्म्य-कल्पना से निकट सम्बन्ध है, इसी नमूने पर हुई है।

और ठीक जैसे कि महाव्रत में उद्गाता के लिए आसन्दी बनाई जाती है, वहाँ देवता लोग साम और अन्य विश्वशक्तियों से ब्राह्म्य के लिए एक आमन्दी तैयार करते हैं। यह समझा कोई मेरा अपना अनुमान नहीं, साम के मूल सन्दर्भों^१ द्वारा इसे सिद्ध किया जा सकता है। क्योंकि ब्राह्म्य की आसन्दी में

^१ अथर्ववेद ब्रा० २ २४ २६, छाठ्यायन श्रौत सूत्र ३ ६ ७ और देव ब्राह्म्य ० २४६ अ।

आसन्दी के भिन्न भिन्न अवयवों और कतिपय रहस्यमयी शक्तियों का साम्य वैसा ही है जैसा कि महाव्रत की आसन्दी में। आसन्दी की बनावट के रहस्य का विषय ब्राह्म्य आधिदैविकों को बड़ा प्रिय था। इसी से यह कुछ आश्चर्य की बात नहीं कि इस आसन्दी-कल्पना को ब्राह्मों के एक नेता कुशीतक के सम्प्रदाय ने ब्राह्म्य-मत छोड़ने के बाद भी जारी रक्खा और बढ़ाया; कौशीतकी उपनिषद् (१.५) का वह एक मुख्य भाग है।

क्योंकि ब्राह्म्य की आसन्दी महाव्रत के उद्गाता की आसन्दी है और प्रमुख सामो द्वारा बनी है, इस से यह प्रकट है कि ब्राह्म्य को महान् विश्व-उद्गाता के रूप में कल्पित किया गया है, जो साम-गान और ओङ्कार-नाद से विश्व को शब्दब्रह्म से परिपूर्ण कर देता है। तब समस्त देव-प्रजा उस की पदाति बन जाती है और उस के मन के संकल्प ही उस के दूत।

यही विचार चौथे और पाँचवें सूक्त में प्रकट हुआ है। वहाँ वर्ष के बारहो महीने—जिन के उपजाऊपन के लिए उद्गाता गा रहा है—तथा सब महासाम और परमात्मा के अर्थात् स्वयं आदिब्राह्म्य के अपने सात विभिन्न रूप उस के सहायक साथी बनाये गये हैं, जो उसे एक जीवित शक्ति के रूप में, जिस में विश्व की अन्य सब सत्ताएँ केन्द्रित हैं, सब दिशाओं और प्रदिशाओं में घेरे हैं।

महाव्रत में उद्गाता आसन्दी पर बैठ सामगान करता था, जिस के पश्चात् महद्गुह्य का पाठ होता। अब दोनों को मिला कर एक पुरुष—अर्थात् महाव्रत के अधिष्ठातृदेवता—के रूप में कल्पित किया गया। ऐतरेय आ० २.३.३. के अनुसार यह पुरुष 'ही संसार के चारों तरफ का महासमुद्र है। इस महासमुद्र से जल और जलो से अन्न पैदा होते हैं। ठीक इसी कल्पना की तुलना में ७ वें सूक्त में विश्व-महाव्रत का प्रमुख पुरुष 'बहवी महानता' हो जाता, पृथ्वी के अन्न तक पहुँचता और महासमुद्र बन जाता है। और उस के पीछे पीछे प्रजापति और परमेष्ठो, पिता और पितामह, और जल वर्षा बन कर बहते हैं। और तब ब्रह्मा और यज्ञ, जगत् और अन्न, तथा अन्न खाने की शक्ति (अन्नाद्य) अर्थात् जगत् की पोषक शक्तियाँ पैदा हो कर चली हैं। विश्व-महाव्रत यों सफल और सम्पूर्ण हो गया।

अब चूँकि जगत् और उस की पोषक शक्तियाँ—ब्रह्मा, यज्ञ, अन्न और अन्नाद्य पैदा हो गये, अतः अन्नादि ब्राह्म्य से, जो कि (विश्व-महाव्रत की प्रेरक शक्तियों द्वारा) रज से प्रदीप्त हो उठता है (=अरज्यत्), राजन्य की उत्पत्ति होती है। राजन्य एकाएक विशः (कबीलों) सजात बान्धवो (=सबन्धून्) अन्न और अन्नाद्यों के ऊपर होने का आकांचो हो जाता है (अभ्युदतिष्ठत्)^१।

६ वे सूक्त में ब्राह्म्य विशः की तरफ बढ़ता—विशः की सत्ता स्थापित करता—और इस प्रकार राजन्य के मनोरथ को पूर्ण करता है। उस के पीछे पीछे स मा, स मि ति, से ना और सु रा अर्थात् उन ब्राह्मणों के बड़े बड़े जमाव और उत्तेजनापूर्ण पान-गोष्ठियाँ चली हैं। इस सूक्त की व्याख्या उन मुरापान-महोत्सवों को ध्यान में रख कर करनी चाहिए, जिन की भूलक शत रुद्रिय मे है तथा जिन का वर्णन मेगास्थेनेस् ने भारतीय दिओनुसस् अर्थात् रुद्र-शिव की पूजा का उल्लेख करते हुए किया है। समभाव से मैं ज्यादा बारीकियों में नहीं जा रहा हूँ, उन का सविस्तर वर्णन अपने ग्रन्थ देर ब्राह्म्य जि० २ में दूँगा।

१०—१३ सूक्तों में लौकिक त्रात्य को अतिथि के रूप में देश में घूमते हुए तथा राजान्यों और जन-माधारण के घरों में जाते हुए दिखाया गया है। इन सूक्तों का, अतिथि ब्राह्मण वाले सूक्तों^१ से, जो कि इसी तरह पर्यायों में रचे गये हैं और त्रात्य अनुश्रुति से सम्बन्ध रखते हैं, तथा आपस्तम्ब धर्मसूत्र^२ के अतिथि-सन्दर्भों से, जहाँ इन्हीं सूक्तों के अक्षरशः उद्धरण दिये गये हैं, गहरा सम्बन्ध समझना चाहिए। इस प्रकार की तुलना से यह सिद्ध किया जा सकता है कि अतिथि घूमने फिरने वाला साधु ही है, जो पूर्वकाल में पुरोहित या जादूगर होता, और बाद में सिद्ध, जो अपने साथ अलौकिक बातों का गुप्त ज्ञान लाता और अपना स्वागत करने वालों को असीस देता। श्रुवेद और अन्य धर्मों से तुलना करने पर मालूम पड़ता है कि यह आर्यावर्त्त और युरोप की उभयनिष्ठ संस्था थी, और प्राचीन भारत में त्रात्य लोग उस के ब्राह्मणों की प्रतिनिधि थे। वह जहाँ जाता उस की आब-भगत बढ़ी श्रद्धा-भक्ति से होती और त्रात्य देवता की तरह, जिस का कि वह पार्थिव प्रतिनिधि है (१३.८-९) उस का स्वागत किया जाता। इस अतिथि का बड़ा माहात्म्य है। यदि वह किसी घर में एक रात ठहरे तो गृही पृथ्वी के सब पुण्य लोको को पा जाता है, दूसरे दिन ठहरे तो अन्तरिक्ष के, तीसरे दिन धु के, चौथे दिन पुण्य के पुण्य लोको को तथा पाँचवें दिन अपरिमित पुण्यलोको को।

ऐसा मालूम होता है कि वज्र-से कपट-त्रात्य (त्रात्यजुव) भी होते थे, जो सिर्फ त्रात्यों के नाम का फायदा उठाने के लिये त्रात्य बनने का ढोंग करते^३। १३ वें सूक्त में गृहपति को एक बड़ा मज्जेदार आदेश है जिस से कि वह कपट-त्रात्य के आने से भी बड़ी फल पा सके जो सच्चे त्रात्य के आने पर^४ होता है।

१२ वें सूक्त के आरम्भ में यह पता चलता है कि अतिथि अब घूमते धर्मगुरु और जादूगर के रूप में पहले त्रात्यों वाली सचखण और मण्डली के साथ नहीं आता, अब तो यह एवं विद्वान् त्रात्य है, जिस के ज्ञान ने अथ पुराने कर्मकाण्ड की जगह ले ली है। प्राचीन भारत में एक ही व्यक्ति ऐसा है जिस पर यह बात पट सके, वह है परित्राजक योगी या संन्यासी। योगियों-संन्यासियों का सब से पुराना नमूना त्रात्य है।

पहले पहल अजब जान पड़ने वाला १४ वां सूक्त जिसे रुडाल्फ रॉथ ने तो एकदम ही फिजूल और निरर्थक करार दिया था, प्रारम्भिक होते हुए भी रहस्यवाद का एक उत्तम गम्भीर सन्दर्भ है, जिस का भाव अथ० ८.६ के अतिथि ब्राह्मण वाले प्रकरण में भी स्फुट हुआ है, और सम्भवतः यहाँ भी यही कारण है कि अतिथि-सूक्तों के बाद ही इसे स्थान मिला है। इस में भी १२ गण हैं जिन की रचना उसी क्रम से हुई है।

“ज्यों ही वह (त्रात्य) पूरव को चला मरुत की सेना उत्पन्न हो कर (=भूत्वा) और मन को भोक्ता (=अन्नाद्य) बना कर उस के पीछे हो ली। जो वों जाने, वह मन के अन्नाद्य से अन्न खाता है।”

बारहो दिशाओं में इसी प्रकार विश्व-शक्तियों व दैवी सत्ताओं की १२ विभिन्न मंडलियाँ उठती हैं और त्रात्य के पीछे हो लेती हैं। वे बारहों अलग अलग अन्नाद्य भी बनाती हैं, जिन सब के साथ दीक्षित लौकिक त्रात्य भोजन करता है।

१ अथ० ६.६।

२ २.३.७।

३ अथ० १५.१३.६।

४ वही, ६—६।

इस सूक्त की ठीक व्याख्या के लिए प्राचीन भारतीयों को उस तत्त्वज्ञान को समझना आवश्यक है जिसे हम अन्न-भोमांसा कह सकते हैं और जो ब्राह्म-विचारकों का एक प्रिय विषय था ।

इन समस्याओं ने कि अन्न शरीर और मन की पोषक शक्ति के रूप में कैसे परिवर्तित हो जाता है, कि खाद्य पदार्थों (अन्न) में वस्तुतः खाद्य (अन्न) क्या है, और कि मनुष्य में वह कौन सी शक्ति है जो उसे हज़म करती है, बहुत से वैदिक विचारों को जगाया था । और सच ही प्रकृति और चेतन की समस्या का, जिस का हल आज भी नहीं किया जा सका, यह आरम्भिक स्वरूप था । इन्हो चिन्ताओं में अन्न और अन्नाद का विचार जन्मा,—अन्न अर्थात् विश्व का पोषक तत्त्व जो अपने को विभिन्न रूप, तनु या मूर्ति में बाँट लेता है, और अन्नाद या भोक्ता अर्थात् सचेष्ट तत्त्व जिसे कि प्रायः अन्तरतम में बसने वाला अग्नि या प्राण माना जाता है, और जो अपने को विभिन्न लोकों में बाँट लेता है ।

यही प्रधान और पुरुष का निराला द्वैतवाद है ?^१

अन्नाद बन कर अथवा विश्व अन्नाद्य के साथ विशेष दिशा में बैठ कर अन्न खाने से, साधक विश्व के उस भाग से जीवित सम्पर्क स्थापित कर लेता है । १४ वें सूक्त का निर्माण इन्हीं विचारों से हुआ है, और इसी लिए यह सूक्त हमारे ब्राह्मकाण्ड के गूढ़ अभिप्राय का द्योतक है । जो आध्यात्मिक चित्र यह खोजता है वह बहुत ही विशाल है,—विश्व का कोना कोना ब्राह्म की उत्पादक चेष्टाओं और दैवी सत्ताओं से समाक्रान्त है, वे अपने अपने स्थान की अधिष्ठात्री हैं, और वहाँ अन्नादों को नियुक्त करती हैं जो कि साधकों को अपने विशेष क्षेत्र की गुप्त शक्तियों में दीक्षित करते हैं । यह विश्व एक सुव्यवस्थित सजीव देह है, जिस की मूल प्रेरक शक्ति सनातन ब्राह्म है और इस लोक में उस का हिस्सेदार विद्वा न् ब्राह्म । योगदर्शन में इसी आशय को यों स्पष्ट किया है, 'योगी का मन मूल प्रकृति अथवा प्रधान से, जो कि सब पदार्थों की अभिव्यक्ति और लय का स्थान है, सीधे सम्पर्क में रहता है, और इसी से सब दिशाओं कालों और पदार्थों से भी ।' योगी की ऐहलौकिक चमत्कारपूर्ण सभी विभूतियों का मूल स्रोत यही है ।

हमारे काण्ड में बारबार आने वाले वाक्य—'प्रियं घाम भवति य एवं वेद'—में इसी आशय को तनिक दूसरे ढंग से कहा है—साधक में अभिव्यक्त होने वाली संपूर्ण शक्तियाँ उस में सजीव रूप में अवतरित हो जाती हैं ।

यह सूक्त क्या निरर्थक आँख बॉय है ? हमें यह न भूलना चाहिए कि विश्व के क्रम-नियम और उस से अपने सम्पर्क के बारे में वैदिक ऋषियों की धारणाएँ हमारी धारणाओं से मिले यह आवश्यक नहीं है ।

१५—१७ सूक्तों के आध्यात्मिक विचार भी कम महत्त्व के नहीं । ब्राह्म 'तीन बार सात गुणों' वाला से विश्व के अन्तरङ्ग में प्राणवायु फूँकता है, और इस तरह इसे अनुप्राणित रखता है । उस को इक्कीस प्राण हैं—७ प्राण अर्थात् आगे-प्रास, ७ अपान अर्थात् नीचे-प्रास और ७ व्यान अर्थात् बीचोबीच-प्रास, उस में से कइयों के विभिन्न नाम हैं, और हर एक परोक्ष या अपरोक्ष विश्व का भाग, अर्थात् उस की गूढ़ धारक शक्ति, है ।

१ दे०—दे० आ० २२, तै० उप० २२, ये० उप० १३, बृ० उप० १२; २.२, मैत्री उप० ६११ प्र; कठोप० ३४.

महा-नारा० उप० ११; तथा ऋ० ११८७, छान्द० उप० ३१३.७-८ ।

हम जब अपने इस काण्ड के अन्तिम सूक्त पर निगाह डालते हैं तो ब्राह्मण-विचार का एक नया पहलू सामने आता है—अर्थात् सनातन ब्राह्मण विश्व-पुरुष के रूप में। जैमि० उप० ब्रा०^१ से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण लोग “ऊर्ध्व-लोको में स्थित तथा यज्ञ की वलि से घृणा करने वाले देवाधिदेवों का,” तथा ओ३म् इस अक्षर का गूढ़ ज्ञान भी रखते थे। इस प्रकार हम ब्राह्मण-विचार के प्रमुख आध्यात्मिक विषयों को पहचान सकते हैं, और आगे प्र अ, श्वे ता श्व त र, मै ओ आदि रुद्र-शिव की अनुश्रुतिपरक उपनिषदों में इन्हीं का विवेचन और अधिक दार्शनिक ढंग से पाते हैं। इन के साथ सम्बद्ध का ठ क, मु ण्ड क और म हा ना रा य णो प नि ष द् का नाम भी जोड़ा जा सकता है। क्योंकि उपनिषदों में स्पष्ट ही साख्य परिभाषाओं—म न, बु धि, चि त्, अ ह ह्वा र—का प्रयोग है, और क्योंकि अथर्ववेद के एक ब्राह्मण-सूक्त में त्रि गु ण वा द का उल्लेख भी हम देख चुके हैं, इस लिए हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि आरम्भिक साख्य और योग की नींव, जिन का आरम्भ इतना पहले वैदिक काल में मिल रहा है, पहले पहल ब्राह्मण सम्प्रदाय में ही पड़ी।

अब मैं अन्त में थोड़े से वाक्यों में इस प्रश्न पर विचार करता हूँ कि आया मेरी यह म्यापना कि अथर्ववेद के १५वें काण्ड का ब्राह्मण वाद के योगियों का अग्रगामी है, मान्य हो सकती है। निश्चय ही महादेव के रूप में ब्राह्मण-ईशान की स्थिति पिछले योग-दर्शन के ईश्वर अथवा परम पुरुष की स्थिति से ठीक मेल खाती है। तब, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, १०—१३ सूक्तों का ए वं वि द्वा न् ब्रा ह्म णः परिव्राजक योगी का पूर्वरूप है।

पर क्या यहाँ हमें पिछले योग की किन्हीं विशेष क्रियाओं का आभास मिल सकता है ?

इस काण्ड में बखिर्ल विश्वब्राह्मण और लौकिक ब्राह्मण का पारस्परिक सम्बन्ध यहाँ संक्षेप में बता देना आवश्यक है। यह बात खास कर सूक्त २ से स्पष्ट है कि सनातन ब्राह्मण के कार्यों और स्वरूप को लौकिक ब्राह्मण के नमूने पर ही गढ़ा गया है। अतः सनातन ब्राह्मण के वर्णन से लौकिक ब्राह्मण के विषय में कुछ बातें हम जान सकते हैं। यदि सनातन ब्राह्मण वीन-शर-सतगुणों वाला से साँस लेता है तो लौकिक ब्राह्मण भी इसी तरह की कोई क्रिया अर्थात् कोई खास तरह का प्राणायाम अवश्य करता होगा। फिर यदि सनातन ब्राह्मण पूरे एक वर्ष भर सीधा खड़ा रहता है तो देर तक सीधे खड़े रहने की क्रिया लौकिक ब्राह्मण से छिपी न होगी; क्योंकि विशेषतः मै त्रा य णी र प नि ष द् के अनुसार, जिस का ब्राह्मण-अनुश्रुति से निकट सम्बन्ध है, राजा वृद्धद्वय ने एक हजार दिन तक ऐसा किया था और तब देवताओं ने प्रकट हो कर उस के सम्युक्त औपनिषद ज्ञान का प्रकाश कर दिया था।

यह मैं पहले ही बता चुका हूँ कि ब्राह्मणों की बहुत-सी क्रियाओं का मूल पुराने कर्मकाण्ड में निहित है। उदाहरणार्थ, सामगायकों के नियमित प्राणायाम, और उन के साथ प्राणों के विषय में आध्यात्मिक विचार—जैसा कि हम उन्हें विशेषतः जैमि० उप० ब्रा० में पाते हैं—उपासकों के कर्मकाण्ड छोड़ने पर बन्द नहीं हो गये, बल्कि वे नये प्रकार के पवित्र जीवन में ध्येय-प्राप्ति के साधन रूप में अङ्गोष्कार कर लिये गये। इसी प्रकार, जब कि सामो का गायन कर्मकाण्ड के साथ साथ छोड़ दिया गया, तब भी ओंकार के जाप को मन की एकाग्रता में सहायक मान कर प्रचलित रक्खा गया। ब्राह्मण लोग ओ३म् इस अक्षर के रहस्य को ज्ञाता थे, सो पहले ही कह चुका हूँ। इसी तरह बैठने का निश्चित आसन तब भी जारी रहा जब कि आसन्दी को अकेले फिरने वाले ब्राह्मण

की स्वच्छन्दता में बाधक मान कर छोड़ दिया गया^१। इन सब योग-तत्त्वों का वर्णन ३—५ सूक्तों में है, जहाँ उन का तब तक महाजत-अनुष्ठान से, जिस में से कि उन का विकास हुआ, सम्बन्ध है।

यह कहते समय कि अथर्व का १५वाँ काण्ड एक योग-ग्रन्थ है^२ निःसन्देह मैंने अत्युक्ति की थी। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इस काण्ड में उस सनातन ब्राह्म-विषयक गुप्त अनुश्रुति विद्यमान है जिस का कि दीक्षित साधक लोग असली एवं विद्वान् ब्राह्मण्य बतने के लिए ध्यान किया करते थे। अतः स्पष्ट ही विश्वशक्ति का ध्यान और परमेश्वर से साहचर्य-संपादक यह पवित्र ज्ञान उन ब्राह्मणों के जीवन का एक मुख्य अंग था, जो कर्मकाण्ड को छोड़ तत्त्वज्ञान और तत्सम्पादक अभ्यासों की ओर झुके।

और क्योंकि वे अपने आप को सब देवताओं और विश्व शक्तियों का प्रिय धाम अनुभव करते तथा विश्व के सब भागों की अधिष्ठात्री शक्तियों से अपना सजीव सम्बन्ध समझते; यही नहीं बल्कि स्वयं अपने को देवाधिदेव ब्राह्मण अनुभव करते थे, इस लिए यह मनःस्थिति, जो कि अपनी चरमावस्था में समाधि—अर्थात् अपरिमित आत्मविस्तार और अभ्युदय—की एक दशा में परिणत हो जाती है, अवश्य ही इन तत्त्वज्ञों में से कुछ अत्यधिक प्रतिभावान् महाभागों की हो जाती होगी। अतः इस काण्ड में पिछले योग के प्रायः सभी मुख्य तत्त्वों का पूर्वाभास मिलता है।

मैं यह नहीं कहता कि ब्राह्म-प्रकरण की सभी पहलियाँ धूम लो गईं। पर अनन्त अब तक अनुसुलभी सूक्ष्म गुरियों को भलावा इस काण्ड का सामान्य आशय भी प्रकट हो गया है और वैदिक काल के इतिहास में इस का स्थान निश्चित हो गया है। ब्राह्म-धर्म का सम्बन्ध अथर्व से पहले या पिछले काल से स्थापित करना अब अगले अनुसन्धान का कार्य होगा। अब तक की मेरी खोज से जो बातें पाई गई हैं, उन से यह सम्भावना होती है कि ब्राह्मण लोग, जो आर्य तो निरचय से थे ही, भारत में आने वाले आर्य प्रवासियों के पहले समूह में से थे। यदि कहीं पञ्च विंशति २४.१८.५ प्र में उल्लिखित छुप्त ब्राह्मण की प्रति मिल सके तो यह इतिहास बहुत कुछ सुलभ सकेगा, क्योंकि उस में ब्राह्मणों के नेता बुध की अनुश्रुति थी।

और दूसरे यह सिद्ध हो गया कि सांख्य-योग की जड़ भी यहीं खोजी जानी चाहिए।

इस प्रकार अथर्व का बहुत बदनम १५वाँ काण्ड भारत के प्राचीन इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। यह एक छुप्तप्राय वाङ्मय का एकमात्र अवशेष है अतः इस का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।^३

१ एक जातक-चित्र से सिद्ध है कि पिछले काल में भी योगी लोग आसन्दी करते थे। दे०—दे० ब्राह्मण पृ० ३२ टि०।

२ श्री अन्नकैंग दे० योगप्राक्सिस पृ० १८१।

३. इन स्थापनाओं का विस्तृत पोषण मेरी पुस्तक दे० ब्राह्मण जिल्द २ में होगा।

सद्*

प्रो० डा० आर्टो स्टॉस, पीएच० डी०, ग्रेस्लाव विद्यापीठ, जर्मनी
अथर्ववेद-मंहिवा के प्रात्यकाण्ड (१५) के सातवें पर्याय का पहला मन्त्र यह है.—

स महिमा मद्रुभत्वान्तं
प्रथिव्या अंगच्छत्समद्रुतोऽभवत् ।

इस पङ्क्ति का अनुवाद द्विटनी-लैन्मैन ने इस प्रकार किया है^१ .—

‘वह महत्ता उस से सीधी निकल कर (Becoming Sessile) पृथ्वी के अन्त तक गई। समुद्र हो गई।’
इस के समर्थन में वहीं निम्नलिखित टिप्पणी दी गई है, “द्वि० ने हाशिये पर पेंसिल के नोट से इस प्रकार सुझाया है—‘अथवा वह उस से सीधी निकलने वाली महानता बन कर इत्यादि’। ओफ़ोल्ड और संस्कृत-वो टें वुं ख ने सन्देह प्रकट किया है कि सद् और समुद्र शब्द में सम्बन्ध दोख पड़ता है। पर समानता इतनी थोड़ी है कि निश्चय से कुछ कहा नहीं जा सकता। ओफ़ोल्ड सद् मूल का अर्थ ‘अपने आप को गति दे कर’ (स + द्र मूल) करता है। और वो टें वुं ख भी इसी व्युत्पत्ति का समर्थक प्रतीत होता है। परन्तु यह मनाना कठिन है...’”

हमारा पहला सवाल यही होगा कि क्या कोई पुराना भारतीय प्रमाण भी सद्, की इन व्याख्याओं का समर्थक है ? और इस का जवाब है हाँ, क्योंकि पाणिनि की अष्टाध्यायी के ३.२.१५६ सूत्र दा घे ट् सि श द स दो क के अनुसार इन धातुओं के आगे रु होता है, और ३.२.१३४ सूत्र के अनुसार इस उकारान्त प्रत्यय का अर्थ होता है तच्छील तद्धर्म तत्सा धुकारि। इस के अतिरिक्त काशिका में ३.२.१५६ का उदाहरण सद् दिया गया है। अतः यह स्पष्ट है कि पाणिनि सद् का अर्थ समासज्ञ (Sessile) करने के पक्ष में है।

अब हम दूसरी व्युत्पत्ति पर आते हैं, जिसे लैन्मैन के मत में ठीक मानना कठिन है। “अपने आप को गति दे कर” इस अनुवाद के प्रस्तावक दोनो जर्मन विद्वान् ओफ़ोल्ड और रोडॉल्फ रॉथ इतने बड़े विद्वान् हैं कि उन की सम्मति को इतनी आसानी से उड़ाया नहीं जा सकता। रॉथ जो कि वो टें वुं ख के वैदिक लेखों के लिए जिम्मेदार हैं, वैदिक विचारों को समझने में बहुत प्रवीण थे। क्या वास्तव में ऐसी कोई युक्ति नहीं है जिस से उन का द्र धातु से सद् शब्द की व्युत्पत्ति करना, और समुद्र शब्द से उस का सम्बन्ध स्थिर हो सके ?

मेरे विचार में पाणिनि से भी पुराने एक आचार्य का मत इस के पक्ष में है। निरुक्त (२.१०) में यास्क श्रुक् १०-२५ पर टीका करते हुए कहते हैं—

समुद्र कस्मात् ? समुद्रवन्त्यस्मादापः । समभिद्रवन्त्येनमाप । ...

* इडिवा इन्स्टीट्यूट आफ् ब्यू शू एकाडमी, म्यून्खन (जर्मनी) की कृपा से प्राप्त।

१. हावर्ड ओरियेंटल सोसिज, लि० नं० ५, पृ० ७८१।

इस से यह स्पष्ट है कि यास्क ने समुद्र और द्रु धातु में सम्बन्ध समझा था। आधुनिक दृष्टि से यह सम्बन्ध भले ही अद्भुत प्रतीत हो, और पाणिनि के वैज्ञानिक सम्प्रदाय-द्वारा यह भले ही परित्यक्त है, पर ब्राह्मण-ग्रन्थों के ढंग से यह मेल खाता है। और अथर्ववेद १५.७.१ के रचयिता का भी यही अभिप्राय था। स्पष्ट ही उस ने समुद्र के साथ साथ सद्रु को उसी प्रकार रक्खा है जैसे पर्याय ८.१ में राजन्य के साथ अरज्यत को।

इस लिए मेरा विचार यह है कि ब्राह्मण-काण्ड में हमें द्रु से ही सद्रु की व्युत्पत्ति करनी चाहिए, और इस का अनुवाद 'उस ने अपने आप को गति दे कर' यही करना चाहिए।

बहुत से पीछे के कवियों ने भी समुद्र और द्रु धातु के इस सम्बन्ध का अनुभव किया है और अलङ्कार रूप में इस का प्रयोग करते रहे, चाहे निरुक्ति की दृष्टि से वे इसे ठीक न मानते रहे हों। जैसे भगवद्गीता (११.२८) :—

यथा नदीनां बहुवोऽप्सुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवाभी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥

ऋग्वेदेर देवता

श्रीविनयतोष मठाचार्य, एम०ए०, पिएच्०-डि०, बड़ोदा

[ऋग्वेद के देवता केवल प्रकृति-देवता नहीं हैं जैसा कि साधारणतः समझा जाता है। यह विचार कि ऋग्वेद में वर्णित सब देवता प्रकृति की भिन्न भिन्न शक्तियों की अभिव्यक्ति हैं, गलत है। यह अम ऋग्वेद पर लिखने वाले पुराने और नये लेखकों की गलत व्याख्याओं के फल-स्वरूप फैला है। ऋग्वेद की व्याख्या के लिए—शिवा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष इन छहों वेदाङ्गों का अच्छा ज्ञान आवश्यक है, और खास तौर पर ज्योतिष का, जो कि सब वेदाङ्गों में प्रमुख है। पर सब से अधिक दुःख का विषय यही है कि ऋग्वेद की व्याख्या में ज्योतिष का उपयोग मले प्रकार नहीं किया गया। इसी त्रुटि के कारण ऋग्वेद के देवताओं का प्रत्यक्ष जटिल हो गया है।

वेदाङ्ग-ज्योतिष में २७ राशियों के, जिन में कि उल्का-नि-वृक्ष विभक्त हैं, २७ नक्षत्र-देवताओं अथवा अधिष्ठातृदेवों का वर्णन है। ये सत्ताइसों देवता सूर्य के सत्ताइस विभिन्न नक्षत्रों में पहुँचने पर पड़ने वाले नाम हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण हर एक देवता को एक खास नक्षत्र के साथ जोड़ता है। उदाहरण के लिए जब रुद्र का उल्लेख हो तो समझना चाहिए कि वह आर्द्रा का सूर्य है, जब कि बादल उमड़ते हैं, बिजली कड़कती है और मूसलाधार बरसता है। वैसे ही जब पूषा का वर्णन हो तो समझना चाहिए कि वह रेवती नक्षत्र का सूर्य है जिस का काम पशु-संसार का पालन करना है।

यह तो अच्छी तरह विदित है कि ऋग्वेद की प्रत्येक ऋचा किसी न किसी एक देवतापक है, और जब तक उस देवता को ठीक तरह समझ और पहचान न लिया जाय, उस ऋचा का असली अभिप्राय समझ में आना कठिन है। और क्योंकि अधिकांश देवता किसी न किसी नक्षत्र-देवता के या सूर्य के विभिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं, अतः ऋग्वेद की किसी भी ऋचा का अर्थ करने का तब तक साहस न किया जाना चाहिए जब तक कि उस के देवता का किसी खास नक्षत्र के साथ सम्बन्ध न पहचान लिया जाय।

अगर इस सम्बन्ध को समझ लिया जाय तो ऋग्वेद की दुबोब भाषा का उद्घाटन बहुत कुछ साफ हो जाता है।]

ऋग्वेदेर देवता सम्बन्धे अनेककाल हइते अनेक प्रकार मत-भेद चलिया आसितेछे । केह बलेन, वैदिक ऋषिरा पैतृलिक छिलेन, केह बलेन, ताँहारा प्राकृतिक सौन्दर्येर उपासक छिलेन, ताँहारा सूर्य-चन्द्रेर उपासना करितेन, कखन-ओ मंघ ओ वृष्टि, कखन-ओ नदी उपनदी एवं कखन-ओ गाछ-पालार उपासना करितेन । अनेके बलेन, एइ रूप उपासना पुरातन काले सकल असभ्य ओ वर्वर जातिदिगेर मध्य वर्तमान छिल, एव एखन-ओ कोल, भील, साँओतालदिगेर मध्ये एव आफ्रिकार वर्वर जातिदेर मध्य देखिते पाओआ जाय, अतएव पुरातन वैदिक ऋषिरा-ओ अनंकटा सेइ श्रेणीभुक्त छिलेन । ऋग्वेदेर धर्मके इउरोपीय पण्डितेरा “हिनाथिस्म” (Henotheism) नाम दिग्राछेन, अर्थात् ऋषिरा जखन जाहाके पूजा करितेन, जाँहार उइशे सूक्त लिखितेन, ताँहाके-इ सर्वापेक्षा बढ़ो करिया तुलितेन, एवं अन्य समस्त देवताके एकेवांग छोटो करिया दितेन । आवार अन्य एकटि देवताके जखन धरितेन, तखन वाको सकलगुलिके-इ छोटो करिया दितेन । अर्थात् वेदेर धर्म एक प्रकार खोशामोद-वादे इउरोपीय पण्डितेरा परिणत करिया फेलियाछेन । काजे-इ, वेदेर एइ सनातन खोशामोद-वाद हइते-इ भारतवर्षेर आवाल-वृद्ध-वनिता खोशामोद-प्रिय हइया पड़ियाछे, एवं ताहा हइवार-इ कथा ।

एखन देखा जाक्, कथाटा कतोदूर सत्य । ऋग्वेद कोन काले लेखा हइयाछिल ताहार-इ ठिक नाइ । पण्डित भारतेर सिन्धु-प्रदेश मोहेन-जो-दड़ो हइते जाहा नूतन आविष्कार हइयाछे, ताहा हइते अनेकटा अनुमान करा जाय जे ऋग्वेदेर सभ्यता सिन्धु-देशीय प्राचीन सभ्यता हइते-ओ किञ्चित् पुरातन । ताहा हइले-इ ऋग्वेदके खोष्ट-पूर्व ३००० बत्सरं परे आना जाय ना । ताहाइ यदि ह्य, एखन आमरा ऋग्वेदेर अर्थ जाहा करितेछि ताहा-इ ठिक, ना सायणाचार्य चतुर्दश शताब्दीते जे अर्थ करियाछेन ताहा-इ ठिक । मायणाचार्य यदि ऋग्वेदेर अर्थ स्पष्ट बुझितेन, ताहा हइले विनि एकटि अर्थेर धदले कोनो कोनो स्थले पाँच-छयटि अर्थ देन केनो ? एकटि ऋक्केर अर्थ एक प्रकारइ हइवे,—सायणाचार्य एक-इ ऋक्केर जन्य, पाठकेरा जाहांत बाछिया लइते पारे ताहार जन्य, एक्वारे दोकान साजाइया देन केनो ? काजे-इ वेश बोझा गेलो, एखन-ओ ऋग्वेदेर अर्थ करा ठिक ह्य नाइ, एव बहुत पण्डितेरा चेष्टा करिया ताहार प्रकृत अर्थ धरिते पारंन नाइ ।

तुलनात्मक भाषाशास्त्रेर साहाय्य लइया ऋग्वेदेर दुइ-चारिटि शब्देर अर्थ करा हइयाछे । एवं एइ रूप तुलना-मूलक पद्धतिरे शब्देर अर्थ करा सुब-इ विज्ञान-सम्मत, सन्देह नाइ । किन्तु अति सामान्य शब्देर अर्थ लइया कि करिया एइ बृहत्कलेवर ऋग्वेदेर सम्पूर्ण अर्थ करा सम्भवपर हइते पारे ? ताहार पर आवार जे लाटिन, ग्रीक, अवेस्ता इत्यादि भाषार मारफते ऋग्वेदेर शब्देर अर्थ करा हइतेछे, देखा दरकार ताहादेर प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेदिक कालेर समसामयिक कि ना । ग्रीक ओ लाटिनेर सर्वापेक्षा पुरातन साहित्य-ओ ऋग्वेदेर कयक सहस्र बत्सर परे रचित हइयाछे । से चेत्रे ग्रीक, लाटिन, अवेस्ता इत्यादि साहित्य हइते आजकाल जे अर्थ करा हइतेछे, ताहाइ जे ऋग्वेदेर समयकार शब्देर अर्थ, ताहा कि करिया अनुमान करा जाइते पारं ? कारख भाषा कखन-ओ एक भाके ना, भाषा समय-हिसावे एवं स्थान-हिसावे सदा-इ परिवर्तित हइनेछे । सस्कृत हइते प्राकृत, प्राकृत हइते अपभ्रंश, एवं अपभ्रंश हइते प्रादेशिक वर्तमान भाषा-सकल, एइ परिवर्तन-वाद-इ समर्थन करिया भाके । काजे-इ तुलना-मूलक भाषाशास्त्रेर मारफते-ओ ऋग्वेदेर मतन प्रकाण्ड साहित्येर कथा-मात्र-ओ बुझा जाय ना ।

अतएव, एइ रूप आशिक भावे विवेचित दुइ-चारिटि तथ्येर उपर भरसा करिया पण्डितेरा जे सकल

अभिनव मत प्रदर्शन करियाछेन, ताहार उपर सम्पूर्ण आस्था स्थापन करा कोनो बुद्धिमानेर काज नहे ।

आर एकटि कथा । इउरोपीय पण्डितदेर निकट वेद प्रागैतिहासिक युगेर असम्भवा ओ बर्बरतार-इ एकटा निदर्शन । एवं वेदे-इ जे ताहारा आपनादेर मनोभाव प्रकाश करीयाछे, एइ कथा मुक्तकण्ठे ताँहारा प्रचार करेन । किन्तु भारतवर्षे वेदेर सम्मान सकलैर चैये बड़ो; न्याय-वेदान्तेर अतो सम्मान नाइ । ताहा छाड़ा, 'हिन्दु' बलिबे गेल्ले-इ बुझिते हय—जोँहारा वेदे विश्वास करेन । वेदेर दोहाइ ना दिखे भारतवर्षेर कोन-ओ शास्त्र सम्मान पान ना—एवं से शास्त्रके केहो माने ना । वेदेर भितर जाहाते कोनोरूप भुल-भ्रान्ति प्रवेश करिते ना पार, से-जन्य नानारूप पाठेर व्यवस्था करा हइयाछे; ताहाते-इ पदपाठ, स्वरपाठ, जटोपाठ, घनपाठ इत्यादिर प्रतिष्ठा हइयाछे । एखन-ओ भारतेर नाना स्थाने जटोपाठी, घनपाठी देखिते पाओआ जाय । इहादेर-इ बहु सहस्र वत्सरंर प्रचेष्टार फले वेदेर आदि स्वरूप रचित हइयाछे । यदि वेद, मात्र बर्बरतार-इ अभिव्यक्ति हय, ताहा हइले ताहा रचा करिबार जन्य एतो बहुकालव्यापी चेष्टाइ वा केनो, आर कोनोशास्त्र लिखिते गेल्ले, से वेदेर दोहाइ देओआ-इ वा केनो ?

वाहार कारण, भारते वेदेर सर्वापेक्षा बेसी मान । वेद-इ सर्वशास्त्रेर आकर, वेद-इ सकल रसर उत्स । वेदके बले अपौरुषेय । ताहार अर्थ इहा नहे जे पुरुषे उहा तेयारी करे नाइ । उहार अर्थ एइ जे, उहा मानवेर चमत्कार अतीत; यदि मानवे-इ करिया थाकेन, तो तिन अविमानव, तिन ऐश्वरिक-शक्ति-सम्पन्न । वेद विद्-धातु हइते सिद्ध हइयाछे; विद्-धातुर अर्थ जाना, ताइ वेद बलिबे ज्ञानेर भाण्डार बुझाय । सब चाइते बेसी जानार दरकार यज्ञ-क्रिया, जे यज्ञेर जन्य वेदिर दरकार हय ना, पुरोहित, श्रुतिवेर प्रयोजन हय ना, घी, दुध, चरु, पुरोडाशेर दरकार हय ना । से यज्ञ एइ विराट सृष्टि-यज्ञ, जाहाते एइ अद्भुत सृष्टि, स्थिति ओ प्रलयेर लीला अनदि अनन्त काल हइते चलिया आसितेछे । एइ लीलार प्रकृत ज्ञान-इ मानवेर वाञ्छित ज्ञान, एइ ज्ञानके-इ आत्मज्ञान बले, आर एइ ज्ञान हइले-इ प्रकृत मोक्षलाभ कारा जाय । एइ आत्मज्ञानके-इ आमादेर शास्त्रे श्रेष्ठ ज्ञान बलियाछे । जवोदिन नाना विपद आपद, भङ्गभार भितर दिया एइ सृष्टि-अतिवाहित हइबे, ततोदिन एइ ज्ञान मानवेर शक्तिबे, एवं अन्यान्य सकल ज्ञानेर उपर आसन पातिया बसिया थाकिबे । वेदे एइ विराट सृष्टि-रहस्येर द्वार खुलिया दियाछे, आत्मज्ञान लाभ करिबार रास्ता देखाइया दियाछे,—ताइ आमादेर देशे वेदेर एतो सम्मान ।

एइ सृष्टि-यज्ञे सर्वशक्तिमान सूर्य-इ कर्ता; तिन एकटि संवत्सरे उत्पत्ति, स्थिति ओ ध्वंसेर बीज बपन करिया जाइतेछेन । तिन विष्णु, तिनइ सर्वव्यापी, तिन-इ सर्वशक्तिमान, स्व-इच्छाय आपनाके बहुधा विभक्त करियाछेन, एवं एइ विराट सृष्टि-यज्ञे उत्पत्ति, स्थिति ओ लयेर लीला प्रवर्तन करियाछेन । वेदेर ज्ञान सर्वोच्च दर्शनेर ज्ञान—ताइ वेद हइते सर्वशास्त्रेर उद्भव, एवं सेइ-जन्य वेद सर्वज्ञानेर उत्स रूपे परिकल्पित हइयाछे । आमादेर काछे वेद बर्बरतार अभिव्यक्ति नहे, सर्वोच्च सभ्यतार अभिव्यक्ति,—से सभ्यता आर कसनओ आसिबे किना सन्देह ।

बलितेछिल्लाम, वेदेर अर्थ जाना सहज नहे । सायणाचार्य कर्म-मीमांसक छिल्लेन, तिन-ओ कर्म-मीमांसार चरामार भितर दिया-इ वेदके देखियाछेन, वेदे ज्ञान देखिते पान नाइ । तुलनात्मक भाषाशास्त्र प्राय अन्ध, ताहार सबे चहु फुटितेछे । भाषाशास्त्रेर मध्य दिया वेदके देखिले ज्ञान हइबे ना, अज्ञानेइ आच्छन्न थाकिते

हृदये । वेदेर ज्ञान जाहाते सम्यक् प्रचार हय एवं सम्यक् बोधगम्य हय, ताहा सकले-इ कामना करन, किन्तु ए प्रबन्ध से प्रचारेर उद्देश्य लइया लिखितेछि ना । इहाते शुधु वैदिक देवता सम्बन्धे दुइ-चारिदि कथा बलिबो । विलाती पण्डितेरा वैदिक देवता सम्बन्धे जाहा बलियाछेन, ताहा-इ शेष कथा नय, ताहा-इ बुझाइवार जन्य एतो वडो भूमिका दिते बाध्य हइयाछि ।

वैदिक देवता सम्बन्धे विस्तारित विवेचना करिते गेले एकटि वृहत् ग्रन्थेर आवश्यक हय, कारण एइ विषय-ओ वेदेर-इ न्याय गहन, एवं एकटि समुद्र-विशेष । काजे-इ एइ विषये दुइ-एकटि नूतन तथ्य एखाने पाठक-के उपहार दिबो, मन.स्थ करियाछि । सकले-इ जानेन, वेदेर छयटि करिया अङ्ग आछे, अर्थात् वेदेर सहित चनिष्ठभावे संयुक्त छय प्रकारेर साहित्य आछे । एइ छय साहित्य के 'वेदाङ्ग' बला हइया थाके । वेद बुझिते हइले एइ छय अङ्गरेइ साहाय्य लइते हय । व्याकरण ओ निरुक्तेर साहाय्य वेदेर शब्द सम्बन्धे बोध हय, एवं इहार-इ साहाय्य वेशी करिया सायनाचार्य्य ओ आधुनिक पण्डितेरा ग्रहण करियाछेन । किन्तु ज्योतिष शास्त्र-ओ एकटि वेदेर अङ्ग बलिया परिचित । वेदेर अर्थ निखय करिवार जन्य ज्योतिष-शास्त्रेर साहाय्य आज पर्यन्त अति अल्प-इ लग्गोआ हइयाछे । वेदाङ्ग ज्योतिषेर पुस्तक ज्योतिष सम्बन्धे निम्नलिखित श्लोक देखिते पाओआ जाय—

यथा शिखा मयूराणां नागाना मणयो यथा ।

तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां ज्योतिषं मूर्धनि म्थितम् ॥

—लगभकृत वेदाङ्गज्योतिष

अर्थात्, मयूरेर शिखा जेमेन ताहार माथाय थाके, नागेर मणि जेमेन ताहार माथाय थाके, सेइ रूप वेदाङ्ग-शास्त्रेर मध्ये ज्योतिष सकलेर उपर अथस्थान करिया थाके ।

आर एक जायगाय बले "ज्योतिषं अयनं चतुः" अर्थात् वेदेर चतु-इ ज्योतिष, अथवा वेद देखिते गेले ज्योतिष दियाइ ताहाके देखिते हय । एवं एइ-सकल कथार सारवत्ता एकटु चेष्टा करिले-इ बुझिते पारा जाय । आर कोनो कथा बुझा जाक, वा ना जाक, वेदेर देवता बुझिते हइले ज्योतिष-शास्त्रेर सहाय्यता बिना आर कोनो उपाय नाइ ।

बलिबार दरकार नाइ जे वेदे नाना देवतार नाम पाओआ जाय,—यथा प्रजापति, त्वष्टा, अहिर्बुध्न, यम, अग्निनी इत्यादि । ईहारा काण, ईहादेर काहार सहित सम्बन्ध, ईहादेर कार्य कि, इत्यादि कोनो प्रश्नेर सालो उत्तर पाओआ जाय ना । ए विषये केह किछु लिखियाछेन कि ना, जानि ना । वेदेर देवता सम्बन्धे किन्तु वेदाङ्ग ज्योतिषे एकटि वेश श्लोक आछे—

अग्नि प्रजापतिः सोमो ब्रह्मोऽदितिर्वृहस्पतिः ।

सर्पाश्च पितरश्चैव भगश्चैवार्थमापि च ॥

सविता त्वष्टाऽथ वायुश्चेन्द्राग्नी मित्र एव च ।

इन्द्रो निर्वृत्तिरूपो वै विश्वेदेवास्तथैव च ॥

विष्णुर्वसवो बरह्मोऽज एकपात्तथैव च ।

अहिर्बुध्नस्तथा पूषारिवनौ यम एव च ॥

—लगभकृत वेदाङ्गज्योतिष

उपरोक्त श्लोके कयैकटि देवतार तालिका देओआ हइयाछे । एइ-सकल देवताके वेदाङ्ग ज्योतिषे “नचत्र देवता” बला हइयाछे । इहादेर भितर सविता सूर्येर नाम, विष्णु सूर्येर नाम, अर्यमा ओ भग सूर्येर नाम । काजेइ एइ-गुलि सब-इ जे सूर्येर भिन्न भिन्न नाम, से विषये सन्देह करिबार युक्तियुक्त कारण देखिते पाओआ जाय ना । एइगुलिके आबार जखन नचत्र-देवता बला हइतेछे, एवं जखन २७-टिर वेशी नाम पाओआ जाइतेछे ना, तखन स्वतः-इ मने हय जे सूर्य जखन भिन्न भिन्न नचत्रे अधिष्ठान करेन, तखन तौहार एइ रूप भिन्न भिन्न नाम हइया थाके । काजे-इ बुझा जाय, एइ जे समस्त देवता, ईहारा सूर्य हइते भिन्न नहेन, एवं सूर्य आपनाके गुण-कर्म-भेदे एइ रूपे भिन्न भिन्न देवतारूपे भाग करिया थाकेन । सातास नचत्रे एइ रूपे आपनाके भाग करा, “एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति”—एइ मतेर-इ पोषकता करिया थाके ।

कोन नचत्रे अधिष्ठान करिले सर्वशक्तिमान् सूर्यदेवेर कि नाम हइया थाके, एवं तौहार गुण एवं कर्मेर किरूप भेद हइया थाके, ताहा परवती ब्राह्मण-गुगेर पुस्तक तैत्तिरीय ब्राह्मणे^१ देखिते पाओआ जाय । एइ पुस्तके प्राप्त विवरण निम्नलिखित कोष्ठके देओआ हइलो—

संख्या	देवता	नचत्र	संख्या	देवता	नचत्र
१	अग्नि	कृत्तिका	१५	मित्र	अनुराधा
२	प्रजापति	रोहिणी	१६	इन्द्र	ज्येष्ठा
३	सोम	मृगशिरा	१७	निर्ऋति	मूला
४	रुद्र	आर्द्रा	१८	आपः	पूर्वाषाढा
५	अदिति	पुनर्वसु	१९	विश्वदेवाः	उत्तराषाढा
६	बृहस्पति	पुष्या (विष्या)	२०	विष्णु	श्रवणा (श्रोणा)
७	सर्प	अश्लेषा (आश्लेषा)	२१	बसुगण	धनिष्ठा (श्रविष्ठा)
८	पितर	मघा	२२	वरुण	शतभिषक्
९	भग	पूर्वफल्गुनी	२३	अज एकपात्	पूर्वभाद्रपदा (श्राष्ठपदा)
१०	अर्यमा	उत्तरफल्गुनी	२४	अहिर्बुध्न	(उत्तरभाद्रपदा)
११	सविता	हस्ता	२५	पूषा	रेवती
१२	त्वष्टा	चित्रा	२६	अश्विनीद्वय	अश्विनी
१३	वायु	स्वाती	२७	यम	भरणी
१४	इन्द्राग्नी	विशाखा			

जखन-इ ऋग्वेदे ईहादेर मध्ये कोन एकटि देवतार नाम करा हइवे, तखन-इ बुझिते हइवे जे, जे देवतार नाम करा हइयाछे, तौहार-इ नचत्रेर कथा बला हइयाछे । अर्थात् सूर्य सेइ नचत्रे अवस्थानकालीन

किं किं करिया थाकेन, एवं तौहार गुण ओ कर्म कि रूप भेद हइया थाके, ताहारइ विवरण देओआ हइतेछे । ऋग्वेदे देवता बुझिते हइले, प्रथमे एइ नक्षत्रे सहित सूर्ये कि सम्बन्ध, ताहा सम्बन्ध बोधगम्य होओआ चाइ । यथा, पूषा नामे अनेकगुलि सूक्त आछे । पूषा बलिबे गेले-इ इहा जाना दरकार जे, उहा रेवती नक्षत्राधिष्ठित सूर्ये नाम । रेवती नक्षत्रे अवस्थान काले सूर्य सकलैर—पशु-पक्षी, मानव ओ उद्भिज्जगतेर—पोषण सम्पादन करिया थाकेन, एवं सेइ-जन्य तौहार नाम 'पूषा' देओआ हइवाछे—पूषा पूष-धातु हइते निष्पन्न हइवाछे, एवं एइ धातुर अर्थ पोषण करा ।

ताहार पर आचार देखा दरकार, जे क्रान्ति-वृत्ते एइ २७-दि नक्षत्र थाके, ताहा आचार १२-दि राशितं विभक्त । सूर्ये एक एकदि राशिभोग-कालके एक एकदि सौरमास बलिया अभिहित करा हय । एइ सौरमास द्वादशदि, इहाते-ओ सूर्ये नाम भिन्न हय, एवं तौहार गुण ओ कर्म प्रभेद हइया थाके । प्रत्येक राशिते आचार सओआ दुइदि नक्षत्र अवस्थान करे । यथा—

राशि	नक्षत्र
मेघ	अश्विनी, भरणी, कृत्तिका
वृष	कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा
मिथुन	मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु
कर्कट	पुनर्वसु, पुष्या, अश्लेषा
सिंह	मघा, पूर्वफल्गुनी, उत्तरफल्गुनी
कन्या	उत्तरफल्गुनी, हस्ता, चित्रा
तुला	चित्रा, स्वाती, विशाखा
वृश्चिक	विशाखा, अनुषाढा, ज्येष्ठा
धनु	मूला, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा
मकर	उत्तराषाढा, श्रवणा, धनिष्ठा
कुम्भ	धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वभाद्रपदा
मीन	पूर्वभाद्रपदा, उत्तरभाद्रपदा, रेवती

ऋग्वेदे जखन-इ कोना देवतार नाम करे, तखन-इ सूर्ये एकदि विभेग नक्षत्रे अवस्थान निर्देश करे, एवं सेइ नक्षत्र जे राशिते अवस्थित, सेइ राशि-ओ निर्देश करे । धरन, यदि यम देवतार नाम ऋग्वेदे करा हय, ताहा हइले बुझिते हइवे तिन भरणी नक्षत्रे देवता एवं भरणी नक्षत्र मेघ राशिते अवस्थान कराय, यम शब्दे उत्तराशि-ओ निर्दिष्ट हइवे । तिन भरणी नक्षत्रे देवता, एवं भरणी नक्षत्र मेघ राशिते अवस्थान कराय, यम शब्दे उक्त राशि-ओ निर्दिष्ट हइवे । ताहा हइलेइ देखा जाय, ऋग्वेदे प्रत्येक देवतार सहित नक्षत्र ओ राशिर प्रत्येक ओ परोक्ष आवे अविकिच्छन्न सम्बन्ध रहियाछे ।

परवर्ती युगेर पौराणिक अनेक आख्यान ऋग्वेदेर सूक्त हइते लभोआ हइयाछे । किन्तु पुराणोक्त आख्यानगुलि ज्योतिष व्यतिरेके हेँयालि-रूपे एखन पर्यवसित हइयाछे । जेसन, महादेवेर माथार जटा हइते गङ्गार अवतरण । इहा कि करिया हइते पारे ? एइ रूप गल्प बलिबार कारण कि ? यदि ज्योतिषेर भितर दिया देखा जाय, ताहा हइले पाठकवर्ग देखिबेन, एइ रूप वर्णनाय अतिरञ्जन वा हेँयालि किछु-इ नाइ । रुद्र वा शिव वा महादेव आर्द्रा-नक्षत्रेर देवता, आबार आर्द्रा मिथुन-राशिते अवस्थित । एइ मिथुन-राशिर भितर दिया आकाश-गङ्गा प्रवाहित हइतेछे । एइ जिनिसटि दुष्माइवार जन्य गङ्गावतरणेर आख्यानटि रचित हइयाछे । कोनो काले-इ शिव-नामक देवदार माथार जटा हइते आत्मादेर गङ्गा वा भागीरथी प्रवाहित हय नाइ । जौहादेर से धारणा आछे, तौहादेर जाना उचित जे उहा नितान्त भुल ।

सूर्येर आख्यानटि-ओ ठिक एइ प्रकारेर । पुराणे बले, सूर्य त्वष्टार कन्या प्रभा वा सरण्युके विवाह करियाछिलेन, एवं तौहार गर्भे मनु, यम, ओ यमी नामक दुइ पुत्र ओ एक कन्यार जन्म हय । किन्तु सरण्यु सूर्येर तेजः सख करिते ना पाराय, उत्तरकुहते पलाइया जान, एवं तथाय घोटकीर रूप धारण करिया तपस्या करिते आरम्भ करेन । जाइबार समय पतिर सेवार जन्य आपनार शरीर हइते निजेर-इ मत छायाके उत्पन्न करिया सूर्येर निकट राखिया जान । छाया गर्भे शनि, सावर्धि मनु, ओ तपवीर जन्म हय । एक समय छाया यमेर उपर राग करिया ताहाके भयङ्कर शाप देन । इहाते-इ यम ओ सूर्य, दुइ जने-इ छाया जे यमेर माता नहेन, ताहा जानिते पारेन । सूर्यदेव ध्यानस्थ हइया देखिलेन, प्रभा उत्तर-कुहते घोटकीर रूप धारण करिया तपस्या करितेछेन, एवं सेइ-जन्य तिन-ओ घोटकीर रूप धरिया तौहार सहित मिलित हन । एवं सेइ घोटकीर गर्भे तिनटि पुत्र उत्पादन करेन । तौहारा सकलैइ अश्वरूपे जन्म-ग्रहण करेन, एवं तौहाराइ अश्विनीकुमार-द्वय एवं रेवन्त नामे परिचित हन ।

यदि ऋग्वेदे एइ विषय अनुसन्धान करा जाय, ताहा हइले देखा जाइबे, ऋग्वेदेर दुइटि श्रुकेर उपर निर्भर करिया एइ आख्यानटि रचित हइयाछे । सेइ दुइटि श्रुक नीचे देओआ हइलौ, एवं ताहादेर अनुवादओ देओआ हइलौ—

त्वष्टा दुहित्रे बहवुं कृषोवीतीदं विश्वं भुवनं समेति ।

यमस्य माता पथुब्रमाना महो जाया विवस्वतो ननाश ॥

—मंडल १०. १७. १ ।

अर्थात्, त्वष्टा तौहार कन्याके विवाह दितेछेन, सेइ-जन्य समस्त जगतेर जीव एकत्र हइयाछेन । यमेर माता एवं महान सूर्येर पत्नी परिणयेर समय आपनाके छुकाइया फेखिलेन ।

अपरागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सबर्णामिददुर्विस्वते ।

उत्ताशिवनावभवद्यत्तदासीदजहादुद्रा मिथुना सरण्युः ॥

—मंडल १०. १७. २ ॥

देवद्वारा मर्त्यविगेर निकट हइते असुत गोपन करिया सूर्य देवके ताहार कृत्रिम प्रतिकृति दान करिलेन । आबार सरण्यु अश्विनीद्वयके गर्भे धारण करिया ताहादेर जन्मदान करिलेन, एवं आर-ओ दुइ-जनेर जन्म दिलेन ।

सूक्तेर देवता त्वष्टा, चित्रा नक्षत्रे देवता । तिनि-इ विश्वकर्मा नामे ख्यात, तिनि त्वर्गेर स्थपति,—
 तौहार काज, सकल जिनसे रूप देओआ । तिनि ना थाकिले कोनओ जिनिस जगते देखिते पाओआ जाइतो
 ना । तौहार कन्या प्रभा—अर्थात् जे प्रभा सूर्यके रूप दिया थाके, अर्थात् तौहार रश्मि । आवार प्रभार-इ
 आर एक नाम सरण्यु, अर्थात् जिन अनुसरण वा अनुगमन करेन । सूर्य जेखाने-इ जान, प्रभा वा सूर्ये
 रश्मि से-इ से-इ स्थले-इ विराजमान थाकेन बलिया, प्रभार द्वितीय नाम सरण्यु । दक्षिणायने सूर्ये तेज क्रमशः
 कमिते थाके, एवं जखन सूर्य चित्रा नक्षत्रे निकटवर्ती हन, तखन दिन अत्यन्त छोटो हइया थाके, एव रात्रि
 अन्धकार बाढ़िते थाके । एइ जिनिसटि बुझाइवार जन्य प्रभार उत्तर-क्रूरते पलायन काहिनी विवृत हइयाछे ।
 तारपर, सूर्य छाया र सहित थाकिते-थाकिते जखन मकर-राशिते अवस्थान करेन, तखन तौहार तिनटि पुन-कन्या
 छाया र गर्भ उत्पन्न ह्य । ताहादेर मध्ये शनि एक । एइ शनि सेइ-जन्य मकर-राशिर अधिपति बलिया परिचित ।
 मकर-संक्रान्ति हइते-इ उत्तरायणेर आरम्भ, अर्थात् एइ समय हइते-इ दिन धीरे धीरे बढो हइते थाके, एवं
 अन्धकार कम हइते थाके । श्रुग्देवे ज्ञानके-इ आलोक ओ अज्ञानके-इ अन्धकार बलिया मानियाछे । एतो
 दिन अन्धकार छिलो बलिया सूर्य अज्ञान छिलेन, एवं सेइ-जन्य छायाके प्रभा-रूपे ग्रहण करियाछिलेन । किन्तु
 क्रमे अन्धकार जखन काटिया गेलो, तखन छाया जे प्रभा नहे, ताहा बुझिते पारिलेन, एवं तौहार खोज लइते
 लागिलेन । देखिलेन, प्रभा उत्तर-क्रूरते अर्थात् सूर्य-देवेर उत्तरायणेर पथे घोटकीर रूप धारण करिया
 तपस्या करितेछेन, काजे-इ सूर्य-ओ घोटार रूप लइया तौहार सहित वास करिलेन । मेष-राशिते अश्विनी-नक्षत्रे
 अश्विनीकुमार-द्वयेर जन्म इइलो बलिया तौहादेर उक्त नक्षत्रे अधिपति करिया दिलेन । तार पर आवार प्रभा
 आपनार पूर्व रूप धारण करिया चलिते लागिलेन, एवं शीघ्र-इ परवर्ती नक्षत्र भरणीते आसिया उपस्थित
 हइलेन । एइ समय प्रभार गर्भे यम, यमी ओ मनु र जन्म हइलो, एव यमके उक्त भरणी नक्षत्रे अधिपति
 करिया तिनि आगाइया गेलेन । परे परे आवार सेइ-रूप त्वष्टार संज्ञा, छाया र लीला वत्सर-वत्सरे चलिते
 लागिलो । सूर्यदेव घोटार रूप लइलेन केनो, ए विषये एकटा उत्तर देओआ दरकार । सकले-इ जानेन, घोटार गर्भ
 सम्पूर्ण हइते पूरा बारो मास लागिया थाके, एवं सूर्य-ओ समस्त क्रान्ति-वृत्त एकवार घुरिते बारो मास लागे
 बलिया सूर्यके श्रुग्देवेर अनेक स्थले अश्व-रूपे कल्पना करा हइयाछे ।

शेषे विशेष वक्तव्य एइ जे, भविष्यते श्रुग्देव देवता सम्बन्धे कि मावे गवेपणा करिले सत्य निर्धारित
 हइते पारे, ताहार-इ एकटा दिक् एइ प्रबन्धे देखाइवार चेष्टा करियाछि । एइ विषय अति गहन, एवं एइ मावे
 सूक्तेर सम्यक् अर्थ ग्रहण अत्यन्त समय-सापेक्ष । तौहादेर सुविधा हइवे, तौहारा यदि एइ विषये आर-ओ
 गवेपणा करेन, ताहा हइले-इ अम सार्थक ज्ञान करिबो ।

शिशुदेव

श्री विष्णुशेखर भट्टाचार्य, विरबभारती, शान्तिनिकेतन

पृथिवी के अनेक देशों में लिङ्गोपासना प्रचलित है, हमारे भारतवर्ष में भी है। हमारे देश में कब से इस का प्रचार है, इस बात का विचार पण्डितों ने किया है। पारचात्य पण्डित-गण कहना चाहते हैं कि वेदों के समय में यह बात प्रचलित थी। इस बात के प्रमाण के लिए वे ऋग्वेद में केवल दो स्थानों^१ में आये शिशुदेव शब्द का उल्लेख करते हैं। शिशु ही अर्थात् लिङ्ग ही जिस का देव अर्थात् देवता है वह शिशुदेव हुआ। इस शब्द का अचरार्थ यही है, इस में सन्देह नहीं। किन्तु अचरार्थ ही तो एकमात्र अर्थ नहीं होता। लाक्षणिक आदि अन्य अर्थ भी होते हैं। यह देखना आवश्यक होता है कि शब्द का प्रयोग किस अर्थ में होता है। नहीं तो गलती होने की सम्भावना भी रहती है। शब्द का अर्थ निर्णय करते समय आगम, सम्प्रदाय या गुरु-शिष्य-परम्परा की एकदम अवज्ञा करने से काम नहीं चलता। आगम का अनुसरण करने पर देखा जायगा कि यास्क^२ और सायण^३ दोनों ही ने उस शब्द का अर्थ किया है, अत्र ह्यचर्य, अर्थात् 'ब्रह्मचर्यहीन', 'जिस का ब्रह्मचर्य नहीं है', अर्थात् 'कामुक' या 'कामासक्त'। ऋग्वेद के जिन दो स्थानों में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है, उन स्थानों पर यह अर्थ खूब सङ्गत है।

देव शब्द के साथ जिनका समास किया गया है ऐसे समस्त अन्यान्य शब्दों के अर्थों की आलोचना कर के देखने पर कोई इस बात में सन्देह नहीं रह जाता कि यास्क और सायण का यह अर्थ ही एकमात्र अर्थ है। तैत्तिरीय उपनिषद्^४ में है—

“मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।”

यहाँ जिस तरह की उपासना लोग शिव विष्णु प्रभृति देवताओं की करते हैं ठीक उसी तरह माता-पिता, आचार्य और अतिथि की भी उपासना हो, यह तात्पर्य नहीं है। देवता के प्रति जिस प्रकार भक्ति और आदर रखते हैं उसी प्रकार की भक्ति और आदर के साथ माता आदि की सेवा शुश्रूषा यत्न आदर सत्कारादि करना चाहिए, यहाँ देव शब्द के प्रयोग से वक्ता को यही अभिप्रेत है। इस लिए मातृ-देव वह व्यक्ति है जिस को निकट माता देव या देवता की नाई (साक्षात् देव या देवता नहीं) है। इसी तरह पितृदेव आदि शब्दों को समझना चाहिए। शंकराचार्य भी यही अर्थ करना चाहते हैं। उन्होंने ने स्पष्ट ही लिखा है देवतावत् उपास्या एत इत्यर्थः अर्थात् ये देवता की तरह उपास्य हैं।

इसी प्रकार एक शब्द और लीजिये। अनेक ब्राह्मण ग्रंथों और तैत्तिरीय संहिता^५ में श्वदादेव शब्द का उल्लेख है। जर्मन-भाषा में लिखित सुप्रसिद्ध संस्कृत कोश सैन्सक्रिफ बोर्गेर बुख (Sanskrit Wörterbuch) के प्रणेताओं ने उस का अर्थ किया है देव-विश्वासी (Gott Verbauend Gott Götterglaubend), मात्स नही,

१. ७.२१.५; १०.६६.३। २. निरुक्त ४.१६। ३. ऋक् १२.१५; १०.६६.३। ४. १.११.२।

५. ७.१८.२।

किस प्रकार इस का ऐसा अर्थ होता है। यह भी नहीं मालूम कि एंगेलिङ्ग साहब ने किस प्रकार इस का अर्थ 'देव-भीरु' किया है। हमारे देश के भाष्यकारों ने इस का अर्थ किया है 'अद्वा लु' या 'अद्वा वा न्' तैत्तिरीय संहिता^१ में सायण ने लिखा है 'अद्वा है देव जिस का वह हुआ अद्वा-देव' (अद्वा देवो अस्यासौ अद्वा-देव)। उक्त भाष्यकार विश्लेषण कर के तात्पर्यार्थ कहते हैं, 'जिस प्रकार देवता में आदर होता है उसी प्रकार जिस का अद्वा में (हो वह) यह तात्पर्य है' (यथा देवतायामादरस्तथा अद्वायामित्यर्थः)। अतः इस शब्द का अर्थ भी यही समझना चाहिए। जैसा देवता में वैसा ही शिशु में जिस का आदर हो वही हुआ शिशुदेव।

इस प्रसङ्ग में खीदेव शब्द का अर्थ विचार करने पर आलोच्य विषय और भी स्पष्ट हो जायगा। अथात्म रामायण (निर्ययसागर) के धर्म पृष्ठ पर उद्धृत ब्रह्माण्ड पुराण^२ में लिखा है—

प्राप्ते कलियुगे घोरे नरा. पुण्यनिवर्जिताः ।

दुराचाररताः सर्वे सत्यवार्तापराहमुखाः ।

परापवादनिरताः परद्रव्याभिह्लाषिणः ।

परस्त्रीसक्तमनसः परहिंसापरायणाः ॥

देहात्मदृष्टयं मूढा नास्तिकाः पशुवृद्धयः ।

मातृपितृकुलक्षेपाः खीदेवाः कामकिङ्कराः ॥

यहाँ खीदेव शब्द का अर्थ हुआ जो कामुक है, इस विषय में किसी को ज़रा भी सन्देह नहीं हो सकता। शिशुदेव शब्द का अर्थ भी यही अर्थात् कामुक है।

अभारतीय, या संस्कृत-भाषा की वाक्-पद्धति से जो अच्छी तरह परिचित नहीं हैं उन के लिए शिशुदेव शब्द का आक्षरिक और यौगिक अर्थ ले कर लिङ्ग-युक्त अर्थ करना अस्वाभाविक नहीं। किन्तु जो लोग भारतीय हैं, या संस्कृत वाग्विन्यास से परिचित हैं, वे तो इस प्रकार के प्रयोगों के भावार्थ को लौकिक संस्कृत में ही बहुत पायेंगे। संस्कृत में शिशुदेव रूप और शिशुदेव रश्मि र ये दो शब्द प्रयुक्त होते हैं। इन दो शब्दों का अर्थ है 'कामी और पेटू'। और इसी अर्थ में शिशुदेव परायण शब्द का भी प्रयोग होता है। इस में परायण शब्द का अर्थ ('परमगति', 'परम आश्रय') लक्ष्य में रखना चाहिए। इस के साथ ही नारायण परायण और कामोत्परायण की तुलना करनी चाहिए। पहले जो आलोचना की गई है उस से समझा जा सकता है कि वेद का शिशुदेव और लौकिक शिशुदेव परायण इन दोनों शब्दों में यथानुक्रम प्रयुक्त देव और परायण शब्दों का अर्थ एक ही है। और दोनों स्थलों पर उस का भावार्थ या तात्पर्यार्थ है 'आसक्त'। अतएव शिशुदेव शब्द से 'शिशु में आसक्त' और शिशुदेव परायण शब्द से 'शिशु और उदर में आसक्त' यह अर्थ समझा जायगा।

१ शतपथ ब्राह्मण (अंगरेज़ी अनुवाद) ११.१५। २ ७१८२। ३ उदरखण्ड १६११।

ऋग्वेद की दानस्तुतियों में ऐतिहासिक उपादान

प्रो० डॉ० मणिबाल पटेल, पीएच० डी० (मारबुग), विश्वभारती, शान्तिनिकेतन

ऋग्वेद के ऐतिहासिक उपादानों का, जान पड़ता है, अभी तक इस प्रकार का अध्ययन नहीं हुआ कि उस के प्रत्येक पहलू को ध्यान में रखा गया हो। छुद्विगं के ग्रन्थ को^१, जिस में ऋग्वेद के इस अंश पर विचार किया गया था, प्रकाशित हुए लगभग ५० वर्ष से अधिक हुए। आज उस पुस्तक के वक्तव्यों को आधुनिक खोजों के प्रकाश में दुहराने और शोधने का समय आ गया है। इस विषय में हम ऋग्वेद के उन सूक्तों या मन्त्रों से, जिन्हें दानस्तुति कहा जाता है, बहुत कुछ सहायता पा सकते हैं। वितरन्तिस् कहते हैं—“ये दानस्तुतियाँ सर्वदा धार्मिक दाताओं के पूर्ण नाम देती हैं और निस्संदिग्ध भाव से ऐतिहासिक तथ्यों की या वास्तविक घटनाओं की सूचना देती हैं। इस लिए वे महत्वपूर्ण हैं।”^२

दानस्तुति के इन्हीं ऐतिहासिक उपादानों का इस लेख में, जिसे मैं इतिहास के प्रगाढ़ विद्वान् रायबहादुर गौरीशङ्कर हीराचन्द जी ओझा की ७० वीं वर्षगांठ के उपलक्ष्य में अपने विनम्र अर्घ्य के रूप में समर्पित कर रहा हूँ, विचार करूँगा।

इस स्थान पर मैं सर्वप्रथम उन दानस्तुतियों की सूची देना आवश्यक समझता हूँ जिन के आधार पर यह लेख लिखा जा रहा है। यह सूची मैंने अपने दि दानस्तुतिस् देस ऋग्वेद नामक जर्मन ग्रन्थ से ली है^३। उसी के द्वितीय अध्याय में ऋग्वेद की दानस्तुतियों को निश्चित करने के पुरातन वा अर्वाचीन प्रयत्नों का सविस्तर बर्णन किया गया है। वे प्रयत्न बृहद्देवता और अनुक्रमशिका के प्रणेतृ, मेक्समूलर, आवफरेख्ट, छुद्विगं, ओल्डनबर्ग, गेल्डनर् आदि के द्वारा किये गये थे। स्थानाभाव के कारण हम यहाँ नीचे उस सूची को ही देते हैं जिस में मेरी राय में ऋग्वेद की उन सभी ऋचाओं का समावेश है जो दानस्तुति-परक हैं।

मण्डल १. १००. १६—१७, १२२. ७—१४; १२५—२६।

” ४. १५. ७—१०; ३२. १८—२४।

” ५. १८. ५; २७; ३०. १२—१५; ३३. ७—१०; ३४. ८; ३६. ६, ५२. १७; ६१. ५—१०।

” ६. २७. ८; ४५. ३१—३३; ४७. २२—२५; ६३. ८—१०।

” ७. १८. २२—२५।

१. छुद्विगं—दि नखरिक्ते देस ऋग्वेद उब्थ अथर्ववेद उँवर जोओआफो गोशिशत, फेरफासुग देस आलतन इंडियन, प्राग १८०५।

२. हिन्दुरानिस्—गोशिशत देर इंदिशेन सितरातुर (अंगरेजी शजुबाद—हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर (१). कलकत्ता १९२७). (१). लाइपज़िग १९०७. पृ० ११।

३. हासोविस् द्वारा प्रका० (लाइपज़िग), १९२६।

मण्डल ८. १. ३०—३३; २. ४१—४२, ३. २१—२४, ४. १६—२१; ५. ३७—३८; ६. ४६—४८; १६. ३६—३७, २१. १७—१८; २५. २२—२४, ३४. १६—१८; ४६. २१—३३; ५५—५६, ६५ १०—१२; ६८. १४—१६, ७०. १३—१५।

” १०. ६२. ८—११, ६३. १४—१५।

इस के बाद उन राजाओं के नाम तथा उन के बारे में उपर्युक्त दानस्तुतियों में जो कुछ आया है उस का विवरण दिया जाता है।

ऋ० १ १२२ ८. १०. ११ में पञ्च ऋषियों का राजा नहुष कहा गया है। नहुष नामक एक प्राचीन आर्यजाति के प्रधान पुरुष का नाम भी नहुष था^१। वह प्रधान पुरुष निश्चय से यही नहुष होगा। इसी

नहुष या नहुष जाति के एक व्यक्ति ने ५ बार्पगिरों (बृषागिरि के पुत्रों) को पुरस्कृत किया था नहुष।

(ऋ० १. १००. १६)। छुड्विग का कहना है^२ कि राजा मशशरि और आयवस जिन की चर्चा ऋग्वेद (१. १२२ १५) में हुई है, नहुष जाति के ही थे। ऐसा मालूम होता है कि ये दोनों राजा जिन्होंने नहुष के साथ महायज्ञ किया था, या तो उस के सम्बन्धी थे या उस के साथ मित्रता के बन्धन में आवद्ध थे। ऋग्वेद के समय यह एक साधारण नियम था कि किसी महायज्ञ का अनुष्ठान कई राजा मिल कर किया करते थे, और उन में से हर एक गायक कवियों को उपहार दिया करता था। इसी लिए दानस्तुति में हम अनेक आश्रयदाताओं का उल्लेख एक साथ पाते हैं। नहुष जाति ने सिन्धुनद^३ या सरस्वती^४ के किनारे पर बास किया था। ऋ० ८. ४६. २७ स्पष्ट ही कहता है कि अहं अ च एक नहुष था और उस ने अनेक उत्तम कार्य (सुकृत) किये थे। नहुष सदा एक विशेष राजा या जाति के बाचक शब्द के रूप में पाया जाता है। न वो संस्कृत वोटेरुवू^५ जो इस शब्द का अर्थ “पड़ोसी, प्रतिवेशित्व, एक पड़ोसी जाति” करता है इस का ठीक अर्थ बताता है, और न नैषण्डु (२. २) ही जिस में इस का अर्थ सिर्फ ‘आदमी’ किया गया है।

यह सहदेव का पुत्र^६ और सृञ्जयो का ‘कुमार’ था। ऋ० (४. १५. ४) में एक सृञ्जय देववात की चर्चा सोमक साह- आई है। ऐतरेय ब्राह्मण (७. ३४) में अन्य राजकुमारों के साथ सहदेव सार्ज्य का उल्लेख है। देव्य। देववात को, जिसे हम सृञ्जय का पिता समझ सकते हैं आ र त बताया गया है^७। अगर अरत

१ आयु भी इसी तरह एक जाति और उस का प्रधान पुरुष था, दे०—ऋ० १. ३१ ११ इत्यादि।

२. दे० ऋग्वेद (१), प्राग १८७६-८८, पृ० २०१।

३. ऋ० १. ३१ ११, ६ २२. १०, ४६. ७, १०. ८० ६।

४ ऋ० ७ ६५ २, ६ ८८ २, ६१ २। दुर्गायवरा, वैदिक युग में सरस्वती नदी की मौनोलिक परिस्थितियों को निश्चित करने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। यह विवक्षित असम्भव है, कि सरस्वती और सिन्धु एक ही नदी का नाम हो। जैसा कि छुड्विग ने कहा है, (दी मस्त्रिस्तेन० पृ० १२-१३) यह कहना अधिक युक्तिसङ्गत है कि सरस्वती सिन्धु की एक छोटी-सी सहायक नदी थी।

५ रडोल्फ रॉथ और बोमलिंज—संस्कृत वोटेरुवू, सेंट पीटर्सबुर्ग, तथास्थान।

६ ऋ० ४. १५. ७—१०।

७. ऋ० ३ २३ २।

देववात का पिता हो तो हमें ५ पीढ़ियों का पता चलता है—भरत, देववात, सृञ्जय, सहदेव और सोमक। शत० ब्रा० (२.४.४.४) में सुप्तन् सहदेव का नाम दिया गया है। यह सोमक सहदेव ही था या उस से सम्बद्ध कोई अन्य, यह बात अभी स्पष्ट नहीं है। सुप्तन् नाम बाहर से आया हुआ जान पड़ता है^१।

यह त्रिवृषन् का पुत्र था। ऋ० (५.२७) में इस का उल्लेख त्रसदस्यु और अश्वमेध के साथ है। बृ० दे० (५.३१) और अनुक्रमिका में त्रसदस्यु और अश्वमेध को इस सूक्त में भिन्न भिन्न व्यक्ति बताया गया है। जो हो, यह बात ज़्यादा सम्भव जान पड़ती है, जैसा कि पौराणिक वंशावली त्र्यरूष। में दिखाया गया है,^२ कि त्र्यरूष त्रसदस्यु की संतान है। इसी लिए कवि ने (ऋ० ५.२७ में) त्रसदस्यु शब्द को त्र्यरूष के कुल-नाम के रूप में प्रयोग किया है। अश्वमेध और त्रसदस्यु मित्र राजा जान पड़ते हैं।

यह (ऋ० ५.३३) पुरुकुत्स^३ और पुरुकुत्सानी का पुत्र था। यह ऋग्वेद के महत्त्वपूर्ण राजाओं में से एक है। सायण^४ के अनुसार वह गिरिचित् का वंशज है या नहीं—यह प्रश्न किया जा सकता है। क्योंकि

यह बात केवल इसी सीधे-से आधार पर मान ली गई है कि गैरिचित् का उल्लेख ऋ० (५.३३.८) त्रसदस्यु। में आया है। पुराणों की वंशावली में हमें ऐसा कोई स्थान ज्ञात नहीं जहाँ गिरिचित्

त्रसदस्यु के पूर्व पुरुष के रूप में कहा गया हो^५। संभवतः त्रसदस्यु, विदथ, मारुताथ, च्यवतान, ध्वन्य लक्ष्मण्य (ऋ० ५.३३.८) आदि की तरह गैरिचित् भी एक दूसरे आश्रयदाता थे।

ये दोनों, जो सुवास्तु के किनारे रहते थे, उसी दानस्तुति (ऋ० ८. १८. ३६-३७) में उल्लिखित हैं। प्रथियु और इन की चर्चा त्रसदस्यु के साथ ही हुई है। हम उन के बारे में इस सं अधिक नहीं जानते। प्रथियु। ये नाम अनार्य से जान पड़ते हैं।

हमनं ऊपर कहा है कि त्र्यरूष त्रैवृष्ण, त्रसदस्यु का^६ वंशज था। उस की दूसरी संतान थी कुरुश्रवण (ऋ० १०.३३.४)। उसी सूक्त से हम जान सकते हैं कि उपमश्रवस् कुरुश्रवण का पुत्र और मित्रातिथि का पौत्र था।

बृ० दे० (५.६१ प्र) और षड्गुरुशिष्य तथा सायण के भाष्यों में ऋ० ५.६१.८-१० पर भाष्य करते समय यह इतिहास दिया गया है—श्यावाश्व अर्चनानस् का पुत्र था। उस ने राजा रथवीति दाल्भ्य के लिए

यज्ञ किया था। पिता ने पुत्र श्यावाश्व की शादी राजा की पुत्री से करनी चाही। किन्तु राजा पुरुमीळ्ह।

ने स्वीकार नहीं किया पर उस की रानी की बड़ी इच्छा थी कि उन का जामाता एक ऋषि हो। पिता और पुत्र, जो इस प्रकार निराश हुए थे, घर लौटते समय तरन्त और पुरुमीळ्ह से मिले। इन दोनों

१. हिबेगान्त—वेदिक मिर्यालागी (१), प्लेता १८३-४२, पृ० १०२।

२. दे० पुञ्जिल सींग—सामोर्ताफ़ देस ऋग्वेद तन्द् दी इंदिय इतिहास ट्रेडीशन् (१), स्तुतगर्त १२०२, पृ० ७२।

३. ऋ० ८. १९. ३६।

४. इस सम्बन्ध में कीथ और मैकडोलन सायण का ही अनुसरण करते हैं। देखिए—वैदिक इण्डक्स, यथास्थान।

५. दे०—ज० रा० ए० सो०, जि० १७, पृ० २७, सोलर लाइन।

६. इस के बाद उसके पुत्र तृषि ने शासक किया था—दे०—ऋ० ८. २२. ७। इस लिए इस का वंशक्रम यों होगा :—पुरुकुत्स, त्रसदस्यु, तृषि।

ने पिता-पुत्र के लिए बड़ा सम्मान दिखाया। वरन्त की स्त्री शशीयसी ने श्यावाश्व को बहुविध धन दिया। उस ने मरुतो का चिंतन किया जिस से वे प्रत्यक्ष हुए। इसी लिए वह ऋषि हो गया। अंत में स्वयं राजा रथवीति ने श्यावाश्व को अपनी कन्या दी।—यह उल्लेख योग्य है कि यह इतिहास पीछे से अनेक संस्करणों को पार करता हुआ इस रूप में आया है। पुरुमीळ्ह को ऋ० १.१५१. २; १८३. ५ में ऋषि कहा गया है^१। किन्तु यहाँ वह एक उदार राजा के रूप में देखा जाता है। इस लिए वह एक राजर्षि था। ऋ० ५.६१.१० में एक शब्द 'वैददश्व' आता है। सायण ने इस का अर्थ पुरुमीळ्ह किया है जो ठीक नहीं जान पड़ता। यह शब्द क्या वरन्त के साथ सम्बद्ध नहीं किया जा सकता जो इसी मन्त्र में आता है? तरन्त और पुरुमीळ्ह (वाण्ड्य ब्रा० १३.७.१२ और जैमि० ब्रा० १.१५१ के अनुसार) भाई थे। ये वितदश्व और अर्चनानसू की पुत्री मही के पुत्र थे।

यह चयमान का पुत्र था (ऋ० ६.२७.४-८), और इस ने इचीवतों को, जिन का राजा वरशिक्ष था, जीता था। सूख्य ने उस की सहायता की थी। तुर्वश आदि ने वरगिक्ष का पक्ष लिया। हरियूपीया और यव्यावती नदियों के किनारे यह युद्ध हुआ। हिलेन्नाण्ड्ट^२ कहते हैं कि "हरियूपीया अम्ब्यावर्तिन्।

नदी आधुनिक अरिओव या हलिआव नदी है जो कुरुम प्रान्त की नदियों में से एक है (यह स्थान पार्थव प्रदेश में नहीं है जैसा कि ब्रूनहाफर कहते हैं। यह ठीक है कि ब्रूनहाफर ने ही हरियूपीया को अरिओव पहले पहल बताया था, मगर उन का बताया स्थान ठीक नहीं था)। यव्यावती भी उस से बहुत दूर नहीं होगी।" इस बात से हमें पता चलता है कि अम्ब्यावर्तिन् सिन्धु नदी के पश्चिमी प्रदेशों पर राज्य करता था। इस के अतिरिक्त अम्ब्यावर्तिन् को पार्थव कहा गया है (ऋ० ६. २७.८)। तिसर का^३ विश्वास है कि पार्थव पृथु के अपत्यों को ही कहते हैं किन्तु हिलेन्नाण्ड्ट ने^४ बताया है कि अम्ब्यावर्तिन् एक पार्थव था। लुड्विग भी यही कहते हैं।^५ इस लेखक के अनुसार पृथु और पृथु^६ केवल पार्थव हो सकते हैं (फारस के शिलालेखों में, जो पहाड़ों पर खुदे हैं, पार्थवस् शब्द पाया गया है और ग्रीक ग्रन्थकारों ने पर्थी या पर्थ्ये लिखा है) और पर्थव पर्सियन हो सकते हैं।^७ इस अनुमान में वे ठीक समझे जा सकते हैं क्योंकि हमें आगे के उल्लेख से पता चलता है कि ऋग्वेद के युग में भारत का अपने पश्चिमी और उत्तरपश्चिमी पड़ोसियों से निकट का सम्बन्ध था।

१ विशेषतः वे०—अथ० ४.२६४, १८३ १२।

२ जैमि० ब्रा० १.१५१ के अनुसार ये दोनों 'देवर्षि' और 'मन्त्रकृत्' थे। किन्तु टाएल्य ब्रा० १३.७.१२ और जैमि० ब्रा०

३ १३६ के अनुसार इन दोनों ने गुरस्कारों का स्वीकार किया था। (विशेष वे०—ऋ० ६.२८३ पर सायण भाष्य।)

४ लौदेर देस् ऋग्वेद, गोटिगेव १६१, पृ० ४६।

५ अस्तिनर्दिशेल् ल्यन, बर्लिन १८७६, पृ० १३३-३४।

६ लौदेर देस् ऋग्वेद पृ० ४९।

७ देर ऋग्वेद (३), पृ० १६८-६९।

८ डी नलरिपलेन०, पृ० ६६।

यह इन्द्र द्वारा पालित और यदु का समसामयिक था ।^१ इस ने वृचीवती को पुरस्कृत किया था । यह नाम तुर्वश जाति का सूचक है ।^२ इस जाति के मूलनिवासस्थानों के बारे में बहुत मतभेद है । तो भी ८म

मण्डल से यह स्पष्ट है कि वे कण्वों से सम्बद्ध थे । हॉपकिन्स ने एक अत्यन्त

तुर्वश । विद्वत्तापूर्ण लेख में कहा है कि कण्व लोगों का पश्चिमी देशों से बहुत दिनों का नाता-रिश्ता था^३ और हिलेब्राण्ड ने तुर्वश तथा उन के पड़ोसी यदुओं का—कम-से-कम उन की एक शाखा का—

उत्तर-पश्चिमी पार्वत्य प्रदेशों से बताया है ।^४

यह अनुक्रम० और शाङ्खायन श्रौतसूत्र १६.११.११ के अनुसार बढ़ई ('तत्तन्') था । अनुस्यूति १०.१०७

मे कहा गया है कि इस ने भरद्वाज को, जो निर्जन वन में लुधापीडित था, अनेक गायें दी थीं ।

वृद्ध । षड्गुरुशिष्य ने अनुक्रम० के भाष्य में कहा है कि वृद्ध तत्तन्, परम्परा के अनुसार, इन्द्र का भक्त

८. और शन्य का बन्धु था ।

इस ने वर्चिन और शंवर को हराया था (ऋ० ७.४७) । प्रस्तोक ने इस की सहायता की थी । इन दोनों

संयुक्त राजाओं ने विजित सम्पत्ति ऋषियों को दान कर दी थी । दिवोदास वज्रश्व का पुत्र (ऋ०

६.६१.१) और सुदास् का पिता (ऋ० ७.१८.२५) था । इस का कुल-नाम आतिथिग्न था (ऋ०

६.४७.२२) । अथर्व^५ भी इस का सहायक रहा होगा जिस ने अथर्ववेदों और पायु को दान दिया था ।

यह एक प्रसिद्ध राजा था (ऋ० ७.१८), जिस ने दश राज-युद्ध जीता था । यह लड़ाई सुदास् और उस के

दस शत्रु राजों में हुई थी । सुदास् और उस की सेना को उस के शत्रुओं ने चारों ओर से घेर लिया था^६ । केवल

एक ही रास्ता था जिस से पीछे हटा जा सकता था । वह रास्ता परुष्णी नदी थी । ऋ० (७.३३.३)

सुदास् ।

मे कहा गया है कि इन्द्र सुदास् की सहायता के लिए आया । ऋ० ७.१८.५—२० में युद्ध का मनोरञ्जक

वर्णन है । लड़ाई छिड़ गई । राजा सुदास् परुष्णी के रास्ते से पीछे हट रहा था । इधर शत्रु राजाओं ने

परुष्णी के किनारे पर भागते हुए सुदास् के ऊपर हमला कर दिया । इसी समय नदी में नीरों की बाढ़ आई

और शत्रुसेना में से अधिकांश जलमग्न हो गई । जो बच रहे उन्हें सुदास् और इन्द्र ने साफ कर दिया । इस

प्रकार सुदास् की विजय हुई ।^७ सुदास् देववत् का पौत्र कहा जाता है (ऋ० ७.१८.२२) । इसे पैतृ वन भी

१. तुर्वश और यदु समसामयिक थे—ऋ० १.३६.१८; ६.४२.१ । इन के विषय में वह प्रसिद्ध कहानी प्रायः उक्तलेख की जाती है, दे०—ऋ० १.३७.१७ । "तुर्वश और यदु तैरना नहीं जानते थे पर शक्तिशाली इन्द्र ने उन्हें अपनी शक्ति से नदी पार कराया ।" विशेषतः दे०—१.७४.९; २.१२.२, २.३१.८ । इसी तरह की कहानियाँ तुर्वीति और वय्य के बारे में भी कही जाती हैं । दे०—१.२४.६; ६.१.११; २.१३.१२; १.२५.५; ४.१९.६ ।

२. ऋ० १.१०.८.८, ८.४.१६ ।

३. ज० आ० ओ० सो० १७ पृ०, २३ प्र ।

४. सीदर देस् ऋग्वेद, पृ० ४६ ।

५. ऋ० ६.४७.२२ पर सायणभाष्य और शाङ्खायन श्रौतसूत्र १६.११.११, के अनुसार भरव्य सञ्जय का पुत्र था ।

६. ऋ० ७.८.३.८ ।

७. इस युद्ध की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सूचना ऋग्वेद में प्रायः पाई जाती है । उदाहरणार्थ दे०—१.२३.६; ७.६०.६; ७.१६.७४ । इस युद्ध से अवसिभिन्न वर्षानों के लिए दे०—ताण्ड्य ब्रा० १२.३.७; मैत्रा० सं० ३.४०.६; जैमि० ब्रा० ३.२४४ । इन स्थानों में वन राजाओं के नाम ऋग्वेद जैसे नहीं हैं । वहाँ बुरोहित भरद्वाज है और विरा हुआ राजा दिवोदास (ताण्ड्य०) या प्रतद्वन (मैत्रा० सं०) या उस का पुत्र (जैमि० ब्रा०) है ।

कहा जाता है (ऋचा २३), जो उस का कुल-नाम हो सकता है। यास्क ने (२.२४) पौजवन की व्याख्या पिजवनस्य पुत्रः की है। ऋ० ७.१८.२५ के अनुसार सुदास का पिता दिवोदास था। इस लिए सम्भवतः पिजवन और दिवोदास एक ही व्यक्ति थे। एक वसिष्ठ गोत्र के ऋषि ने उस की स्तुति ऋ० ७.१८.२४ में की है :—“जिस की कीर्ति दोनों लोकों में ज्ञात है उस दानी ने (विजित सपत्ति का दान) प्रत्येक ऋषि को किया है। वे ऋषि उस की इस प्रकार स्तुति करते हैं जैसे सात (नदियों ने) इन्द्र की। उस ने युष्मासि को युद्ध में मारा था।”^१

मैं इसे (ऋ० ८.१) आसङ्ग का पुत्र समझता हूँ जिस का पिता प्लवोग। भारतीय परम्परा में आसङ्ग के बारे में एक कहानी है कि उस ने अपना पुरुषत्व खो दिया था और खौब हो गया। किन्तु मेधातिथि के बीच में पढ़ने

से उस ने पुरुषत्व पुनः प्राप्त किया जिस से उस की पत्नी अति प्रसन्न हुई। इस कहानी की सूचना स्वचद्रथ।

ऋ० (८.१.३४) में पाई जाती है। ऋ० (८.१.३२) में त्वनद्रथ आसङ्ग का बर्णन है। ३३वीं ऋचा में उस के पिता आसङ्ग प्लायोगि का और ३४वीं ऋचा में उस की पत्नी शम्भवी का नाम है। शायद त्वनद्रथ ने एक महायाग किया था जिस में अन्यान्य बड़े राजा जैसे निन्दिताश्व, प्रपथिन् और परमन्या (ऋचा ३०) भी सम्मिलित थे। उस समय सम्भवतः उन के मा वाप उपस्थित थे।

ये दोनों ऋ० ८.६ के कवि के आश्रय-दाता थे। शाङ्खायन श्रौतसूत्र (१६.११.२०) में कहा है कि काण्व वत्स ने तिरिन्द्रि पार्श्व्य से आश्रय पाया था। इस का यह अर्थ हुआ कि शाङ्खायन श्रौतसूत्र के अनुसार तिरिन्द्रि तिरिन्द्रि- और पशु^२ एक ही बादमी थे। यही बात अनुक्रमणिका से जानी जाती है। ऋग्वेद (८.६. और पशु^३। ४६, ४८) में इन राजाओं का यदुओं के सम्बन्ध में बर्णन पाया गया है। इस सम्बन्ध के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। लुड्विग का विश्वास है कि ऋ० ८.६.४६ में^४ तिरिन्द्रि को पशु^५ओं का राजा कहा गया है जिस से यदुओं ने बहुत सा धन ले कर ऋषियों को दान किया था^६। तिसर इस बात को नहीं मानते^७। बहुत सम्भव है कि तिरिन्द्रि और पशु^८ यदुवंशी राजा थे, यद्यपि वेबर यदुओं को राजा नहीं किन्तु याजक कहते हैं^९। ये नाम भारतीय नहीं जान पड़ते। वेबर कहते हैं कि वे ईरानी नाम हैं और इस से अनुमान करते हैं कि कभी ईरान और भारत में नियमित सम्बन्ध था। हिल्लेब्राण्ड्ट ने भी भारतीयों और ईरानियों के सम्बन्ध को माना है जो आरकोशिया में था^{१०}। होपकिन्स ने उपरिलिखित प्रबन्ध (ज. अ. ओ. सो १७, पृ० २३ प्र०) में इस सम्बन्ध के पक्ष में अनेक उदाहरण दिये हैं।

१ यत्पञ्चो रोहंती अन्तरुर्वी शीर्णं शीर्णं विवमाजा विसृका।

स्तुतेदिन्द्रं न स्वतो गृणन्ति नि शुभाम्भिर्मिश्रयादृमीके॥

२ शतम्ह तिरिन्द्रिरे सहस्रं पशुवा वंदे।

राधासि याद्वानाम्॥

‘मैंने तिरिन्द्रि से सौ पशु^२ से सहस्र जो यादवों के उपहार के रूप में था, पाया।’ दा घातु आ उपसर्ग के साथ जब सप्तमी में प्रयुक्त होता है तो ऋग्वेद में ‘किसी से किसी का कुछ पाना’ भयं होता है।

३ दी नङ्गरिश्तेन, पृ० १७।

४ अस्तित्नादिशेस् लेखत पृ० १३१-१३७।

५ पशिशेस् इम वेदीशन रिट्रुअल (वेबर द्वारा सभ्या० इंदिश ए स्टडियुन में प्रका०), बर्लिन, पृ० ३७-३८।

६ वेद० मिथ० (१), पृ० १९ प्र।

यह कनीत का पुत्र था (ऋ० ८.४६.२१, २४), जो दास बल्बूथ तरुच (ऋ० ८.४६.३२) के समान^१ एक अमरातीय जाति का है। जुस्ती ने अपने नामेन्युस् (पृ० १५५) में एक सीथियन राजा कनीथ का नाम दिया है जो दूसरी सदी ई० पू० में हुआ था। यह नाम यद्यपि कनीत से मिलता-जुलता है तथापि पृथक्त्व है।

इस से यह नहीं समझा जा सकता कि ये एक हैं और ऋग्वेद के काल के सम्बन्ध में इस एकत्वाभास के ऊपर समारोपित सारे सिद्धान्त अविश्वसनीय हैं। यह केवल इतना भर सिद्ध करता है कि कनीत अमरातीय था। बल्बूथ को जो ऋग्वेद में 'दास' कहा गया है इस से यह सूचना मिलती है कि या तो उस की माता अनार्य थी या वह यहाँ के आदिम निवासियों में से था^२। जो हो, वह बायु का—जो आर्य-देवता है—पूजक था^३। क्या इस से यह सूचना मिलती है कि आर्यों और दासों में एक मित्रता का सम्बन्ध था^४ ?

ऋ० (१०.६२.८-११) में इस की 'सहस्रदा' की स्तुति की गई है। इस दानस्तुति से यह स्पष्ट है कि वह यदु और तुर्वश का समसामयिक था (ऋचा १०)। ऋ० (८.५१.१) में एक मनु सांबरख नामक आदमी मनु सावर्णि का नाम है जो मेघ्यातिथि जैसे ऐतिहासिक कवि के साथ वर्णित है। यह नाम मनु (या सावर्ण्य)। सावर्णि की याद दिलाता है। दूसरी ओर, ऋ० (८.५२.१) में मनु विवस्वत् जैसे काल्पनिक व्यक्ति का वर्णन है। ब्रूमफील्ड ऋ० (१०.६२.८-११) के सम्बन्ध में कहते हैं कि "सवर्णा की मन्वान मनु की प्राचीनता सिद्ध करने में यह दानस्तुति (ऋ० १०.६२.८-११) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।"^५ और इस पर से वह निश्चय करते हैं कि वैवस्वत शब्द पितृ-वंश-सूचक है और सावर्णि मातृवंश-सूचक। मनु सावर्णि को ११ वीं ऋचा में 'आमर्षी' कहा गया है। मैं इसे ऐतिहासिक व्यक्ति मानता हूँ। इस का सीधा-सा कारण यह है कि इसे दानस्तुति में वर्णित पाया गया है।

निम्नलिखित राजाओं के बारे में उन के नाम के अतिरिक्त हम कुछ नहीं जानते।

स्वनय भाव्य। यह सिंधु के समीपवर्ती स्थानों में रहता था। यह ऋषि कचीवत् का आश्रयदाता था। शाङ्खायन श्रौतसूत्र १६.११.५ में इस का नाम 'स्वनय भावयव्य' दिया है।

ऋण्यव्य। यह रुशम जाति या जनसमूह का राजा था। रुशम जाति का वर्णन वेद में तीन बार आया है—ऋ० ८.३.१२; ४.२; अथर्ववेद २०.१२७.१।

शत्रि। यह अग्निवेश का पुत्र था। इस का वर्णन केवल एक बार—ऋ० ५.३४.८ में—आया है।

श्रुतरथ। यह एक युवा राजा (ऋ० ५.३६.६) था। यह पञ्चवंश का आश्रयदाता था (ऋ० १.१२२.७) ऋषि कचीवत् इसी वंश का था।

रथवीति दाम्यं। गोमती के किनारे पार्वत्य प्रदेशों में रहता था (ऋ० ५.६१.१७-१८)।

१. होपकिंस—ज० अ० ओ० सो० (१०), पृ० ४०।

२. तिमर—आस्तिनदिशेष लीबन पृ० ११०।

३. ऋ० ८. ४६. ३२।

४. दे०—वेदेक ईडेक्स २. ६४।

५. ज० अ० ओ० सो० (१४), पृ० १७४।

पुरय, सुमीकृह, पेरुक, शाण्ड (ऋ० ६.६३.८) और पुरुपन्थान् (ऋचा १०) भरद्वाज ऋषि के आश्रयदाता थे ।

निन्दितारव, प्रयथिन और परमन्या मेघ्यातिथि के आश्रयदाता थे, जिस ने उन की स्तुति (ऋ० ८ १.३० मे) की थी । विमिन्द ने भी मेघ्यातिथि को दान दिया था (ऋ० ८ २ ४१) ।

पाकस्थामन् । यह कुरयाण का पुत्र था । (ऋ० ८ ३. २१) लुङ्गविग ने^१ इसे अनु जाति का राजा माना है ।

कुरुङ्ग । यह ऋ० ८ ४ के ऋषि का आश्रयदाता था । लुङ्गविग ने उक्त ग्रन्थस्थान में इसे भी अनु जाति का राजा माना है । पर यह बात ठीक नहीं जान पड़ती । कुरुङ्ग तुर्वश कुल का था क्योंकि उसी ऋचा (ऋ० ८ ४ १८) में अन्य तुर्वशों का स्पष्ट वर्णन है ।

कष्ट । यह चेदि का पुत्र था । चेदि की उदारता सुप्रसिद्ध थी । ऋ० ८.५ ३८ में कहा है कि “कोई भी उस मार्ग से नहीं चल सकता जिस पर चेदि चलते हैं । इस लिए चेदियों से अधिक उदार राजा होने का दावा कोई आश्रयदाता नहीं कर सकता ।”

चित्र । यह राजा सरस्वती के किनारे रहता था (ऋ० ८ २१ १७-१८) । वृ० दे० ६ ५८ प्र ने इस का नाम “आखुराज” दिया है जिस का कुछ कारण नहीं जान पड़ता । यह सोमरि का आश्रयदाता था ।

वरो सुषामन् । यह विश्वमनस् ऋषि का आश्रयदाता था (ऋ० ८.२४.२८) । रॉथ संस्कृत वोटार्डुल्ड से कहते हैं कि ‘वरो’ यह संवाचनरूप यहाँ ठीक नहीं है इस लिए सब से अच्छी व्याख्या इस की यह हो सकती है कि वरोसुषामन् एक ही शब्द और व्यक्तिवाचक संज्ञा है । यद्यपि इस का रूप अस्पष्ट है ।” सम्भवतः सुषामन् व्यक्तिवाचक संज्ञा है और वरो उस के पुकार का नाम है । यह निश्चित नहीं है कि नार्च (ऋ० ८ २४ २८) और सुषामन् एक ही व्यक्ति हैं या नहीं ।

उत्तण्यायन और हरयाण जो सुषामन् के साथ आश्रयदाता के रूप में वर्णित पाये जाते हैं (ऋ० ८.२५. १२) स्पष्ट ही विभिन्न व्यक्ति हैं । जो हो, सायण का कहना है कि वरु का एक पूर्वज उत्तन् कहा जाता था जिस की सन्तान उत्तण्यायन था । सायण हरयाण को भी सुषामन् का विशेषण समझते हैं ।

वसुरोचिष् । इस ने ऋषि निपातिथि को दान दिया था । (ऋ० ३४.१६) । किन्तु अनुक्रमणी ने उसे ऋ० ८ ३४.१६-१८ का ऋषि माना है, और सायण ने उस का अनुसरण किया है । पर यह स्पष्टतः ही गलत है । १८ वीं ऋचा में क्यों इसे ‘पारावत राजा’ कहा है, यह बात हमें नहीं मालूम ।

दस्यवेष्टुक (ऋ० ८ ५५ ५६) पूतकतु का पुत्र था । इस के विचित्र नाम से जान पड़ता है कि यह निश्चय ही दस्युओं का घोर शत्रु रहा होगा ।

इन्द्रोत । यह अतिथिग्व का पुत्र था (ऋ० ८ ६८ १५, १६) । रॉथ (संस्कृत वोटार्डुल्ड) इसे ऋच का पुत्र समझ कर गलती करते हैं । इन्द्रोत कसिवा भार्च (ऋच का पुत्र)—जो वास्तव में श्रुतर्वन् (ऋ० ८ ७४ १३) था—और आश्वमेघ (अश्वमेघ का पुत्र अर्थात् पूतकतु—ऋ० ८ ६८ १७) का वर्णन पाया जाता है ।

^१ वेर ऋग्वेद (३), पृ० १६० ।

शर। यह शूरदेव का पुत्र था (ऋ० ८.७०.१५)। इस ने एक ही गाय तीन ऋषियों को दी थी इस लिए उन्होंने ने दानस्तुति मे व्यङ्ग रूप से इस की स्तुति की है।

श्रुतवर्न। जैसा कि पहले ही कहा गया है, यह ऋच का पुत्र था (ऋ० ८.७४.१३)। मृगय को इस का जीतना (ऋ० १०.४६.४ मे) कहा गया है। इस का निवास परुष्णी नदी पर था (ऋ० ८.७४.१५)।

दुःशीम प्रथवान, वेन, राम (ऋ० १०.६३.१४) और तान्व तथा मायव (ऋचा १५) केवल उस ऋषि के आश्रयदाता के रूप मे कहे गये हैं जिस ने ऋ० १०.६३ बनाया था।

X

X

X

इस प्रकार हम देखते हैं कि दानस्तुतियों ऋग्वेदीय युग के ऐतिहासिक पुरुषों पर कुछ प्रकाश डालती हैं। जो हो यह दुर्भाग्य का विषय है कि ऋग्वेद मे महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं का पर्याप्त विवरण नहीं मिलता। केवल कही कहीं कुछ उल्लेख ऐसे मिल जाते हैं जो आगन्तुक आर्थों के परिभ्रमण^१ और पञ्जाव (पञ्चनदप्रदेश) मे उन के आगे बढ़ने की सूचना देते हैं^२।

भौगोलिक समस्याएँ अपेक्षाकृत स्पष्टतर हैं। इस का कारण यह है कि नदियों के नाम दिये गये हैं जो भौगोलिक परिस्थितियों को करीब करीब निःसंदिग्ध रूप से निश्चित करने मे सहायक होते हैं। दानस्तुतियों मे जिन नदियों के नाम पाये जाते हैं वे ये हैं—सरस्वती (ऋ० ८.२१.१७-१८), परुष्णी (८.७४.१५), गोमती (८.२४.३०), सुवास्तु (८.१६.३७), यमुना (५.५२.१७), गङ्गा (६.४५.३१) और सिन्धु (१०.६२.६)। इस प्रकार के हवाले पाये जाते हैं जिस मे ऋषियों ने स्थानीय नदी के साथ दान का सम्बन्ध बताया है^३। ऋग्वेद ५.३४.६ मे जल का भी सामान्य रूप से वर्णन है—“उस के लिए जल अबाधित हो कर वृद्धि प्राप्त करे” नदियाँ ही ऋग्वेद मे भौगोलिक परिस्थितियों को ठीक करने के लिए एकमात्र साधन हैं। पर्वत, शहर और अन्य स्थान जो कुछ मिलते भी हैं तो उन से किसी निश्चित तथ्य पर पहुँचना मुश्किल ही है। इस लिए दानस्तुति मे यह बहुत महत्त्वपूर्ण है कि यज्ञ किस नदी के किनारे किया गया था। पच्छिम से पूरब गिनने मे उन का क्रम यों है—सुवास्तु, गोमती, सिन्धु, परुष्णी, सरस्वती, यमुना और गङ्गा। इन नदियों का स्थान ही निश्चय रूप से ऋग्वेद का अपना स्थान है।

१. दे०—ऋ० १.४०.७; १३१.४; १६५.८; २.२१.४; ४.१६ ६; ५.३१.६; ६.६१.३; ७.२६.२४; १०.४६.४; १०५.८।

२. वडाहरथार्थ गेल्डनर के ऋ० ३ ११. ८ ऊपर नोट दे०—‘अप्लव्यम्’ शब्द आर्थों के नदीवाले प्रदेश मे आगे बढ़ने का स्मारक शब्द है दे०, ऋ० १.४०. ७। आगे चलकर ‘वृत्रहर्षम्’ शब्द के साथ ही अप्लव्यं शब्द भी शाङ्खायन श्रौतसूत्र ८. १६ १ मे विजयी के आगे बढ़ने के अर्थ में रूढ़ हो गया है।

३. ऋ० १. ११. ६ को भी दे०—“ये शूर। दुहारे दानों को इस नदी के साक्ष्य मे लेकर मैं लौटा।” यहा कवि ने हन्त्र के जरिये जो दान मिला था उस मे स्थानीय नदी को साक्षी रखा था।

ईरान वैज ।

प्र० पूर-पु दाऊद, विरव भारती, शान्तिनिकेतन

[आरिय या आर्य लोग—अविस्ता और पहलवी में हमें ईरान वैज शब्द बार बार मिलता है ।

भारतीय और ईरानी दोनों के ग्रन्थों में उस वंश का नाम जिस से ये दोनों जातियाँ निकली हैं, आर्य अर्थात् सरवार दिया है । छठी शताब्दी ई० पू० में दारयवहु महान् अपने आपको आर्य कहता है । भारतवासियों के लिए अविस्ता के विभिन्न प्रकारों में हिन्दु शब्द आया है ।

ज्यों ज्यों हम खोजते हैं, वह बात अधिक अधिक पाते हैं कि भारतीय और ईरानी—भाषा, धर्म, विचार और रीति-रिवाजों में विस्फुल्ल एक थे । अविस्ता-भाषा और संस्कृत में केवल उच्चारण का ही अन्तर है, अन्यथा वे एक ही हैं । दोनों भाषाओं परस्पर इतनी संघट्ट हैं कि हम एक को जाने और दूसरी को न जानें तो हमारा ज्ञान अंधरा रहता है । इस प्रकार वेद और अविस्ता तत्त्वतः एक ही हैं और उन में एक ही जाति के इतिहास की स्मृतिर्या है । यह विरवास कि महात्मा जरतुस्त के आविर्भाव से दोनों जातियाँ अलग अलग हो गईं, कोरी कल्पना पर निर्भर है, इसमें तथ्य कुछ भी नहीं ।

ईरान वैज—मध्य एशिया से प्रवास कर के ईरानी लोग पहले पहले जिस प्रदेश में बसे उसे अविस्ता में ईरान वैज कहा है । कुछ विद्वानों का विचार है कि यह संस्कृत शब्द चीज का रूपांतर है । परन्तु फारसी में इस अर्थ में ऐसा कोई शब्द नहीं । ईरान् वैज किसी विस्तृत देश का नाम नहीं अपितु उस प्रदेश का नाम है, जहाँ अपने प्रवास के बाद ईरानी लोग पहले पहले बसे—और जिसे उन्होंने स्वर्ग कहा । पीछे इस के चौगिर्दे/कहानियों का जाला बुना गया जिस में इस की ठीक पहचान खूब हो गई । कुछ विद्वान् इन कहानियों में उत्सुक कर बड़े समझने लागे कि ईरान् वैज विलकुल ही एक कल्पना थी । पर वह ठीक नहीं; यह एक वास्तविक देश का नाम है ।

सुरिकल तो यह है कि अरबों के फारिस विजय से भी बहुत पहले से इस देश की ठीक स्थिति के बारे में सन्देश विद्यमान थे । पहलवी ग्रन्थ दीन-अग्राही में हम पाते हैं कि ईरान् वैज अजरबाइजान में कहीं था । इस लिए कुछ एक ग्रन्थ-विद्वान् ने इसे फारिस के उत्तर पश्चिम अजरबाइजान के आस-पास, प्राचीन खोगो में अरान नाम से प्रसिद्ध एक देश में, जिसे अरब भी जानते थे, ढूँढने का प्रयत्न किया है । अरब सूत्रेताओं ने अरान का निम्नलिखित सीमाओं के अन्तर्गत होना माना है—आमीनिया, शिरवाक, अजरबाइजान और कारिपयन सागर । किन्तु यूनानी लेखक स्त्राबो ने अरान लोगों को अनाथ कहा है । मि० टाहट का विश्वास है कि ईरान वैज फारस के उत्तर पूरब में कहीं था । इस का मतलब है आधुनिक खारिजम या लोवा ही ईरान् वैज था । अस्ति और पुण्ड्रपुस भी इस से सहमत हैं ।

अविस्ता से भी यही सिद्ध होता है । वहाँ इस देश को फारिस के उत्तर पूरब और पूरब कहा है, तथा सुग्ध, मर्व, बवल नीसाय, हरास, काखुब आदि को इस में सम्मिलित किया है । पहलवी टीका में लिखा है कि ईरान् वैज में अत्यधिक सरदी पड़ती थी ।

अविस्ता के अलावा इतिहास में भी यही प्रकट होता है कि खारिजम फारिस के सब से पुराने सूत्रों में से है तथा फारसी सभ्यता का केन्द्र रहा है । ऐतिहासिक अलबीरुनी भी इस बात का समर्थन करता है । अविस्ता के कई प्रकारों से भी इस की पुष्टि होती है ।

फारस के धार्मिक इतिहास में दक्खिनी फारिस का कहीं जिक्र नहीं है । जरतुस्त का आविर्भाव और उस का धर्म-प्रचार पूरबी फारिस में ही हुआ । पहलवी और पाकुन्द ग्रन्थों के अनेक निर्देशों से भी पूरबी ईरान ही ईरान् वैज सिद्ध होता है । किन्तु बुन्दहिशन इसे अजरबइजान के आस पास रखता है । पर अधिकांश प्रमाण दूसरे पक्ष में हैं इस लिए । खारिजम को ही ईरान वैज समझना चाहिये ।]

आरियाई हा

दर अविस्ता चुनानके दर कुतव-पु पहलवी गालिबन् वकल्म-पु ईरान वैज वरमीखुरेम राज अत्रि व हुदद-पु ई मर्जेबूम आरापु सुस्तलिफु अस्त । पेश अञ्ज दाखिल हुदन दरई भवहस लाज़िम अस्त अञ्ज अरियाई हा कि ई मर जमीन् वहस्ते ई कौम नामज़द गदीद सुखसरन् सुहबन् वि दारेम् ।

दरमियान्-ए अक्वाम्-ए हिन्द व आरोपाई दो दस्तः अज् हमी निम्नाद कि हिन्दुवान् व ईरानियान् बाशन्द विस्तार व हम दीगर नज़दीक् व हदों आरियाई नामीदः शुदः अन्द । आसार-ए कुतबे कि अज् आरियाई हा दर दस्त अस्त कदीम तरीन् असनाद-ए अक्वाम्-ए हिन्द व वरपाई अस्त । वेद्-ए हिन्दुवान् व अविस्ता-ए ईरानियान् अज् बराय-ए अक्वाम्-ए हिन्द व वरुपाई चुनानक् तौरात अज् बराय अक्वाम्-ए सामी क, हन्-वीरन्-ए आसार कुतबि-ए दुनिया बशुमार अस्त । अश्वेद कदीम तरीन्-ए किस्मत्-ए किषाद्-ए दीनी-ए बरहमनाय दर् दो हज़ार व पानसद् साल पेश अज् मसीह व वज्द आमादः व कदमत गाथा कदीम तरीन् किस्मत् नाम्-ए मुकद्दस्-ए मज्दयसनाय बहज़ार् व सद् साल पेश अज् मसीह मी रसद् । ईरानियान् व हिन्दुवान् हरदो खुदरा आरियाई नामीदः अन्द थानी शरीफ । दर् सरोद हाए अश्वेद हिन्दुवान् अज् सियाह पोखहा व साकिनीन्-ए असली-ए सिन्द व पञ्जाब व इस्-ए आरियाई इम्तियाज़ दादः शुदः अन्द । दर मुक़ाबिल-ए मरदुमान्-ए असली-ए ओं सर ज़मीन् कि दास् दुश्मन् नामीदः शुदः व रफ्तः रफ्तः खाकशान् बदस्त-ए आरियाई हा दर आमदः^१ हम चुनी ग़ालिबन् दर अविस्ता अज् कौम-ए आरियाई या ईरान् खाकशान् याद शुदः अस्त^२ । दारयूश बुजर्ग दर कौन् शशुम् पेश अज् मसीह दर कवीब-ए नक़्श-ए रुस्तम खुदरा चुनीय ख्वान्दह मन् दारयूश हस्तम् पादशाह-ए बुजर्ग पादशाह-ए पादशादान पादशाह-ए ममालिक-ए अक्वाम्-ए बिसियार् पादशाह-ए ई ज़मीन्-ए बुजर्ग-ए दूर को रानः पिसर्-ए वैरात्स (गुश्तास्) हख़ामन्शी यक् पारसी पिसर्-ए यक् पारसी यक् आरियाई व अज़निभाद-ए आरियाई बिना व-ख़बर-ए हरोदून्-ए माद हा ईरानियान्-ए मगरिन् ज़मीन् कि दर अवाख़िर-ए कर्न्-ए हश्तुम् पेश अज् मसीह नख़्स्ता सलतन्त-ए ईरान रा तश्कील दादन्द । दर ज़मान-ए कदीम् अमूमन आरियाई नामीदः मी शुदन्द^३ । ईरानियान् इस्-ए खुदरा बसर ज़मीन् हा ई कि वदस्त आबुर्दन्द दादः ऐरियान् नामीदः अन्द । इस्मे कि इमरोज़ः ईरान् गुफ्तः मी शवद् व तापान् सद् व पिन्जाह सालपेश अज् ई ईरान् जलपुफ़ू मी शुदः अस्त । हिन्दुवान् नीज़ बसर ज़मीन् हाई कि व ओं जा मुहाज़रत करदः इस्-ए खुद दादः 'आर्यावत्' नामीदः अन्द । हम चुनी ओं रा 'भारतवर्ष' या 'भारतभूमि' ख़ाँदः अन्द । इस्-ए हिन्द या हिन्दोस्तान् कि हिन्दी हा नीज़ व हमी इस् वतन्-ए खुदरा मीनामन्द अज् ईरानियान् गिरिफ्तः शुदः अस्त । चहारबार दर अविस्ता ब-इस्-ए हिन्द बर मी ख़रेम, फ़र्गद्-ए अज्बल बन्दीदाद फ़िकर्-ए १८ यस्ता ५७ (सरोश यश्त-ए सर्गब) फ़िकर्-ए २६ वीर यश्त फ़िकर्-ए ३२ मेह यश्त फ़िकर्-ए १०४ । दरई फ़िकरात् हिन्दू व दरलुस्त बल हिन्दू आमदः । व दर फ़ुस्-ए हख़ामन्शी नीज़ हिन्दू मी बाशद् । दारयूश-ए बुजर्ग दर नक़्श-ए रुस्तम अज़ाँ दर् जुज्व-ए ममालिक-ए दीगर कि दरहसरफ़-ए बैयूदः याद् मी कुनद् । दर् सौरिकरीत् सिन्धू व दर् यूनानी इन्दूस् मी बाशद् । वा ई इस्मेल् कि वरूद् सिन्द दादः शुदः अस्त । नज़रब ई कि हिन्दुवान् व खुस्त दर सवाहिल-ए रुद्-ए सिन्द जाय गुज़ोदः व ममालिक-ए पंजाब रा बदस्त आबुर्दः अज्

१. रुज् अ शवद् व मकालय-ए ज़मान-ए ज़रतुस्त इर् हमी जित्द ।

२. रुज् अ शवद् व 'ओस्ता ईरानिश् कुत्तर' (अज् गायगर), सफ़हा १०० ।

३. रुज् अ शवद् व आबान् यश्त फ़िलात् ४६, ४८, ६६, ११०; व तीरयश्त फ़ि १, ३६, ५८, ६१; व मिहर यश्त फ़ि ७, १३; व फ़र्गद्दीन् यश्त फ़ि १४३; व जामियाद् यश्त फ़ि ५६, ६६; व बंदीदाद फ़र्गद् १६ फ़ि ३६ ।

४. हिरोडोटस् ७:६२ ।

अजा रफ रफ व किनार-ए रुद-ए गङ्ग व तुकात्-ए दोगर-ए हिन्द नष्ट करदन्द । इस्-ए मन्चकत्-ए आनान निज्द-ए ईरानिया व हिन्द नामोद शुद अस्त^१ ।

गुप्तेम अज् मन्चकत्-ए आरियाई या ईरान व अज् कौम्-ए आं ऐर्य कि दर फुर्म व दर सांस्कीरीत नीज् अरिय गुफ् मी शवद् । गालिवन् दर अविस्ता याद शुद अस्त । अजो जुम्हा दर फुर्वर दीन यश्त फिकर-ए ८७ ग य म रं व न कि दर फारसी कयूमर्स गोपम् व दर अविस्ता न खुर्तीन्-ए वशर् शुमुर्द शुद । व मानिन्द-ए आदम दर अदयान्-ए सामी नख्स्तीन् कसे अस्त कि मनिशू व अमोजिशू-ए अहूरा मजदा रा दरियाफ् अहूरा मजदा अज् नाफये (दूदमान्) ममालिक्-ए ईरानी व नकाद्-ए ममालिक्-ए ईरानी पिबीद् आवुर्द । अन् ऐर्य यानि गैर आरियाई या गैर ईरानी व खारिज व वेगान् दर मुकाविल्-ए कल्म-ए ऐर्य दर अविस्ता विसियार आयद अस्त ।

हरचन्द कि दर तद्दकोकात् राज अ व हिन्दुआन् व ईरानियान् दूरतर खेम व-वकदीम् तरीन्-ए आसार-ए आनान कि वेद् व अविस्ता वाशद् मुल्लहिज् कुनेम् । वेश अज् वेश शवाह्वे मियान्-ए जुवान् व दीन व तर्ज-ए ख्याल् व आदात् व रुस्स-ए आनान् करफ खवाहेम् कर्द । वतौर कि अवदन् शक्केन मी मानद् कि ई दो कौम् अज् यक् नभद् वृद । व रोजे दर यक् सर जमीन् वसर मी बुर्द । व दाराये यक् जुवान् व यक् ख्स्तीन् वृद अन्द । जुवान्-ए अविस्ता व जुवान्-ए वेद् फकत् तफावुत्-ए लहज् व हम दोगर दारन्द । मियान्-ए जुवान्-ए अविस्ता व जुवान्-ए फुर्स् कि दर कदीव-ए पादशाहान्-ए इस्लामन्गी नमून्-ए अजो व जामादः नीज् हमीन् तफवुत्-ए लहजा रा वायद् कायल् शुद । गुजश्त अज् कलभात् तरकीन्-ए जुम्हात्-ए जुवान्-ए अविस्ता व कवाहदे मफ् व नहवीय्य-ए आं व अन्दाज्-ए व सांस्कीरीत नज्दोक् अस्त कि वमा अज् जिक्कारात्-ए अविस्ता रा वे ऐनिही कल्म वकल्म वजुवान्-ए सांस्कीरीत मी तवो वर गर्दानीद् । इस्त्रावोन् जुगरा-फिया नवीरा-ए थूनानी दर यक् कर्न पेश अज् मीलाद् जुवान् हाय कुझीय-ए अकवाम्-ए आरियाई-रायके दानिस्ता व फकत् फुर्स्-ए लहज् दर्मियान्-ए आंहा खायल् शुद अस्त^२ । वंशक् अगर सांस्कीरीत व अदवीय्यात्-ए फरावान्-ए आं नवूद् हर आहना किस्मते अज् अदवीय्यात्-ए मज्द यस्ता मजहूल मी मानद् । दानिशमन्द-ए फरान्स जुर्नूफ व तबस्सुत्-ए सांस्कीरीत्-ए यस्ता रा कि पंज फल्स्-ए गाथा दर जुल्वे आं अस्त व अज् मुश्किल् तरीन्-ए किस्मते नाम्-ए मुकहेस अस्त व फरान्सः तरजम नमूद् । दरसाल्-ए १८३३ मीलादी मुन्तशर साज्त् । अज् ई रोज व बाद अज् फरतवे सांस्कीरीत तद्दीलीन्-ए अविस्ता पाय-ए इल्मी गिरिफ् व धर्वासेत्-ए तरक्को-ए इल्म्-ए इश्तिफाक दर अरुपाव वल्सुस ववासेत्-ए मुतवल्ज् शुदन्-ए दानिश मन्दान् व अदवीय्यात्-ए कदीम्-ए हिन्द मुन्दर्जीत्-ए अविस्ता मवदरिजन् रीशन् शुद । तफसीर-ए पहलवी-ए अविस्ता कि आं रा ज़न्द नामन्द नफसीर-ए मुलवी अस्त निस्वत् व तफसीरे कि अज् कये इल्म्-ए इश्तिफाक अस्त कमतर काविल्-ए एतमाद अस्त । वले वाबुज्द-ए ई कलीद्-ए फहम्-ए अविस्ता अस्त व दर विल् अज्

१. रुजश्त शवद् व 'लेव लेवस' पावशाओइह देस हिन्दू (अक् राधाकृष्णन्) तर्जाना अज् एन्० बल्सू० । शोमरुस लाइपजीग १९२८ सफहा ६ ।

२. रुजश्त शवद् य हान्दुक् ठेर आस्त ईरानियन् त्रिशालेस (अज् चार्वोलोमे) लाइपजीग १८८३ सफहा ५ ।

३. जर्गिस्त ठेर 'आययर्' कि० १ 'ईराद् ऊन्द् वृान्' (अज् वून होफर) लाइपजीग १८८६ सफहा २०० ।

मवाजे यदानः वसील्-ए एस्त अज् बराय रसीदन् व मअनि तकरीबो आँ हॉ जुबान्-ए अविस्ता दर अहद्-ए सासानियान् कि तफसीर्-ए आँ दर् आँ अहद् नविशतः शुदः मतस्कू बूदः । मुफस्सीन्-ए आँ जमान् बायस्ते बनावार व तफसीर्-ए सुअती किताबू-ए मुकदस् कि अज् पुरत व पुरत व आँ ना रसीदः शुदः इत्तिफा कुनन्द । बखूसू तफसीर्-ए पहलबीय-ए गाथा कि अज् कदोमस्तरीन् बमुश्किल् तरीन्-ए अजजाये अविस्ता अस्त । दूर अज्मानीये हकीकी सलूदहाये पैगम्बर-ए इरान् अस्त । अस्माँ अफसीर् व तजुम्-ए पहलबी सायर्-ए किस्मत हाये अविस्ता कम् व बंश नज्दीक वमतन् अस्त ।

नई कि फकत अज् वराये नमूदन-ए मानीये हकीकीये कलमात् व जुम्हात्-ए अविस्ता मुहताज् व सास्कीरत हस्तेम् । बल्कि अज् बराये दर याबीदन-ए मतालिव-ए अविस्ता गैर अज् गाथा नोज नयाजमन्द-ए अदबीय्यात्-ए कदीम्-ए हिन्द हस्तेम् । यक् रशितः अज् सुन्दजात्-ए अविस्ता ये सुत आस्खर् व वसित-ए वेद व किताबू-ए रज्मीये-हिन्दुआन् महाभारत हल गदीद् । चुनो कि मीदानेम् जर्तुश्त जसूल्-ए केश-ए कुहन्-ए आरियाई रा तगयीर् दादः ईरानियान् रा व परस्तिशू-ए आफरीदगार्-ए यगान् रहन्मून गश्त व गाथा कि अज् सरोदहाये-खुदा-ए पैगम्बर-ए ईरान् व हाबी ये तालीमात्-ए ओस्त गोथान् ई तज्दीद् व तग्योर अस्त । अस्माँ किस्मत हाये दीगर अविस्ता व ई कि दाराये जसूल्-ए ज़रतुशती अस्त बखूबी याद् आवरे केश-ए कुहन्-ए आरियाई अस्त । व गिरोहू-ए अज् ईजदान या फरिश्तगान् व बसा अज् देवहाय् आँ हमाँ पर्दिगारान्-ए आरियाई हस्तन्द । व दरकुतुबू-ए दीनीये बरहमनान् नोज दाराये नाम निशान् मी बाशद् । शके नीस्त कि दानिशमन्दान्-ए वेदनीज् अज् कुतुबू-ए दीनीये कदीम्-ए ईरानियान् वे नियाज् नेस्तन्द । ख्वाह अज् लिहाज्-ए इल्म्-ए इश्तकाक व ख्वाह अज् लिहाज्-ए मअनी व मुहवबीयात्-ए गुज़िशतः अज़ी बिना व तहकीकात्-ए मुस्तशरीकीन् किस्मत-ए अज् कुतुबू-ए वेद दर् ईरान् ज़मीन् नविशतः शुदः । व बिखै अज् अथिया सरोद्-गोथान्-ए वेद ईरानी बूदः अन्द । व बसादर ई सरोद् हा रहू-ए ईरानी हुक्म फरमाँ अस्त ।

वेद व अविस्ता आसारे अस्त अज् बिरादरान्-ए आरियाई कि इस रोज पस् अज् गुज़रते चन्दि हज़ार साल मी हवानेम् व मुआवनत्-ए ई दो मीरास्-ए मुकदस्-ए इह सासात व खयालात्-ए नियागान्-ए नामबर-ए खुदरादर या बेम । जुज् अज् हमीदो किताबू-ए दोनो आसार-ए दीगर-ए कि गोथान् एखाबीत्-ए देरीन्-ए आरियाई हा यानी ईरानियान् व हिन्दुआन् बाशद् दर दस्तनदारेम् । ई दो किताब लफ्ज़न् व मानन् दलील अस्त कि ईरानियान् व हिन्दुआन् अज् हर हैस बहमदीगर् नज्दीक बूदः अन्द । इमरोज़ः बतौर-ए तहकीक नमीदानेम् कि आना दर जुदाम् सर ज़मीन् बाहम बसर मी बुर्दः अन्द व कै अज् हम दीगर जुदा शुद अन्द । व सबबू-ए जुदाइ-ए आनान् चेबूदः अस्त । दर्ई मौजू नमीख्वाहेम् दाखिल्-ए सुबाहसा शुदा यकूसुरत्-ए हदस् व एह्तमाल् व ख़र्बार्-ए एहतेमालात्-ए मुहक्के कीन् बेयफज़ायेम् । बिखै अज् सुबर्खीन् तसब्बुर् करदः अन्द कि ज़हूर-ए ज़रतुशत व बतवस्तुत्-ए ऊ व बजूद् आमदन-ए दीन्-ए नौ सबबू-ए जुदाईये ईरानियान् व हिन्दुआन् शुदः बाशद् । ई हदस्-ए वे असात् व हेच वजह फाविल्-ए तबब्बुह नेस्त । बिद्-ए शक् मुश्क हा पस् अज् जुदा शुदने ई दुदस्ता अज् हम दीगर् व मुहाजरत नमूदन-ए ईरानियान् व सर ज़मीन्-ए ईरान्-ए पैगम्बर ज़हूर नमूद ।

नज़र व कदीम-तरीन्-ए आसार-ए आरियाई हा शबाहत-ए तअन्ने अज् हर हैस मिथान्-ए ईरानियान् व हिन्दुआन् मौजूद अस्त । हुमा तौर कि वेद व अविस्तान मूदार्-ए कराबत्-ए जुबान्-ए आना अस्त । दर

ख्माईस्-ए मिल्लीनीज नमूदार-ए खेशीये आंना अस्ते व हम्दीगर्। अम्मां नज़र व तारीख्-ए आंना दख्खसन्-ए बाद तफावुत्-ए फाहिश्-ए दर ख्सायल्-ए आंना दीद. मी शवद्। हिन्दुआन् गोश.गीर व फैलसूफ व अहले फ़िकर अन्द। ईरानियान् जहाँगीर व पहलवान् व वेवाक अन्द। ईं तफ़ुवुत रा बायद् अज़ तसल्लुत्-ए आव व ह्वा-ए औवान्-ए आना दानिस्त। हिन्दुआन् दर मुहाजरत्-ए ख़द व किनार्-ए सिन्द व दश्त हाये पंजाव रसीद दर् आं मर ज़मीन्-ए विसियार गर्म व पुर आव व आसानो दर्-ए रोज़ो व रुये ख़द कुशूद दीदन्द अज़ ई व अज़ कोशिश् वाज़ मादन्द। अम्मां ईरानियान् कि व आसियाये मर्कज़ीरुये निहादा बदश्तहाय सैह्व व जैह्व दर आमदन्द व रफ़् रफ़् सरासर्-ए ईरान् ज़मीन् रा फ़रागिरिफ़्न्द। व ख़ाक-ए कम आव व ख़श्क रसीदन्द व वताविताने विसियार गर्म व जमिस्तान्-ए सख्त वर ख़र्दन्द। ना गुज़ोर अज़ वरायं ज़िन्दगी शकार व कोशिश् दर आमदन्द। अक्ररिज्-ए तवीईय्-ए सरकश-ए आंना रा मर्-ए मैदां व दर मुकाविल-ए ओ चेह वद वज़िशत अस्त। दिलेर व पायदार साख्त।

ईरान् वैज

ईनक व वोनेम् कि ईरानियान् पस् अज़ मुहाजरत्-ए ख़द दर मरकज़-ए आसिया व कुजा वार्-ए इफ़ामत् अफ़ग़न्दन्द व नख़्स्तन्-ए सर मन्ज़िल्-ए ख़दरा चे गून् नामोद अन्द। ईं सरज़मीन् दर अविस्ता गालिबन ऐरियन वैज नामोद शुद. अस्त। जुज-ए अब्बल्-ए ईं इम्म जुमां अस्त कि गुफ़्-ए। इम् रोज़. ईरान् गोयेम् मानि-ए लफ़्ज़िये वैज दुरुस्त मालूमनेत्। अम्मां दर सात्करीत् कल्मा वीज मौजूद व व मानिये तुल्म मी वाशद्। वहुमो मुनासिबत् सुस्तशरि क़ान्-ए ऐरियन वैज रा व मानिये सर ज़मीन्-ए तुल्म व निम्माद्-ए अरियाई गिरफ़् अन्द। अलवत्ता अज़ वराय ईं इस्-ए मुरक्कब जुनों मानों या भवानिये दीगर अज़ हमी क़बील बायद् तसख़्बुर नमूद। व अक़ोद. विरख़े कि ईं क़ल्मरा वा क़ल्म-ए वीज कि दर सर ज़वान्-ए आसियान् ईरान् अस्त मरबूद दानिस्ता अन्द काविल-ए तवब्बुह नेत्। ज़ोरा कि अज़ वराये सैह्व-ए लुगत्-ए मज़फ़ूर-बाहिद दर अदबीय्यात्-ए फारसी दरदस्त न दारम्।

ऐरियान वैज व सरासर्-ए ईरान् ज़मीन् जुज़्गै इतलाक़ नमोशुद। वल्कि इस्म क़ित ख़ाकी अस्त कि न ख़ुस्त ईरानियां व आंजा वार्-ए इफ़ामत् अफ़ग़न्दन्द। व अज़ आंजा मुतदरिजन् पेशवर रफ़् सरासर्ईरान् ज़मीन् रा फ़रा गिरफ़्न्द व बादहा। हम मुसालिक-ए कि दर तेसरूफ़्-ए आना बूद ऐरियन् या ईरान् नामोद शुद अस्त।

वले हमेश इफ़ामत् गाह्-ए अब्बली ख़दरा व नेकी याद करदन्द। व मुल्क-ए ज़मां आं मरज़ाबूम-ए जुहन् निज्द-ए आना जम्-ए मोनवी गिरफ़ यक् किस्-ए वहिशत्-ए रुय-ए ज़मोन् तारीफ़ शुद अस्त, व चू रोज़गार-ए दराज़ वर अंगुज़श व तारहाये अफ़सान दौर-ए ईं महदरा वि गिरफ़् दर सर-ए तवीन्-ए आं तरदीद पैदा करदन्द। वल्ले अज़ सुस्तशक़ीन् कि इस्-ए ईं मम्बुक्त् रा वा आं हमां दाख़ां आमख़त् दी दन्द। जुहन्-ए आंना व यक् किश्वर-ए मीन वी मुन्तफ़िल गरदीद्। अम्मां इमरोज कसेरा शके नेत् कि ऐरियन वैज इस्-ए यक् मरज़बूम-ए वा किई अस्त-फ़क़्त व वास्तये फ़क़दा-ए वसाइल वतून्-ए ज़मान व तौर-ए तहकीक नमीतवानेम् महल्ल-ए आंरा मु अय्यन कुनेम्। दर अविस्ता आसामिये विसियार अज़ पयालतहा व कोह हा व रुदहाये-ईरान जमीन क़दीम महफ़ूज माद। दर मर्-ए तयोख़ विख़े अज़ आहा कि सुवर्तिलीन

व जुगराफियून-ए कदीम्-ए यूनान व रोम नीज़ अज़् ओं हों जिकरे करदः व दर कतीबये शाहन्शाहान्-ए हखामन्शी हम याद गर् दीदः । व यार्ई कि असामीये कदीम्-ए ओह्रा हुनूज़ सुताबिक्-ए नाम हाये कनूनिये ओं हास्त इश्काले नदारम् व बिखे दीगर अज़् ओं हों कि फ़क़त यक् या चन्दीं बार दर किताब-ए सुफ़हस अम्दः व दर कुतुब-ए पहलवी बिदून्-ए हेच किस्म तौज़ीहै तकरार शुद. व दीगर दर हेच जा असर व ख़बरे अज़् ओं हा नीस्त । नमीतवाँ अज़रूये यकीन हुदूदे अज़बराये ओं हा मुअय्यन नमूद ।

इश्काले कि माँ इमरोज़ः राजे बन्धुनीन अस्माये खास-ए अविस्ता दारम् दर हज़ार व सीसद साल पेश-अज़् ई हम यानी पेश अज़् इस्तीलाये अरब व ईरान् दर अहद-ए सासानियान् नीज़ दाश्तः अन्द । ज़ोराकिदर ओं अज़्मिनः अज़् अहद-ए ज़हूर-ए मज़द यस्ना व तालीफ़-ए अजज़ाये अविस्ता दूरबूदः अन्द व भसाइल्-ए साल ख़ुर्दः रङ्ग व आब-ए दास्तानी गिरफ़ः सौर-ए दीगर जलब. मी नमूद । राजे बयक् दस्तः अज़् अस्माये-खास-ए अविस्ता बेसा तारीफ़-ए नकीज़-ए कुतुब-ए पहलवी कि आबिशख़ुर-ए ओं हा रिवायात व सुनाव-ए अहद-ए सासानी अस्त व बसा तारीफ़-ए शिगिफ़ आ मेज़-ए कुतुब-ए मज़कूर बेश अज़् बेश मा रा इमरोज़ व रसीदन-ए हकीकत-ए मतलब दूर दाश्तः व मायये इश्तिबाह मी शबद् । अज़् ओं जुम्हः दर किताब-ए पहलवीये दीन् आगासी (आगाही) मात्ररूफ़ व बुन्दहिश् दर फ़्तल २६ फ़िक़रः १२ सराहतन् आमदः ।

“ईरान् बैजः दरतरफ़-ए आज़र बायजान् अस्त” अज़्-चन्दो मौज़-ए दीगर हमी किताब वर मी आयद् कि मुअज़्ज़िफ़-ए बुन्दहिश् ऐरियन् बैजः रा दर मगरिव्-ए शुमालीये ईरान् मी पिन्दाश्तः अस्त । नज़र् व हमी तारीफ़-ए बुन्दहिश् अस्त कि यक् दस्तः अज़् सुस्तशिकीन् व मगरिव्-ए शिमालीये ईरान् सुतवजि. शुदः दर ओं हुदूद् मन्बुकत-राजुस्तन्द कि हम सायये ओं ज़रबायजान् अस्त व ई मन्बुकत इरान् अस्त कि व ज़ोम्-ए ओं ना हमी ऐरियन् बैज-ए अविस्ता अस्त । दर कुतुब-ए जुगराफ़ियून-ए ईरानी व अरब ई मन्बुकत एरान् ज़व्त शुद. व ओं अ़िबात अस्त अज़् अल्बान्-ए कदीम निज़्द-ए कुदमाये यूनान व रोम । इस्तख़री कि दर नीमये ज़ला कर्म्-ए चहारूम-ए हिजरी मी ज़ीस्तः ई मन्बुकतरा अज़् तरफ़-ए शिमालशर्की व दरबन्द व अज़् तरफ़-ए मगरिव् बतिफ़ालीस व अज़् तरफ़-ए जुनूब व जुनूब गर्बी व रुद्-ए अरस् महदूद कर्दः अस्त । याकूत कि दर-साल ५७४ तबल्लुद याफ़ः व दर ६२६ दर गुज़श्त ईरान् रा बवास्त ये रुद्-ए अर्से अज़् आज़र बायजान् सुन फ़सिल कर्दः तमाम राज़ीरा कि अज़् ई रुद् अज़् तरफ़-ए शिमाल व मगरिव् मशरूब मी शबद् अयालत-ए ईरान् दानिस्त. अस्त । दर यक् कर्न बाद हमदुद्दाह सुत्तौफी दर किताब-ए नुज़हतुलकुलूब कि दर साल-ए ७४० हिजरी नबिश्तः शुदः मीगोयद्, “दियार-ए इरान् व मूरान् वा विलायत-ए अर्मेन व शीरवान् व आज़राबयजान् व बहर-ए ख़िज़र पैवस्तः अस्त ।” दर जाये दीगर गोयद्, “अज़् किनार-ए आब-ए अर्से ता आब-ए कर बीतुल्-नहरैन इरान् अस्त ।” पस् अज़् इस्तीला ये मुग़ल किस्म-ए जन्बोये-ईरान्-ए कदीम व इस्-ए नीमतुर्की व नीमईरानी कराबागू नामीदः शुदः कि ता जुनूब हस बहमो इस्म ख़्वान्दः मी शबद् । चीज़-ए कि सुस्तशिकीन् रा व ई अयालत-ए मगरिव्-ए शिमालो व ख़ाक-ए इरान् सुतवजि. स्वाख़्त न ख़ुस्त हमी फ़िक़-ए १० अज़् फ़्तल-ए २६ बुन्दहिश् अस्त । कि गुफ़्म ईरान् बैजरा अज़् तरफ़-ए (कस्तीक) आज़र बायजान् पिन्दाश्त अस्त । दुवम् इस्-ए ख़ुद्-ए ई अयालत अस्त कि अज़् ज़मान-ए कदीम व इस्-ए ईरानीये ख़ुद् इरान् नामज़द् बूदः अस्त । व ओं रा अज़् कल्म ऐर्थन दानिस्तः अन्द । वले हेचयक् अज़् ई दो दलील रा ऐतबारे नीस्त । ज़ोरा कि मुन्दर्ज़ात-ए बुन्दहिश् राजे व असामीये जुगराफ़ियाई वे असाम अस्त । इश्तिबाहात्-ए जुगराफ़ियाई

दर ई किताब कि दर कर्म-ए हश्तम-ए मोला दी तालीफ्याफु नज़ीर बिसिबार दारद। हम चुनी हैअत्-ए कल्म-ए इरान काविल-ए तबज़्ज अस्त। जीरा कि कल्मये ऐर्यन मअमूलन् वा थिस्त ईरान् शुद वाशद चुना कि शुद व वतन-ए मा चुनी क्वाँदन् शुदः अस्त। व ई दलायल व वदलील-ए ई कि इरान हमेश। यक् अयालत्-ए गैर-ए आरियाई वृत्त। व सुन्दरजात्-ए इस्तराबून (Strabon) राजिअ व हसूम व आदात्-ए अहालिये इरान = अल्वानिया गैर-ए ईरानी वूदन-ए आ नॉरा सावित मी साज़द। व अबदन् मन्तिकी नीस्त कि ई सरज़मीन महद्-ए नखुस्तीन्-ए तमहुन्-ए ईरान तसब्बुर शवद। गिराहे अज़् मुस्तश्शिकीन् विना वर सवाव अज़ वराये तअयीन्-ए ईरानवैज व मशरिक-ए ईरान सुतवज्ज शुद अन्द कोपर्टे (Kiepert) आँ रा दर सर ज़मीन्-ए जुनूब शर्कीये फ़र्गान। एहविमाल दादः अस्त। गायगर (Geiger) रा अक्कीदः वर ई अस्त कि ईरान वैज दर मशरिक-ए शिमाली अस्त। हद्द-ए फ़रगान, को हित्तान्-ए हालियः महल्ल-ए आँ अस्त व रुद्-ए दायवी कि दर अविस्ता रुद्-ए ईरान वैज अस्त अ़िवारत अस्त अज़ ज़र अफ़शान्। दानिशमन्द-ए मज़कूर पस् अज़ चहारदह साल दीगर दर सर अक्कीदये खुद सावित मॉदः मी नवीसत् वतौर हत्म ईरान वैज दर अक्सा हुद्द ए मश्रिक शिमालिये ईरान ज़मीन अस्त। व मुमकिन नीस्त कि इरान वाशद^४।

ताकि ईरान वैजरा दर मश्रिक-ए शिमाली दानिस्त मो नवीसद्। ईरान वैज विना वतरीन्-ए कि दर फ़र्गद्-ए अबल्ल वदीदाद् आन्दः नखुस्तीन्-ए इक़ामतगाह-ए ईरानियान अस्त कि अज़् आँ जा रफ़् रफ़ः व सुगद् व भवं व वल्ल व निसाय, व इरात व कायुल व हल्मन्द दस्त अन्दाज़ी करदन्द व पस् अज़् आँ व समालिक-ए शिमालीये ईरॉं रुये आबुर्दन्द। विना वतकरीन्-ए दानिशमन्द-ए हुल्लादी इरानवैजरा वायद सर ज़मीन्-ए रबारज़म या खीव हालिय विदानेम^५।

१ यक्-ए अज़् शहराय-ए जुनूगे व मअरफ़् अरीर कि इन् रोजः दिहेस्त दर्मियान-ए ख़राब दर् किनार्-ए रुद्-ए मौस्म अस्त वदंअ (वर ज अ = वदंअ) ईं इस्म सुअरन्-ए परती मी वाशद्। नवी-शिदगान्-ए अरमी नीज इस्म-ए ईं शहर रा जुनौलक कर्दः अन्द। याक़त् सुअमसुतुख़दाद् नक़्क अज़ तज्ज, नमूद, मी नवीसव —‘वतुअह सुअरन् अज़ कल्म-ए कफ़ासॉं वदं—दार मी वाशद्अथानी जाये कि वदं (असीर) तिगाह मी डाग़तद।’ ला बुद् ईं वजह-ए इस्तिक्वा बाजारी अस्त। व वदं हास्तान्-ए मिछिये मा नीज़ दारान्-ए नाम व निशानेस्त। व गुफ़ये शाहनाम अफ़रासिया व अज़् वीन्-ए कै खुसरो अज गंग देग़ गुरेस्त वर गारे दर् वाक़ाय-ए कोह व निखिर्वीक् ए वदंअ पिल्लान शुद। हाम आबिद् दर् हर्मा कोई सुम्नजी वृदः। रु रा दस्तगीर कर्द व कै खुसरो अज ख़ून्-ए पिदरया सिवाबुग़ इतिकाम कशीदः रु रा कुस्त क़अथयवद् व ज़िहद १ पग़्त हा सफ़हा २०६, २१० व व ज़िहद २ सफ़हा २६३।

२ वडर गोथोआफ़ी अज़् आर्धेन्ज वर वामन् आरशिर कान्हियास्तन् इन् ऐस्वन् फ़ार्द डेस वंदीवाद् (अज एक् कोपर्टे) मुनात्सवर वर के अर्काबेमी वर विलन्शाफ़्त—१६ दिसम्बर १८६६ सफ़हा ६१-६१७।

३. ओस्तोरानिश् कुल्लूर (अज गायगर) एशियान् १८८२ सफ़हा ३०-३४।

४ गोथोआफ़ी फोन इरान् (अज गायगर) सुदिस वर ईरानिश् फ़िलोलोगी, जि० = स्भासद्वय १८६६-१८७४ सफ़हा ३८६।

५ गोशिमत् वर ‘रिलीगिअन इन् आस्तरान्’ जि० २ ‘दि रिलीगिअन बाह ईरानिश् फ़ेल्कन्’ फोन तील। इह्व आदमाय फोन गेरिक्। गोता १६०० सफ़हा ५५-५६।

यूस्ती नीज़ एहतिमालदादः कि ईरान् वैज हमां खोवः हालिय. या ख्वारज़्म-ए कुदीमबाशद^१ । गिरोहे अज़ दानिश मन्दान्-ए दीगर हरयक् व दलील्-ए बहमीं नतीजः रसीदः ईरान् वैज रा हमां ख्वारज़्म दानिस्तः अन्द । अज़ आं जुम्हाः दानिशमन्द-ए मअरुफ् आन्ड्रिआस^२ (Andreas) व अक्रोदये उस्ताद्-ए मारक्वार्त कि अज़ बुज़्गार्न-ए मुश्तअक्रोन व व खुसुसः दर जुगराफियाये ईरान्-ए कुदीम अज़मुअस्सकीन बूदः ईरान-वैज हमां ख्वारज़्म अस्त । व ई^३ दानिशमन्द-ए मरहूम सावितबूदः कि खाक्-ए तुरान (तुर्क्य) पैवस्तः बख्वारज़्म बूदः अस्त^४ । अज़खुद्-ए अविस्ता नीज़ बखूबी वर मी आयद कि अज़ ऐरियनवैजः हमां ख्वारज़्म इर शुदः बखुसुसः सेह् फ़िकरा अज़ फ़र्गद-ए अन्वल्-ए वधदीदाद राजअ राजः व ई^५ मौजूअ विसियार दरखुर-ए दिक्ता-ए अस्त । दर ई^६ फ़र्गद अज़शां ज़ंदः सम्मुकत नाम्बुर्दः शुदः । आसेव व आफते कि अहरीमन दर हरयक् अज़ आं ममालिक दर मुकाबिल-ए आफरी निश-ए नेक्-ए अहूरमज्दा पिदीद्-ए आवुर्दः ज़िक गर्दीदः अस्त । दर सर्-ए ई^७ ममालिक ऐरियनवैजः जायद दादः शुदः अस्त । याअमिये सेह् फ़िकये ऊला ई^८ अस्त ।

^१अहूररा मज्दा व स्पीतमान् ज़रतुश्त गुफ़ । ऐ स्पीतमान् ज़रतुश्त हर आं जाई रा हम कि रामशु देहिन्दः नेस्त मन् आं जा रा शादमानी वख्श आफरीदम् । ज़ोराकि अगर मन्आं जायराभिश् नदे हिन्दरा शादमानी वख्शहम् नमी आफरीदम् हरआईनः हमये मर्दुमान्-ए जहान् व ईरानवैज रूमी आवुर्दन्द ।

^२नखुस्तीन् व बेहतरीन्-ए जा व सरज़मीने कि मन् अहूरामज्दा वि आम्नीदम् ईरानवैज अस्त । आं जा ई कि रुद्-ए दौवती-ए नेक मी बाशद् अम्मां अहरीमन् पुर आसेव दर आं जा बतैयारी मार-ए सुर्ख व ज़मिस्तान् देवदादः बकार आवुर्द ।

^३दह मादर आंजा । ज़मिस्तान् अस्त, दोमाह ताबिस्तान् व ई^४ दो माह नोज़ सर्द अस्त । अज़ बराये आब सर्द अज़ बराये ज़मी सर्द अज़ बराये गिमाह ई^५ जा अस्त (नियान्-ए (यर्कज़-ए) ज़मिस्तान् ई^६ जा दिल-ए ज़मिस्तान् आं गाह कि ज़मिस्तान् व पायान् रसद सैला व आयद ।

१. मुद्रिश देर ईरानिश्न फ़िलोलोगी जि० २ स० ४०१

२. बकीवय-ए दानिशमन्द-ए आस्मानी आन्ड्रिआस कि दे अवायिल-ए माह-ए अक्टूबर १६३० देर सिन्-ए इरताद व चहार सातगी वारहमन्-ए ईज़दी पैवस्त फ़र्गद-ए अन्वल्-ए अशकानी (४०१-१३६ पैश अज़ मसीह) इशा शुदा । वसुन-सबत्-ए ई कि ख्वारज़्म वनन्-ए अस्लिय-ए अशकानिमान् बूदः ईरान् वैज-ए कुदीम रा कि अज़ आ हमां ख्वारज़्म । इरादः शुदः दर सर्-ए ममालिक-ए दीगर ता दावः बंद । व नज़-ए बिगारिदः दलील्-ए कि दानिशमन्द-ए मरहम् अज़ वय-ए सुतव-ए अकीद्-ए खुद आवुर्दः काबिल-ए तर्दीद अस्त । इरचंद कि खुद मसअलः दुस्त व इज्जोजः बीस्तर दानिशमदान् ऐरियन वैजः व ख्वारज़्म रा याक्-ए मी दाचदं दर् ज़मीन्-ए अविस्ता ई^७ गून् दावहल्-ए तारीखी शबीह व दलील्-ए आन्ड्रिआस ज़िक कर्दन् वस्तः बतुर्त्-ए शकुली अस्त ।

३. 'ईरान शहर' अज़ मार्किट बर्लिन १६०१ व कुतुब-ए जैत नीज़ मुहतादजः शवद्—कल्क नोविस सरल प्लू अंसियान् प्रोव्डु ज़ोरोअस्मिन् पार आर्दर क्रिस्तसन् एन्स आक्त्तोस् अरिअंताल्लय जि० ४ । एक्सलपुण्ड ५० म२, एदव् चर्ल ज़ोरोअस्मिन् ८ ल पर्स आतीक, कोवन हाफ़न १६२८, ५० ४२-४-४ । आल्तीरानिश्नस् वेस्तर बुदन फ़ोन बासॉलोये शाख़बुर्ग १६०४ ५० ६०-६८ लार्तिकल ख्वारिज़्म थार डन्त्यु चार्तोरेद, दर्आसिक्लोये दी व लिस्लाम, जि० २ बर्लिन १६०६ ।

पस् अज् जिक्क-ए ऐरियनवैज. दरफिकरात्-ए वअद् अजमुमालिक्-ए शिमात्तशर्फी व शर्फी ईरान अज् सुगद् व मर्व व वल्ख व निसाय (मियान्-ए मर्व व वल्ख) वहरोत व काबुल वगैर इस्मबुर्द् शुद् अस्त^१ । दरवफसीर-ए पहलवी (जंद) ई^२ फिकरात् मतालिबे राजिअ व ईरान वैज व रुद्-ए दायवी नया मदः हमी क्दर जिक्क शुद् कि जमिस्तान् दर ई^३ मन्हुकत विसियारमस्त अस्त व रुद्-ए आ^४ पुर अज् हशरात् अस्त व राजिअ व फिक्रये सितुम एक्खिलाफ्-ए आरा-ए सुफस्सिरीन् जिक्कशुद् अज् ई^५ कि विखेँ दहूमाह जमिस्तान् रा अज् व-राय्-ए आव व जमीन् व गियाह सर्द मक्सुद् दानिस्त व विखेँ दीगर ई^६ दो माहू-ए विस्तान् रा नीज् अज्वराय्-ए आव व जमीन् व जियाहे सर्द मक्सुद् दानिस्तः अन्द । सुन्दर्जात्-ए मी नू खिरद अक्कीद्-ए अक्कीर-ए सुफस्सिरीन्-ए पहलवी अहद्-ए सासानियान् रा तक्वियत् मीकुनद । जी रा किदरफस्त्-ए ४४ दरफिकरात् १७-२० सुन्दर्ज अस्त, “वदेव्-ए जमिस्तान् दर ईरान वैज तवाना तर अस्त व दर दीन पैदा अस्त कि दर ईरान वैज दहू माह जमिस्तान् व दो माह ताविस्तान् अस्त व ई^७ दो माह ताविस्तान् हमसद अस्त अज् बराय् आव व जमीन् व जियाह ।”

दर फिकरात्-ए मज्कूर विसियार गरीव व नज़र मी रसद कि दर रब्दीफ्-ए मुमालिक् अज्खार अज् मन्हुकत-ए विसियार क्दीम व मशहूर या देन शुद्ः वाशद । हर सूरते कि अज् मुमालिक्-ए हमसाय्-ए आ^८ मानिन्द्-ए सुगद् व मर्व व वल्ख वगैरः यक् यक् नाम धुर्दः शुद् अस्त । व तौर-ए हत्तमी तुवाय् शुक् कि दर फिक्रये मज्कूर अज् ऐरियन वैज^९ हमो क्वारज़म कि खोब-ए हालिय. वाशद इरादः कर्दः अन्द । अस्माँ चू ई^{१०} मन्हुकत न खूत्वीन्-ए इक्कामत गाहू-ए ईरानियाँ बूद. व इस्म कि याद आतुर-ए राज्गार-ए कुहन्-ए आमर्जबूस् बूदः नामीदः शुद् अस्त । दरखुद् अविस्तानीज ई^{११} मन्हुकत व इस्म्-ए माब्रुक-ए खुद खाएरिज़् नामीदः शुद्, व वामर्द व सुगद् दो मन्हुकत-ए हमसायः अशयक् जा आमद । चुनाक दर फिक्रये १४ मिहूर यशूत व दर फिक्रये पेश अज् आ^{१२} याअनी दर फिक्रये १३ हमो यशत खारज़म व मर्व व सुगद् ऐयेशियन याअनी खान व मान या एकामता गाहू-ए ईरानियाय् शिसुर्दः शुद् अन्द ।

गुज़श्तः अज् अविस्ता दलायले चारीखीनीज़ दर दस्त अस्त कि क्वारज़म अज् ज़माने विसियार कुहन अज् ममालिक्-ए मशहूर-ए ईरान ज़मीव व मरकज़-ए तमद्दुने-ए आसियाई मरकज़ी बूदः अस्त । विना व सुन्दर्जात्-ए हरद्त् (Herodotus, 117) पेश अज् वासीस-ए सल्तनत्-ए हखाम्निशियान् याअनी पेश अज् माले

१. राजिअ व नी साय वर तफ्सीर-ए फार्द्-ए अबल बंदीदार दर जिष्ठे जुवामान सुफस्सख् सोहबत ख्वाहेल वास्त । वर ई^२ जा मुक्वसल् मी निगारेन् वर तफ्सीर-ए पहलवी (जंद) रातिआ व आ^३ आमद । “अज् ई^४ कि नी मायः मियान्-ए मर्व व वल्ख कैद शुद् वाराय्-ए ईन अस्त कि मन्हुकत-ए दीगरे हम वहमी इस्म अस्त जमीन्-ए क्दीम बंदी अहल चुनी^५ नामजद वद । अज् आ^६ सुल्. दार्फ-ए जुजुर्ग वर क्तीव-ए विसुन्न अज् यक् नी माय दीगर इस्म जुर्ग^७ गोयद्; ‘मुमाताम्-ए सुल् रा कि व इस्म्-ए बर्धिया पिसर-ए फौरज मल्लतन रा मल्ल कर्द बृहमन ज रा वर यहून् माहू चाग यादी (मुताविक् २६ सिसम्बर २०२ पेश अज् मसीह) वा तज् अज् पैरवान्-ए जुजुर्ग वर क्तिअम्-ए माल् वेर पहलवी निमामियान्क र्वाद् शुद् अस्त । रुज़् शब्द व ईरान् गहर अज् मार्कट् मफ्हा ७८ अय्यानम् मामलिज् २३ १०० कुत्तर पलासन् फोन हेक् मफ्हा ३२ ।

पानसद व पिन्जाह व नुह (५६६ पेश अज़मसीह) खारज्म दाराये नाम व निशान व अहमियत बूदः अस्त । राजेञ्ज बअहमीयत व सुहरत व क़दामते तद्दुन्-ए खारज्म अज़ कुतुब-ए दीनीये ईरानियाव व मुन्दजाते-ए सुवरखीन्-ए कदीम्-ए यूनान शवाहिद्-ए ज़ियाद मीतुवान इकामः नमूद । दर ईं जा मौकये ज़िक्-ए तारीख ईं सर ज़मीन् नोस्त ।

राजिञ्ज व क़दामत्-ए खारज्म सुअत्-ए अबूरैहान बेरुनी दर आसारुल् बाक़ियः (सफ़ा ३५) ज़िक् मी कुनद अज़ ईं कि निज़द्-ए खारज्मियाव वुरुद्-ए सियावुश पिसार्-ए कैकाकस मब्द-ए तारीख बूदः अस्त । व अ़िबारात्-ए दीगर तासीम्-ए अ़िमारत्-ए खारज्म रा कि दर नुह सदव हशताद साल पेश-ए इस्कन्दर मी दानिरतन्द मब्द-ए तारीख मी शुमुर्बन्द । दर सूरेते कि दस्तयाफ़्कन्-ए इस्कन्दररा व ममालिक्-ए शर्कीये ईरान व कुमतः शुदन-ए दारयूश-ए सिवुम् आखिरीन्-ए पादशाह-ए सिलसिलये हख़ामशी रा किदर साल-ए ३३० पेश अज़ मसीह बाकिञ्जि शुदः बशुमार आबुरेम् । तमद्दुन्-ए खारज्म व हजार व सीसद व दह (१३१०) साल पेश अज़ मसीह मीरसद । दर अविस्ता व दर कुतुब-ए दीनीये पहल्लवी ग़ालिबन् बफ़िक़राते वर मी खुरेम् कि गोयाये जम्बये तक्दुस-ए ईरान वैज व रुद्-ए आं दायती मी बासद खाकेस्त महल्ल-ए नुजूल-ए पर्वन्-ए जलाल-ए आहुरामब्दा व ईज़दान यहद्-ए तमद्दुन् व दीन्-ए ईरान अस्त । पैग़म्बर दर किनार्-ए रुद्-ए ईं सरज़मीन् व इलूहाम-ए ग़ौबी रसीद । यलान व नामवरान दर किनार्-ए आबू-ए ईं खाक ईज़दान रा सुबूदः व नज़्ममूदः रुस्तगारी व कामयाबी दरखास्तन्द । अज़ आंजुल्हः दर फ़र्गद्-ए २ वनदीदाद दर फ़िक़रात्-ए २०—३१ आमदः । “अन्जुमन्-ए गिद्-ए अहुरामब्दा व ईं ज़दान-ए मीनूवी दर ईरान वैज मशहूर (दरअंजाये के रुद) नेकदायती अस्त ।

व ईं अन्जुमन् दर आमद्-ए दादार-ए अहूरा मब्दा वा ईज़दान-ए मीनवी दर ईरान वैज-मशहूर नेक दायती अस्त । व ईं अन्जुमन् दर आमद-ए जमशीद्-ए दारिन्द-ए रमये-ए ख़ुव वा बेहतरीन्-ए मुर्दुमान दर ईरान वैज मशहूर (दर आं जाए कि रुद) नेकदायती अस्त ।”

दर फ़िक़रात्-ए बाअद् आमदः कि आहूर मब्दा जमशीद् रा अज़ ज़मिस्तान-ए सख्त-ए आइन्दः व आसेव याफ़्कन्-ए जहान अज़ आं आगाह साख्त व बऊ दस्तूर दाद कि अज़ बरायं निजात याफ़्कन् अज़ बला व रिहानीदन्-ए आफ़रीदगान्-ए ईज़दी वरजिम्कद् बिसाजद् व वा चन्दतन अज़ यारान् व वा रमये अज़ चारपायान्-ए नेक दर आं बाग़ शवद । आविश व तुल्म्-ए गियाहहा व रुई-दनीहा रा नीज व आं जा बुर्दः निगाह दारद ।” दर सुन्नत्-ए ईरानियाव ईं बाग़ दर हमां जाये कि अहूरा मब्दा जमशीद् रा अज़ तुफ़ान्-ए आइन्दः आगाह नमूदः साख्तः शुदः अस्त । दर मोव ख़िरद दरफ़ल्लू-ए ६२ फ़िक्-ए १५ आमदः, “वरजिम्कद् व ईरान वैज दर ज़ेरे-ए ज़मीन् अस्त । दरयस्ना ६ फ़िक्-ए १४ आमदः “न ख़ुस्त ज़रतुस्त-ए नामदार दर ईरान वैज चहार बार यता अहू विसरुद ।” चुनानक् अज़ ईं फ़िक्ये पैदास्त पैग़म्बर दर ईरान वैज मशहूर बूदः व

१. राजिञ्ज व देव मल्कश (महरकश) या देव-ए ज़मिस्तान कि न अंजिलन्-ए तुफ़ान्-ए बह अस्त व बाग़-ए मज़रूफ़-ए वरतकद् कि वताय-ए नूह अस्त व ज़िक्-ए अम्बल यरत हा तफ़सी-ए निगारिदः व सफ़हात् १२२-१२३ सुबाहज़ः शवद ।

नलुस्त दर आँजा व सल्लदन्-ए नमाज़्-ए मञ्जरुफ यता अहू कि अज़् अठभ्रिययं विसिभार शरीफः अस्त लव वि कुशद् ।

हमचुनीं दर फर्गद्-ए १६ बन्दोदाद दर फिकरात्-ए १ व २ आमदः कि अहरामन्-ए तवहकार दीन्-ए दरोग् रा हमराहिम्-ए चन्द दीन्-ए दांगर अज् बराये कुशतन्-ए ज़रतुस्त बरा अज़्जेस्त । ज़रतुस्त दर मुक़ाविल-ए आनान लव व सिताइश्-ए कुशद् । यताअहू विसरुद व आवहाये नेकदायती रा विसुतुद् । ग बदोन्-ए मज्दयस्ना इअतिराफ नमूद । दीन्-ए दरोग् व हमराहानश् शिकस्तयाफ्तः वरगस्तन्द^१ ।

दर बुन्द हिश् दर फल्ल-ए ३२ फिक्रये ३ सुन्दर्ज अस्त, आँ गाह कि ज़रतुस्त दीन्-ए खुद आबुर्द नलुस्त दर ईरान वैज मरासिम्-ए सिताइश् बजा आबुर्द व मद्यू माह अज़्जु दीन् पिज़ीरुफ^२ ।

दर आवान यश्त दर फिकरात्-ए १७ व १८ आफरीदगार-ए अहूरामज्दा दर ईरान-वैज दर किनार-ए रुद्-ए नेक दायती व ईज़द आबू-ए नाहीद दरुद व आफरीन् ख्वोदः दरखास्त कि ज़रतुस्त पिसर्-ए पूरुशसप् रा दर पिन्दार व गुफ़ार व किरदार दोन् दार साज़न । हम चुनीं दर फिकरात्-ए २ व ३ रामयश्त आफरीदगार-ए अहूरामज्दा दर ईरान वैज दर किनार-ए रुदे नेक दायती व ईज़द-ए हवा इन्द् वायु दरुद व आफरीन् ख्वोदः ख्वास्तार शुद कि क्वीर लुदन्-ए अहरीमन् कामर वा गर्दद । दर आवान-ए यश्त दर फिकरात्-ए १०४-१०५ ज़रतुस्त पस् अज् बजा आबुर्दन्-ए मरासिम्-ए सिताइश् दर ईरान वैज दर किनार-ए रुद्-ए दायती नेक दरखास्त कि व दोन दराबुर्दन्-ए कैगुस्तास्प पिसर्-ए छहरास्प कामियाव गर्दद ।

दरफिकरात् २५ व २६ गोश यश्त वैगम्बर-ए ईरान पस् अज़् तकदीम नमूदम्-ए तुजरात्-ए सादी व मअनवीये खुद दर ईरान वैज दर किनार-ए रुद्-ए नेकदायती अज़् फिरितये मुअक्कल-ए चारपायान्-ए सूदमन्द दर्वास्प दरखास्त कि ह्विसुए नेक व आजाद, जन्-ए कैगुस्तास्वरा वेदीन्-ए मदज्यस्ना दर आबुरद व पिन्दार व गुफ़ार व किरदारश् रा मुताविक-ए उसलू-ए दीन् कुन्द^३ ।

ज़रीर पिसर्-ए छहरास्प बिरादर-ए कै गुस्तास्प दर फिकरात् ११२-११३ आवान यश्त व दरफिकरात्-ए २६-३० गोश यश्त दर किनार-ए आबू-ए दायती फिरितगान्-ए यश्तहाय मज़कूररा सुतद् व नज़् तकदीम कर्द, दरखास्तन्द कि व हुमाबुदीन्-ए खुद्-ए अर्जास्पए बादशाह-ए तूरान व ननामबरान्-ए दींगर-ए तूरानी देव-ए यन्मा दस्त थावन्द व दर-यैकार-ए आना पीरोज़मन्द बदर आयन्द^४ । अज़् फिकरात् फौक तअज़्जीम व तकरीम-ए ईरानियान् निस्व व ईरान वैज पैदा अस्त । हम-चुनीं अज़् फिकरात्-ए फौकए क़हरन् क़हनेमा बमशरिक-ए ईरान ज़मीन मुन्वकिल भीशवद् । ई मम्बुकव व रुदस रा दर हमीं हद्दे कि सर ज़मीन्-ए दास्तान-ए मिल्ली व दीन्-ए मज्दयस्नी अस्त थायद तसन्नुर कर्द । मसालिके कि इमरोज़ः

१ रुज़्ज शवद व जिलद २ यश्तहा सफहा ३७-३८ ।

२ मधोमाह पिसर्-ए अम्मय्-ए ज़रतुस्त आव व नलुस्तीद् कस्-ए अस्त कि व वैगम्बर ईमान् आबुर्द । रुज़्ज शवद व जिलद २ यश्तहा सफहा ८० ।

३ व फिक्र-ए ४५ अयं यश्त नीज़ मुलाहज शवद् ।

४ व फिक्र-ए ६१ अर्त यश्तनीज़ मुलाहज शवद् ।

तुकिस्तान-ए रुसियः नामीदः मीशवद व कुल्लीयये मुमालिक-ए शिमाल शर्फी व शर्फीये ईरान् व दर जुज्व-ए आँ किस्के अज् खाक-ए अफगानिस्तान व सरजमीन-ए नश्व व तुमाय-ए दीन-ए ज़रतुश्ती अस्त व हमी ममालिक नीज़ सरजमीन-ए दास्तान-ए मिल्लीये मा व मैदान-ए कारज़ार-ए यलान व नामवरान् अस्त शिमाल-ए ईरान् व खूस-ए अमालत हाय-ए गीलान् व साज़न्दरान् दरतारीख-ए दीनीये ईरान् मस्कन-ए देव हा नामीदः शूदः अस्त । ज़ोरा कि दर ईं सरजमीन् हा दर अरान पेश अज् महाजरत्-ए ईरानियान व आँजा एकामत गाह-ए अक्रबाम-ए गैर-ए आरियाई वूदः व चूँ बदीन्-ए ज़रतुश्ती न वूदः अन्द निज़्द-ए मज़्दयस्नान् दरोगपरस्तान् व पैरवान्-ए देव ख्वाँदः मीशुदः अन्द ।

दर तारीख्-ए दीनी अज् जुन्ब-ए ईरान् अस्ता सोहबते नेस्त अज् हेचक् अज् एयालत—हा व कोहहा व रादेहाये आँ सामान दर कुतब-ए मुकदम नाम व निशाने नेस्त । दर ईं जा बायद मुतजकिर शवेम् कि अज् फ़िक़रात-ए मज्कूर न बायद चुनीं पित्दाश्त कि खुद पैगम्बर अज्मशरिक-ए ईरान् बाशद । चुनान्क-ए दर मुन्नत अस्त । व दलायिल-हम दर दस्त अस्त ज़रतुश्त अज् मगरिब-ए ईरान् वूदः व तरफ-ए मशरिक-ए सरजमीन् अन्जाम-ए मक़ासिद-ए रिसालत-ए ऊस्त व दर वापसीन्नीज़ सोशियन्त हा यअनी मसौरुद मौऊत हाये ज़रतुश्ती अज् मशरिक-ए ईरान् अज्किनार-ए दरिया चहरा हामून दर सीस्तान ज़हूर ख़ाहन्द नमूद ।

अज् यक रियत मुन्दर्जात-ए कुतब-ए पहलवी व पाज़न्द-ए नीज़ बर मो आयदकि ईरान् वैज दर मशरिक-ए ईरान् ज़मीन् अस्त । अज् आँ जुल् दर मौन् ख़िरद फ़स्त-ए ६२ दर फ़िक़रात-ए १२—१४ आमदः—“गङ्ग दिम् दर सरहद्-ए वैमन्द ईरान् वैज अस्त ।” चुनाँकि मौँदानेम् गंग-ए दिज़ बिना बदास्तान-ए मिशळोय् मा साफ़्त-ए सिआउश व पिसर-ए क़ैकाऊस व दामाद्-ए अफ़रासियाब अस्त व गाख़वारज़म पैरामून-ए आँ हर्तिवातेदारद । दर फ़स्त-ए ६२ सैन्ख़िरल दर फ़िक़ये ३१ मुन्दर्ज अस्तः—“गोपतशाह दर ईरान् वैज अन्दर किरतर्-ए ख़ूनी रस् (किश्वर-ए-मक़ज़ी) अस्त ।” दर दादस्तान-ए दीनीक् दर फ़स्त-ए ६० फ़िक़-ए ४ आमदः—“सल्वन-ए गोपतशाह दर कम्पलुत-ए गोपत मुजाविर-ए ईरान् वैज दर किनार-ए आब-ए दामवी मो बाशद ।” दर दीनकर्द दर किताब-ए नहुम् दर फ़स्त-ए १६ फ़िक़-ए १४ आमदः—“गोकपत दर मन्धुकत-ए ख़ारिजः अस्त ।” ख़ीबुद अज् मन्धुकत-ए ख़ारिजः तूरोन इरादः शुद कि दर बालाये ख़वारिज़म वाकिज़ अस्त । ज़ोरा गोपतशाह पुनवान-ए अगरीरस् व पिसरश मो बाशद । चुनाँकि मोदानेम् अगरीरज़ पिसर-ए पुशगं विराद-ए अफ़रासियाब व कसयूज़ सिपह बद्-ए तूरान वूद व अज्नेकाँ शुमुर्द शुदःशुहव्वत-ए मख़सूसी वा ईरानिया दारवत बहमी जुर्म अफ़सियाब करा कुशत । व गुफ़ये बुन्दहिश् दरफ़स्त-ए ३१ फ़िक़-ए २० ‘अज् अगरीमरस् गोपत शाह व जुजुद आमद ।

दर फ़िक़-ए २२ फ़स्त-ए मज्कूर-ए बुन्दहिश् मुन्दर्ज अस्त अफ़रासियाब अगरीरस् रा अज् बराय-ए ख़तायश कुशत दर पादाश ख़ुदावन्द पिसर-ए चूँ गोपतशाह व क दाद ।

खाकि गोपतशाह दर किताब-ए बुन्दहिश् सौकवस्तान नामजद ग़रदीद । दर फ़स्त-ए २६ फ़िक़-ए पेज़ुम्-ए आँमुन्दर्ज अस्त—“अगरीरस पिसर-ए युशङ्क दर मन्धुकत-ए सौकवस्तान अस्त । व करा

गोपतशाह ख्वानन्द ।^१ वृत्ते 'बुन्दहिश' ई^३ मन्धुकत रा तौरै तअरीफे कर्दे. कि वा कुतुब-ए दीगर-ए मजकूर सुवाफिक अस्त । चे दर फस्त-ए २६ फिक्र-ए १३ मीनवीसद—“मन्धुकत-ए सौकबस्तान दर सर-ए राह-ए तुर्किस्तान-ए बसरफ-ए चीन वाकिअ अस्त ।^२ विना व फिकरात-ए फौक ईरानवैज दर अकसा विलाद-ए ईरान जमीन मुजाविर-ए खाक-ए तूरान अस्त । व जौक-ए सलीम नीज चुनी^३ हुक्म मीकुनद कि ई^३ मन्धुकत दर हुमां सामान् वाशद न दर जाथ-ए दीगर ।

०

गुफ्मे बर खिलाफ-ए मजमूअ-ए ई^३ कराइन् कि हमा: मा रा व मशूरिक-ए ईरान सुतबन्ज, मी साजद दर 'बुन्दहिश' सराहतन् ईरान वैज दर तरफ-ए आजरवायजान अस्त । विना व सुन्दजीव-ए हमीं किताब हम दर फस्त-ए २० फिक्र-ए ३२ रुद्-ए दार्जे मानिन्द-ए रुद्-ए दायवी दर ईरानवैज अस्त । दर किनार-ए ओं खान-ए पूर्वशस्प पिदर-ए ज़रतुश्त वूद । व बाज दर फस्त-ए २४ फिक्र-ए १५ हमां किताब आमद—रुद्-ए दारज रद (बुजुर्ग व मर्वर) रुद्-ए वारान् अस्त । ज़ोराकि खान् व मान-ए पिदर-ए ज़रतुश्त दर किनार-ए ओं वूद व ज़रतुश्त दर ओंला जाईद शुद् ।^४ अज़ रुद्-ए दारजे दर खुद अविस्ता व कुतब-ए दीगर-ए पहलवी याद शुद् । अम्मा जिक्कन शुद् कि रुद्-ए ईरान वैज अस्त । दर फर्ग-ए १६ वन्दीदाद दर फिकात् ४ व ११ ई^३ रुद् दरिजा नामीद: शुद् व रुदेस्त कि वर ज़र या वरपुरत^५ व तुलन्दीये ओंखानये पूर्वशूप पिदर-ए ज़रतुश्त वूद । कलिमथ अविस्ताई ज़ब^६ कि दर वन्दीदाद दर फिकात्-ए मजकूर व मअनिये पुश्त व तुलन्दी अस्त । दर बुन्दहिश बार शुद्: कि वमअनिये किनार व सादिल अस्त । दर फस्त-ए २२ जाद सरपरम अज़ मुकालमय-ए हफ्ता अन्शास्पंद वा ज़रतुश्त सुखन रफ़ कि हरयक् नौवत व नौवत वा पैगम्बर गुफ़ व शुनीद दाश्वन्द । दर फिकात्-ए २ ओं आमद^७ कि न खुस्तीन्-ए मुकालमय-ए ज़रतुश्त वा अह्वरामज्दा दर किनार-ए आव-ए दायवी वूद: अस्त । दर फिकरात-ए वअद अज़ मुकालमये अमशास्पन्दान् बहमन व रुदीविशित व शहरवर व सिपन्दार-मज व 'खुरदाद' कि हरयक् दर्जाये मुअय्यने सूत गिरफ़: जिक्क शुद्: अस्त । दर फिक्रये १२ अज़ मुकालमय-ए आखिरीन्-ए अन्शास्पन्द अमरदाद याद शुद्: सुन्दर्ज अस्त—“अमरदाद दर किनार-ए रुद्-ए दार्जे: व दरकिनार-ए आव-ए दायवी व दर जाहाय-ए दीगर बाज़रतुश्त गुफ़्म नभूद ।^८ नजर वई^९ कि दर मुअत कि मुत्तकी व दलायिले लुगवी हम मीबाशद ज़रतुश्त अज़ आज़र वायजान वूद: वायद दार्जे: रा कि दर जवाब-ए ओं पूर्वशस्प पिदर-ए ज़रतुश्त मंजिल दाग़त: वके अज़ रोदहाय-ए ओं सामान् विदानेम् ।

अम्मा रुद्-ए दायवी कि गालिवन् दर अविस्ता व दर कुतुब-ए पहलवी रुद्-ए ईरान वैज फ़ैदशुद्. निज्द-ए दानिशमन्दाने कि ईरान वैज वा अरान् यके दानिस्त शुद् ओंरा व तफ़ावुत-ए आरा दूह अर्म या कुर्व या सुफ़ीद

१ रुद्-ए दार्जे माज़हूम नीस्त कि कुडाम यज़ रुद् हाय् पु आज़रवायजान अस्त । इदले कि जैकमन इग़ खुरुस्-ए

ओं जव रुम्ह शवद व 'तरोशवर दि ग्रोफेट आफ़ पेशियंट ईरान ।' अज़ जैकसन सफ़हा १६४-१६५, 'पशिआ पास्त अज़ प्रेजेण्ट' अज़ जैकसन न्यूयार्क १०६ सफ़हा १६०-१६१ ।

रुद् दानिस्त. अन्द^१ व आनान कि ब फर्गानः सुववजः शुदः वारुद्-ए ज़र अफ़्शान् यके दानिस्तः अन्द दर मुरते कि ईरान् वैज हमां ख्वारकम या खीवः हाखिय. बाशद बायद दायतीरा रुद् 'वा शिकोह-ए आम् दारिया कि जैहून हम गुफ़ः मीशवद बिदानेम । ई' रुद् दर ईरान् वैज ब मब्ज़िल-ए रुद्-ए उर्दुन अस्त दर फलस्तीन् । चू पैगम्बर दर किनार-ए ई' रुद्-ए मुकद्दस् बइल्हाम रसीदः^२ अज़ई जिहव आँरा व इस्म-ए दीनी नामोदः अन्द । दाइत्या अज़ रेश-ए कल्मथ-ए दाव (दाद = कानून) व मअनी मुआफ़िक-ए काअिदः व मुताबिक-ए कानून अस्त । व वहमी मअनी दर तज़कीर दाइत्य कि सिफ़्त अस्त खुद जुदागानः विसियार् दर अविस्ता इस्तिअमाल शुदः अस्त । ई रुद् दर पहलवी दायतीक या दायती गरदीदः अस्त । दायती मुकर्ररन् दर अविस्ता वा मुन्ककत्-ए ईरान् वैज ज़िक्र शुदः व बसा हम बिदून-ए आँ आमदः अस्त । गाहे वा सिफ़्त वन्गुही कि बमअनी बिहू (बिहू) व नीक अस्त आमदः अस्त । व गाहे हम आव-ए दायती नामोदः शुदः अस्त । अज़ हमां सिफ़्त वन्गुही—अस्त कि ई' रुद् दर कुरुन्-ए बुस्ता दर कुतुब-ए पहलवी बिहूरुत (बिहूरुद्) नीज़ नामोदः शुदः व निज्द-ए चीनियाँ नीज़ चुनी ख्वोदः मीशुदः अस्त ।

इस्म-ए अस्ली व ईरानीय-ए ई' रुद् बायद वल्शू बाशद^३ कि वमाप्रनिय-ए फ़ज़ा इन्दः व वालिन्दः अस्त । अज़फ़िअल-ए वल्श कि बमअनिय-ए अफ़ज़ूदन् व वालीदन् व तरक्की कर्दन् दर अविस्ता विसियार् इस्तिअमाल शुदः अस्त । दर सांस्किरीत ऊल्शयन्त व दर पहलवी वल्शोवन् मी वाशद् । कल्म-ए उक़ूस कि निज्द-ए जुग़राफ़ियून-ए कदीम-ए यूनान् व रुम ज़िक्र शुदः अज़ हमी कल्म-ए ईरानी अस्त । निज्द-ए जुग़राफ़ियून-ए इरानी व अरब वल्श सरजमीनेस्त दर किनार-ए जैहून व वल्शाव रुद् बारेअस्त अज़ शुअवात्-ए जैहून । अबूराहान् बेरुनी दर ज़िक्र-ए मोहहवा व ज़अ्रहाय-ए ख़ारज़ियान् मां नवोसद् रोज़-ए दहम् इस्फ़न्द माह निज्द-ए ख़ारज़ियान् ज़रनेस्त नाम ज़द् व वल्शान्मा व वल्श इस्म-ए फ़रिश्त-ए अस्त कि निगहबानीय-ए आव बाक़स । व ख़ूसः इस्म-ए फ़िरश्तय-ए मुअवकैल-ए रुद्-ए जैहून अस्त ।^४ अम्मा इस्म-ए आम् (आम् दारिया = आव-ए नआमूयः) कि इस्म-ए दीगरस्त अज़ बराय-ए रुद्-ए जैहून^५ । आम् या आमूये या आमुल् इस्म-ए यक् कबोलीय-ए

१. कुतुब-ए वैज मुलाहकः शवद्ः—कोमतार डइबर दस अविस्ता ज़ोन २ पीगल ज़ि० १ बीन १८६४ सफ़हा १०-१२, ईरानिय अस्ततुख़ुद् ज़ि० १ सफ़हा २११ व ६८३ व ६६२ नद अविस्ता अज़ दामेस्तेतर, ज़ि० २ सफ़हा २-६, जोरोख़र दि आफ़े आफ़ ऐशियस् हरिन अज़ जैक्सन सफ़हा ४१ व १२३-२७ व २११; अविस्ता ख़ितरात् फ़िलोसोफी, ज़ि० २ सफ़हा ३८ दी गेशिरत ईरान्स अज़ गुस्ती सफ़हा ४०२, दी ईरानियः रिख़ीशियान् अज़ जैक्सन सफ़हा ६२३ ।

२. रुज़्ज़ शवद् व दीनकद् किताब ७ फ़स्त ६, फ़िक़रा १२ व ज़ादसपरस् फ़स्त २१ फ़िक़रा २ ।

३. रुज़्ज़ शवद् व,—ओलीरानियः बुख़र अज़ ग़ायगर सफ़हा ४५, मक़सूल आम् दारिया अज़ बातेख़ि, आसिव-लोये दी व ज़रस्ताम ज़ि० १ ।

४. वल्—यौमुल्—आशिर-ए सिन्दु (दे इस्बंदारमजी = इस्बंद माह) । झीदुज़ लहुज़ मुसम्मा वल्शयाम् व वल्श दुव इस्तुल्—मक़किन्—मुवक्क-ए बिन्माह व ख़ास्ततर् विनहर्-ए जैहून । आसारल् बाक़ियः सफ़हा २३७ ।

५. वीग-ए आमूय व दुकरती राह-ए ऊज़े-ए पायम पविदाव । आयद् हमी । आव-ए जैहू अज़ निशान-ए रुन्-ए वस्त । ख़िग-ए मा रा रा मियाव आयद् हमी (रुदकी) ।

गैर-ए आरियाई बूदः । दर तवरिस्तान् साजिन्दरान्-ए हालिय' । शहर-ए आसुल् व इस्म-ए हमी कवीलः नामजद् गर्दीदः अस्त । अस्तन् इस्म-ए ई कवीलः दर फुर्त् मर्द या आमर्द बूदः कि निब्द-ए मुअर्रि खीन्-ए कदीम-ए थूनान् व रुम (मार्गे ई या अमर्दोइ) नामोद शुदः अस्त । ई कल्म लफ्जन् ?—यअनी मुजिर् व बुखरि' व जिथान् रसान् या विसियार मुजिर् व विसियार मुखरि' व अस्त । इस्कन्दर-ए बुजुर्ग चन्दो वार् वा अनान दर जद् व खर्द बूदः । ताई कि आना रा राम कर्द । बअद् पादशाहू-ए अशूकानी फरादात्-ए अब्बल आना रा अज् ओजा मुहाजरत दाद' दर कफकाज़ जाय दाद । यक् कवीलय-ए दीगर-ए गैर-ए आरियाई मौसूम वतापूर अज् नाहिये तावरान (तस=मशहद) आमद जाय-ए आनारा विगिरिफ् व इस्म-ए खुदरा व ओ सरजमीन् दादः तवरिस्तान् नामोद । इस्मे कि बअद्दा दर रुय-ए मस्कूकात्-ए तापूरिस्तोन् जर्ब शुद' अस्त । शुअवये अज् कवीलय-ए आमर्द अज् मसव्व-ए रुद-ए जैहून व बालातर ब तरफू-ए शर्की साकिन बूद । गहर-ए आसुल् या आमूय दर करून्-ए वुस्त कि इस्मरौज़ ओ मद्दुल्-ए चार्ज नामोद । मोशवद नीज व इस्म-ए ई कवीलः नामजद् गर्दीद । व रुद-ए जैहून व ई मुनासवत् आमू दरिया खोदा शुद अस्त । तापूर हा व कफकाज़ोहा दर जुज्व-ए आ ना मर्दमान-ए अरान् व आमर्दहा अज् साकिनीन्-ए अस्तिय-ए ओ सरजमीन्हा व गैर-ए आरियाई बूदन्द व पस् अज् मुहाजरत-ए ईरानियान् व ओ हुदद तमद्दुन्-ए ईरानी गिरिफ्न्द व व दीन्-ए जतरुती दर आमरन्द' ।

बगुफ्त-ए याकूत जैहून व इस्म-ए शहर-ए जैहान् नामजद् गर्दीद कि बिना व आदत्-ए ईरानियान् दर ई कल्म अलिफ् (1) मुन्कलिब व बाव (?) शुद अस्त । गुफ्तम् दर करून्-ए बुस्ता नहर-ए जैहून रा नीज व रुद मी नामोदन्द । व ई इस्म सिफ्त-ए अविस्ताईय-ए वनगुही कि गालिवन् अज् धराय-ए रुद-ए दायतौ आमद' अस्त मी बाशद् । दर बुन्दहिश् मुकररन् विहरुद (विहरुद) जिक्र शुद अस्त' । याकूल नकल अज् मद्दुल् नमूद मी नवीसत्, इस्म-ए अस्तिय-ए जैहून दर फारसी हरून् मी बाशद् । लावुद ई कल्मा बायद् तहरीफ् शुद-ए विहरुज़ (विहरुद) बाशद् । दर तुसख्-ए मुअर्जमुल्खुल्दाय-ए याकूत चन्दो इस्म-ए खास्-ए दीगर राजिअ व हमी जैहून खराब शुद अस्त । निज्द-ए दमिशकी इस्म-ए ई नेहर व दर रुद नविशते शुद । शक्क नस्त कि ई कल्मा हयाँ विहरुद अस्त' ।

दर अन्जाम-ए मकाल अफज़ूदः गोयेंम अज् मज़मू-ए ओचे राजिअ व ईरान् वैज जिक्र करदेम् व खूवी पैदा अस्त कि ई मन्सुकत हमो ख्वारज़्म या खीव हालिय' व रुद-ए दायता हमो जैहून अस्त दर फिक्र-ए दुवम् अज् फर्गि-ए अब्बल-ए वदीदाद कि जिक्र अश गुज़रत दर रदीफ-ए शान्जद मन्सुकत-ए ईरान्-ए शर्की कि दर ओ फर्गि आमद ख्वारज़्म व इस्म-ए दीनीय-ए खुद ऐरियन् वैजः (ईरान् वैज) याद शुद अस्त । दायरूश-ए

१ रुज्म शवद् तामीज़ात्-ए मार्केट ईरान् शहर बर्लिन १९०७ सफह १२६ व १३६ व ३११, एब्रज्शयन् त्स्वर गेशिम्त फोन ईरान् हिस्सा २ लाइपणीय १०६०२ सफह २७, गय्स्तानीहाय्-ए ईरान् रोमा १९३१ सफह ११० ।

२ रुज्म शवद् व बुदहिग् फलस ७, फिक्रात १६ व १७, फलस २० फिक्रात १३, ४-७, ९, २०, २२, २३, २४ फलस २१ फिक्रात ३ ।

३ ईरान् शहर अज् मार्केट १९७-१९८ ।

बुजुर्ग दरसिह कतीबय-ए-खुद्-थके दर बीसुतून व दोताय-ए दीगर दर फार्स-दर तख्त-ए जमशीद व दर नकश-ए कस्तम दर जुब्ब-ए ममालिक-ए शिमाल शर्की व शर्की कि दर तसर्हफ-ए क बूदः शबीह व फर्गद-ए अब्बल-ए वन्दीदाद अज् हरात व खारज़म व बल्ल व सुगद यवजा नाम मोबरद् हमान तौरै कि दर वन्दीदाद अज् जमिस्तान-ए विसियार सख्त-ए ईरॉन् वैज सखुन् रफ़ः । इस्तख़ी नीज़ ख़ारज़म रा सर्दरीन्-ए अयालत-ए ख़ारज़म नविशत । व इब्नुल् फ़कीह आँ खाक रा सर्द तरीन्-ए ममालिक-ए ईरॉन् ज़मीन् कैद कर्दः अस्त ।

The Aryans and the Indus Valley Civilization

प्रो० डा० आ० बैरिहेल कीथ, एदिनबरा विद्यापीठ

[मोहन जोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से जिस एक अत्यन्त प्राचीन सभ्यता पर प्रकाश पड़ा है उस का सम्बन्ध किस लोगों से है ?]

यह प्राचीन सिन्धु कंठि की सभ्यता यद्यपि पूर्ण रूप से भारतीय है पर इस का सम्बन्ध भारत की अन्य किसी भी ज्ञात सभ्यता से लगाना कठिन है। हड़प्पा से मिली दो प्रतिमाओं का यूनानी कला से अत्यधिक साम्य होना एक आश्चर्य की बात है जिस की कोई उचित व्याख्या अभी नहीं की जा सकती। उस के अलावा इस प्राचीनतम सभ्यता का सम्बन्ध अब तक ज्ञात अन्य किसी भी सभ्यता से नहीं नज़र आता।

लिपि की दृष्टि से सिन्धु-लिपि का सम्बन्ध प्राचीन सुमेर या आदि-युद्धम लिपि से है या नहीं सो कहना कठिन है, पर प्रो० जैज़्डन, हण्टर और गैड आदि सभी का यह मत है कि सुमेर या एलम-लिपि और भाषा का सम्बन्ध सिन्धु से बिल्कुल नहीं। ये दोनों बिल्कुल अलग हैं। इन की तथाकथित थोड़ी-बहुत समानता का कारण दोनों का ही किसी प्राचीन शब्दाश्रय-लिपि या चित्रलिपि से निकलना हो सकता है। अतः इन में समान दिखने वाले अक्षरों की अर्थ-समता भले ही हो ध्वनि कभी एक नहीं। ये लोग आखी को सिन्धुलिपि से ही विकसित मानते हैं, पर इन दोनों लिपियों में भी इतना अन्तर है कि इस बात को सिद्ध करने के लिए बहुत प्रमाणों की आवश्यकता है।

सिन्धु-सभ्यता का सम्बन्ध प्राचीन सुमेर-सभ्यता से किसी तरह भी नहीं माना जा सकता। इस के पक्ष में जो थोड़े-बहुत प्रमाण मिलते हैं उन की व्याख्या पारस्परिक व्यवहार और सम्यक् रहने से हो सकती है।

इस के बाद स्वभावतः प्राचीन द्रविड़ों से सम्बन्ध होने की सम्भावना होती है। इस का कारण है भारत में मुंडों के बाद द्रविड़ वंश का ही सब से पुराना होना। दक्षिण भारत के वरतनों के चिह्नों का भी कुछ साम्य सिन्धु-चिह्नों से है। तथा शैव, शाक्त या तान्त्रिक मत की प्रधानता भी इस बात को सुझाती है। पर अधिकांश विद्वानों का ध्यान आर्यों से इस का सम्बन्ध खोज निकालने की तरफ रहने से, हम प्राचीन आदि-द्रविड़-भाषा या चर्म के बारे में अधिक कुछ नहीं जानते। अभी इस दिशा में अध्ययन की बड़ी आवश्यकता है।

ये लोग आर्य थे या द्रविड़ इस प्रश्न पर कपाळ-मिति से तो कुछ प्रकाश पड़ नहीं सकता। क्योंकि मोहन जोदड़ो से मिले कपाळों में आदि-आग्नेय, भूयस्सागरवर्ती, अर्याइन, एवं महोक्ष वंश के अर्याइन, सभी नमूने पाये जाते हैं।

आर्यों से सम्बन्ध भी किसी तरह सिद्ध नहीं होता। इस भाषा का प्रागैदिक संस्कृत या प्राकृत से सम्बन्ध ईदुना तो ग्रीट द्वीप के अभिलेखों से यूनानी भाषा की खोज की तरह ही अकारण है। शेष इस खुदाई से प्रकट हुए तथ्यों की ऋग्वैदिक ऋचाओं से ध्वनित सभ्यता से तुलना कर के हम किसी परिणाम पर पहुँच सकते हैं। पर सिन्धु-सभ्यता के ऋग्वैदिक सभ्यता से किसी तरह के सम्बन्ध की कल्पना में सब से अधिक बाधक बात आर्यों का उस (३१०० या २००० ई० ५०) काल में भारत में सम्भव न होना है। डा० नरेन्द्रनाथ लाहा ने आर्यों का भारत में इतना पहले रहना सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। पर वाङ्मय का इतिहास इस के खिलाफ़ गवाही देता है। आर्य लोग भारत में क्यादा से क्यादा २००० ई० ५० में आये हो

सकते हैं। ऋग्वेदिक भाषा और धर्म की पारस्परिक समता मुख्य कारण है जो ऋग्वेद का काल बहुत परे नहीं हटने दे सकता। हम जरपुरा का काल ज्यादा से ज्यादा १००० ई० पू० मान सकते हैं। ऋग्वेद के सङ्कलन का काल भी ज्यादा से ज्यादा यही माना जा सकता है। अतः आर्य भारत में ज्यादा से ज्यादा उस से ८०० या हजार बरस और पहले आये होंगे, जब सिन्धु की नागरिक सम्प्रदाय का हास हो चुका था। वे उस के लैङ्गहों और भनावशेषों में ही आये होंगे। अतः उन का कोई भी सम्बन्ध इससे नहीं ज्ञात होता। सर जॉन मार्शल के निम्नलिखित परिणामों में भी यही प्रकट होता है।

१—मोहन जोदड़ो की सम्प्रदाय नागरिक थी। ऋग्वेदिक ऋचाओं के समय की सम्प्रदाय ग्राम्य है। उन में नागरिक जीवन की अभिवृत्ति का प्रमाण नहीं। दृष्टुओं के जिन पुरों का वर्णन आता है वे भी मोहन जोदड़ो जैसे बड़े बड़े नगर थे इन की कोई सम्भावना नहीं। यदि प्राग्वेदिक या वैदिक आर्य ही मोहन जोदड़ो के निमांता थे तो पीछे से वे कैसे बड़े बड़े नगर बनाना शुरू क्यों गये? मर्गासर्गनेस के समय पाटलीपुत्र जैसे नगर का कोट और खाई लकड़ी का होना क्या अर्थ रखता है?

२—ऋग्वेद में मोन का तो काफ़ी वर्णन है पर चाँदी का नहीं। इधर मोहन जोदड़ो में सोने की बजाय चाँदी का चलन ज्यादा देखता है।

३—ऋग्वेद में कवच का और शिरस्त्राण का जिक्र है, गदा का नहीं। पर मोहन जोदड़ो में कवच और शिरस्त्राण अज्ञात हैं, गदा का प्रयोग बहुत ज्ञात होता है। पीछे अश्व और यजु में गदा का निर्देश आता है।

४—सिन्धु लोग मछली खाते थे, पर वैदिक आर्यों के आसिपमोजि होते हुए भी ऋग्वेद में मछली का वाद्य पदार्थ के रूप में निर्देश नहीं है। अतः या तो वे तब तक ऐसे देश में थे जहाँ मछली दुर्लभ थी या मछली खाना निषिद्ध था।

५—मोहन जोदड़ो में घोड़े का अभाव है।

६—शाक्त धर्म की प्रचलना एवं छिदेवता की मुख्य तीर से पूजा, मूर्तिपूजा इत्यादि ऋग्वेद में अभिहित धार्मिक प्रथाओं की अनुसूता। सिन्धु लोग जिस शिव की पूजा करते थे वह ऋग्वेदिक रुद्र से भिन्न है। उस की ममता यहुवैदीय रुद्र तथा पिछले शिव से है, जो रुद्र और अनार्य भावों के मेल से बना है।

७—वाय ऋग्वेद में प्रचल है। मोहन जोदड़ो में वाय की जगह वैल की अधिक महिमा जान पड़ती है।]

The problems which have been set for us by the excavations at Mohenjo-daro and Harappā are at present beyond solution, and it may be hoped that much light will still be shed on them by further excavation, which may reveal the true extent of the culture thus revealed. At present the whole of the questions involved are still largely in dispute. There is even controversy as to the relation between the Indus script and the Sumerian and Proto-Elamitic signs, it has been denied, admitted with doubts, or asserted as certain. But even Dr. Hunter admits¹ that it is probable that the languages are unconnected and that the phonetic value of the signs may well be different. The Sumerian and the Indus signs, on his view, go back to a common ancestor which was in an ideographic or pictographic stage, with the result that any parallels between the signs of its descendants would indicate an ideographic and not a phonetic relationship. Professor Langdon² and Dr. Hunter, however, are in agreement that Bīhmi is derived from the Indus script. But it must be confessed that the proof of this relationship is far from cogent to the eye, and further evidence seems sadly needed, as also for the latter's claim³ that the Sabaeen script, which ultimately explains some of our letters, is to be traced back to the Indus script. Dr. Hunter again claims to

¹ J R A S 1932, p 488

² *Mohenjo-daro and the Indus Civilization*, II 453

³ J R A S 1932, p 498

be able to isolate words, names and concepts, while this is denied, nor is it easy to follow his explanation¹ of accent E as a product of Sandhi, indicating that a syllable properly ending in a soft consonant is to be pronounced with the corresponding hard, and the suggestion that it may well be that the Aryans, on account of this usage, gave it the value of Visarga when they borrowed it. The Aryan action seems incomprehensible, and we shall have to wait for any serious proof of the connection of Brāhmī and the Indus script as a matter of direct descent. It may, of course, be that all these varied scripts ultimately derive from one remote ancestor, and that in that sense Brāhmī and the Indus script are related but the only issue of importance is that of direct descent. Dr. Hunter very wisely rejects the suggestion tentatively made by Mr. Gadd² that we can find Sanskrit *putra*. When we reflect that we are still unable to read a word of the famous Cretan script, it is not to be wondered at if we may long wait for enlightenment on the meaning of the Indus, especially when it is asserted with equal assurance that the script has not been worn down to conventional summaries, and that it has so been worn down.

The origin of this culture remains a mystery. It is natural to suggest that there are close relations with the Sumerians, and to recall the fact that the late Dr. Hall³ conjectured that Sumerians and Dravidians were closely connected. But the fact seems, as often, to disagree with plausible theorising. There seems a remarkable paucity of evidence pointing to Sumerian influence on the Indus valley. While certain seals from the Indus are found in Babylonia, no Babylonian or Sumerian equivalents have been unearthed at Mohenjo-daro, and the traces of influence are of the slightest kind. Moreover communications by sea are rendered dubious by the absence of any proof that the people of Mohenjo-daro, though they used fish, were interested in boats or navigation. Was then the Sumerian civilisation derived from the Indus valley, a suggestion thrown out by Professor Langdon⁴ as possible? But it seems most improbable. Everything suggests that the Indus valley language was different from that of the Sumerians, and the pictographic script seems to have been genuinely Sumerian. Neither the use of painted ware nor of the rectangular brick need be regarded as a borrowing from the Indus valley, and all that is known seems to be sufficiently accounted for by a normal amount of intercourse chiefly from the Indus. This would be rather neatly confirmed if the further excavations in old Sumerian sites should bear out the ingenious conjecture⁵ that the differences of the inscriptions on the square Indus seals and those on

¹ J R A S 1932, p 489. For a more plausible account of the 'accents,' see Professor Thomas, J R A S 1932, p 494.

² *Mohenjo-daro*, n 413, 414.

³ *Ancient History of the Far East* (1912), pp 173, 174. Cf Koth, *Religion and Philosophy of the Veda*, pp 10, 630.

⁴ J R A S 1931, pp 598—6.

⁵ Hunter, J R A S 1932, p 499. There are only three circular seals with Indus scripts to rely on, and these are too few to prove any conclusion.

the circular seals in the Indus script found in Mesopotamia is due to the fact that the former are genuine Indus seals, which reached Mesopotamia by way of trade, and the latter are seals made in Mesopotamia by a Sumerian or Semitic speaking person of Indus descent who, though not speaking his ancestral language, used the sacred signs for sacrificial purposes, engraving his non-Indus names in Indus characters in order that the Indus gods might have no doubt as to the identity of the pious donor. This assumes, of course, that the seals were largely used for the purpose of marking tampons accompanying sacrifices, a conjecture quite plausible¹. But at any rate for the present the effort to connect the Sumerian and Indus valley civilisations seems premature and improbable.

It is inevitable that the question should be posed whether in the people who lived in Mohenjo-daro and Harappā, and presumably in other places in the Indus valley, the Panjab, and even further afield, we are to see early Dravidians or Aryans. The evidence to be derived from the human remains investigated on the basis of the craniological tests, yields no result whatever, beyond what is coming now to be generally expected, the fact of the existence side by side of different skull types. In this case those normally classed as Proto-Australoid, as Mediterranean, as Alpine, and as Alpine of the Mongolian branch, can be recognised. But we have not the slightest evidence to show which of these types, if any, predominated and marked the nature of the population. Moreover, even if we could determine this point, which appears quite out of the question, we should be confronted by the fact that no one can say with the slightest plausibility what was the Aryan type for the period supposed (3250—2750 B C), or what was the Dravidian type.

Comparison of the civilisation with proto-Dravidian and an effort to decipher the language on the basis of proto-Dravidian are naturally suggested by the general view that Dravidian is an ancient element in India, superimposed on Mundā, and by the fact that some marks on South Indian pottery resemble Indus signs, and the apparent prevalence of Āivism at Mohenjo-daro. Unfortunately the fatal obstacle for the time being to serious progress to definite results along this line of research is the lack of real information as to proto-Dravidian language or religion. We have not the slightest evidence to show that Āivism was not taken by Dravidians from an earlier stratum of Indian population other than the Indus valley population, or borrowed from that population. Our lack of information as to Dravidian origins no doubt explains the fact that so much more effort has been devoted to seeking connections between the Aryans and the Indus valley.

Unfortunately so far any effort² to trace the Indus speech to pre-Vedic or old Prakrit has been unsuccessful. At this we need feel no surprise, for the task offers enormous difficulties, and all the efforts to find Greek in the Cretan inscriptions have hitherto failed to satisfy anyone save their authors. The evidence therefore which remains is that of

¹ Hunter, pp 470, 471. But there are other possibilities and no proof yet available.

² E.g. Prān Nāth, J R A S 1931, pp 671—4.

comparison of the civilisation which we infer from the excavations and that which we infer from the early Vedic hymns. The first difficulty here unquestionably is one of chronology. "Neither Sanskritists nor Indo-Europeanists will admit of Indo-Āryans in the Panjab at such a date as 3000 B.C." is a doctrine¹ *prima facie* valid. It is proper therefore that Dr. Narendranath Law in a most valuable communication² on this subject should have definitely set about to establish the probability of an earlier dating for the presence of the Aryans in the Panjab. He rejects as too inconclusive the efforts³ of Professors Jacobi and Tylak to establish the existence of Aryans in India as early as 4500 B.C. or 6000 B.C. and by doing so unquestionably strengthens his argument, for these suggestions, for all their ingenuity can carry no conviction whatever. He relies, however, on the passages in the *Gṛhyasūtras* in which the polar star is pointed out to the bride as a symbol of constancy, and he has, of course, with him in this argument Professor Zimmermann⁴. It is urged that Alpha Draconis was, about 2780 B.C., the only star bright enough to serve the purpose of a polar star. Unhappily this contention, ingenious as it is, carried no real conviction. The *Gṛhyasūtras* are late works, there is no proof whatever that the ritual on this point came down from any early date, and that it should be necessary to find a bright star actually fairly constant seems to make an excessive demand on the needs of the case. All this evidence must, I think, be frankly discarded as having any value whatever, and we must look to the history of the literature and language as affording the sole guide⁵.

In this regard it is necessary to consider the arguments adopted by Dr. Law from Professor Winternitz,⁶ as undoubtedly they afford the best grounds yet adduced for assigning considerable antiquity to the *Rgveda*. It is (1) suggested that a very considerable time must have been occupied by the composition for the texts which are compiled in the present *Saṃhitā*, and that we may have to date the beginning of the development as far back as 2000 or 2500 B.C.⁷ Unfortunately this argument seems to me inconclusive and improbable. Most readily should it be admitted that the *Saṃhitā* presupposes a long period of development, but the number of centuries allowed by Professor Winternitz seems decidedly excessive. We are still very much in the dark regarding the date of the compilation of the *Saṃhitā*. Very possibly it may be placed about 1000 B.C., though the evidence is not very strong. But need we allow more than five hundred years for the development? Or giving a very generous allowance 800 years? The whole matter is one merely for conjecture, but it seems very hard to find any justification for such a date as 2500 B.C. Dr. Law is attracted to it, because he believes in the argument

¹ Thomas, J. R. A. S. 1932, p. 464. Cf. Keith, *Religion and Philosophy of the Veda*, pp. 614—19.

² I. H. Q. viii, 121—64.

³ Cf. Macdonnell and Keith, *Vedic Index*, i, 420—27.

⁴ *Second Selection of Hymns from the Rgveda*, p. cxxx.

⁵ Cf. Keith, *Religion and Philosophy of the Veda*, pp. 3—9.

⁶ *History of Indian Literature*, i, 228ff.

⁷ *Ibid* i, 310.

from the pole star, but if we reject that, as I think we must, the date 2500 seems to be really unjustifiable. But (2) the argument is supported by the repetitions in the *Rgveda* marked out by Professor Bloomfield, and the references in that text to ancient composers of hymns. But here again the repetitions are abundantly accounted for by the admitted fact of a long period of composition, and the earliest seems on any theory were ancient to the latest, and we are not carried beyond 1500 or 1800 BC. (3) The argument from the relation of the religion of the *Rgveda* and of its language to that of the *Avesta* is a serious difficulty in the way of the early dating of the *Rgveda*. Professor Winternitz suggests that the similarity of religion must not be overestimated, because, of course there are many differences of a profound character, and the whole matter can be explained by the fact of the Indians and the Iranians having at one time formed a cultural unity and later having remained in contact despite their distinct development. But the difficulty of language remains serious, especially in view of the view now often asserted that the *Avesta* is of late origin.¹ It is difficult, it is suggested, to suppose that we can place the *Rgveda* perhaps a thousand years before the *Avesta*. In part, of course, this difficulty can be diminished by assuming an earlier date, say 800 or 1000 BC for the epoch of Zoroaster, and this is probably the proper course to adopt as regards his date. It is quite legitimate to stress the fact that we have in the Nineveh inscription² the name *Parśuaś*, Persia, as the land over which Kuraśh was reigning in 630 BC and to adduce the archaic character of this form, which may represent the contemporary usage, as a piece of evidence against pushing back the Gāthās to a remote date. But the fact that in the 9th century the same phonetic form is found used of a district in the north-west of Persia undoubtedly deprives the instance of probative force, for it may well be that the Assyrian records have merely preserved the ninth century spelling. But, taken on the whole, it is better to regard the *Rgveda* as going back at most not beyond 1800 BC for the composition of the earliest hymns, though these, if now contained in the *Samhitā*, have no doubt been in some degree redacted and certainly cannot have been preserved wholly unchanged.

It may therefore be concluded, with reasonable probability, that the Aryans were not in India before or much before 2000 BC, and may have entered a good deal later. But in any case they certainly, on the present evidence, cannot have come into contact with the civilisation of Mohenjo-daro and Harappā as a living force; at the most they may have come across degenerated survivals. With this conclusion accords well the evidence adduced by Sir John Marshall, though no doubt the value of it varies.

(1) There is really no ground to suppose that the Rgvedic Indians had any real acquaintance with cities or city life.³ That their enemies had forts is clear, but there is nothing to compel us to assume that they had anything in the nature of Mohenjo-daro. On the other

¹ See Keith, *Religion and Philosophy of the Veda*, pp 614-16

² H W Bailey, J R A S 1932, p 978, and see p 239

³ Macdonnell and Keith, *Vedic Index*, i 588, 539

hand city civilisation was doubtless decadent when the Aryans appeared. If the Aryans were the people of Mohenjo-daro, it is really impossible to understand how they ceased to be builders of cities of that type, and how Pāṭaliputra even in Megasthenes' time was defended by wooden walls and ditches. But at least we can say that the *Rgveda* must represent Aryans who did not share in such a relatively high form of civilisation as Mohenjo-daro implies. Nor is this in discord with what appears of the geographical position of the Indians of the *Rgveda*, who seem to have in strength at a considerable distance¹ from the main centres of the Indus valley civilisation.

(2) It is certainly striking that silver should be more commonly used than gold in Mohenjo-daro, while the *Rgveda*² which agrees with the Indus valley in ignoring, in all probability, iron, ignores silver, which is known to the *Yajurveda* and the *Atharvaveda*.

(3) There is a clear distinction in the fact that the *Rgveda* knows of the use of the helmet and coat of mail,³ but not of the mace as a weapon of war, while the Indus valley ignores defensive armour but has maces both of metal and stone, and maces are known to the *Yajurveda* and the *Atharvaveda*.

(4) It is certainly noteworthy that the Indus valley folk made use of fish⁴ as an ordinary article of diet, which certainly seems to be contrary to the practice of the Aryans of the *Rgveda*. The fact is the more noteworthy because both peoples were meat eaters, and suggests either that the *Rgveda* Indians dwelt in areas where fish were few and far between, or that for some reason tabu of fish prevailed among them.

(5) The absence of the horse from Mohenjo-daro is of the highest importance as an argument. It seems certainly the most probable view that the Aryans were aided in their conquests and their migrations by the horse and perhaps by their defensive armour. Dr. Law⁵ realises the importance of the argument from the horse, and suggests that it is invalid, because the omission to represent the horse may be accidental, and in any case it is necessary to prove that, assuming the horse were known to the people, there existed the same reasons for placing its representation on seals as in the case of other animals. Neither of these contentions, however, is of much weight. The point regarding the horse is that the *Rgveda*,⁶ shows its essential importance and familiarity, if there should turn out to be representations at Mohenjo-daro, nevertheless, then paucity would certainly suggest that the horse was a rare animal there and not in very normal use, as among the Aryans. Secondly, whatever the purpose of the representations of animals on the seals, it is necessary to suggest some specific reason why

¹ Keith, *Cambridge History of India*, I, 80, 81

² Macdonnell and Keith, *Vedic Index*, I, 197

³ *Ibid.*, II, 271, 272

⁴ *Ibid.*, II, 121

⁵ I H Q, VIII, 180

⁶ Macdonnell and Keith, *Vedic Index*, I, 42, 43

the horse should not be delineated, and Dr. Law has not made any such suggestion, nor does any plausible suggestion present itself.

6. The same considerations apply to the case of the cow, which certainly appears to have possessed for the Indus valley people nothing like the importance of the bull. It is perfectly true that the Vedic Aryans prized the bull, but there seems to be a clear gulf between the civilisations in respect of the cow. If, as seems most probable, the Indus valley civilisation knew the tiger, then the fact that the *Rgveda* does not, is probable to be explained simply by geographical difference of habitat rather than by the hypothesis that the *Rgveda* found no occasion to mention the animal. Nor is it probable that the animal of Mohenjo-daro is merely a hyena.¹ The case of the elephant counts far less. It is clear that it was rather a novelty to the *Rgveda*, but that by the time of the later *Saṃhitās* it had been tamed, in the Indus valley it was better known, but perhaps mainly as an animal used for state purposes², the matter is essentially conjectural.

7. The differences in matters of religion seems to have been considerable. The *Rgvedic* religion is certainly animistic in principle³, the fact that fetiches might exist does not destroy this fundamental feature of the organised cult. On the other hand iconism seems to permeate the Indus valley civilisation, proving a very different outlook. Nor does it seem possible to ignore the importance of the evidence of Çaktism and of the worship of the Mother Goddess in the Indus valley as in Asia-Minor. Dr. Law adduces as a Vedic parallel the case of Prthivī, but it must be admitted that in the *Rgveda* she plays a wholly subordinate and unimportant part⁴. Nor is it illegitimate to regard this predominance of the female divinity as very possibly connected with the stage of society not very happily named matriarchal. The *Rgveda* certainly represents a society which was not in such a stage, and in which it is very hard to find any suggestion of ever having passed through such a stage.⁵ It is, of course, of the highest importance to find such clear evidence of the worship of a god whose characteristics so closely resemble those of Çiva, both in his relation to animals as Paçupati, and in his devotion to Yoga. This is not the Rudra of the *Rgveda*, and it is impossible to resist the conclusion that he is a deity far more closely allied to the Çiva who appears, developed in part from Rudra, in part from contamination with non-Aryan beliefs, in the *Yajurveda* and the *Atharvaveda*.⁶ It is true, of course, that the Indo-Aryans were devoted to Yoga practices, but we cannot prove or render it even probable that this was an Aryan attitude, rather we may accept the current view that Yoga was a doctrine absorbed by Aryans, not introduced by them.

Other matters doubtless admit of less certainty. That the *Rgveda* was opposed to phallus worshippers (*Çignadeva*) is *prima facie* correct,⁷ but it is impossible to prove that those who

¹ Mohenjo-daro, n 867, 388

² *Ibid* n, 388

³ Keith, *Religion and Philosophy of the Veda*, p 68

⁴ *Ibid* p 174 Cf Hopkins *Epic Mythology*, pp 78—81

⁵ Keith, *Cambridge History of India*, 68, 89

⁶ Keith, *Religion and Philosophy of the Veda*, pp 142—50. Hopkins *op cit* pp 210—24

⁷ Cf Keith, *Religion and Philosophy of the Veda*, p 632, N 3

practised such rites were non-Aryans, though, even if Aryans, they may be held to have adopted an un-Aryan practice. What can be said is that this side of religion seems scantily represented in the *Rgveda* and therefore to have played but a minor part in the religion of the *Rgveda*. Again the criticism that in view of the fundamental importance of the god Agni in the *Rgveda* we should expect to find an *Agnikunda* in each Mohenjo-daro home is valid, but not wholly conclusive, for the *Rgveda* does not make it certain that such altars did exist in every house. Nevertheless these pieces of evidence are not negligible, and they do support the general conclusion that the *Rgveda* knew a religion which was not that of the Indus valley people. The same conclusion is certainly suggested by the evidence of a human sacrifice to the earth goddess which is afforded by a representation at Harappā¹ for there is no real trace of human sacrifice in the *Rgveda*². The Indus valley religion is certainly Indian, but there is no reason to suppose that it specifically was Aryan.

The question of the alleged derivation of the Brāhmī script from the Indus valley script has been mentioned above. There is not the slightest reason to suppose that the *Rgveda* knew the use of writing of any kind, and, as noted above, Dr Law adduces oral tradition as one of the causes of the slow development of the Vedic literature. There is at present a complete lacuna between Brāhmī and the Indus valley script, and it will be necessary to fill it up before there can be any certainty of direct derivation. So far such similarities as exist can be adequately explained if it is assumed that Brāhmī is a late outcome of some script which stood in such a relationship to the Indus valley script as is involved in descent from the same ultimate source. Whether even this assumption is necessary remains to be demonstrated. But, however the issue may finally be settled, it does not appear that it would in any way show that the people of the *Rgveda* knew or owed anything to the civilisation of Mohenjo-daro and Harappā. That civilisation, no doubt, whatever its impulse, is largely Indian in character and nature³. But it possesses many curious features which give it distinctive character of its own and prevent us from identifying it with any civilisation known to us in India. In special we have the remarkable use of seals of a distinctive kind, and problems at present defying satisfactory solution are unquestionably presented by the two remarkable statuettes from Harappā which have certain affinities with Greek art.⁴ All the other ancient civilisations revealed by excavation leave us with problems quite unsolved, and it would be unreasonable to expect that decisive explanations should early be possible. But the negative conclusion that the civilisation is not that of the *Rgveda* seems conclusively established.

¹ Accepted as such by Dr Law, I H Q viii 133

² Cf Keith, *op cit* pp 282-4

³ Perhaps we find here the origin of phallism, Hopkins (*Epro Mythology*, p 222, No 1) pointed out the lack of evidence of it among the wild tribes

⁴ Plates v and xi.

वैदिक साहित्ये उद्भिदेर कथा

डा० एकेन्द्रनाथ घोष, पिन्डू० डि०, एम० डि०, कलिकाता

[ऋग्वेद में वदभिद् शब्द पाया जाता है। परन्तु उस का अर्थ वहाँ पौधा नहीं है। वह अर्थ अमरकोश के समय जा कर कहीं आता है। ऋग्वेदिक काल में पौधों के विभिन्न प्रकारों की पहचान थी। साधारण वृक्षों तथा वन-वृक्षों (वनस्पति) में कई बार भेद किया जाता था। छोटे वृक्ष वानस्पत्य कहलाते थे। दो वर्ष में एकने वाले तथा पृथ्वी में कंद या मूल छोड़ने वाले पेड़ शायद 'वीरुष' कहलाते और वार्षिक पौधे ओषधि। चढ़ने वाली लताओं (व्रतति) तथा लिपटने वाली लताओं (लिम्बुन) का भी उल्लेख है। वृष्टियों और वासों की भी पहचान थी।

वृक्ष के विभिन्न भागों का भी पूरा ज्ञान था। जड़, तना, शाखाएँ, वपशालाएँ, कोपल, कलियाँ, पचियाँ, फूल, फल व बीज की भी पहचान की गई थी। पुष्पगुच्छों तथा रसीले फलों का भी वर्णन है। फूटने वाले पौधों का भी उल्लेख है। नीतरी तथा ऊपरी छाल तथा गोंदों का वर्णन भी पाया जाता है।

पेड़ों की लकड़ी तथा अन्य वस्तुएँ आर्थिक तथा औपधिक उपयोगों में काई जाती थी।

लगभग १२६ विभिन्न पौधों का वर्णन वेदों में है, कथाचित कुछ और भी। उन में से कइयों को अब नहीं पहचाना जा सकता]

“वद्भिद्” कथाटि ऋग्वेद (१८.१, ८.६८१, इत्यादि), वाजसनेयि-संहिता (२८.२५) ओ अथर्ववेदे (५.२०.११) थाकिलेओ, इहा गाछेर अर्थे व्यवहृत ह्य नाह। सम्भवत अमरकोपे-इ आमरा इहार “गाछ” अर्थे प्रथम व्यवहार देखि।

वैदिक ग्रन्थगुलिते प्रकार-भेदे गाछेर अनेकगुलि नाम पाओआ जाय : जेसन, वृक्ष (ऋग्वेद, वाजसनेयि-संहिता, अथर्ववेद), द्रुम (केवल निरुक्त ओ पद्भिंशतिनाहाण), वनस्पति (ऋग्वेद, वाजसनेयिसंहिता, अथर्ववेद), गाछेर प्रकार वानस्पत्य (केवल अथर्ववेद), वीरुष, ओषधि, व्रतति, लिबुजा ओ सस। वृक्ष, वनस्पति ओ भेद। वानस्पत्य, एइ तिन कथार अर्थे आमरा “बड गाछ” (tree) मने करि। ऋग्वेदे ‘वृक्ष’ ओ ‘वनस्पति’ शब्द-दुइति एक-संगे व्यवहृत ह्य नाह, सुतरा आमरा मने करिते पारि जे, शब्द-दुइति ऋग्वेदेर समय एकइ अर्थे व्यवहृत हइत। वाजसनेयि-संहिताय (१७.२०) ‘वन हइते’ एव ‘वृक्ष हइते’ कथार एक-संगे उल्लेख आछे, इहात मने ह्य जे, एइ समये वन-जात गाछ हइते ‘वृक्ष’ के भिन्न बलिया धरा हइत। अथर्ववेदे वृक्ष ओ वनस्पति (१०.३.१३), एवं वृक्ष ओ वानस्पत्य शब्देर (१२.१.२७) एक-संगे व्यवहार देखा जाय, किन्तु साधारणतः इहादेर एकत्र उल्लेख नाह, सुतरा मने ह्य जे, काहारओ मते एइ दुइ के पृथक् धरा हइत। व्हिटनी (Whitney) साहेव वनस्पतिके वन्य वृक्ष बलियाछेन। आबार अथर्ववेदे (८.८.१४; १५.६३) वनस्पति ओ वानस्पत्य कथा-दुइति एक-संगे देखा जाय। वानस्पत्य कथाटि अर्थे, ‘वनस्पतिर पुत्र वा पुत्रस्थानीय’ धरिले, आमरा इहाके ‘लुड वृक्ष’ मने करिते पारि। चरके (सूत्रस्थानं) औद्धिद औषध-सकलके चारि भागे भाग करा हइयाछे—वनस्पति (जाहार केवल फल ह्य, सम्भवत लुसुर-जालीय गाछ), वानस्पत्य (जाहार झूल ओ फल उभय-इ थाके), ओषधि (जाहा फल पाकिआ गेले मरिया जाय), ओ वीरुष (जाहा लताइया जाय—प्रवान-विशिष्ट)।

श्रृंगवेदेर तिन स्थले "वृत्त" कथाटि 'गाछ' अर्थे पाओआ जाय । एक स्थाने (४.२०.५) 'पक्' अर्थात् फलवान वृत्तेर उल्लेख आछे । द्वितीय स्थाने (२.१४.२) वृत्तेर कर्तनके इन्द्र द्वारा वृत्रवधेर सहित तुलना करा हइयाछे ।

अन्य एक स्थाने (१.१६४.२२) आदित्यके वृत्तेर सहित तुलना करा हइयाछे । १.१६४.२० वृत्त ।

ते जे वृत्तेर कथा आछे, ताहा "रक्तमासे गठित जडदेह" बलिया मने करा जाय । आबार, 'वृत्त' अर्थे (५.५८.५) दाहमय पेटिकाके वदेश्य करा हइयाछे ।

वाजसनेयिसंहिताय बला हइयाछे जे वृत्तेर उपर युद्धेर अन्न-शस्त्र राखा हइत (१६.५१) । काष्ठ-निर्मित खाटेर उल्लेख आछे (२३.२४) । आबार वृत्तके हरिकेश (भाष्यकार-मते हरितवर्णेर केश अर्थात् पत्रविशिष्ट) बला हइयाछे (१६.४०) । सम्भवतः इहा कोनो सूक्ष्म सूचिकार मत पत्र विशिष्ट वृत्तके (देवदारु वा अन्य कोनो ऐरूप वृत्तके) लक्ष्य करा हइयाछे ।

अथर्ववेदे वृत्तेर स्कन्ध (bunk) हइते शास्त्र-विशालार उत्पत्ति (१०.७.३८), वृत्तेर ऊर्ध्व भावे अवस्थान (४.७.५; ६.४४.१), वृत्तेर सबुज वर्णेर (१०.८.३१) कथा पाओआ जाय । अश्वत्थ (३.६.८), तलाश (६.१५.३), ओ शिंशपाके (६.१२.३) वृत्त बला हइयाछे । आबार वायु द्वारा वृत्तेर पतन (१०.१.१७; १०.३.१५), कुशिका द्वारा वृत्तेर छेदन (२.१२.३) एवं वृत्ते वज्राघातेर (७.५२.१; ७.६१.१; ७.१०४.१४) उल्लेख आछे । वृत्त हइते स्रज् अर्थात् मालाके (१.१४.१) पुष्पविन्यास (Inflorescence) मने करा जाय । पक् अर्थात् फलयुक्त वृत्तेर (२०.१२७.४) उल्लेख एवं फल-पतनेर कथा (६.१२४.२) आछे ।

श्रृंगवेदे वनस्पतिर वदेश्ये बहु स्त्रव आछे (१.६०.८; ५.४१.८; इत्यादि); सुतरां वनस्पति जे बहु कार्यमें व्यवहृत हइत, ताहा बुझिते पारा बाय । इहार काष्ठ ज्वालान हइत (५.७.४), इहार काष्ठ हइते रथ (३.५३.२०; इत्यादि),

वल्लुखल (१.२८.६), यूपकाष्ठ (३.८.१, ६; १०.७०.१०), अरणि (६.१५.२) एवं यज्ञे व्यवहृत वनस्पति ।

बहु द्रव्य प्रस्तुत करा हइत (१०.११०.१०) । वनस्पतिर शतसहस्र शाखार उल्लेख आछे (३.८.११) । बला हइयाछे, मरुद्गणेर आगमने वनस्पतिगण मने आकुल हय (१.१६६.५) ओ निनाद करे (८.२०.५); मरुद्गण ताहादिगके विभुक्त करेन (१.३.५); अर्थात् भटिकाय आलोड़ित हइया वनस्पतिगण उत्पाटित हइत । ताहारा बज्रध्वनिते प्रतिध्वनित हइत । आबार बला हइयाछे जे, पृथिवी वनस्पति-सफलके वृष्टिरे समय धारण करिया थाकेन (५.८४.३; १०.६०.६) । पूषण (६.४८.१७), इन्द्र (३.३४.१०), विश्वेदेवगण (१०.६५.११) एवं अग्निदेव (१.१५७.५) स्त्रवे वनस्पतिगणेर उल्लेख आछे । सोम (१.६१.६; ६.१२.७) ओ अग्नि (१.१३.११; १.१८.१०; इत्यादि) वनस्पति बला हइयाछे । अग्निके वनस्पतिर पुत्रओ बला हइयाछे (८.२३.२५), कारण पुत्र जेसन मृत पितार दाह करे, अग्निओ सेइ रूप काष्ठ दग्ध करे ।

वाजसनेयिसंहिताय वनस्पतिर ऊर्ध्व वृद्धि (४.१०) बहु शाखा (५.४३), ओ सुरबाहु फलेर (२८.१०) उल्लेख आछे । वन्य वृत्तेर काष्ठ हइते बहु द्रव्य प्रस्तुत करा हइत (२०.४५; १०.२३) ।

अथर्ववेदे वनस्पतिके 'बोड्बङ्ग' (अर्थात् स्थूलकाण्ड ओ शाखायुक्त) (६.१२५.१) आ पुष्टियुक्त (१६.३१.६) बला हइयाछे । पृथिवी ताहाके धारण करेन (४.२६.५) । जङ्गल (१.६.३४.६), पलास (३.५.३) ओ वरुण-के (६.८५.१; १०.३.५) वनस्पति बला हइयाछे । वात वृत्त ओ वनस्पतिके भग्न करे (१०.३.१६) । वनस्पतिर जे शाखा-प्रशाखा छेदन करा हय, ताहा वर्धमण्ये वर्धित हय (८.१२.१) । वन्य वृत्तेर काष्ठते बहु द्रव्य प्रस्तुत करा हइत (६.१२५.१ इत्यादि) ।

ऋग्वेदे दशम मण्डले वीरुधेर उल्लेख आछे । सुतरां कथादि आधुनिक सूक्तगुणिर रचनार समय गठित हइयाछिन्ह बलिया मने हय । वाजसनेयिसंहितार दुइ स्थले (१२ ७७; १८.१४) वीरुध् कथादि पाओआ जाय;

एवं वीरुध् ओ ओपधि कथा-दुइदि एक सङ्गे थाकाय, इहादेर अर्थे प्रमेद आछे बलिया मने वीरुध् । करिते पारि । अथर्ववेदेर वहु स्थले (चण्डिका वार हइवे) एइ कथा पाओआ जाय । इहा ओपधि

ओ वृण हइते भिन्न (११.७.२१) ।

ऋग्वेदे (१०.७६.३) वृहत् ओ प्रसर्पी (जाहा मादीर उपर लताइया जाय) वीरुधेर कथा आछे । वीरुध् वर्षाय (१०.४७.६) मने जन्मिय (१०.६१.६) । वीरुध् बालान हइत (१०.४५.४) ।

वाजसनेयिसंहितार टोकाकार महीधर वीरुध्के एक स्थले (१८.१४) एवं अन्य स्थले (१२.६) ओपधि बलियाछेन । उवट (१२.७७ टोकाय) इहार अर्थ करियाछेन 'जाहा व्याधि रोष करे' ।

अथर्ववेदे कथित हइयाछे जे गरर यन्त्र हइते वीरुधेर जन्म हइयाछे (१० १०.२१); सम्भवत ऐ यन्त्र पचिया सार माटीवे परिणत हइले, ताहावे वीरुध् तेंजेंर सहित जन्माय एइ कथा बलाइ उदैश्य । वीरुधेर मूल (८ ७.२३—बराह वीरुधेर मूल जाने, ८.७.२, १२), अग्र (अर्थात् ढगा, ८ ७.१२), मध्य (अर्थात् काण्ड ८ ७.१२), पर्व (पत्र, ८ ७.१२) एवं पुष्पेर (८ ७.१२) उल्लेख पाओआ जाय । आवार इहाके अंशुमती (जाहा रश्मिर मत चारिदिके वर्धित हय), काण्डिनी (जाहार काण्ड, सम्भवत स्फोट दण्ड आछे) अथवा विशाख (अर्थात् शाखाहीन) बला हइयाछे । इहा हइते भेषज वा औषध प्रस्तुत करा हइत (६.५२.३), एइ जन्मइ ओष हय महीयसी बला हइयाछे (८.७.११) । वहु प्रकारे (४.१५.३) एव वहु सख्यक (५ ४.१) वीरुध् देखिते पाओआ जाय । कुष्ठके वीरुध् (५ ४ १) एवं दर्मके एक स्थले वीरुध् (१६.३३.१) आवार अन्य स्थले ओपधि (१६ ३२.३) बला हइयाछे ।

ऋग्वेदे ओपधिर वहु स्तुति आछे (६ ३६.५, ७.४.५), एकदि सूक्तेर (१० ६७) देवताइ ओपधि । ओपधि नदीर जले (७ ५०.३), जलविहीन उब स्थाने (४.३३.७) अथवा भरवत्य ओ पलाश वृत्तेर उपर (१०.६७ ५)

जन्मिया थाके । वर्षाय (५.८३.५) ओ वृष्टिर जले (३.५.८) ओपधि जन्माय । वृष्टिर जल पाइले ओपधि ।

आंषधिगण पुष्प ओ फलयुक्त हय (७.१०१.१) । पुष्पयुक्त वा पुष्पहीन एवं फलयुक्त वा फलहीन ओपधिर उल्लेख आछे (१०.६७.१५) । भरववती, सोमवती, ऊर्जयन्ती ओ उदोजः नामे ओपधिर उल्लेख पाओआ जाय (१०.६७.७), सम्भवतः भरववती भरवगन्धा हइते पारे; सोमवती सोमलता अथवा सोमेर मत स्निग्ध कोनो गाछ, ऊर्जयन्ती कोनो बलकारक गाछ, उदोजः कोनो छत्र वा तेलस्कर गाछ हइवे । मृत्पिकाखनन करिआ ओपधि स्थानान्तरित करा हइत (१.१६६.५), सुतरां ओपधि जे चाष करा हइत, ताहा बुझिते पारा गेल । ओपधि गामी (१०.१६६.१) ओ अरवेर खाद्य (१ १६३ ७) । शुष्क ओपधि हइते बाख प्रस्तुत करा हइत (६.११२ २) । ओपधि आवार बालान हइत (२.४.४) ।

वाजसनेयिसंहिताय ऋग्वेदेर अनेक कथा पुनराय बला हइयाछे । इहावे ओपधिर रसेर उल्लेख आछे (१८ ३६, १६ ३३) । ओपधि हइते पिष्टक (१ २१) ओ पुरोडाश (११ ४३) प्रस्तुत करा हइत । ओपधि औषध रूपेओ व्यवहृत हइत (१२.८०.८४, ८५, ८६) । कुशके ओपधि बला हइयाछे । अथर्ववेदे ओपधिर वहु उल्लेख ओ स्तुति आछे । इहा पर्वत ओ समभूमिते जन्माय (८.७ १७), वर्षाय जन्माय ओ वर्धित हय (४.१५.१६;

८.२.२२ इत्यादि); ओषधिर चापेर कथा पाओआ जाय (३.१७.५; १२.१.२; ४.७.६)। ओषधिर हड़ मूल, विस्तारित मध्यभाग (अर्थात् काण्ड) (६.१३७.३), बीज (८.७.२१) एवं रसेर उल्लेख आछे (२.२४.१; ४.२७.२, ३ इत्यादि)। नाना वर्णेर ओषधिर कथा पाओआ जाय (८.७.१, बङ्ग, शादा, लाल, बिन्दु-चिह्नित ओ काहो)। प्रस्तुती (जाहा चारिदिके छड़ाइयां पड़े), सन्विती (भोंपेर मत), प्रतन्वी (जाहा एकदिके बाड़े), एकशुङ्ग (जाहार एकटिमात्र आवरण थाके—सम्भवतः कचुर पुष्पविन्यासेर आवरण पत्रेर मत पत्र वा Spathe के लक्ष्य करा हइयाछे) एवं बहुपत्रविशिष्ट ओषधिर उल्लेख आछे (८.७.१३)। ओषधि गो, छागल ओ मेघर खाद्य (८.७.२५); ओषधि हइते औषध प्रस्तुत हइत (४.४.२, ३; ४.१७.१), जेसन कुष्ठ (६.२५.३ इत्यादि) ओ अपामार्ग (४.१८.३)। विषाक्त ओषधिरओ उल्लेख आछे (१०.४.२२)। ओषधि हइते शल्य प्रस्तुत हइत (४.६.८)। गुणभेदे ओषधिगणके जीवला (अर्थात् प्रफुल्लतादायक), नषाविषा (जे कोनो क्षति करे ना), जीवन्ती (जीवन-रक्षक), सहस्वती (तेजविशिष्ट) ओ त्रायमाया (सर्वापेक्षा तेजस्कर) बला हइयाछे (८.२.६)। आचार ओषधिके पुनःसरा (जे पुनराय निज अवस्था पाय) बला हइयाछे (४.१७.२); सम्भवतः इहाते मृत्तिका-गर्भस्थ कन्द हइते गाछेर उत्थान निर्देश करा हइयाछे। यव, दर्म, अरुन्धति-लताके ओषधि बला हइयाछे (६.१५.१ इत्यादि)।

आमरा मोटामुटि वीरुधके biennial ओ perennial herb एवं shrub बलिसे पारि। ओषधि इङ्गुराजीते annual herb.

अग्नेदे (८.४०.६) ओ तैत्तिरीयब्राह्मणे (१.१.१.३; इत्यादि) अवतार कथा आछे। निरुक्ते (१.१४; ६.२८) अवति। अवति अर्थे बहो वा लतानिया गाछ बला हइयाछे। सम्भवतः इहा माधवीलतार मत बृहत शाखायुक्त लता हइवे।

अथर्ववेदे (६.८.१; १८.१.१५, १६) बला हइयाछे जे लिबुजा अश्वेर कचबन्धनीर न्याय वृक्ष लिबुजा। के वेष्टन करिया थाके; सुतरां इहा Twining plant वा वेष्टिका लता।

वेद ओ ब्राह्मणे एखेर बहु उल्लेख आछे। अग्नेदे बला हइयाछे जे अश्व ओ गरुके एख खाओआन हइत (१.१६४.४०)। एख दग्ध करिबार कथाओ आछे (३.२६.६)। अथर्ववेदे उक्त हइयाछे जे, एखद्वारा गृहेर एख ओ सस। प्राचीर प्रस्तुत करा हइत (३.१२.५; ८.३.४)। 'शाद' कथाटि अनेक स्थले (श्र० ८.१५.६; बाजसनैयसिं० २५.१) साधारण चासेर अर्थे व्यवहृत हइत। एखगुच्छ के 'सन्ध' बला हइत। एख, विशेषतः दर्भगुच्छके पिठजूल वा पुच्छील बला हइत। एख Gramineae बंशेर जे-कोनो गाछ।

ससशब्द अग्नेदे (१.५१.३; ३.५.६; ४.५.७, इत्यादि) आछे। सायण एक स्थले (१.५१.३) सस अर्थे 'अन्न' करियाछेन। पार्श्वत्य पण्डितगण इहाके herb वा grass मने करेन। इहा 'सस्य' (शस्य—grain) शब्देर पाठान्तर हइते पारे।

उद्दिष्टेरे मिश्र आमरा वेद ब्राह्मणादि ग्रन्थे उद्भिदेर मूल, स्कन्ध, शाखा, बथा, बल्लू, तोकमन, प्रसू, तूक-मिश्र अंश। (वा पुष्पगुच्छ), पुष्प, फल, बीज ओ सस्येर उल्लेख देखिते पाइ। एतद्व्यतीत दाध, दू, बल्क-

वकल ओ निर्वासेर कथाआ पाओआ जाय। वाजसनेयिसंहिता (२२.२८) ओ तैत्तिरीयसंहिताय (७.३.२०.१) एकत्रे अनेकगुलि नाम आछे।

मूल। एइ कथाटि वाजसनेयि संहिता (२२.२८) ओ तैत्तिरीय संहिताय (७.३.२०.१) पाओआ मूल।
जाय। ईहा इङ्गराजीते 100t।

स्कन्ध (तैत्ति० सं० ७.३.२०.१, ऋ० १.३२.५, अथ० १०.७.३८)—गाछेर काण्ड वा गुँडिर अर्थे व्यवहृत हइयाछे। 'स्थाणु' नामे एकटि शब्द ऋग्वेदे (१०.४०.१३) 'विप्र' वा 'धाधा' अर्थे व्यवहृत हइयाछे।

शाखा (ऋ० १.८८; ७.४३.१ इत्यादि; अथ० ३.६.८) ओ वया शब्द (ऋ० २.५.४, ५.१.१ इत्यादि) गाछेर डाल (branch) अर्थे व्यवहृत हइयाछे। फल संग्रह करिबार जन्य वृत्ते आरांहुण करिया शाखा हइते। शाखान्तरे जाइवार कथा आछे (ऋ० २.५.४)। कथा-दुइटि अन्य अर्थेओ व्यवहृत हइयाछे शाखा, वया। जेसन अग्निर शाखा (ऋ० १.५६.१), नदीर शाखा (ऋ० ६.७.६) इत्यादि। नवीन वृत्तेर वया भक्षण करा हइत (ऋ० १०.६४.३)।

वल्गु। वल्गु ऋग्वेद (३.८.११ शतवल्गु, ३.८.११; ७.३.३ इत्यादि सहस्रवल्गु) ओ अथर्ववेदे (६.३०.२) एइ कथाटि 'छुट कोमल शाखा (वा कपि बगा), अर्थे व्यवहृत हइत। इहार इङ्गराजी नाम twig।

तोक्मन (ऋ० १०.६२.८, वाज० सं० १६.१३, २१.३० इत्यादि, मैत्रायणी सं० ३.११.८, तैत्तिरीयब्राह्मण ११.६.४) ऋग्वेदे इहाके 'गाछेर वर्धनशील अंश' बलिवा मने करा जाय। वाजसनेयिसंहितार टीकाकार महीधर इहाके ग्रीहि वा यवेर अङ्कुर वा अङ्कुरित ग्रीहि वा यव मनं करेन। ऐतरेयब्राह्मणे ग्रीहि, महोग्रीहि तोक्मन। प्रसूतिर तोक्मनेर उल्लेख आछे। ताहा हइले आमरा तोक्मनके अङ्कुर (germinating plant) बलिवा मने करिते पारि। म्याकडोनेल एवं कीथ (Macdonell, Keith) तौहांदर वैदिक ईडेक्स इहाके green shoot of any kind of grain बलेन। पासेर अङ्कुरके 'गण्य' बला हइत (वाज० सं० १६.१३; २१.२८; ऐत० ब्रा० ८.५.३ इत्यादि)।

प्रसू (ऋ० १.६५.१०; ७.६.३ इत्यादि; काठकसंहिता ३६.२; तैत्ति० ब्रा० १.६.३.२; शत० ब्रा० २.५.१.१८)। भाष्यकारगण 'प्रसू'के कोमल शाखा वा ताहार अप्रभाग बलिवा मने करेन। प्रसूवरी अर्थे 'फलप्रसविनी'। ओपधिगणके प्रसूवरी बला हइत। 'प्रसू' अर्थे पुष्पमुकुल (जे कुँडि हइते पुष्प जन्माय—flower bud) मने करा जाय।

पर्ण, पत्र (तैत्ति० सं० ७.३.२०.१)। एइ दुइ शब्द पाता अर्थात् leaf अर्थे व्यवहृत हइत। सचराचर पलास वृक्षकेओ पर्ण बला हइत।

पुष्प। पुष्प शब्दटि बहुस्थलेइ पाओआ जाय। इहा फूल वा flower। (अथर्व० १.१४.१) पुष्पमुच्छ-के 'सज्ज' बला हइत। पुष्पेर मालाके garland सज्ज बला हइत। विवाहे मालार व्यवहार छिल।

फल (ऋ० ३.४५.४, १०.६७.१५, अ० ३.१५.४, ६.१२.४ इत्यादि)। इहा fruit। शतपथब्राह्मणे फलकं वृक्ष्य बला हइयाछे (१.१.१.१०)। ऋग्वेदे (१.१६४.२०, श्वेताश्वतरोपनिषद् ४.६.२२, ५.५४.१२) 'पिप्पल' कथाटि रसाल (succulent) फलेर अर्थे व्यवहृत हइत, किन्तु परवती ग्रन्थगुहिले

(बृहदारण्यकोपनिषद् ४.१.४१; शं० ब्रा० ३.७.१.१२) पिप्पलके अश्वत्थेर फूल (fig) बला हवत। वैदिक समये जे फल आहार करा हवत से विषये कोनो सन्देह नाह।

ऋग्वेदे (५.५३.१३) धान्यबीज अर्थात् 'ओषधिगणेर फल' (इङ्गुराजीते Carvopsis—इहा फल, बीज seed नहे) कथाटि पाओआ जाय। ऋग्वेदे (१०.८४.१३; १०.१०१.३) ओ अथर्ववेदे (१०.६.३३) बीजवपनेर उल्लेख बीज। आछे। बीज अर्थे seed। यव, गम, धान्य इत्यादि ओषधिर फल (Carvopsis) एवं सम्भवतः मसुर

बीज। ओ छेला जातीय गाछेर (leguminous plants) बीज 'सस्य' नामे अभिहित हवत (अथ ७.११.१; ८.१०.२४; तै० सं० ३.४.३३ इत्यादि) (corn)। 'धान्य' ओ 'धाना' कथा-दुईटि साधारण 'सस्य' अर्थे व्यवहृत हवत। धाना शब्द बहु स्थले पाओआ जाय (ऋ० १.१६.१; ३.३५.३; ३.४३.४ इत्यादि; अथ० ४.३२.३४; १८.३.६८ इत्यादि)। बहु स्थले 'अद्विधाना' (सायण-मते "भृष्ट यव"—सम्भवतः जे कोनो भृष्ट ओषधिर फल)—कथाटीओ देखिते पाओआ जाय। 'धान्य' कथाओ बहु स्थले आछे (ऋ० ६.१३.४; अथ० ३.२४.२५; इत्यादि)। बृहदारण्यकोपनिषदे (६.३.२२) ग्रीहि, यव, तिल, माषा, अणु, प्रियङ्गु, गोधूम, मसूर, खरव ओ खलकुल—एह दश प्रकार धान्य चाबेर कथा पाओआ जाय। सुतरां, 'धान्य' शब्दे 'क्षुद्र बीज' एवं 'ओषधिर फल' (grain) बुझावत। 'आन्व' (तै० सं० १.८.१०.१; इत्यादि) ओ 'नाम्ब' शब्द (शं० ब्रा० ५.३.३.८) एह अर्थे (grain) व्यवहृत हवत। अति क्षुद्र सस्यके अथर्ववेदे (१०.८.२६) 'कषा' बला हवत। शुष्क सस्य (shrivelled grain) के "पूय वा पूलय" बला हवथाछे (अथ० १४.२.६३)। भृष्ट सस्यके "लाजा" बला हवत (वाज० सं० १८.१३; २१.४२; शं० ब्रा० १२.८.२.७ इत्यादि)। फलवान् ओषधि-गुच्छके 'पर्ष' बला हवत (ऋ० १०.४८.७; निरुक्त ३.१०; शं० ब्रा० १३.४.२.५)। शतपथब्राह्मणे (१२.५.२.३) 'शुम्बल' कथा पाओआ जाय। टीकाकार हरिस्वामी इहाके खड़ (straw) बलेन। सम्भवतः ओषधिगुलि भूमिते निक्षेप करिबार समये सस्यगुलि भरिया पड़िले ओषधिर शुष्क दण्डगुलिके "शुम्बल" बला हवत। 'पलाबा' (पलाबा) कथाटिओ (अथ० २.८.३; ८.६.२; कौशिकसूत्र ८०.२७) खड़-अर्थे व्यवहृत हवत। सस्येर आवरण ओ खोसाके 'तुष' (chaff) बला हवत (अथ० ८.६.१६; ११.१.१२, २८ इत्यादि; ऐतरेयब्राह्मण २.७.८)। तैत्तिरीयसंहिताय (५.२.४.२) आछे तुष ज्वालाइया अग्नि उत्पादन करा हवत, एवं ऐ अग्निते पाक करा हवत (तुषपक)। अथर्ववेद (१२.३.१८) एवं जैमिनीयोपनिषद्-ब्राह्मणे (१.५.४.१) 'पलाबा' कथाटि तुष अर्थे व्यवहृत हवथाछे।

आमरा वृक्षदण्डेर (stem) भिन्न भिन्न अंगेर नाम पाह। काष्ठके 'दारु' ओ 'द्रु' बला हवत। 'दारु' शब्द ऋग्वेदे बहु स्थले, अथर्ववेदे (६.१२.१.२; १०.४.३), ओ ब्राह्मणग्रन्थे पाओआ जाय। आगुन ज्वालाइते काष्ठ व्यवहृत हवत (ऋ० ६.३.४)। काष्ठदण्ड जले भासाइया नदी प्रभृति पार हुओआ जावत (ऋ० १०.१५५.३)। 'द्रु' कथाटि ऋग्वेदे बहु स्थले आछे। प्राय सकल स्थानेह काष्ठ हवते प्रस्तुत द्रव्य (जेसन रथ, नौका, कलस, पादुका इत्यादि) लच्छ करि हवथाछे। (ऋ० १.१६१.१; ५.८६.३; ८.८६.११; ८.११.२; ८.६५.६; ८.८८.२; तै० ब्रा० १.३.८१)। तैत्तिरीयसंहिता (२.५.३.५; ३.७.४.२) एवं तैत्तिरीयब्राह्मण (१.४.७.६) 'वल्क' शब्द पाह। वल्क गाछेर छाल (bark)। तैत्तिरीयब्राह्मण (३.७.४.२) ओ कौशिकब्राह्मणे (१०.२) 'वल्क' कथा देखा जाय। वल्क छालेर भितरेर अंश, इङ्गुराजीते bast। तैत्तिरीयसंहिताय (२.१.५.४) वृक्षेर निर्यासेर (exudation, gum) उल्लेख आछे।

वेद ओ ब्राह्मणादि ग्रन्थे उल्लिखित गाछेर तालिका

(१) अश्व—इहा द्वारा अश्वदे 'सोमलता' के लक्षण करा इह्याछे ।

(२) अजशङ्की—(अ० ४.३०) । अथर्ववेदे टीकाकार ओ रत्नमाला-अभिधानमते इहार अपर नाम 'विषाखी' । चलिख कथाय इहा 'मेघाशङ्की' । म्याकडोनेल एवं कीबेर मते इहा *Odina pinnata* (O woder Roxb) । बेबर साहेबेर मते इहा *Prosopis spicigera* Linn. अथवा *Acacia suma* Ham । शब्दकल्पद्रुमे विषाखी कथाटिसे हुइति गाछु बोकाय—जीववल्ली (बीरकाकोली, चलिख कथाय 'जीशोल'—*Odina pinnata*) एवं अजशङ्की । सुतरां जीववल्ली अजशङ्की नहे । *Prosopis spicigera* Linn. गाछेर संस्कृतनाम शमी, बाङ्गलाय 'शईयाछ', इहाओ अजशङ्की नहे । *Acacia suma* (*Mimosa suma*) के बाङ्गलाय 'सईकांडा' बले, इहार संस्कृतनाम 'सोमवृक्ष', श्वेतखदिर, कटफल'; इहाओ अजशङ्की नहे । ओआट साहेबेर Dictionary of the Economic Products of India र वृत्तीय खण्डे (पृ० १७७) 'Gymnema sylvestre Br. के मेपशङ्की (संस्कृत) ओ मेदुसिंसी (हिन्दी) बला इह्याछे, *Dolichandrone falcata* Seem—केओ मेदुसिं (मध्यप्रदेश), मेपसिंति (बेन्गाल) एवं मेदसिंति (मराठी) बला हय । आमादेर मते *Gymnema sylvestre* Br. अजशङ्की, इहार अपर नाम 'आटाकी' ।

(३) अश्व—(वात० सं० १८२, बृहदारण्यकोप० ६३.१३) (*Panicum miliaceum* Linn) इहार चापेर कथा पाओआ जाय । बाङ्गला नाम 'चिवा' ।

(४) अम्याण्ड—(अम्याण्डा) (श० मा० १३८.१६) । वैदिक इष्टकेसे इहाके *Carpopogon pruriens* (अन्य नाम *Mucuna pruriens* DC) अथवा *Flacourtia cataphracta* Roxb बलिजा मने करा इह्याछे । शब्दकल्पद्रुमे 'अम्याण्डा' अर्थ 'कपिकण्डू' (अर्थात् आलकुरी—अमरकोपमते—*Mucuna pruriens*) एवं 'भूम्यामलकी' (अर्थात् 'हुँद-आमला'—रत्नमालामते—*Phyllanthus niruri* Linn.) मने करा हय । *Flacourtia cataphracta* Roxb. र संस्कृत नाम 'तालीशपत्री' ओ बाङ्गला नाम 'पानियाल' । मेदिनीते आचार तालीशपत्रके (*Abies webbiana* Landle) भूम्यामलकी बला इह्याछे । शतपथब्राह्मणे जे भावे कथाटि न्यबद्ध इह्याछे, ताहाते इहाके 'आलकुरी' मने करा जाय ।

(५) अयामास—(*Achyranthes aspera* Linn) बाजसनेपि-संहिता (३४.११—बीजेर ग्यबहार), अथर्ववेद (४ १७.६; ४.१८.७, ४.१९.४, ७ ६२२) ओ ब्राह्मणे इहार बहुत उल्लेख आछे ।

(६) अमला—(जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण १.६८.६, छान्दोग्योपनिषद् ७.३१), आमलक, आमला (*Embellica officinalis* Gaertner) । फलेर नाम अमलक ।

(७) अमृता (*Glomosa superba* Willd)—साधारण नाम 'उलटचंडाळ, विषलाहुलिषा' । अथर्ववेद (४ ३१ ४) इहार नाम आछे । शिकदेर परिचर्ते कतकुरी कन्द याकाय इहार पद नाम इह्याछे ।

(८) अरुद्र (*Oroxylon indicum* Vent.)—ओनागाछ—इहार कान्ठे रयेर अश्व प्रस्तुत इहूत (अ० ८.७६ २७) ।

(९) आटाकी—अजशङ्की ।

(१०) अरुचती (अथर्ववेद ४ १२१, ४.४.४—१, ६.४६ १, २, ८७.६) । इहा सुवर्णवर्षेर जता, गात्रे सोम आछे; इहा पत्रयुक्त; इहा घुमिटा; इहार अपर नाम 'लाफा' ओ 'सिखाची' । *Capparis harrida* Linn नामक जता सिन्धु ओ पाञ्जावे 'अरुन्द' नामे अभिहित । इहार गाये जल मरिचा (झौहमल) वर्षेर सोम आछे । पातागुलि बढ । जगल ओ हस्ती इहार पल्लव अक्षण करे । पद जता अरुचती इहूते पारे ।

(११) अर्क (*Calotropis gigantea* R. Br) अथर्ववेद (६.७२ १) रतियकि-वृद्धिर' जन्म इहार स्तुति आछे । शतपथब्राह्मणेओ इहार नाम आछे ।

(१२) अलसाता (अथर्ववेद ६.१६.४)—सायण, इहाके एक प्रकार सस्यवृद्धो बलेन । मेदिनीकोषे 'अलसा' अर्थे हंसपदी जता । रत्नमाहाय इहार पर्याय मधुसूना, हंसपदी ओ त्रिपदी । *Adiantum copillus-veneris* Linn. नामक पर्यायिनी (Fern) शुक्रदे 'हंसपदी' नामे ख्यात । इवरोषे इहार डाँडा हइते सिराप प्रस्तुत हय । सम्भवतः इहाइ अलसाता ।

(१३) अलाबु (अ० ८.१०.२६; इत्यादि; मैत्रायणीसंहिता ४ २.१३)—*Lagenaria vulgaris* Ser. इहार बाङ्गला नाम 'लाव' । इहार खोजाय पात्र प्रस्तुत हइत (अ०) ।

(१४) अषका (वाज० सं० १७.४; २२.१; तैत्ति० सं० ४.६.१.१; इत्यादि; अ० ४.३७.८—१०) अपर नाम सेवज, खीपात ।—*Blyxa roxburghii* Rich. (*Vallisneria octandra*) वाङ्गलाय 'रोओला' बले ।

(१५) अश्वगन्धा (शत० ब्रा० १३.८.१.१६)—*Physalis flexuosa* Linn. (*Withania somnifera* Dun.)

(१६) अश्वत्थ (*Ficus religiosa* Linn.)—इहार काष्ठे पात्र प्रस्तुत करा हइत (अ० १.१३२.८; १०.३७.५) । अश्वत्थकाष्ठ ज्वालानशो हइत (अ० ३.६.१; ४.३७.४; ६.११.१, शत० ब्रा० ११.४.१.१३) । इहार सुमिष्टफल पक्षीरा भक्ष्य करे (अ० १.१६४ २०, २२) । अश्वत्थ अमृत्य वृक्षेर उपर (विशेषतः खदिर) जम्पाय, एवं ये सकल वृक्ष मारिया फेले (अ० ३.६.१) । ओषधिगय अश्वत्थवृक्षे उपवेशन करे, एइ सकल गाछ परवृक्षी अर्थात् परमाङ्गा (epiphyte) ।

(१७) अश्ववार, अश्ववाल (मैत्रायणीसंहिता ३.७.६; काठक-संहिता २४.८; शत० ब्रा० ३.४.१.७)—*Saccharum spontaneum* Linn. काश वा केरपा घास ।

(१८) आण्डीक (अ० ४.३२.६; ४.१७. १६)—पैपलादशाखाय आण्डीकेर परिवर्ते 'पुण्डरीक' कथा आछे । पुण्डरीक—रवेतपत्र (*Nelumbium speciosum* Willd, white variety) ।

(१९) आदार—(काठकसंहिता २४.३; शत० ब्रा० २.१०.४; १४.१.१.१२; कात्यायनश्रौतसूत्र २२.१२.१६)—शतपथ-ब्राह्मण्येर टीकाय इहाके पृतिका (पुँइ घाक) बजा हइयाछे । पृतिक देखन ।

(२०) आद्यु (अ० ६.१६.१) अथर्ववेद (Hymns 'of the Atharvaveda) इहाके सरिया गाछ मने करेन । सिंहखी भाषाय सरियाके अरुना बले । सम्भवतः आद्यु कथाटि आर्यभाषार नहे ।

(२१) आमलक—अमला देखन ।

(२२) आम्र—(तैत्ति० सं० १.८.१०.१; श० ब्रा० ४.३.३.८ नामक) इहाके एक प्रकार सस्य मने करा हइयाछे । *Cicer arietinum* Linn. के योग्यहए आम्र ओ शुक्राटे अम्ल बला हय । इहा साधारण जोला । इहाइ आम्र हइने ।

(२३) ह्रीका—वेदिक इन्डेक्समते *Phragmites communis* Tren. । हेमचन्द्रमते इहा काशवृक्ष—*Saccharum spontaneum* Linn. इहाते कुडि (शत० ब्रा० १.१ ४.१६), अगलेर खलाका प्रस्तुत करा हइत । इहार भंगप्रणयतार वल्गेल आछे ।

(२४) बहुम्बर—(*Ficus glomerata* Roxb.) इहार काष्ठ हइते घूप (तैत्ति० सं० २.१.१.६) ओ दर्वी (तैत्ति० सं० ५.४.७.३) प्रस्तुत हइत । इहार काष्ठे कवच हइत (अ० ८.६.१७; १६.३१.६) । इहार काष्ठ नानाविध वनेओ ग्यवहृत हइत (श० ब्रा० ३.२.१.३३; ७.४.१.३८, इत्यादि) । इहार सुमधुर फल (ऐतरेयब्रा० ७.१.५) वस्त्रेर तिव बार करिया पक हय (ऐ० ब्रा० २.२४) । पञ्चविंशतिब्राह्मण्ये (१६.६.४) बहुम्बरेर वनेर वल्गेल आछे ।

(२५) उपवाक अर्थात् इन्द्रयव (*Wrightia tinctoria* R. Br.)—इहा हइते सक्तु (झाहु) एवं करम्भ (दधिमिश्रित सक्तु) प्रस्तुत करा हइत (वाज० सं० १६.२२, २१.३०; श० ब्रा० १२.७.१.३; इत्यादि) ।

(२६) उर्वाक, उर्वाक (अर्थात् काँकड़—*Cucumis melo* Linn. var. *utilissimus*). अथर्ववेद (७.५६.१२), अथर्ववेद (१४.१.१७), वाजसनेयिसंहिता (३.६०) प्रचुरिते इहार वल्गेल आछे ।

(२७) उद्याना (श० ब्रा० ३.४.३.१३, ४.२.५.१२) इहा हइते सोम प्रस्तुत करा हइत । पाङ्गजाये श्वेतसरिपाके (*Eruca sativa* Lam.) उद्यन बला हय । आचार 'उपय' शब्दे मरिच एवं उपया शब्दे पिप्पली (अमर), छुण्डी (राजनिर्वण्ड), एवं चविक (चइ—रत्नमाहा) कुमाय, शत० ब्राह्मण्येर उद्याना 'मरिच' हइने पारे ।

(२८) रत्नपत्र ('बहुलम्'—*Anthistira arundi nacea Roxb.*)—अजवेद, अथर्ववेद प्रस्तुति इहार नाम आछे ।

(२९) प्ररुष—(*Baculus communis Linn.*)—शाङ्खायन-भारण्यके उल्लिखित हइयाछे ।

(३०) औषगन्धि—(अ० २३६.७, ४३०.३)—हुइन्नि साहेब इहाके 'वृषेर मन गन्ध' अथवा 'वृष हइते प्रस्तुत कोनो गन्धद्रव्य' मने करेन । अथर्ववेदे पति पाह्वार जन्म मन्त्रे एवं नामा प्रकार हुन्छ प्रेतात्मार विपक्षे मन्त्रे व्यवहृत हइयाछे । आमरा आयुर्वेदे वृषगन्धा नामे गाछेर नाम पाइ; इहा वीर्यवर्धन ओ गर्भसम्भारो जन्म व्यवहृत हइत । वैज्ञानिक नाम *Algyrea speciosa Sweet* इहा औषगन्धि हइते पारे ।

(३१) कर्ल (Pongamia glabra Vent.) (अ० १.१३.८, १०.४८.८)।—जिम्बर, छुड्मिक्, एवं हिलेग्रान्न् साहेब इहाके इन्ध्रेर शत्रु बनेन । आमादेर मने हय इहा गाछ ।

(३२) करीर (*Capparis aphylla Roth.*) कषादि पलनओ हिन्दीते बलित । (तैत्ति० सं० २.४.३.२ इत्यादि) ।

(३३) ककन्धु (कुलगाड—*Zizyphus jujuba Linn.*) बहुल्यते उल्लेख आछे । इहार फलके कुरल ओ बदर बला हइयाछे ।

(३४) काकम्बीर (अ० ६.४८.१०)—वैदिक इण्डेक्से कोनो गाछ मने करा हइयाछे । आषार 'काकम्बीर' अर्थे 'काकेर आश्रयभूत' हइते पारे ।

(३५) काश (*Saccharum spontaneum*)—तैत्तिरीय-भारण्यके (६.६.१) काश हइते माहुर प्रस्तुतेर कथा आछे ।

(३६) कामर्य (कामरी—*Gmelina arborea Linn.*)—कृष्णयजुर्वेद ओ शतपथब्राह्मणे इहार उल्लेख आछे ।

(३७) कियु (Butea frondosa Roxb) इहार काष्ठे रय प्रस्तुत हइत (अ० १०.८२.२०) ।

(३८) कियाम्बु (अ० १०.१६.१३ = अ० १८.३.६), क्याम्बु (तैत्तिरीय-भारण्यक ६.४.१२) वैदिक इण्डेक्से कोनो प्रकार जलीय गाछ मने करा हइयाछे । सम्भवतः कियाम्बु अर्थे 'किञ्चित् जल' ।

(३९) कसुद (अ० ४.३४.४)—*Nymphaea lotus Linn*

(४०) कुलमाष (छान्द० उप० ११०.२७, निरुक् १.४)—असरकोपे इहाके 'याषक' (बोरक, बरघठि—*Vigna catjang Endl.*) बला हइयाछे, अन्यमते इहा कुलमाष कलाइ—*Dolichos biflorus Linn.* निरुक्ते इहाके अम्बमाष, छान्दोग्य-उपनिषदे टीकाकार इहाके कुरित माष ओ भागवत पुराणेर (५.४.११) टीकाकार कीटकट माष बलिखा-छेन । सम्भवतः मिला वा सिद्ध बरघठि वा कुलमाष कलाइ लक्ष्य करा हइयाछे ।

(४१) कुश (शतपथ ब्रा० २.२.२.१२ इत्यादि) रोड् साहेबेर मते इहा प्रथमतः साबारण घास, परे कुश घास (*Eragrostis cyno surioides Beauv*) बुझाइत ।

(४२) कुट (अ० ५.४.१—१०, ६.२१.१, २; इत्यादि) तक्षम वा म्यालेरिया बरेर निरुक्ते इहार खुति आछे । इहा एक प्रकार ओषधि, तुषारमण्डिल पर्वते जन्माय । इहार मलमेर कथा आछे । वैदिक इण्डेक्से इहाके *Costus speciosus Sm* मने करा हइयाछे । हिलेग्रान्न् साहेबेर मते इहा *Saussurea lappa C. B. Clarke* द्वितीय गाढुटि कामरीर पर्वते प्रभुर परिमार्थे पाओआ जाय, एवं इहार मलम पलनओ रत ओ चर्मरोगे व्यवहृत हय । सुतरा इहा कुट ।

(४३) कुसु (शतपथब्रा० ६.६.२.११, कौकिलसू १६.१०, इत्यादि) कुसु (तैत्ति० सं० ५.१.३.३, तै० ब्रा० १.४.७.३)। *Morus serrata Roxb* पाज्ञावे 'कुसु' ओ 'कुल' नामे परिचित । सम्भवतः इहाइ कुसु ।

(४४) खडिर (*Acacia catechu Willd*) । इहार बहु उल्लेख पाओआ जाय । इहार रज, मारवाज् काष्ठे बहु द्रव्य (मधि, सुव अर्थात् हाता) प्रस्तुत करा हइत ।

(४५) खजुर (तैत्ति० सं० २.४.९.२) *Phoenix sylvestris Roxb*

(४६) खलकुल (बृहदारण्यक ६.३.१३) शङ्कराचार्येर मते कुलमाष कलाइ (*Dolichos biflorus Linn.*)

(४७) खच्च (अ० २.३.१; २.२३.८; बाज० सं० १८.१२; बृहदारण्यकोपनिषद् ६.३.१३) । अथर्ववेदे इहा नांताय गुंठा करिबार कथा आछे । वातसनेयसिंहार टीकाकारे मते इहा चयक (*Cicer arietinum* Linn.) शङ्खुवाचायें मते इहा निम्बार; एवं रसमालाय इहाके श्वेतशिम्वी बला हइयाछे (*Dolichos lablab* Linn.)

(४८) गमुं (तैत्ति० सं० २.४.४.१, २) गमुत् (काठकसंहिता १०.११) । शब्दकल्पद्रुमे गमुं शब्द दुइ गाछे जन्म अवहृत हइयाछे, 'मयना' (*Medicago denticulata* Willd.) एवं 'गङ्गा' गाछ (*Coix lachryma-jobi* Linn.) । गङ्गाङ्ग कुन्वेलाखण्डे 'गण्डुल, गरुन' एवं मध्यप्रदेशे 'गुलु' नामे अभिहित । सम्भवतः वेदेर गमुं गङ्गाङ्ग हइवे ।

(४९) गवीधुक, गवीधुका, गवेधुक । इहा बहु स्थले उल्लिखित हइयाछे । इहाते क्वातु (सक्तु) प्रस्तुत हइत । वैज्ञानिक नाम *Polytoca barbata* Stapf । शब्दकल्पद्रुमे इहाके गरगङ्ग देधान बला हइयाछे ।

(५०) गोधूम (*Triticum vulgare* Vill.) इहा बहु स्थले उल्लिखित हइयाछे । इहाते क्वातु प्रस्तुत हइत ।

(५१) अजिङ्ग (अथर्ववेद २.४; १३.३४, ३५) । अथर्ववेदे इहाके वनस्पति ओ ओषधि दुइइ बला हइयाछे । इहार चापेर कथा पाओआ जाय । कौशिकसूत्रे टीकाकार दारिल इहाके अर्जुन वृक्ष मने करेन । कांचा वा शुष्क हरीतकीके हिन्दुस्थानीते 'जङ्गी हर' बला हय (*Watt's Dictionary of Economic Products*) । सम्भवतः इहाइ अजिङ्ग—*Terminalia chebula* Retz; अर्जुन (*Terminalia arjuna* Bedd.) नहे ।

(५२) जाम्बिल (बाज० सं० ३२.३)—महीधरेर मते इहा जम्बीर अर्थात् नेबु—*Citrus medica acida* Brandis ।

(५३) तण्डुल । बहु स्थले इहार नाम पाओआ जाय । इहा जे केवल ग्रीधि अर्थात् धानेर 'चाल', ताहा नहे । रयामा धानेर (शतपथ ब्रा० १०.६.३.२) ओ अपामार्गेर (छान्दोग्योपनिषद् ५.२.४.५) तण्डुलेर कथा पाओआ जाय । तैत्तिरीयसंहिताय (१.८.६.३) कर्ण-तण्डुल (जाहार कर्ण अर्थात् awn आछे) ओ अकर्ण-तण्डुलेर (जाहार awn नाह) नाम आछे । कर्णतण्डुलके unhusked एवं अकर्णतण्डुलके husked rice बला हइयाछे । आसामे मने हय—कर्ण अर्थे awn । अथर्ववेदे घान चापेर कथा पाओआ जाय ना (*जिम्मरेर Altindisches Leben* देखुन) ।

(५४) तलाय (अ० ६.१५.३), तलीश । बाङ्गलाय पाणिपल—*Flacourtia cataphracta* Roxb.

(५५) ताघीघ (कौशिकसूत्र २५.२३; अ० ५.२३.१५)—टीकाकारमते सर्षप ।

(५६) तिरै, तिल (*Sesamum indicum* DC)—इहा बहुस्थले उल्लिखित हइयाछे । तिलेर डाँटाके तिलपिछ (अ० १२.२.२४), तिलपिछी (अ० २.८.३) बला हइत । इहार काठ बवालान हइत । बला हइयाछे, तिलगाछ हेमन्त ओ शिशिरे जन्माय । तिलेर मण्डके तिलौदब बला हइत; इहा खाद्यरूपे व्यवहृत हइत । तैल (बृहदारण्यकोपनिषद् ६.३.२२) वा तौल (अ० १.७.२) तिलेर तैल; इहा कलसे राखा हइत ।

(५७) तिलवक (मैत्रायणीसंहिता ३.१.९; श० ब्रा० १३.८.१.१६; इत्यादि) । चलिता कपाय 'लोघ' (*Symplocos racemosa* Roxb.)

(५८) तौदी (अ० १०.४.२४) । पाङ्गाले *Matthiola incana* R. Br. के 'तोद्दि' बला हय । इहा कि तौदी ?

(५९) त्रायमाया (अ० ८.२.६) । इहा एक प्रकार ओषधि । बोम्बाइए *Delphinium Zilil* Aitch et Hest के त्रयमान बला हय; इहाओ ओषधि । इहा त्रायमाया हइते पारे ।

(६०) दुम—बहु स्थले पाओआ जाय । अथर्ववेदे इहाके सहस्रपर्णी, शतकाण्ड ओ मूरिमूल बला हइयाछे । इहार हिन्दी नाम 'दम' एवं बाङ्गलाय 'बलु' बले । *Imperata arundinacea* Cynill.

(६१) दुर्वा—बहु स्थले दुर्वा नाम पाओआ जाय । ऋग्वेदे बला हइयाछे जे आर्द्रसूमिते दुर्वा जन्माय, एवं शमशाने इहा रोपन करा हइत । अथर्ववेदे शाण्ड-दुर्वा नाम आछे (१.८.६) । 'शाण्ड' धरिते 'अण्डविशिष्ट' अर्थे करा जाय । ताहा हइले इहाके 'मुधा घास' (*Cyperus rotundus* Linn) मने करा जाइते पारे, कारण इहार सूजे छोट छोट डिमर मत कन्द जन्माय । तैत्तिरीय-आरण्यके 'पाक-दुर्वा' कथा पाओआ जाय । सायण इहाके परिपक्व दुर्वा उल्लिखिअछेन । दुर्वा वैज्ञानिक नाम

Cynodon dactylon Pers । पाकपूर्वा सम्भवतः *Panicum sanguinale* Linn. (*Digitaria sanguinalis* Scop) । साधारण लोके इहाके बड़ भाकारेर दूर्वा मने करे ।

(६२) नग्रोष, न्यग्रोष । इहा बड़ गाड़—*Ficus bengalensis* Linn. इहार कान्ठे यज्ञेर पात्र प्रस्तुत इहत्त । बहु स्थले इहार नाम पाओआ जाय ।

(६३) नद । नामा स्थले इहार नाम पाओआ जाय । इहा हृदे जन्माय, वर्षाय वर्धित इय (अ० ४ १६.१) इहाते मातुर प्रस्तुत इहत्त । नाम *Phragmites karka cincia* Hooker.

(६४) नराचि (अ० ४.११ ४) । 'जाहा नरेर सहित संदिष्ट'—एह अर्थ धरिया इहाके कोन विपाक गाड़ बलिया मने करा इह्याड़े (वैदिक इंडेक्स) ।

(६५) नलद, नलवि, नदं (अ० १ १०२ ३, ४ ३७.३। ऐत० ब्रा० ३ २ ४, शांखा० आरण्यक २१.४) । *Nardostachys jatamansi* D C. ।

(६६) नाम्य—ग्राम्य देखुन ।

(६७) नीवार—(बड़ीधान—इहा वन्य चाम्य, धान्ये भेदमात्र—a variety of rice) । बहु स्थले उल्लिखित इह्याड़े ।

(६८) नीलाकसाडा, नीलागजसाल—सायण इहाके सस्यधल्ली बलेन । आसरा 'नीलबल्ली' नामक गाड़ेर उल्लेख पाइ, इहार साधारण नाम बीदा (*Vanda roxburghii* Br.) । इहा पड़ गाड़ हइते पारे ।

(६९) न्यग्रोष । नग्रोष देखुन ।

(७०) न्यस्तिका (अ० १ १३६.१) । इहाके 'सहस्रपर्णी' बला इह्याड़े । सायण इहाके 'शङ्खुपुष्पिका' बलेन । वैदिक इंडेक्स इहाके *Andropogon aciculatus* Retz. बलिया स्थिर करा इह्याड़े । अमिषाने शङ्खपुष्पी कथा पाओआ जाय; इहा शङ्खाहुली बामेशो ब्यास, चाङ्गलाय 'दानकुनी'—*Canscora decussata* Roem. and Schult. । *Andropogon aciculatus* Retz. शङ्खिनी—शङ्खपुष्पी नहे । इहार बाहला नाम 'बोरकांटा' । सम्भवतः डानकुनीह न्यस्तिका ।

(७१) पर्ण, पलास (*Butea frondosa* Roxb) । पलास गाड़ बहु स्थले उल्लिखित इह्याड़े । इहार कान्ठे आला, चादि, हाता, यूप प्रभृति प्रस्तुत करा इहत्त । इहार छाकभो व्यवहृत इहत्त ।

(७२) पाकपूर्वा—दूर्वा देखुन ।

(७३) पाटा (अ० २.२७.४, कैशिकसूत्र ३७.१, ३८.१५) कैशिकसूत्रेर ठीकाकार इहाके पाटा बलेन । चलि कथाय आकषादि—*Stephania bernandifolia* Walp.

(७४) पीतदाह—पुण्ड्र देखुन ।

(७५) पीका (अ० ४.१७.३) ।—अथर्ववेदे इहाके 'अप्सरा' बला इह्याड़े । *Salvadora persica* Linn. के पीक पला इय । इहार फले तीव्र गन्ध आड़े; छालेभो तीव्र विर्यास आड़े । जे रूपे कयाटि व्यवहृत इह्याड़े, ताहाते पड़ गाड़ हइते पारे ।

(७६) पीछ—(अ० २० १३६.१२), कपोत इहार फल खाय । वैदिक इंडेक्स इहाके *Careya arborea* Roxb. अथवा *Salvadora persica* Linn. साक्षि गेरिके पीछके *Careya arborea* Roxb. बला इह्याड़े । असी भाषाय आवार *Salvadora persica* Linn. के पीछ बले । संस्कृतेभो इहाके पीछ बले । *Careya arborea* र संस्कृत नाम 'कुम्भी' । सुतरां पीछ (अथर्ववेदेर) *Salvadora persica* इषोआह सम्भव ।

(७७) पुण्डरीक—ग्राणीक देखुन । कयाटि बहु स्थले उल्लिखित इह्याड़े ।

(७८) पुष्कर । पद्म—*Nelumbium speciosum* Willd बहु स्थले इहार नाम पाओआ जाय ।

(७९) पत्तीक (डुँडूगाक)—(*Basella rubra* Linn) इहा सोमेर परिवर्ते व्यवहृत हइत। वैदिक इंडेक्से बला इइयाछे जे, *Guilandina* (*Caesalpina*) *bondue* पत्तीक हइते पारे। किन्तु एइ गाऊ हइराजेर राज्यकाले सुमात्राद्वीप हइते भारते आनीत इइयाछिल, सुतरां वेदेर 'पत्तीक' हइते पारे ना।

(८०) पूतदार, पूतदु। बहुस्थले एइ वृक्षेर उल्लेख आछे। इहार फलेरओ उल्लेख पाओआ जाय (तैत्ति० सं० ६.२.८.४), महीचर (वाज० सं० ४.१४) इहाके खादिर, सायण (ऐत० ब्रा० १.२८) उडुम्बर, एवं वैदिक इंडेक्स देवदार (*Pinus devdara* Roxb.) बलेन। अभिषानकारण तिन प्रकार गाऊके पीतदार बलेन—देवदार (अमर), सरल—*Pinus longifolia* Roxb. (रत्नमाला), एवं हरिद्रु अर्थात् दाहहरिद्रु—*Morinda augustifolia* Roxb. 'पीनद्रु' कथाय सरल ओ दाहहरिद्रा बोकाय (अमर)। पूतदु अर्थे पलाश (राजनिषण्ड)। सम्भवतः वेदेर समये पूतदार वा पूतदु देवदार-इ हइवे।

(८१) घुमिपपी। कात्यायनश्रौतसूत्रे (२५.७.१७) टीकाकार इहाके 'गारकलाइ वा रामकुर्छि' (*Glycine hispida* Maxim.) बलेन। अभिषाने इहार बहु नाम पाओआ जाय; चक्षित कथाय 'चाकुलिआ' बले (*Urtica lagopoides* DC.)। वैदिक इंडेक्सेर नामति, *Hemionitis cordifolia*, चक्षित नाइ। इहा चाकुलिआर नाम।

(८२) प्रच, प्लच। इहा पाकुड—*Ficus infectoria* Roxb. बहु स्थले इहार उल्लेख आछे।

(८३) प्रमोय (पन्चविंशतिब्रा० ८.४.१)। इहा सोमेर परिवर्ते व्यवहृत हइत, *Pavetta indica* Linn. नामक गाऊके बोम्बाईए 'पपत्' एवं मराठी भाषाय 'पपदि' बला हय। इहा छोट गुल्म। इहा प्रमोय हइते पारे।

(८४) प्रमन्द (इन्डुक, अम्बलकुचाइ वा पाथरकुचि—*Coleus aromaticus* Benth.) कौमिकसूत्रे उल्लिखित इइयाछे।

(८५) प्रमन्दनि (अ० ४.३७.३) सम्भवतः प्रमन्द।

(८६) प्रियङ्गु (कानि—*Setaria italica* Beauv.) घट्ट स्थले इहार नाम आछे।

(८७) ग्राशुक (शतपथब्राह्मण ४.३.३.२)। शीघ्र वर्द्धनशील कोनो प्रकार घान। बाइलाय फाँपरि घान दुइ मासे पक हय।

(८८) फलवती (पञ्चविंशतिब्रा० ४.२)—टीकाकार इहाके प्रियङ्गु मने करेन।

(८९) वज (अ० ८.६.३, इत्यादि)—सायणेर मते खेतसरिपा (*Brassica alba* Boiss.)।

(९०) वदवज—बहु स्थले उल्लिखित इइयाछे। ऋग्वेदे (८.४२.३) बला इइयाछे जे, इहाते कुट्टि प्रस्तुत करा हइत। काठकसंहिताय इहार यज्ञे व्यवहार एवं स्वाभाविक-काष्ठ-रूपे व्यवहारेर कथा आछे। *Andropogon muricatus* Retz. बेला गाऊ के 'बलबल' बला हय; पुखनओ इहाते मादुर प्रस्तुत करा हय। सम्भवतः इहाइ वदवज।

(९१) भज (गाला—*Cannabis sativa* Linn.) ऋग्वेदे इहाके सोमेर वितेषण करा इइयाछे (सम्भवतः मादकता लक्ष्य करिषा)।

(९२) भूमिपाप (शत० ब्रा० १६.८.१.१६) एक प्रकार आगाछा, जाहा भूमिमे जाकेर मत विस्तृत थाने। इहा भूस्तृण (*Andropogon citratus* DC. अर्थात् गन्धवेणु) हइते पारे।

(९३) मजिष्ठ—(*Rubia cordifolia* Linn.) इहा देतरेयब्राह्मण (३.२.४) ओ शांखायन-आरण्यके (८.७) उल्लिखित इइयाछे।

(९४) मदावति (अ० ६.१६.२)—इहा कोनो मत्तताकारक गाऊ हइवे।

(९५) मसूर। (*Lens esculenta* Moench)। बाजलनेयिसंहिता (१.१८.१२) ओ बृहदारण्यकोपनिषदे (६.३.१२) उल्लिखित इइयाछे।

(९६) मसूर्य (तैत्ति० ब्रा० ३.८.१४.६)—टीकाकारमते एक प्रकार उत्तरदेशीय सस्य—मसूर हइते पारे।

(१०) यव (*Hordeum vulgare* Linn.) वैदिक साहित्ये यव-सम्बन्धे बहु कथा जाना जाय। यव प्रधान खाद्य द्रव्य। ऋग्वेदे यवैर खाद्य, पक्क यव एवं यवैर मराहपुर (कुल्ल) कथा पाओआ जाय। यवै हवय प्रस्तुत करा इहृत। वैदिक इहृक्से बला इहृयाछे जे ऋग्वेदे यव अर्थे साधारण खाद्य द्रव्यमाहृत; किन्तु ऋग्वेदेर ऋक्गुणित पर्यवेक्षण करिया यवके साधारण-सम्बन्ध अने करिबार केनो विशेष प्रमाण पाओआ गेल ना।

(१२) रज्जुवाल, रज्जुवाल (शत० ब्रा० १३.२.२.१.; तैत्ति० ब्रा० ३.८.१३.१) सायणमते इहा रज्जुमातक अर्थात् लसोढा वा बहुवार—*Cordia myxa* Linn। एगेलिङ्ग साहेब (ताहार शतपथब्राह्मणे: इह्रासी अनुवादे) बलेन, इहा *Cordia latifolia* ओ इहृते पारे; किन्तु एह गाछ इह्राजवेर राजत्वकाले भारते आसीत् इहृयाछि। (स्कन्दपुराण Flora Indica)।

(१३) रोहितक (*Andersonia tohitaka* W. and A.)। मैत्रायणी-संहिता (२.३.३) ओ आपस्तम्बश्रौतसूत्रे (१.२.४) इहार उल्लेख आछे।

(१००) वरुण (सिक्क शाक—*Crataeva religiosa* Forst.)। अथर्ववेदे, शतपथब्राह्मणे ओ पञ्चविंशतिब्राह्मणे उल्लिखित इहृयाछे।

(१०१) विम्वरुत (बहुव गाछ—*Flacourtia ramontchi* L'Herit. var. *sapida*) अनेक स्थाने उल्लिखित इहृयाछे।

(१०२) विम्व—(लैमिनीयोपनिषद्भा० ३.२.१)। तेलकूचा—*Cephalandra indica* Nand.

(१०३) विम्व—(*Aegle marmelos* Corr.) बहु स्थले एह गाछ ओ इहार फलेर कथा पाओआ जाय।

(१०४) विषाणका (अ० १.२४.३, ६.८.२०)। इहाके 'वातीकृष्' बला इहृयाछे। 'विषाणका' कथाटि अमिषाने पाओआ जाय ना। शब्दरूपप्रदमे विषाणिका अर्थे (१) मेघशृङ्गी (रत्नमाला), एवं (२) (क) सातला, (ख) कर्कटशृङ्गी ओ (ग) आवतकी (राजनिर्वण्ड) पाओआ जाय। मेघशृङ्गी, अजशृङ्गी एकह गाछ। 'सातला' गाछ चुप (छोटे वृक्ष), लता नहे; बाह्यलाय 'वनरिठा' (*Acacia concinna* DC.)। कर्कटशृङ्गी (*Rhus succedanea* Linn.) एकजातीय छोटे वृक्ष। आवतकी लताविधा गाछ, इहार पर्याय, विन्दुकिरी, विडान्डी, पीतकीलका, चर्मरत्ना, पीतपुष्पा, महाजाली (बन्धुन्तरीय निवण्ड), आवार राजनिवण्डमते इहा रक्तलता, रक्तपुष्पी, महर् आदिबाली, पीतकीला चर्मरत्ना, वामावर्ता, बृहत्स्था ओ गणिसयुता। देला जाइसेछे जे इहार वृक्ष खालवर्षा, गात्रे पीतवर्षे कील वा प्रवर्चन, इहार फल पीत वा लाल। ओआइन्नु साहेब (Hindu System of Medicine ए) सन्देहपूर्वक इहाके *Asclepias geminata* Roxb. बलेन। इहा अजशृङ्गी (आधुनिक वैज्ञानिक नाम *Gymnema sylvestre* Br.)। मदनपाल आवतकीके 'सोनामुली' बलिवाछेन। अथर्ववेदेर विषाणका यदि 'विषाणिकाओ' हय, ताहा इहृले केवटि ताहा विषय करा कठिन। मेघशृङ्गीके आयुर्वेदे 'वातकारक' बला इहृयाछे। विषाणकाके 'वातीकृष्' (वायुप्रकोपक ?) बला इहृयाछे। सम्भवतः मेघशृङ्गी-इ विषाणका।

(१०५) विहलह (अ० १.१६.२) इहाके सरिया गाछेर पिता बला इहृयाछे। सम्भवतः सरिया-इ इहृवे। *Brassica juncea* *agrestis* (*Sinapis patens*) के बाल्लाय 'बिलारह' बले।

(१०६) वीरय, वीरिय (शत० ब्रा० १३.८.१.१५) इहा वरीर घास—वेण, लसूज, *Andropogon squarrosus* Linn.

(१०७) व्रीहि। ऋग्वेद-भिन्न बहु स्थले इहार नाम पाओआ जाय। ऋग्वेदे 'धान्यवीज' (५.२३) साधारण सस्येर बीज बलिवा अने हय। अथर्ववेदेरओ धान्य आमादेर बाल नहे। अन्योन्य सकल स्थानेइ व्रीहि आमादेर धान—*Oryza sativa* Linn। तैत्तिरीय संहिताय कृष्ण ओ रवेत व्रीहिर कथा आछे (१८.१०.१); बला इहृयाछे जे, गरकाले व्रीहि पक्क हय (७.२.१०.३)। कृष्णवर्ण आहुतवर्चनशील बड व्रीहिर कथा पाओआ जाय; इहा 'आठस' धान। अमरकोषे जे वृष्टिक (पटिशालि) बानेर कथा पाओआ जाय, ताहा पाठ दिने पक्क हय।

(१०८) कण [(अ० २.२.२, शत० ब्रा० ३.२.१.११; इत्यादि) इहा *Crotalaria juncea* Linn. इहा अन्न-नहे (वैदिक इहृक्से देवुन)

(१०६) शफक (अथर्ववेद ४.३४.२; आपसम्बन्धितसूत्र ६.१४.१४) इहा कलत्र इदमिदं । सम्भवतः इहा पानीफल (शफक) । इहार फलेर गाथे खुरेर मत बज्जता आछे । इहार सन्ने 'मिस' कयार रखेल आछे । मिस पत्रेर डाँटा ।

(११०) शमी (अ० ६.११.१; इत्यादि) । इहा *Prosopis spicigera* Linn. रोटू बलेन—*Mimosa sama* Kurz. ओ इहते पारे; इहा 'साईकाँटा', शमी नय । अथर्ववेदे इहाके वैशद्य, मादक ओ शतशास्त्रासुक्त बला हइयाछे । इहार काष्ठ यज्ञे व्यवहृत हइत ।

(१११) शमीधान्य (शत० ब्रा० १.१.१.१०) शिम्बीजात सत्यके (seeds of leguminous plants) शमीधान्य बला हइत (अमरकोष; भावप्रकाश) ।

(११२) शालमलि (*Bombax malabaricum* DC.) बहु स्थले विलिखित हइयाछे । इहार काष्ठे रथ प्रस्तुत हइत । इहाके दीर्घतम वृक्ष बला हइयाछे । ऋग्वेदे (३.५३.२२) 'शिवबल' कथा आछे । सायण इहाके शिशुल कुल मने करेन ।

(११३) शर (*Saccharum ciliare* E.D.) इहाते वायवण्ड प्रस्तुत हइत । बहु स्थले इहार रखेल आछे ।

(११४) शालुक (अ० ४.२४.४) । *Nymphaea lotus* Linn.

(११५) शिंशपा (*Dalbergia sissoo* Roxb.) इहा ऋग्वेद (३.५३.१०) ओ अथर्ववेदे (६.१२४.१; २०.१२४.७) विलिखित हइयाछे । इहार काष्ठ व्यवहृत हइत ।

(११६) श्यामक (*Panicum frumentaceum* Thun) इहा बहु स्थले विलिखित हइयाछे । इहा पायराय साय छिल । इहा अति सुदृढ ओ हालका ।

(११७) सर्षप (*Brassica napus* Linn.) बहुविधितिद्राहण (४.२), शांखायनश्रौतसूत्र (४.१५.८) ओ कान्दोग्योपनिषदे (३.१४.३) इहार रखेल आछे ।

(११८) सह (अ० ११.६.१५) । रोटू साहेबेर मते इहा एक रकम गाछ । ब्ल्यूमीड साहेब इहार अर्थ 'बलवान्' मने करेन । सहा 'बला' गाछेर एकटि नाम—*Sida cordifolia* Willd.

(११९) सहदेवा (सामविधानद्राहण), सहदेवी (अ० ६.५६.२) । सहदेवीर आर एक नाम महाबला—*Sida rhombifolia* Linn. सहदेवा सम्भवतः *Vernonia cinerea* Less. इहार बाङ्गला नाम कुकसिम, कालजिरा ।

(१२०) सहमान (अ० २.२५.२.२; इत्यादि)—सायणमते इहार अर्थ 'बलवान्' । वैदिक ईडोसे इहाके गाछ मने करा हइयाछे ।

(१२१) सिद्धाचि—अरुणधती देखुन ।

(१२२) सिद्धाक्षला (अ० ६.१६.४); टीकाकारमते राजाक्षर्य; कौशिकसूत्र २१.१६ शिलाक्षर; केशव (टीकाकार) इहाके सखवली बलेन । अभिधाने शिलाक्षरी नामे छोट वृक्षेर कथा पाओना जाब (*Memocylon edule* Roxb.) ।

(१२३) स्पन्दन—स्पन्दन देखुन ।

(१२४) स्पुर्जक (शत० ब्रा० १३.८.१.१६)—इहा गाब *Diospyros embryopteris* Pers.) ।

(१२५) स्पन्दन (अ० ३.५३.१४)—सम्भवतः *Ougeinia dalbergioides* Benth (हिन्दी स्पन्दन) रोटू साहेब 'स्पन्दन' पाठ धरिया 'रथ' अर्थ करेन ।

(१२६) सत्य (अ० २.११.२; इत्यादि) । चेर साहेब-मते इहा बहुकोण स्फटिक (crystal) । टीकाकार इहाके तिलक वृक्ष बलेन । सम्भवतः *Cleodendron phlomidoides* Linn

(१२७) सैकपर्ण (ऐत० ब्रा० २.६.१५; तैत्ति० ब्रा० ३.६.६.३) सायणमते करवीर पत्रेर आकार । करवीर वृक्षेर एक नाम लेक—*Nerium odorum* Soland.

(१२८) स्वधिति (अ० ५.३२.१०) रोटू साहेब इहाके कोनो बड़ काष्ठविशिष्ट वृक्ष मने करेन । सम्भवतः इहा गाछ-इ नय ।

(१२९) हरिद्रु (शत० ब्रा० १३.८.१.१६) । अभिधानकारण्य इहाके दाहहरिद्रा बलेन । वैदिक ईडोसे देवदारु बला हइयाछे । (शुद्ध देखुन) ।

भारतीय संस्कृति का सूत्रपात

अध्यापक डा० श्री सुनीतिकुमार चटर्जी, एम० ए०, डी० लिट०, कलकत्ता-विरवविद्यालय

हम लोग अपनी भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के अति प्राचीनत्व के सम्बन्ध में विशेष रूप से सचेत हैं। प्राचीन इतिहास की जिन्होंने ने भली भाँति चर्चा नहीं की, परन्तु जिन्होंने ने साधारण शिष्टा पाई है, ऐसी हिन्दू-सन्तान इस बात को स्वतः-सिद्ध समझने में अभ्यस्त है, कि सारी दुनिया में सभ्यता का प्रथम प्रकाश हमारे इस भारतवर्ष में ही हुआ और इस प्राचीनतम सभ्यता का सूत्रपात हमारे आर्य पूर्वजों में हुआ था। जगत में सभ्यता का उद्भव आर्यों की मनीषा का फल है, सभ्यता के कारण जो कुछ कृतित्व मिलना है, वह आर्यों को मिलना चाहिए, और इस के बाद, हम लोग आर्यों के वंशधर हैं, इसलिए हम लोग भी इस कृतित्व के उत्तराधिकारी हैं। हमारी हिन्दू जाति की अति-प्राचीनता के विषय में एक बारखा या संस्कार बचपन से हमारी नसों में जा बैठता है। पुराण की कहानियों में सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि—इन चार युगों की बात हम पढ़ते हैं, वह कितने लाख वर्ष की बात है। यदि लाखों वर्षों की बात न भी सही, तो नि सन्देह हजारों वर्ष की बात तो माननी ही पड़ेगी।

हम लोगों में जिन्होंने ने थोड़ी-सी आधुनिक शिष्टा को प्राप्त किया है, साधारणतः इस बात को एक प्रकार से मान लिया है कि भारतवर्ष के बाहर के किसी एक स्थान से सहस्रों वर्ष पहले आर्य लोग इस देश में आ कर बसे, और उस के बाद हिन्दू सभ्यता की प्रतिष्ठा इन आर्यों ने की। जिन को केवल प्राचीन शिष्टा मिली, अथवा जो प्रायः सिर्फ संस्कृत की चर्चा करते हैं, वे इस बात पर ध्यान देने की कुछ भी ज़रूरत नहीं समझते, या किसी ज़रूरत को स्वीकार भी नहीं करते,—उन के लिए भारतवर्ष ही आर्य जाति की पितृभूमि है,—भारत के बाहर के किसी स्थान से कसो आर्य लोग यहाँ आए, ऐसा सोचना इन के विचार में एक असम्भव कल्पना है। भारत के बाहर से आर्य लोग आए थे या नहीं, इस अवसर पर इस विषय की कुछ आलोचना हम नहीं करेंगे। सिर्फ इतना ही हम कह सकते हैं कि भारत के बाहर ही से आर्यों का यहाँ आगमन हुआ था, ऐसे मतवाद को हम मानते हैं। बाहर से आर्य लोग भारत में आए थे, यह विचार विगत छठीसवीं सदी के मध्य भाग से यूरोप के कई भाषाशास्त्रियों के लेख में प्रकट होने और रूप ग्रहण करने लगा।

इंग्लैंड में बसे हुए जर्मन पंडित फ्रेडरिक माक्स-म्यूलर ने ही अपने लेखों और पुस्तकों में इस विचार को फैलाया। माक्स-म्यूलर ने और उन के अनुयायी कई विद्वानों ने ऐसा अनुमान किया कि आज-कल के समय से चार हजार वर्ष पूर्व मध्य-एशिया में आर्य जाति वास करती थी, वहाँ प्राकृतिक विपर्यय था और दूसरी किसी घटना के वश आर्य लोगों का वास करना असम्भव हो गया, इसी से वे पश्चिम और दक्षिण के विभिन्न देशों में फैल गए। उन के कुछ भुंड यूरोप में गए, और वहाँ रूस, ग्रीस, इटली, जर्मनी,

फ़्रान्स प्रभृति देश में उपनिविष्ट हुए। इन सब देशों के अधिवासी स्लाव, ग्रीक, इटालीय, त्यूतन, केल्त जाति के लोग इन ही के वंशधर हैं। मध्य-एशिया से आर्यों का एक झुंड दक्षिण में आया, वह ईरान में उपविष्ट हुआ, फिर ईरान से उस का कुछ अंश भारतवर्ष में पधारा, इस से भारतीय आर्यों की उत्पत्ति हुई, जिन्होंने वेद के सूक्त रचे, जो कि भारतीय सभ्यता की जड़ हैं। विज्ञान तथा इतिहास के और विचार तथा मतवाद के साथ यह मतवाद भी यथासमय भारतवर्ष में आ पहुँचा, और अंगरेज़ी-शिक्षित भारतीय लोगों ने बिना प्रतिवाद किए उसे ग्रहण किया। यूरोप में अंगरेज़ और अन्य यूरोपीय जातियों के पढ़े-लिखे लोगों में इस मतवाद की प्रतिष्ठा तुरन्त हुई। संस्कृत, प्राचीन ईरानी, अग्नेयी—एशिया-खंड की तीन सुसभ्य जातियों की ये तीन प्राचीन भाषाएँ, तथा यूरोप की प्रायः कुल जातियों की भाषाएँ—यथा ग्रीक, लातीन, प्राचीन स्लाव, अलबानी, फेल्ट्, त्यूतन,—ये सब एक अधुना-विलुप्त मूल या आदि आर्य-भाषा से उत्पन्न हुई। विगत षन्तीसवें शतक के प्रथमार्द्ध में तुलना-मूलक भाषा-तत्त्व-विद्या ने इस तथ्य को निरूपित किया। जब एक “आदि आर्य-भाषा” मानी गई, तब इस की बोलने वाली एक “आदि आर्य-जाति” को भी मानना पड़ा, और साथ साथ यह भी स्वीकार करना पड़ा कि किसी प्राचीन समय में कहीं न कहीं यह जाति वास करती थी। जो लोग इस समय विभिन्न आर्य-भाषाएँ बोलते हैं, वे ज़रूर उन्हीं आदि आर्यों के वंशधर हैं, और वे आजकल दुनिया की सब से अधिक सभ्य जाति गिने जाते हैं। इस के अलावा, प्राचीन जातियों में हिन्दू, पारसीक, ग्रीक, रोमन इत्यादि आर्यभाषी कई जातियाँ भी सभ्यता के विषय में निहायत उन्नत थीं। इस से, आदि आर्य जाति के लोग भी सुसभ्य थे, ऐसा अनुमान करने में आधुनिक आर्य-जातीय अथवा “आर्यम्नन्” लोगो को कुछ अन्तराय नहीं प्रतीत हुआ। इस “आर्यवाद” को यूरोपीय पंडितों ने आहिस्ता आहिस्ता स्थापित और सुगठित किया। देखा गया कि यूरोप के आधुनिक जातियों के लोग तमाम पृथिवी पर फैल गए—पुर्तगैज़, हिस्पानी, ओलन्दाज़, अंगरेज़, फ़्रान्सीसी, जर्मन, स्कान्दिनावीय लोगों ने अफ्रीका, एशिया, अमरीका, आस्ट्रेलिया इन सब महादेशों में सर्वत्र यूरोप की सभ्यता का प्रचार किया; बिना ज़्यादाह तकलीफ़ उठाए हुए वे लोग उन सुल्कों में अपनी अप्रतिद्वंद्वी प्रतिष्ठा को खड़ा कर, स्थानीय “नेटिव्” लोगों पर आधिपत्य कर रहे हैं,—उन “नेटिव्” लोगों को सुसभ्य बना रहे हैं (यह तो यूरोपीय विजेताओं की कहीं बात है)—और जब देखते हैं कि “नेटिव्” लोगों का अवस्थान अपनी जाति के लिए असुविधा-जनक है, अब्बा जब वैसा करना आवश्यक समझते हैं, तब उनका समूल उच्छेद भी करते हैं—कई देशों में उच्छेद कर भी चुके। वे “आर्यवाद” के मामले पर, “एक ही इतिहास विभिन्न काल में पुनरावृत्त होता है” (History repeats itself) इस अर्ध-सत्य वचन को काम में लाए। इस समय आर्यभाषी लोग जैसा करते हैं, प्राचीन काल में इन के पूर्वजों ने वैसा ही किया था—इस प्रकार का अनुमान पंडितों ने उपस्थापित किया। इस समय के यूरोपियन आर्यभाषी लोगों के सदृश, सुसभ्य श्वेतवर्ण सुन्दरकान्ति प्राचीन आर्य लोग अपनी पिढ़भूमि से फैल गये; नाना असभ्य या अर्ध-सभ्य जातियों के देशों पर जा कर, आर्यों ने बिना श्रम के उन्हें जीत लिया, सभ्यता के आलोक से उन्हें जंगली बर्बर अवस्था से उन्नत कर मनुष्यपद-वाच्य बनाया, प्राकृतिक तथा ऐतिहासिक कारकों से उन्हें जंगली बर्बर अवस्था से उन्नत कर मनुष्यपद-वाच्य बनाया, प्राकृतिक तथा ऐतिहासिक कारकों से ग्रीस, इटली, भारतवर्ष प्रभृति देशों में नए बसे हुए आर्यों ने नई नई सभ्यता की श्रुति की। ऐसा व्यापार विशेषतया भारतवर्ष में हुआ था। इस भारतवर्ष में कृष्णकाय असभ्य जंगली अनार्य लोग रहते थे, इन में सभ्य जीवन सभ्य चिंतन कुछ भी न था। आर्य लोग आये। वे अनार्यों से

बहुत उन्नत थे; यह तो स्वतःसिद्ध बात है कि आर्य लोग उन्हें पराजित कर उनके शासक बन बैठते—और ऐसा तो होना ही चाहिए था। चंद अनार्य, आर्य लोगों के कब्जे में आए, उन्होंने आर्यों को मान लिया, वे आर्यों के अधीन हुए, आर्यों के दास बने, आर्यों ने कृपा कर के अपने समाज में उन्हें एक निम्न स्थान दिया, और वे “शूद्र” कहलाए। किन्तु वहुशः अनार्य लोग आर्यों के हाथ मारे गए। और जिन्होंने आर्यों की अधीनता को स्वीकार नहीं किया, वे पहाड़ और जंगल में भाग गए, जहाँ कि इन के वंशज, आज-कल के कोल-भोल-मान्ताल-कुर्कु, गोड़-कन्ध-उराव-मालेर, गारो-बोडो-कुकी-नागा अब तक जंगली अवस्था में रहते हैं। सैकड़ों वर्ष पहले भारत में जो आर्य लोग आर्य थे, वे यूरोप के आर्य लोगों के पूर्वजों के सम्बन्धी थे, इस विचार से, भारत के उच्चवर्णीय हिन्दू, जो कि अपने को विशुद्ध आर्यवंशीय मोच कर मन ही मन अभिमान रखते हैं, अंगरेज और दूसरे यूरोपीय गण के स्वर्गीय होने—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये सब अंग्रेजों के दूर-सम्पर्कीय हम-नस्ल या ज्ञाति साबित हुए। ऐसी बात भारत के उच्चवर्ण के लोगों को बुरी न लगी (यह भी याद रखना चाहिए कि उच्चवर्णीय हिन्दू सब से पहले अंगरेजी पढ़ने लगे)। ऐसा प्रतीत होता है कि अंगरेज लोग, जो भारत पर शासन करते हैं, हम उन्हीं के समान हैं, क्योंकि हम उन की हम-नस्ल हैं, —इस विचार से उच्चवर्णीय हिन्दुओं के मन के निश्चित कोण में आनन्द का दिखोल-सा बहा। पर इस मनोभाव का स्पष्ट भाषा में जाहिर कर भारतीय जातीय आत्म-सम्मान-बोध पर डहा मारने को कोई तैयार न था। अंगरेजों ने भी इस सम्पर्क को किसी प्रकार से मान लिया, और भारतवर्ष के ब्राह्मण तथा और उच्चवर्ण के हिन्दुओं को (और उन के अनुयायी निम्नश्रेणी के हिन्दू लोगों को भी), our Aryan brother the mild Hindu ऐसी आख्या दे कर उन की पीठ ठोकी; और अंगरेजों की तुच्छता-बोधमित्र डम उदारता से हमारे वहुत-से लोग आनन्द से लोट-पोट हो गये।

हमारी हिन्दू-जाति विभिन्न जातियों के मिश्रण का फल है। प्राचीन काल में अनुलोम-प्रतिलोम विवाह-द्वारा यह संमिश्रण हुआ था। इस के बाद, तुर्कों के हिन्दुस्तान-विजय के उत्तर काल से, जाति-भेद की कठोरता आ गई, संमिश्रण पूरा नष्ट हो सका। इस का नतीजा यह निकला कि हिन्दुओं के विभिन्न समाज या सम्प्रदायों में एक प्रकार का स्वातन्त्र्य-बोध रह गया, कहीं कहीं नई तीर से यह स्वातन्त्र्य-बोध आ गया, विभिन्न श्रेणियों में एक अबाध sympathy या अनुकम्पा का अभाव नवीन रूप से प्रकट हुआ। अनुकम्पा का यह अभाव आधुनिक हिन्दू संसार का मज से बड़ा अभाव है। इस स्वातन्त्र्य या पार्थक्य-बोध के फल-स्वरूप, जो अपने आर्यत्व का अभिमान रखते हैं ऐसे उच्चवर्णीय हिन्दुओं के मन में आभिजात्य-बोध भी और सुदृढ़ हुआ, यूरोप से लाई हुई अनार्य-जन्मी आर्यों की कल्पना ने उसे सहायता दी।

इस सुखद दृढ़ से हिन्दू-सभ्यता के सूत्रपात का इतिहास तैयार हुआ। कृष्ण-वर्ण कृत्स्न-काय असभ्य वर्ग अनार्य जाति स्मरणातीत काल से इस देश में रहती थी। इस जाति का धर्म निहायत निम्न स्तर का था, इस की रीति और नीति क्रूर थी। गौरवर्ण सुसभ्य आर्यों ने आ कर इसे जीत लिया। आर्यों के हाथ हिन्दू-सभ्यता का प्रारम्भ हुआ। पहले युग के आर्यों की देवताओं की आराधना को अवलम्बन कर वेद-संहिता बनी, इस के उत्तर काल में उन्हीं की देवताओं की कथाओं पर पुराण ग्रन्थ बने, रामायण, महाभारत और पुराण आर्य राजाओं की पौराणिक कहानी-विषयक पुस्तकें हैं। अनार्य लोगों का धर्म और धार्मिक अनुष्ठान एक-आध

ग्राम्य अनुष्ठान या आख्यान के बीच किसी प्रकारे श्रेद्धा सा रह गया,—निम्न-जातियों में प्रचलित पूजा-पद्धति और देवतावाद में नष्ट-प्राय अनार्य-धर्म चाहे कहीं आत्मगोपन कर के रहता हो, परन्तु इस के कुछ चिह्न आर्य-सभ्यता के प्लावन के सामने मिट गए।

इस समय अनार्यों के सम्बन्ध से भारतवर्ष में, विशेष कर के उत्तर-भारत में, एक प्रकार की घृणा का भाव आ गया है। “अनार्य” शब्द ही इस के लिए बहुत अंश में उत्तरदायी है। यदि “अनार्य” शब्द केवल “अन्-आर्य” अर्थात् “जो आर्य नहीं, या आर्य-जाति-सम्पर्कित नहीं” इस अर्थ में प्रयुक्त होता, तो कुछ बात न थी; परन्तु “अनार्य” शब्द का “घृण्य, नीच” ऐसा अर्थ संस्कृत-युग से आ जाने के कारण, यह शब्द सिर्फ जाति-वाचक या संस्कृति-वाचक न रहा, यह मानसिक तथा नैतिक अपकर्ष-वाचक हो गया। इस वक्त हमारे आर्यावर्त में हिन्दुओं की सब जातियाँ आर्यत्व का दावा पेश कर रही हैं—सब जातियों की राय है कि वे आर्य—द्विज—हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, या वैश्य—वे शूद्र नहीं, अनार्य नहीं। हिन्दुओं के समस्त समाज समान द्विज हो, आर्य हों या अभिजात हो, अपने को उच्च समझ यथार्थ रूप से उच्च रहने की शक्ति को प्राप्त करें—आर्यान्तर्य सब ही के लिए हम यह हार्दिक कामना करते हैं।

आर्यों की श्रेष्ठता के विरुद्ध प्रश्न उठाना ही आजकल हिन्दू जाति में heresy या पाक्षिकोचित मनोभाव-प्रसूत चिन्ता का फल समझा जायगा। आर्य लोग पृथिवी की प्राचीनतम सभ्य जाति न थे, ऐसी बात कहना, अथवा ऐसी बात का इङ्कित करना, पितृपुरुष की निन्दा करना जैसा या स्वजाति-द्रोहिता जैसा महापातक है—इस प्रकार का मनोभाव, बहुत-से हिन्दुओं के मन में जान से या अनजान से परिणामित है। पर हिन्दू के मन में “सत्यानुसन्धित्सा” (अर्थात् सत्य-निरूपण के लिए अभिलाषा) भी सदा जाग्रत रहती है। हमारे विचार में तीन मनोभाव हमारी हिन्दू-संस्कृति के जड़ हैं—समन्वय, सत्यानुसन्धित्सा और अहिंसा। हमारी जाति की अतीत जीवन में जो कुछ आध्यात्मिक तथा आधिमानसिक उत्कर्ष मिला, इसी सत्यानुसन्धित्सा की बदौलत। हमारी सत्यानुसन्धित्सा-रूप मनोवृत्ति अभी तक सम्पूर्ण रूप से विनष्ट नहीं हुई। इसी से, सत्य की खोज के कारण अगर कुछ संस्कार-विरुद्ध विचार हिन्दू-सन्तान के समक्ष प्रकट किये जायें, तो चाहे पहले-पहल प्रचलित संस्कार पर कुछ आघात भले ही लगे, परन्तु साधारण हिन्दू प्रस्तुत मामले को अच्छी तरह से समझना चाहता हो है—नूतन तथा सम्पूर्ण रूप से अनपेक्षित होने के कारण ही प्रस्तावित विचार से घृणा नहीं करता और न अन्त तक उस से विमुख हो रह जाता है।

आर्य भाषा संस्कृत का स्थान भारतवर्ष में आर्यों के एकाधिपत्य के पक्ष में प्रबलतम युक्ति स्वरूप है—समग्र हिन्दू-शास्त्र इस आर्य-भाषा ही में निबद्ध हैं। उत्तर-भारत में इस वक्त एक ही आर्य भाषा (पंजाबी, हिन्दी, बिहारी, बंगाला आदि) प्रचलित है। आर्य एकाधिपत्य के विषय में यह दूसरी प्रबल युक्ति है। इस के अलावा संस्कृत शास्त्र के—वेद के न हो, पुराण के सही—मत के अनुसार हमारा इतिहास भारतवर्ष में अनादि काल से धारावाहिक रूप से चला आया है—अनादि काल से अगर न माना जाय तो भी अतिशय प्राचीन काल से तो है ही। भाषा-गत और साहित्य-गत इन दो युक्तियों ने हमें सब से अधिकतया “आर्यवाद”—अस्त बना रक्खा है।

इन युक्तियों के प्रतिपक्ष में कई युक्तियाँ हैं, जिन में मुख्य ये हैं—दाक्षिणात्य तथा दक्षिण-भारत में सुसभ्य अनार्य भाषा का अस्तित्व, संस्कृत-समेत उत्तर-भारत की आर्य-भाषाओं में औत्तम्य भाव से विद्यमान अनार्य

भाषा का प्रभाव; ख्रीष्ट-पूर्व चतुर्थ शतक के पूर्वकालीन समय के आर्यभाषी हिन्दुओं की संस्कृति के निर्दर्शन न मिलना, भारत के बाहर आर्य-जाति का इतिहास, और पृथिवी के और प्राचीन स्थानों के इतिहास से भारत के इतिहास का संयोग।

तामिल भाषा अपने विराट् और प्राचीन साहित्य के साथ दक्षिण भारत में खड़ी है,—यही भाषा द्राविड़ों की स्वतन्त्र सभ्यता का एक अनपेक्षित निर्दर्शन है, जिस ने आर्य-सभ्यता के सामने सम्पूर्णतया आत्म-बलिदान न किया। वैदिक-भाषा भारत की आर्य-भाषा का प्राचीनतम निर्दर्शन है, इस भाषा में प्राचीन आर्यजन विशेषतया मौजूद हैं। पर इस वैदिक भाषा में भी अनार्य भाषा का प्रभाव थोड़ा-सा विद्यमान है। इसके अलावा, जितना इधर हम आते हैं, आर्य-भाषा (संस्कृत और प्राकृत) पर अनार्य-भाषा का प्रभाव उतना ही बढ़ता जाता है। धीरे धीरे आर्य-भाषा को अनार्य-भाषा के अर्थात् कोल और द्राविड़ के मॉचे में ढाल दिया गया, आर्य-भाषा ने आहिस्ता आहिस्ता अनार्य-भाषा के घर में अपनी जाति का मत्वानाश किया, इतना ममझने में देर नहीं लगी।

दूसरी बात यह है कि हमें रामायण, महाभारत और पुराणों में बड़े बड़े राजाओं के नाम मिलते हैं, एक श्रौत सभ्यता का पता भी इन ग्रन्थों से हमें चलता है। परन्तु रामायण, महाभारत और पुराण के युग की (अर्थात् कम से कम तीन चार हजार बरस पूर्व के हिन्दू-युग की) पुरानी इमारतें, हाथ के काम, शिल्प के निर्दर्शन, ये सब कुछ भी नहीं मिलते। केवल कई हजार बरस के “पुराण” और “इतिहास” की कहानियाँ हमारी प्राचीन हिन्दू-संस्कृति के अस्तित्व की एकमात्र प्रमाण स्वरूप विद्यमान हैं। इस साहित्यिक आधार के सिवा दूसरा आधार, जिसे हम “पत्थरिया आधार” कह सकते हैं, हमारे पास मौजूद नहीं। क्या मौर्य-युग की पूर्व-कालीन हिन्दू-सभ्यता के निर्दर्शन कुछ भी नहीं हैं? मिस्र, बाबिल देश, असीरिया, लघु एशिया, क्रीट द्वीप—इन सब स्थानों में अब से तीन चार पाँच हजार बरस पूर्व की चीजें मिली हैं। भारतवर्ष में माहेन-जो-दड़ो और हरप्पा में जो नगर के खँडहर और दूसरी चीजें मिली हैं, वे सचमुच चार या पाँच हजार बरस के पहले की हैं, परन्तु वे आर्य-जातीय लोगों के हाथ के काम नहीं,—जो पंडित इस विषय पर अनुसन्धान कर रहे हैं, उनका विचार तो यही है। इस के अतिरिक्त, भारत के बाहर रहने वाले आर्य जातीय लोगों के इतिहास पर विचार करना है। सब से पहले अपनी आदि वासभूमि से निकल कर इतिहास के क्षेत्र पर (अर्थात् और जातियों के साथ मिलन या मंचर्प में) किस समय आर्य लोग पधारे, उसका कुछ कुछ पता अब चल रहा है। यह तो अब से सिर्फ चार या साढ़े चार हजार बरस की बात है। इसी समय ग्रीस तथा उत्तर-पूर्व एशिया-माइनर में आर्यों से हमारी पहली भेंट होती है। इस घटना के बहुत काल बीतने के बाद आर्य लोग भारतवर्ष में आये। हमारे विचार से, भारतवर्ष से आर्य लोग बाहर के देशों में गये, ऐसे अनुमान के पक्ष की युक्तियाँ बड़ी प्रबल नहीं। गेप बात यह है—भारतवर्ष के इतिहास को और देशों के इतिहास से अलग या बिच्छिन्न कर के देखना सही नहीं। प्राचीन काल में पारस्य, बाबिल देश तथा एशिया माइनर इत्यादि मुल्कों से भारतवर्ष घनिष्ठ सम्बन्ध-सूत्र से बँधा हुआ था। उन देशों के साथ जो आंगसूत्र भारतवर्ष का था, वह प्राचीन भारत के इतिहास के विवेचन में हमारा एक प्रधान अवलंबन है। उसे छोड़ने से हमें कुछ फायदा न पहुँचेगा। ग्रीस प्रभृति विभिन्न देशों में, विभिन्न प्रकार की संस्कृतियों और जातियों के लोगों के मिश्रण से किन्तु प्रकार एक

नवीन जाति और नवीन संस्कृति सृष्ट हुई, हमारी हिन्दू-जाति तथा हिन्दू-संस्कृति की सृष्टि की आलोचना करने के समय उस विषय पर भी हमें ध्यान देना चाहिए।

कैसे हिन्दू-सभ्यता का सूत्रपात आरम्भ हुआ, और अपने पूर्ण रूप या पूर्ण वैशिष्ट्य को प्राप्त करने के बाद हिन्दू-सभ्यता कब "स्वे महिम्नि" खड़ी हुई, इन विषयों पर जो मतवाद हमारे विचार में धीरे धीरे प्राचीन भारतीय संस्कृति के आलोचक पंडितों में साधारणतया स्वीकृत होता जाता है और अन्त में जिसे सब ही स्वीकृत करेंगे, मैं अब उस का कुछ दिग्दर्शन कराने की चेष्टा करूँगा। इस विषय को *a posteriori* रीति से (अर्थात् परिचित तथ्य के आधार पर अनुमान) प्रकट न कर के, *a priori* रीति से (अर्थात् इतिहास-वर्णन के ढंग से), पौर्वापर्य अनुसार पुनर्गठित रूप की वर्णना कर के कहूँगा।

इस समय से पाँच हजार वर्ष पूर्व, लगभग ईसवी ३,००० के आस-पास, मध्य या पूर्व यूरोप के किसी ग्रंथ में आदि आर्य जाति वास करती थी। अपनी पितृ-भूमि में आर्य लोग सभ्यता के उच्च स्तर पर पहुँच न सके। वास्तव सभ्यता में ये लोग प्राचीन काल की सुसभ्य जातियों के बहुत पीछे ही थे। पर इन में बहुत-से मानसिक और नैतिक गुण थे, ये लोग एक साध कृतकर्मा तथा चिन्ताशील, कल्पनाशील तथा दृढ़व्रत जाति थे, और आपस में संघबद्धता का भाव भी यथोपयुक्त था; फिर यह अनुमान होता है कि स्त्री-जाति के विषय में इन में कुछ ऐसी उच्च धारणाएँ थी जो आजकल की सभ्यता में भी विद्यमान हैं। आर्य-जाति में कई *tribe* या गोत्र थे, इन गोत्रों में इन की मूल-भाषा के कुछ कुछ पार्थक्य आ गये। यह आर्य-जाति किन्हीं कारणों से अपनी पितृ-भूमि छोड़ कर पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण में चले जाने को बाध्य हुई, देश में अत्यधिक सर्दी का आकस्मिक प्रभाव इस में एक कारण हो सकता है; और यह भी संभव है कि पूर्व और उत्तर से उराल-अल्ताई जाति के लोगों ने आदि आर्यों पर चढ़ाई की, इस से इन्हें अपना प्राचीन वास छोड़ना पड़ा।

जिस समय आर्य लोग, ईसवी सदी के लगभग ३,००० वर्ष पूर्व, पहले अपने देश में थे, और कुछ खेती का काम तथा कुछ गो-मेषादि-पालन इनकी मुख्य वृत्ति थी, उसी समय पृथ्वी के कई अन्य भागों की सभ्यता विशेष ऊँची थी। इन में पहली थी मिसर की सभ्यता, जिस का प्रारम्भ ईसवी साल के पूर्व ४,००० से अधिक वर्ष से था, और जिस की जड़ और भी प्राचीन है। दूसरी—बाबिल और असीरिया की सभ्यता, जो मिसर से बराबरी करती है; और इन दोनों से भी अलग एशिया-माइनर और यूनान की प्राचीन सभ्यता है। विविध प्रकार के ज्ञान-विज्ञान, बड़ी बड़ी इमारतें और बड़े बड़े देव-मन्दिर, वाणिज्य, युद्ध-विग्रह, विजयगाथा, देवतावाद और पुराण-कहानी, पुरोहितश्रेणी, भास्कर्य, मूर्तिशिल्प, चित्रविद्या, शिलालेख, मृण्मय लेख, धातुनिर्मित और मृण्मय पात्र इत्यादि विषयों के सहारे इन सभ्यताओं में रूप ग्रहण किया, आदिम अवस्था के आर्यों में ये सब कुछ न थे—यहाँ तक कि इन में शिल्प-विद्या-विषयक जागृति भी न हो सकी। जब आदिम आर्य लोग अपनी पितृभूमि में थे तब उन्होंने एक विशेष उपयोगी साधन संग्रह किया—वे घोड़े को अपने वश में लाए। घोड़े पर सवार हो कर, या दो पहिए वाले रथ पर चढ़ कर दूर दूर देश तुरंत अतिक्रम करने का एक उपाय उन्होंने आविष्कार किया। इस आविष्कार का एक फल यह हुआ, कि आर्य लोग जब पहले पहल इतिहास के रंग-मञ्च पर उतरे, तब पार्थिव सभ्यता में अर्द्ध-वर्षर होते हुए भी, सुसम्बद्ध, सात्माभिमान, कर्मशक्तियुक्त तथा भावनाशक्तियुक्त होने के कारण आसिरिय-बाबिल, एशिया-माइनर और ग्रीस की सुसभ्य जातियों के लिए इन्हें रोकना कठिन काम हो गया। ईसा के करीब २,००० वर्ष

पहले, आर्य-जाति इतिहास के क्षेत्र पर (अर्थात्, अपनी पितृभूमि के बाहर दूसरी जातियों के देशों में) सर्वप्रथम दिखाई दी। इन के आगमन का समाचार हमें प्राचीन असीरिया और बाबिल, प्राचीन एशिया-माइनर और प्राचीन यूनान में मिलता है। उस समय भारतवर्ष की अवस्था कैसी थी, यह हम ठीक ठीक नहीं जानते। निःसन्देह उस समय द्राविडी और कोल (आस्ट्रिक) श्रेणी के अनार्य लोग, उत्तर-भारत में गंगा और सिन्धु के तीर पर तथा दक्षिण भारत में, अपने जीवनाचार को स्थापित कर के शान्त-भाव से दिन विताते थे। इतने में आर्य लोग की, जो अब तक कई भुंडों में विभक्त हो चुके थे और इन विभिन्न भुंडों में कुछ कुछ भाषा-गत पार्थक्य भी आ गया, एक शाखा एशिया-माइनर में उपनिविष्ट हुई, जो कि अब "हिती" Hittite नाम से हमारे यहाँ प्रख्यात है, भाषा-तात्त्विक लोग इन की भाषा की (जिसे पंडितों ने पढ़ा है) चर्चा कर के ऐसा विचार करते हैं कि हिती शाखा के आर्य लोग सबसे पहले आदिम आर्य-संसार से विच्छिन्न हुए, और एशिया-माइनर में आ कर बसे, वहीं स्थानीय जातियों में सुप्रतिष्ठित हो कर उन के शासक बने। हिती लोगों की आर्य बोली में मूल आर्य-भाषा की कुछ ऐसी विशेषताएँ संरक्षित थीं, जो कि दूसरी प्राचीन आर्य बोलियों में भली भाँति नहीं मिलती (देखना—एडगार एच० स्टैवेन्ट्स—ए कॉम्पैरटिव् ग्रामर ऑफ दि हिटाइट लैंग्वेज, हिब्रिंस्टिक सोसायटी ऑफ अमेरिका, फिलाडेल्फिया, १८३३, पृ० २६—३३, तथा अन्यान्य पृष्ठों पर दिये विचार)। ईसा के पूर्व द्वितीय सहस्रक के मध्य-भाग में हिती लोग एशिया-माइनर में राज्य करते थे, निश्चय ही इसके कुछ शतक पहले वे यहाँ आए होंगे। ईसा के दो सहस्र वर्ष पूर्व, आर्यों के तीन भुंडों का पता हमें चलता है, पहला, ग्रीस-विजयी आर्यों का, जो ग्रीस की प्राचीन सुसभ्य अनार्य जाति के साथ संघर्ष में आए, दूसरा, एशिया-माइनर के हिती आर्यों का, जिन के विषय में ऊपर कुछ कहा गया है; और तीसरा, पूर्व के आर्य लोग का, जो ईसा के पूर्व लगभग २,५०० वर्ष से उत्तर-इराक, असीरिया और बाबिल देश में आते थे। इन तीनों श्रेणियों के आर्यों में कुछ भाषागत पार्थक्य दिखाई देता है। अब मूल आर्य-भाषा का परिवर्तन और विभिन्न रूप-महण का काम कम से कम ईसा के पूर्व तीसरे सहस्रक के प्रथमार्ध से शुरू हुआ।

ऐसे कुछ कारण हमारे समक्ष अब दीखते हैं, जिस से हमारी सभ्यता की उत्पत्ति के इतिहास को मध्य-एशिया के सम्पर्क से छुड़ाना पड़ेगा। जो आर्य भारतवर्ष की ओर चले, वे उत्तर-मेसोपोटामिया की राह से आये,—ऐसा आभास हम पाते हैं। मध्य-एशिया में आर्य पितृ-भूमि का अवस्थान निश्चय करने की सामग्री कुछ नहीं है, यह तो केवल कल्पना-प्रसूत ही है। मेसोपोटामिया से सम्पर्क के सम्बन्ध में कुछ प्रमाण मिलने के बाद, मध्य-एशिया की बात काल्पनिक साबित हो जाती है। जब से आर्य लोग उत्तर-मेसोपोटामिया में सर्वप्रथम प्रकट हुए, तब से उनके सम्बन्ध में बाबिल देश और असीरिया के लोगों ने जो कुछ कहा, वह ही आर्य लोगों के विषय में सबसे प्राचीन समसामयिक खल्लेख है। इन की कही हुई बातों से ऐसा प्रतीत होता है कि सुसभ्य असीरिय, बाबिलोनीय तथा एशिया-माइनर की जातियों के बीच आर्य लोग जब आए, वे चाहे कृष्ण-सागर के उत्तर तीर की राह लेकर उत्तर से कौकसस पर्वत अतिक्रम करके आए हों, या चाहे उत्तर ग्रीस के मक़दूनिया और थ्रेसिया की राह हो कर कृष्ण सागर के दक्षिण तीर का पन्ध्र ले कर एशिया-माइनर और मेसोपोटामिया में आए हों। बहुत-से भुंडों में नवागत आर्य लोग पधारे। इन के कुछ गोत्र उन सब स्थानों पर रहते थे और अन्त में वहीं बस गए, इन्हीं ने स्थानीय

जातियों के बीच अपने लिए एक गौरवान्वित स्थान कायम कर लिया, और ये कहीं कहीं स्थानीय लोगों को जीत कर उन के शासक बने; यहाँ तक कि आर्य आगन्तुकों के एक झुंड ने (जिसके गोत्र का नाम था Kashshi या Cassite—शायद आर्य-भाषा में इस शब्द का रूप “काशि”, “काश्य” हो) बाबिल नगरी पर दखल कर कई सदी तक वहाँ राज्य किया। जो आर्य गोत्र वहाँ रह गए, वे धीरे धीरे उस देश के लोगों से मिल गये, और उन्होंने उनकी भाषा को ग्रहण कर अपने स्वतंत्र अस्तित्व को विलुप्त कर दिया। परन्तु इन आर्यों के राजा या मुखियों के नाम, इन के देवताओं के नाम, और इन की भाषा के दो चार शब्दों से पता चलता है कि इन की भाषा कैसी थी। इन सब आधारे से, ख्रीस्ट-पूर्व २,००० से १,२०० तक मेसोपोतामिया और उसके आस-पास उपनिविष्ट हुए आर्यों की अवस्था का कुछ पता भी हमें चलता है। ये आर्य ही इस प्रान्त में सब से पहले घेड़ों को लाए। जो भाषा इन में बोली जाती थी, वह वैदिक और प्राचीन ईरानी इन दोनों की जननी थी। अपिच, इनका जो धर्म था, और जिन देवताओं की अर्चना ये लोग करते थे, उन के सम्बन्ध में जो खबर हमें मिलती है, उस से प्रतीत होता है कि इन्हीं का धर्म, तथा इन्हीं का देवता-लोक भारतवर्ष में पहुँच कर वैदिक धर्म तथा वैदिक देवता-लोक में परिवर्तित हो गया। सचमुच मेसोपोतामिया और एशिया-माइनरवाले आर्य-लोग प्राग्-वैदिक या वेद-पूर्व आर्य थे। भारतीय वैदिक-धर्म का सूत्रपात इन्हीं के तथा पारस्य की ओर चले हुए दूसरे आर्यों के बीच हुआ था। और यह बात भी सम्भव है कि मेसोपोतामिया तथा पारस्य में, ये आर्य लोग अपने देवताओं के विषय में जो स्तोत्र या भजन बनाते थे, उन सब स्तोत्र या भजनों में से कुछ कुछ अंश भारतवर्ष तक पहुँचे; भारतवर्ष में नये बनाये हुए और स्तोत्रों के साथ ये पुराने स्तोत्र (जो कि ईसा के पूर्व लगभग २,००० या १,८०० या १,५०० में बनाये गए) भारतीय द्विज, ऋषि या आचार्यों से ईसा के पूर्व लगभग १००० या ६०० में आद्य ब्राह्मी लिपि में लिखित हुए, और “व्यास” नामक किसी ऋषि के द्वारा तीन संहिता-ग्रन्थों में संगृहीत और संरचित हुए।

वेद के पूर्व के युग के इन आर्यों के कुछ नाम और उन की भाषा के कुछ शब्द अब दिए जाते हैं। ये नाम तथा शब्द बाबिलीय तथा एशिया-माइनर की प्राचीन भाषाओं में गृहीत हो कर रचित हुए। स्थानीय अनार्य-भाषाओं में इन प्राचीन आर्य-शब्दों का रूप तथा उच्चारण व्यर्थ का त्यों संरक्षित नहीं हो सका। इनके मूल-रूप जो कि हिन्दू-ईरानी-युग की आर्य-भाषा में चालू थे, तथा इन के भारतीय वैदिक भाषा-सुमोदित प्रतिरूप, बहुत विचार और अनुमान कर निर्धारित किए गए हैं।

देवताओं के कुछ नाम यथा—

- [१] Shutiash = वेद-पूर्वीय आर्य-भाषा में :- Surias, वैदिक “सूर्य”।
 [२] Marutash = वेद-पूर्व :- Maruts, वैदिक “मरुत”।
 [३] Shimala = “बज्जल (अर्थात् तुषार-जबल) पर्वताधिष्ठात्री देवी” = वेद-पूर्वीय :- Z’himla = वैदिक “हिम” + “-जाल”;
 [४] Shugamuna = “महामारी का देवता, ज्योति का देवता” = वेद-पूर्वीय :- S’auka-manas = वैदिक “शोक” + “मन”;

([१] और [४] संत्यक्त दो देवता, भारतवर्ष में वैदिक जगत् से निर्वासित हुए, वेदों में इनका पता नहीं चलता),

- [५] Dakash = "नक्षत्रों का पिता" = भारतीय 'दक्ष'. सचाईस नक्षत्रों का पिता.
 [६] Indara = वैदिक 'इन्द्र' ('इन्द्र-र'—स्वरमक्षिण रूप),
 [७] Mitra = वैदिक 'मित्र';
 [८] Nashattiya = वैदिक 'नासत्य';
 [९] Uruwna या Aruna = वैदिक 'वसु', संस्कृत 'अरुण'; आकाश तथा सागर का देवता ;

राजा या प्रधानों के कुछ नाम—

- [१] Abirattash = वैदिक 'अभिरथ';
 [२] Shuzigash = वैदिक रूप 'सु-जिगा';
 [३] Artamaaya = वेदपूर्वक & Rta-maaya = वैदिक 'अतनम्य';
 [४] Arzawiya = वैदिक 'अर्जन्व';
 [५] Biriamaaza = वैदिक 'वीर्यवान्';
 [६] Birdashwa = वैदिक 'वृद्धाश्व';
 [७] Dashru = सम्भाव्य वैदिक & 'दश्रु' अथवा 'दक्ष';
 [८] Aitagama = वेदपूर्वक & Aitagama, वैदिक 'एतगाम';
 [९] Indaruta = वेदपूर्वक & Indaranta, Indraputa, वैदिक 'इन्द्रोत्त';
 [१०] Namyawaza = सम्भाव्य वैदिक & 'नाम्यवान्';
 [११] Rushmaura = सम्भाव्य वैदिक 'रुचिमन्';
 [१२] Shatiya = वैदिक 'सत्य';
 [१३] Shobauda = वैदिक 'शुचन्व';
 [१४] Shumittarash = वैदिक 'सुमित्र';
 [१५] Showardata = सम्भाव्य वैदिक & 'शुवर्दात' = 'स्वर्द्धत';
 [१६] Teowatti = सम्भाव्य वैदिक & 'द्यवात';
 [१७] Turbazu = 'तुर्वसु, तुर्वसु';
 [१८] Tushratta = पूर्व वैदिक & Durzhratha = वैदिक 'दूरथ';
 [१९] Artashumara = वैदिक 'अतस्तर';
 [२०] Artatama = वैदिक 'अतवान्';
 [२१] Dashatti = सम्भाव्य वैदिक & 'दशर्षि';
 [२२] Mattiwaza = सम्भाव्य वैदिक 'मथिवान्';
 [२३] Saushbatar = 'सौमित्र'; इत्यादि ;

हिन्दू-ईरानीय युग की आर्य-भाषा के कुछ शब्द—

- [१] Maria = वैदिक 'मर्य' (= योद्धा),
 [२] Aika = वेदपूर्वक & Aika, वैदिक 'एक';

- [३] Tera = “त्रि, त्रय”,
 [४] Panza = “पञ्च”;
 [५] Satta = “सप्त”;
 [६] Nava = “नव”;
 [७] Tapashhash = “तपस्”,
 [८] Wartanna = “वर्तनम्”—चक्र देना ।
 [९] Vasanna = “वसनम्”—रोकना;

(ये नाम और शब्द, *Acta Orientalia* XI, i, ii, iii, इन तीन खंडों में प्रकाशित रूसी लेखक N.D. Mironov कर्तृक लिखित, *Aryan Vestiges in the Near East of the 2nd Millenary B.C.* नामक उपयोगी प्रबन्ध से लिए गए हैं; Mironov के संगृहीत जिन नाम और शब्दों की व्युत्पत्ति पर सन्देह है, वे यहाँ नहीं उद्धृत किए गए।) इस प्रकार वैदिक भाषा की साक्षात् जननी-रूपिणी किसी भाषा के उपयोग करने वाले आर्यों को ख्रीस्ट-पूर्व लगभग २,००० से १,५०० में, और उस के बाद भी, मेसोपोटामिया और एशिया-माइनर में हम देखते हैं।

आर्य लोग इन देशों में रहने के समय सुसभ्य Ashur अशुर या “असुर” (अर्थात् आसिरिय-बाबिलोनीय) जाति के प्रभाव से प्रभावित हुए। आसिरिय-बाबिलोनीय जाति की बड़ी बड़ी इमारतें, इन के (विशेषतया आसिरियों के) शौर्य तथा निष्ठुरपन से आर्य लोग अभिभूत हो गए। आसिरिय रीति-नीति ने भी आर्यों पर बहुत प्रभाव डाला। भारतवर्ष में आने के बाद आर्य लोगों के मन में असुर जाति के सम्बन्ध में जो स्मृति निहित थी, वह परिचित होकर उत्तर-कालीन हिन्दुओं में प्रचलित, यन्त्र तथा गृह-निर्माण के काम में सुदृढ़, देवता-विरोधी असुर या दानव की कल्पना में रूपान्तरित हुई।

जिन आर्य गोत्रों ने मेसोपोटामिया में उपनिवेश नहीं किया, पर जो पूर्व की तरफ आए, वे ही पारसीक तथा भारतीय आर्यों के पूर्वज थे। पशु या पार्श्व, मद, शक, पार्श्व प्रभृति कुछ आर्य गोत्र पारस्य देश में ही रह गए; मरत, कुब, मद्र, शिवि, द्रुह, त्रित्सु, पुरु, मृगु प्रभृति विभिन्न गोत्र भारतवर्ष में पधारे। ऐसा अनुमान होता है, कि पारस्य तथा भारतवर्ष के उत्तर पश्चिमांश में एक ही जाति के अनार्य लोग रहते थे, जो कि आर्यों के द्वारा “दास” या “दस्यु” कहलाए।

भारतवर्ष के बाहर ही “दास” या “दस्यु” नाम के अनार्यों के साथ आर्यों का संघर्ष शुरू होना सम्भव है। इस संघर्ष की बात कुछ कुछ वैदिक साहित्य में—ऋग्वेद में—हमें मिलती है। उस के बाद, आहिस्ता-आहिस्ता इन अनार्यों के साथ मिश्रता सम्बन्ध भी होने लगा। ऐसा अनुमान होता है कि भारतवर्ष में तीन प्रकार के अनार्य रहते थे। [१] Negrito नेग्रिटो या “निग्रोबटु” श्रेणी के अनार्य,—नाटा कद, रंग खूब काला, आफ्रिका के निर्भों के माफिक नाक और होठ, बाल मेष-लोल सदृश,—ये लोग ज्यादा कर के सामुद्रिक उपकुल के प्रान्त में रहते थे; अगर सभ्यता की बात कही जाय, तो इन में उच्च सभ्यता का कुछ भी अंश न था; मच्छी मार कर या जंगल में चिड़ियों या जानवर का शिकार कर ये लोग गुज़र कर रहे थे,—यह जाति अब बिलकुल विनष्ट हो गई है, सिर्फ दक्षिण बिलोचिस्तान में, दक्षिण-भारत में और आसाम प्रान्त में इस का

कुछ अवगोप अमो तक कट से बचा है। सम्भावना अधिक है, कि इस जाति के लोग भारत के प्राचीनतम अधिवासी थे। [२] Austrie—आस्ट्रिक जाति—जिम के लोगो ने उत्तर-पूर्व की राह से—आसाम-प्रान्त—बर्मा तथा हिन्द-चीन—से भारतवर्ष में प्रवेश किया। इन का चेहरा किस प्रकार का था, यह तो हम ठीक से नहीं जानते, ऐसा प्रतीत होता है कि ये भी कद में नाटे थे, इन की नाक भी चपटी थी, और जो बाली ये लोग बोलते थे, उसी से मध्य भारत की “काल” बोलियाँ, और (आसाम की) खासी या खसिया बोली उत्पन्न हुई। इन की और शाखाएँ हिन्द-चीन, मालय देश तथा द्वीपमय भारत के द्वीपसुब्ज में, एवं प्रशान्त महासागर के द्वीपों में फैल गईं। भारतवर्ष में वे गंगा की उपत्यका में, तथा मध्य और दक्षिण भारत में ये लोग ज्यादा फैले। हिमालय-प्रान्त में भी ये थे, इस का प्रमाण भी है। धान की खेती, कला नारियल आदि कुछ फलका का उत्पादन, तथा प्रातुष्टानिक और सामाजिक जीवन में पान-सुपारी का व्यवहार—हिन्दू-सभ्यता को ये वस्तुएँ आस्ट्रिक जाति का दान हैं, ऐसा प्रतीत होता है। और इस के अलावा, इन में प्रचलित धर्म-विश्वास तथा आचार-अनुष्ठान हमारे हिन्दू पुनर्जन्मवाद के अन्तराल में और हमारी हिन्दू पूजा-पद्धतियों में तथा विवाह और ब्राह्म के बहुत अंगों में छिपे हुए रहते हैं। आस्ट्रिक-भाषी जनगण उत्तर-भारत के समस्त प्रान्तों में इस समय हिन्दू जनता में रूपान्तरित होकर अपने पृथक् आस्ट्रिक अस्तित्व को भूलकर, इसकी स्मृति तक से विछुड़ गए हैं। [३] नेग्रिटो तथा आस्ट्रिक के अलावा तीसरी अनार्य जाति जो आर्यागमन के पूर्व से भारतवर्ष में रहती थी, वह द्राविड-जाति है। पंडित लोग सोचते हैं कि द्राविड-जाति दीर्घकाय, सरल-नासिक, और “दीर्घकपाली” थी। भारत के पश्चिम के देशों के लोगों के साथ इनका संयोग या सम्बन्ध था। भारतवर्ष में आर्य लोगों के आगमन के कई सहस्र वर्ष पूर्व, पश्चिम की वाटियों की राह से इनका भारतवर्ष में प्रवेश हुआ था—ऐसा सोचा जाता है। दक्षिण भारत में इनका घनिष्ठ वास हुआ था; पर उत्तर तथा पूर्व भारत में भी इनका प्रसार हुआ था, ऐसा अनुमान होता है। वहाँ ये लोग आस्ट्रिक जाति के लोगों के साथ मिल-जुल कर रहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि आस्ट्रिक और द्राविड, इन दोनों जातियों का बहुत-कुछ मिलन तथा संमिश्रण हुआ था। द्राविड लोग आस्ट्रिकों से अधिक सभ्य थे, ये बड़ी बड़ी इमारतें, बड़े बड़े शहर बनाते थे, हिन्दू-सभ्यता के बहुत-से बाह्य उपकरण इस द्राविड जाति से हीं शुद्धीत हुए, शिव, उमा, विष्णु, श्री आदि देवताओं की विराट् कल्पनाएँ पहले-पहल द्राविड जाति हीं में उद्भूत हुईं। योग-साधना के मूल तत्त्व तथा आचार, द्राविड जाति की धार्मिक चिन्ता का फल था। मोहन-जो-दड़ो तथा हरप्पा^१ की विराट् सभ्यता द्राविड जाति के लोगों के कृतित्व के परिचायक हैं, ऐसा प्रतीत होता है। द्राविड जाति के लोग आर्यों के सट्टा गोपालन करते थे—गोपालन आस्ट्रिक जाति के रिवाज में नहीं था, और द्राविड लोग सर्वप्रथम आर्यों को अपने वश में लाए, ऐसा भी सम्भव है।

जब आर्य लोग भारतवर्ष में पहुँचे आए, तब इस देश में सुमध्य (या किसी प्रकार की सभ्यता को प्राप्त की हुई) ये दो अनार्य जातियाँ वास करती थीं। नागरिक संस्कृति का जन्मेश द्राविडों में हुआ था; आस्ट्रिक जाति की सभ्यता मुख्यतया ग्रामीण सभ्यता थी, इनके सामने नवागत आर्यों की सभ्यता बायावर तथा ग्रामीण सभ्यता ही थी। आर्यों के आगमन से इस देश के प्राचीन अनार्य अधिवासियों का पूरी तौर से भूलोत्पादन या पूर्ण विनाश नहीं हुआ। नये आए हुए आर्य और पुराने बाशिन्दे अनार्य, एक दूसरे के पास रहने लगे। ज्यादा करके आर्य लोगों के आगमन होना सम्भव नहीं था, फिर विजेता तथा नूतन देश में आगन्तव्य के लिए आए हुए आर्यों में

१—स्थानीय उच्चारण हरप्पा नहीं, हड़प्पा है—ज० च०।

स्वजातीय स्त्रियों की कमी होना ही सम्भव और स्वाभाविक है। आर्य, द्राविड, कोल (आस्ट्रिक)—इन तीन जातियों में भावों का आदान-प्रदान और शोणित-संमिश्रण होने लगा। आर्य लोग तो विजेता थे—कम से कम इतना ही मानना पड़ेगा कि पंजाब-प्रान्त में विजेत-रूप से आर्यों का प्रवेश हुआ था। आर्यों की भाषा एक शक्तिशाली भाषा थी, और आर्यों की संहति-शक्ति भी असाधारण थी। आर्यों की भाषा आहिस्तः आहिस्तः प्रतिष्ठित हुई; और उनकी संहति-शक्ति के कारण अनार्यों के द्वारा यह भाषा गृहीत होने लगी; सम्भव है कि उस ज़माने में द्राविड तथा कोल (आस्ट्रिक) गोष्ठी की परस्पर-विरोधी अनार्य भाषा और उपभाषा के अनैक्य के गड़बड़ के बीच, आर्य-भाषा सर्वजनग्राह्य भाषा बनी; और इसी से इसका फैलाव सहल हुआ,—समग्र उत्तर-भारत में अपनी पुरानी द्राविडी तथा कोल (आस्ट्रिक) बोलियों को छोड़ आर्य-भाषा को अपनाया। आर्यों के कुछ धार्मिक अनुष्ठान और देव-देवियों को अनार्य लोगों ने स्वीकार कर लिया; फिर धीरे धीरे अनार्यों के देवता, अनार्यों के धर्मानुष्ठान, अनार्यों के दर्शन और तत्त्वज्ञान, अनार्यों का भक्तिवाद, आर्यों के मन पर अपनी छाप लगाने लगे। अनार्य राजा तथा पुरोहित लोग आर्य-भाषा ग्रहण करने के साथ ही साथ आर्य-समाज (अर्थात् आर्यभाषी समाज) में गृहीत होने लगे—एक क्रम-वर्धन-शील आर्य-भाषी जनता संगठित होना लगी। इस रीति से, संस्कृत भाषा जिसका वाहन या ऐसी एक मिश्र आर्यानार्य-सम्भृता, या हिन्दू-सम्भृता, आर्यों के भारतवर्ष के आगमन के थोड़े समय के बाद धीरे धीरे तैयार होने लगी।

इस उपाय से हिन्दू यानी प्राचीन भारत की जातीय सम्भृता के विशिष्ट रूप से विकसित होने में कुरीब कुरीब एक हजार बरस लग गए। आर्यों का भारतवर्ष में आना, उनके मेसोपोटामिया में प्रकट होने के थोड़े समय बाद ही हुआ, ऐसा अनुमान करना अनुचित नहीं होगा। अर्थात् ख्रीस्ट-पूर्व १,५०० के बाद या लगभग १,५०० ख्रीस्ट-पूर्व, यह घटना हुई थी। बुद्ध के समय, कुरीब ५०० ख्रीस्ट-पूर्व के आस-पास हिन्दू-सम्भृता का ढाँचा बन गया। अनार्य, आस्ट्रिक, और द्राविड देवताओं की लीलाएँ, उनके राजाओं की प्राचीन कहानियाँ,—ये सब आहिस्तः आहिस्तः संस्कृत भाषा में प्रथित होकर, आर्यों की देव-कहानियों के तथा राज-कहानियों के साथ अछूट-सूत्र के योग से संयुक्त हो गई, और इनको रामायण, महाभारत, और पुराणों में स्थान मिला। यही प्राचीन ग्रीस में भी हुआ था। सम्प्रति ऐसा एक अभिसृत प्रकाशित किया गया है, की प्राचीन काल के चित्रित लोग प्रधानतया अनार्य राजन्य सम्प्रदाय के लोग थे; इस देश में स्मरणातीत आर्य-पूर्व युग से जो अनार्य राजा लोग राज करते थे, नव-जात हिन्दू समाज में वे ही अपने पूर्व गौरव को अछूट रख कर चित्रित-रूप से गृहीत हुए। फिर ऐसा भी मत किसी विद्वान् ने प्रकट किया कि भारतवर्ष में आर्य-सन्तान के झुण्ड यहाँ आए ही नहीं, सिर्फ आर्यों की भाषा और आर्यों के कुछ धार्मिक अनुष्ठान, Culture-drift अर्थात् प्रबलमान संस्कृति-स्रोत के हिसाब से ईरान से भारतवर्ष में आए—मूल आर्य-जाति के आदमी नहीं आए, पर उनकी भाषा आई, और उनका धर्म फैला।

आर्यों की विशिष्ट उपासना-रीति का नाम “होम” है। वैदिक आर्यों के देवता लोग आकाश में रहते हैं। अग्निदेव उन के दूत या मुख-पात्र थे; वेदी बना के उस पर लकड़ी की आग जला के, उसी आग में इन्द्र, वरुण, सूर्य, पूषा, अग्नि, अश्विद्वय, उषा, मरुद्गण प्रभृति देवताओं के उद्देश्य में दूध, घी, यव की रोटी (पुरोडाश), मांस, सोमरस इत्यादि खाद्य वस्तु की आहुति दी

जाती थी। देवता लोग आग के सहारे से उन वस्तुओं को प्राप्त कर लुप्त होते, और होमकर्त्ता को अश्व, गो, स्वर्ण, पुत्र सम्मान, प्रचुर शस्य आदि दान करते थे। पर 'पूजा' की रीति आर्यों में चालू नहीं थी—प्रतिमा या और किसी प्रकार के देवप्रतीक पर फूल, पत्ता, चन्दन, सिन्दूर इत्यादि चढ़ाना, अक्षत, फल मूलादि के नैवेद्य अथवा बलिदान किए हुए पशु के मुण्ड या पात्र से उसका लोहू निवेदन करना—यह सब वैदिक अर्थात् आर्य-अनुष्ठान नहीं था। 'पूजा' शब्द भी मूल में द्राविड भाषा का है, ऐसा अनुमान होता है। ये अनार्य अनुष्ठान, अनार्य देवताओं के साथ साथ 'संस्कृत' होकर हिन्दू-अनुष्ठान में परिणत हुए।

आर्य लोगों के आगमन के समय भारतवर्ष के प्राचीन अधिवासी लोग द्राविड और कोल आदि अनार्य बोली बोलते थे, इस में कुछ भी सन्देह नहीं। आर्य लोगों के आने के और बसने के बाद बहुत शत वर्ष तक ये सब अनार्य भाषाएँ खिन्दा थीं। बुद्ध के समय, और उनके उत्तर-काल में पाँच छ. सौ साल पर्यन्त उत्तर-भारत के बहुत अंश में जन-साधारण अनार्य बोलियाँ बोलते थे, ऐसा अनुमान करने के लिए बहुत-से कारण हैं। इन अनार्य-भाषियों ने जब आर्य-भाषा ग्रहण की, तब इन के धर्म, देवता और आचार-अनुष्ठान भी आर्यीकृत हो गए, वे सर्वजनगृहीत हो गए, पौराणिक देववाद, भक्तिवाद इत्यादि आ गए, और वैदिक धर्म से एक गंभीरतर उन्नततर धर्म-जीवन आर्यान्तर्-मिश्र भारतीय समाज में सृष्ट हुआ। अनार्यों के प्रधान देवता शिव, उमा, विष्णु—अनुरूप गुण के आर्य-देवताओं के साथ मिल कर एक हो गए, और इस प्रकार उन्हें भी सहनीय बनाया गया। अनार्य वृक्ष-देवता, यक्ष, रक्ष, नाग, और दैवी शक्ति के विकास के स्वरूप से कल्पित पशु और पक्षियों की पूजा भी आर्यान्तर्-मिश्र नव सृष्ट हिन्दू-जाति में प्रचलित हो गई।

ख्रीस्ट-पूर्व प्रथम सहस्रक के प्रथमार्द्ध में जब आर्यों का वैदिक साहित्य, मिश्र आर्यान्तर् या हिन्दू-जाति के द्वारा प्राचीन धर्म-शास्त्र रूप से स्वीकृत हो गया, तब प्रायः सब आर्य-भाषियों ने श्रद्धा के साथ उसे ग्रहण किया। हमारी पुरोहित-श्रेणी की (ब्राह्मणों की) प्रतिष्ठा इसी समय हुई। वेद गृहीत होने का एक मुख्य कारण यह था, कि वेद पहले युग के विजेता शक्तिमान् आर्यों का शास्त्र या प्राचीन साहित्य एवं आदरणीय वस्तु था। वेद माने जाने के और ब्राह्मणों का प्राधान्य स्वीकृत होने के बाद, अनार्य-भाषाओं की प्रतिष्ठा होना फिर सम्भव न था। परन्तु अनार्य-भाषाओं ने इतनी जल्दी अपना स्थान नहीं छोड़ा। अनार्य शब्द बहुत कुछ आर्य प्राकृत तथा संस्कृत के सीवर आ गए, अनार्य-चिन्ता-रीति आर्य-भाषा संस्कृत और प्राकृत में भी आ गई। ख्रीस्ट-जन्म के ढेढ़ सौ वर्ष पहले कलिङ्ग के जैन-धर्मावलम्बी राजा खारवेल का जो ब्राह्मी अक्षर में खुदा हुआ प्राकृत भाषामय विराट् अनुशासन है, उसे पढ़ कर किसी को सन्देह तक भी नहीं हो सकता है कि राजा का नाम आर्य-भाषा का नहीं, वरन् द्राविड भाषा का है, द्राविड 'कार' शब्द का अर्थ 'काला' या 'कृष्ण', और 'वेल्ल' शब्द का अर्थ 'माला' या 'वल्गल'—मूल 'कारवेल्ल', जिस से शब्द 'खारवेल' निकला है, उस का संस्कृत अनुवाद हो सकता है 'कृष्णर्षि' (अर्थात् कृष्ण या भयानक ऋषि या वल्गल है जिस का)। दाक्षिणात्य के अन्ध्रवंशीय राजा लोग सात्वीय युग के प्रारम्भ में राज्य करते थे, इनके प्राकृत-भाषा में लिखे हुए बड़े बड़े अनुशासन हैं, इनके गोत्र नाम इस प्रकार के होते थे—'वाशिष्ठोपुत्र, गोतमीपुत्र, मढरीपुत्र' इत्यादि, परन्तु इनका वंश-नाम 'सातवाहन' आर्य-भाषा का

शब्द नहीं; यह शब्द कोल-भाषा का है, और इस का अर्थ “अश्वपुत्र”। जैसे कोरल के नायर आदि जातिवों में अभी तक दीखता है, वैसे इन में भी मातृगत उत्तराधिकार की रस्म थी, ऐसा प्रतीत होता है। ऐसी फुटकर खबरों से हमें आभास मिलता है कि दो ढाई हजार साल पहले, भारतीय जीवन में अनार्य उपादान कितने प्रबल थे, और आर्य-प्रभाव कितना छिछला था।

भारतीय हिन्दू-सभ्यता का वयः पूर्वं निर्दिष्ट इतिहास के अनुसार बहुत अधिक प्रतीत नहीं होगा। इस बात से हम में बहुत-से सज्जनों के जात्यभिमान तथा आत्माभिमान पर चोट लगेगी। आर्यों के आने के पूर्व अनार्य द्राविड तथा कोल लोगों का इतिहास जरूर ही था; उस की बहुत कुछ बातें कुछ रूपान्तरित आकार में संस्कृत पुराणों में रचित हुई हैं। आर्य लोगों के आते ही हिन्दू-जाति के रूप प्रवृत्ति में विशेष रूप से सहायता पहुँची। आर्य और अनार्य का पूर्ण समन्वय हुआ। ख्रिस्त-पूर्व पहले सहस्रक के द्वितीयाब्द में, हिन्दू-जाति तथा सभ्यता के इतिहास में मोदी रीति से दो युग गिने जा सकते हैं—एक, यज्ञ के प्राधान्य का युग, और दूसरा पौराणिक देवताओं के प्राधान्य का युग। सचमुच ख्रिस्त-पूर्व १,००० से हिन्दू-सभ्यता की प्रतिष्ठा का आरम्भ हुआ। आर्य और अनार्य इन दोनों विभिन्न रंगों के सूत्रों से हिन्दू-सभ्यता-रूप धूप छाया बख, इसी समय से तैयार होने लगा। ख्रिस्त-जन्म के ७००-८०० बरसों तक इस सभ्यता का सब से महत्त्व-पूर्ण समय था। पृथिवी के और प्राचीन सभ्यताओं के साथ अगर तुलना की जाय, तो वय के हिसाब से हमारी हिन्दू सभ्यता मिसरी, बाबिलोनीय और ईजियन सभ्यताओं से निहायत आधुनिक है; कुछ अंश में प्राचीन ग्रीक और प्राचीन पारसीक तथा प्राचीन चीनी सभ्यताओं की समकालीन है। पर ग्रीक सभ्यता अपनी विशिष्ट भूमि को ख्रिस्त-पूर्व प्रथम सहस्रक के प्रथमाब्द ही में प्राप्त कर चुकी थी; और चीनी सभ्यता ने अग्राह्य गति से लगभग ख्रिस्त-पूर्व २,००० से शुरू कर ख्रिस्त-पूर्व प्रथम सहस्रक के प्रथमाब्द में अपने परिणत रूप को प्राप्त कर लिया था। हमारी प्राचीन हिन्दू-सभ्यता का रोमन (Roman) तथा ग्रीको-रोमन (Graeco-Roman) युग की सभ्यता के साथ और चीन के हान् (Han) तथा ताङ्ग-वंश (T'ang) के युग की सभ्यता के साथ हम तौल कर सकते हैं।

हिन्दू-सभ्यता के अति-प्राचीनत्व के विषय पर जिनकी आस्था है, वे ज्यौतिषिक प्रमाण लाकर इसे साबित करने की कोशिश करते हैं। इस मामले में हम सिर्फ़ दो बात कहना चाहते हैं। पहले—ग्रीक लोगों के साथ परिचय होने के बाद हिन्दू-ज्यौतिष ने पुष्टता को प्राप्त किया; वेद-संहिता तथा ब्राह्मणादि प्राचीन ग्रन्थों में जो ज्यौतिषिक उक्तियाँ या उल्लेख हैं, किस अर्थ से उनका विवेचन किया जायगा, इस विषय पर प्रभूत मतानैक्य है। दूसरे—जो महाशय इन ज्यौतिषिक प्रमाणों का ऐतिहासिक आलोचना में उपयोग करते-हैं, उनमें ऐकमत्य नहीं; इसी से साबित होता है, कि युक्ति-तर्कानुसोदित विचारशैली का जो एकमात्र पन्थ है, सो हमें एक ही निष्कर्ष पर पहुँचा देगा—उसे इस ज्यौतिषिक आलोचना में स्थान नहीं मिलता। ज्यौतिषिक व्याख्या या सिद्धान्तों से जो अतिप्राचीन तारीखों की बात हम कभी कभी सुनते हैं, उनके विरुद्ध इतने अन्य विषय हमारे सामने लाये जाते हैं, जिनके सामने हम इन विभिन्न व्याख्या या सिद्धान्तों में से किसी को भी स्वीकार नहीं कर सकते।

रामायण, महाभारत, पुराणों में दिए हुए सूर्य तथा चन्द्रवंशीय राजाओं की तालिका—इन सब की ऐतिहासिकता पर बहुत-से अनुसन्धान हो चुके हैं। जो लोग यथारिति प्राचीन इतिहास की आलोचना

करते हैं, उनमें कोई भी रामायण की कहानी की किसी प्रकार की ऐतिहासिकता नहीं मानते। वे केवल इतना ही मानते हैं, कि महाभारत के मूल आख्यान में और महाभारत तथा पुराणों के कुछ उपाख्यानो में कुछ ऐतिहासिकता हो सकती है। कुरुचेत्र-युद्ध ख्रीस्ट-पूर्व दश शतक में हुआ था, ऐसा अभिमत दो विशिष्ट ऐतिहासिकों ने (अंगरेज एफ० ई० पर्जिटर ने और भारतीय हेमचन्द्र राय चौधुरी ने) प्रकट किया। इन की आलोचना-शैली उपेक्षा करने की नहीं। महाभारत के पात्र तथा पात्रियों के सम्बन्ध में इतना तक हम कह सकते हैं, कि वे आर्यागमन के पूर्व काल के लोग हो सकते हैं; महाभारत का मूल आख्यान अनार्य राजाओं की कहानी भी हो सकती है,—फिर नवागत आर्य-जाति के लोगों से अनार्यों के मिश्रण और भाषा में उनके आर्यीकरण के साथ ये सब उपाख्यान भी परिवर्तित हुए, पल्लवित हुए, और अन्त में इस से हमारा संस्कृत महाभारत बन गया, ख्रीस्ट-जन्म के आस-पास के किसी समय आर्यानाथ-मिश्र हिन्दू-जाति की एक जातीय सम्पत्ति के रूप से अनार्य तथा आर्यों के प्रागितिहास और विचार का अंदार-स्वरूप यह महाग्रन्थ कायम हो गया।



२

पिछला प्राचीन काल

The Buddha and his Maternal Clan

प्रो० डा० प्रफ़ुल्की, कालेज द' फ़्रांस, पैरी

[शाक्यमुनि गौतम कहलाते थे और उन की मौसी प्रजापति गौतमी। अतः बुद्ध के बराने में बच्चे पिता की अपेक्षा माता के गोत्र से अधिक संबद्ध रहते प्रतीत होते हैं।

बोधिसत्त्व-सिद्धार्थ रुद्रक रामपुत्रक के पास ठहरे हैं यह सुन कर उन के पिता शुद्धोदन ने १०० और मामा सुप्रबुद्ध ने २०० आक्सी उन की टहल-सेवा का भेजे, जिन में से उन्होंने क्रमशः तीन और दो को रख कर शेष को वापस छोड़ा दिया। संघे उपवास के बाद अब बोधिसत्त्व फिर सोनन करने को तैयार हुए, तब ये पाँचों उन्हें छोड़ बनारस चले गये, जहाँ बुद्ध ने पहले पहल इन्हें उपदेश दिया।

मूल स वां स्ति वा द - वि न य के अनुसार बुद्ध ने इन में से पहले मातृ-पक्ष वाले दो को और फिर पितृ-पक्ष वाले तीन को उपदेश दिया था। अतः बुद्ध का मातृ-पक्ष के प्रति पक्षपात सिद्ध होता है।

मूल सर्वोत्तिवादी त्रिपिटक में इन को अलग अलग ही तीन और दो कहा गया है, पर पाली नाटमय में मिला कर पाँच कर दिया गया। अतः मूल सर्वोत्तिवादी त्रिपिटक में ज्यादा पुरानी अनुसृष्टियाँ सुरक्षित रही प्रतीत होती हैं।]

According to *Māhāvamsa* Yaśodharā bore two daughters, Māyā and Prajāpatī, and also two sons, one of whom was Snrabuddha. The two sisters, Māyā and Prajāpatī, became the queens of S'uddhodana. This king had by his wife, Māyā, a son, who was the Buddha Śākyamuni¹

The name of Śākyamuni was *Gautama* and that of his maternal aunt, Prajāptī *Gautamā*, so the Buddha was called after his mother's clan. It appears, therefore, that in his family there was matrilineal descent, and that children were more closely connected with the maternal than the paternal clan.

When King Suddhodana first heard that his son was stopping with Rudraka Rāmaputra he sent three hundred men, and Snrabuddha sent two hundred to wait on the Bodhisattva. But the latter would retain five of them only as his attendants in whose company he lived. Two of those sent by Snrabuddha were of the maternal clan and three sent by Suddhodana were of the paternal clan. These attendants at first formed two sets, the Two and the Three. It was not until later that they became the Five.

When after his long fast, the Bodhisattva decided to take food, his attendants forsook him and departed to Benares. To this city, Goutama also came, after obtaining enlightenment.

¹ *Māhāvamsa* II, 18-22, Geiger's translation, p. 12

The *Mūlasarvāstivāda-Vinaya* says that in the morning the Buddha imparted his doctrine to the Two while the other Three went to the city to beg. At noon the six persons took food together. In the evening Gautama taught the Three while the other Two went to collect alms. Gautama abstained from eating in the evening because it was forbidden by the Law ¹

If Gautama chose to instruct first the men of his mother's clan, we may assume that he intended to show them honour and reverence, which is in agreement with the fact that in the Buddha's family children were more closely connected with the maternal clan.

In later days, under the influence of Brahmanic culture, ancient rites receded; the supremacy of the maternal clan was forgotten and new rules were settled in the Community to regulate ordination and the dignity of Śāhāvira. In the absence of Buddha, the Community would have a Dean, a bhikṣu ordained previous to the others.² Consequently, the first account was completed. *Mūlasarvāstivāda-Vinaya* adds that Kaundinya was ordained previous to the other four and so became the chief of the community.

In the Pali Vinaya, the earlier statement is no longer preserved. It is here related that the Buddha preached his doctrine to the Five. They were all delighted, but the Venerable Kaundinya alone obtained "the pure and spotless Eye of the Truth." He received at once the *upasampadā* ordination. Then the six persons lived on the alms the Three brought home from their begging pilgrimage. Finally Mahānāman and Aśvajit received the *upasampadā* ordination.³

In brief, by comparing the two Vinaya, we perceive that (1) in the family of the Buddha, men were more closely connected with the maternal clan and showed special reverence to their maternal kinsmen; (2) the *Mūlasarvāstivāda-Vinaya* preserves ancient data which are no longer discernible in the Pali Vinaya.

¹ Tripiṭaka ed Tokyo, xvii, 3, p 18^b et 25^a

² For further particulars about these points, see my "Concile de Rajagṛha", third part, chap III.

³ Cf. Mahāvagga I 6. 12—38; S B E, xii, pp 92—100

Note on Takshasilā and Its Name

प्रो० डा० स्टेन कोनौ, ओल्को विश्वविद्यालय, नार्वे

[तक्षशिला प्राचीन भारत का महत्त्वपूर्ण नगर था। सर जौन मार्शल ने इस नगर के पुराने खंडहरों को खुदवाया है, उस से तीन पुराने नगरों के समानवशेष प्रकट हुए हैं। (१) भट्टि का खेवा, (२) सिरकप, (३) सिरसुक। जिन में भट्टि सब से पुराना है। सिरकप भी कम नहीं, तक्षशिला में यूनाविषों की बस्ती से पहले की याद तो यह भी मिलता है। तक्षशिला नाम इन में से किस का था सो कहना जरा कठिन है। अभी तक कम से कम इस का कोई प्रमाण नहीं मिला कि भट्टि का नाम भी तक्षशिला था। सब से पुराना तक्षशिला नाम से अंकित अभिलेख, जिस से इस पर कुछ प्रकाश पड़ता, एक ताम्रपत्र पर, योग के समय का है; उस पर ७८ शक संवत् अंकित है और तक्षशिला नगर के वसरेय प्रभु के शो खुदा है। पर इसके प्राप्तस्थान का ठीक पता नहीं। जो कुछ थोड़े बहुत निर्वेग मिले हैं उन से सिरकप की ओर ही इशारा है। तथा कथित मद्रक से मिले थाले और चम्मच पर के अभिलेख—वत्तरा रामे तक्षशिला—से भी यही निर्वेग मिलता है। सर जौन मार्शल द्वारा प्राप्त चांदी की पत्री और पीपल पर के अभिलेख भी इसी की पुष्टि करते हैं। पर इस सब से, सिवा खोज के लिए एक नई दिशा सूझने के, कुछ सिद्ध नहीं होता।]

सर जौन के मतानुसार सिरकप इथियाली टीले के पश्चिमी छोर पर बसा था। यह पूरब से दक्षिण-पश्चिम को बढ़ी छोटी-छोटी पहाड़ियों की परम्परा से अलग कटा हुआ एक टीला है। यदि सिरकप में ही तक्षशिला की समाधि है तो कहना होगा कि कदाचित् नाम के उत्तरार्द्ध शिला का अभिप्राय है टीला और तक्षशिला=कटा टीला, जो कि साफ ही इथियाली टीले पर घटता है। पर क्या वादमय या अन्य कोई प्राचीन प्रमाण भी इस व्युत्पत्ति का पोषक है।

(१) तक्षशिला के अक्षरार्थ पर प्रकाश डालने वाला सब से पुराना वल्लेख लगभग ३०० ई० पू० के एक अरमहक अभिलेख में है। प्रो० एड्विण्ड्स के मतानुसार इसे रोमवृक्ष नाम के नगर के नगर मित्र ने अपने कार्यों की प्रशंसा में खुदवाया था; सम्राट् विन्नुमार के प्रतिनिधि मियदुर्शी (अशोक) का इस में उल्लेख है। एक प्रोफेसर नगर के अरमहक शब्द नगर के अग्रभाग मानते हैं। नगर=बड्डे से इस की व्युत्पत्ति हुई है। अतः इस का अर्थ है बड्डेगिरी। स्पष्ट ही तक्षशिला का अर्थ तक्षशिली समकक यह उस का अरमहक अनुवाद हुआ है। अरमवृक्ष जल धीरे धीरे लो में मिला दिया गया है।

(२) गुराण, रामायण और रघुवंश के अनुसार भरत वाशरथि के बेटे तक्ष का बसाया होने से इस का नाम तक्षशिला पड़ा।

(३) दिव्यावदान का कहना है कि बुद्ध अपने एक पूर्व जन्म में मद्रशिला के राजा बोधिसत्व चन्द्रप्रभये, जो बड़े दानी थे। उन के रुद्राक्ष नामक एक आहार्य को अपना सिर काट कर (शिरः क्षिप्त्वा) देने के कारण ही मद्रशिला का नाम तक्षशिला पड़ गया।

उपरोक्त दोनों कहानियाँ नाम की व्याख्या के लिए पीछे गड़ी गई हैं सो स्पष्ट है। मगही प्राकृत में शर का शिल और तक्ष का तक्ष इ या च च्छ इ हो जाता है। इसी शब्दसाम्य के कारण तक्षशिला से दूर मगध में इस नाम की व्याख्या के लिए यह कहानी चल पड़ी होगी। गान्धार के सर्वास्तिवादी विन्यावदान में इस का समावेश वहीं से हो कर किया गया प्रतीत होता है।

बीस बरस हुए प्रो० सिल्वर्या लेवी ने महामाथुरी से उद्धृत कर चर्चों के नामों की एक सूची प्रकाशित की थी। संस्कृत में इस की कई पैथियाँ तथा तिब्बती और चीनी में संभवतः ईर्ष्या और अमोघयज्ञ द्वारा इसके अनुवाद और रूपान्तर भी मिलते हैं। हर एक प्राचीन नगर के पक्ष का वसति उल्लेख है। इसका ग्लोक ३२ यों है—

प्रमद्वनरच गान्धारे तक्षशिलायां प्रसन्नवत् ।

खरपेतां महापद्मे भद्रगौले निवासिक ॥

इस मद्रगौल और विन्यावदान में वर्णित मद्रशिला में सम्भव प्रतीत होता है। पर यह मूल पाठ नहीं सो विभिन्न आधुनिक पैथियाँ के मिलाने से प्रकट हो जाता है। संभवतः दिव्यावदान के प्रमाण से यह पाठ पीछे कर दिया गया है। ईर्ष्या च

संघर्षों ने अपने अनुवादों में इसके जो रूपान्तर दिये हैं प्रो० कल्लेन के अनुसार उन चिह्नों का सातवीं सदी का जो उद्धारण है वह संस्कृत छुड़ शि ला का रूपान्तर है।

तक्षशिला के पड़ोस में छुड़शिला नाम की एक बस्ती वास्तव में थी, यह बात सरकप से तीन मील दक्खिन-पूरब मार्गेल्ला शृङ्खला की उत्तर की बड़ी बाहियों में से एक चपटे टिब्बे पर कलवान् नाम की दस्ति से मिले एक खरोड़ी अभिलेख से प्रकट है।

छुड़ का मूल संस्कृत शब्द है छुड़ा = समूह ढेर या पर्वतशृङ्खला, छुड़शिला यानी पर्वतशृङ्खला या उस पर बसा नगर। इस के मुकाबले में तक्षशिला का अर्थ कटा हुआ टीला या उस पर बसा नगर। अतः हथियाली टीले पर बसे नगर का नाम ही तक्षशिला था।

ईसवी सन् से ३०० बरस पहले ही तक्षशिला का असल अभिप्राय सुझाया जा चुका था, यह उक्त अरमहक अभिलेख से स्पष्ट है। पीछे कुशाणों द्वारा इस नगर के बजड़ने पर पड़ोस में उन के बसाये सिरसुक का भी यही नाम पड़ गया।]

Takshashilā was an important city in ancient India. It is mentioned by Pāṇini; it was known to the Greeks since the time of Alexander the Great, and it is frequently mentioned in Buddhist literature as a famous seat of learning. In the epics, on the other hand, and in later literature it plays a less prominent rôle.

In modern times the ruins of the old city have been excavated, and, more especially, Sir John Marshall has brought to light a long series of highly interesting facts bearing on the history of the old city.

Or rather, traces have been found of three cities: the Bhir Mound, Sirkap, and Sirsukh. The Bhir Mound is evidently the oldest one, but also the Sirkap remains take us back to a very early period, before the Greeks began to settle in Takshashilā.¹

We cannot say for certain whether the designation Takshashilā was applied to the ancient settlements on the Bhir Mound, or came in use only after the Sirkap site had been occupied. None of the inscriptions in which it occurs seems to have been found on the Bhir hill. The oldest is engraved on a copper-plate and is dated in the year 78 of an old Saka era, during the reign of the Saka ruler Moga. It was deposited at a place called Kshema, to the north and in the eastern direction, in the town Takshashilā (*Takshashilaye nagare uttaraṇa prachu deso*). But we do not know where it was found. The finder mentioned two places in the Lundī Nālā near the Jandāl temple; his wife spoke of Gāngu or Chiti, and later on Mr. Delmerick was told that the actual find-place was Togkiā in Sirsukh. None of these indications suit the Bhir Mound, but they may all be referred to Sirkap, if the somewhat uncertain description in the plate means that Kshema was situated north-east of Takshashilā proper.

The inscription on a vase found in Shahpur just below Sirkap speaks of a stūpa in Takshashilā (*Takshashilae*), but we do not know where the vase was actually found.

The inscriptions containing the ancient name of the town found by Sir John Marshall, on the other hand, distinctly point to Sirkap. Within the walls of the ancient town, at a locality known as the Mahal, situated on high ground in a dip at the western end of the Hathial apur, were found some ladees with inscriptions stating that they belonged to the northern nāma of Takshashilā (*uttarārame Takshashilae*, i.e., *uttarārāme Tākshashilake*). Then we have the well-known silver acroll and a lamp found in chapels to the west and south-west, respectively, of the

¹ Cf. Marshall, *Annual Report of the Archaeological Survey of India*, 1927-28, p. 80

Dharmarājikā stūpa on the Chu mound below Sirkap, with inscriptions mentioning the Takshaśilā Dharmarājikā compound (*dharmarajikā Takshasīlā, Takshaśilām dharmarajikā, i.e., dhārmārājīke Tākshasīlake*). Here then is the question of a stūpa compound connected with Takshaśilā and not of Takshaśilā itself.

Such indications cannot prove anything, but they raise a certain presumption in favour of considering the Sirkap site as the real Takshaśilā.

According to Sir John Marshall,¹ Sirkap occupies the western spur of the hill of Hathūāl. A glance at the map will show that Hathūāl is a well defined hill, being separated by a distinct depression from the main ridge of hills stretching across the whole tract from north-east by east to south-west by west. If the oldest town known under the name of Takshaśilā is represented by the Sirkap remains, it would then a priori seem likely that *śilā*, rock, the last component of the name Takshaśilā, bears reference to the hill now known as Hathūāl. Such attempts at explaining the meaning of the name as are known from literary sources do not, however, seem to favour this explanation.

The oldest one takes us back to the third century B.C., when Aśoka was King Bindusāra's viceroy in the Takshaśilā country, and it is found in the Aramaic inscription which Sir John found at Sirkap.² According to the late Professor Andreas³ this record mentions a certain Romedatā, evidently an Iranian, as 'town-friend' of Nagaruta, praises his zeal, and also gives the name of the governor or viceroy Priyadraśi. Priyadraśi is of course the well-known designation of the later emperor Aśoka, and Romedatā must have been his chief official in a place called Nagaruta. Andreas explains *Nagaruta* as standing for *Nagānūtha*, a regular Aramaic abstract noun formed from the base *nagār*, carpenter, the whole meaning 'carpentry'. It is evident that this is meant as a translation of *Takshaśilā*, *taksha* having been identified with the base *takshan*, carpenter, and *śilā* having perhaps being confounded with *śīla*, custom, practice.

If Andreas was right, as I think he was, the Aramaic rendering of the name shows that it was no more immediately intelligible, the final *śilā* being wrongly rendered, but that it was felt to have some connection with the base *taksh*.

The Purāṇas give another explanation of the name. According to the Brahmandā and the Vāyṇ it was the residence of Taksha, the son of Bharata. The same story is told by Kālidāsa, Raghuvamśa XV, 89, and it has also found its way into the corrupt stanza VII 101 11 of the Bombay edition of the Rāmāyaṇa. It is, however, evident that Taksha has simply been invented in order to explain the name, and that the tale is not based on genuine tradition.

A third explanation is indicated in the 22nd tale of the Divyāvadāna: In bygone days Takshaśilā was called Bhadrāśīlī. In a previous birth the Buddha was king Chandra-prabha of Bhadrāśīlī, who was famous for his liberality and went so far that he cut off his head (*śiṅghā*) and gave it to the Brāhmana Raudrāksha.

¹ *Guide to Taxila*, 2nd ed., Calcutta, 1921, p. 4.

² *Guide*, pp. 77 ff.

³ *Nachrichten von der Gesellschaft der Wissenschaften zu Göttingen*, 1931, pp. 6ff., cf. also Herfeld *Ep. Ind. XIX*, pp. 231 ff.

It is evident that the story is meant to explain how the name of the town came to be changed from Bhadrāśīlā to Takshaśīlā. In its Sanskrit form it does not, however, give any such explanation. We can see that *śiraḥ* is meant to explain *śīlā*, and *chhittvā* to explain *taksha*. In other words we must think of an original where the word for 'head' might be suggested by *śīlā*, and where there was a word meaning 'to cut' which might be connected with *taksha* on one side and *chhid* on the other. Now we learn from Hemachandra, IV, 194, that the Prakrit substitutes of the base *taksh* are *tachchhai*, *chachchhai*, etc., and in Māgadhī *śiraḥ* would become *śīla*. We are thus led to think of Māgadhī *śīlaṃ tachchhittā* as the original form which the Divyāvadāna *śiraḥ chhittvā* has been derived. The story must consequently have been originally told in Māgadhī, and in a country far removed from Takshaśīlā, and it is based on a complete misunderstanding of the name. Though the Mūlasarvāstivādins, to whose school the Divyāvadāna belongs, were strongly represented in the north-west, this particular tale cannot accordingly have had its origin there.

The various attempts at explaining the name Takshaśīlā do not, as we have seen, help us much. They only show that the meaning of the name must have been lost sight of at a comparatively early time, since the last part *śīlā*, could be variously confounded with *śīla* and *śiraḥ*.

About twenty years ago¹ Professor Sylvain Lévi published the important Yakshas-catalogue contained in the Mahāmāyūri. Here a long series of local names are enumerated, each connected with its special Yaksha. The text is found in Sanskrit manuscripts, in Tibetan, and in several Chinese renderings: by Saṅghavarman (A.D. 516), I-tsing (A.D. 705) and Amoghavarjia.

In vv. 32 f of the text we read :

Pramardanātcha Gāndhāre Takshaśīlāyāṃ Prabhajjānaḥ.

Kharapottā mahāyaksho Bhadrāsīle nāvāsikaḥ.

'Pramardana in Gāndhāra, Prabhajjana in Takshaśīlā, the great Yaksha Kharapottā residing in Bhadrāśīla.'

It is *a priori* likely that Bhadrāśīla has something to do with Bhadrāśīlā, which the Divyāvadāna, as we have seen, gives as the name of Takshaśīlā in earlier periods of its existence. We are thus left with the impression that Takshaśīlā is represented twice, under its names in two different world-periods.

A look at the various readings will, however, at once show that Bhadrāśīla cannot be the original reading, but that it has replaced another name, probably under the influence of the Divyāvadāna story.

Another Sanskrit manuscript gives *Daśasīle*, which does not help us. Saṅghabhadra and I-tsing, on the other hand, give *Ch'o-to-shr-lo*, which Professor Lévi proposes to restore as *Chhai daśasīla*, and Amoghavarjia's *T'u-shan*, 'vomit-hill', and the Tibetan *Skynugs-pa-yi*, with the same meaning, look like translations of some such form.

¹ Journal Asiatique, xi, v, 1916, pp. 18 ff

It seems to be evident that *Ch'o-to-shr-lo* is a rendering of the name which originally stood in the text. There is not, however, anything which points to the existence of a *r* in the name. According to Professor Karlgren, Nos 1219, 1011, 886 and 569, the 7th century pronunciation of the Chinese signs was *Ch'iat-d'ā-sai-lā*, which looks like a rendering of a *Chhadāśilā* or *Chhadāśilā*, and I have no doubt that the latter actually stood in the text, and that *chhadā* was thought to be derived from the base *chhrd*, to vomit.

My reason for thinking so is that *Chhadāśilā*, as the name of a locality in the neighbourhood of Takshaśilā, actually occurs in a Kharoshthi inscription which Sir John Marshall has unearthed at Kalawān, a site three miles south-east of Sirkap, on one of the flat-topped eminences jutting out on the north side of the Margalla hills.

In my edition of this inscription¹ I have shown that *Chhadāśilā* must have been the name of an old township at the site. And it is evident that *Chhadāśilā* contains the same element *śilā*, rock, as Takshaśilā. And since the Margalla hills, where *Chhadāśilā* was situated, are a continuous chain, while Hathyāl, the seat of ancient Takshaśilā, is detached from the main range, it is tempting to derive *taksha* in Takshaśilā from the base *taksh*, to chop, and identify *chhadā* in *Chhadāśilā* with the word *chhatā*, mass, lump, continuous streak. In this connection it is then of interest that the word *chhatā* is of frequent occurrence in Kashmir works such as the Kathāsaritsāgara and the Rājataranginī, because we have every reason for assuming that the Prākṛit of Kashmir was closely connected with the Takshaśilā dialect.

If then *Chhadāśilā* means 'range-hill' and, further, 'town on the range of hills', and Takshaśilā 'chop-hill' and, further, 'town on or below a detached hill' it seems necessary to draw the inference that the name was originally applied to the Sirkap city, which is thus situated. The Aramaic inscription, however, points to the conclusion that the original meaning of the name had already been forgotten in the third century B C. After the sack of Sirkap by the Kshānas the old name might therefore easily be transferred to the new capital, i.e., to the Sirkap city.

¹J R A S, 1932, pp 945 ff.

आर्यमञ्जुश्री-मूलकल्प

(श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल, विद्यामहोदधि)

भारतीय-इतिहास आदिम आर्यकाल से ई० स० ३४८ तक पुराणों में—वायु और विष्णु तथा भागवत में (मत्स्य में २४८ ई० ही तक)—अंकित है। इस के अनन्तर का लिखित इतिहास आज तक नहीं मिला था।^१ पर अब सौभाग्यवश पूरा इतिहास भगवान् बुद्ध के कुछ काल पहले से मौर्यकाल तक प्रायशः रूपरेखामात्र, और पल्लवितरूप से शकवंश से पालवंश के प्रथम राजा गोपाल के अन्त तक का, संस्कृत में प्राप्त हो गया। यह इतिहास बौद्ध महायान के आर्य मञ्जुश्री-मूलकल्प नामक तन्त्रग्रन्थ में १००० श्लोकों में दिया हुआ है। अर्थात् कोई २०० ई० पू० से ८०० ई० तक १६०० वर्षों का इतिवृत्त हम में है। और यह इतिहास ठोक है। एक ही प्रति इस ग्रन्थ की मिली जो त्रिवेन्द्रम (अनन्तरायन) राजधानी (त्रावनकोर राज्य) से ८० म० गणपति शास्त्री द्वारा मम्पादित हुई। १८२५ ई० में इस का तृतीय खण्ड छपा जिस में यह इतिहास राजा व्याकुल नाम के अध्याय में है। यह ग्रन्थ ८०० ई० के लगभग गौड़ अथवा मगध में पालों के राज्य में लिखा गया। ग्रन्थ का शब्दशः अनुवाद तिब्बती भाषा में भारतीय पण्डित कुमार कलश ने १०६२ ई० में किया। अतः ग्रन्थ के प्रामाणिक होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता। संस्कृत इस की बौद्धो वाली भाषा प्राकृतमिश्रित है।

मैंने भदन्त राहुल सांकृत्यायनजी की सहायता से तिब्बती ग्रन्थ से पाठ मिला कर इस का बड़े परिश्रम से अध्ययन किया। इस ग्रन्थ में अमूल्य धारें मिली जिन से प्रायः सब भगड़े और मंशय जिन्हें विन्सेट स्मिथ आदि इतिहासकारों ने ठठा रक्खा था, वे हो जाते हैं। यदि इस का पुराना अनुवाद तिब्बती में न होता तो पारचात्य विद्वान् लोग और उन के अनुज अनुयायी कहूँ उठते कि ग्रन्थ आधुनिक है, अब बनाया गया है।

तन्त्रयुक्ति

मञ्जुश्री के राजन्याकृति की तन्त्र-युक्ति इस प्रकार है, पुराना इतिहास बौद्ध धर्म-ग्रन्थों से, फिर प्रान्तिक इतिहास (उत्तर जावा आदि हिन्दुतापुत्रों के सहित दक्षिण का, पश्चिम और पूरव के भागों का), तब मध्य-देश के साम्राज्य का, फिर गौड़ वङ्गाल का, तथा समाजनेताओं का ऐतिहासिक ग्रन्थों के आधार पर। बुद्ध के समसामयिक राजाओं का नाम दे कर काशी के—

ब्रह्मदत्त वंश

की तालिका दी है। कोसल और मगध के अभ्युदय के पूर्व काशीवंश का दर्जा मन्त्राज् वंश का था। कोसल बुद्ध जन्म के पूर्व काशी के अधीनस्थ था। काशी से ही निकल कर शैशुनाक वंश ने मगध पर राज करना शुरू

(१) 'कलियुग राजवृत्तान्त' एक नया बनाया हुआ ग्रन्थ अप्रामाणिक, गदन्त मात्र है जो युरोपीय विद्वानों के विचार की छाया पर लिखा गया है, यथा—काच को ससुद्रयुक्त का बड़ा भाई कहा है, इत्यादि। वे विचार अप्रामाणिक थे।

किया। अर्थात् २०० या ३०० वर्ष बुद्ध और प्रसेनजित् ऐस्वाक के पहले, काशी वाले ही कुरुपाञ्चाल की सीमा से (अथवा कुरु भी शायद उन के नीचे आगया था) अङ्ग तक राज्य करते थे। उस समय वज्र का कोई राजा प्रथक् न था। केवल तीन बड़े राज्य थे और सब मे प्रधान काशीराज्य था, (१) काशी, (२) वत्स (चेदि-सहित) और (३) अवन्ति। अवन्ति उज्जयिनी वीतहोत्रों के सुशासन में थी और कौशाम्बीस्थ युधिष्ठिर के वंशजों के हाथ मे वत्स-चेदि। इन तीन ही महाराज्यों मे उत्तरीय भारत बैठा हुआ था। काशी के नीचे अवध तथा उत्तरी दक्षिणी बिहार (मिथिला मल्ल देश तथा मगध अङ्ग) समस्त था। और काशीराज्य वस्तुतः उस समय पहला साम्राज्य था। वत्स के राजा को मञ्जुश्री ने सब से कुलीन कहा है।

शैशुनाक और नन्दवंश

पौराणिक शैशुनाक वंश के राजा बिम्बिसार से अजातशत्रु के लड़के उदायी तक की चर्चा इस नवोपलब्ध ग्रन्थ मे पाई जाती है। लिखा है कि भगवान् बुद्ध के उपदेश उदायी के राज्य मे लेखबद्ध किये गये।

नन्द को लिखा है कि वह पहले राजमंत्री था, बड़ा प्रतापी हुआ और बहुत सुयोग्य शासक था पर उस समय का नीचतम मनुष्य है। बर्खान महापद्मनन्द वाला है। नई बात यह है कि यह पहले मन्त्री था। इस का मन्त्री बरहचि बौद्ध था तथा राजा नन्द वैदिक था। ब्राह्मणों का बहुत मान करता था। पाणिनि इस के मित्र थे। मन्त्रिपरिषद् ने राजा का विरोध किया। पर अपने भाग्यवश यह मर गया। मन्त्रिपरिषद् का उस समय बहुत प्रभाव जान पड़ता है।

मौर्य वंश

चन्द्रगुप्त का कोई ४५ वर्ष की अवस्था के लगभग मरना सूचित होता है। क्योंकि बिन्दुसार नावालगरी में सिंहासन पर बैठा, उस समय विष्णुगुप्त चाणक्य मंत्री था और परले राज्य अर्थात् अशोक तक कुछ काल मंत्री रहा। विष्णुगुप्त का हाल दो जगहों मे दिया है। एक मौर्यवंश के अन्तर्गत और दूसरे जहाँ बड़े बड़े ब्राह्मणों और बौद्ध संन्यासियों का वृत्त (ग्रन्थ के अन्त मे) दिया है, वहाँ, चाणक्य को बहुत न्यायी और योग्य शासक कहा है। केवल उस के क्रोध की निन्दा की है। बिन्दुसार को बहुत अच्छा बोलने वाला (वाम्नी) और हठ विचार वाला लिखा है।

युष्पमित्र

इसे गोमि और गीमिषण्य नाम से पुकारा है और कहा है कि बौद्धधर्म का इस ने लोप किया। बौद्धधर्म के द्रोहिणों के नाम बदल कर दिये हुए हैं। यथा मिहिर (सूर्यगुल) को 'ग्रह' और शयाक को 'सोम'।

यक्षवंश

बौद्धधर्म का उद्धार यक्षवंशी गम्भीर और उस के पिता बुद्धयक्ष ने किया। यक्ष-भूमि इस ग्रन्थ मे, तुर्किस्तान (Central Asia), हिमालय के उस पार के देश को कहा है। यक्षवंश के गम्भीर को मैं क(दु)फ्रीम् (Kaphrees) समझता हूँ। ग(दु) भी म् का गम्भीर कर दिया गया है। उस के पिता को मैं ह(दु)वि कहा है। हो सकता है कि यह म(दु) हा यु ति (Treat Fta) का परिवोधक हो।

प्रादेशिक इतिहास

नेपाल और चीन जिस से तिब्बत का अग्निप्राय है ('महाचीन' इस ग्रन्थ में चीन को कहा है और 'चीन' तिब्बत को) तथा खोतन-काश्मीर का प्रान्तिक इतिहास, हर्ष के समय तक का तथा दक्षिण के पल्लव और चालुक्य राजा आदि जो हर्ष के समय में थे उन का तथा भारतीय द्वीपों के उस समय के राजाओं का और पश्चिम में वल्लभी-कुल तथा यादवों के गणों का हाल दे कर फिर मुख्य इतिहास का—

मध्यदेश के साम्राज्य-क्रम

का वर्धन शकवंश से ले कर पालवंश तक हमारे बौद्ध इतिहास-कार ने दिया है। यह इतिहास बिल्कुल इतिहास रूप में है, जैसा पुराणों में राजातुल्यकथाएँ दी हुई हैं उसी प्रकार। विशेषता यह है कि बहुतेरे राजाओं का बहुत अच्छा चरित्र-चित्रण है। स्कन्दगुप्त को सर्वश्रेष्ठ गुप्त नृपेन्द्र माना है और समुद्रगुप्त को ऐहिक-साम्राज्य मानते हुए लिखा है कि इन के राज्य में ब्राह्मणों की जय थी और मनुष्य तथा पितरों को सब भोग प्राप्त थे। कभी इस में यह है कि वंशों का नाम नहीं दिया है। शकवंश और श्रीकण्ठ-स्थाण्वीश्वरवंश को छोड़, किसी का वंश नाम नहीं है। और कहीं कहीं केवल नाम को पहले अक्षर मात्र से दिया है, जैसे स का रा दि = स्कन्द। इस से मुझे इस इतिहास के हल करने में बड़ी श्रम पड़ा जो कुंजीहीन किसी म्लेच्छित लेख (Code-writing) के पढ़ने में। पर हल हो जाने पर यह इतिहास बहुत ही स्पष्ट हो गया और श्रम मिट गया और उस की जगह सुख का अपूर्व अनुभव हुआ। मैंने समझा, माता सरस्वती ने मेरे ही लिए यह रहस्योद्घाटन रख छोड़ा था। इस का मध्यदेशीय इतिहास ऐसे ठिकाने का है कि विन्सेट स्मिथ के भ्रम सब दूर हो गए और उन का इतिहास झूठा पड़ गया। मञ्जुश्री के इतिहासकार ने यह स्पष्ट कर दिया कि एक साम्राज्य आर्यावर्त में बराबर लगातार अनवच्छिन्न बना रहा; काशी-राज्य से पाल-राज्य—८०० ई० पू० से ८०० ई० तक—अर्थात् जब तक का इतिवृत्त ग्रन्थ में अङ्कित किया जा सका है तब तक एक साम्राज्य कायम रहा। शकवंश के पहले का हाल सब जानते हैं। केवल काशी-साम्राज्य का हाल नया था सो हमने दे दिया है। इस अपने इतिहास के अनुसार, शकवंश से ले कर पालवंश तक आर्यावर्त-साम्राज्य के अधिकारी निम्नलिखित राजवंश हुए :—

१. शकवंश, जिनका वंश लोप करनेवाले

२. नाग और सेन अथवा नागसेन हुए।

एक स्थान पर इस साम्राज्यतन्त्र की पुनरुक्ति है अर्थात् गौड़ देश के इतिहास में, जो साम्राज्य-इतिहास के बाद दिया गया है, इस का दुबारा किंक है। उस में 'नागसेन' की जगह 'नागराज' लिखा है। ये नाग-राज भारशिव सम्राट् थे। और इन के समधी और नाती सेन नामधारी प्रवरसेन, रुद्रसेन, आदि वाकाटक ब्रह्मचत्रिय राजा हुए जो विन्ध्यशक्ति के दंशज और विष्णुवृद्ध वंश के थे। गौड़ैतिहास में नागों के बाद प्रभविष्णु दाक्षिणात्य का राज्य लिखा है। दाक्षिणात्य से मतलब अन्तर्वेद से दक्षिण विन्ध्य से है, क्योंकि विष्णुवृद्ध वाकाटक वंश विन्ध्य से ही राज्य करता था। प्रभविष्णु से वात्पर्य विष्णुवृद्ध से है। नाग और प्रभ-विष्णु के अधीन गौड़-मगध का शासन लिखा है। प्रभविष्णु ने वहाँ एक उपराज नियुक्त किया था। लेकिन नागों का खास अपना शासन वहाँ (पूर्व में) था। पुराणों में भी लिखा है कि चम्पावती से नवनाग पूर्व का

राज्य करते थे। नवनाग का ही (सरकारी) नाम भारशिव था। नव नाम का पहला सम्राट् था बड़ा राजा हुआ जिस ने कुषाणों को मार अन्तर्वेद को स्वतन्त्र किया। इस के सिक्के संयुक्तप्रान्त में बहुत मिलते हैं और नव के उत्तराधिकारी वीरसेन के तो पञ्जाब तक पाये जाते हैं।

यहाँ शको को मध्यदेश का राजा मानना यह सिद्ध करता है कि कुषाण लोगों को ही हमारे यहाँ शक कहते थे।

४—चौथा वंश गुप्त सम्राजों का है, इन को मूलकल्प ने नृपेन्द्र कहा है अर्थात् Imperial Guptas समुद्रगुप्त से ले कर बुधगुप्त तक अपने इस इतिहास में सम्राज् माने गये हैं। बुध गुप्त का नाम इस ने उकारादि दिया है और इसे कुमारगुप्त (द्वितीय) का उत्तराधिकारी कहा है। कुमारगुप्त द्वि० के बाद बुधगुप्त राजा हुए थे यह शिलालेखों से निदित है। उस समय का एक सम्राज्नी सिक्का है जिस पर '४०' लिखा हुआ है, कोई जानता नहीं था कि यह सिक्का किसका है। अब मालूम हुआ कि यह बुधगुप्त का ही है। इस पर विरुद नाम प्रकाशादित्य है। लिखा है कि उकारादि के बाद गुप्तवंश के दो भाग हो गए, एक गौड़ (बंगाल) में और दूसरा मगध में। तब एक शूद्र पश्चिम से उकारादि चढ़ आया और मगध तक पहुँच गया। यह 'ह०' दूख है अर्थात् तारमाख। वह काशी में मर गया। उस का लडका जो बड़ा दुष्ट था घेर कर मार डाला गया। काशी में प्रकटादित्य राजा हुआ और प्रकटादित्य के समय में कामरूप और बर्मा तक राज्य हुआ। पर विन्ध्य में (मालव में) उस के वंश के देव (गुप्त) सिद्धराज ने अपने को वहाँ की जनता से राजा बनवा लिया। प्रकटादित्य ने ५४ वर्ष राज्य किया और इसी के समय में शशाक हुआ जिस का नाम सोम कह कर दिया है। प्रकटादित्य का भाई व (वज्र) उस के बाद राजा हुआ। फिर कोई १० वर्ष के अन्दर रान्यवर्द्धन का राज्य हुआ। यह गुप्त-साम्राज्य के टूटने का इतिहास दिया हुआ है। प्रकटादित्य सम्राट् बालादित्य द्वितीय का वेदा था यह सारनाथ के शिलालेख में है। शिलालेखानुसार वह काशी से राज्य करता था। स्मिथ आदि को दूसरे बालादित्य का पता नहीं, उसे पहले बालादित्य से उन नव इतिहासकारों ने मिला दिया है और भ्रान्त हो गए हैं; नतीजा यह हुआ कि गुप्त-साम्राज्य का टूटना उन्होंने ने ४०, ५० वर्ष पहले मान लिया।

गुप्तवंश दूखों के ध्वस्त होने पर भी फिर नहीं सम्राज् होने पाया। इस का कारण इस इतिहास में यह मिलता है कि प्रकटादित्य कुमारवर्षा में कैद किया गया था। इसे गोपराज ने बन्दी किया था। दूख ने इस छोकरड़े को मगध की गद्दी दे बनारस में बिठलाया। पर यह राजा उस समय नहीं बल्कि दूख के बेटे महु (अर्थात् मिहिर) के बाद हुआ। लोगों ने इसे बीच समस्त भारत का सम्राट् अन्य को माना जो—

५—विष्णुवर्द्धन था। इसे शिलालेखों में विष्णुवर्द्धन यशोवर्मा कहा है। इस के बश में तीन पीढ़ी तक साम्राज्य रहा। फिर—

६—मौखरिवंश वाले सम्राट् हुए। शिलालेखों के अनुसार निर्मह (हिमालय) से ले कर अन्ध्र देश तक और मगध से पश्चिम समुद्र तक मौखरियों का राज्य था। पर तो भी स्मिथ आदि की समझ में न आया और उन्होंने ने लिखा कि कोई साम्राज्य हर्ष के पहले ५० वर्ष तक न था। यह बात अब भ्रान्त-सावित हो गई।

७—सौखरियों के बाद श्रीकण्ठ स्थाण्वीश्वर का वंश दिया है। लिखा है कि हर्ष ने गौड़ के बौद्ध-धर्मद्रोही सोम (शशांक) को पराजित किया। पुण्ड्रवर्द्धन पर युद्ध हुआ और शशांक को यह दण्ड दिया गया कि आश्रित्य वह पुण्ड्रवर्द्धन राज्य को बाहर न जावे। शशांक ब्राह्मण था और उस के समय में वैदिक धर्म का प्रचार हुआ। बौद्ध मठों के मसालों से शहरवालों के मकान पुण्ड्रवर्द्धन में बने।

८—हर्षवर्द्धन के बाद उस का नाती ध्रुवसेन (तीसरा) आर्यावर्त का सम्राट् हुआ। इस के लड़ाई के जहाज़ भी बहुत थे। ताम्रपत्रों में यह चक्रवर्ती लिखा है। इसके वंश में कम से कम एक और सम्राट् लिखा हुआ है। फिर—

९—गुप्तवंश की शाखा जो गौड़ में थी और गौड़वंश कहलाती थी उस का साम्राज्य हुआ। इन्हें स्मिथ *Later Guptas* कहते हैं पर ठीक नाम 'गौड़-गुप्तवंश' होना चाहिए। इन में आदित्यसेन हुआ जिस ने ३ अश्वमेध किए। अपने इतिहास में उस के ३ वंशजों के नाम दिए हैं, देवगुप्त चन्द्रादित्य द्वादशादित्य। चन्द्रादित्य और द्वादशादित्य के सिके मिलते हैं और देवगुप्त का नाम शिलालेखों में है।

इन के समय में मगध में कुछ दिन तक राज्य इन के अधीनस्थ राजा यकारादि का हो गया था। यह य० मेरी समझ में यशोवर्मा कन्नौजवाला सोमवंशी राजा है।

१०—लिखा है कि द्वादशादित्य के बाद या उस के समय में बंगाल ने अपना राजा चुनाव से एक शूद्र को बनाया। फिर उस के बाद एक दूसरे शूद्र गोपाल को चुना और उस का वंश चला। इन्हें अब पालवंशी कहते हैं पर इस ग्रन्थ में 'गोपालाः' नाम दिया है अर्थात् गोपालवंश। यह साम्राज्यक्रम दिया हुआ है। इस में विष्णुवर्द्धन, सौखरि, बलभी और गौड़वंश के साम्राज्यक्रम का आधुनिक ऐतिहासिकों को पता न था। न वे यही जानते थे कि शशांक ब्राह्मण था। उसे वे गुप्तवंशज ही समझते थे। न अब तक पुण्ड्रवर्द्धनवाली लड़ाई का कोई हाल जानता था। यह भी लिखा है कि बंगाल में शशांक के बाद कुछ स्वल्प काल तक एक गणराज्य रहा।

राजाओं की जातियाँ

मानो योरपीय लेखकों से चिढ़कर सरस्वती ने इस ग्रन्थ का उद्घाटन किया है। वे बहुतेरे हिन्दुओं को म्लेच्छ कहते थे। यह उन्हें गाली देना है। वे कहते थे कि बलभी कुलवाले दूषण थे। इस सब का जवाब इस ग्रन्थ से मिल गया क्योंकि सब वंशों की "पूर्वी" (असलियत) इस में दी हुई है। बलभी कुल को लिखा है कि ये इक्ष्वाकु वंश के थे। इस विषय में श्रीयुत वैद्य की बात ठीक निकली और दूसरों की शोथी ठहरी। गुप्तों को क्षत्रिय लिखा है और हर्षवर्द्धन को वैश्य।

इस ग्रन्थ में बहुत सी नई बातें हैं सब का बल्लेख यहाँ नहीं हो सकता। मैंने इस का सारा तत्त्व एक नये ग्रन्थ में लिख दिया है और पाठ तिब्बती से शुद्ध कर संस्कृत मूल भी दे दिया था। यह ग्रन्थ छप रहा है।

Some Rajput Traditions in South India

श्री० डा० कृष्णस्वामी ऐयंगर, मद्रास

[अग्निकुल के राजपूतों की उत्पत्ति के साथ जो एक कहानी प्रचलित है, उस की प्राचीनता का पता चलाना बड़ा मनोरंजक होगा। दक्षिण के कुछ प्राचीन राजवंश भी अपने को यज्ञकुण्ड से उत्पन्न अग्निकुलवर्गी मानते थे, यह इस लेख के अन्त में दी गई संगम युग की एक प्राचीन तामिल कविता से प्रकट होता है।

इस कविता में पारि नाम के एक वेद (सरदार) की दो कन्याओं को उसका एक मित्र कपिल नामक ब्राह्मण कवि विवाह के लिए पास के अरै न्यम के एक दूसरे वेद इहँ गो के पास ले कर जाता है, और विवाह के लिए प्रार्थना करता है। इसमें वह कन्या के स्वर्गीय पिता का वर्णन कर के इहँ गो के वंश का वर्णन करते हुए उसे अपि की यज्ञाभि से उत्पन्न द्वारक के एक राजा का वंशज और उस की ३१ वीं पीढ़ी में उत्पन्न कहता है। तामिल ग्रन्थ विरवपुराण्य के अनुसार यह अपि शम्भु था। उरायों में इस अपि का पता नहीं मिलता पर भागवत में इका की कहानी में इस की ओर निर्देश प्राप्त होता है। तामिल अनुश्रुति यह है कि अगस्त्य मुनि दक्षिण आते समय अपने साथ द्वारका से विष्णु या कृष्ण से कह कर अपने साथ १२ राजा और बहुत से सरदारों के परिवारों को दक्षिण ले आये थे। इससे दक्षिण में द्वारका में आर्य, प्रवासियों का आना सिद्ध होता है। कम से कम दक्षिण के राजघरानों में ऐसी अनुश्रुति विद्यमान है। केवल साहित्य से ही अश्विवंश की स्थिति सिद्ध नहीं होती, बल्कि लगभग २०० ई० पू० में नानाघाट वाले नागनिका के अभिलेख में उस के पिता को अग्नि कुल वर्धनो कहा है। विद्वानों ने इसे अन्न से आया हुआ परिवार समझा है। पर वस्तुतः यह अग्नि का प्रकृत रूप है। तेलुगू भाषा में इसी का अपभ्रंश अग्नि आज भी प्रचलित है। उपर्युक्त वेद (सरदार) भी उसी स्थान का रहने वाला था जहाँ नागनिका के पिता के सिक्के पाये गये हैं।

एक दूसरी कविता के अनुसार इसी समय तामिल देश के एक दूसरे कान्ची के सरदार को विष्णु का यशस्वर कहा है। इस के पुरुषों में अयोध्या के कुछ एक इक्ष्वाकु राजाओं के नाम हैं। इस के पास के प्रदेश में ही नागाह्वनी कौंडा से हाल में ऐक्ष्वाकुओं के अभिलेख भी मिले हैं। ऐक्ष्वाकुओं का अस्तित्व आन्ध्र अभिलेखों से भी प्रकट होता है। यह सरदार चोल पिता का पुत्र है। बादामी के बालुक्य भी अपने को सूर्यवंशी कहते थे।

उपर्युक्त ऐक्ष्वाकुओं के अभिलेख सव २५० ई० के पहले के हैं। संगम-युग को भी इन २०० ई० से पीछे का नहीं मान सकते।

It is a fairly well-known fact that there is a tradition connected with some of the Rajput families that they belong to a group called Agnikula, and a rather fanciful tale has been invented to account for the designation Agnikula. It would be interesting therefore to examine how far back this story could be traced, and whether there were any other families of rulers, who claim similar association. The enclosed translation of a Tamil poem seems to contain the story of the founder of a royal family, appearing from out of the sacrificial fire, and thus giving the name to the dynasty, though perhaps the dynasty may, for all that we know, be altogether unconnected with any of the Rajput families of a later time that lay claim to this ancestry. The story of the fire-born family is briefly this

There was a chieftain by name Pāri, whose demesne lay in the region towards the Western Ghats in the distant south of India. He was one among the seven chieftains, known to Tamil literary tradition, as the last seven patrons of literature. The significance of the tradition is that, in the early stages of development of literature, it had to depend upon private patronage, that is, patronage of individuals as distinct from

foundations for the promotion of learning. Among those that have left an impress in this department of patronage a certain number are regarded as pre-eminent, and, obviously on the basis of chronology, they happen to be divided in the Tamil country into the early, middle and later patrons. Either as a matter of chance or because the number was fixed by design, each one of these groups consisted of seven individuals. The following were the seven belonging to the latest group.—

- | | |
|---------|--------------------|
| 1 Pehan | 4 Āay |
| 2 Pāri | 5 Adhikan |
| 3 Kāri | 6 Nalli, and 7 Ōri |

The poem¹ that celebrates these definitely also associates with them the three far-famed kingdoms of the Tamil land, the Chola, the Pāndya and the Chera. The general disposition of the Tamil country politically was that there were the three kingdoms in the localities, along the coast region generally associated with them, more or less extensive, according to the vicissitudes of their history, and, along with them, a certain part of the territory had to be left in the occupation of petty chieftains who had to maintain their authority by the exercise of military power. Not being rulers of large enough territory to be dignified by the title king, nor coming of the same kind of illustrious ancestry to enjoy the dignity, they are given the smaller title of Vels, petty vassal chieftains who owed allegiance to a higher ruler, generally one of the three kings. But one feature attaching to them is the characteristic feature of a disinclination to acknowledge authority and remain loyal, which seems more or less incidental to the exercise of military authority, not the recognised civil authority of ruling sovereigns. Being set over rather somewhat intractable lands not as yet brought into full cultivation and civilised rule, these are sometimes described also as kings of inferior lands, having regard to the character of the country, over which they were set to rule, being under non-regulation territory, the military protection had to be given to the inhabitants as yet in a comparatively rude and but partially agricultural state of civilization. They are described sometimes as *Kuru-Nila Mannar*—kings of lands of inferior fertility, or *Salukku-Vendar*—kings of lower standing. Otherwise they are generically described as Vels. They may be described as a class of noble families, divided into two parts, a small number of ruling families, and the far larger number connected with ruling families and endogamous at least to the extent of girls being accepted for marriage by the ruling families, the families being hypergamous to that extent. Therefore they are of the same kind, but of inferior degree. The seven chieftains under reference therefore belong to the latter class, to attain anon, a large number of them, eminence both by their rule and by their patronage of letters.

This particular chieftain Pāri, one among the seven, had a life-long friend in the Brahman poet Kapila, a Sangam celebrity. After varying fortunes he died, or fell in

¹ *Siru-Pānāruppadai*

battle, leaving behind him two daughters unmarried. As the social etiquette demanded, the life-long friend of the father, the Brahman by birth, and a poet assumed a position in *loco-parentis*, and took the responsibility upon himself of getting the two girls suitably married to discharge his friendly obligation to the late patron. In the course of this interesting mission, he took the girls to a chieftain of similar standing, ruler over the hill called Arayyam, perhaps again in the hilly country of the Western Ghats, by name Irungo, and requested him to accept the girls from him in marriage, the girls who were daughters of Pāri king of Parambil, or Parambū-nādu. In doing so, as he was in duty bound he described the parentage of the girls to begin with, and addressed the chieftain in flattering terms alluding to his own distinguished ancestry in the course of which, he refers to him as a chieftain who came of the family of a king of Dvāraka, who came out of the sacrificial-fire of a *Rishi*. His ancestors counted 49 generations from the founder, and in direct descent from him and, as coming of that illustrious family, Irungo was therefore eminently worthy of the orphan daughters of his own patron Pāri.

The question arises as to who the king of Dvāraka was who came out of the sacrificial fire and founded the long dynasty of 49. I have not as yet been able to trace in Sanskrit literature the actual story under reference, or the king referred to, or even the name of the *Rishi*. But in a Tamil poem known as Viśvapūrāṇasāram,² there is a reference to a *Rishi* by name Sambhu, from whose sacrificial fire a royal family arose. This name is referred to in a similar context in a later Tamil poem also. I have not come upon a Sambhu *Rishi* either in the Mahābhārata or in the Vishnu Purāṇa, or in the Bhāgavata, but I hope to trace it. So far there is a similar reference in the story of Ilā in the nineteenth book of the Bhāgavata. This coupled with the reference to Dvāraka seems to indicate that it may be merely a reference to this story of Ilā, and the forty-nine generations may confirm this. Tamil tradition,³ of course, it is comparatively later tradition, has it that when Agastya proceeded on his civilising mission to the south, he is said actually to have gone to Dvāraka and taken along with him 18 kings and as many families of chieftains of lower dignity than kings, called Vels. Agastya is said to have obtained these from 'the long crowned great one who measured the earth' apparently meaning, of course, Vishnu as Krishna. The combined result of these seems to justify an emigration southwards from Dvāraka, at least there is tradition to that effect among the ruling families of South India. A translation of the poem with a few notes to explain is annexed for reference. It is not literary references alone that make these allusions to the family of Agni. Some of the chieftains contemporary with the early Sātavāhanas, particularly one chieftain who was the father of the great queen Nāgamika wife of the great Sātākarni and mother of the two princes, whose inscriptions and even representation are found in Nānāghat, refers to her father as *Anṅa-kula-Vadhano* in Prakrit,

² Pūṇanūnū Second Ed. of Pandit Dr. S. Iyer p. 313

³ References given on same page as note 2

which put in Sanskrit would be *Āgneya-Kula-Vardhana* *Angi* in Prakrit for *Agni* is not only correct Prakrit but, apparently borrowed through Prakrit, the word is used in classical Tamil, and in a somewhat modified form *Aggi* is used in Telugu and to some extent in Kannada as well. So the *Anga-kula-Vadhano* is not exactly a family coming from Anga, as was attempted to be explained by Professor Rapson and other numismatists. The chieftain is located by his coins as a Mahārati or Mahārāshtrika in the region of Mysore where we have to locate this Irungo Vel as well.

Before concluding the note I would invite attention to another similar tradition prevalent in the Tamil country rather akin to the Rajput tradition also. A contemporary chieftain of the Tamil land, who ruled Kāñchī, is celebrated in another poem⁴ of the same group, and there he is referred to as "coming of the race of the great one of the long crown, who measured the earth and is of the colour of the sea"—a circumstantial description for Vishnu. The chieftain is Ilam Tiraiyan of Kāñchī. He is described as coming in descent from the family of Vishnu, as being the son of a Chola father, among whose ancestors figure some of the names of the Ikshvāku dynasty ruling in Ayodhya, which the Pratihāra dynasty of Rajputs give to themselves in later history. Whether the Chola rulers of the south were connected with the Ikshvākus directly or indirectly, we cannot be quite certain about. But the tradition is there, and several names figure among the Chola genealogies in the legendary part among whom well-known name Sibi is worth mention. Not far removed from this chieftain, we have names of a family of Aikshvākavās, whose inscriptions have come down to us in number in the excavations at Nāgārjunikonda⁵ in the south-eastern part of the Nizam's Dominions and bordering on the Krishna District of the Madras Presidency. These Aikshvākavās are also known from certain Andhra inscriptions. Naturally when the early Chālukyas rose to prominence in Badami (Vātāpi), early in the sixth century, they lay claim to come from the Ikshvāku family. Therefore then, the Sūryavamśa and the Chandravamśa get associated with ruling families of the south who are generally regarded as Dravidian. We shall have to leave it to future research to settle the question whether the ruling dynasties of the south were Aryan or Dravidian, whether they came from the north or whether they were local, and what exactly is the meaning of their associating with their ancestry this connection with the well-known families of the north, which occur in literature not necessarily Brahmanical, at least not all of them Brahmanical. Let us hope that welcome light would come upon us rather sooner than later.

In regard to the chronology of these sources the inscriptions of the Ikshvākus, though undated, are all of them referable to the third century A D, and the literature from which the references are taken in the former part is a body called Sangam litera-

⁴ Perum-pānarrupadaḥ pp 29—31.

⁵ Epigraphica Indica, Vol XVIII

ture by the Tamils, and is referable to a period not later than A.D. 300. This is not the place to go into a discussion of the question; but it may be stated that the political divisions and the geographical distribution of territory, etc., that this body of literature implies could not be located satisfactorily in the fifth or the sixth or the ninth century, all of which periods are suggested by scholars as the age of the Sangam. Not one of those responsible for any of these suggestions has worked it up sufficiently fully to carry conviction. Hence the traditions are traditions in both cases referable generally to the early centuries of the Christian era.

Paranānūru 201. Addressed by Kapilar to the Chief Vēl Irungo of Aṇaiyam

Dost thou deemest knowing who these are? These be then
Daughters dear of Pāṇi—of Parambil king, who
Gifting away his villages to those who his patronage sought,
Bestowed on creeper *Mullai*, in abiding grace,
His car full equipped—earning thus a never-dying fame
Fair-famed Pāṇi whose mount the elephant, sounding bells announced
These be daughters mine, all his life then father's friend,
Brahman born and poet eek, I've brought them o'er
Thou art hero, victor in war, the great Irungo, Vēl,¹ among Vēls
Who, springing from the Northern Sage's pit of Sacrifices, held away
In Tuvatai,² with battlements high of copper wrought, in line
Unbroken from father to son, counting seven times seven
Possessed of elephants in garlands adorned thou art
*Puli-kadi-māl*³ of flowing garland who, in manly duty,
With lavish hand bestowed your splendid gifts—

¹ *Vēl* is a term applied to a class of people of aristocratic dignity falling into two sections—those that rule, and those of lower standing but worthy of giving girls in marriage to ruling families. These have nothing to do with Bellālas, which, so far as we know, occurs only as personal name of certain rulers of the Hoysala dynasty—there having been four rulers of this name in historical times.

² *Tuvatai* is the Tamil equivalent of *Dvārakā*. The late Mr Venkayya suggested a connection with *Dvārakā* (Halobid) the capital of the Hoysalas. Literary references are generally unambiguously to *Dvārakā* in Gujarati, and *Halobid* itself probably traced its name from the northern city of the Yadus.

³ The term means *the Great one who destroyed a tiger*. How the tiger was destroyed is not explained in this case. In the story of the origin of the Hoysalas, the popular derivation is that a sage in penance exclaimed while a tiger was ready to pounce on him, *Ho-y-hut* addressing a man standing near, by name *Sāla*, the two words combining to give the name Hoysala. *Sāla* was the founder of the family, and the incident is said to have taken place in the Vāṃmika temple in the village Angadi in the Western Ghats in Mysore. It is obvious that the story merely attempts to explain the name. A more prosaic derivation is possible and is not without authority. The killing of a tiger is an act of public benefit and those that had the courage to do it were duly rewarded for their bravery, with a position leading up to ultimate rule of the region benefited.

Accept these of me in marriage-gift bestowed,
 Thou valiant one, lord of the sea-girt earth
 With the sky for canopy, lord of hills yielding gold,
 Lord of the victory-winning spear, thine army striking fear
 In thine enemies, Lord of land of extent undiminished.

The Initial Year of the Little Known Eastern Ganga Era

श्रीयुक्त २० सुव्वाराव, एम०ए०, एल०टी०, आन्ध्र युनिवर्सिटी, राजमहेन्द्री

[बड़ीसा के गंग राजाओं के ताम्रपत्रों और राजशासनों में गांगेय वंश प्रवर्धमान विजय राज्यसंवत् का उल्लेख रहता है। इस संवत् का आरम्भ कब हुआ इस पर विद्वानों में विवाद है। १४१ से ७२० ई० तक कई तिथियाँ सुझाई गई हैं। लेखक ने इस विषय पर एक लेख १९३० ई० में पटना की छठी प्राच्य-विद्या-परिषद् के अवसर पर पढ़ा था। उस में तथा अपने तेलुगु भाषा के ग्रन्थ कलिङ्गदेशचरित्र में लेखक ने इस संवत् के प्रवर्तन की तिथि ४६३ ई० ठहरायी है। इस के बाद दो ताम्रपत्र और मिलने से सन् १९३१ ई० में लेखक ने एक दूसरे लेख में ४६४ ई० इस की निश्चित तिथि मानी। इस का कारण कर्दब राजा धर्मल्लेखि के, गंग राजा अनन्तवर्मा (२) और उस के पुत्र देवेन्द्रवर्मदेव के समय के दो ताम्रपत्रों में क्रमशः शक सं० ११३ और गंग कर्दब संवत् ४२० का उल्लेख है। इस राजा अनन्तवर्मा का काल इस के पौत्र तथा ४वें उत्तराधिकारी अनन्तवर्मा वज्रहस्त (३) तथा उस के पौत्र चोडगंग के ताम्रामिलेखों की वंशतालिकाओं के आधार पर श० सं० १०१—३६ सिद्ध हुआ है। उस के लक्ष्मण देवेन्द्र ने सिर्फ आधा ही वर्ष राज्य किया। उस के उत्तराधिकारी गुण्डम का राज्य-काल ४३८—४१ श० सं० है। इसके बाद मधुकामार्थव गरी पर वैदा (शक संवत् ४४१—७०)। मधुकामार्थव का ४२६ ग० सं० का अभिलेख मिला है जिस से सिद्ध है कि पहले और पिछले गंग राजा एक ही थे। इस प्रकार गंग सं० ४२० = श० सं० ४३६-३७। अतः गंग संवत् का आरम्भ गुप्त साम्राज्य के पतन के ठीक बाद ४६४-६५ ई० ठहरता है। पर श्री० जे० सी० घोष ने ज्योतिष द्वारा परिगणन करके सुझाया कि इस का आरम्भ ४६५-६६ ई० होना चाहिए, उसी ठीक है। क्योंकि गुण्डम का राज्यकाल ४३८ श० सं० है; अतः देवेन्द्र का समय ४३६-३७ श० सं० न हो कर श० सं० ४३७-३८ अर्थात् १०१२-१६ ई० होना चाहिए।]

A paper on *Ganga Era* was presented by me to the Sixth All-India Oriental Conference held at Patna in December 1930,⁺ wherein I pointed out that several attempts were made by several scholars to fix the initial year of the Ganga Era and such years as they fixed ranged between A D 349 and 720. In my paper I adduced new evidences based on copper-plate inscriptions and fixed the initial year of the Era in 493 A.D. I expressed the same view first in my Telugu work *Kalingadésa-Chandra* published in 1930.

Since that attempt was made, two new Eastern Ganga plates of Ananta Varma and Ananta Varmadēva's son, Madhu-Kāmārnava-dēva, dated Saka year 913 and Ganga Era 526 respectively, were published in 1931 and 1932 in J.B.O.R.S. Vols XVII and XVIII. After studying the same along with the plates of the Eastern Kadamba King Dharmakadhē of 520 Ganga-Kadamba Era published in J.A.H.R.S. Volume III, I stated in J.A.H.R.S. Volume V (1931) page 274 that the initial year of the Ganga Era

⁺ J.A.H.R.S. Vol V Part 3, pp 200-04

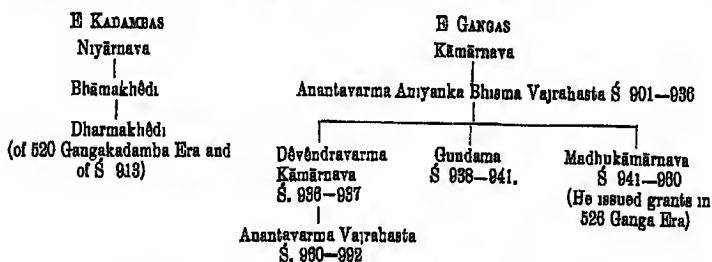
falls in 494 A D for the following reasons:—(1) The discovery of the Jirjungi plates¹ of Indravarma of 39 G E has thrown new light. On paleographical grounds it is the most important in fixing the Ganga Chronology. Its characters are boxheaded and belong to the beginning of the 6th century A D. Since the grant is dated in 39th G E, and since its characters obviously belong to the first quarter of the 6th century A D, we get the beginning of the Ganga Era in or about 490.

(2) The discovery of Madhukamarnava's plates² belonging to the year 526 of Ganga Era is still more important. His successor was Vajrahasta III. According to the genealogy and chronology contained in all his plates, Madhukamarnava ruled from A D 1019 to 1037. If he be supposed to have issued the grant dated 526 G E in the first year of his rule only then the initial year of Era falls in A D 493.

(3) The publication of the Simhapura plates³ of the Kadamba King Dharmakhedī, Ganga Kadamba year 520, has led to the solution of this difficult problem. The Ganga and the Ganga-Kadamba Eras are both one and the same as the E Kadambas were the feudatories of the Eastern Gangas of Kalinga.

(4) The publication of the Mandasa plates⁴ of Anantavarma of Saka Year 913 has further helped in the solution of this problem.

From these newly published copper plates of the Eastern Gangas and Kadamba kings, I was able to construct the following Ganga-Kadamba Genealogy and Chronology from which we get the initial year of the Era in A D 494-95.



From the above table, it is clear that 520 G K year or G year corresponds to Saka year 936-37 or the initial year falls in Ś 416-17 or A D 494-495. But since Gundama came to the throne in Ś 938 and since his predecessor ruled only for half year, his date must be taken as Ś 937-38 or Era A D 1015-16. It is by oversight that I mentioned in my article Ś 936-937 for Ś 937 to 938 and thus gave room to Mr J C Ghosh to

¹ J A H R S Vol III, Part I, pp 49-50

² C P No 5 in A R on S I E p for 1918-19. Also J B O R S Vol XVIII

³ J A H R S Vol III, pp 171—80

⁴ J B O R S Vol XVII, Parts II-III

⁵ J A H R S Vol V, Part 4, p 274

correct me⁶ But I am glad that, by astronomical calculations worked out by him, he confirmed my theory which is further supported by Mr. D C Sirkar, M.A.⁷

Two recently published works, viz, *History of Orissa, Vol I, (1930)* by R. D. Banerji and *The Historical Inscriptions of Southern India (1932)* by Robert Sewell and Dr S K. Iyengar, still assume that the Ganga Era might have begun in A D 778 or 741 and A D 877-78 respectively The author of the former work, while criticising the views of Mr G Ramadas regarding Ganga Era and while stating that the initial year cannot lie in A D 349-50 as stated by him, held that the problem of the history and chronology of the Early Gangas of Kalinga and the Era used by them is still far from being solved It is a pity he has not lived to see his desire fulfilled His own assumption that the initial year might have been A D 778 or A D 741 is wrong and baseless⁸ Similarly Robert Sewell and Dr S K Iyengar in their work noted already assumed that the Epoch was the year of Kamaranava III's accession, viz, 877-78⁹ Similarly, Mr G Ramados stated several times that the initial year falls in A D 349-50 depending upon astronomical calculations and paleographical evidences¹⁰ While the latter were demolished by the late H D Banerji, the former were made applicable to the year 495-496 also by Mr J C Ghosh Under these circumstances, his theory cannot stand The Imperial Guptas who conquered the East Coast up to Kanchi would not have allowed the Gangas to found an Era of their own It was therefore after their fall in A D 495 that the Gangas founded their era The Mankharns of Magadha also did the same at exactly the same year Hence, it must be clear that the E Gangas started an era of their own after the fall of the Guptas in A D 495-496¹¹

⁶ Ind Ant Vol LXI, Dec 1932

⁷ J A H R S Vol VII, pp 229-30

⁸ Pages 150, 153, 181, 226 and 239 of his work.

⁹ Pages 44, 50, 58 and 367 of this work.

¹⁰ J B O R S Vol IX, Parts 3 and 4, pp 398-415

¹¹ J A H. R. S. Vol V, Part 4, pp. 267-276

३

मध्य काल

New Light on the History of the Gujarat Rāshtrakūṭas

प्रो० डा० अश्वमेध, एम० ए०, डि० लिट्, हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी।

[लेखक ने गुजरात के राष्ट्रकूट राजाओं के दो नए ताम्रपत्र ए० ई० में प्रकाशित करने को भेजे हैं। इन से गुजरात के राष्ट्रकूटों के इतिहास पर कुछ नया प्रकाश पड़ता है।

(१) यह विदित है कि मान्यसेन के राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष के खिलाफ विद्रोह हुआ था, और उसे कुछ काल तक गद्दी से उतरना पड़ा था। अमोघवर्ष का मृत्यु ८०८ ई० में हुआ और १ वर्ष की अवस्था में वह गद्दी पर बैठा। गुजरात का शासक उस का चाचा कर्क उस का संरक्षक था। ८१६ ई० तक यह विद्रोह नहीं हुआ था, यह कर्क के नवसारी-हामपत्र से सिद्ध है। परन्तु सूत्र के इस नए ताम्रपत्र में, जो कि ८२१ ई० का है, कर्क द्वारा इस विद्रोह के शमन का उल्लेख हुआ है। अतः ८१६-२१ ई० के बीच यह विद्रोह हुआ।

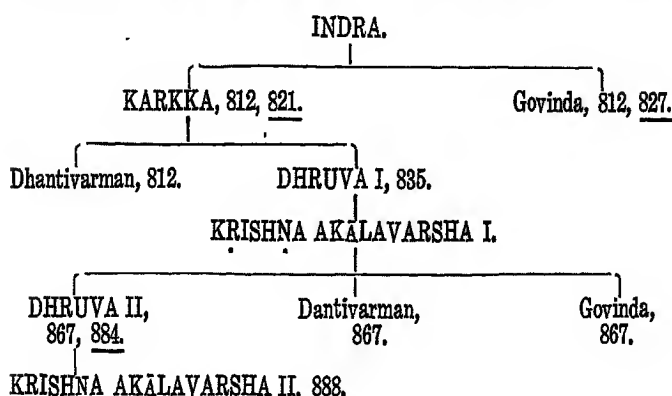
(२) कावीवाले ताम्रपत्र को कर्क के भाई गोविन्द ने निकाला है, यह देखकर हुआ और बुद्धर ने अंशज किया था कि गोविन्द ने अपने भाई का राज्य हथिया लिया था। यही कारण है कि गुजरात शाखा के अन्य लेखों में उस का नाम नहीं। पर यह ठीक नहीं। असल में गोविन्द गद्दी पर बैठा ही नहीं। वह तो राजद्रोह को शास्य करने गए हुए अपने भाई कर्क की अनुपस्थिति में उस के प्रतिनिधि की हैसियत से ही राज्य करता था। कावी-राज्यासन में वह अपने भाई की प्रशंसा करता है।

(३) कृष्ण अकालवर्ष (३) किस का लड़का था सो अज्ञात है। भाकुलेरवर वाले ८८८ ई० के ताम्रपत्र में कर्क तक की वंशावली देकर आगे उस की पुत्र-कामया प्रकट की गई है। इस दृष्टिकोण का चौपा पाद अपूर्ण है। इस के बाद दन्तिवर्मा का उक्ति है और तब कृष्ण अकालवर्ष का। इस के आधार पर यह अनुमान किया गया था कि भुव (२) के बाद उस के दादा भुव (१) के भाई दन्तिवर्मा के, जो कि ८१९ ई० के कुरीब था, लड़के कृष्ण अकालवर्ष ने राज्य किया। पर भुव (२) का यह नया ताम्रपत्र ८८४ ई० का है अतः लगभग ७० वर्ष बाद, अपने भाई के पंथ में ३ पीढ़ियों राज्य चलने के पीछे, दन्तिवर्मा के लड़के का फिर से गद्दी पर बैठना जैबता नहीं।

इस लेख के शुरू में ही गई वंश-तालिका से पता चलता है कि पिड़ले बार राजाओं में पहले और तीसरे राजा का नाम भुव है तथा दूसरे कृष्ण अकालवर्ष (१) के बारे में हमने निश्चित पता है कि वह भुव (१) का लड़का है। पोते का नाम दादा के नाम पर रखने की प्रथा है। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि कृष्ण अकालवर्ष (२) का पिता भी भुव (२) था।]

Recently owing to the kindness of Dr. D. R. Bhandarkar of the Calcutta University, I have obtained for editing two unpublished copper plate grants of two rulers of Gujarat Rāshtrakūṭa Branch. These throw fresh light on the history of this dynasty; I would, therefore, discuss their new data in this article.

For facility of reference I first subjoin a genealogical table of this dynasty, giving known dates against each king :—



[The names of those members of this genealogy, who ascended the throne, are given in block letters. Underlined dates are the new dates supplied by the copper plates under discussion.]

Fresh light is thrown by these grants on the following new points:

REVOLT AGAINST AMOGHAVARSHA I

It was well-known that the feudatories of Amoghavarsha I had revolted against him, and the Sanjan copper plates of that ruler¹ have recently shown that Amoghavarsha I was actually dethroned for some months during his rebellion. From the same record we further know that Amoghavarsha I was born in c. 808 A.D., and was thus a boy of about 6 at the time of his accession. The actual date of this rebellion against the boy emperor was not known; the revolt had not taken place in 816 A.D. when the Naosari plates of Karkka² were issued in that year. If the revolt had already taken place by that time and Karkka had quelled it, the incident would certainly have been mentioned in that document. On the other hand, we knew that the revolt had taken place sometime before 835 A.D., for it was described in the Baroda grant of Dhruva I of the Gujarat Branch issued in that year³. The Surat plates of Karkka, which I have sent for publication to the *Epigraphia Indica*, are dated 821 A.D., and describe the revolt of the feudatories. This new record, therefore, enables us to know that the revolt against Amoghavarsha I had taken place during the short interval between 816 and 821 A.D., when he was a boy of about 10 to 15.

(1) E. I., XVIII, 235. (2) J. B. B. R. A. S., XX, p. 133. (3) I. A., XIV., p. 196.

POSITION OF GOVINDA OF THE KĀVI PLATES

Drs. Hultzsch and Bühler had held that Govinda, the younger 'brother of Karkka, who has issued the Kāvi plates in 827 A.D., was a usurper against his brother, and so his name is passed over in the other records of the Gujarat Branch'. This view has now to be abandoned. In his Kāvi plates Govinda praises the administration of his elder brother, Karkka, very highly; cf.

સૌરાષ્ટ્રજયે ચક્રિતે પ્રસન્નહિદર્શને વિશ્વજનીનસમ્ભવ ।

ગ્રામ્યં વલોઃ પૂર્વમ્દોઃ વદ્યુઃ ચિતાવિદ્વાનોં હુ દુપદ્મ વલ્લભ ॥ ૭. ૨૨.

Is it likely that he would go out of his way to praise his brother if he was a rebel against him? Further, the Kāvi plates nowhere state that Govinda, who issued them, had ascended the throne of the Gujarat Branch. The fact was that he was a mere regent ruling for his brother. Amoghavarsha I was a mere boy at the time of the revolt against him; it was quelled before 821 A.D. by Karkka. During this troublesome period, the administration of the main Rashtrakūta line must obviously have devolved upon Karkka, the cousin guardian of the boy emperor. It thus became necessary for Karkka to remain absent from his patrimony in Gujarat for several years. He had to make arrangements for carrying on the administration of Gujarat during his prolonged absence at Malkhed. A regent had to be appointed. The Baroda plates of 812 A.D.* no doubt show that he had a son, Dantivarman by name, who was grown up enough to be the *dātaka* of that grant. But this Dantivarman did not succeed his father; records of the Gujarat Branch inform us that Karkka was succeeded by his son, Dhruva I, whom he got after a long period of intense anxiety. It is, therefore, clear that Dantivarman of Baroda plates was not probably alive, when Karkka was compelled to hand over the administration of Gujarat to a regent during his absence at Malkhed. His choice, therefore, naturally fell upon his younger brother, Govinda, who was a mature administrator in c. 812 A.D. His Kāvi plates show that he was also intensely loyal to his brother. The later records of the Gujarat Branch pass over his name not because he was a usurper but because he was a mere regent of the collateral line, who had never ascended the throne.

KRISHNA AKĀLAVARSHA II

The relationship of this last ruler of the Gujarat Branch with his predecessors is not definitely known. We have got only one copper plate issued by him and it is very corrupt. This document, the Ankuleshwer grant, dated 888 A.D.,* brings the genealogy down to Karkka, mentions his anxiety for having a son in a verse which remains incomplete in its 4th *pāda*, and then

(1) *Ibid.* & I A, XII, p 181 (2) I A, XII, p 156 (3) *Ibid.*, XIV, p 67.

introduces Dantivarman, who is followed by Krishna Akalavarsha, the grantor of the charter. The passage runs as follows :—

पुत्रीयतस्तस्य महाबुधः कृती कृतज्ञः कृतधैर्यवीर्यः ।
 वशीकृताशेषनरेन्द्रचन्द्रः बभूव सुतः श्रीदन्तिवर्मणः प्रबलप्रतापः
 येन खड्गद्वितीयेन वरकमनुपत्य पश्यतः । शनयिन्यां रिपूजित्वा दूरमुत्तमितं ययः ॥
 तेन.....अकालव (१)

On the strength of this passage it was suggested that Dhruva II was succeeded by a son of Dantivarman, a brother of his grandfather, Dhruva I, who was the *dātaka* of the Baroda plates of Karkka. The new copper plate of Dhruva II, which I would be soon publishing, is dated in 884 A.D. It supplies a new date for that ruler, and shows that he did not die soon after his Baroda plates were issued in 867 A.D., but continued to rule at least for 17 years more. It, therefore, becomes very doubtful, if a son of Dantivarman, who was grown up enough to become a responsible officer in 812 A.D., could have ascended the throne about 70 years later than that date, when the succession had already passed for three generations in the line of his brother.

The real fact is that the passage in the Ankuleshwer charter quoted above, does not at all prove that the grantor was a son of Dantivarman. There is clear lacuna after the words *babhūva sūmūh* in 1.4. The metre will make it clear even to a child that the words *Śrī Dantivarmanah prabala-pratāpah*, which follow, do not belong to that verse. Other documents of this dynasty tell us that the 4th line ran as—

बभूव सुतः वराजनामा ।

It is, therefore, absolutely certain that there is a break in the record after the words *babhūva sūmūh*. It seems probable that one of the *tādapatras*, which commenced with the words *Dhruvarājanāmā* and which described the careers of the next three rulers of the Gujarat Branch, was lost in transit as the Ms. was being carried from the office of the Secretariate to the house of the mason for engraving it on the plates. The extremely corrupt text of the Ankuleshwer plates makes it clear that no responsible officer had revised the document after it was engraved by the engraver. So the omission of the three rulers remained uncorrected. This charter, therefore, does not prove that Krishna Akalavarsha, who succeeded Dhruva II sometime after 884 A.D., was a son of Dantivarman, who was living as early as 812 A.D.

If we cast a glance at the genealogy given at the beginning of this paper, we shall see that in the case of the last four rulers, first and third of them are named Dhruva and are both of them followed by rulers named Krishna Akalavarsha.

(1) The passage is given after, carrying out numerous grammatical corrections.

We know definitely that the first Akalavarsha was a son of his predecessor, Dhruva I. It may eventually be proved that the second Akalavarsha also was a son of his predecessor, Dhruva II. It seems that the fashion of naming the grandchild after the grandfather was current at this time in the family, and that the successor of Dhruva II was none other than his eldest son, Krishna Akalavarsha II, who was named after his grandfather. If a well-preserved charter of Krishna Akalavarsha II is recovered, I feel sure that this conjecture will be borne out by it.

कवि धोयी और उसका पवनदूत काव्य

दीवान बहादुर केशवलाल हर्षदाय भुव, बी० ए०, अहमदाबाद ।

कविवर धोयी ई० स० की बारहवीं शताब्दी में हुए थे। श्रीधरदास के 'सदुक्तिकर्णामृत' में इस कवि के नाम के १८ श्लोक दिए गए हैं^१। सैकड़ों कवियों के सुभाषितों का प्रस्तुत संग्रह लक्ष्मण स० २७ में अर्थात् ई० स० १२०५ में किया गया था। संग्राहक कायस्थ बंग-देश के राजा लक्ष्मणसेन का महामण्डलेश्वर था। इस के पिता बटुदास राजा बल्लालसेन की उपरिबलि में वरेन्द्र के महासामंत थे। श्रीधरदास-सङ्कलित 'सदुक्तिकर्णामृत' के संग्रहकाल के आधार पर, कविवर धोयी का समय, बारहवीं शताब्दी में होने नियत किया है।

'सदुक्तिकर्णामृत' में दिए हुए पूर्वोक्त १८ श्लोकों में से एक का उत्तरार्ध पढ़ने पर यह ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य की सभा में अद्भुत स्मरणशक्तिशाली होने से जिस प्रकार वररुचि ने प्रसिद्धि प्राप्त की थी, उसी प्रकार कविवर धोयी ने भी सेनराज की सभा में ख्याति प्राप्त की थी। और इसी कारण से कविवर धोयी 'श्रुतिधर' के विरुद्ध से भी प्रसिद्ध थे^२। उन के इस विरुद्ध का उल्लेख 'गीतगोविन्द' के प्रारम्भ में उद्धृत सुभाषित में भी किया गया है^३। कविवर धोयी की ये श्रुतिधरता-विषयक आख्यायिकाएँ यदि मौखिक या लिखित रूप में परम्परा से उपलब्ध हो सकती हो उस से विद्वानों का मनोरंजन तो होता ही साथ ही तत्त्वज्ञानियों की शिलोन्मुखता को भी पोषण मिलता तथा कविवर धोयी के जीवन-संबंधी कुछ कण भी प्राप्त हो जाते।

उद्धृत श्लोक के पूर्वार्ध में कवि ने अपने आप को 'कविराजाभों का चक्रवर्ती राजा' विशेषण से विभूषित किया है^४। यह मिथ्या श्लाघा न होकर वस्तुतः उस के एक उच्चतर विरुद्ध का अग्रवाद है। धोयी का पवनदूत

१. श्रुतचित्ताहारण चक्रवर्ती ने संस्कृत-साहित्य-परिषद्-ग्रन्थमाला में पवनदूत संपादित किया है। उस में परिशिष्ट नोट के नीचे जो श्लोक दिए गए हैं, उन में प्रथम १८ श्लोक 'सदुक्तिकर्णामृत' में से लिए गए हैं, परन्तु उन में एक श्लोक जो नहीं जोड़ा गया था, वह निम्नलिखित रूप में है:—

दुस्त्रिभुद्द कनकलतिका चामरं हैमदण्डं

ये गौडेन्द्राद्वलनत कविकृमाभूतां चक्रवर्ती ।

ख्यातो यश्च श्रुतिधरतया विक्रमादित्यगोही-

विद्याभट्टः सखु वररुचिराससाद प्रसिद्धाम् ॥

२. दे० टि० १, श्लोक का उत्तरार्ध ।

३. दे० 'वाच' प्रतीक के श्लोक का चौथा चरण और उसका अन्तिम माग 'श्रुतिधरो धोयी कविकृमापतिः' ।

४. दे० टि० १, श्लोक का दूसरा चरण 'कविकृमाभूतां चक्रवर्ती' ।

काव्य जो बचा हुआ है और प्रकाशित भी हुआ है उसकी पुष्पिका में भी उक्त विरुद्ध दृष्टिगोचर होता है^१। लक्ष्मणसेन के सभा-मण्डप के शिरोलेख में भी राजसभा के पञ्चरत्नों की गणना करते समय, धोयी के नाम के बदले उसके विरुद्ध अथवा उपनाम कविराज का ही उल्लेख है^२।

“कविराज धोयी बंगाली वैद्यजाति के थे। ‘कविकण्ठहार’ और ‘चन्द्रप्रभा’ आदि में बंगाली वैद्यजाति के दुहिसेन वा धूयिसेन का नाम पाया जाता है, जो धोयी के सिवा और कोई नहीं हो सकता। कविराज उप-पद इन की जाति का बोधक है, क्योंकि बंगाली वैद्यजाति के पुरुष कविराज संज्ञा से ही पहचाने जाते हैं।” कुछ लोगों का कथन इस प्रकार है^३। परन्तु मेरी समझ से तो यह सब भ्रम ही है, क्योंकि राजसभा वाले शिरोलेख का “कविराज” शब्द विरुद्ध-बोधक है, जातिसूचक नहीं। फिर धोयी ने स्वयं ही “कविराजपति” और “कविचमामृत चक्रवर्ती” आदि अनुवाद से विशिष्ट कवित्व का संकेत स्पष्ट कर दिया है^४। अतः धोयी वैद्यजाति का नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में वैद्यजातीय दुहिसेन वा धूयिसेन नाम के साथ कवि धोयी के नाम-संबंधी साम्य का विचार करना व्यर्थ है।

‘धोयी कवि काश्यप गोत्र का राठीय ब्राह्मण था’ ऐसा महामहोपाध्याय पं० हरप्रसादजीशास्त्री का कथन है^५। ‘पवनदूत’ की प्रशस्ति से भी इस मत की पुष्टि होती है, इस के दूसरे श्लोक में कवि जन्मांतर मे भी गंगा के उपकण्ठ में अर्थात् उस पवित्र नदी पर बसे हुए विजयपुर मे ही निवास करने की इच्छा प्रदर्शित करता है। यह नगर सुन्न अथवा राठ देश मे था। प्रस्तुत श्लोक पर से कवि किस मत का अनुयायी था, यह भी स्पष्ट हो जाता है। प्रत्येक जन्म मे विष्णु भगवान् के चरण-कमलों में ही अपनी प्रीति बनी रहे, यह कवि की मनोकामना है; अर्थात् धोयी विष्णुभक्त था^६।

‘पवनदूत’ के कर्ता पर राजा का पूर्ण प्रेम था, जिस से कविराज राजा के ऐश्वर्य के भोक्ता बने थे^७। घर पर हाथी भूमते थे। कविवर के बाहर पवारने पर छड़ीदार स्वर्ण-निर्मित छड़ी ले कर आगे चलता था। चमरवर सुवर्ण-दण्डवदित चमर डुलाते थे। राज-कवियों की सभा मे जो ‘कविचार्य’ का गौरवान्वित आसन नियत था सो कविवर धोयी का था^८।

१. “इति श्रीधोयीकविराजविरचितं पवनदूताख्यं काव्यं समाप्तम् ।”

२. यह श्लोक निम्नलिखित रूप मे है:—

गोवर्धनश्च शरणो जयदेव उभापतिः ।

कविराजश्च रत्नाणि समितौ लक्ष्मणस्य च ॥

३. दे० चित्ताहरण चक्रवर्ती—पवनदूत (इंद्रीलक्षणा) पृ० ५ ।

४. दे० टि० ३ (पृ० ७) ।

५. दे० नेविलेज़ ऑफ़ संस्कृत मेजुस्क्रिप्त्स, सू. जि० १, पृ० १५ पृ० ३८ ।

६. यह समस्त श्लोक निम्नलिखित रूप से है:—

गोष्ठीबन्धाः सरसकविभिर्वाचि वैदर्भरीति-

वांसे गङ्गापरिसरजुवि जिह्वमेग्न्या विभूतिः ।

सस्तु स्नेहः सदसि कविचार्यकं दूतुना मे

मक्तिर्लक्ष्मीपतिचरणयोरस्तु जन्मान्तरेऽपि ॥

७. दे० टि० १ (पृ० ७) ; श्लोक का पूर्वाव ।

८. दे० इस पृष्ठ की टि० ६ ; श्लोक का तीसरा चरण ।

कविराज की साहित्य-प्रवृत्ति 'पवनदूत' के सौ सवा सौ श्लोकों तक ही परिमित हो सो नहीं^१; क्योंकि इन के रचे दूतकाव्य की प्रशंसित के अन्तिम श्लोक में इन के कई एक अमृतस्यन्दी प्रबन्धों का स्पष्ट निर्देश है। उस में 'बाकप्रबन्धाः' पद बहुवचनान्त होने से, तीन अथवा तीन से अधिक प्रबन्ध होने का अनुमान होता है^२। इस मन्तव्य की पुष्टि 'सदुक्तिक्रमामृत' में दिए "विभ्रासुखोय०", "यत्र तत्र०", "पद्मासुखद्वि०" और "कृतशीकर०" श्लोकों से और भी विशेष रूप से होती है^३। पहले में जलक्रीड़ा का, दूसरे में रात्रि के प्रगाढ़ अंधकार का, तीसरे में दो पैरों पर खड़े हो कर अपने सवार को धरारा देता हो ऐसे अन्ध का, चौथे में पानी से भीगी अपनी केशावली को कँपा कर पैरों से नदी के जल को झिला कर पानी पीते हुए अन्ध का वर्णन है। यह सगंधरा, रथोद्धता, वसन्तविलका, अथवा सुन्दरी वृत्त एक अथवा भिन्न महाकाव्य के अंश होंगे, ऐसा केवल दृष्टिपात करने से ही पहिचान लिए जाते हैं। परन्तु खेद से कहना पड़ता है कि ये सब नष्ट हो चुके हैं और इन प्रबन्धों के नष्ट हो जाने से, कविवर धोयी की रची हुई अन्य साहित्य-समृद्धि का एक विशाल भाग नष्ट हो चुका है।

अवशिष्ट दूतकाव्य की शैली वैदर्भी है^४, इस का नायक बङ्गाल का लक्ष्मणसेन है, जो दक्षिण में विजय प्राप्त करता हुआ दूरावस्थित मलयाचल तक पहुँच जाता है। उस पर्वत पर रहनेवाले एक गन्धर्व की पुत्री कुवलयवती लक्ष्मणसेन के अद्भुत रूप और पराक्रम पर मोहित हो जाती है। सेन राजा चन्दनवृक्षों के प्रदेश में अपने सुयश की सुगन्ध को छोड़ कर वापिस चला आता है। विरहव्याकुला गन्धर्वकन्या वसन्त श्रुतु के आगमन

१. पवनदूत-काव्य १०० श्लोकों वाला है। इसकी प्रशस्ति में ४ श्लोक हैं। 'सदुक्तिक्रमामृत' में १६ श्लोक हैं। इस के अतिरिक्त परिशिष्ट नोट के अन्त में दो श्लोक धोयी के नाम से और दिए गए हैं।

२. यह समस्त श्लोक विज्ञापित रूप में है:—

कीर्तिलब्धा सदसि विदुषा यीलिताः शोषिपाळाः

बाक्सदन्ता कसिचिदमृतस्य विदो निर्मितारच ।

तीरे संप्रथमरसरितः क्वापि शैलोपक्रमे

अस्त्राम्यासे प्रथमनसा नेतुनीहे दिवानि ॥

यहाँ पहले चरण में उपलब्ध पाठ "शीतलशोषिपाळा" था, इससे अर्थ न होने के कारण, मैं ने "शीलिताः शोषिपाळाः" ऐसा तथा पाठ रक्खा है।

३. समस्त श्लोक अनुक्रम से इस प्रकार है:—

विभ्रासुखोत्तरव वसन्तरसवादात्मनि शोषिमारे

दूरावन्धोष्यसाक्षिसितचतुरस्रैः कामिसिर्षाङ्गमायाः ।

उत्तेजस्तीरलेखा विपुलकमलिनीपद्मनीपद्विजघा-

वचोनाम्नेषु कृत्वा हरिप्राप्तिशुद्धयो वीतवीनाशुकेषु ॥

यत्र यत्र रतिसज्जकम्पक्रीम्रीतवे मन्दशालसादिव ।

नीलकान्तपट्टासुपाययो सूचिभेद्यनिविडं निराश्रयः ॥

परचासुरद्वितयकण्डितभूमिभागमूर्वोद्धताप्रचरयद्बभूवमुग्रहेपम् ।

मूर्धावगाहवहिविज्ञास्ववारासाराज्येन परजिह्वार खलं सुप्रज्ञम् ॥

कृतशीकरवृष्टिकेयोरैरसकृत्कम्पमवन्दुरं ह्रुवम् ।

अपिपक्षरणाप्रताडितं सुरगः पङ्क्तिमापगापयः ॥

४. दे० डि० ६ (पृ० ८), श्लोक के पहले चरण का उत्तर खंड ।

पर पवन को सेन राजा की राजधानी की ओर प्रयाण करते देखे^१ उस से विजयपुर जा कर अपनी विरह-दशा का राजा से निवेदन करने की प्रार्थना करती है। वह पवन को मार्ग बतलाती है, जिस में अनुक्रम से, पाण्ड्य देश का वरगपुर, रामसेतु, चेल्लराज्य की कांचीपुरी, कावेरी के ऊर्ध्व प्रदेश, आन्ध्रदेश का माल्यवान् पर्वत, पञ्चासर सरोवर, समुद्रतट की कलिङ्गनगरी, विन्ध्याचल से निकलती हुई नर्मदा, यथाति नगर और अन्त में सुहृद्देश का विजयनगर आता है।

लक्ष्मणसेन का दक्षिण के राजाओं पर विजय प्राप्त करने का उल्लेख पवनदूत में है^२। परन्तु बोधी ने इस को विषय में विस्तार से कुछ भी नहीं लिखा। युवराज भवस्था में तथा राजा होने पर लक्ष्मणसेन ने अपने निकटवर्ती राजाओं पर जो विजय प्राप्त की थी, उस को तो हम जानते हैं^३। उस ने अपने पिता बल्लालसेन की उपस्थिति में गौडदेश के राजा को पराजित कर के अपना वन्दी बनाया था, और उस को राज्य का बहुत सा प्रदेश अपने अधीन कर लिया था, साथ ही साथ कामरूप और कर्लिंग के राजाओं पर भी इस ने विजय प्राप्त की थी, तथा प्रयाग, वाराणसी एवं पुरी में अपने कीर्तिस्तम्भ स्थापित किए थे। 'पवनदूत' में लक्ष्मणसेन के इन पराक्रमों का बिलकुल उल्लेख नहीं। इस से मेरा तो यही अनुमान है कि लक्ष्मणसेन ने दक्षिण में जो विजय प्राप्त की थी, सम्भव है वह उस की कुमारावस्था में ई० स० ११६५ के पूर्व सिद्ध हो।

किंवदन्ती है कि एक बार, विमाता से कुछ वैमनस्य हो जाने के कारण, लक्ष्मणसेन चुपचाप घर से निकल गए। इस प्रसंग में बंग-धीवरो ने बल्लालसेन को राजकुमार का पता दिया था^४। उस समय लक्ष्मणसेन की कुमारावस्था थी। अतः लक्ष्मणसेन पिता के घर को छोड़ कर मातामह के घर के अतिरिक्त कहीं जा सकते थे ? यह घटना उसी समय में हुई हो यह संभव है। लक्ष्मणसेन की स्वस्थ माता रामदेवी दक्षिण में कुन्तलदेश के चालुक्यवंश की राजकन्या थी^५, और उस समय इन चालुक्यों की राजधानी कल्याण थी^६। उन्मत्तायित युवक राजकुमार बंगाल के सफुरी पोट पर सवार हो कर—जिस मार्ग से कवि बिल्हण रामेश्वर से कल्याणपुर आए थे उसी मार्ग से—अपने नाना के घर गए। लक्ष्मणसेन के गायब हो जाने की घटना बंगाल में सर्वत्र फैल चुकी थी। कुछ धीवरो ने—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है—दरबार में जा कर लक्ष्मणसेन के पिता बल्लालसेन को सूचना दी कि राजकुमार जल-मार्ग से कल्याण की तरफ गए हैं। यह समाचार सुनते ही कुछ दरबारी कुँवर को समझा हुआ कर घर से आने के लिए गए होंगे। उस समय लक्ष्मणसेन का वय २० वा २१ वर्ष का मालूम होता है। लक्ष्मणसेन का जन्म ईसवी सन् १११६ में हुआ था। अतः मातामह के यहाँ उनके निवास का समय ११३६-४० सिद्ध होता है। इस साल के आसपास द्वितीय जगदेकमल्ल चालुक्य कल्याण की गद्दी पर

१. कुवलयवती स्रग्धा से दक्षिण सूमि की राज्यलक्ष्मी संकेतित हो।

२. 'पवनदूत' ॥ ६३ ॥ जिन्ना देव स्वयि सरभसं दाक्षिणात्याद् चित्तीशान्०।

३. दे० गीतगोविन्द उपोद्घात, बल्लालसेन और लक्ष्मणसेन का इतिवृत्त।

४. दे० पं० विरवेन्द्रनाथ रेव-कृत "भारत के प्राचीन राजवंश" प्रथम भाग, पृ० २०७।

५. दे० लक्ष्मणसेन का मधियानगर-नामशालुव।

धराधरान्धःपुरमैजिरत्वं चालुक्यभूपालकुलेन्दुजेष्ठा।

तस्य त्रिपाभूद्वहमानसूमिर्जदमीशुपिथ्यौरपि रामदेवी ॥

६. कल्याण अब कल्याणी के नाम से अस्ति है और निज़ाम राज्य के अंतर्गत है, ऐसा पं० गौरीशंकरजी लिखते हैं।

ये^१ जो बिस्वह्वय के "विक्रमांकदेवचरित" के नायक छठे विक्रमादित्य अथवा विक्रमांक के पौत्र थे। जिस समय लक्ष्मणसेन अपने नाना के यहाँ रहते थे^२ द्वारसमुद्र के होयशल राजा विष्णुवर्धन उर्फ बट्टिय ने चालुक्यराज्य पर आक्रमण किया। उस के साथ जयकेशी, कुलशेखर, चट्ट आदि नरेश भी थे। परंतु आहवमस्तक के सेन्द्रकवंशीय सामंत पेमांडी से सामना होने पर, कुलशेखर पराजित हुआ और चट्ट का मस्तक तलवार से रखनेत्र में उड़ा दिया गया। भयभीत जयकेशी और विष्णुवर्धन रात्रिभूमि छोड़ कर भागे। पराक्रमी पेमांडी ने इन का पीछा किया और बाहडी की घाटी में वह भागते हुए शत्रु के पास जा पहुँचा। चबराया हुआ होयशल राजा अपने गजदल को छोड़ कर भागा और द्वारसमुद्र में जा छिपा। इस पर पेमांडी ने होयशल की राजधानी को जा घेरा। अवरुद्ध राजा प्राण बचाने के लिए राजधानी छोड़ कर भागा। सेन्द्रक सेनापति ने इसका पीछा जारी रखा। बेलूर तक उसका पीछा किया। विष्णुवर्धन घाट की पहाड़ियों में गायब हो गया। तब कुन्तल का सामन्त युद्ध में प्राप्त विशाल सम्पत्ति को लेकर कल्याण लौट आया^३।

इस युद्ध में साहसिक कुमार को भी अपना पराक्रम प्रदर्शित करने का अवसर अवश्य मिला होगा^४। बाकरगंज के लेखों में, केशवसेन अपने पिता लक्ष्मणसेन का यशोगान गाता है कि दक्षिण समुद्र के किनारे पर बसे हुए प्रदेशों में, जहाँ गदाधारी श्रीकृष्ण और सुसलधारी बलराम निवास कर रहे हैं, लक्ष्मणसेन के प्रथम पराक्रम के कीर्तिस्मृति हैं^५, जिनकी स्थापना, मैं कुन्तल देश के किसुकाडु विभाग के किसुनोवल गाँव में मानता हूँ^६। इस गाँव में दमुदेव के पुत्रों के शिल्पकला के आदर्शमूल मन्दिरों का होना भी सुना जाता है। यह विभाग सेन्द्रक सामन्त पेमांडी के अधिकार में था, जिस ने द्वारसमुद्र के राजा पर जो हुई विजय के चिह्न-स्वरूप उक्त कीर्तिस्मृति स्थापित किए होंगे, और उस में कुन्तल के भानने के पराक्रमों की प्रशंसा की गई होगी। लक्ष्मणसेन के भुवनविजय का प्रारम्भ कुन्तल और द्वारसमुद्र के विग्रह से होता है। पवनदूत में युवक लक्ष्मणसेन का दाक्षिणात्य चित्रीयों पर विजय प्राप्त करने का वल्लेख है^७, जो विष्णुवर्धन जयकेशी कुलशेखर और चट्ट आदि को लुचित करके कहा गया मालूम पड़ता है। जयकेशी का समय ई० स० ११३८-३९ दिया गया है^८। अतः युद्ध में जयकेशी का विष्णुवर्धन के पक्ष में होना हमारे कहे हुए उक्त, कुन्तल और द्वारसमुद्र के युद्ध के, समय को ही पुष्ट करता है।

१. दे० प० गौरीशंकर श्रोत्रा हृत "भारतीय ऐतिहासिक ग्रन्थमाला" जिरद पहली, सोलंकियों का प्राचीन इतिहास।

२. यह मैसूर के हसन जिले में है, जिसका वर्तमान नाम हलेवीड है। बेलूर भी मैसूर में है।

३. दे० नरैगल पट्टल गड के कन्नड अभिलेख, ज० व० ग्रा० १० पृ० सो० ११. पृ० २१४-४८, २६६-७०।

४. दे० ज० पृ० सो० ४० जि० ७. पृ० ४०-४०।

५. दे० श्लोक १३ वेलाया ठचियाव्हेसुसलधरागदुयाविसवासवेधा

येनोच्चै × × × × × समरजयस्तम्भमाला अध्यायि ॥

६. दे० ज० व० ग्रा० १० पृ० सो० ११. कन्नड अभिलेख।

७. दे० टि० २ (पृ० १०)।

८. दे० इस पृष्ठ की टि० ६ वाक्या कन्नड अभिलेख।

कुन्तल देश पर द्वारसमुद्र के राजा की उक्त चढ़ाई के प्रसंग में लक्ष्मणसेन के अग्र भाग लेने का उल्लेख जयदेव ने अपने एक सुभाषित में किया है^१। उस के पूर्वार्ध में लक्ष्मणसेन को संबोधित कर के कवि कहता है “आप महासागर के दरंग के समान घँसते आते चोलराज के सामने टकर लेते हो^२, (स्वयं आगे बढ़ के) कुन्तल सुभटों को अपने पीछे खींचते हो^३ और काञ्चीराज को परास्त करते हो^४, (फिर) अंगराज के साथ रणक्षेत्र में युद्ध^५ मचाते हो।” इस उक्ति में चोल कुन्तल और अंग वंग के साथ के होनेवाले युद्धों का अनुक्रम से निर्देश किया गया है। द्वितीय युद्ध के बारे में पुराविदों को ज्ञात है। राजा लक्ष्मणसेन ५६ वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठे थे। उन के राज्यकाल में ई० स० १०६५ के आस पास पड़ोसी गौड़देश का राजा सेनराज से विग्रह करता है। पिता के समान ही पराक्रमी वीर लक्ष्मणसेन ने उसे परास्त कर के अपना बन्दी बना लिया, और गौड़ तथा वंग के बहुत से भाग को अपने अधीन करके गौड़ेश्वर या गौड़ेंद्र का विरुद्ध धारण किया^६। प्रथम युद्ध में कुन्तल सुभटों का अग्रसर होकर यह चोलराज को पराजित करता है। वस्तुतः यह वही युद्ध है जिस का वृत्तांत इस लेख के पूर्व भाग में महामहोपाध्याय गौरीशंकर ओझाजी के ‘सोलंकिचरित’ का इतिहास से लेकर मैं दे चुका हूँ। द्वारसमुद्र का राजा विष्णुवर्धन कुन्तल पर हमला करता है, उस के सहायकों में से कुलशेखर राजा पराजित होता और मारा जाता है। भयभीत विष्णुवर्धन तथा जयकेशी रणभूमि छोड़ कर भाग जाते हैं। ऐतिहासिक ओझाजी का जो कुलशेखर है वही जयदेव कवि के सुभाषितों का चोलराज या काञ्चीराज है। इस कारण अत्रोक्त पहला चोलकुन्तल का युद्ध अंग वंग के दूसरे युद्ध से पूर्व^७, जैसा कि मैं पहले कह आया हूँ, ई० स० ११२८-४० के आस पास है। इस युद्ध में विजयप्राप्ति की कीर्ति के भागीदार दो थे; कुन्तलसेनापति

१. अस्तुत श्लोक ‘सदुक्तिकर्णामृत’ में है। बारह वर्ष पहले अस्तुत विषय पर एक लेख ‘जैन-साहित्य-संशोधक’ में छपवाया था। उस समय मुझ को यह उपलब्ध नहीं था। निम्नलिखित रूप से है:—

त्वं चोलोल्लोखलीलां कलषसि कुरुष्व कर्षयं कुन्तलानां
त्वं काञ्चीन्यज्जनाय प्रभवसि रभसादङ्गसर्गं करोषि ।
इत्थं राजेन्द्र बन्दिस्तुतिभिरुपहितोत्कम्पसेवाद्य दीर्घं
नारीयानन्यरीणां हृदयमुत्पपते तत्पदराशनाय ॥

२. कलषसि पद “टकर लेना” ऐसे अर्थ में प्रयुक्त है।

३. काञ्ची चोलदेश की राजधानी थी; अर्थात् काञ्चीराज = चोलराज।

४. “न्यज्जन” पद का “झुका देना” ऐसा अर्थ किया है।

५. मूल में “सङ्ग” शब्द है जिसका अर्थ ‘संग्राम’ भी होता है।

६. दे० गीतगोविन्द के मेरे गुजराती अनुवाद का उपोद्घात, पृ० ११ और ‘सदुक्तिकर्णामृत’ ३:११/५।

७. श्लेष अलंकार होने से श्लेषों के संकेत में “चोल” अर्थात् कंचुकी के प्रति शत्रु भाव का, “कुन्तल” अर्थात् केशपाश के कर्षण का, “काञ्ची” अर्थात् कटिमेखला के अंग का, और “अङ्ग” अर्थात् शरीर के वंश का क्रम अभिमत है। चोल-सुभटरूपी जहरों के प्रभाव का, कुन्तल-सुभटों को पीछे खींचने का, काञ्ची के राजा को पराजित करने का और अंगदेश के राजा के साथ युद्ध करने का क्रम विवक्षित है। कवि ने शत्रु अर्थ को “वहोळ” संस्कारित देशी शब्द लिया है।

पेर्माडी और वंग-राजकुमार लक्ष्मणसेन। केशवसेन के कहे हुए कीर्तिस्तंभ कुन्चलभूमि में संप्रति विद्यमान हैं या न हैं—कुछ क्षति नहीं—दूतकाव्य के रूप में कविधर धोयी की रची हुई प्रगति लक्ष्मणसेन के प्रस्तुत पराक्रम का स्मरण करा रही है^१।

यहाँ की हुई गणना को स्वीकार करने से 'पवनदूत' ई० स० १११० के पश्चात्, तुरंत ही लिखा हुआ ठहरता है। विमहोत्तर बुलाने के लिए आए हुए वंगाल के दरबारी-मंडल के साथ विजयी कुमार पिता और पितामह का अभिनन्दन प्राप्त करने के लिए पुनः उत्तरापथ आया होगा। बल्लालसेन और विजयसेन ही नहीं, वस्तुतः वंग देश ने भी विजयी राजकुमार का अभिवादन किया होगा। कुशल राजकुमार को नवद्वीप की जागीर दी गई होगी और दक्षिण के राजाओं पर विजय प्राप्त करने की यादगार में नवद्वीप का नाम विजयपुर रखा गया होगा। इसी नाम से 'पवनदूत' में बाल-राजा लक्ष्मणसेन की राजधानी का निर्देश है। पीछे से स्मरण नहीं रहा होगा। इसलिए विजयपुर कहाँ और कौन सा था, इस विषय में शोधकों में मतभेद उत्पन्न हुआ है^२। कितनेक पुरातत्त्वशोधकों के कथनानुसार राजशाही जिज्ञे का विजयनगर ही 'पवनदूत' का विजय-पुर है। इस के पड़ोसी गाँव देवलवाड़ा से विजयसेन का शिलालेख मिला था, परंतु उस से यह सिद्ध नहीं होता कि विजयनगर ही लक्ष्मणसेन की राजधानी थी। 'शक्कते नासिरी' में इस की राजधानी का नाम नोदिया दिया गया है। इस को मैं नवद्वीप का रूपान्तर समझता हूँ। अब भी नदिया के पास बार्मा पुकुर नामक गाँव में बल्लाल दीवी अर्थात् बल्लाल का टीका, इस नाम का एक टेकरा है, और उस के पास ही में बल्लाल दीधी नाम का एक सरोवर भी है। ये सब प्राचीन स्थान विजयपुर के सप्तभुवन के^३ राजमहल की और उसके अन्तःपुर की क्रीडादीर्घिका^४ की सृति दिखाते हैं। लक्ष्मणसेन की तीन राजधानियाँ थीं—नवद्वीप, लक्ष्मणावती और विक्रमपुर। पहली राजधानी का रूपान्तर हो कर नदिया और नोदिया रूप हुआ है। यह नवद्वीप अबवा विजयपुर धोयी का निवासस्थान है, जहाँ कवि ने फिर से जन्म प्राप्त करने के लिए इच्छा प्रदर्शित की थी।

धोयी ने तीन सेन राजाओं के वृद्धिगत होते हुए प्रताप को देखा था^५। उसने 'पवनदूत' को विजयसेन के राज्यकाल के अन्त्य भाग में रचा। कविताचार्य का सम्मानित पद वह बल्लालसेन और लक्ष्मणसेन के समय से भोग रहा था। उक्त दूतकाव्य कवि ने अपनी उत्तरावस्था में लिखा था। उस अवस्था में चिरकाल शब्द-मल्ल की उपासना करते हुए कवि शब्दावीत ब्रह्म के चित्त में प्रवृत्त होते हैं^६।

१. द्वारसमुद्र, सोल आदि देशों के राजाओं के साधवाले कुन्चल के युद्ध में लक्ष्मणसेन ने जो विजय प्राप्त की थी उस से ऐतिहासिक-वर्ग अनभिज्ञ है। इसी प्रकार वसुिद्वार खिज्जी के पहले एक सुखलमान सरदार को लक्ष्मणसेन ने हरा कर उस के सैन्य का संहरा किया था, यह घटना भी अब तक नहीं अज्ञात है; परन्तु असंग न होने से इसी-उप रहना ही नचित है।

२. दे० चिन्ताहरण चक्रवर्ती-संपादित पवनदूत (इंडो-बुधन), पृ० २५-२६।

३. दे० पवनदूत ६३।

४. वही ६३।

५. दे० टि० १ (पृ० ६), श्लोक का पहला चरण, और उसका उत्तर श्लोक 'शोभिताः चोधिपाजाः'।

६. वही श्लोक का उत्तरार्ध।

कान्य का आदर्श महाकवि कालिदास का मेघदूत है। धोयी को स्वर्गस्थ हो जाने पर उस के साथी जयदेव को कविराज की पदवी मिल जाती है^१।

पूर्व कहा गया है कि बल्लालसेन की सभा में पाँच रत्न थे—उमापतिधर, शरण, गोवर्धन, धोयी और जयदेव। इन में से पहले दो कवियों की प्रबन्धात्मक रचना मेरे देखने में अब तक नहीं आई। गोवर्धन 'आर्यासप्तशती' के मुक्तकों से प्रसिद्ध है। शेष उपलब्ध 'गीतगोविन्द' और 'पवनदूत' जयदेव और कविराज धोयी की देन हैं।

कर्ण सेलङ्की

श्रीयुक्त रामलाल सुनीलाल मोदी, पाटण।

[गुजरात के चालुक्य राजा बड़े प्रतापी थे। उन की राजधानी पाटण थी। उन की राज्यसीमा कभी दक्खिनी सिन्ध तक पहुँचती थी, सम्पूर्ण राजपूताना और पश्चिमी मालवा उन के अधीन होता था। इस वंश का संस्थापक मूलराज था, जिस की छठी पीढ़ी में कर्ण पैदा हुआ। इस का लड़का सिद्धराज नयसिंह बहुत प्रसिद्ध है। अब तक ऐतिहासिकों ने कर्ण की प्रायः उपेक्षा की है।

कर्ण की शक्ति और प्रसिद्धि का पता इसी से लगता है कि सुदूर गोआ (कर्णाटक) के कदम्ब राजा जयकेशी ने अपनी कन्या मीनलदेवी (मयच्छा) का विवाह कर्ण से किया था। जयकेशी की दूसरी लड़की का विवाह दक्षिण भारत के चक्रवर्ती कल्याण के चालुक्य राजा विक्रमादित्य द्वे से हुआ था। विक्रमादित्य की सहायता से कर्ण ने मालवा के राजा भोज के लड़के को हरा कर मार डाला था।

कर्ण को गद्दी पर बैठ कर राज्य के बहुत से आन्तरिक और बाह्य उपद्रवों का सामना करना पड़ा। अपने बड़े भाई जैन-राज के विद्रोह को शान्त करना पड़ा, मालवा से लड़ना पड़ा तथा नाडोल और सिन्ध के आक्रमणों का सामना करना पड़ा था। उस के राज्य की सीमा नर्मदा तक फैली थी।

कर्ण के अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों में दो प्रसिद्ध डाकुओं—मालावाड़ के कोळी सरदार बाबरा (बर्बरक) और आसावल के भील आसा—के त्रास से काठियावाड़ के तीर्थयात्रियों को मुक्त कर के उस रास्ते को निरापद करना था। कोळी सरदार को उस के मौसरे भाई हरपाल ने वश में किया। इस का पूरा दमन आगे चल कर कर्ण के लड़के सिद्धराज ने किया था। आसावल के आसा भील का दमन कर के इस ने अपने राज्य के अग्रिम दिनों में आसावल को अपनी राजधानी बनाया और उस का नाम बदल कर कर्णावती कर दिया। पर उस के इस कार्य का बड़ा विरोध हुआ। पाटण में राजा ने घोर आन्दोलन किया। तब इस के मन्त्री संपत्कर (सातू मन्त्री) ने बाळक सिद्धराज को पाटण की गद्दी पर बिठा कर उसे शान्त किया।

प्र० चि० के अनुसार बाळक सिद्धराज की अवस्था इस समय तीन वर्ष की थी। पर यह ठीक नहीं। सिद्धराज के समकालीन जैन आचार्य हेमचन्द्र ने अपने द्वाधश्व काव्य में इस अवसर पर कुमार और राजा मे लम्बा संवाद हुआ बताया है। अतः कम से कम उस की उमर १० वर्ष रही होगी।

विविध ने 'कर्णसुन्दरी' में कर्ण का सिन्ध पर आक्रमण करना लिखा है। असल में सिन्ध से इस वंश की लड़ाई चाण्ड के समय से ही चल रही थी। कर्ण के पिता भीमदेव ने सिन्ध की सेना को करारी हार दी थी। गुजरात के इन चालुक्यों ने राजपूताने के चौहानों की तरह ही युसजमानों को दक्खिन बढ़ने से रोके रक्खा।

कर्ण को मालवा के भोज के छोटे भाई वदधादिव्य और नाडोल के योत्तिक के हाथों हार खानी पड़ी थी। कर्ण की मृत्यु ५० वि० के अनुसार कर्णावती आने के तुरंत बाद ही हो गई थी। नयचन्द्र सूरि के 'हम्मरी का व्य' में चौहान दुस्सल के हाथों इसकी मृत्यु लिखी है सो ठीक नहीं। ह० का० इसके १०० साल बाद की चीज है। इथा० का० के अनुसार कर्ण अपनी स्वामिक और मरा। अन्य प्रमाणों से भी यही सिद्ध है। असल में दुस्सल (दुर्लभराज ?) कर्ण का समकालीन ही नहीं। उस की मृत्यु १०८८ ई० में हो चुकी थी। कर्ण का समकालीन विम्वराज है। कर्ण १०६४ में मरा।

यह वीर महत्वाकांक्षी और बड़ा भारी निर्माता था। कितने ही तालाब, मन्दिर आदि इस ने बनवाए थे। कर्णावती में इस ने मेरुद्वज नाम का एक विशाल प्रसाद बनवाया। बाद में इस का लड़का सिद्धराज अपने वास्तुओं के लिए प्रसिद्ध है। उसे अपने पिता से ही यह प्रेरणा मिली। सिद्धराज की सारी समृद्धि का बीज उस के पिता के समय में ही पड़ चुका था।

इम की रानी मीनलदेवी बड़ी विदुषी थी। नूरजहाँ और जहाँगीर की तरह ये दोनों परस्पर बहुत अनुरक्त थे। नूरजहाँ की ही तरह इस ने भी बालक सिद्धराज के बचपन में सारा शासन-भार सँभाल रक्खा था। बालक सिद्धराज पर अपनी माता का प्रभाव, जितना शिवाजी पर जीजाबाई का प्रभाव था, उस से भी ज्यादा पड़ा था। यह उस की ही शिक्षा का फल था कि आगे जा कर सिद्धराज हतना प्रसिद्ध हुआ। नली की प्रेरणा से कर्ण ने काठियावाड़ का मार्ग निरापद करके पानिपत का कष्ट निवारण किया था। कर्ण अपने आप को वैलोथमरुत कहता था। 'कर्णसुन्दरी' के अनुसार वह भारत का अभिराज तक बनने की महत्वाकांक्षा रखता था। ये सब बातें सम्भवतः इसी मीनलदेवी की प्रेरणा का फल थीं। पिता और पुत्र दोनों के उत्कर्ष में इस महारानी का प्रयत्न था परन्तु हाथ जान पड़ता है। कहते हैं सोमनाथ पर इस की बड़ी भक्ति थी। उस के मार्ग का बदल करने की ही इच्छा से इम ने गुजरात के राजा से विवाह करने का सङ्कल्प किया था। सिद्धराज के समय इस ने सोमनाथ की यात्रा का तीर्थ-कर भी इटवा दिया था। कला की ओर इसकी बड़ी अभिरुचि थी।]

गुजरातना इतिहासमा कर्ण नामना बे राजाओ अयाछे। एक सिद्धराज नयसिंहनो पिता अने बीजो गुजरातनो छेछो स्ववन्त्र हिंदु राजा। पहलेतो सोलहवीं तरीके अने बीजो वापेला तरीके ओलखाय छे। कर्ण वापेलो

प्रारम्भ

लोकोमा जेटलो जाणीतो छे, वेदलो कर्ण सोलहवीं जाणीतो नथी, कारण के इतिहास-कारण तेना विरो बहुत बोहुन लख्युं छे। तेथे भ्रमदावाद पासेना असाबलना आशा

भीलने द्वारावी त्यां कर्णावती नगरी बंधावी हवी पटलीज बाट तेना सम्बन्धी इतिहासमा नोंधाइ छे। परन्तु तेना समयना इतिहासना साधनोनो जो अग्रपूर्वक अभ्यास करवामां आवे तो जग्याय छे के ते प्रतापी राजा हतो।

प्रबन्धचिन्तामणि अने विचारश्रेणि ए बने ग्रन्थोमा मेरुद्वजे कर्णनो राज्यकाल सं० ११२० थी सं०

समय

११५० सुधी आपेलो छे। आना विरुद्ध कोइ उत्कीर्ण लेखन प्रमाण मळ्युं नथी।

तेथी ए समय स्वीकारवामा बाधो नथी।

कर्णनो पिता भीमदेव हतो अने तेनी माताहुं नाम उदयमती हतुं। कर्ण जे बखते गादीमे बैठो ते वखते एनो राज्यनी स्थिति डामाडोळ हवी। आन्ध्र कलह अने बहिर विप्रह बने तेने माटे तैयार हता। भीमदेवने केमराज

वातविग्रह

नामनो कर्णथी मोटी वसरनो पुत्र हतो। तेने कोइ कारखथी भीमदेवे गादी माटे मालायक ठरान्यो हतो। तेथे बळवो करथो हरो, परन्तु कर्णनो मामो मदनपाळ

जे बहुत शूरवीर पुरुष हतो, तेथे ए बळवो समान्यो हरो। छेवट केमराजना पुत्र देवप्रसादे पाटखथी आठ गाव वपरनुं सिद्धपुर पासेनु दधिरथली (हालनुं देवली) लैहने सतौष मान्यो हतो।

१ केमराजनी माता चकुलादेवी एक गणिका इती एम ५० वि० नां लख्युं छे, परन्तु ए बात मानवा जेवी नथी। एम होय तो तेनो वरधन कुमारपाळ पादुख्यी गादी वपर आवीथके नहि। एनं बीजा पानिपत तेना कुटुम्ब साथे छन व्यवहार राखे नहि। कुमारपाळनी बहने सांभर (अमर) ना चौहाण राजा अणोरानने परबामी हती। बाळ मूलराजनी माता नागिनदेवी महोबासा चन्देल राजा परमदेवी की पुत्री हती।

बहारना विग्रहोर्मा प्रथम विग्रह मालवा साथे हुतो। आ विग्रह चासुण्डयी आरम्भी सारङ्गदेव बावेल्ला सुधी चाल्यो हुतो। कर्णना पिता भीमदेव तथा चेदि देशना कल्लचुरि कर्णे भोजनो धारानगरीने धेरो घाल्यो हुतो। ए

धेरो चालु हुतो तेवार्मा भोजनुं मरण थयुं। एषी ए नगरी पढो अने कर्णे तेना उपर
मालव-विग्रह पोतानो अधिकार करयो। भीमे चितोड अने गुजरातने लगतो मालवानो मुलक लीधो

हशे। त्यार पछी भोजना पुत्र जयसिहे दक्षिणना चौलुक्यवशी राजा सोमेश्वरनो सहायताथी कर्णने मारी नांखी पोतालुं राज्य पाळुं मेळव्युं हुतुं एम विक्रमाङ्कदेवचरितना वे श्लोको उपर थी जणाय छे—

स मालवेन्दु शरयं प्रविष्टमकण्टके स्थापयति स्म राज्ये ॥ १, १०२ ॥

विशीर्णकर्णा कलहेन यस्य पृथ्वी भुजंगस्य निर्गलेन।

संगच्छतेऽद्यापि न डाहलश्रीः कर्पूरताटङ्कनिर्भैरवोभिः ॥ ३, ६७ ॥

आ वखते भीमदेव सिन्धना राजा हम्सुक (हमीर सुमरो) साथे विग्रहर्मा रोकायो हुतो, तेथी तेनाथी मालवा तरफ ध्यान आपी शकायुं नहि होय। परन्तु कर्णे पोताना राज्यनो आतिविग्रह समान्या पछी पोवाना साढु कर्णाटकना राजा विक्रमादित्य (छट्टो) नी सहायताथी मालवा उपर चढाइ करी अने जयसिहने हरावीने मारी नांख्यो हुतो, कारण के मालवाना राजा नरवर्मानो नागपुरनो प्रशस्तिर्मा लख्युं छे के भोजना मरण पछी राज्यर्मा जे प्रलय थयो तेमां राज्यनो स्वामी हूवी गयो अने कर्ण तथा कर्णाटकना राजाओना हाथर्मा गल्ली धरतीनो बराह भगवाननो माफक उदयादित्ये उद्धार करयो^१। कर्णे धारानगरीने धेरो घाल्यो हुतो अने तेमां राजाना पुरोहिते तेने मूठ मारी हवी ए वाव सुरेशोत्सवना एक श्लोक उपर जणाय छे^२, सुकृत-संकीर्तनर्मा पण कर्णना संबंघर्मा लख्युं छे के कर्ण मालवाना राजाने जीतीने नीलकंठ महादेवतुं बाण लाव्यो हुतो^३।

जयसिह पछी तेनो काको उदयादित्य गादीए आव्यो। तेणे कर्णने हरावीने गुजरातना राज्यर्मा मेळवेल्लो मालवानो मुलक पाळो लीधो हुतो। धृष्टीराजविजय काव्यर्मा लख्युं छे के शाकम्भरीना चौहाण राजा विग्रहराज त्रीजाए आपेल्ला सारंग नामना बोडा उपर बेसीने उदयादित्ये गुजरातना कर्णने हराव्यो हुतो^४। आ युद्ध आबु पासे थयुं हशे अने मालवाना सैन्यर्मा उदयादित्यनो पुत्र जगदेव (परमार) पण सामेल हशे, कारण के जगदेवना एक सरदारना दक्षिण हैदराबाद राज्यर्मा आवेल्ला जुन्नैदमाथी मळी आवेल्ला शिलालेखर्मा जणायुं

१. तस्मिन्वासवबन्धुतामुपगते राज्ये च कुल्याकुले

मनस्वामिनि तस्य बन्धुरुदयादित्योऽमवद्भूपतिः।

येनोद्धृत्य महार्थोपममिहःकर्णाटकप्रसु-

सुर्वीपाकदर्पितो भुवमिर्मा श्रीमद्भाराहापितम् ॥

२. धाराधीशपुरोचसा निजनुपचोर्धो विज्ञोक्त्यास्त्रिणां

चौलुक्याकुलिनां तदल्पयुक्ते कृत्यां किञ्चोत्पादिता ॥ १४, २० ॥

३. जित्वा बलैर्माहवसुमिपाखसमीतवान्यः किञ्च नीलकण्ठम् ॥ २, २३ ॥

४. मालवेनोदयादित्येष्वास्मादेवाप्यतोऽकृतिः।

सारंगार्णवं दुरंगं स ददौ तस्मै जनोद्धवम्।

जिगाथ गुर्जर कर्णो तमशर्वं प्राप्य मालवम् ॥ ४, ७६-७८ ॥

छे के गुजरातना वीरपुरुषोनी खीभो अद्यापि पर्यन्त आबु पर्वतनी गुफाभोना द्वारमा रात्री दिवस चौवार आसुए रुपछे ।

कर्णेने मारबाहमा आवेला नहुइलना चौहाणो साथे पण युद्ध थयुं हतुं । एनो उल्लेख सुधा पहाडीना शिलालेखमा छे । आ विग्रह भीमदेवना वखतमा शर थप्लो हरो एम जणाय छे । त्याना राजा अणहिल्ले अने तेना भाइ अहिले भीमदेवने युद्धमा हराब्यो हवो बाडोखना चौहाब्यो साथे युद्ध अने अणहिल्लना पुत्र बालप्रसादे आबुना परमार राजा कृष्णदेवने भीमना कोदखानामाथी छोडाब्यो हवो । ए बालप्रसादना भत्रीजा पृथ्वीपाले गुजरातना राजा कर्णेना सैन्यनो नाश करयो हवो ? ।

सिन्धना मुसलमान हाकेम साथे पण युद्धनो प्रसङ्ग कर्णेने आब्यो हवो । आ युद्धनी हकीकत बिल्हणनी कर्ण-मुन्दरी नाटिकामा आपेली छे । आ युद्धमा कर्ण जाते गयो न हवो, परन्तु पोताना सेनापतिने मोकल्यो हवो ।

एणे सिन्धना हाकेमने सिन्धु नदीना तट उपर सखत शिकस्त आपी हती ? । कर्णेना सिन्धना हाकेम साथे युद्ध पिता भीमदेवे पण हम्सुकने सिन्धु नदी उपर सेतु बांधीने हराब्यो हवो । आ विग्रह पण चामुण्डना वखतमा शर थयो हवो, वडनगरना दरवाजानी प्रशस्तिमा चामुण्डे सिन्धुराजने मारधानो उल्लेख छे ? । सिन्धना हाकेमनो छेवटनो पराभव सिद्धिराजे करयो हवो । सिन्धना मुसलमानोने आगळ बघता प्रथम कनौजना प्रतिहारोए अने दक्षिणना राष्ट्रकुटोए अटकाव्या हवा । अने पाळ्ळथी तेमतुं पूर गुजरातना सोलंकीभो अने राज-स्थानना चौहाणाए साळथुं हतुं ।

सिद्धराजना इतिहास उपरथी जणाय छे के तेना राज्यनी हद नर्मदा मुघी पडोची हती, परन्तु ए विस्तार कर्णेना समयमा थयो हरो एम लागे छे । कारण के सोमनाथना यात्राळु पासे जे कर लेबामा आवतो ते स्थळ—

राज्यनी दक्षिण सीमा भालोद शुक्लतीर्थनी पासो हतुं । कोटलाक आ स्थळते घोळका पासो आवेल्लु भालोद समजे छे, परन्तु ए कर दक्षिणना यात्राळु पासेथी लेवातो अने तेथी ते राज्यनी मध्यमां बहि पण सरहद उपरज लेबाय ए थप छे ।

१. अद्याप्युर्ध्वपर्वतोदरद्विद्वारेषु रात्रिदिवस ।

क्रन्दगुर्जरवीरवर्गव्यतिवाप्यान्धुपुरोर्मय ॥

आ० रि० है०, १३१४-२८ ।

२. पृथ्वीपाल इति प्र बं चित्तिपतिस्तस्यागलन्मामबद् ।

प्रत्यक्षोल्लिखिः स गुर्जरपते. कर्णलैव्यापहः ॥ २२ ॥

पूरणचन्द्र नाहर—जैन ईशकृष्णद् (१) पृ० २१२ ।

३. कर्णमुन्दरी नाटिका; धंक ४ ।

४. सुमुल्लस्य बभूव सूपतिलक चासुण्डरामाह्वये ।

यद्वगन्धद्विपदायगम्भनवता (पवन) प्रायोन दूरादपि ।

विग्रस्यमग्नाद्वगन्धभक्तकिरिभिः श्रीसिन्धुराजकथा ॥ ६ ॥

महामहोपाध्याय पं० गौरीशङ्कर ओस्का आ सिन्धुराज से मोलनो पिता सिन्धुज हतो एम माने छे, परन्तु मने ए पोख जयातु बघी ।

सिद्धराजे जुनागढना खेंगारने हरावी काठीआवाड तावे करचो हतो, परन्तु तेना केटलेक भाग तो कर्णना वखतमा अणहिल्लवाडना राजाना अधिकार नीचे आवी गयो हतो। काठीआवाडनो भालावाड प्रांत बाबरा (बर्बर) पासेची कर्णना मशीआई भाइ हरपाले जीवी लीधो हतो। ते भाला रजपुत हतो तेथी ते प्रान्तनुं नाम भालावाड पड्युं। आ बाबरानो पाछ्छथी सिद्धराजे सम्पूर्ण पराभव करचो हतो। हरपाल मूळ कच्छनो राजकुंवर हतो। तेना बाप केसर मकवानाने सिन्धना हमीर सुमराए हरावीने मारचो हतो, तेथी ते कर्णना आश्रये आवीने रखो हतो^१।

सोमनाथना यात्राळुओने जङ्गली जातिना बे सरदारानो त्रास हतो। एक बाबरानो अने बीजो आशानो। बाबरो कोळो जांतलो हतो अने आशो मील हतो। बाबरानो त्रास भालावाडमां हतो अने आशानो नळ-काठमां। बाबरानो त्रास हरपालनी सहायथी दूर करचो अने आशाने पोते जाते हराव्यो। आशानुं गाम अमदाबाद पासे असावळ हुतुं। ए स्थळ तेना राज्यवा मध्यभागमां आवेलुं होवाथी तेने कर्णावती नाम आपी पोतानी राजधानी बनावी^२। परन्तु कर्णावतीने राजधानी बनाव्या पळो थोडा मासमां तेलुं मरण थयुं। सिद्धराजे तो पाटणनेज राजधानी बनावी हवी। छेवटे कर्ण वाघेलाए कर्णावतीने राजधानी फरी बनावी होय तेम लागेछे। तेना वखतमां पण कर्णावती भाभो वखत ए पद भोगवी शकी नहि, केम के अलावडीन खीलजीना हुमलाथी तेने दक्षिणमां नासी जवु पड्युं^३।

प्र० चि० मां लख्युं छे के सिद्धराज त्रय वर्षनी उमरनेो थयो ते वखते रमतो रमतो राजसिंहासन उपर चढो वेंठो। ए जोडने कर्ण अणहिल्लवाडमां तेना राज्याभिषेक करचो अने पोते कर्णावतीने राजधानी बनावी त्यां राज्य करवा लाय्यो। परन्तु मात्र रमतमां सिंहासन उपर चढो जाय एटलाज कारणथी त्रय वर्षना बालकनो राज्याभिषेक करवामां आवे ए बात मानी शकाय एवी न थी। खरुं कारण तो ए छे के कर्णावतीने राजधानी करवाथी अणहिल्लवाडनी प्रजाए विरोध करचो हशे। ए विरोध शमा-वा बालक सिद्धराजने त्यां राज्याभिषेक करचो हशे। आ अनुमानने बिलहणी कर्णसुन्दरी नाटिकाथी टेको मळेंछे। एमां जणवेळी हुकीकत रूपक छे। कर्णसुन्दरी एटले कर्णावती नगरी^४। कर्णनी राणी ते पाटणनी प्रजा, कर्णने कर्णसुंदरी साथे परणवु हुतुं। पण तेनी राणी तेम करवा देवी न होवी, परन्तु सम्पत्कर अमात्य (साम्न्त मन्त्री) नी युक्तिवो राजा कर्णसुन्दरीने परबेछे अने तेनी राणी पण हेवटे अनुमति आपेछे। एनो अर्थ ए के कर्णावती ने राजधानी बनाववामां पाटणनी प्रजाए प्रथम विरोध करचो हतो, परन्तु साम्न्त मन्त्रीए सिद्धराजने गादीए बेसाडी ए विरोध समाव्यो हतो।

सोमनाथना यात्राळुओनो त्रास दूर करवामां प्रेरणा आपनार कर्णनी राणी मयणळा (मीनवदेवी) हवी। कर्णनी साथे लग्न करवामां तेनो मुख्य हेतु सोमनाथना यात्राळुओना दुःखनुं निवारण करवुं ते

१. जुषो रासमाळा (गुजराती भाषान्तर) बीजी आदित्य, पृ० ११३।

२. जुषो प्रबन्ध-चिन्तामणि—सिद्धराजप्रबन्ध।

३. तीर्थऋषमां लख्युं छे के मुसलमानी लश्करे असावळ उपर प्रथम हुमलो करचो हतो अने कर्ण त्यांथी वाडो हतो। आपी जणाय छे के कर्ण वाघेलाए कर्णावतीने फरी थी राजधानी बनावी हशे। (तमो हमरी जुवराभो बगवददेव सुहदासयाई नयराणि भंजिअ आसा वखलीए पतो। कर्णदेव राजो अ मटो।)

४. कर्णसुन्दरीने एक स्थळे कामदेवनी राजधानी कही छे। मूर्ति लोकत्रयचिन्तायिनी राजधानी स्मरत्य। १, २३।

હતો । પ્ર૦ ચિ૦ માં તેના પૂર્વે જન્મની કથા આપવામાં આવી છે અને અર્થ એવ થાય છે । તે દલિયામાં આવેલા ચન્દ્રપુરના કદમ્બવંશી રાજા જયકેશીની પુત્રી હતી એવા દ્વ્યામય કાવ્યમાં ઢલ્લેલ છે^૧ । કર્ણના

મીલક સાથે લગ્ન

સમયમાં કદમ્બવંશી રાજા જયકેશીનું રાજ્ય ગોવામાં હતું એમ અત્યારસુધીમાં ઇતિહાસમાં જણાવ્યું હતું, પણ હેમચંદ્રાચાર્યે જણાવેલું નામ સત્ય હશે કે કેમ તે સંબંધી શંકા હતી, કેમકે ચંદ્રપુરનો પત્તો લાગતો ન હોતો । હાં ૦ પત્તીદે તેને વેલગાંવ પરગણામાં આવેલું ચન્દ્રગઢ ધારણું હતું^૨, પરન્તુ ત્યાં તે સમયે કદમ્બવંશનું રાજ્ય હતું નહિ, હાલમાં તેનો પત્તો લાગ્યો છે । એ ચન્દ્રપુર તે ગોવાની પાસે આવેલા સાણસેટ પરગણાનું ચન્દોર ગામ છે^૩ । જયકેશીના પૂર્વજોનું રાજ્ય ચન્દ્રપુરમાં હતું, પરન્તુ ગોવાને બીવી લેઈ જયકેશીએ તેને પોતાની રાજમાનીનું શહેર બનાવ્યું હતું । એના પિતાના એક તાલપત્રમાં ચન્દ્રપુરનો ઢલ્લેલ છે^૪ ।

મીલકદેવીનો પિતા જયકેશી સં૦ ૧૦૩૬ માં મરણ પામ્યો હતો^૫ । તેનું લગ્ન તેના પિતાની હયાતીમાં થયું હતું એમ પ્ર૦ ચિ૦ અને દ્વ્યા૦ કાં૦ ઉપરથી જણાય છે । આવી અને લગ્ન સં૦ ૧૦૩૦ માં થયું હશે । સોમનાથના યાત્રાલુભોનાં દુઃખ સામઘીને તેણે ગુજરાતના રાજાને લેવાનો સ્વયં નિર્ણય કર્યો હતો, તેથી લગ્ન વલ્લે તેની ઘમર મોટી હોવી જોઈએ । તે પન્દર વર્ષની ધારીએ તો તેનો જન્મ સં૦ ૧૧૨૫ માં અટકઢો થતો ।

પ્ર૦ ચિ૦ માં લખ્યું છે કે કર્ણના મૃત્યુસમયે સિદ્ધરાજની ડમર ત્રણ વર્ષની હતી, તેથી તેનો જન્મ સં૦ ૧૧૪૭ માં ઠરે । દિ૦ ૧૦ કોશવલાલ ધ્રુવ સિદ્ધરાજના જન્મનું વર્ષ સં૦ ૧૧૪૫ માને છે, તે એવા કારણથી કે સિદ્ધાસન ઉપર બઢનાર બાલક પાંચ વર્ષથી ઓછી ડમરનો હોવો જોઈએ નહિ^૬ ।

સિદ્ધરાજનો જન્મ

પરન્તુ સિદ્ધાસન ઉપર બઢી લેસવાના કારણથી જો બાલકનો રાજ્યાભિષેક થાય એ વાત માનવા લેવી ન થી । દ્વ્યામયમાં એમ હકીકત છે કે પોતાનું શેષ આયુષ્ય હરિસ્મરણમાં ગાઢવાના આશયથી કર્ણે સિદ્ધરાજને રાજ્યાધિકાર ધારણ કરવા કહે છે, પણ તે પ્રથમ ના પાઢે છે, પરન્તુ પિતાના અત્યંત આમહથી સ્વીકારે છે^૭ । હવે, પિતાનો સાથે આ પ્રમાણે લક્ષ્મણ કરનાર બાલક કંઈક સમજણો તો હોવો જોઈએ । તેથી

૧. અવાલ્યાં સ્પત્રિકાભ્યાસ્ત મામ્વા ચન્દ્રપુરં પુરં ।

× × × ×

શજેહ જયકેશી યં સ્તુતો ચિત્તલ રોદસી ॥

× × × ×

કન્યાઃ લયતિ તત્સૈવા મયણલેતિ માનસઃ ।

× × × ×

અનયા ઘોલયામાહે કદમ્બકુલસુગ્ગલદ ॥

૩-૩૩, ૧૦૦, ૧૨૩ ।

૨. લ૦ તૈ૦, જિ૦ ૧, મા૦ ૧, પૃ૦ ૨૬૫ ।

૩. પૃષ્ઠ૦ ૫૫૦ મારેસ—કદમ્બકુલ, પૃ૦ ૧૬૬ ।

૪. લઢી, પૃ૦ ૧૦૬ ।

યઃ પ્રાપ્ય ચન્દ્રપુરમિન્દ્રપુરતિરેકં શ્રીધારકે ત્રિવિવાસસલ્લંકાર ।

પૃ૦ ૩૬૦ ।

૫. લઢી, પૃ૦ ૧૬૬ ।

૬. સુદિગ્રકાશ, નવેંધર, ૧૯૨૦ ।

૭. સર્ગ ૧૨, શ્લોક ૬૨—૧૦૩ ।

સેની ઝમર દશ વર્ષ કરતાં ન્હાની ન હોવી જોઈએ. એ હિસાબે સિદ્ધરાજનો જન્મ સં. ૧૧૪૦ માં હોવાનો વધારે સમ્ભવ છે. આથી તે વલ્લભે મીનઘડદેવીનું વય ૨૫ વર્ષનું હોવું જોઈએ. દ્વ્યા. ૦ કા. ૦ માં લખ્યું છે કે કર્ણે શ્રી મહાલક્ષ્મી દેવીની ઉપાસના કરી તેથી પુત્રનો જન્મ થયો હતો. એથી પણ જણાય છે કે મીનઘડદેવીની ઝમર પુત્રજન્મ સમયે મોટી હોવી જોઈએ.

સિદ્ધરાજનો જન્મ પાલણપુરમાં થયો હતો, એમ પ્રથમ પાર્વત સાહેબે રાસમાલામાં લખ્યું હતું. ત્યાર પછીના વાર્તા અને ઇતિહાસ લેખકોએ એ વાત સ્વીકારી છે^૧, પરંતુ કોઈ પ્રાચીન ગ્રંથમાં એનો ઉલ્લેખ નથી. પરંતુ એ વાત લોટી છે, કારણ કે પાલણપુર સિદ્ધરાજના જન્મ પછી લગભગ સો વર્ષે આબુના પરમાર રાજા ધારાવર્ષના ન્હાના માફ પ્રહ્લાદનદેવે બસાવ્યું હતું અને તેના નામ ઉપરથી એ નગરનું નામ (પ્રહ્લાદનપુર) પડ્યું હતું^૨. દ્વ્યાશ્રય ઉપરથી જણાય છે કે તેનો જન્મ પાટણમાં જ થયો હતો.

કર્ણનું સૃત્યુ કેવી રીતે થયું હતું તે સંસ્મરણીય બે મત છે. ગુજરાતના પ્રાચીન ઇતિહાસિક ગ્રંથો તેનું સૃત્યુ કુદરતી રીતે થયું હતું એમ કહે છે, ત્યારે હસ્મીર કાવ્ય જણાવે છે કે કર્ણને શાકસ્મરી (અજમેર)ના, ચૌહાણ રાજા દુઃશલે યુદ્ધમાં માર્યો હતો^૩. આ વાત કેટલાક વિદ્વાનો સ્વીકારી માનતા હોય તેમ જણાય છે. પરંતુ હસ્મીર કાવ્યની વાત મને નિર્મૂલ્ય જણાય છે. એના કારણો નીચે પ્રમાણે છે—

(૧) હસ્મીર કાવ્ય સં. ૧૪૬૦ માં પટલે મૂળ બનાવે પછી ત્રણ સો વર્ષ કેટલે રચાયું હતું^૪. પ્ર. ૦ ચિ. ૦ તેના પહેલાં સો વર્ષ ઉપર (સં. ૧૩૬૧) રચાયો હતો અને દ્વ્યાશ્રય કાવ્ય તો મૂળ બનાવે પછી માત્ર પોથી સો વર્ષ બાદ જ લખાયું હતું. આ બે ગ્રંથો હ. ૦ કા. ૦ કરતાં પ્રાચીન હોવાથી તેમની હકીકત તેના કરતાં વધારે વિશ્વસનીય ગણાવી જોઈએ. આ બે ગ્રંથોમાં કર્ણનું સૃત્યુ કુદરતી રીતે થયું હતું એમ સ્પષ્ટ ઉલ્લેખ છે.

(૨) એમ કહેવામાં આવે કે પ્ર. ૦ ચિ. ૦ અને દ્વ્યા. ૦ કા. ૦ એ ગ્રંથો ગુજરાતમાં રચાયા હોવાથી તેના કર્તાઓએ પોતાના દેશના રાજાઓને હીનપત્ત લાગે તેવી વાતો છૂપાવી હશે. તેના ઉત્તરમાં કહેવાનું કે એ વાત સ્વીકારી હોય તો ચૌહાણ રાજાઓના કોઈ પણ શિલાલેખમાં તેનો ઉલ્લેખ કેમ નથી. વળી દુઃશલના જ વંશના છેલ્લા પૃથ્વીરાજના રાજકવિ કાશ્મીરના પંડિત જ. યા. ન. કે રચેલા પૃથ્વીરાજવિજય કાવ્યમાં પણ એનો સહેજ સ્પર્શો સરખોય નથી. એ કાવ્ય ચૌહાણ રાજાઓની પ્રશંસા કરવાના હેતુથી લખાયું હતું અને તે સમયના ગુજરાતના રાજા भीमदेव (बीजा) અને પૃથ્વીરાજને દુઃસ્મનાવટ હતી, તો એ વાત છુપાવવાને ૫૦ વિ. ૦ કા. ૦ ના કર્તાને કદાંજ કારણ ન હોતું. એ કાવ્યમાં કર્ણનો ઉલ્લેખ પણ એક જગાએ થયો છે^૫. છતાં તેનું સૃત્યુ ચૌહાણ રાજાના હાથે થયાનું લખ્યું નથી. તેમાં લખ્યું છે કે મેં વાંઢના રાજા

૧. રાસમાલા (શુ. ૫૦ બીજી આવૃત્તિ), પૃ. ૧૨૩; વં. ૦ સૌ. ૧, મા. ૦ ૨, પૃ. ૧૦૧; ગુજરાતનો પ્રાચીન ઇતિહાસ (ગો. ૫૦૦ વૈભાવ), પૃ. ૨૬૬; મહારાષ્ટ્રી મયજલ્લા (ચા. ૦ વિ. ૦ ૪૪૬૨).

૨. પાર્થસાક્ષમ-ન્યાયોપ-અપોદ્વાત (શાયકવાજ કોરિપુંદલ સીરીઝ) ૫.

૩. નાકેશ્વરીજનનીયમાવગીતાસુતાસ્વાદવિત્તીર્થકર્ણમ્.

શ્રીકર્ણદેવે સમરે વિધાય તદ્વાજ્યલક્ષ્મી પરિણીતવાન્ ય. ૫

૨, ૩૧ ૫

૪. પં. ૦ ગૌરીશક્તિ શ્રીમા—કુ. ૫૦, સપ્તેન્ધર, ૧૬૩૦.

૫. સં. ૫, રજો. ૭૮.

अम्बिकाप्रसादने वाक्पतिराजे कटारथी मारयो हतो^१; कर्णेने मारद्यानी वात खरी होत तो ए वात पण ए काव्यमां नोवाया विना रहेव नहि ।

(३) हन्मीरकाव्यना लेखके षष्ठी वटांग वातो लेखी छे । चौहायोना हाथे षष्ठा सुसल्लमान राजाभो मरुथानी वातो तेमां छे, परन्तु एमांनी षष्ठी सावीत थइ शक्ती नथी । तेमां गुजरातमां राजा मूलराजने विप्रहराजे मारयो हतो एम पण लख्युं छे^२ । आ वात स्पष्ट रीते असत्य छे, केमके विप्रहराज अने मूलराजने शुद्ध मूलराजना राव्यना आरम्भकाळमां थयुं हुतुं । मूलराजने मारद्या सम्बन्धी वात पण चौहायोना शिलालेखेमां के ५० वि० का० मां जणावेली नथी । ए काव्यमां तो एट्ठुंज लख्युं छे के विप्रहराजना हुमलाथी मूलराज कंधा दुर्गमां भराइ बेठो हतो^३ । आटली वात तो खरी छे, केमके प्र० चि० मां पण लख्युं छे के विप्रहराज अने बारपना सामटा हुलाथी मूलराजने कच्छना कंधकोटना किल्लामां नासी जुनुं पळ्युं हुतुं । ह० का० नी अन्य वातो आ प्रमाणे निर्मूल होय तो, कर्णना मृत्युनी वात पण असत्य होय एमां कंह आश्चर्य नथी ।

(४) दुःशलुं नाम शिलालेखो के ५० वि० का० मां नथी । ह० का० ना कर्ताए दुर्लभराजने ए नाम आर्युं होय एम जणावळे । कर्ण अने दुर्लभराज समकालीन हवा पण नहि, कारण के दुर्लभराजना उत्तराधिकारी विप्रहराज श्रीजाने समय एकर प्रमाण थी सं० ११३६ ठरे छे^४ । आथी दुर्लभराज के दुःशलुं मृत्यु सं० ११३६ पहेलां थयुं हयो ए नक्की छे, हवे को दुःशल ए वर्ष, पछी हयात न होय तो ते सं० ११५० मां कर्णेने केवी रीते मारी शके ? ५० वि० का० वपरथी पण जणाय छे के दुर्लभराज अने कर्ण नहि, पण विप्रहराज अने कर्ण समकालीन हवा, केमके उदयादित्यने कर्णेना विरुद्ध विप्रहराजे सहाय आपी हवी एम तेमां जणाव्युं छे^५ । आ षष्ठां प्रमाणेनो विचार करता जणाय छे के कर्णेना मृत्यु-सम्बन्धी ह० का० नी वात असत्य अने निर्मूल छे, प्र० चि० वपरथी जणाय छे के तेतुं मृत्यु कर्णावीमां थयुं हुतुं, अमदाबादमां सारङ्गपुर दरवाजा बहार रणमुक्तेश्वर महादेवतुं देवालय छे । एतुं मूल नाम कर्णमुक्तेश्वर हयो अने कर्णेने ज्यां अग्निदाह देवामां आब्यो हतो ए जगाए बन्धाव्युं हयो ए दि० ब० केशवलाल भुवतुं धारतुं छे^६ ।

१. तस्माद्वाक्पतिराजेन सम्भूतमवलीमुखा ।

× × × ×

मिहमन्वाप्रसादस्य मेनञ्जुरिकया मुल्लस्य ॥

२, २८—६० ।

२. अणुप्रवीरव्रतवीरवीरसेलेन्यमावक्रमपशुमुस्य ।

श्रीमूलराजं समरे निहत्य यो गुर्जरं जलरतामनैपीत् ॥

२, २ ।

३. लक्षं तपस्विना (स्वप्नं) यशोऽष्टकमितिष थः ।

गुर्जरं मूलराजाय कंधादुर्गमांविशत् ॥

२, २१ ।

४. भा० प्र० पत्रिका भा० १२, अं० ३, पृ० २६२ ।

५. जुमो दिव्य ४ (पृ० ११) ।

६. हु० प्र० नवंबर, १९२७ ।

सिद्धराजे घणां लोकोपयोगी बांधकाम कराव्यां हता, परन्तु ए काममां प्रेरणा तेने कर्णनां बांधकामो-
मांथी मळी हवी। तेनी माताना नामथी पाटण्मां एक भव्य अने विशाल वाव बंधावी हवी अने पोताना
नामथी एक बहु ऊंचो महल 'कर्ण-मेरु-प्रासाद' बंधाव्यो हवो। मोढेरा पासे कर्ण-
कर्णनां बांधकाम सागर नामनुं तळाव बंधाव्युं हतुं अने त्यां कर्णेश्वर महादेवतुं मन्दिर कराव्युं हतुं।
ए तळावमां रूपेश्व नदीने बाळीने पाखी लाववामां आव्युं हतुं, परन्तु सं० १८७०नी अतिवृष्टिमां ए नदीमां
पुर आववाथी ए तळाव तूटी गयुं हतुं। हातमां ए जगाए कर्णसागर नामतुं गामहुं वसेल्लुं छे। असावळना
विजयना स्मारकमां तेणे अमदाबादना कोचरब गाम पासे जयवती मातातुं मन्दिर बंधाव्युं हतुं। अमदाबादतुं
कांकीरीछं तळाव पण तेनुं बंधावेल्लु ह्यो एम धारवामां आवे छे।

कर्णनां सुत्यु पळी तुरत मीनळदेवी बालक सिद्धराजने लेइने भरुच पासे शुक्तीर्थमां गइ हवी?।
कर्णनी उत्तरक्रिया कदाच त्यां करी ह्यो। त्यां जवामां तेनो आशय सोमनाथना यात्राळुओने कर काढी नाखवानो
ह्यो। त्यां आ वेला बाहुलोड (भालोड) गाम आगळ ए कर लेवातो हवो।
सोमनाथनी यात्रा
सोमनाथना यात्राळुओने आशो भिल्ल अने बाबरो कोळी ए बे छुंदाराना त्रासमांथी
कर्णपासे मुक्ति अपावी हवी, पण यात्राळुओना करनी वार्षिक उपज बोतेर लाख रुपीआ जेटळी मोटी होवाथी
कर्ण ए कर काढी शक्यो न होतो, ते मीनळदेवीए सिद्धराजपासे काढी नखाव्यो त्यांथी ते सोमनाथनी
यात्राए गइ हवी।

मीनळदेवी सोमनाथनी यात्राए गइ हवी ते वखते मारवाडमां आवेला नडूळना चौहाण राजा योजके
पाटण उपर हुमलो करथो हवो अने थोडो समय राजगद्दी उपर बेठो हवो?। आ वखते पाटणने कार-
भार सांतु मंत्री ने सोंपेल्लो हवो। तेणे पैसा आपोने योजकने पाळो काळ्यो
योजकनी चढाइ
हवो। नडूळना चौहाणने गुजरातना राजाओ साथे मीनदेवना समयथी विग्रह
चालवो हवो। आ हुमलो करनार मालवानो यथोवर्मा हवो एम प्र० चि० मां लख्युं छे, परन्तु ए वाव
बरोबर जणाती नथी, कारण (१) यथोवर्मा ते समये मालवानो राजा न हवो परन्तु उदयदित्य के तेनो पुत्र
लक्ष्मवर्मा हवो, (२) नरवर्मा सं० ११६२ ना नागपुरना शिलालेखमां के सं० ११६४ना उदयपुरना
(मालवानुं) शिलालेखमां आ चढाइनो कल्लेख नथी। जो आ चढाइ मालवाना राजाए करी होव तो पोवानां
पूर्वजोनां पराक्रमोनां वर्णनमां ए वाव नरवर्मा जणाव्या विना रहते नहि, अने (३) जो आ चढाइ थइ होव
तो सिद्धराज तेनुं वेर लेवो मालवा उपर तुरत चढाइ करथा विना रहते नहि। ते तो मालवा उपर घणा लांबा
काळे सं० ११८० पळी चढाइ करे छे। सिद्धराजे सोरठ उपर सं० ११७० मां चढाइ करी हवी ते वखते मालवाना

१. शसमाळा, पृ० १४७-१४८।

२. खेताम्बर-दिगम्बर शास्त्रार्थना प्रसङ्गमां प्र० चि० मां लख्युं छे के मीनळदेवीनो पिता दिगम्बर जैन धर्माजुयावी
हवो अने मीनळदेवी ए धर्मनी पचपातिनी हवी। आ वाव खरी जणाय छे, कारण मीनळदेवीनी सोमनाथ प्रत्ये असाधारण
भक्ति हवी। तेनो पितामह षष्ठदेव बीजो अने प्रपितामह शुद्धदेव बीजो सोमनाथनी यात्राए गया हता। एम ए कदम्बकुलो
इतिहास जोतां जणाय छे। जुषो कदम्बकुल, पृ० १७१, ७६।

३. जुषो सुंघा पहाडीनो शिलालेख—

श्रीयोजको मूपतिर्यस्य बन्धुविंकेसौधप्रबलप्रतापः।

खेताम्बरनेत्रे विराजमानः शक्त्याबहिष्ठाव्यपुरेण रेने ॥ २४ ॥

नरवर्मा के तेना यशोवर्माए पाटण उपर चढाइ करी हरो। प्र० चि० ना कर्ताए सं० ११७०नी चढाइ सं० ११५०मां बघली गयी छे। आ प्रमाये सं० ११५० मां मालवाना राजाए नहि पण नहुल्लना चौहाण राजाए पाटण उपर चढाइ करघातुं ठरे छे। सिद्धराजे सोमनाथथी आन्या पछी तुरत नहुल्ल उपर चढाइ करीने योजकने नमान्यो हरो, केमके योजकनो भाइ आशराज सिद्धराजनो मांडलिक बन्यो हुतो एम एज हुंघा पहाडीना शिलालेख उपरथी जणाय छे^१ ।

आ योजकना हुमलाथी मीनठ देवीने एम लाग्युं हरो के राजधानीना अने बालुराजाना रक्षणमाटे नगररक्षक तरीके शूरवीर चन्नियनी जरूर छे। ऐथी मालवाना उदयादित्यना पुत्र जगदेवने नगररक्षक नीन्यो हुतो। जगदेवने अत्यारसुधी ऐतिहासिक व्यक्ति मानवामा आवेतो न होतो, जगदेव परमार परन्तु कुम्भैदना शिलालेखथी हुवे सिद्ध बयु छे के ते मालवाना परमार राजा उदयादित्यनो पुत्र हुतो। ते गुजरातमां सिद्धराजना राज्यना छेबटना भागमां आन्यो हुतो। एम अटकल करवामा आवे छे, परन्तु कीर्तिकौमुदीना बे श्लोकोमां एम लख्युं छे के सिद्धराजना समयमां ब्यारे जगदेव नगररक्षक हुतो अने बाल मूलराजना समयमां प्रतापसिंह राठोड नगररक्षक हुतो त्यारे राजधानीमां पेशवानी शत्रुओनी हिंस्रत चालती न होती। ऐवो कोइ चन्निय बाल भीमदेवना (बीजो) समयमां नहि होवाथी आरम्भमां तेना राज्यमा अन्धाधुन्धी प्रवर्ती हुती^२। आ उपरथी जणाय छे के जगदेव परमार सिद्धराजना राज्यना आरम्भमां गुजरातमां रह्यो हरो^३। त्याथी ते दक्षिणमां गयो हरो एम दक्षिणना शिलालेख उपरथी जणाय छे।

आज समयमा काश्मीरी पंडित विश्वनाथ पाटणमां आन्यो हुतो। तेथे कथने नायक कल्पीने कथंमुन्दरी नाटिका लखी छे। तेमां कथनी पट्टराक्षीना विरोध छतां सम्पत्कर महामातवनी युक्तिकी कथनुं लग्न गर्गमर्ष कन्या साथे कराव्युं छे। आ उपरथी नटो नमुञ्जला उपर प्रेम हुतो, मीनठदेवी घरफ प्रथम अभाव हुतो, बगरे कथाओ प्रचलित थइ छे। परन्तु ए बघो खोटी छे। ए नाटिकानो हकीकत कथावतीने राजधानी करवा सम्बन्धी रूपक छे। एम आगळ जणायुं छे। कथंमुन्दरी

विश्वनाथ आशमन

१. श्री आशराजनाम्ना समञ्जि वसुधानायकस्तस्य बन्धु.

साहाय्यं मालवाना भुवि पदसिद्धं वीक्ष्य सिद्धाभिराजः ।

गुप्तो घत्ते स्म कुंभं कनकनयमदो यत्पु गुण्यद्वयस्य

त हस्तं नैव शक्तः कष्टपितृद्वयः शेषं सूपालवागिम ॥ २६ ॥

२. मन्त्रिभिर्माण्डलीकैश्च बलघञ्जिः शनैः शनैः ।

बालस्य भूमिपालस्य तस्य राज्यं व्यवस्यत ॥ ६१ ॥

न राष्ट्रद्वन्द्वव्यकैटमारिः प्रतापमहोस्ति सुबैकमहः ।

गन्धोपि मत्तारि मत्तज्जावा गन्धद्विपेनेव न येन सेह ॥ ६२ ॥

विना जगद्देवमिमांशवस्थां नीता निजैरेव परैरिवाहम् ।

यत्र स्थिते वैत्रिधि शक्तिर्यै द्विष्टैः प्रविष्टं पुरि गुर्जराणाम् ॥ ६३ ॥ स० २ ।

३. भाटोनी भाटोमां जगदेव सं० ११५२ मा आन्यानुं एक दोहरामां जणायुंछे ते बरोबर छे—

सेवत ग्यार सौ इक्यावन जेत सुदी रविवार ।

जगदेव सीस ममपिथा धारनगर पवार ॥

नाटिका कर्णना जीवतां रचाइ हवी एम बणातुं धारतुं छे । पण हुँ तेम भानते नथी, केमके जे तेम होत तो ए नाटिकानो प्रस्तावनामां ते कर्णना समज अने राजमहालयमांके शिवमन्दिरमां भजवायानो उल्लेख होत, परन्तु तेमां तो ते सम्पत्कर (सान्त्) मन्त्रीए प्रवर्तविला जैनमन्दिरमां भजवायानो उल्लेख छे । एथी मीनळदेवी सोमनाथनो यात्राए गइ हवी अने राज्यकारभार सान्त् मन्त्रीने सोंप्यो हतो ते समये ए नाटिका रचाइ हवी । गुजरातथी ते सोमनाथ गयातुं जणावे छे, ते मीनळदेवीने मळवाना हेतु थी त्थां गयो ह्यो एम लागे छे ।

सिद्धराजनी सभामां दिगम्बरो अने श्वेतांबरोना शास्त्रार्थ थयो ते बलते दिगम्बर आचार्य मीनळदेवीना पोअरना देशना—कर्णाटकना—होबाथी तेनो विजय थाय एम इच्छती हवी । अने राजसभाना सभ्योने एवी

मीनळनी योग्यता

भलाभाय पण तेथे करी हवी, परन्तु हेमचन्द्राचार्य तेने एम कङ्कु के, दिगम्बरो खोओए करेला सुकृतो अप्रमाण ठरावयो, तेथी तेथे तेनो पच छोडो दीधो हवो । आ हकीकतथी जणाय छे के मीनळदेवी सुशिक्षित हवी, तेने चित्रविद्यानो शौख हवो एम दूधा० का० मां स्पष्ट उल्लेख छे । छेक दक्षिणमांथी निकळी गुजरातना राजाने परणवा आवी हवी ते उपरथी तेनी असआधारण हियत जणाय छे । सोमनाथना यात्राकुओना करनी बेतेर लाख टका जेटल्ली मोटो आवक जती करवामां तेनी लोकपोपकार वृत्ति जणाय छे । धोळकामां तळाव बन्धाव्युं ते स्थळे एक गणिकानुं घर हतुं । तळावनो आकार बरोबर बनाववा ए घर तोडो नाखवानी जरूर हवी, परन्तु सोमाथ्या दाम आपवा छतां ए घर बेचवानी ते गणिकाए ना पाडो, तेथी तळाव ना आकारमां खामी राखी छतां पण ए घर जबरदस्तीयी लीधुं नहि, आ बातथी तेनी न्यायपरायणता तथा उदारचरित जणाय छे ।

कर्णने आवी सच्चरित्रा सहधर्मचारिणी मळबाथी तेना कार्यमां अनेक रीते सहाय मळी हयो । मीनळ मुळजालतुं जोडु जहाँगिर-नूरजहानना जोडानो याद आपे छे । बंनेमां परस्पर घणो स्नेह हवो । जहाँगिरनी उत्तरावस्थामां नूरजहाने राज्यकारभार चलावयो हवो, तेम मीनळे सिद्धराजना बाल्यकालमां राज्यकारभार चलावयो हवो ।

कर्ण पछो प्रतापी सिद्धराजतुं राज्य शबाथी तेलुं तेज भांछु लागे छे, परन्तु सिद्धराजनी महत्तानां बीज कर्णना समयमां बवायां हवा । गुजरातने जङ्गली लुंढाराओना त्रासमांथी सुख करनार कर्ण हवो । सिन्धना

१. न० वस्मिन्नयहिल्लपाठयसुकुटमणौ शान्मुखसवदेजगुदे भगवतो नामेयस्य महामात्यसंपत्करप्रवर्तिते यात्रामहोत्सवे ।

२. कक्षाचन्धं विदधति न ये सर्वदैवाविश्रुद्धा-

स्तच्चापन्ते किमपि भजते बज्जुप्तापद्वन्द्व ।

येषां मार्गे परिचयवशादजितं गुजैरायां

यः सन्तापं शिथिलमकरोत्सोमचार्यं विलोक्य ॥

वि० दे० च०, १८, १७ ।

आ श्लोकमां गुजरातीओनी निन्दा करेकी छे, ए उपरथी जणाय छे के सान्त् मन्त्रीना पारितोषिकथी बिहहणने सन्तोष थयो नहि होय ।

मुसलमानोंने तेणें जबरी हार खराबी हवी । तेणें पोतानी राजधानी कर्णावलीमां करी हवी अने त्रैलोक्यमल्लंतुं विरुद्ध धारण करणुं हतुं, एवी जणाय छे के तेने पोतानां राज्यनो विस्तार करवानी होश हवी । जयकेशीए पोतानी एक पुत्री दक्षिण भारतना चक्रवर्ती विक्रमादित्य छद्धाने कर्णनी योग्यता परखावी हवी अने बीजी पुत्री कर्णने आपीए हकीकतयो कर्णनी महत्ता समजाय छे । तेने चक्रवर्ती बनानी पण अभिलाषा हवी ए बात कर्णमुन्दरी नाटिका उपरयी जणाय छे । सिद्धराजतुं नाम महालयो अने महासरोवरो बान्धवा माटे प्रख्यात छे । तेने ए कामोनी प्रेरणाना कर्णनां एषां कामो उपरयी सळो हवी, कर्णमेरु प्रासाद उपरयी रुद्रमहालय अने कर्णसागर उपरयी सहस्रलिङ्ग सरोवर बन्धान्यां हतां । कर्णसागरमां पाणी लाववा जेम कर्णें रुपेण वाळो हवी, तेम सहस्र-लिङ्गमां सिद्धराजे सरस्वती वाळो हवी । कर्ण खरेखर प्रतापी राजा हुतो ।

सालवारी

कर्णनो रान्याभिवेक	सं० ११२०
मीनन्देवी साथे लग्न	सं० ११३० (आशरे)
सिद्धराजनो जन्म	सं० ११४० (आशरे)
कर्णावलीनी राजधानी	}
सिद्धराजनो रान्याभिवेक	
कर्णतुं मृत्यु	
योगकनी चढाइ	सं० ११५०
जगदेवनतुं पाटण भावतुं	सं० ११५१

१. सरस्वती पुराणमां ब्रह्मलेखे के के सिद्धराज सरोवरमां सरस्वतीने छाव्यो हुतो—

स्वर्णपावनाथं च सिद्धराजः सरस्वतीम् ।

तत्सरो ब्रह्मपद्मेर्वा गङ्गानिब भगीरथः ॥ २१३ ॥

आ बातने सिद्धराजना कीर्तिस्तम्भना लेखना एक वचनयी पुष्टि मळे छे—

भगीरथस्य त्रिदशपद्मेव ॥ ८७ ॥

ततः सा पूरयामास सरः सिद्धेश्वरारितम् ।

स्नानिर्त सपरेण्येच... ..

प्रस्थान, माद्रपद, १९८७ ।

महाराजा कुमारपाल चौलुक्य

सुवि हिमांशुविजय, न्यायकाव्यतीर्थ ।

इतिहास के साथ राजाओं का घनिष्ठ सम्बन्ध है । राजाओं का कार्यक्षेत्र व जीवन-चरित्र विशेष व्यापक होने की वजह से उन के इतिहास से बहुत सी समकालीन घटनाओं का पता लग सकता है ।

प्रस्तुत लेख में हम महाराजा कुमारपाल का वृत्तान्त सप्रमाण लिखेंगे, जिन का सम्बन्ध समस्त गुजरात के साथ तो है ही, परन्तु मालवा दक्षिणादि देशों से भी है, और जो चौलुक्यवंश के प्रतापी राजाओं में यशस्वी और अन्तिम राजा हुए हैं ।

विक्रम संवत् ८०२ मे चापोल्कटवंशीय वनराज^१ ने गुजरात में जैन मन्त्रों से अणहिलपुर (पाटण) की स्थापना की, और वहाँ पर अपनी राजधानी कायम की । इस प्रदेश की सुन्दरता और सुरक्षितता के कारण

करीब ६०० वर्ष तक चावडा और चौलुक्यवंशीय राजाओं की यह राजधानी बनी
चावडावंश के भूपाल रही । अभी तक यह पाटण^२ हज़ारों धनी और यशस्वी व्यापारियों का नगर प्रसिद्ध

है । इस समय यह शहर महाराजा गा य क वा ड के राज्य में है । महाराजा कु मार पाल के वक्त में इस शहर मे १८०० कोरुपति थे । टॉड साहब का कहना है कि 'उस वक्त भारत के सभी शहरों में यह अधिक ससुख था जहाँ पूर्वीय और पाश्चात्य वस्तुएँ मिलती थीं ।'

१. यह गुजरात और चावडावंश का प्रथम राजा है । शीलगुण्य सुरि जैनाचार्य ने इस में उन्नत संस्कार डाले थे । दे० प्रबन्ध-चिन्तामणि फाब्रिससभा, १९३२, पृ० ११ ।

जैन युग में छपी हुई राजवंशावली में अणहिलपुर का स्थापना-काल वि० सं० १२१ वैशाख शुक्ल १ रोहिणी नक्षत्र लिखा है । और मेरे पास जो असुद्धि राजवंशावली है उस में वि० सं० ८०२ लिखा है—

अण्डे युग्मनमोमदाख्यमिते चापोल्कटो भूपतिः

दाताऽभूद् वनराज इत्यमिमतो विद्वज्जनैराश्रितः ।

षष्ठशतप्रमितं सुराज्यमकिलं भुक्तं च तेनाऽनुजं

व्यक्तभीरुपुष्टिपत्तनपुरं सन्निर्मितं मृतले ॥ २१ ॥

श्रीमान् मृत सुरि ने भी विचारश्रेणि (जो प्रबन्धचिन्तामणि के पश्चात् लिखी गई है) में वनराज की राज्य-स्थापना वि० सं० ८२१ (ई० ७९४) से लिखी है । और यही साल ठीक है, ऐसा श्रीमान् रा० ब० पं० गौरीशङ्कर ओझाजी का मत है ।

चापोल्कट, चावडा, चावरा वे एक ही अर्थ के पर्याय हैं ।

श्रीमान् ओझाजी का कहना है कि चावडावंश परमारों की शाखा है । दे० टॉड-रा० की टिप्पणी ।

२ वर्तमान मे इस को सिद्धपुर पाटण कहते हैं ।

बड़े-बड़े विद्वानों और कवियों ने इस नगर की भूरि-भूरि प्रशंसा की है^१।

ववराज के बाद योगराज, चेमराज, भूवट्टराज, वयरसिंह, रत्नावित्य, सामन्तसिंह, ये छः राजा चावडावराज के हुए। इन सातों राजाओं का राज्यकाल १८६ वर्ष है, ऐसा गुर्जरदेश-भूपावली^२ से मालूम होता है। टॉड-राजस्थान में १८४ वर्ष लिखे हैं। परन्तु हमें यह ठीक नहीं ज्ञेयता।

चौलुक्यवंश का मूल राजा वि० सं० ८८८ में गुजरात का पहला राजा हुआ जिस ने ५५ वर्ष पर्यन्त राज्य किया^३। इस के बाद क्रमशः चासुण्डराज, वल्लभराज, दुर्लभराज, भीमराज (प्रथम), चौलुक्यवंश के राजा कर्णराज, ये छः राजा हुए जिन्होंने गुजरात में राज्य कर के प्रजा का पालन किया।

कर्णदेव^४ का उत्तराधिकारी गुजरात का राजा उसी का पुत्र सिद्धराज हुआ। इस का राज्याभिषेक वि० सं० ११५० पौष वदि ३ को हुआ। यह राजा बड़ा प्रतापी और विद्वान् था। अतएव पण्डितों का योग्य सत्कार करने का भी इस को पूरा शौक था। इसी शौक के कारण इस ने कई विद्वानों को सहाय्य दिया और आचार्य हेमचन्द्र जैसे सर्वदेशीय विद्वान् से सङ्गति कर के उन से एक महान् पञ्चाङ्गी व्याकरण बनाने की नम्र प्रार्थना की। आचार्य हेमचन्द्र ने भूपाल की प्रार्थना को स्वीकार कर के “सवा साख श्लोक-प्रमाण सिद्ध हेमचन्द्रशब्दांशु शासन” नाम का संस्कृत आदि सात भाषाओं का अद्वितीय व्याकरण बना कर गुजरात का सिद्धराज का और अपना गौरव बढ़ाया^५। और भी विश्वेश्वरदेवबोध, श्रोपाल, वाग्भट, वादिदेव सूरि प्रभृति चैन विद्वानों के ऊपर उस की बहुत भक्ति थी। इसी कारण यद्यपि पहले उस की जैन धर्म पर रुचि नहीं थी परन्तु जैन विद्वानों के समागम से उस ने कई जैन मन्दिर भी अपने खर्चे से बनवाए थे और जैन धर्म पर प्रेम रखता था^६। सोमनाथ के ऊपर इस की विशेष भक्ति थी।

सिद्धराज के कोई पुत्र नहीं था। इसलिए वह हमेशा चिन्ताकुल रहता था कि मेरा उत्तराधिकारी कौन होगा। इस बात का समाधान कई ज्योतिर्विदों और श्री हेमचन्द्राचार्य से राजा ने पूछा। सब से यही उत्तर

१. संस्कृत और प्राकृत द्वयाश्रय काव्य और कुमारपाल प्रबन्ध।

२. श्लो० ३९; यह ग्रन्थ अभी तक छपा नहीं है। मेरे पास इस की प्रेस कापी है।

३. मूलराजस्थान जे वसुन्याङ्कहापने।

पद्मपञ्चाङ्गद्वारा स्वर्णं राज्यं चकार सः ॥ गु० ३० भू० ३४ ॥

टॉड महोदय ने मूलराज का राज्यकाल १८ वर्ष लिखा है। टॉ० रा० पृ० ७०२।

चौलुक्य, चौलुक, चालुक, चौलक और सौलङ्की ये पाँचों एक ही अर्थ के शब्द हैं। चौलुक्यों ने पहले आर्योव्या में, बाद इक्ष्वाकु में और पीछे गुजरात में राज्य किया। प्रथम जयसिंह (ई० स० १०७) के कुरीब से सोलङ्कियों का शङ्खला-बद्ध इतिहास मिलता है जो इक्षिण का राजा था। ऐसा भीमान् भोमाली का मत है।

४. इस का राज्यकाल वि० सं० ११२० से ११२० तक है। यह भीमदेव का पुत्र था। ‘महाकवि चागभट्ट’ इस का श्रिय मित्र था। इन ने ‘चागभट्टालङ्कार’ में सिद्धराज की कई जगह स्तुति की है। इस राजा का सम्पूर्ण इतिहास आचार्य श्री हेमचन्द्र ने संस्कृत द्वयाश्रय काव्य में लिखा है। प्रबन्धचिन्तामणि में इस का प्रबन्ध स्वतन्त्र है।

५. ‘प्रभावचरित्र’ में हेमचन्द्र सूरि-प्रबन्ध श्लो० ७३ से ११२।

६. प्रभावचरित्र। टॉड साहब ने और इट्टिसी ने, जैन बौद्ध को एक मान कर, सिद्धराज को बौद्ध-धर्मी माना है। पर यह बात ठीक नहीं है। यह जैन-धर्म को पाजता था और जैन धर्म का बसेजक व प्रशंसक था। बौद्ध-धर्म तो कम समय विजीवप्राप्य था। भारत के बहुत विद्वानों ने जैन मन्दिर, मूर्ति, ताड व राजाओं को बौद्ध मानने की पहले गम्भीर भूलें की है।

मिला कि तुम्हारे पीछे राणाधिकारी त्रिभुवनपाल का पुत्र कुमारपाल होगा जो बड़ा प्रतापी और न्यायी होगा।

कुमारपाल के पूर्वजों के विषय में मिश्र-मिश्र ग्रन्थों के जुड़े-जुड़े वल्लेख मिलते हैं। प्रबन्धचिन्तामणिकार भीमदेव का पुत्र हरिपाल, हरिपाल का त्रिभुवनपाल और त्रिभुवनपाल का पुत्र कुमारपाल बताते हैं। साथ-साथ यह भी बतलाते हैं कि भीमदेव ने चण्डादेवी नाम की वाराहना रक्खी थी, जो सदाचारिणी और नीतिमती थी। उस से हरिपाल का जन्म हुआ। परन्तु यह बात और कहाँ देखने में नहीं आती।

महाशत्रु कुमारपाल

प्रभावकचरित्र में लिखा है कि देवप्रसाद, कर्णराज का भाई (भीम का पुत्र) था, उस का पुत्र त्रिभुवनपाल, और उस का पुत्र कुमारपाल राजा के उत्तम लक्ष्यों से युक्त था। कुमारपाल प्रतिबोध के कर्ता भीम का पुत्र जेमराज, उस का पुत्र देवप्रसाद और देवप्रसाद के पुत्र त्रिभुवनपाल का पुत्र कुमारपाल बतलाते हैं। कुमारपाल चौलुक्यवंशी प्रथम भीम के कुल का और त्रिभुवनपाल का पुत्र था। इस में तो किसी का मत-भेद नहीं है।

कुमारपाल छत्तौस प्रकार की शस्त्रकला में प्रवीण, बहादुर, कृतज्ञ और लघमी था।

सिद्धराज ने जब सुना कि मेरे सन्तान न होगी और कुमारपाल उत्तराधिकारी होगा तब उस को बहुत दुःख हुआ। कुमारपाल को किसी तरह वह अपने राज्य का मालिक बनाना नहीं चाहता था। सम्भव है कि

कुमारपाल के एक पूर्वज के वंश से उत्पन्न होने के कारण वह उस को भी नीच समझ कर घृणा करता हो। कुछ भी हो, कुमारपाल को मारने का विचार कर के उसने चारों ओर अपने सिपाही दौड़ाए।

जब कुमारपाल को यह मालूम हुआ कि सिद्धराज मुझे मारना चाहता है तब वह पाटण से निकल कर गुप्त वेश में इतस्ततः परिभ्रमण करने लगा। कई बार वह क़रीब-क़रीब दुश्मन के हाथ पड़ गया परन्तु अपनी चालाकी से बचा। कई बार इसे अपने प्राण बचाने को काँटों की बाड़ों और निमाडे में छिपना पड़ा। जङ्गलों में एकाकी भूखे प्यासे घूम कर के इस ने बहुत कष्ट खाए। पास में खर्च को कौड़ी भी नहीं थी। घूसता-घूसता यह खम्भात में उदयन मन्त्री के यहाँ

१. 'प्रभावकचरित्र' में लिखा है कि हेमचन्द्र सूरि ने तीन उपवास और ध्यान कर के अम्ना देवी को प्रसन्न किया, और सिद्धराज के उत्तराधिकारी के विषय में पूछा। देवी ने उत्तर दिया कि इस राजा के भग्न से संतति नहीं है। अतः इस राजा के भाई का पुत्र कुमारपाल, जो पुण्य प्रताप और महिमा से युक्त है, राजा होगा; दूसरे राज्यों को भी अपने अधीन करेगा और जैन-धर्म को पालेगा। श्लोक ३१२।

२. एक राज-वंशावली में जामेयः सिद्धराजस्य अर्थात् कुमारपाल सिद्धराज का भाण्येय था, लिखा है परन्तु यह बात सत्य नहीं मालूम होती, क्योंकि सभी तत्कालीन प्राचीन ग्रन्थों में कुमारपाल को भीमवंशीय चौलुक्य बतलाया है। और जामेय लिखने-वाला ग्रन्थकार बहुत पीछे का (अर्वाचीन) है। टांड-नामस्थान के कर्ता कुमारपाल को चौहानवंशी लिखकर सिद्धराज का उत्तराधिकारी लिखते हैं। और एक जगह पर वत्तक पुत्र लिखते हैं। यह बात किसी पुराने ग्रन्थ में देखने में नहीं आती। सभी प्राचीन लेखक कुमारपाल को चौलुक्य ही बतलाते हैं। सं० इत्याश्रय के टीकाकार अभयसिंह लिखते हैं—सिद्धराज त्रिभुवनपाल का पचा लगाता था अतः कुमारपाल का सिद्धराज पितामह हुआ।

३. आचार्य हेमचन्द्र ने इस बात का वल्लेख कहीं पर नहीं किया है, परन्तु प्रबन्धचिन्तामणि आदि ग्रन्थों में कुमारपाल के प्रति, सिद्धराज का कोप स्पष्ट दिखता है। विशेष में जिन सङ्घनगणि कुमारपाल-प्रबन्ध में लिखे हैं—कुमारपाल के पिता त्रिभुवनपाल को सिद्धराज ने सरवा दिया था। इनके प्रति सिद्धराज के प्रचण्ड कोप का कोई कारण हमारी समझ में अभी तक नहीं आया।

खाने-पीने का कुछ साधन माँगने पहुँचा। उद्यत^१ उस समय आचार्य हेमचन्द्र को पास बैठकर धर्म-वार्त्ता कर रहे थे। कुमारपाल वहाँ पौषघराला में गया। उद्यत से बातें हुई^२। हेमचन्द्राचार्य ने उस को लोकेतर लक्षण देख कर मन्त्री के आगे कहा कि यह बहुत बड़ा राजा होगा। हेमचन्द्राचार्य से सेंट कुमारपाल बहुत थक गया था। निराश भी बहुत हो गया था। हेमचन्द्र सूरि ने विश्वास दिला कर कहा कि यदि वि० सं० ११६६ कार्तिक^३ वदि २ को तुम को राज्य न मिलेगा तो मैं ज्योतिष और निमित्त शास्त्र को देखना छोड़ दूँगा^४।

आचार्य का निर्णय सुन कर कुमारपाल बहुत चमत्कृत हुआ। उस को मन में बड़ी श्रद्धा हुई। प्रसन्न हो कर उस ने हेमचन्द्र सूरि से कहा—आप की बात सत्य होगी तो आप ही राजा हूँ, मैं तो आप का दास रहूँगा^५। आचार्य ने कहा कि हम तो निःस्पृही हैं। हमें राज्य से कोई प्रयोजन नहीं। कामिनी-काञ्चन को हम स्पर्श तक नहीं करते। साहित्य-सेवा और धर्मोपदेश हमारा व्यवसाय है। तुम अपनी कृतज्ञता के लिए जैन-धर्म और देश की सेवा करने का प्रयत्न करना। आचार्य का वचन बड़ी श्रद्धा से कुमारपाल ने स्वीकार किया। कुमारपाल और हेमचन्द्र की यह पहली ही मुलाकात थी। परन्तु इन में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध जुड़ गया, जो दिन-ब-दिन इतना बढ़ा कि षण्मस्य और चन्द्रगुप्त की दूसरी आवृत्ति जैसा हो गया।

मन्त्री उद्यत ने हेमाचार्य के कहने से कुमारपाल का योग्य सत्कार कर कुछ धन दे कर उस को रवाना किया। कहा जाता है कि हेमचन्द्र भी इस की रक्षा के लिए सावधान रहते थे। कई बार हेमचन्द्र ने अपने उपाश्रय में छिपा कर भी इस को बचाया।

कुमारपाल भालवे में बच्यै न गया। वहाँ कुछ डंके और मन्दिर में उस ने एक शिलालेख देखा जिस में निम्न गाथा लिखी थी—

पुन्ये वाससहस्रे सयम्भिवरिसाण नवनवमहिए।

होही कुमर नरिन्दो तुह विकमराय सारिच्छो ॥ १ ॥

अर्थात् हे विक्रम ! ११६६ वर्ष के बाद तुम्हारे जैसा कुमारपाल राजा होगा^६। कुमारपाल को यह गाथा पढ़ने से साश्चर्यान्वित हुआ और आचार्य हेमचन्द्र के वचन पर विशेष विश्वास हुआ।

१. यह सारवाङ्ग का जैन बलिक् था, पर बड़ा ही वीर, चतुर और प्रतिभासम्पन्न था। इसलिए गुजरात में आकर इस ने बहुत लक्ष्मी और कीर्ति प्राप्त की। यह सिद्धराज और कुमारपाल का मुख्य मन्त्री (महामात्य) हुआ। महाकवि वाग्भट इसी का पुत्र था।

२. जिन मण्डनगण ने कुमारपाल का राज्यारोहण-काल वि० सं० ११६६ मार्गशीर्ष कृष्ण ८ पुष्य वचन और मीन लग्न लिखा है। प० शिवदत्तजी ने हेमचन्द्राचार्य के लेख में ११६६ मार्गशीर्ष कृष्ण ११ मासूम नहीं, किस आधार पर लिखा है। प्र० चि० (पृ० १२२) में तो वि० सं० ११६६ कार्तिक कृष्ण २ का उल्लेख है।

३. तं पौषघरालामागतमाकर्ण्य तत्रागतो तस्मिन्नुद्यतनेन पृष्टः—भीहेमचन्द्राचार्यः प्राह—लोकैश्चराणि तद्वृत्तचर्यानि वीक्ष्य सर्वजैसौम्यं नृपतिर्माथीत्यादिषत्।...सं० ११६६ कार्तिक वदि २ रवौ हस्तनक्षत्रे यदि भवत् पट्टाभिप्रेको न भवति तदात्र-पर निमिच्छावलोकलेन्यास इति पत्रमाखिचयैकं मन्त्रिण्येऽपरं तस्मै समारोपयत्। प्र० चि० पृ० १२२।

४. यद्यपि सत्य तथा भवानेव नृपतिः, अहं तु स्वच्छन्दपरेणुः। प्र० चि० कुमारपाल-अवग्रह—पृ० १२६।

५. यह महाकाल का मन्दिर होना चाहिए। जैन इतिहास कहता है कि इस का निर्माता जैन था। इस में अवन्ती पार्श्वनाथ की मूर्ति थी, परन्तु ब्राह्मणों ने उस को बड़ा कर अपनी सत्ता जमा दी। दे० प्रबन्धचिन्तामणि।

६. प्रबन्धचिन्तामणि के अन्तर्गत विक्रम-अवग्रह में लिखा है कि जब विक्रम ने सिद्धसेन दिवाकर से पूछा कि मेरे जैसा कोई अन्य राजा होगा तब सिद्धसेन ने विक्रम के आगे 'पुन्ये वामवहस्ये' गाथा कही थी। दे० विक्रम प्र० पृ० १३१।

वि० सं० ११६६ में जब सिद्धराज जयसिंह का स्वर्गवास होने का समाचार कुमारपाल ने सुना, तब वह बड़ी ही शीघ्रता से पाटण में पहुँचकर अपने बहनोई कान्हडदेव को यहाँ जा कर ठहरा, जो सिद्धराज का दस हजार घोड़ों का सेनापति था।

राज्याभिषेक किस का करना ? इसका निश्चय करने के लिए जब सभा हुई तब कान्हडदेव, कुमारपाल को स्नान करवा कर वस्त्रादि से अलंकृत कर के राज्य-कचहरी में ले गया। पहले दो सत्रिय युवक भी राजा बनने के लिए वहाँ आए थे, परन्तु उन में वीरता और प्रभाव की योग्यता न देख राज-प्राप्ति कर लोगों ने उन्हें पसन्द न किया। कान्हडदेव के इशारे से कुमारपाल ऊँचे आसन (स्टेज) के ऊपर चढ़कर अच्छी तरह से दुष्टों का आसन बिछा कर प्रतापयुक्त नेत्र करके बड़ी कुशलता से तलवार घुमाने लगा। लोगों ने पूछा, राजा हो कर क्या करोगे ? उत्तर में कुमारपाल ने कहा कि पृथ्वी का शासन करूँगा। बस अब क्या था ! सब लोगों ने समझा कि यही प्रभावशाली है, अतः राज्य के योग्य है। सब ने एकमत हो कर समारोहपूर्वक कुमारपाल का राज्याभिषेक किया। वि० सं० ११६६ कार्तिक कृष्ण २ को उच्च ग्रहों के आने पर कुमारपाल सिद्धराज की राजगद्दी पर बिठाया गया था। उस वक्त यह क़रीब ५० वर्ष का था।

आज कुमारपाल की कई दिनों की आशा सफल हो गई। उस ने राज्य प्राप्त कर के जो-जो उस के उपकारी थे, उन को यथायोग्य बदला दे कर कृतज्ञता प्रकट की। उदय न को मुख्य मन्त्री, वारभट को नायब दीवान, जिभाडे में छिपाकर रक्षा करने वाले आलिङ्गराज को सात सौ गाम वाली चिचोड पट्टि का मालिक, काँटे में छिपा कर बचाने वाले को भङ्गरचक, जङ्गल में भोजन देने वाली एक बाई को धोलेला की स्वामिनी, और अन्न देने वाले एक वैश्य को बड़ोदे का राजा बनाकर कुमारपाल ने प्रत्युपकार किया।

कान्हडदेव, जो कुमारपाल का उपकारी और बहनोई था, मना करने पर भी ऑफिसरों के सामने खुबमखुला बार-बार कुमारपाल को उपालम्भ देता तथा उपहास करता था। अतः कुमारपाल ने उस का अङ्गुच्छेद करवाया, ताकि आश्वन्द, अग्नि की तरह, और कोई मेरा अपमान न करे। जो हो, जैसे श्रीरामचन्द्रजी ने सीताजी को एकाकिनी जङ्गल में भेज कर अन्याय किया वैसे कुमारपाल ने इस उपकारी को प्रति कृतज्ञता कर के अपने शुभ्र वेश में ज़रा कलङ्क लगाया है, ऐसा मेरा मत है।

कुमारपाल के राजगद्दी पर आते ही सिद्धराज के दुरसन राजा, कुमारपाल को दबाने का और गुजरात के राज्य को छीनने का चारों ओर यत्न करने लगे। आचार्य हेमचन्द्र को संस्कृत द्वाध्याश्रय काव्य^२ से पता चलता

१. दांड-राजस्थान में सिद्धराज का राज्यकाल १२०१ विक्रम तक लिखा है, जो प्रमाण से बाधित है।

२. आदौ मयैवायमदीपि नूनं न तद्देहन्मामवहेजितोऽपि।

इति अमादङ्गुलिपैष्याऽपि स्थिरयेत तो दीप इवावनीपः ॥ प्र० वि० पृ० १२७ ॥

३. सिद्धहेम नामक हैम व्याकरण-सूत्रों के उदाहरणार्थ यह ग्रन्थ भट्टिकाव्य की पद्धति का बनावटा गया है। इस में श्रीमूल-राज से गुजरात का विस्तृत इतिहास निबद्ध है। सोलहवें सर्ग से कुमारपाल-चरित्र का प्रारम्भ होता है। बम्बई गवर्न-मेंट सिरीज में यह सम्पूर्ण ग्रन्थ सटीक दो भागों में छपा है। महाराजा गायकवाड ने इस का गुजराती अनुवाद भी प्रकाशित करवाया है। कुमारपाल का शेष जीवन प्राकृत द्वाध्याश्रय काव्य में इन्हीं आचार्यों ने लिखा है। यह भी वपयुक्त 'सिरीज' से प्रकाशित हुआ है। ये दोनों ग्रन्थ सोलहवियों के विषय में बहुत प्रकाश डालते हैं, क्योंकि ये सिद्धराज और कुमारपाल के जीवन-काल में लिखे गए हैं। सिद्धहेम व्याकरण की ३२ श्लोकों की प्रशस्ति भी सोलहवीं इतिहास के लिए उपयुक्त है।

है कि उत्तर से सपादलक्ष के आन राजा ने शिवहार नदी के तटवर्ती छोटे-बड़े राजाओं को साथ ले कर लड़ने की तैयारी की। दक्षिण के राजाओं के साथ अबन्ती के बल्लाल राजा ने पाटण पर आक्रमण करने का विचार किया। काञ्चिकहट्ट, अरण्यदेश, शिवरूप, पूर्व भद्र, अपरेष, कामशम, गोमती, गोष्ट्या, तैक्या, यङ्गल्लोमम्, पटञ्चर, शूरसेन-वाहीकराट्ट, रोमकराट्ट, नैकेती, काण्व, द्राक्ष, चैकीय, कैशीय राजाओं को भी दुरमन राजाओं ने अपने पक्ष में कर के कुमारपाल पर आक्रमण करने को उत्तेजित किया। इधर कुमारपाल के चार (गुप्तचर) चारों ओर घूमा करते थे। एक दूत ने कुमारपाल को दुरमनों की इस तैयारी के हाल कह सुनाए^१।

इस तरह कुमारपाल के कुछ अधिकारी^२ और माण्डलिक (जागीरदार) भी विरुद्ध होने लगे।

इन सब बातों को जान कर कुमारपाल ने क्रोध को दबा कर गम्भीरता से विचार किया। विचार करने के बाद उसने सब शत्रुओं का सामना कर उन का अभिमान मिटाने का निश्चय किया। छोटे-बड़े माण्डलिक सामन्तों को एकत्र करके उन की परीक्षा करने के बाद सांकाश्य, फाल्गुनीवह, नांदी-पुर आदि के राजाओं को अपने सेनापति के साथ बल्लाल के प्रति युद्ध करने को रवाना किया। ऐरावत, अत्रिसार, दक्षि, स्थल, धूम आदि प्रदेशों के राजाओं को और वीर सेना को ले कर खुद कुमारपाल सपादलक्ष के आन^३ राजा का दमन करने चला।

समुद्र समान इन की—हार्थी, बोड़े, रथ और पैदल—सेना मीलों तक फैल गई। बीच में जो जो उद्धत राजा माण्डलिकादि आते थे उन को साम-दाम-दण्ड-भेद से अधीन करवा गया। कई राजा अपनी-अपनी सेना शस्त्रादि सहित कुमारपाल के साथ मिलते गए, जैसे कि स र हू रो झ के साथ गुदर के बाद दूसरे राजा मिलते गए थे। कुमारपाल के सामने कौन टिक सकता था? इस तरह चक्रवर्त, युगन्धर, सात्व और कुरु आदि के कई राजाओं की सेना कुमारपाल से मिलने से कुमारपाल को बड़ी खुशी हुई।

इस तरह सर्वत्र विजयी होवा हुआ राजा आन बू पहाड़ पर आया। वहाँ चन्द्रावती का विक्रमसिंह^४ राजा था। उस ने डर कर के भक्ति-पूर्वक नम्र हो कर कुमारपाल से प्रार्थना कर कहा कि 'यह राज्य आप का ही है। मैं तो आप का सेवक हूँ। आप मेरे मालिक हैं।' राजा ने आनू से सपादलक्ष में जाकर आन के साथ युद्ध शुरू किया। आन भी अपने गोविन्दराज सरदार और सेना के साथ युद्ध में उतरा। दोनों का बलासान युद्ध हुआ।

१. आचार्य हेमचन्द्र-नचित संस्कृत द्वाधश्रय सर्ग १६ के श्लोक २ से १६ तक।

२. प्रणवचिन्तामणि में लिखा है कि बामट अन्ती, जिस को सिद्धराज ने पुत्र समान समझा था, ईर्ष्या से कुमारपाल के विरुद्ध हो कर सपादलक्षीय राजा के पक्ष में सेनापति हो कर गया था। सं० द्वाधश्रय में भी (सर्ग १६ श्लोक १४) यह बात इशारे से लिखती है। पर वहाँ पर च्चाहट्ट नाम लिखा है, जो बामट का भाई था। दे० प्र० चि० ११३। बामट को कुमारपाल ने मायथ दीवान बनाया था। मेरुतुल्ल लिखते हैं—ग्रामाक राजा गुजरात की सीमा तक युद्ध करने को आ पहुँचा था। पृ० १२८।

३. प्र० चि० में इस का नाम आनाक और प्रभावक-चरित्र में अय्यौराज लिखा है। सपादलक्ष देश अजमेर के आस-पास के प्रदेश का नाम है।

४. प्रभावकचरित्र के हेमचन्द्राचार्य प्रणव ने लिखा है कि अन्दर से विक्रमसिंह अय्यौराज के पक्ष में हो गया था और उस ने कुमारपाल को छोड़े से मारने की कोशिश की थी। विक्रमसिंह को कुमारपाल ने बँद कर लिया और उस के भाई रामदेव के पुत्र यशोधर को राज्य दिया। यह प्रसंग वि० १२०० के करीब का है ऐना श्रीमान् सुनि उल्याणविजयजी का मत है।

आज्ञ की सेना पीछे हटती गई। सामने के शत्रुओं को हटाता हुआ कुमारपाल हाथी^१ पर चढ़ कर शत्रु राजा आज्ञ के हाथी के पास जा पहुँचा। बड़ी ही शीघ्रता और कुशलपूर्वक^२ लोहशर (शस्त्र-विशेष) का प्रहार आज्ञ के ऊपर कुमारपाल ने किया। आज्ञ मूर्च्छित हुआ। सब शत्रु-सेना तितर-बितर हो गई। राज-नीति-विरुद्ध होने से कुमारपाल ने कृपया आज्ञ को जान से नहीं मारा, परन्तु उस के हाथी-घोड़े आदि कुछ का सामान छीन कर स्वाधीन कर लिया। कुमारपाल की विजय हुई, यह बात चारों तरफ फैल गई।

जिस को जबरदस्त गर्व था वह आज्ञ राजा भी कुमारपाल से हार गया। अन्त में आज्ञ ने दूत भेज कर माफी माँगी। अपने अच्छे-अच्छे हाथी-घोड़े आदि कुमारपाल को भेंट किए और अपनी कन्या का कुमारपाल से विवाह करने की प्रार्थना की। कुमारपाल ने उस को बदरता से माफी दी और कन्या तथा भेंट पाटण खाने को कहा। समारोहपूर्वक राजा ससैन्य पाटण आया और आज्ञ की कन्या से विवाह किया^३।

बच्चा ल^४ की तरफ जो कुमारपाल की सेना भेजी गई थी वह भी अन्ततोगत्वा विजयी हुई। उस के सेनानियों ने बल्लाल को मार डाला, ऐसा वृत्तान्त राजा कुमारपाल ने दूत से सुना। यह सुन कर वह बड़ा प्रसन्न हुआ और दूत को इनाम में शिरपाव दिया^५।

इस प्रकार जो दुश्मन खड़े हुए थे उन का सम्पूर्ण रीत्या दमन कर के राजा स्वस्थ हुआ।

राज्य मिलने के बाद राज्य का बहुत काम कुमारपाल खुद ही करने लगा। मन्त्रियों का भरोसा कम रखता था इसलिए कुछ मन्त्री आदि अहलकारों ने कुमारपाल का षड्यन्त्र रचा, परन्तु आज्ञ सेवकों से मालूम होने के बाद कुमारपाल ने उन सब को कड़ी सज़ायें दी और मार डाला।

जब आचार्य हेमचन्द्र को यह मालूम हुआ कि कुमारपाल राजा होकर विजयी हुआ है, तब वे अपने दिल में प्रसन्न हुए। अपने शिष्य का पुरुषार्थ जान कर भला कौन खुश न होगा ?

उस वक्त कुमारपाल भालवे में था। जहाँ उस का डेरा था वहाँ पैदल चल कर हेमचन्द्राचार्य पहुँचे। आचार्य ने उदयन द्वारा राजा का समाचार जाना और राजा को प्रबोधकार का उदयन द्वारा स्मरण

आचार्य और सम्राट् करवाया। राजा को सब याद आया। उसने आचार्य का बड़े चाव से सत्कार किया और कहा कि भगवन्^६, मैं धीरे-धीरे आप की सभी आज्ञाओं का पालन

१. इस हाथी का नाम कलहपञ्चानन था। प्र० वि० में लिखा है कि राजा ने वाग्मद को भी धावक कर दिया और सैबिकों ने उसे पकड़ कर स्वाधीन किया।

२. कुमारपाल ने ३६ प्रकार के शस्त्र पास में रखे थे। आवश्यकताानुसार उन को काम में लाता था। उस की युद्ध-शक्ति कला में प्रवीणता प्रसिद्ध थी।

३. हेमचन्द्राचार्य का द्वाश्रय काव्य, १३वाँ सर्ग।

४. भवन्तो का राजा।

५. द्वाश्रय काव्य, सर्ग १६।

६. भवतु फलं करिष्येऽहं सर्वमेव शनैः शनैः।

कामयेऽहं परं सर्वं विवेरिष्ये तव प्रभो ! ॥

'कुमारपाल-प्रतिबोध' में सोमप्रस स्मृति लिखते हैं—

राज्यादि कुछ को देने वाले सच्चे धर्म को जानने की कुमारपाल की आकांक्षा हुई। यज्ञादि-हिंसा-धर्मोपदेश से उस की जिज्ञासा पूरी नहीं हुई। इसलिए वह धर्म का सच्चा सत्त्व जानने का अभिलाषी था। उस के मन्त्री वाग्मदनेत्र ने राजा को श्रीहेमचन्द्राचार्य का परिचय दिया। राजा ने पहली बार यहीं हेमचन्द्राचार्य से मुलाकात की और पीछे से सम्बन्ध बढ़ा।

करूँगा, इस के लिए मैं आप का सङ्ग चाहता हूँ। उस के बाद भूपाल की प्रार्थना से आचार्य हमेशा कुमारपाल के पास जा कर धर्म, नीति और राजधर्म समझाने लगे। आचार्य के चारित्र्य और पाण्डित्य का असर कुमारपाल पर बढ़ता गया।

गुजरात आने पर भी इन दोनों का सम्बन्ध प्रगाढ़ होता गया। इस तरह हेमचन्द्र सूरि की बढ़ती हुई कीर्ति को कुछ ईर्ष्यालु ग्रन्थ-ग्रन्थालु लोग सहन नहीं कर सकते थे। इस का कारण यह था कि जैन साधु के आदर्श उपदेश को राजा समझेगा तो उन की खुशामद और गोपियों की कोमल कन हो जायगी। इसी लिए कई लोगों ने हेमचन्द्र जैसे पवित्र महात्मा की और जैन धर्म की कई बार निन्दा^१ राजा के आगे की, परन्तु राजा समझदार और हेमचन्द्राचार्य का प्रायः शिष्य था अतः उस का समाधान हेमचन्द्र से ही पूछ लेता था।

एक दिन कुमारपाल ने हेमचन्द्र से पूछा कि मेरा यश विक्रम की तरह चिरस्थायी होने का उपाय बताइए। आचार्य ने दो उपाय बताए। एक तो विक्रम की तरह जगत् को ऋण से मुक्त करने का, और दूसरा सोमनाथ महादेव के मन्दिर का जीर्णोद्धार करने का। जगत्प्रसिद्ध सोमनाथ का मन्दिर उस वक्त जीर्णोद्धार हो गया था, ऐसा प्रबन्धचिन्तामणिकार लिखते हैं^२। कुमारपाल को इस निष्पत्ति सलाह से हेमचन्द्र के ऊपर बहुत अद्वेष हुआ। उस ने सोमनाथ का जीर्णोद्धार शुरू करवाया। जब तक सोमनाथ के मन्दिर पर ध्वजारोपण न हो तब तक हेमचन्द्र के कहने से राजा ने मांस-मद्य का त्याग किया। दो वर्ष में सब कार्य हो गया; ध्वजा चढ़ाई गई। राजा ने हेमचन्द्र से महादेव की स्तुति करने की प्रार्थना की। आचार्य ने खुशी से तई स्तुति बना कर कही। राजा बहुत प्रसन्न हुआ। मन्दिर में साक्षात् शिवजी ने आकर दर्शन दिए। कुमारपाल ने वहाँ पर यावज्जीवन हेमचन्द्र के उपदेश से मांस का त्याग किया^३।

(१) आचार्य हेमचन्द्र के उपदेश से कुमारपाल ने जावारिस का धन लेना छोड़ दिया, जिस की आमदनी एक साल में राज्य भर में ७२००००० बहत्तर लाख रुपयों की थी। इस त्याग की हेमचन्द्र ने इस प्रकार प्रशंसा की है—

१. प्रबन्ध-चिन्तामणि, प्रबन्ध-चतुर्विंशिकादि ग्रन्थों में ऐसे कई प्रसंग हैं। सिद्धराज के आगे भी इन लोगों ने हेमचन्द्र की निन्दा करने में कमी नहीं की। इसी सूची निन्दा के आधार पर अथवा अपनी कपोलकल्पित कल्पनाओं से आज भी कुछ लोग इस आचार्य और जैन धर्म की निन्दा करने की श्रद्धा करते हैं। इस में श्रोतृ के पुनः श्रुति और स्मरण के लेखक मुख्य है। बीसवीं सदी के उदार ब्रह्मणे में ऐसा काम करना किसी तरह से योग्य नहीं है।

२. 'मिराते अहमदी', 'आईन-अकबरी' प्रभृति—मुसलमानी लेखकों के—ग्रन्थों के आधार पर फ़ार्बस साहब कहते हैं कि उस वक्त तक महमूद सोमनाथ मन्दिर पर आक्रमण कर चुका था। सम्भव है, इसी से कुमारपाल ने जीर्णोद्धार करवाया हो। यह मन्दिर प्रभासपाटन में है।

३. सोमनाथ की प्रतिष्ठा का प्रसंग विचार से जैन ग्रन्थों में मिलता है। हेमचन्द्र सूरि ने स्तुति की जिस का एक श्लोक यह है—

भवबीजाङ्कुरजयना रागाद्याः चयमुपागता मत्तय ।

महा वा विष्णुर्वा हरो जिने वा नतस्तस्मै ॥ प्र० चि० ११४ ।

अपुत्राणां धनं गृह्ण पुत्रो भवति पार्थिवः ।

त्वं तु सतोषतो मुञ्चस्व सत्यं राजपितामहः ॥

प्रबन्ध-चिन्तामणि

(२) कुमारपाल ने शत्रुञ्जय नामक जैन तीर्थ का संघ^१ निकाला ।

(३) तारङ्गा नामक जैन तीर्थ में श्री अजितनाथ का भव्य मन्दिर बनवाया ।

(४) मांस, शराब, परकी, वेश्या प्रभृति सातों व्यसनो का त्याग किया और राज्य में भी यथाशक्य त्याग करवाया । यह तथा देवियों के निमित्त हिंसा बंद करवाई ।

(५) अपने राज्य में चौदह वर्ष तक अहिंसा का काफ़ी प्रचार किया^२ ।

(६) कुमारपाल ने कई शैव मन्दिर, तालाब, कुएँ, दानशाला और १४४४ जैन मन्दिर बनवाए । राज्य के खर्च से जो मन्दिर बने थे उन का नाम प्रायः “कुमार या कुंवर विहार” होता था । अभी तक दूर-दूर तक इन के मन्दिर मिलते हैं । एक मन्दिर जावालीपुर (जालौर) मारवाड़ में के, जो जोधपुर स्टेट में है, सुवर्णगिरि दुर्ग पर अभी मौजूद है जिस पर यह शिलालेख है—

ओं ॥ संवत् १२२१ श्रीजावालिपुरीयकाचनगिरिगढस्त्वापरि प्रभुश्रीहेमसूरिप्रबोधितगुरुर्जरधराधीश्वर-परमार्हतचौहान्यमहाराजाधिराजश्रीकुमारपालदेवकारिते श्रीपार्वनाथस्तक..... बिक्सहितश्रीकुंवरविद्यारा-भिधाने जैनचैत्ये...॥ प्रा ची न जैन ले ख सं ग्र ह शि ला ले ख, नं० ३५२ ।

(७) कुमारपाल ने विक्रम सं० १२१६ मार्गशीर्ष शुक्ला २ को उत्सवपूर्वक^३ जैन धर्म स्वीकार कर १२ व्रत (धार्मिक नियम) ग्रहण किए ।

(८) हेमचन्द्र के जन्मस्थल और दीक्षास्थल पर कीमती मन्दिर बनवाए ।

(९) हमेशा योग-शास्त्र और वीतराग-स्तोत्र का स्वाध्याय करता था ।

जैन होने के बाद कुमारपाल की कीर्ति खूब बढ़ी । अच्छे-अच्छे जैन कवियों और विद्वानों ने इस की कीर्तिगाथा गाई । व्याकरणादि ग्रंथों में उल्लेख किया । ग्रन्थकारों ने इस को परमार्हत और राजर्षि कहा है ।

१. बहुत लोगों को एकत्र कर के अपने खर्च से जो लोग तीर्थों में यात्रा करने जाते हैं, उस को जैन लोग संघ कहते हैं, और जो जाने वाले को संघपति । कुमारपाल के इस संघ में हेमचन्द्र सूरि, चादिदेव सूरि, धर्म सूरि, ७२ सामंत, श्रीपाल, आभट्ट, पं० सिद्धपाल, रंभा प्रह्लादिव, राजा का दैदित्र प्रतापमल्ल, रानी भोपालदेवी, राजपुत्री लाल प्रभृति एक लाख मनुष्य थे, ऐसा राजेश्वर सूरि “प्रबन्ध कोष” के हेमचन्द्राचार्य-प्रबन्ध में लिखते हैं ।

२. कुमारपाल के आध्यात्मिक जीवन का परिचय देने वाला “सोहपराजब” भाटक बहुत ही अच्छा है । यह ग्रंथ “प्रबोध-चन्द्रोदय” की पद्धति का है । परन्तु इस में किसी धर्म-विशेष का उल्लेख नहीं है । प्रो० पीटरसन (Peterson) ने डेक्कन कॉलेज में व्याख्याय देते हुए कहा था कि यह ग्रंथ क्रिश्चियन लोगों के ‘पिलाग्रिन्स प्रॉग्रेस’ पुस्तक जैसा है ।

३. कुमारपाल के कुछ शैव और वैष्णव मन्दिरों के शिलालेखों में ‘उमापतिवरलब्ध’ विशेषण आता है । इस के आधार पर श्रीधर के० हर्षद्वारा भूब ने ‘प्रियदर्शना’ की प्रस्तावना में कुमारपाल का जैन न होना लिखा है, जो ठीक नहीं जैचता, क्योंकि वि० सं० १२१६ के पहले के लेखों में ही वैसा विशेषण मिलता है । तब तक वह जैन नहीं हुआ था । दूसरा कारण यह भी है कि वैष्णव-कुल के मान्यदेव परंपरा से सोमनाथ महादेव हैं अतः जैन होने के बाद भी उस के लिए ‘उमापतिवरलब्ध’ कोई जिले तो अनुचित नहीं है । जैन होने के बाद कुल-परंपरा छोड़ने को जैन धर्म नहीं कहता । जैन साधु होने के बाद भी इन्द्रधनु गणधर ने वौत्तम गोत्र रक्खा था । डॉ० राजस्थान के कर्ता टांड साहब ने जैन बौद्ध को एक मान कर कुमारपाल को बौद्ध-धर्मी लिखा है । पृ० ७०५ ।

कुमारपाल ने महत्त्वकांक्षा थी, वीरता और प्रताप था। कोंकण के पराक्रमी मल्लिकार्जुन राजा को हरा कर उस का करोड़ों का माल लूटा। इस को परास्त करने के लिए अम्बड सेनापति को भेजा था जो जैन था। दक्षिण में विजयनगर काभी तक कुमारपाल का राज्य हो गया दिग्विजय था। कुमारपाल पूर्व, उत्तर, पश्चिम दिशाओं में भी दिग्विजय करने गया। इस दिग्विजय में कुमारपाल को बहुत सफलता मिली। 'प्राकृत कुमारपाल-चरित्र' (सर्ग ६) में इस का उल्लेख था है—

- (१) सिन्ध के राजा ने इस की आज्ञा मानी।
- (२) यवन देश के राजा ने कुमारपाल की आराधना की।
- (३) उज्जैन इस का मित्र हुआ।
- (४) वाराणसी का स्वामी बश हुआ।
- (५) मगध और गौड के राजा ने इस राजा को भेंट दी।
- (६) कान्यकुब्ज-सेना का इस ने पराभव किया।
- (७) दशार्थभट्ट देश का राजा इस के भय से मर गया और उस का शहर लूट लिया गया।
- (८) चेदि नगर के राजा का इस ने गर्व मिटाया।
- (९) मथुरा के राजा ने कुमारपाल से भागी मोंगी।
- (१०) जाङ्गलपति ने नम्र होकर प्रार्थना की।

मतलब यह कि कुमारपाल की राज्य-सत्ता दूर-दूर तक चारों दिशाओं में फैल गई थी। दक्षिण में कोला-पुर, उत्तर में जालन्धर, काश्मीर, पूर्व में चेदि, मगध, कुशाट, दशार्थ और पश्चिम में सिन्ध, पञ्चनद, वाहक, सौराष्ट्र देश तक इस का राज्य हो गया था। सारा भारवाड़, मालवा इस की सत्ता में आ गया था। सिद्धराज से इस ने अपनी राज्यसीमा बहुत बढ़ाई। सेना-शस्त्रादि में वृद्धि की। बहुत नए राज्यों को अपने पुरुषार्थ से इस ने प्राप्त किया। इस के अधिकारियों में बहुत से जैन-धर्मी थे। वे भी बड़े वीर थे। जैन धर्म की अहिंसा को न समझने-वाले मानते हैं कि जैन धर्म कायर बनावा है। उन का यह अनुमान सर्वथा झूठा है। जैन धर्म में गृहस्थों के लिए तो इतनी ही अहिंसा है कि वे-गुनहगारों को न मारें। जो देश, धर्म, राज्य और निज के गुनहगार हो उन को मारना श्रावक के लिए निषिद्ध नहीं है। इसी कारण श्रेणिक, कोणिक, चन्द्रगुप्त, सप्रति और कुमारपाल आदि जैन राजाओं ने वीरतापूर्वक भूमि का रक्षण किया है।

अठारह देशों का राज्य कुमारपाल की सत्ता में था। जिसमंडन सूरि ने कुमारपाल की सेना इस प्रकार लिखी है—११०००० घोड़े, ११०० हाथी, ५००० रथ, ७२ सामन्त और १८०००० पैदल सेना थी। मेरे पास जो असुद्रित गुर्जरराज-भूपावली है उस में तो सेना की संख्या बहुत बड़ी लिखी है जो मानने योग्य नहीं दीखती।

१ श्री महावीरचरित में लिखा है—

स कैवरीमातुल्यकर्मन्दीमात्रिययापगाम् ।

शाम्यामाविभ्यमावादिं पश्चिमा सावयिप्यत्ति ॥ १२—५२ ॥

अर्थात् कुमारपाल उत्तर में यवन देश तक, पूर्व में गङ्गा तक, दक्षिण में विन्ध्याचल पर्यन्त और पश्चिम में समुद्र तक अपनी राज्यसत्ता फैलावेगा।

२. निरागसञ्जसञ्जानां हिंसां संकल्पतस्त्यजेत् ॥ हैम योगशास्त्र ।

यद्यपि प्रारम्भ में कुमारपाल सिद्धराज के इतना विद्वान् नहीं था, और मेरे क्वाल् से विद्या का उतना व्यसनी भी नहीं होगा, तो भी हेमचन्द्र जैसे सर्व-शास्त्रीय विद्वान् के सङ्ग से उस में विद्या, कला और साहित्य का प्रेम बढ़ता गया। उस के अधिकारियों में कपर्दी मन्त्री बहुत बड़ा कवि और विद्वान्

ज्ञान-कला-प्रेम

था। वागमहादि अच्छे कवि थे। एक बार उपमा की जगह औ प म्य शब्द बोलने से कपर्दी मन्त्री ने उपहास किया। राजा को अपनी कमज़ोरी मालूम हुई तब उस ने व्याकरण और काव्य-शास्त्र का काफ़ी अभ्यास किया। उसके बाद वह 'विचारमुख', 'कवि-बान्धव' उपाधियों से प्रसिद्ध हुआ। विद्वानों का स्वागत भी अच्छा करने लगा। देवबोधादि मित्र-भिन्न मत के विद्वान् और संन्यासी उस की राजसभा में अपनी विद्वत्ता दिखलाने आते थे। हेमचन्द्र, रामचन्द्र, श्रीपाल, सिद्धपाल, कपर्दी आदि पण्डितों से उस की पण्डित-सभा^१ विश्व-विख्यात हो गई थी। सोलाह नाम के एक सङ्गीतज्ञ के ऊपर प्रसन्न होकर राजा ने उस को अच्छा इनाम दिया था। शिल्प^२ का भी खूब विकास हुआ था। राजा की प्रार्थना से आचार्य हेमचन्द्र ने 'योग-शास्त्र', 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र' और 'वीतराग-स्तोत्र' की रचना की थी। इसी को राजनीति का ज्ञान कराने के लिए हेमचन्द्र ने अर्ह श्रोति ग्रन्थ बनाया जो कौटिल्य-अर्थशास्त्र की पद्धति का है। कई ग्रन्थ-कारों ने इसके राज्य में रहकर ग्रन्थ बनाए हैं। दूताङ्गद नाम का छाया-नाटक भी इसी की यात्रा में बना है।

कुमारपाल में खुद काम करने की आदत थी। अधिकारियों के ऊपर ही भरोसा रखना यह अच्छा नहीं समझता था। चन्द्रगुप्त मुकुमार और धीरललित था पर कुमारपाल धीरोदात्त था। इस में परस्त्री-पराङ्-

गुण

मुखता और युद्ध-कुशलता सिद्धराज से बहुत बढ़ो-बढ़ी थी, ऐसा प्रबन्ध-चिन्तामणि में लिखा है। यह अपनी श्लाघा नहीं सुनना चाहता था। यही कारण है कि यह

कुशामदी लोगों का शिकार नहीं हुआ। यह बड़ा कृतज्ञ था।

जो सम्बन्ध चन्द्रगुप्त का चाणक्य के साथ था वही कुमारपाल का हेमचन्द्र के साथ रहा^३।

विद्वत्ता की दृष्टि से विक्रम और हर्ष के साथ कालिदास और बाण के समान आचार्य हेमचन्द्र

हेमचन्द्र का सम्बन्ध था। अतः यदि हेमचन्द्र का कुछ भी परिचय न दिया जाय तो कुमारपाल का वृत्तान्त अधूरा ही रहता है। हेमचन्द्र का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

हेमचन्द्र का जन्म वि० सं० ११४५ कार्तिक शुक्ल १५ को घण्टुका में, मोढवश में, हुआ। वि० सं० ११५० में देवचन्द्र सूरि के पास थे जैन साधु की दीक्षा लेकर सर्वशास्त्रों में पारङ्गत हुए। इन की बुद्धि बड़ी तीव्र थी। न्याय, व्याकरण, काव्यालङ्कार, छन्द^४, कोष, अभ्यात्म सभी विषयों पर इन के ग्रन्थ हैं, जिन की श्लोकसंख्या साढ़े तीन करोड़ कही जाती है। प्रबन्धशतकर्ता रामचन्द्र सूरि आदि इन के विद्वान् शिष्य थे। हेमचन्द्र तप-त्याग और ब्रह्मचर्य के अवतार थे। इन की आयु ८४ वर्ष की थी।

१. निवसद्दुसुहावयंसा विद्या गुण्यो अचीपगुणनिवहा।

निवसन्ति अथोय बुहाजस्ति पुहवीस सज्जहिज्जे ॥ प्रा० हया० सर्ग १—४। इसमें पाठ्य का उदात्त वर्णन है।

२. अथहिछपुरके राज्य-काल में शिवर-विद्या की जितनी वज्रति हुई थी उतनी दूखों किसी काल में नहीं हुई। डाँढ-राजस्थान।

३. पर कुमारपाल की भक्ति चन्द्रगुप्त से अधिक थी इसका कारण यह है कि हेमचन्द्र एक तपस्वी ब्रह्मचर्य भी थे; परन्तु चाणक्य गृहस्थ थे।

४. मल्लिनाथ की टीकाओं आदि सैकड़ों ग्रन्थों में “इति हैमः” से इन के कोष के उदाहरण दिये हैं।

सिद्धराज की तरह कुमारपाल को भी कोई पुत्र न था। अपना उत्तराधिकारी बनाने के विषय में उस ने हेमचन्द्र सूरि से सलाह पूछी। आचार्य ने राजा के दैवित्व प्रताप मल्ल को राब्याधिकारी बनाने को कहा, और अजयपाल के लिए साफ मना कर दिया, क्योंकि वह मूर्ख, दुराचारी और कायर था। हेमचन्द्र को शिष्य बालचन्द्र ने अजयपाल से ये सब बातें कह दीं। अजयपाल को हेमचन्द्र के ऊपर बड़ा क्रोध आया। वह कुमारपाल का भतीजा लगता था और महिपाल का पुत्र था। अजयपाल के ज़हर देने से वि० सं० १२३० में कुमारपाल की मृत्यु हुई। आचार्य हेमचन्द्र का स्वर्गवास वि० सं० १२२६ में राजा के पहले ही हो चुका था। इस से भी राजा को बड़ा आघात पहुँचा था^१।

अजयपाल ने वि० सं० १२३० में कुमारपाल का राज्य ले लिया। द्वेष और दुष्टता से उस ने हेमचन्द्र तथा कुमारपाल के सन्धन्धियों को बोर यातनाएँ दीं। कपदी मन्त्री को तेल के कड़ाह में भूनकर मरवा डाला। रामचन्द्र सूरि को तप्त शिला पर बैठाकर मरवाया। कई 'कुमार विहार मन्दिर' टुड़वाए। दीप के नाचे अँधेरे की तरह यह अजयपाल अयोग्य निकला। इस कुतूबति का राज्य तीन ही वर्ष टिका। इसी के एक प्रतिहारी ने इसे छुरी से मार डाला। अत्युग्र पाप का फल शीघ्र मिलता है।

कुमारपाल सोलहियों का अन्तिम प्रतापी राजा हुआ। उस ने अपने प्रताप से गुजरात की और सोलहियों की कीर्ति खूब बढ़ाई। अपने पूर्व के सभी सोलहियों से राज्य-सत्ता भी खूब फैलाई थी। किन्तु इस के बाद के तीन राजाओं के कमजोर और अयोग्य होने से गुजरात का राज्य गया। कुमारपाल जैनधर्मी था, बाकी सभी वैदिक मत के थे। हमें दुःख है कि कुमारपाल या सोलहियों के विषय में देशी भाषा में कोई सम्पूर्ण आत प्रन्थ या लेख किसी ने नहीं लिखा है। गुजरातियों के लिए वो यह शर्म की बात है।

सङ्कोच से लिखने पर भी, विषय व्यापक होने के कारण, लेख बहुत बड़ गया है; एतदर्थ पाठक क्षमा करे।

आज्ञावर्त्तिषु मण्डलेषु विपुलेष्वष्टादशस्वादराज्य

अवदान्येव चतुर्दशप्रसूयरा भारिं निवार्यौजसा ।

कीर्त्तिस्तन्मनिर्भोश्चतुर्दशशवीसथान् विहारोस्तथा

कृत्वा, निर्मिषवान् कुमारनृपतिर्जैनो निजैवोव्ययम् ॥

^१ दे० "मधन्व-कोष" कुमारपाल-प्रगन्ध और जैन युग की राज-शासकी ।

जावा के हिन्दू-साहित्य के कुछ मुख्य ग्रन्थों का परिचय एवं उन की ऐतिहासिक उपयोगिता

श्रीयुत बहादुरचन्द्र शास्त्री, कथिवन विद्यापीठ ।

रामायण^१, महाभारत आदि तथा बौद्ध-साहित्य के जातक, अवदान आदिक अनेक प्राचीन ग्रन्थों में जावा, सुमात्रा प्रभृति द्वीपों के सम्बन्ध में नाना उल्लेख मिलते हैं सही; परन्तु खेद है कि उन से, उन द्वीपों पर भारत-

जावा आदि द्वीपों में हिन्दुओं का आगमन प्रचार किस प्रकार किया, इत्यादिक ऐतिहासिक विषयों पर कोई विशेष प्रकाश नहीं

पड़ता । तद्विपरीत उन द्वीपों पर आज तक जो प्राचीन ध्वंसावशेष—यूप, स्तूप, मन्दिर, विहार आदिक—प्राप्त हुए हैं, वे इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि भारत से आर्य लोग वहाँ आए, वसे एवं बणिज-व्यापार और धर्म का प्रचार करते रहे । यह अभी तक निश्चय से नहीं कहा जाता कि सब से पहले भारतवासियों ने इन द्वीपों पर पदारोपण कब किया । हाँ, वहाँ से प्राप्त कई एक संस्कृत के शिलालेखों के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि तीसरी और चौथी ईसवी शताब्दी में हिन्दू लोग वहाँ मौजूद थे । अभी तक वहाँ से जितने भी ध्वंसावशेष उपलब्ध हुए हैं, उन में से ये शिलालेख ही सब से पुराने हैं, और उन से यही पता चलता है कि दक्षिण भारत से ब्राह्मण लोग^२ वहाँ आए और उन्होंने ने शैव मत का प्रचार किया; जहाँ कि आशा यह हो सकती है कि ईसा से २३५ वर्ष पूर्व जब कि सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए देशान्तरों और द्वीपान्तरों में भिक्षुगण भेजे तो कुछ भिक्षु जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों में भी आए होंगे । परन्तु थावदुपलब्ध प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि बौद्ध धर्मावलम्बी यहाँ वैदिक-धर्मावलम्बियों की अपेक्षा एकाध शताब्दी बाद पहुँचे । किञ्च बौद्ध धर्म यहाँ अधिक मात्रा में और अधिक वेग से फैला—यह बात वहाँ के स्तूप आदि अनेक स्मारकों से स्पष्ट है । यह बात भी यहाँ ध्यान देने योग्य है कि जावा आदि द्वीपों पर शैवों और बौद्धों में, धर्म के विषय में, परस्पर कोई विरोध नहीं था; प्रत्युत आगे चल कर दोनों में द्वेष और मिस्री का सा सम्मिश्रण पाया जाता है । सिद्धसारी का महाराज कृतनगर^३ शिव और बुद्ध दोनों का उपासक था । उस की उत्कट भक्ति के कारण उसे शिव-बुद्ध कहा करते थे । उस की स्मृति में शिव-बुद्धालय

१. बदाहरणार्थ—बाल्मीकीय रामायण ४ (किष्किन्धा काण्ड) ४०, ३०। यत्नवन्तो बवद्वीप सहरान्योपशोमितम्, इत्यादि । कथासंस्तराग्र आदि ग्रन्थों में भी ऐसे कई उल्लेख मिलते हैं ।

२. “तस्य पुण्यस्य यूपोऽयं कृतो विप्रैरिहागवैः” इत्यादि—दे० फ़ोर्खल—‘दि यूप इंसिक्वान् आफ़ किंग मूलवर्मन् फ़ाम कुटे (पूर्व बोर्नियो); वीतआगन् डट डे टॉल-लंड-पुन फ़ल्केन कुंटे फ़ेन नीदरलंड्स इंडिया (१९१८) भाग ७४, पृ० १६७-२३२ । यह लेख अँगरेज़ी भाषा में है ।

३. इस के विषय में अधिक विवरण नीचे दिया गया है ।

नाम का एक मन्दिर बनवाया गया, जिस में शिव और बुद्ध दोनों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित की गईं। यह मन्दिर अब चण्डी^१ जेवी के नाम से प्रसिद्ध है।

बाद में अरब से मुसलमान लोग यहाँ आने लगे, उन्होंने अपने मत का प्रचार किया। अन्त में यहाँ योक्षीय जाति वालों का आगमन हुआ जो अपना ईसाई मत साथ लाए। फलतः आज उन द्वीपों पर उक्त चारों धर्म अथवा चारों मत कई-कई भागों में मिश्रित और कई भागों में पृथक्-पृथक् विद्यमान हैं।

प्राचीन काल में जावा आदि द्वीपों का चीन आदि देशों के साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, और चीन देश का प्राचीन इतिहास भारत के प्राचीन इतिहास की अपेक्षा कहीं अधिक सुरक्षित दशा में वर्तमान है। उस से भी जावा के प्राचीन इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है।

प्राचीन हिन्दू सभ्यता और संस्कृति के चिह्न जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बाली प्रभृति अनेक द्वीपों पर मिलते हैं, किन्तु उन सब में आरम्भ से ही जावा की ही प्रधानता रही है, जैसा कि आज भी राजनैतिक दृष्टि से पूर्वीय

द्वीप-समूह में जावा ही प्रधान गिना जाता है। जावा के प्राचीन इतिहास-सम्बन्धी हिन्दू-जावा इतिहास और तदर्थ सामग्री और शृङ्खलाबद्ध इतिहास^२ सम्भवतः लयिदन विश्वविद्यालय के सुयौग्य प्रोफ़ेसर

डाक्टर एन० जे० क्रोम ने ही लिखा है, और यह बच भाषा में है। अपने इस ग्रन्थ के पहले परिच्छेद में उन्होंने ने उक्त इतिहास के निर्माण में यावदुपलब्ध साधनों का विवरण दिया है। सारी सामग्री को उन्होंने ने दो वर्गों में विभक्त किया है—अन्तरीय और बाह्य। 'अन्तरीय' से उन का अभिप्राय उन साधनों से है जो स्वयं जावा द्वीप से उपलब्ध हुए हैं, एवं 'बाह्य' से वे साधन अभिप्रेत हैं जो मारथ, चीन, अरब आदि देशों के इतिहास-ग्रन्थों से जावा-सम्बन्धी उल्लेखों के रूप में मिलते हैं। अन्तरीय साधन-वर्ग के पुनः कई एक अवान्तर भेद किए गए हैं; जैसे—शिलालेख, मन्दिर-स्तूपदि, ध्वंसावशेष, साहित्य इत्यादि। शिलालेख^३ यहाँ सर्वमुख्य और सर्वमान्य प्रमाण हैं। एक तो ये, जैसा कि ऊपर कहा गया है, सब से पुराने हैं, दूसरे इनमें किसी प्रकार की शङ्का नहीं उठ सकती, जैसा कि ग्रन्थों के विषय में प्रचेय आदि का सन्देह कोई भले ही उठाता रहे। दूसरा नम्बर मन्दिर, स्तूपदि ध्वंसावशेष^४ का है। यद्यपि ये शिलालेखों के समान सुखर प्रमाण नहीं तथापि उतने हद अवश्य हैं, और इन से हिन्दू-जावा इतिहास के निर्माण में बहुत कुछ सहायता मिली है। तीसरा स्थान साहित्य का है और यही प्रस्तुत लेख का विषय है। उस का पूरा परिचय^५ कराता असम्भव है, यहाँ तो दिग्दर्शन मात्र करायेंगे।

१ 'चण्डी' शब्द का अर्थ मन्दिर अथवा सामान्यतः धर्मस्थान है। जावा में अल्पेक मन्दिर के नाम के पहले इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे—चण्डी पाम्बनन, चण्डी कालसन्, चण्डी जगो इत्यादि।

२ डॉ० एन्० जे० क्रोम—हिंदू जवान्थे मिशोडनिग् आवेनहार्गे (हेरा), द्वितीय संस्करण, संशोधित और परिवर्धित, १९३१।

३ दे० फोर्खुल—दि इंडियन् सेल्ट्स इतिक्लान्स आफ जावा, पुन्डिकटीन वन डेन बीडहैट कुन्डिगेन डॉस्ट इन् बीदरहेंड्स इंडिया, भाग १—१९२५। विश्व, छिबेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, काशी, १९१०, पृ० २१६ प्र।

४ 'हिन्दू-जावा शिष्य' डॉ० क्रोम का दूसरा प्रामाणिक ग्रन्थ है, जो उस के पहले कहे हुए 'हिन्दू-जावा इतिहास' नामक ग्रन्थ की पूर्ति करता है। डॉ० एन्० जे० क्रोम—इन्डोइनिग टट डे हिन्दू जवान्थे कुन्स आवेनहार्गे, १९२३। यह ग्रन्थ भी उक्त भाषा में है। यह तीन जिल्दों में है और ११३ छायाचित्रों और मानचित्रों से युक्त है।

५ लयिदन विश्वविद्यालय के ही प्रोफ़ेसर डॉक्टर सी० सी० देर्ह ने एक ग्रन्थ प्रकाशित किया है, जिस में उन्होंने ने जावा के

शुरू से ही जावा का साहित्य वहाँ के शासकों के अधोन फला-फूला है, और समय-समय पर उन के अधःपतन और अभ्युत्थान के साथ-साथ इस में भी हास-विकास होता रहा है। इस दृष्टि से जावा की राज-नैतिक परिस्थिति का एक सिंहावलोकन यहाँ सर्वथा असम्भव न होगा। किन्तु इस जावा के राजनैतिक हेर-फेर बात का जता देना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है कि जावा के शासकों के परस्पर के संघर्ष से वहाँ के साहित्य को भारी हानि पहुँची है, और फलतः दसवीं शताब्दी से पूर्व का साहित्य सर्वथा लुप्त-प्राय है। आज वहाँ जितने भी ग्रन्थ मिलते हैं सब पीछे के हैं।

रामायण में जावा पर सात राज्यों का होना लिखा है—सप्तराज्योपशोभितम्—और यथार्थ ही प्रतीत होता है। प्रस्तुत प्रमाणों से भी इसी बात की पुष्टि होती है कि जावा कई राज्यों में बँटा हुआ था। वे भी जावा सदा से तीन मुख्य विभागों में विभक्त रहा है—पश्चिमीय, मध्य और पूर्वीय। पश्चिमीय जावा से कई एक संस्कृत के शिलालेख मिले हैं। उन में विधि, संवत् आदि का कोई उल्लेख नहीं; किन्तु लेखन-शैली के आधार पर चौथी, पाँचवीं शताब्दी का अनुमान किया गया है। उन से पता चलता है कि उन दिनों उस प्रदेश में वारुम नाम का राज्य था और पूर्णवर्मा नाम का शासक। किन्तु इस वारुम राज्य का मध्य जावा और पूर्वीय जावा के साथ क्या सम्बन्ध रहा है—इस विषय में इतिहास अभी तक चुप है। इस के बाद सातवीं शताब्दी में मध्य जावा में श्रीविजय नाम के साम्राज्य का होना पाया जाता है। यह राजवंश शैलेन्द्र नाम से प्रसिद्ध है। जगद्विख्यात बर्जुदर के स्तूप एवं अन्य कई बौद्ध स्मारकों की रचना इन्हीं के काल में हुई थी। इन का इतिहास कुछ तो मध्य जावा से प्राप्त इन्हीं के शिलालेखों से और बहुत कुछ चीन देश के इतिहास-ग्रन्थों से मिलता है। किन्तु इन का इतिहास भी अभी अधूरा पड़ा है। इस बात का भी अभी तक ठोका निश्चय नहीं हुआ कि इस श्रीविजय साम्राज्य का मूलस्थान सुमात्रा द्वीप में था अथवा जावा में^१। नालन्दा से प्राप्त आठवीं शताब्दी के पालवंशीय देवपालदेव नामक राजा के ताम्रपत्र लेख^२ में तत्समकालीन सुमात्रा के शैलेन्द्रवंशीय बालपुत्र नामक राजा का जो उल्लेख मिलता है, उस से भारत से सुमात्रा, जावा आदि द्वीपों पर बौद्ध धर्म के प्रचार के विषय में खूब प्रकाश पड़ता है। ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में इस प्रतापशाली साम्राज्य का अधःपतन शुरू हो गया, जिस के कई एक कारण हैं। दक्षिण भारत के चेळवंशीय^३ राजाओं के साथ वैभवस्य भी श्रीविजय के अधःपतन में एक प्रधान कारण है। इसी बीच में जावा पर कई एक छोटे-बड़े नए राज्य उठ खड़े हुए। ससीप-

साहित्य और भाषा-विषयक एक सुविस्तृत चर्चा दिया है। सी० सी० बेर्ले—'किङ्गड् लुंडावन', इन्लाइडिङ् टट डे स्टूडियवन हेट औड जवान्गे, सूरकर्ता (जावा) १९१८। किङ्ग प्रो० बेर्ले का एक लेख बँगोली भाषा में भी निकला है—'हिन्दू लिटरेचर इन् जावा'; 'इंडियन आर्ट ऐंड लेटर्स', लंदन, न्यू सिरीज़, जि० ६, नं० २, १९३२, पृ० १२२-१३१।

१. लिपट-वंश (२०२-२२९), तल-वंश (६१८-८०६), सुकु-वंश (८६०-१२०६), युपुन-वंश (१२८०-१३६०), मिड वंश (१३६८-१६०३) इत्यादि वंशों का इतिहास यहाँ आलोचनीय है। इन के संक्षिप्त विवरण के लिए दे० डब्ल्यू० पी० ग्रन्वैट—नोट्स ऑन दि मलाय आर्चायोलोगी पेंड मलक्का, कंपाहरड फ्रॉम चाइनीज़ सोर्सेज़; 'नाहाडिलिगेन वन हेड बटावियाश गेनृशप्' ३६ (१८०६), पहले भाग में।

२. दे० २२ पृष्ठ की एक पुस्तिका—डॉ० डब्ल्यू० एफ्० स्टुटेरहाइम—ए जावानीज़ पोरियड इन् सुमात्रन् हिस्ट्री; सूरकर्ता (जावा) १९२६।

३. ए० ई० जि० १७, भा० ७ (जु०, १९२४)।

४. हूरट्स, सावय इंडियन् इस्क्रिप्ट्स ३, (१९०३) पृ० ११२, १६६, २०५। दे० वीरराजेन्द्र चोळ प्रथम की प्रशस्ति।

वर्ती वाली द्वीप से ऐरलङ्ग नाम के व्यक्ति ने अवसर पाकर जावा का पूर्वीय भाग अपने वंश में कर लिया और क्रमशः वहाँ एक राज्य स्थापित कर लिया। इस की मृत्यु के अनन्तर इस का राज्य दो हिस्सों में विभक्त हुआ—एक जङ्गल अथवा कौरिपन, और दूसरा दह अथवा दहन अथवा काडिरी नाम से प्रसिद्ध हुआ। ऐरलङ्ग ने इधर वाली द्वीप पर भी अधिकार जमा लिया था। किन्तु बाद में वालो द्वीप वालों ने अपने आप को स्वतन्त्र कर लिया, और इधर पूर्वीय जावा पर कनङ्क नाम के एक साहसी व्यक्ति ने काडिरी का राज्य दबा लिया। राजा होने पर यह राजस नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस की सन्तान में आगे चलकर, तेरहवीं शताब्दी के मध्य में, कुतनगर नाम का प्रभावशाली राजा हुआ, जिस ने सिहसारी नामक राजधानी एवं राज्य की स्थापना की। इस ने वाली द्वीप को भी अपने अधीन कर लिया। किन्तु तेरहवीं शताब्दी के अन्त में जयकत्वङ्ग नामक एक अधिकारी के हाथों इस का वध हुआ। जयकत्वङ्ग स्वयं राजा बनना चाहता था। इधर कुतनगर के दामाद विजय ने चीनी शासकों की सहायता से इस जयकत्वङ्ग को मार भगाया। किन्तु इस मुठभेड़ में सिहसारी का राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और वाली द्वीप फिर स्वतन्त्र हो गया। विजय ने अब जिस नए राज्य की स्थापना की वह क्रमशः मजपहित नाम के साम्राज्य में परिणत हो गया, जो दो सौ साल से अधिक समय तक फला-फूला (१२८३-१५२५)। इस में भी पारिवारिक झगड़ों के कारण कई हेर-फेर होते रहे। इस का अन्तिम शासक ह्यम्बुरुक था। इस ने अपने साम्राज्य का सम्भालन-भार गजमद नामक अधिकारी के हाथों में दे रक्खा था। इस ने वाली द्वीप पर फिर अधिकार जमाया। अन्त में कई कारणों से मजपहित का साम्राज्य भी मन्द पड़ गया, और बाद में इसी वंश के कुछ अधिकारियों ने मत्तरम नाम के राज्य की स्थापना की, जिस का तब से प्राधान्य रहा। इन अन्तिम राज्यों तथा साम्राज्यों का भूलस्थान पूर्वीय जावा ही रहा है, किन्तु इन्होंने ने मध्य जावा और द्वीपान्तरो पर भी अपना अधिकार जमा रक्खा था। इसी बीच पश्चिमीय जावा और मध्य जावा में अरब से मुसलमान सौदागरों का आगमन हो चुका था। शुरू में इन लोगों का उद्देश्य केवल व्यापार ही था, पर क्रमशः ये लोग अपने मत का प्रचार भी करने लगे और जावा के राजनैतिक विषयों में भी हस्तक्षेप करने लगे। बाद में योरुप से पुर्तगैज़ और डच लोग आने लगे, उन्होंने ने भी वैसा ही किया। फलतः वहाँ की सभ्यता और संस्कृति में कई परिवर्तन हुए।

जावा के जिन शासकों का अभी तक कुछ परिचय मिलता है उनकी एक सूची नीचे दी जाती है—

जावा के शासक (१२२२ ईसवी से पहले)

पश्चिमीय जावा		मध्य जावा	
देववर्मा (?)	१३२	सिमो	६७४
पूर्णवर्मा	± ४००	रके मत्तराम, सम्मजय	७३२
पन्नोतकिअ	४२४	,, पणङ्करण	७७८
द्वारवर्मा (?)	४३५	,, पुनङ्गलन	...
जय भूपति	१०३०	,, वरक	...

१. ग्रन्थितो में इस का दूसरा नाम 'तिफविक्' मिलता है। नागर कुतायम ग्रन्थ में इस के और भी कई नाम मिलते हैं, जैसे श्रीफलसिक, तिकश्रीफळ, तिकमात्तूर इत्यादि। मजपहित सम्भवतः यथ मापा का शब्द है, जिस का अर्थ भी 'तिफविक्' आदि ही है। जावा में के राज्यों के नाम बहुधा राजधानी के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। मजपहित भी वस्तुतः राजधानी का नाम है।

मध्य जावा	लौकपाल	६५०
रको गरुङ्ग ८२६ या ८३६	मकुटवंश वर्धन	...
„ पिकतन ८६४ (१)	धर्मवंश अनन्तविक्रम	६६१-१००७
„ कयुवङ्ग ८७६-८८२	रको हलु, येरलङ्ग	१०१६-१०४२
„ वतुहुमलङ्ग ८८६	„ „, जुहु (१ जङ्गल)	१०६०
मध्य और पूर्वीय जावा	जयवर्ष (काडिरी)	११०४
रको वतुकर, बलिगुङ्ग ८९८-९१०	कामेश्वर पहला	१११५-११३०
„ हिमो, दच ९१५	जयभय	११३५-११५७
„ लयङ्ग, तुलोडोङ्ग ९१६-९२१	सर्वेश्वर पहला	११६०
„ पङ्कज, वव ९२४-९२८	आर्येश्वर	११७१
पूर्वीय जावा	कौश्वार्य दीप, गन्द्र	११८१
देवसिद्ध ...	कामेश्वर दूसरा	११८५
गजयान ...	सर्वेश्वर दूसरा, शृङ्ग	११९४-१२००
अ***नन (१) ७६०	कृतजय	१२१६-१२२२
रको हिमो, सिण्डोक ९२६-९४७		

सिंहसारी और मजपहित के शासक

राजस	१२२२-१२२७
अनूपपति	१२२७-१२४८
तोहजय	१२४८
विष्णुवर्धन	१२४८-१२६८
कृतनगर	१२६८-१२९२
जयकवङ्ग	१२९२-१२९३
कृतराजस, जयवर्धन	१२९३-१३०६
जयनगर	१३०६-१३२८
त्रिभुवना*	१३२८-१३५०
राजसनगर	१३५०-१३८६
विक्रमवर्धन	१३८६-१४२६
सुहिता*	१४२६-१४४७
अेतुमपल	१४४७-१४५१

जैसा कि ऊपर कहा गया है, जावा का अति प्राचीन साहित्य लुप्तप्राय है। शैलेन्द्र-वंश के समय में जावा के साहित्य में खूब वृद्धि हुई होगी, किन्तु उस समय के बहुत बड़े ग्रन्थ देखने में आते हैं। पेरलङ्ग के समय से लेकर पूर्वीय जावा में जो साहित्य भाण्डार विद्यमान था उस का बहुत सा हिस्सा आज सुरक्षित मिलता है और वही आज प्राचीनतम गिना जाता है। स्वयं जावा में बहुत से ग्रन्थ नष्ट हो चुके थे, किन्तु पूर्वीय जावा का बाली द्वीप से वनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, उस से जावा का साहित्य बहुत अंश में बाली द्वीप पर भी पहुँच चुका था। इधर पूर्वीय जावा पर राजनैतिक हेर-फेरों में जो साहित्य लुप्त हो गया, वह आज बाली द्वीप से मिल रहा है। बाली द्वीप पर साहित्यिक विषय में भी कुछ स्वातन्त्र्य रहा है, और इस के फलस्वरूप एक जावा-बाली नाम की भाषा का आविर्भाव हुआ। अन्त में मत्वरम राज्य के अग्रज मध्य जावा में पुनः साहित्य का प्रावलय हुआ। कई ग्रन्थों के अनुवाद हुए और कई ग्रन्थ नए लिखे गए। भाषा में बहुत कुछ परिवर्तन हो चुका था, जिस से अनुवादों की आवश्यकता हुई। पूर्वीय जावा के भारतयुद्ध आदिक ग्रन्थ अब 'व्रतयुध' आदि के रूप में आए।

देश-काल के उक्त परिवर्तनों के अनुसार जावा की भाषा भी आजकल तीन मुख्य विभागों में विभक्त की जाती है—प्राचीन यव-भाषा, जिस का प्रयोग दसवीं शताब्दी से पूर्वीय जावा में होता था और जिस का साहित्य आज सब से पुराना माना जाता है, मध्य यव-भाषा, जिस में बाली द्वीप की भाषा का भी सम्मिश्रण हो गया था और जिस का प्रयोग तत्कालीन साहित्य में हुआ; नव्य यव-भाषा, जो मत्वरम राज्य के समय से आज तक प्रचलित है, और जिस में प्रायः प्राचीन ग्रन्थों के अनुवाद मिलते हैं।

इसे हास समझा जाय या विकास, किन्तु जावा के प्राचीन साहित्य में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है, और ज्यों-ज्यों आगे चलते हैं, ज्यों-ज्यों या वे संस्कृत शब्दों के विकृत रूपों का प्रयोग अधिकाधिक मिलता है अथवा संस्कृत शब्दों के स्थान पर स्वयं यव-भाषा के शब्दों का। कहीं-कहीं संस्कृत शब्दों के आगे-पीछे एवं मध्य में कई प्रकार के प्रत्यय और आगम जोड़े गए हैं, जिस से संस्कृत शब्द का रूप पहचानना दुष्कर हो जाता है। यव-भाषा में पृथक् क्रियापदों का अभाव है, प्रायः संज्ञावाचक शब्दों के साथ कई तरह आगम जोड़ कर क्रियापदों एवं भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल के अर्थों का बोध कराया जाता है, जैसे आकर्षण से काकर्षण=खींचा हुआ, अग्नि से काचि=देखा हुआ, एवं चमा ने अचम, इनचमाकन, पचम इत्यादि, चक्र से मचक, चिनक इत्यादि। ऐसे शब्दों के अर्थ-निर्धारण में बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अभी तक इस भाषा का कोई अच्छा व्याकरण नहीं लिखा गया। कई डच विद्वानों ने इस विषय में खोज की है और व्याकरण के ग्रन्थ लिखे भी हैं, पर इस विषय में अभी बहुत कुछ करना शेष है। दूसरी कठिनाई यह है कि यव-भाषा का कोई कोष भी नहीं मिलता। ग्रन्थों के परिशीलन से और शब्दों की तुलना के आधार पर डच विद्वानों ने यव-भाषा के कई एक कोष लिखे हैं, पर अर्थों के विषय में बहुधा मतभेद ही है। तीसरी कठिनाई यव-भाषा की लेखन-प्रणाली है। यहाँ ह्रस्व दीर्घ का कोई विचार नहीं; क और ख, द और घ आदि अक्षरों में परस्पर कोई भेद नहीं किया जाता। आ के स्थान पर बहुधा ह का प्रयोग किया जाता है। ऐसे ही कई कारणाँ से यव-भाषा का अध्ययन देढ़ी खीर है।

१ जावा की भाषा, संवेपार्थ जावा-भाषा व लिखकर यव-भाषा शब्द का प्रयोग किया गया है।

हों, संस्कृतज्ञों के लिए यव-भाषा के रामायण और महाभारत आदि ग्रन्थ उपेक्षा बुद्धि से कुछ सुगम हैं, क्योंकि वहाँ स्थान-स्थान पर संस्कृत के मूलपाठ के टुकड़े बद्ध किए गए हैं, कहीं एक चरण, कहीं आधा श्लोक, कहीं पूरा श्लोक। शुरू में जो ग्रन्थ यव-भाषा में लिखे गए हैं वे बहुधा संस्कृत ग्रन्थों के शब्दशः अनुवाद हैं, बाद में उन की व्याख्याएँ हुईं और उन के आधार पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे गए, जो अब दुर्बोध हैं। जावा में इन ग्रन्थों का कुल-परम्परा से अध्ययन नहीं होता रहा, और बीच-बीच में वहाँ के राजनैतिक हेर-फेरों से वहाँ की प्रथाएँ भी भ्रम होती रहीं, जिस से उक्त ग्रन्थों का अध्ययन आज स्वयं जावा-निवासियों के लिए भी कुछ कम दुर्गम नहीं।

आज जावा-साहित्य के जितने भी ग्रन्थ मिलते हैं, उन में से रामायण और महाभारत सब से पुराने हैं। ये गद्यमय अनुवाद हैं, और, जैसा कि ऊपर कहा गया है, इन के बीच-बीच में संस्कृत के मूलपाठ के टुकड़े बद्ध हैं।

जावा-साहित्य का स्वरूप

महाभारत यद्यपि जावा पर सम्पूर्ण विदित था, क्योंकि कई स्थानों पर इस का 'अष्टादश पर्व' से बल्लेख हुआ मिलता है, परन्तु वहाँ से अभी तक इस के आठ पर्व ही मिले हैं—आदि, विराट, उद्योग, भीष्म, आश्रमवासिक, मौसल, महाप्रस्थानिक और स्वर्गारोहण। इस के बाद वस्तुतः जावा का अपना साहित्य आरम्भ होता है, जिस के ककविन्, किडुङ्ग, पञ्जी, लुलुङ्गिद, बबद, लकीन इत्यादि कई भेद हैं।

ककविन् का अर्थ काव्य है। 'कवि' शब्द से संस्कृत में जहाँ भाववाचक 'काव्य' शब्द का प्रयोग किया गया है, वहाँ उसी 'कवि' शब्द से उसी अर्थ में 'ककविन्' शब्द का यव-भाषा में प्रयोग हुआ है। यहाँ ककविन् से अभिप्राय महाकाव्यों से है, क्योंकि यं 'सर्गबन्ध' इत्यादि संस्कृत के महाकाव्यों के लक्षणों का अनुसरण करते हैं। इन में संस्कृत के छन्दों का ही प्रयोग किया गया है।

जावा-साहित्य में बहुत से ककविन् देखने में आए हैं। कुछ का नाम-निर्देश यहाँ किया जाता है—अर्जुन-विवाह, भारत-युद्ध, स्मरदहन, रामायण, भोमकाव्य, ब्रह्माण्डपुराण, सुतसेम (अथवा पुरुषादशान्त), सुमनसान्तक, कृष्णायन, रामविजय, रत्नविजय इत्यादिकों में वर्णित विषय तो इतिहास-पुराणादि ग्रन्थों में सुप्रसिद्ध हैं, किन्तु कई एक ऐसे हैं जिन का वृत्त सर्वथा कवि-कल्पित है, जैसे वृत्तसञ्चय (चक्रवाकवृत्त, यह वस्तुतः खण्ड-काव्य है), नीविसार, लुब्धक, कुञ्जरकर्ण, अङ्गबन्धन, धर्मसवि (धर्मसहित ?) और धर्मशून्य, देवशक्ति, मनुक्क अम, सङ्कतडिस्, पससङ्कलन, नागर कृतागम (यह महाकाव्य की शैली पर ऐतिहासिक ग्रन्थ कहा जा सकता है), चण्डकिरण, वसनबाली, अजकनिरर्थ इत्यादि। इन में से एकाध का परिचय नीचे दिया जायगा।

किडुङ्ग भी वस्तुतः एक प्रकार के महाकाव्य ही हैं। ककविन् से इन का मुख्य भेद यह है कि इन में संस्कृत छन्दों का प्रयोग नहीं, प्रत्युत जावा के अपने छन्दों का प्रयोग किया गया है। किञ्च इन में की भाषा बहुत कुछ अर्वाचीन है, प्रतिपाद्य विषय भी सर्वथा जावा द्वीप से ही सम्बन्ध रखता है।

कुछ मुख्य किडुङ्गों के नाम ये हैं—सुदमल, सुन्द, सुन्दायन, रामायण, नवशक्ति, सुमनसान्तक, आदि-पर्व, अर्जुन-प्रलम्ब, दनुहबले-अङ्गुड, कुन्तीम, बङ्ग्ब, अस्तुति, भीमस्वर्ग, धर्मजाति, शुद्धमल इत्यादि।

रामायण, सुमनसान्तक आदिक ककविने में भी आए हैं और यहाँ भी। कथावस्तु वही है किन्तु छन्दोभेद और भाषाभेद के रूप से वे यहाँ भी मिलते हैं। भाषान्तर करते समय लेखक कभी तो मौखिक ग्रन्थ का नाम ही रखता है, कभी नाम बदल भी देता है। अर्जुन-विवाह के कई भाषान्तर किए गए, एक का नाम मित्तराग है, जो किडुङ्गों में गिना जाता है।

पक्षी और लुलुब्ध गद्य ग्रन्थ हैं और प्रायः पञ्चतन्त्र के समान नीति की कथाएँ इन का विषय है। विविध आख्यान और आख्यायिकाएँ भी इसी के अन्तर्भूत हैं। तन्त्र कामन्दक नाम का मध्य यव-भाषा का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिस का विषय पञ्चतन्त्र का ही है पर कथाओं में बहुत अन्तर है, किञ्च कथामुल-सर्वथा भिन्न है।

बबद भादि जाबा के सुसलमानों के काल से इतिहास के ग्रन्थ हैं।

नीचे कुछ ग्रन्थों का परिचय दिया जाता है—

आज तक जाबा-साहित्य के जितने भी ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं, उन में से इतिहास की दृष्टि से 'नागर कृता-गम' का स्थान सर्व-प्रथम है। यह २८ सर्गों का एक पद्यमय काव्य है। इस का रचना-काल आश्विन मास शक संवत् १२८७ (अर्थात् सन् १३६५ ई०) ग्रन्थ के अन्त में ही दिया हुआ है।

नागर कृतागम

कवि का नाम प्रणव है। पूर्वीय जाबा में मजपहित का साम्राज्य उन दिनों सशुद्धि पर था। हयम्बुरुक नाम का राजा राज्य करता था, यद्यपि राज्य का सम्बालन-भार एक गजमद नामी विश्वस्त और निपुण व्यक्ति के सिर पर था। राज्य के अन्यान्य विभागों में एक धर्म-विभाग भी था, जिस में शैव और बौद्ध दोनों मतों को प्रतिष्ठा प्राप्त थी। उक्त काव्य का कर्ता प्रणव इस विभाग में बौद्धमत का मुख्य धर्माधिकारी था। इस की उपाधि धर्माध्यक्ष रिड कसोगतम् थी। 'कसोगतम्' शब्द में '-सोगतम्' से अभिप्राय 'सौगतम्' है। कवि होने से प्रणव राजा हयम्बुरुक के विशेष सम्मान का पात्र था। नागर कृतागम एक स्तुतिपरक काव्य है, हयम्बुरुक और उस के पूर्वजों की एवं राज्य-सम्बालक गजमद की प्रशंसा करना यहाँ कवि का प्रधान लक्ष्य है। तो भी, जैसा कि इस के प्रतिपाद्य विषय से स्पष्ट है, इस से बहुत सी तत्कालीन एवं पूर्ववर्ती ऐतिहासिक घटनाओं का प्रामा-णिक परिचय मिलता है, जो यावदुपलब्ध ग्रन्थ साधनों से नहीं मिलता। इस में वर्णित बहुत सी बातें कवि की अपनी आँखों देखी हैं, और जो उस ने सुनी-सुनाई लिखी हैं वे भी, उस की पदवी को ध्यान में रखते हुए, कम प्रामाणिक नहीं। कई अवसरों, उत्सवों और यात्राओं पर कवि राजा के साथ रहा है, नाना अनुभव प्राप्त करता रहा है, और तदनन्तर उस ने नागर कृतागम की रचना की है, और प्रायः उन्हीं अनुभूत घटनाओं का इस में वर्णन दिया है, इसी से अन्तिम सर्ग में कवि ने इस काव्य का दूसरा नाम 'देशवर्णन' दिया है।

संक्षेप से ग्रन्थ का विषय इस प्रकार है—पहले सर्ग में, मङ्गलाचरण के बाद, राजा हयम्बुरुक के जन्म (१३३४ ई०) का वर्णन है, जहाँ कवि ने उसे अट्टार गुरु का अवतार मान कर उस की स्तुति की है। २-७ सर्गों में राजा के पूर्वजों का वर्णन है। ८-१५ सर्गों में राजधानी मजपहित का विस्तृत वर्णन एवं मजपहित साम्राज्य के बशवर्ती जाबा और द्वीपान्तरी पर के राज्यों का वर्णन दिया है। सोलहवें सर्ग में शैव और बौद्ध मतों के धर्म-प्रचार के कार्य का विवरण दिया है। १७-७० सर्गों में राजा की विविध यात्राओं का वर्णन है। कवि राजा के साथ है। कई भट-गन्धर्व-स्तूप-विहार एवं अन्यान्य धर्मस्थानों के दर्शन होते हैं। उत्सव मनाए जाते हैं। दान-पुण्य किया जाता है। कई जीर्ण स्थानों का उद्धार होता है और कई नए स्थानों का निर्माण। एक बार यात्रीगण राजा के पूर्वजों की (कृतनगर की) राजधानी सिंहसरी में पहुँचते हैं, जहाँ कवि को (३८ वाँ सर्ग) एक ८३ साल के बूढ़े मठाधीश आचार्य रत्नाश नाम बौद्ध भिक्षु से मिलने का अवसर मिलता है। कवि की प्रार्थना पर आचार्य रत्नाश राजा के पूर्वजों के इतिहास का वर्णन करता है। फलतः आगे के कुछ सर्ग (४०-४८) एकान्त ऐतिहासिक कहे जा सकते हैं। आगे चल कर (१३६२ ई० में)

राजा की पितामही—कृतनगर की पुत्री और राजा विजय की पत्नी—का श्राद्धोत्सव मनाया जाता है (६३-६७ सर्ग)। सन् १३६४ ई० में पति गजमद की मृत्यु हो जाती है। वह अकेले सारे कार्य-भार को बड़ी निपुणता से सँभाले हुए था, उसी कार्य-भार को सँभालने के लिए उस के स्थानापन्न अब कई कर्मचारी भी समर्थ नहीं हो सकते—इस बात का आश्रय ले कर तत्कालीन शासन-प्रणाली का सुविस्तृत वर्णन किया गया है (७२-८२ सर्ग)। अन्त में कई प्रकार के वार्षिक उत्सवों का वर्णन दे कर (८३-८८ सर्ग) ग्रन्थ की समाप्ति की गई है।

इतिहास और पुरातत्त्व की दृष्टि से १७-७० सर्ग विशेष महत्त्व के हैं। इन में वर्णित धर्मस्थान अब भी खण्डिताखण्डित रूप में विद्यमान हैं। ताम्रपत्र और शिलालेखों से अन्यान्य घटनाएँ भी सत्य सिद्ध हो रही हैं।

ग्रन्थ के अन्त में प्रपञ्च कुछ अपने विषय में भी लिखता है। धर्माभ्युच्च का पद ग्रहण करने से पूर्व उस का नाम म्पु विनाद था। नागर कृतागम के अतिरिक्त उस ने कई एक अन्य ककविन् और किङ्क भी लिखे थे, जो अभी तक नहीं मिले, नागर कृतागम में ही उन का नाम-निर्देश मिलता है।

स्वयं नागर कृतागम भी जावा से लुप्त हो चुका था। वाली द्वीप से यह ग्रन्थ सुरचित्त मिला है। इस का मुद्रण पहले-पहल वाली भाषा के अक्षरों में और बाद में रोमन अक्षरों में भी किया गया। डच भाषा में इस को दे-एक अनुवाद^१ भी हुए हैं, किन्तु इस में अभी तक कई स्थल विवाद-ग्रस्त हैं।

नागर कृतागम की कांठि का ही दूसरा ग्रन्थ पररतोन् है, किन्तु यह गद्यमय है। यह एक ऐतिहासिक आख्यान है। नागर कृतागम का नायक हय्मुदुक है, और उस में प्रायः उसी से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं का वर्णन है, परन्तु पररतोन् में कनङ्ग्रक, कृतनगर, विजय, गजमद आदि कई

पररतोन्

व्यक्ति प्रधान पात्र हैं। इस ग्रन्थ का पूरा नाम सरत् पररतोन् है। सरत् यव-भाषा का शब्द है जिस का अर्थ है पत्र अथवा वृत्तान्त-पत्रिका। रत्तु शब्द का अर्थ राजा है, इसी का तद्धित रूप पररतोन् है जिस का अर्थ है राजवंश, राजावली अथवा राज-परम्परा। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'कतु-तुरनिर कनङ्ग्रक' है अर्थात् 'कनङ्ग्रक उपाख्यान'।

इस के कर्त्ता के विषय में कुछ मालूम नहीं। हाँ, इस की भाषा नागर कृतागम की भाषा से अर्वाचीन है, और इस में सन् १४८१ ई० तक की घटनाओं का वर्णन मिलता है, जिस से इस के रचना-काल का कुछ अनुमान हो सकता है।

पररतोन् मुख्यतः दो भागों में विभक्त है। पहला भाग प्रायः आख्यानमय है और दूसरा प्रायः इति-हासमय। दूसरे भाग के पुनः चार हिस्से किए जा सकते हैं—एक कनङ्ग्रक का उपाख्यान तथा तत्सम्बन्धी दन्त-कथाएँ; दूसरा सिङ्गसारी के राजाओं का वर्णन; तीसरा दो मुख्य कथाएँ, जिन में कई एक छोटी-छोटी कहानियाँ ओत-प्रोत हैं, एक में विजय की प्रधानता है और दूसरी में गजमद की; चौथा मजपहित के राजवंश-सम्बन्धी समाचार।

१. पण्डित अथवा श्रियुक्त आदि उपाधियों के सुझावले से जावा में 'म्पु' शब्द का प्रयोग किया जाता था, इस का प्रयोग केवल धार्मिक व्यक्तियों के नामों से ही सम्बद्ध था।

२. 'हेट आन्ड-जवाग्ना लुफ् तिदत्त नागर कृतागम' वन प्रपञ्च (१३६२ ई०) टेक्स्ट, व्हेर्तालिङ् एन विस्त्रेकिङ् वन प्रो० डा० कर्ण, मेत आन्तिकेभिगेन वन डा० एन्ज० ने क्रोम, ग्रोटेनहोफे, १९११।

कनहूय्यक एक तरुण साहसिक छुटेरा है। कई विचित्र चाले चल कर वह तुमापल के राज्य में सरदार का पद प्राप्त कर लेता है, और अन्त में सारा राज्य अपने कृष्ण में कर स्वयं राजा बन जाता है। तब से यह राजस नाम से प्रसिद्ध होता है। इस का जीवन साहसमय घटनाओं से पूर्ण है। यह कई आपत्तियों से साफ बच निकलता है, जिस से लोगों पर इस का खूब प्रभाव छाया हुआ था। ग्रन्थकार ने इसे विष्णु का अवतार मान कर इस की स्तुति की है। यही कनहूय्यक अथवा राजस सिंहसारी राज्य का जन्मदाता और बाद के मज-पहित के राजाओं का वंश-कर्ता है। इस के काल में तुमापल राजधानी थी। यह राज्य भी तुमापल राज्य से प्रसिद्ध रहा। बाद में कुतनगर ने सिंहसारी को राजधानी बनाया, सो राज्य भी सिंहसारी राज्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सिंहसारी का अन्तिम राजा कुतनगर ही था। इस की मृत्यु के बाद इस का राज्य छिन्न-भिन्न हो जाता है। इस के दामाद विजय ने एक नए राज्य की स्थापना की, जो मजपहित के नाम से प्रसिद्ध हुआ, और जो गजमद के शासन-काल में उन्नति की पराकाष्ठा को पहुँचा।

यह सारा इतिहास परतोन में विस्तारपूर्वक वर्णित है। ग्रन्थ के घटना का तिथि-संज्ञ-स्थान आदि सब साध दिया हुआ है, इस दृष्टि से परतोन स्वयं एक इतिहास-ग्रन्थ ही है। इस की कई हस्त-लिखित प्रतियाँ मिल चुकी हैं। विद्वानों को इस ग्रन्थ का बहुत दिनों से पता था, किन्तु इस की ऐतिहासिक महत्ता अब मालूम हो रही है। इस ग्रन्थ के आधार पर ढ़च भाषा में कई ग्रन्थ और निबन्ध लिखे जा चुके हैं। ग्रन्थ का अनुवाद—ज्याख्या आदि समेत—ढ़च भाषा में किया गया है। सब से पहले डॉ० जे० ऐल० ब्राड्स ने इस ग्रन्थ का अनुवाद-सहित मूल पाठ प्रकाशित किया था। इस की द्वितीयमृत्ति कई अन्य विद्वानों की सहकारिता से डॉ० क्रोम द्वारा हुई है, जो कई अंशों में संशोधित, परिवर्धित और स्पष्टीकरणों से सम्पन्न है।

यह ३६ सर्गों का एक महाकाव्य है। कवि का नाम म्पुकण्व ग्रन्थ के अन्त में ही दिया गया है, जहाँ पर यह भी लिखा है कि राजा ऐरलङ्ग ने इस काव्य की बड़ी प्रशंसा की। ऐरलङ्ग का समय ग्यारहवीं शताब्दी का आरम्भ है। कवि म्पुकण्व राजा ऐरलङ्ग का समकालीन ही सिद्ध होता है। इस से अर्जुन-विवाह का रचना-काल १०३५ ई० से पूर्व है। इस दृष्टि से यह प्राचीन यव-भाषा का—रामायण, महाभारत आदि को छोड़ कर—सब से पुराना ग्रन्थ है।

ग्रन्थ का विषय वही है जो भारवि के किराटार्जुनीय का, अर्थात् महाभारत के विराटपर्व में दिया हुआ अर्जुन का उपाख्यान। अर्जुन इन्द्रकील पर्वत पर दपस्था करने जाता है, इन्द्र इस की परीक्षा के लिए अप्सराएँ भेजता है, अर्जुन विचलित नहीं होता, बाद में अर्जुन किराटरूप भगवान् शिव से युद्ध करता है और उस से दिव्य अस्त्र प्राप्त करता है, निवाच-कवचों से युद्ध करता है। कवि ने शेष कथा में कुछ हेर-फेर किया है। अर्जुन इन्द्र को भवन में पहुँचाया गया है, जहाँ वह अप्सराओं से विहार करता है और अन्त में रत्नप्रभा नाम अप्सरा से विवाह कर लेता है, इसी घटना को लेकर ग्रन्थ का नाम कवि ने अर्जुन-विवाह रक्खा है।

काव्य की दृष्टि से यह एक अत्युत्तम ग्रन्थ है और जावा में बड़ा प्रसिद्ध रहा है। इस की प्रसिद्धि का अनुमान इसी से हो सकता है कि वयङ्ग अर्थात् जावा के प्रसिद्ध छाया-नाटकों में इस का अभिनय किया जाता है, चण्डो जगो आदि मन्दिरों की भित्तियों पर इस में के वर्णित विविध प्रसङ्ग मूर्तियों के रूप में उत्कीर्ण हैं, तथा इस ग्रंथ के वृत्त के आधार पर कई किङ्क लिखे गए जिन में से मन्तराग एक है। मन्तराग 'वीतराग' शब्द का

विकृत रूप है और यह नाम अर्जुन को दिया गया है, जो तपस्या करते समय इन्द्र की भेजी हुई अप्सराओं द्वारा विचलित नहीं हो सका।

इस ग्रंथ के विषय में भी डच भाषा में बहुत कुछ टीका-टिप्पणी हुई है, क्योंकि इस को द्वारा भी जावा के प्राचीन इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। इस का मूलपाठ अनुवाद और व्याख्या सहित जावा-निवासी डॉ० पूर्वचरक द्वारा प्रकाशित हो चुका है। अनुवाद आदि डच भाषा में ही हैं।

अर्जुन-विवाह के समान यह ४० सर्गों का एक महाकाव्य है। इस का कवि म्पु धर्मज है, जिस ने काहिरी

स्मरदहन

के नरेश कामेश्वर (प्रथम अथवा द्वितीय ?) की प्रशंसा में यह काव्य रचा है, इस से

इस का रचना-काल लगभग सन् ११५० ई० है।

इस का विषय करीब-करीब वही है, जो कालिदास के कुमारसम्भव का। किन्तु यहाँ कवि का मुख्य उद्देश्य कामेश्वर की स्तुति है, इस से कथा में बहुत कुछ अन्तर है। काम और रति दोनों शिव की नेत्राग्नि से भस्म-सात् होते हैं। शिव और उमा का विवाह हो जाता है। उमा की प्रार्थना पर शिव काम और रति को पुनर्जीवित करने का वचन देता है। तदनुसार ही कवि के आश्रयदाता राजा कामेश्वर के रूप में काम और उस की रानी के रूप में रति पृथ्वी पर अवतार लेते हैं।

इतिहास की दृष्टि से यह काव्य सर्वथा महत्त्वशून्य नहीं। कामेश्वर के राज्य का विस्तार, सीमाएँ और उस के शासन-सम्बन्धी बहुत सी बातों का कवि ने विशेष रूप से वर्णन किया है।

इसी (± सन् ११५० ई०) समय का यह एक खण्ड-काव्य है। इस का कवि म्पु तनकुळ है, और यह

वृत्तसञ्चय

भी प्रथा है कि यह म्पु तनकुळ म्पु धर्मज का भाई था। लुब्धक आदिक कई एक

अन्य ग्रन्थ भी इसी के लिखे माने जाते हैं। वृत्तसञ्चय का दूसरा नाम चक्रवाक-दूत है। इस में विविध जाति के ११२ श्लोक हैं।

कवि का मुख्य उद्देश्य संस्कृत को छन्दों का स्पष्टीकरण है। प्रत्येक श्लोक में उस की संज्ञा, लक्षण और उदाहरण सब कुछ आ जाता है। साथ-साथ कथा-प्रसङ्ग भी चलता जाता है। किन्तु कथा यहाँ गौण रूप से है।

एक राजकुमारी अपने प्रेमी के विरह में आतुर बैठी है। एक चकवे को देख वह अपना दुखड़ा उसे सुनाती है और उसे अपने प्रियतम के पास भेजती है। चकवा जाता है और राजकुमार को खोज लाता है। प्रेमी और प्रेमिका का मिलाप हो जाता है।

चक्रवाकदूत कालिदास के मेघदूत का स्मरण दिलाता है। भारतवर्ष में भी मेघदूत की नकल पर हंसदूत आदि कई एक खण्ड-काव्य रचे गए थे। यहाँ अन्तर यह है कि नायिका नायक को सन्देश भेजती है, किन्तु मेघदूत में नायक नायिका को।

प्रो० कर्ण द्वारा डच भाषा में इस काव्य का भी अनुवाद आदि हो चुका है।

शैलेन्द्रवंश के समय का—अर्थात् सातवीं, आठवीं शताब्दी का—यही एक ग्रन्थ मिलता है। चन्द्रकरण नाम का एक हस्त-लिखित ग्रन्थ मिला था, जिस में तीन टुकड़े थे। पहला छन्दःशास्त्र के विषय में और तीसरा फिर

अमरमाला

कोष के विषय में और मध्य में अर्थात् दूसरा टुकड़ा अमरमाला है। यह एक संस्कृत

कोष की व्याख्या प्रतीत होती है। एक और संस्कृत के शब्द दिए हुए हैं और सामने

यव-भाषा के पर्याय दे कर उन का अर्थ स्पष्ट किया गया है। इस का वर्गीकरण अमरकोष के समान ही है अर्थात्

पहले स्वर्ग और देवताओं के नाम। इस ग्रन्थ से यह स्पष्ट होता है कि किस तरह उन दिनों संस्कृत का अध्ययन होता था।

यह भी प्राचीन यव-भाषा के काव्य-ग्रन्थ अर्थात् ककाविर् हैं। भारत-युद्ध में ५२ सर्ग हैं। इस के कवि

का नाम म्पु सबह है जिस ने उक्त काव्य का आरम्भ सन् ११५७ ई० अर्थात्
भारतयुद्ध, हरिवंश,
घटोत्कचाश्रय
काठिरी के राजा जयभय के समय में किया था। म्पु सबह इस काव्य को समाप्त
नहीं कर पाया। समाप्ति इस की म्पु पतुलुह नामक दूसरे किसी कवि ने की है जो

स्वयं घटोत्कचाश्रय और हरिवंश आदि काव्यों का कर्ता है।

उक्त तीनों काव्यों का विषय, जैसा कि इन के नामों से स्पष्ट है, महाभारत से लिया गया है। कथाओं में कहीं-कहीं बहुत भेद है, परन्तु सामान्यतः मूल महाभारत का ही अनुसरण किया गया है।

ऊपर जिन ग्रन्थों का परिचय दिया गया है वे 'मुख्य' इसी दृष्टि से कहे गए हैं कि अभी और ग्रन्थों का पता नहीं। जावा-साहित्य के सैकड़ों ग्रन्थ अभी ऐसे ही पड़े हैं जिन्हें किसी ने खोज कर भी नहीं देखा कि उन में क्या क्या है।

यद्यपि जावा-साहित्य संस्कृत-साहित्य के समान अनन्त होने का गर्व नहीं कर सकता, तो भी अपने स्थान पर यह कुछ काम नहीं। किन्तु संस्कृत-साहित्य को जहाँ यह गौरव प्राप्त है कि जावा-साहित्य के हस्त-लिखित ग्रन्थों का संग्रह उस के पढ़ने वालों की संख्या पर्याप्त है, उस के हस्त-लिखित ग्रन्थों की सूचियाँ तैयार की गई हैं, उस के द्वारा ग्रन्थ छप चुके हैं, वहाँ जावा-साहित्य की दशा इस के सर्वथा प्रतिकूल है। इस के हस्त-लिखित ग्रन्थों का कई जगह संग्रह मिलता है, जैसे—बटाविशाश गेन्दृशप् वन कुन्स्टर् एन, बेटेश्पेन, बटाविशा, लाइहूशे विद्यापीठ लाइह्वर क्लोनियाल इन्स्टिट्यूट आम्स्टर्डम, कोनिंग-लिक् इन्स्टिट्यूट बोअर डि टाल लैण्ड पुन वल्ककुंड वन नीडरलैंड्स इंडिया, इंडिया ऑफिस लंडन इत्यादि इत्यादि अनेक संस्थाओं के पुस्तकालयों में एवं जावा और बाली आदि द्वीपों के कई घरानों में निजी पुस्तक-संग्रह। इन में अभी लयिदन विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के संग्रह की सूची तैयार हो सकी है, दूसरे संग्रह अभी योंही पड़े हैं।

इस उपेक्षा का कारण विद्वानों की रुचि का अभाव है। अभी तक जो कुछ भी जावा के साहित्य के अन्वेषण में कार्य किया गया है उस में सब से अधिक श्रेय डच विद्वानों को है। किन्तु उन के ग्रन्थ प्रायः सारे डच भाषा में लिखे होने से भारतीय विद्वान् विद्यार्थी उन का पूरा उपयोग नहीं उठा सकते। कुछ भी हो, भारत में जहाँ आज राष्ट्रीयता का उन्मेष हो रहा है वहाँ भारतवासियों का यह भी कर्तव्य है कि द्वीपान्तरों में फैली हुई अपने पूर्वजों की कीर्ति—सभ्यता और संस्कृति—का परिशीलन करे और वहाँ के साहित्य के अन्वेषण और इतिहास के निर्माण में पूरा सहयोग दें।

अन्त में मैं लयिदन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डॉक्टर जे० एम्० क्रोम एवं प्रोफेसर डॉक्टर सी० सी० बर्खे के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ, जिन के निबन्धों और ग्रन्थों के आधार पर मैं इस लेख को रूप में कुछ शब्द लिख सका हूँ।

ओड़िशार मध्ययुग राजवंशादिर परिचय

श्रीयुत परमानन्द आचार्य, बी० एस्-सी०, मयूरभञ्ज ।

[पिछले कुछ वर्षों में पाए गए नए अभिलेखों से गङ्गवंश से पहले के उद्दिष्ट इतिहास के ज्ञान में बहुत कुछ वृद्धि हुई है ।

मदलपल्ली (बगनाथ के मन्दिर में सुरक्षित पत्थर) में केवल केरारीवंश के राजाओं के, जिन्होंने ४७४ ई० से ११६२ ई० तक राज्य किया, नाम पाए जाते हैं । किसी और वंश का नाम उल्लिखित नहीं है पर ताम्रपत्रों से पता चलता है कि ६०६ ई० में मानवंश का राज्य वहाँ था । ६१६-२० में शैलोद्भववंश के शशाङ्कदेव का राज्य वहाँ था । हिरण्य-चाक की बीवी से पता चलता है कि शशाङ्क के बाद हर्षदेव ने वहाँ राज्य किया और महापान धर्म का प्रचार करने का प्रयत्न किया । उस के पश्चात् कोगण्ड (गझाम जिला) में शैलोद्भववंश के राजा शक्तिशाली हो गए । वहाँ ने छठी शताब्दी ई० के मध्य से लेकर नवीं शताब्दी ई० के मध्य तक राज्य किया । उन का राज्य-विस्तार कजिङ्ग और कोगण्ड में था । उस समय वहाँ संस्कृत का बहुत प्रचार था । राजा ब्राह्मण्य धर्म का आदर करते थे । ताम्रपत्रों से पता चलता है कि कोगण्ड में उन की भी प्रसुता रहीं; परन्तु भोम और शैलोद्भव-वंशों में पारस्परिक सम्बन्ध क्या था, इस पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता । भोमवंश के राजा और शैलोद्भव-वंश के धर्मराज मे आठवीं शताब्दी के पिछले अंश में युद्ध हुआ । उस समय का इतिहास ज्ञात है ।

भोमवंश—मदलपल्ली में भोमवंश का कोई उल्लेख नहीं है । इस वंश के राजा बौद्ध थे, परन्तु उन के राज्य में हिन्दू और बौद्ध दोनों वृद्धि कर रहे थे । इन राजाओं का चीन-सम्राट् से भी सम्बन्ध था । इन के राजत्व-काल में वास्तु और मूर्तिकला की बहुत उन्नति हुई । ऐसा जान पड़ता है कि धर्म-प्रचार की ओर उन का अधिक ध्यान रहा । नगरों में बढ़ी सन्तुष्टि थी, तथा उन का परले हिन्द के द्वीपों से भी घनिष्ठ सम्बन्ध था । शासन दृढ़ था तथा प्रजा सुखी थी । भोमवंश का उल्लेख किसी समकालीन राजवंश (तुङ्ग-नन्द इत्यादि) के ताम्रपत्रों में नहीं है, अतएव उन का पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित करना कठिन है ।

तुङ्गवंश—यह वंश रोहतास गढ़ से आया तथा जमगर्त में इस ने अपना अधिकार जमा लिया ।

नन्दवंश—इस के दो ताम्रपत्र मिले हैं । उन से पता चलता है कि उन का राज्य महानदी के दक्षिण तट पर था, तथा उस की राजधानी जयपुर थी । राजा बौद्ध थे ।

शुलकीयश—इन के २ ताम्रपत्र मिले हैं । सब कोदाख से, जो कि बाह्यपी के तट पर था, दिए गए हैं । टेंकनाल रियासत का केराग्रालु गाँव ही शायद वह कोदाख है ।

भञ्जवंश—इस के २६ ताम्रपत्र पाए गए हैं । उन में से कुछ आधुनिक अक्षरों वाले से और कुछ खिलजी (आधुनिक बौद्ध-सोनपुर, दशपञ्चा राज्य और गझाम जिलान्तर्गत झुसुसर) से जारी किए गए हैं । उन की राजधानी पहले छतिपुर थी, बाद को दो विभिन्न राजधानियाँ हो गईं—छतिपुर और बिजंलवक । एक बौद्ध की, दूसरी झुसुसर की । पीछे बौद्ध की राजधानी गन्धर्ववाही हो गई । दशपञ्चा की स्थापना कैसे हुई सो स्पष्ट नहीं है । यद्यपि भञ्जवंश का गोत्र मयूरभञ्ज के गोत्र से सिद्ध है, परन्तु सम्भवतः वे एक ही देश के हैं ।

ये भञ्ज राजा अपने को सूर्यवंशी क्षत्रिय कहते हैं । पं० विनायक मिश्र ने बड़ी खोज के बाद सिद्ध किया है कि वे सूर्यवंश के हैं । इंटर के मतानुसार यह वंश २००० वर्ष का पुराना है । जो भी हो, नेट्टेश के ताम्रपत्रों से इतना निश्चित है कि वे आठवीं शताब्दी से राज्य कर रहे हैं । रेने ग्रोसे ने जिसे मयूरभञ्ज-शैली कहा है उस शैली की मूर्त और वास्तु-कला के नमूने अब भी गन्धर्ववाही और किच्छिद में पाए जाते हैं ।

केशरीवंश—मवलपत्नी के अनुसार केशरीवंश का राज्य ४७४ से ११३२ ई० तक रहा तथा केशरीवंश के अन्तिम राजा सुवर्णकेशरी को गङ्गवंश के चोड़ गङ्ग ने हरा कर राज्य छीना ।

प्लूट ने सिद्ध किया है कि (५० ई० भा० २ में) केशरीवंश के राजा वास्तव में सोमवंशी थे । उद्योतकेशरी के नरसिंह-पुर राज्य तथा रत्नगिरि को ताम्रपत्रों से यह बात पूरी तरह प्रमाणित हो जाती है । उस समय के त्रिकलिङ्ग में कलिङ्ग, कोगण्ड और उत्कल सम्मिलित थे । तोपल का निश्चित उल्लेख नहीं है । इसलिए यह सम्भव है कि उत्तर तोपल उत्कल था और दक्षिण तोपल कोगण्ड । कोगण्ड के राजा की हार के पश्चात् यह प्रदेश कलिङ्ग में मिला लिया गया ।

इस वंश के जनमेजय की राजधानी कटक के पास चवद्वार में थी । इस वंश की राजधानी सोनपुर में भी थी ।

गङ्गवंश के राजदेव ने उत्कल को १०७१ ई० में अधीन कर लिया । कैर्ण्यकेशरी की हार हुई । यह कैर्ण्यकेशरी शायद मवलपत्नी का सुवर्णकेशरी है ।]

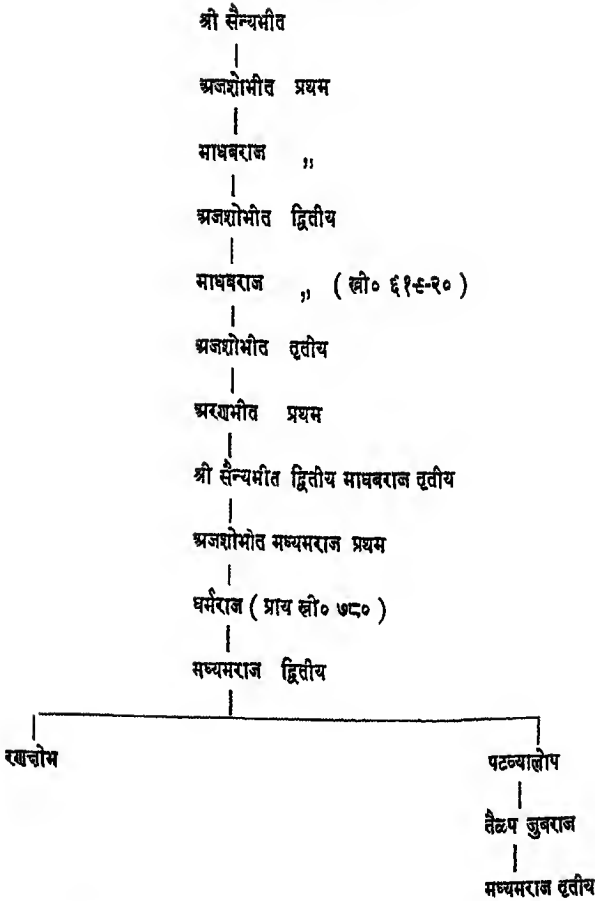
महामहोपाध्याय पण्डित गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझाङ्क अभिनन्दन करिवार आयोजन अतीव प्रशंसनीय । महामहोपाध्यायङ्कर जीवनव्यापी ऐतिहासिक गवेषणाएँ केवल जे भारतवासी वाङ्मयारे रूणी ताहा नुहे, वाङ्कर 'भारतीय लिपिमाळा' पुस्तक द्वारा भारवर्षर जावतीय लिखित भाषा मध्य वाङ्मयारे चिरकाळ रूणी रहिव । भारतवर्षर सर्वजन-समाहत हिन्दी भाषारे वाङ्कर समस्त ग्रन्थ लिखित होइ थिबार 'भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' पचर वाङ्क प्रति सम्मान प्रदर्शन करिबा जगविहित व्यवस्था होइअछि ।

'भारतीय प्राचीन लिपिमाळा' रे ओड़िआ लिपिकु स्थान देइ से ओड़िया भाषार मज्जादा वढाइ अछन्ति । लिपि-तत्त्व-विशारद महामहोपाध्यायङ्कर एहि ग्रन्थ प्रकाशित होवारे ओड़िशार बहु वाङ्मयशासन दानपत्र आविष्कृत होइअछि ओ सेगुड़िकर पाठद्वारा ओड़िशार गङ्गवंश पूर्ववर्ती इतिहास सम्पूर्णरूपे परिवर्तित होइअछि । 'भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की सामग्री' नामक पुस्तकर (२५ पृष्ठा) पण्डित ओझा लेखिअछन्ति जे "इस को बारहवीं शताब्दी ई० के पूर्व के राजाओं की नामावली तो अधिक अशुद्ध है ।" एहि अनुमान आनि सत्य वेलि प्रमाणित होइ महामहोपाध्यायङ्कर इतिहास अनुधावनरे सूचम दृष्टिर सम्यक् परिचय देअछि । एख वाङ्कर एहि सम्बर्द्धनारे जोग देइ ओड़िशार मध्ययुगर राजवंशावलि सम्बन्धे पण्डितप्रवरङ्कर माहात्म्य स्मरण करि जत्किञ्चित् आलोचना करअछि ।

(१) मानवश, गौडेधर शशाङ्क ओ श्रीहर्ष—शैलेंद्रवंशी सामन्त राजबुन्द

सादकापाञ्जिरे खी० ४७४ ठार खी० ११३२ पर्यन्त समय मध्यरे केवल ४४ जग केशरीवंश राजा-मानङ्कर नाम ओ राजत्वकाळ बर्योव अछि । एहि दीर्घ सार्द्धषष्ठशताधिक वर्षमध्यरे अन्य कौणसि राजवंश ओड़िशारे राजचक्रवर्ती होइथिबार कथा सादकापाञ्जिरे उल्लेख थिबार जग्याजाय नाहि । पञ्चान्वरे कटक निकटवर्ती पटिआकिल्लार थिवराजङ्क वाङ्मयशासनर जग्या जाय जे खी० ६०६ रे मानवंशी राजा ओड़िशारे राजचक्रवर्ती थिले । तपरै शैलेंद्रवंशी माधवराजङ्क वाङ्मयशासनर जग्याजाय जे खी० ६१६-२० रे गौडेधर शशाङ्कदेव उत्कळरे राजचक्रवर्ती थिले । पुनरच हुएँसाङ्क जीवनचरितर जग्याजाय जे शशाङ्कदेवङ्क परे हर्षदेव ओड़िशार राजचक्रवर्ती होइथिले ओ बौद्धधर्मर महानान शास्त्रार प्रचार जगि विशेष जल करिथिले ।

तपरै कोङ्गदरे शैलेंद्रवंशीय राजामाने प्रबल पराक्रान्त होइथिले । एहि वंशर राजामानङ्कर नाम वाङ्मयशासन गुड़िकर जाहा मिळुअछि, ताहा तळे विवृत हेल । एहि राजवंशर राजत्वकाळ छष्ट शताब्दिर मध्य-भागर नवम शताब्दिर मध्यभाग पर्यन्त धरा जाई पारे ।



પરિ રાજામાનકુર રાજત્વ કોઝદ ઓ કઝિકુરે નિબદ્ધ થિલા । આધુનિક ગજામ જિલ્લાર ઉત્તરાર્ધ ઓ પુરી જિલ્લાર દક્ષિણાર્ધ ઘેનિ પ્રાચીન કોઝદ રાજ્ય વિસ્તૃત થિવાર પ્રમાણિત હેઝ અછિ । હુઈસાહ્ પદિ કોઝદ રાજ્ય ઓ કોઝદ નગરર કથા વર્ણના કરિઅછન્તિ । પુરી ઓ ગજામ અન્નચઢરે આર્ય સમ્મતા કિપરિ પ્રવચ્ચિત થિલા તાહા પદિબંશર તામ્રશાસન ગુઢિકર વેશ ઘુઝાજાપ । સઘુ તન્માપટા ગુઢિકર ઘઝાઝ સંસ્કૃત સાહિત્યર વચ્ચા થિવાર પ્રમાણ મિઝુઅછિ । દાનપ્રહિતા મને બ્રાહ્મણ થિવાર રાજા માને બ્રાહ્મણ્ય ધર્મર સમાદર કરથિવાર સૂચના મિઝુઅછિ । કૌણસિ રાજાકુર રાજચક્રવર્તી-સૂચક વિરહ નાહિ । માધવ રાજાકુર તામ્રશાસનર જણાજાપ જે ગૌઢેશ્વર શશાકુર સામન્ત તૃપતિ થિલે । તેષઢર મેલવંશી રાજામાનકુર તામ્રશાસનાદિર જણાજાપ જે કોઝદ રાજ્ય સેમાનકુર વચ્ચતા સ્વીકાર કરિથિલા ઓ સેમાને કોઝદ મળઢઢરે મૂમિદાન કરિથિલે । માત્ર

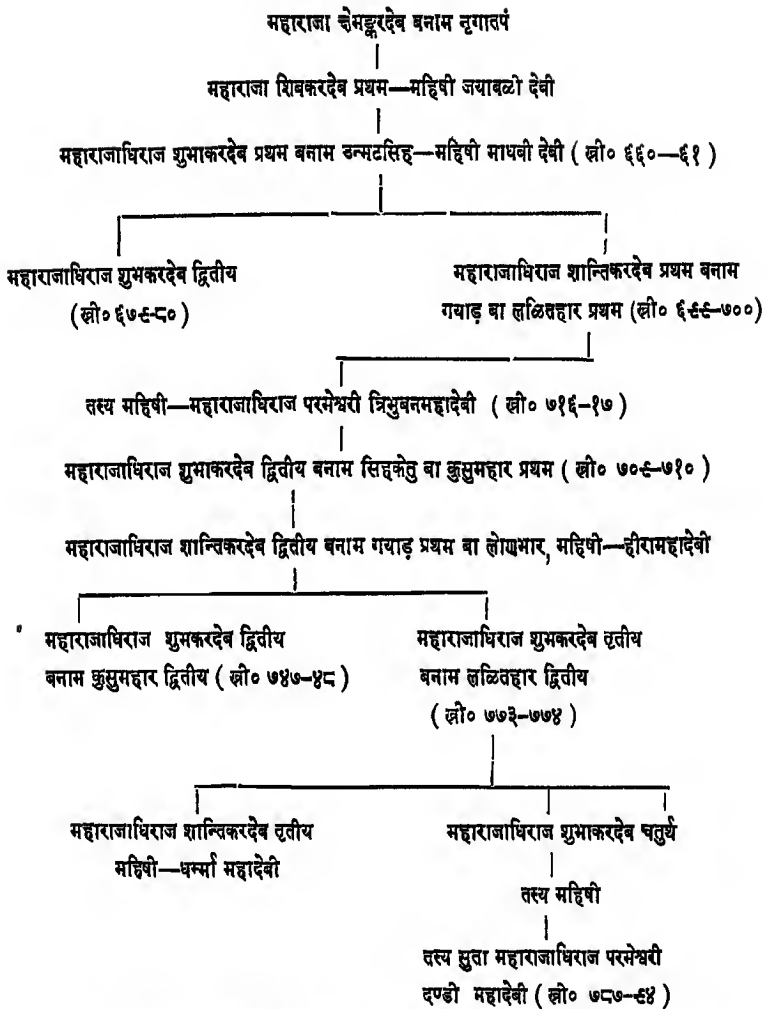
સોમવંશી રાજામાનહર સહિત શૈલોદ્રવંશી રાજામાનહર કિપરિ રાજનૈતિક સમ્બન્ધ થિલા તાહા સમસામયિક લિપિરુ ભુક્તા જાઝ નાહિં । પુનરુચ ધર્મરાજહર તામ્રશાસનરુ દેહાજાઝ અઙ્ગિ જે તાહુ, સહિત દક્ષિણ કોશઠર સોમવંશી રાજા તિવરદેવહર જુઝ હોઈથિલા । તિવરદેવ દ્વિટોય અટમ શતાબ્દિર શેષભાગર લોક વોલિ પ્રમાણિત હોઈઅઙ્ગિ । યહિ સબુ નૂતન તથ્ય શૈલોદ્રવંશી રાજામાનહર તામ્રશાસનરુ મિહુથિવા સત્ત્વે ઓદિશાર તત્કાલિન રાજનૈતિક ઇતિહાસ સ્પષ્ટરૂપે આસ્મમાનહર હૃદયજુમ હેઝ નાહિં । વિશેષતઃ સે સમયર મૂર્તિ-મન્દિરાદિર સમ્યક્ આલોચના હોઈ ન થિવાર આસ્મમાનહર ઇતિહાસ ધર્મા કેવલ કાલનિરૂપણ ઓ વંશવૃત્ત પ્રમુતિ કેતોટિ વાહક વિષયરે સમાપ્ત હોઈઅઙ્ગિ ।

(૨) સોમવંશ

સોમવંશી રાજા માને સાર્વભૌમ નૃપતિ થિલે મધ્ય માદ્યાપાણિરે લિખિત વિવરણરે સેમાનહર નામોલ્લેખ નાહિં । યહિ વંશીય રાજામાનહર મધ્યક કાહારિ કાહારિ પરમ સૌગત વા પરમ તથાગત વિકદ થિવાર તામ્ર-શાસનરે દેહા જાઝ અઙ્ગિ । યણુ સેમાને વૌદ્ધ ધર્માવલ્લભી થિલે, માત્ર દાનપ્રદિવા સબુ વ્રાહ્મણ થિલે । યથિરુ યહા ધરા જાઈ પારે જે અટમ ઓ નવમ શતાબ્દિરે વૌદ્ધધર્મ ઓ વ્રાહ્મણ્ય ધર્મ મધ્યરે કૌણસિ વિરોધ-ભાવ ન થિલા । ફરાસી પળિંઘ સિલ્લબૉ લેગ્હો દેહાઈ અઙ્ગનિત જે યહિ વંશીય રાજા—the king who does what is pure lion —શાન્તિકરદેવ (૧) ચિન સમ્રાટહુ સ્રી૦ ૭૯૦ રે સ્વહસ્તલિખિત 'અવતંસક' અન્ધર શેષાધ્યાય 'ગણ્ડવ્યૂહ' પુસ્તક વૌદ્ધ શ્રમણ-પુરુષહુ હસ્તરે વપહાર સ્વરૂપ પઠાઈથિલે । યથિરુ યહિવંશીય રાજામાનહર વિશેષત્વ ઓપલવિત્ત કરા જાઈ અઙ્ગિ । યહિ રાજામાનહર રાજત્વ સમયરે સ્થાપત્ય ઓ ભાસ્કર્જર વિશેષ ઓત્તિ સાધિત હોઈથિલા । કટક જિલ્લાર વડયગિરિ, જ્ઞાતિગિરિ ઓ રત્નગિરિરે જેઠં સબુ કીર્તિરે મહાવશેષ દેહા જાપ, સે સબુ યહિ રાજવંશ રાજામાનહર રાજત્વ સમયરે નિર્મિત હોઈથિવાર અનુમિત હુપ । મુવનેશ્વર પરશુરામેશ્વર પ્રમુતિ કેતેક મન્દિર ઓ જાજપુર કેતેક કીર્તિ યહિ સમયરે નિર્મિત હોઈથિલા । જણ્ડ-ગિરિ ઓ ધવજગિરિરે યહિવંશર રાજામાનહર શિલાલિપિ થિવાર માને હેઝઅઙ્ગિ જે ધર્મધર્મા લાગિ રાજામાને વિશેષ સ્તપર થિલે । હુયંસાહ્ બર્ણિત વાલ્મીકિ ઓ ચેલિસાહો વા ચરિત્ર પ્રમુતિ બન્દરગુફિક સોમરાજામાનહર રાજત્વરે વિશેષ સમૃદ્ધિશાહો થિવાર મધ્ય અનુમિત હેઝઅઙ્ગિ । મારત મહાસાગર દીપપુષ્પર કીર્તિર પ્રતિપક્ષ હેઝઅઙ્ગિ જે કલ્કઠર લોકમાનહર સહિત સે સ્થાનર લોકમાનહર માવર આદાનપ્રદાન ધરુથિલા ।

સોમવંશીય રાજામાનહર તામ્રશાસન ગુફિકર દેશર આમ્યન્દરીય અવસ્થા અનેકટા જુક્તાજાપ । રાજામાનહર કીર્તિકલ્પાર વર્ણનાર જાણાજાપ જે દેશર લોકમાને સુલ્લશાન્તિરે કાલ્પાતિપાત કરથિલે । રાજા-માનહરદત્ત પાત્ર મન્ત્રી આદિ થિલે ઓ સાસરિક શક્તિ પ્રબલ થિવાર વૈદેશિક આક્રમણરુ સહુજરે દેશરજ્ઞા હોઈ પારુથિલા ।

અઘાબધિ યહિ વંશર રાજામાનહર ૧૪ જણ્ડ તન્વાપટા મિલિઅઙ્ગિ । અધિકાંશ તન્વાપટારે જેઠં સંવત્ વ્યવહાર હોઈઅઙ્ગિ તાહા હર્ષસવત્ વોલિ પળિંઘ વિનાયક મિશ્ર સ્થિર કરિઅઙ્ગનિત । યહિ રાજામાનહર રાજ્ય સૌષ્ઠ્યવોલિ કથિત હોઈથિલા ઓ વાહા ઉત્તર ઓ દક્ષિણ મેદરે વિમક્ત થિલા । રાજશેષરહર 'કાવ્યમીમાંસા' રે પ્રાચ્યદેશ મધ્યરે તોષક રાજ્યર નામોલ્લેખ અઙ્ગિ । યમાનહર રાજધાની ગુહદેવ પાટક આધુનિક જાજપુર નિકટરે થિલાવોલિ સ્થિરીકૃત હોઈઅઙ્ગિ । સમસ્ત તન્વાપટા ગુફિકર નિન્નજિલિખિત નામાવલિ મિલુઅઙ્ગિ વોલિ પળિંઘ વિનાયક મિશ્ર સ્થિર કરિ અઙ્ગનિત । (Dynasties of Medieval Orissa, p 101)



एहि राजामानङ्कर राजस्वकाळरे शैळोद्भव, (ए वंश सम्बन्धे पूर्वे बोला जाइ अछि) उल्लू, नन्द, शुळ्की, भण्ण प्रभृति वंशर राजामानङ्कर वाग्रासन गुडिकरे शशाङ्कदेवङ्क परि भौमवंशीय राजामानङ्कर नामोल्लेख न थिबार सार्वभौम राजामानङ्क सहित सेमानङ्कर सम्बन्ध किपरि थिला बुझा जाइ नाहि । केवळ ढेंकानाळर मिठि थिबा जयसिंहङ्कर तन्नापटार जणा जाइ अछि जे जयसिंह एक भौम राजाङ्कठार 'पञ्चमहाशब्द' सामन्त पदवी पाइ जमगर्तमण्डळरे 'सकळ गोन्द्रभाषिपति' होइथिले । अन्यान्य राजवंशीय नृपतिमाने एपरि बइयता स्वीकार करि-थिबार कथा कौणसि वाग्राफळकरे उल्लेख नाहि ।

(ક) તુલ્યવંશ

તુલ્યવંશીય રાજામાને રોડાસગઢરુ (રોહિતાસ ગિરિ) આસિ જમગર્તમણ્ડલરે 'અષ્ટાદશ ગોન્દ્રમાધિપતિ' હોઈથિલે । પૂર્વે બોલા જાઈ અછિ જે જયસિંહ પહિ જમગર્તમણ્ડલરે 'સકલ ગોન્દ્રમાધિપતિ' થિલે । રોહિતાસગિરિરુ આગત શાળિહલ્ય ગોત્ર જગસુંગઢુ ઉક્ત જયસિંહ સહિત એકથિવાર અનુમાન સહજ । પહિ વંશર તિનિ લખંડ તન્નાપટારુ જેડે નામાવલિ મિલ્યઅછિ તલે વાહા દિઆ ગલા ।

જગમુલ્લુ બા લગ્નતુલ્લુ

|
રાણક વિનીતતુલ્લુ|
સાલણતુલ્લુ|
ગયાદતુલ્લુ

(લ) નન્દવંશ

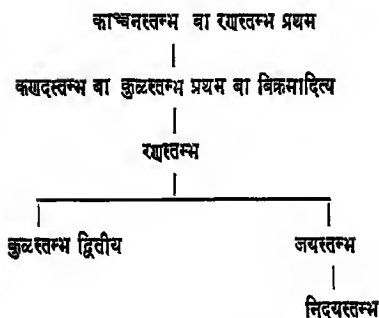
નન્દવંશ રાજામાનકરુ દુડુ લખિમાત્ર વાત્રશાસન મિલિઅછિ । યમાને ધેરાવટ મણ્ડલરે રાજત્વ કરથિલે યમાનકરુ રાજયાની જયપુર થિલા । ધેરાવટ મણ્ડલ મહાનદીર દક્ષિણ તીરવર્તી બાંકિ, નયાગડ, રણપુર પ્રમુતિ અન્ધલરે વિસ્તૃત થિવાર અનુમાન પળિલ વિનાયક મિશ્ર કરિઅછન્નિ । પહિ વંશર રાજામાને "ગોન્દ્રમાધિપતિ" બોલાનથિલે । પહિ રાજામાને બૌદ્ધ થિવાર ટાકરુ "પરમસૌગત" વિરુદ્ધ પ્રતિપક્ષ હેઠઅછિ । તન્નાપટા ગુફિ-કરુ નિમ્નલિલિત નામાવલિ મિલે ।

જયાનન્દદેવ

|
પરાનન્દદેવ|
શિવાનન્દદેવ|
દેવાનન્દ બા ધ્રુવાનન્દદેવ

(ગ) સ્તમ્ભ બા શુક્કીવંશ

પહિ વંશર રાજામાનકરુ સર્વસુદ્ધા ૬ લખંડ તન્નાપટા મિલિઅછિ । સલુગુફિક કોદાલક નગરુ દિઆ જાઈથિલા । 'કોદાલક' મણ્ડલ ત્રાહણી નદીર કુલે કુલે વિસ્તૃત થિવાર પ્રમાણ મિલે । ઢંકાનાલ રાજ્યર અન્તર્ગત 'કોઆલુ' ગ્રામ પ્રાચીન 'કોદાલક' થિવાર અનુમિત હુય । તલે રાજામાનકરુ નામાવલિ દિઆ ગલા ।

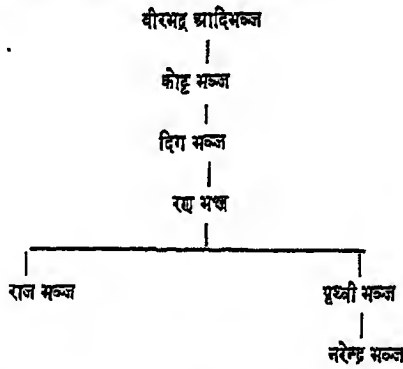


(ઘ) મહાવંશ

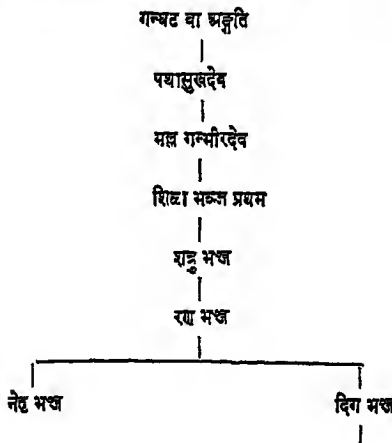
અઘાવધિ મહાવંશીય રાજામાનદ્વર ૨૬ લખ્ઠ તમ્બાપટા મિલિઅછિ । સર્વ પ્રાચીન મજ મહારાજા નેટ મજ અનગુલ પત્તન (આધુનિક અનુગુલ) ર તામ્રશાસન દાન કરિયિલે । ઇહિ તમ્બાપટાર સમય સ્ત્રી ૦ ૭૦૩ સાલરે પહુ-અછિ તત્પરે ૨૨ લખ્ઠ તમ્બાપટારે સિંજલિ મળ્ઠલર રાજામાનદ્વર દાનોલ્લેલ અછિ । આધુનિક ગજામ જિલાર ધુમુસર ઓ બૌદ-સોનપુર ઓ દશપદ્મા પ્લેટ ઘેનિ સિંજલિ મળ્ઠલ વિસ્તૃત થિલા । ઇહિ સિંજલિ મધ્ય “ઉમય સિંજલિ” બેલિ કથિત હેઠથિલા । સમ્ભવતઃ પ્રત્યેક સિંજલિરે ગોટિયે કરિ મજરાજવંશ સ્થાપિત હોઈ બૌદ ઓ ધુમુસર રાજ્ય સૃષ્ટ હોઈથિલા । સિંજલિ મળ્ઠલર રાજધાની પ્રથમે “ધૃતિપુર” થિલા । પરે પ્રત્યેક-સિંજલિર રાજધાની “ધૃતિપુર” ઓ “વિજ્ઞાન” હેલા । “ધૃતિપુર” બૌદ અજ્ઞલરે ઓ વિજ્ઞાન ધુમુસર અજ્ઞલરે થિબાર અનુમિત હુપ । પરે બૌદર રાજધાની “ગન્ધર્વવાહિરે” ઓ ધુમુસર રાજધાની “કોલાહરે” હોઈથિલા । દક્ષિણ ઓદિશાર અન્યતમ મજરાજ્ય દશપદ્મા કિપરિ સ્થાપિત હોઈથિલા તામ્રશાસનાદિર તાહાર કૌણ્ઠિ વિવરણ મિલે નાહિ । બૌદ, ધુમુસર ઓ દશપદ્મા ઇહિ વિનોટિ રાજવંશર ગોત્ર કાશ્યપ । કનક મજદ્વર તામ્રશાસનર દેલા જાપ જે તાહાર ગોત્ર કાશ્યપ થિલા । ઓદિશાર સમસ્ત મજવંશ ઇકવંશ-સમ્ભૂત હેલે મધ્ય ગોત્ર પ્રમેદર કારણ બૌદ રાજવંશર કિન્વદન્તીરે ઢલ્લેલ અછિ । દક્ષિણ ઓદિશાર પ્રાપ્ત મજ તામ્રશાસનરે મજવંશ “અળ્ઠજવંશ પ્રમવ” થિબાર કથા ઢલ્લેલ અછિ । કિન્વદન્તીર કથા જાપ જે બૌદ મજવંશ મયૂરમજર મજવંશર શાલા-વિશેષ । ઇહુ મયૂરમજર મજવંશર ગોત્ર વશિષ્ઠ હેલે મધ્ય અળ્ઠજવંશ પ્રમવ હેબાર કથા । મયૂરમજર વ્રાહ્મણ બાટોર મિલિથિલા । તામ્રશાસનર દેલા જાપ જે વીરમદ્ર આદિમજ “મયૂરાળ્ઠજ” ઓ “વશિષ્ઠ યુનિ પ્રતિપાલિત” નૃપતિ થિલે । મયૂરમજર જેઠ વિનોટિ તમ્બાપટા મિલિ અછિ સે ગુદિક સિંજલિકોટ (આધુનિક સિંજલિક) રાજધાનીર દિશા જાઈથિલા ।

ઓદિશાર મજવંશીય રાજામાને સૂર્યવંશીય જ્ઞત્રિય બેલિ પરિચિત । ભારતપ્રસિદ્ધ મૌર્યવંશ સૂર્યવંશ થિબાર ઓ મયૂરાળ્ઠજ થિબાર પ્રમાણ બલરે પળિત વિનાયક મિત્ર ઇહિ સિદ્ધાન્તકુ આસિઅછિન્તિ જે ઓદિશાર મજવંશ મૌર્યવંશ-સમ્ભૂત । હંટર સાહેબજી લિલિલ ઇતિહાસર જઠાજાપ જે મયૂરમજર રાજવંશ ૨૦૦૦ વર્ષ પૂર્વે સ્થાપિત હોઈથિલા । સે કથા જાહા હેઠ બા ન હેઠ નેટ મજજી તામ્રશાસનર વેશ હુકા જાઠ અછિ જે ઓદિશારે મજવંશ અષ્ટમ શતાબ્દિ ઠાર નિરવચ્છિન રાજત્વ કરિ આસુ અછિન્તિ ।

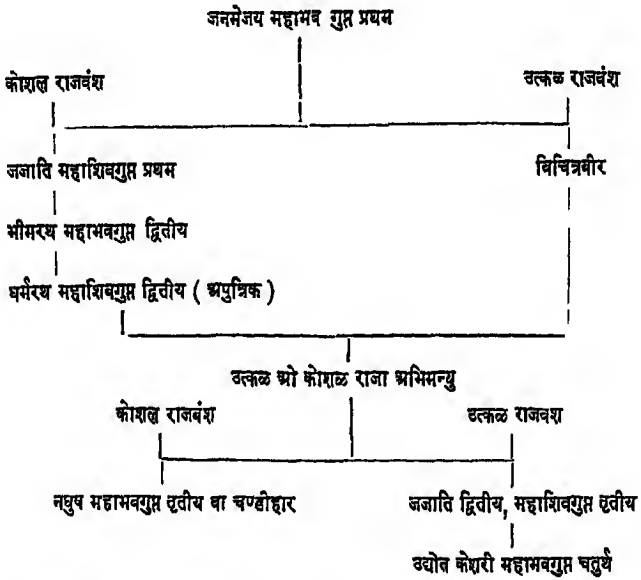
मन्धराजा मानङ्कर राजधानी गुड़िक मध्यत खिचिङ्गर ओ गन्धराढी वा गन्धर्ववाङ्गीरे बहुत प्राचीन कीर्ति थिबार जणा जाइ अछि । रणभञ्ज खिचिङ्गर प्रदत्त ताम्रशासनटि सबस शताब्दिर शेव भागरे अर्थात् ख्री० ८६४—६५ रे लिखित होइथिला । खिचिङ्गर प्राचीन स्थापत्य ओ केवल भास्करन्य ओड़िशा काँहिकि भारतवर्षरे मध्य स्थान पाइआछे । रेने ग्रोसे (Rene Groset) कर “प्राच्य सभ्यता” र (Civilization of the East) पुस्तकरे खिचिङ्गर भास्करन्यक “मयूरभञ्ज कला” (Mayurbhanj school) आख्या दिआ जाइअछि । गन्धराढीर मन्दिरादि मध्य अष्टम शताब्दिर कार्य होलि स्थिरीकृत होइअछि । समसामयिक भोमराजाभावङ्क व्यतीत अन्य कौणसि राजवंश ओड़िशारे एपरि स्थापत्य वा भास्करन्य कीर्तिर पृष्ठपोषक थिबार जणाजाव नाहि । निम्न-लिखित राजामाने खिचिङ्गरे राजत्व करथिबार ताम्रशासनरे उल्लेख अछि ।



निम्नलिखित राजामाने लिखिकि मण्डळरे राजत्व करथिबार कथा ताम्रशासन गुड़िकरे उल्लेख अछि—



आलोचना करि जावतीय ऐतिहासिक जटिलता दूर करिथिबार पण्डित विनायकङ्क नाम उत्कळर इतिहासरे चिर-स्मरणीय हेव । एहि सत्रुर आलोचनार देखा जाठ अछि जे सादळापाछिरे लिखित राजामानङ्क राजत्वकाळ ठोक न थिले मध्य केंडेंवंश परे केंडेंवंश राजत्व करिथिले ताहार धाराबाहिक विवरण लिखित थिबार अनुमित हुए । तन्वापटा गुढिकर ओ शिळालिपिर प्राप्त एहि वंशर राजामानङ्कर नाम दिआ गला ।



जनमेजय महाभवगुप्त प्रथमङ्कर ३१ संवत्सर (एपिग्राफिया इंडिका तृतीय भाग) साम्रशासनरे देखा जाए जे से 'त्रिकलिङ्गाधिपति' ओ 'कोशलेन्द्र' थिले । आठ महाशिवगुप्त जजाति द्वितीयङ्कर मुरजमरा साम्रशासनर (विहार ओड़िशा रिसर्च जर्नल—द्वितीय भाग) देखा जाए जे से 'कलिङ्ग—कोङ्कदेवोत्कळ-स्वयम्बर प्रसिद्ध' ओ कोशलेन्द्र थिले । एथि 'कोशल' बाद देले कलिङ्ग, कोङ्कद ओ उत्कळ बेनि से समयरे त्रिकलिङ्ग राज्य अभिहित हेव थिबार अनुमान करा जाइ पारे । एथिरे किन्तु भोमराजामानङ्कर तोषळ राज्यर इस्तेख नाहिँ । तेछु बोछु हेउअछि जे उत्तर तोषळ उत्कळ ओ दक्षिण तोषळ कोङ्कद नामरे परिचित हेवथिला । एहि जनमेजयङ्कर राजत्वकाळर आरम्भ दशम शताब्दिर आरम्भरे धरा जाइ पारे । भोमवंशर दण्डी महादेवीङ्कर राजत्व हर्षाब्दमसरे बड़जोर नवम शताब्दिर प्रथम पादर शेष पर्वन्त धरागले मध्य उभयङ्क मध्यरे प्राय १०० वर्षर व्यवधान थिबार देखा जाठ अछि । जदि भोमवंशर राजामानङ्कर सम्वत हर्ष सम्वत न हुए, तेवे अनुमान करा जाए जे से दण्डी महादेवी वा ताङ्कर परबर्ती कोहि दुर्बल राजा जनमेजयङ्क द्वारा परामृत होइथिले । कारण एहि समय मध्यरे अन्य कौशसि राजसक्रवर्ती वंशर अस्थित्वर निदर्शन एपर्कन्त मिलिनाहिँ ।

જનમેજય ત્રિકલિંગ્ગ અધિકાર કરી કટક નિકટવર્તી ચંદ્રદ્વાર ઠારે રાજધાની સ્થાપન કરીથિજે કારણ ચંદ્રદ્વાર સ્થાપિતા જનમેજયદ્વ નામ અઘાપિ જનશ્રુતિરુ ઓ માદલાપાખિજર ગણાજાયે । ચંદ્રદ્વાર કપાલેશ ગ્રામરુ જનમેજયદ્વર ર્ણિષ્ટ વાત્રાશાસનમધ્ય મિલિઅછિ । ચંદ્રદ્વાર ઓદિશાર પશ્ચકટક મધ્યરુ ગોટિષ કટક ।

ઈ સોમવંશી કોશરીવંશર રાજામાનદ્વર રાજધાની મધ્યરુ 'સુવર્ણપુર' આધુનિક સોનપુર બોલિ નિર્ણયિત હોઈઅછિ । યઠારુ જનમેજય પ્રથમે વાત્રાશાસન દાન કરિ થિલે । વાદ્વર અન્યાન્ય વાત્રાશાસન ગુદિક 'વિજય સ્કન્ધા-વાર' વા 'વિજય કટક' રુ દિશા જાઈથિજા । જજાતિ પ્રથમ પ્રથમે 'વિનીતપુર' રુ ઓ શેષરે 'જજાતિ નગર' રુ દાન કરિથિલે । કિન્તુ જજાતિ દ્વિતીય સુવર્ણપુરુરુ દાન કરિ અછન્તિ । યદ્યોત કોશરીક વાત્રાશાસન જજાતિ નગરુ મધ્ય પ્રદત્ત હોઈથિજા । રાયવાહાદૂર હીરાલાલ સોનપુર રાવ્યર આધુનિક વિદ્વા સહિત વાત્રાશાસનોક વિનીતપુર વા જજાતિનગર એક બોલિ કહિ અછન્તિ । વિનીતપુર વિદ્વા હોઈપારે, માત્ર જજાતિનગર કદાપિ વિદ્વા હોઈ ન પારે । જજાતિનગર કુ સમ્બલપુર અશ્વઘરે વા કોશઘરે ન લોજિ સમુદ્ર ડપકૂલવર્તી ઓદિશારે અન્વેષણ કરા સજ્જત ।

• સોમવંશી રાજા માનદ્વર રાજધાની 'ગુદદેવ પાટક' જાનપુર ઠારે થિજા બોલિ પળિટ વિનાયક મિશ્ર સ્થિર કરિ અછન્તિ । બોધ હુષ કેસરીવંશર રાજા માનદ્વર 'જજાતિનગર' પરે 'જજાનગર' હોઈ 'જાજનગર' હેલા ઓ વર્તમાન 'જાનપુર' હોઈઅછિ । મુષલમાન ઇતિહાસિક માને ઓદિશાકુ જાજનગર નામરે અમિહિત કરુ થિલે ।

ગદ્ગવંશર રાજરાજદેવ ૬૬૦ શકાબ્દરે (સી૦ ૧૦૭૫ રે) ઉત્કલ અધિકાર કલે । રામચરિતર

'ઉત્કલેશ કર્ણકેશરી' રામપાલદ્વર વરચવા સ્વીકાર કરિ રચા પાઈ થિલે મધ્ય શેષરે રાજરાજદ્વ ઠારે પરામૂત હોઈઅ-વાર અનુમાન હેવઅછિ । ઇહિ કર્ણકેશરી કિ માદલાપાખિજર સુવર્ણકેશરી ?

માદલાપાખિજર અનુસારે જજાતિકેસરી સોનપુરુરુ પ્રોથિત જગન્નાથદેવંકર મૂર્તિ ઉદ્ધાર કરિ પુરીરે પુનઃ પ્રતિષ્ઠા કરિથિલે । વર્તમાન દેશા જાઝઅછિ જે જજાતિ દ્વિતીયદ્વર સુવર્ણપુર વા સોનપુરરે રાજધાની થિજા । ઓદિશા અધિકાર પરે સોનપુર ઠારે જગન્નાથદેવદ્વર મૂર્તિ પોતા થિવાર શુણિ મૂર્તિ ઉદ્ધાર કરિવારે મન બઢાઈવા જજાતિદ્વ પન્નરે સ્વામાવિક । માત્ર ઇથિપૂર્વે કેઈ જબન આહ્યાધારી રાજા સમુદ્રપથરે ઓદિશા આક્રમણકરિ શતાધિક વર્ષ રાજત્વ કરિથિલે ? બૌદ્ધધર્માબલ્લન્વી સોમવંશર રાજામાનદ્વર કિ માદલાપાખિજર લેલકમાને જબન આહ્યા દેઈઅછન્તિ ? પરમસૌગત શુભાકર પ્રથમ કોજ્જદ અધિકાર ન કરિ કદાપિ કલિંગ્ગ અધિકાર કરિ ન થિજે । તેવે સેહિ અમિ-જાનરુ રચા કરિવા લાપિ જગન્નાથદેવદ્વર મૂર્તિકુ કિ પુરીર પળ્હામાને સોનપુરરે નેહ પોતિ પકાઈથિલે ? ઇહિ સજ્જુર સમાધાન ન હેવા જાઈ માદલાપાખિજર કિન્વદન્તી કિન્વદન્તી આકારરે રહિથિવ । માત્ર સમસામયિક લિપિરુ સપ્તમ શતાબ્દિ ઠારુ દ્વાદશ શતાબ્દી પર્યન્ત સમય મધ્યરે ઓદિશાર રાજનૈતિક ઇતિહાસર સામગ્રી જાહા મિલિઅછિ, તદ્દ્વારા ઓદિશાર ૫૦૦ વર્ષર ઇતિહાસ માદલાપાખિજર વિવરણ ઠારુ એકાબેઠકે નૂતન હોઈઅછિ ।

How Scholars Were Honoured in Ancient India

श्रीयुत चिन्ताहरण चक्रवर्ती, कलकत्ता ।

[प्राचीन भारतवर्ष में विद्वानों का सम्मान करना राजाओं का एक कर्तव्य समझा जाता था । राजशेखर की काव्य-मीमांसा के 'कवि-चर्या' और 'राजचर्या' नामक प्रकरण इस विषय पर प्रकाश डालते हैं । राजशेखर ने लिखा है कि राजा को चाहिए कि वह विद्वानों और कवियों का आदर-सत्कार करे । उन्हें दान-दक्षिणा दे कर विद्या का प्रसार करने में सहायता पहुँचावे तथा अपनी राजसभा में इस प्रकार के कवियों और विद्वानों को इकट्ठा करे । समीपस्थ में बैठ कर उन से काव्यालाप करे, विदेशों के भी बड़े-बड़े विद्वानों को अपने यहाँ निमन्त्रित किया करे । यह राजशेखर की कल्पना ही नहीं बस ने कितने ही ऐतिहासिक उदाहरण भी दिए हैं, जैसे बाणभट्ट, सातवाहन, शुङ्ग, साहस्रगुह आदि । उज्जैन और पाटलीपुत्र में कवियों और शास्त्रकारों की परीक्षा होती थी । बस का उल्लेख भी राजशेखर ने किया है । रामरोज की यह बात दूसरे आचार्यों से भी सुट होती है ।]

The practice of giving public reception and honour to distinguished scholars is not a new institution of modern civilisation. Scholarship thrived in ancient India under the patronage of kings and wealthy men of society, who occasionally honoured them publicly and made valuable presents to them. Attempts were made by kings and landlords to secure at their courts reputed scholars, who were maintained in right royal fashion. Valuable gifts were offered to scholars on the occasion of funeral ceremonies and festive observances by all rich men, many of whom even maintained schools where students not only received free education but free boarding and lodging as well. Innumerable copper plates that have already been brought to light record the grant of tracts of land to Brahmin scholars by kings for the increase of their fame and religious merit. These acts served as sources of great encouragement to the growth and development of scholarship in the land. It is true some of the rich men of the present day also follow, to some extent at least, in the foot-steps of their forefathers, but their number is unfortunately dwindling.

Rendering all possible help and giving encouragement to scholars were regarded as part of the duties of kings and wealthy men. Rājasekhara, in his *Kāvyamīmāṃsā* (in the section entitled *Kavīcaryā* and *Rājacaryā*), thus indicates the duties of a king with respect to poets and scholars.

"A king," says he, "should found an Association of Poets. He should have a hall for the examination of poetical works. Here he should be seated at ease

and introduce poetic discourses and tests. The scholars at his court should be satisfied (by the honour shown by him) and maintained (at his cost). Deserving people should be awarded rewards. Exceptionally good poems or their authors should be properly honoured. A king should make arrangements for establishing contact with scholars come from other lands, and show honour to them as long as they stay in his dominions. Scholars eager for some stipends should be persuaded to stay at his court, for the king, like the ocean, is the sole repository of jewels. Subordinates of the king should also imitate him in this matter as in others."

There is no reason to suspect that Rājasekhara has only given the picture of an imaginary state of things, that he has referred to an ideal king and the duties indicated by him existed only in his imagination. He has himself mentioned the names of several historical kings like Vāsudeva, Śatavāhana Śūdraka and Śahasākha, who are stated to have made gifts to, and honoured, scholars. He has recorded a tradition regarding the examination of poets at Ujjain where Kālidāsa, Menṭha, Amara, Rāpa, Śara, Bhāravi, Haricandra and Candragupta are stated to have been examined. He has recorded one more tradition regarding the examination of scholars at Pāṭaliputra (Patna) where Upavarsa, Varsa, Pānini, Piṅgala, Vyāḍi, Vararuci and Patañjali were examined, and earned fame.

Besides, we have more than one reference in old works of the actual state of affairs. Reference has already been made in general to the grant of tracts of land and other kinds of help rendered by people in affluent position to persons engaged in the laudable task of the pursuit and dissemination of knowledge. We shall give here some definite instances. A systematic study of the topic would yield valuable information regarding the cultural life of the country in general and many a king in particular. It may be stated seriously that there scarcely was a scholar who did not enjoy the patronage of some rich men. Here we shall refer to the type of honour shown and the kind of presents made to scholars.

Vaidyanātha Pīyagunde in his commentary on the *Sūryasataka* records how Harsavardhana presented to Mayūra the poet, who composed the *Sūryasataka*, elephants, horses, villages, cloths, ornaments, swings,¹ buildings and other things. Dhoyi, court poet of Lakṣmanasena of Bengal, states in one of the concluding verses of his *Pavanadātam*, how he received from the king a number of elephants,

(1) Swings were much in use in ancient India among fashionable people and poets, who were greatly fashionable as appears from the description of their mode of life by Rājasekhara in the *Kavīcaryā* section of his *Kāvya-mīmāṃsā*.

श्रीलक्ष्मणी कुमरिय विक्रमबाहु रजुदद सुगलानम् कुमारिय सिरिवल्लभ कुमारयादद विवाहकरदेनलद्वेय । सुगला-
देविकेगे पुत्तू मायाभरख कुमारया रुहुण्ण रट्ट अघिपतिव पराक्रमबाहु रजुद विरुद्धव बोहे सट्ठकळेय । सिरिवल्लभ
कुमरहुगे पुत्रयो आर्यवश्यद अयत्तव्वोययि महावंशयेहि सँदहन्वे । सिरिवल्लभ कुमारया जगतीपालनम् आर्य-
वंशिक हेवत् राजपुत्रजातिक चत्रियक्कुगेन् पैवत्तपुन कुमरियक् विवाह करगत् हेयिन् ओहुगे पुत्तुन् आर्यवंशिकयन्
व्वोययि सितिय हैकिय । मे कालयेदी लङ्कावे राजकुमारवर स्वकीय मवगे वंशयेन् प्रकटव्वोययि सितीमट करुण्ण
विनेत् । मेय कसेवेवत् मे कालये लङ्कावे अघिपतिकम् कळ रजदरुवन् आर्य हेवत् राजपुत्रवशिकयन्ट सम्बन्ध-
तावयक् एत्तिव् वव निश्चयवे ।

विजयबाहु रजुगे पुत् विक्रमबाहु रजु कालयेदी आर्यदेशयेहि उपन्, पल्लदीपनम् प्रदेशयट अघिपतिव्,
वीरबाहु नम् अयेक् लङ्काद्वीपय अत्तपत्तकरगत्तु कैसैत्तेन् महत्तू भटसेनावक् सहितव महत्ताटट गोहवैस्सेय । विक्रम-
बाहु रज ओहु हा युद्धकरत्तु सँदहा मन्नारमत गियेय । मेहिदी हटगत् युद्धयेन् विक्रमबाहु रजु पैरदियेन् वीरबाहु पोळ्ळोन्-
नरुण्णयट गोस् एय अत्तपत्तकरगत्तेय । विक्रमबाहु रजु हत्तसार वत्तूद रगेन कोटसर नम् दनव्वट पळागियेय ।
विक्रमबाहु रजु लुह्वै द गोस् वीरबाहु महाकर्दम् दुर्गयेक्हि सिंहळरजु हा युद्धकोट पैरद जीवित्तयटट पैमिळियेय ।
मेहि सँदहन् वीरबाहु आर्यदेशयेहि उपन्नेकययि कियन लद्वेय एहेयिन् ओहु वट्ठर इन्दियवे सिट पैमिळियेक् विययु-
त्तिय । एत्तकुटुव्वत् ओहु राजपुत्रवशिकयेकिय निश्चय करगेन्मत तरम् कारणयक् नोमेत्तिव । ओहुगे आधिपत्यय
पैवति पल्लदी पनम् प्रदेशय कुमर्येयि वीरणय करगेन्मत तुप्पुव्वन ।

मिन्पसुव आर्य हेवत् राजपुत्रजनयन् लङ्काइतिहासयेहि सँदहन्वन्ने दँवदेनि राजधानिय समयेहिदीय ।
दँवने पराक्रमबाहु रजुगे पुत् सत्तरवेनि बेासत् विजयबाहु रजु सिंहासनारुढवी दँवुरुद्धक्, गियपसु मित्र नम्
राजद्रोहि सेनाधिपतियेकुविसिन् ए मिहिपल्लेमे सरवनलद्वेय । रजुगे मल्लू भुवनेकबाहु कुमारया सत्तुरन्
अत्तिन् मिदी लुह्वै द एन्ननन्ट अमुनोवी थापव् दुर्गयट गोस् वन्नेय । इन्पसु मित्र नम् सेनाधिपतिया राजाभरण-
येन् सेरेही रजमालिगाव तुजट गोस् सिंहासनारुढव सेनावट तमा दँक्कीय । सेनावट पडिदीमेन तमाट पत्त-
पात्त करगत्तु सँदहा पन्मुकोट आर्यमटयन्ट पडिदीमट सैरसुण्येय । ठक्कुरक् नम् ओहुवगे नायकया पडि प्रवि-
त्तेपकोट पन्मुकोट सिंहलसेनावन् वेत्तनदामयेन् संग्रहकटयुत्तययि पिळितुरुद्धुन्नेय । सिंहलमटयन् किसिन्
नोकिया पडि पिळिगत्त पसु नैवत्त आर्यमटयन्ट पडिदीमट सैरसुण्णळ ठक्कुरक्तेमे नैवत्त प्रविच्चेप कळेय । सीट
कारणा कवरैदियि विचारनलदिन् रजु इदिरिये कियम्हयि कौकळ ठक्कुरक् प्रधानकोट एति आर्यमटयो सिंहासना-
रुढव् मित्र सेनाधिपतिया इदिरियट गेनयनलद्वेय । ठक्कुरक्तेमे मित्रसेनेविया इदिरिपिट बुहुमन् सहितवमेन्
मोहोत्तक् सीट तमागे भटयन्ट सँज्ञाकोट तियुत्तू कडुव एद एकपहरिन्म मित्रसेनेवियागे हिस कपाहेत्तेय । एविट
महत्त अरणलयक् हटगत्तेय । “मे पा पीव् क्रियाव कुमट कल्लेदँ”यि कियमिन् सिंहलसेनावो ठक्कुरकयाट तर्ज-
नय कळेय । निर्भयव् ठक्कुरक्तेमे थापहुत्तुर सिटिना भुवनेकबाहु रजुगे नियोगयेन् करनलदियि कौय । मिन्-
पसु सिंहलसेनावो ठक्कुर प्रधान आर्यमटयन्ट एकत्तुव थापहुत्तुरट गोस् भुवनेकबाहु कुमारया राव्ययट
पत्तकोट अभियेक् कळेय ।

लङ्कावे राजपुत्रजनया

श्रीयुत पर्ववितान, पुरातन-विभाग, सिंहल ।

चतुर इन्दियावे राजपुत्रजातिकयन् हा लङ्कावे अतर एतैस् कालवलदी किसियम् सम्बन्धकम् पवसिबैव् पनेन्ट तिबे । मे सँदहा मे वनतुर दैनगन्ट लैवीतिबेन करण् संप्रहकोट दैवीम मे लिपियेहि अदहस वे ।

महावंशय आदी लङ्कावे इतिहासप्रन्थयन् हि राजपुत्रजनयन् सँदहनवी तिबेन्ने आर्ययन नामयेन्य । मे नामय राजपुत्रजनयन्ट व्यवहारकरनु लैवीय किया पळमुवेन् पन्वाहुन्ने लङ्कावे इतिहासय सम्बन्ध श्रेष्ठ दैनीमक् ऐति एच् ० डब्लिच् ० कोट्टरिन्टन् महाता विसिन्य । आर्य यन नामयेन् सामान्यवश्येन् चतुर इन्दियावे जनयन् गतहैकि नमुत् मेय सँदहनवेन बोहोतेन्दिम राजपुत्रजनयन् सम्बन्ध बैव् निश्चय किरिमट करण् तिबे । सिंहल-जनयोद आर्यवर्गयट अयत्य । एतकुदुवूवत आर्य यन नामय पसुकाल्येहिन् लङ्कावे लियविल्लिवल चतुर इन्दियावे जनयाट पमक्क व्यवहारकिरीम, द्रविडयन्गे व्यवहारय अतुव वीययि सितिय हैकिय । आर्य हेवत् राजपुत्रजातिकयेक् पळमुकोट लङ्काइतिहासये सँदहनवन्ने एकळोसूवैनि शतवर्षयेदीय । मे कालयेहिदी सिंहलराज्यय सोळीन् विसिन् विनाशकरन लदुव लङ्काद्वीपयेन् वैडिकोसक् चोळारन्ययट वशंगव पँसेत्तेय । मेसे पवत्ता अतर रामरजहुगे वंशयेन् पववएन् जगतीपाल नम् चत्रिययेक् अयोध्यापुरयेन् लङ्कावट अतुत् एवकट लङ्कावे प्रदेशयक् अधिपतिकम् कळ विक्रमपण्डु नम् द्रविड रजकु ससग युद्धकोट ओहु नसा रुहुण्ट सतर हवुरुदक् राज्यय कळ ववद, इन्पसु सोळीन् ओहु मरा ओहुगे मेहेसियद दूकुमारियद धनयद सोळीरट गेनयनलद ववद महावंशयेहि सँदहनवे । दकुण् इन्दियावे शिलालिपिवलद मे प्रवृत्तिय मीट मँदक् वेनस्व दक्वा तिबे । चतुर इन्दियावेन् लङ्कावट आ कुमारया जगतीपाल नाव वीरशलामेघन् नम् वीययिद ओहु आवे कान्यकुञ्ज नगरयेन् ययिद एहि सँदहनवे । सोळीन् विसिन् ओहु पराजयकळ अयुरुद, मेहेसिय हा हुव सोळीरट गेनगिय सँटिद महावंशये कियनलद प्रकारम मणिमङ्गलम् नम् स्थानयेहि वू राजाधिराजनम् सोळी-रजुगे शिलालिपियेक् किया तिबे । महावंशयेहि सँदहन जगतीपाल दुकुण् इन्दियावे लिपिवल एन वीरश(१)ला-मेघन्य यनु आचार्य हुल्टप् महतुन्गे मतयेव ।

मे कालयेदी कान्यकुञ्ज (कनवुज्) नगरयद अयोध्यानगरयद राजपुत्रजातिक चत्रियन्ट अयत्वं विवू-हेयिन् लङ्काद्वीपयट मे प्रदेशयेन् अतुत् रजकळ जगतीपाल हेवत् वीरशलामेघन् राजपुत्रवंशिकयेक् विययुतुयि ।

क्रि० व० १०५८दी विजयबाहुनम् सिंहल कुमारयेक् लङ्कावेन् सोळीन् नेरपा मे द्वीपयेहि आधिपत्यय नैव-तत् सिंहल रजुन् सन्तक केळैय । विजयबाहु रज राज्यकरन कळ सोळीरट सिट जगतीपाल रजहुगे मेहेसिय हा दूकुमारिय सोळीन् अतिन् मिदी लङ्कावट पेमिणियोय । विजयबाहु रज ओतुन्गे वंशप्रवृत्तिय अस्ता अतुम् वशयेहि उपनन् वज्जैन लीलावती कुमारिय तमगे मेहेसिय केळैय । ए मेहेसियगेन् विजयबाहुऋजुट यशोधरानम् हुवक् विय । ओतोमो वीरवन्मनम् कुमरेकुट सरणपावादेनलदिन् लीलावती हा सुगलानम् दून् ददेन्नेकु वेदुवाय ।

लोलारवतीं कुमारिय विक्रमबाहु रजुदद सुगलानम् कुमारिय सिरिवल्लभ कुमारयादद विवाहकरदेनलददेय । सुगला-
देविये मुत्तू मायामरख कुमारया लुहुण्ड रटद अविपत्तिव पराक्रमबाहु रजुद विरुद्धव बोहो सट्ठकळेय । सिरिवल्लभ
कुमारहुणे पुत्रयो आर्यवशयद अयत्तूवोययि महावंशयेहि सँदहन्वे । सिरिवल्लभ कुमारया जगतीपालनम् आर्य-
वंशिक हेवत् राजपुत्रजातिक अत्रिययक्कुगेन पैवतपुन कुमारियक् विवाह करगत् हेयिन् ओहुणे पुत्तु आर्यवंशिकयन्
वूवोययि सितिय हैकिय । मे कालयेदी लङ्कावे राजकुमारवत् स्वकीय मवणे बंशयेन् प्रकटवूवोययि सितीमट करण
विबेत् । मेय केसेवेवत् मे कालये लङ्कावे अविपत्तिकम् कळ रजदहवन् आर्य हेवत् राजपुत्रवंशिकयन्ट सम्बन्ध-
तावयक् एत्तिवू त्रव निश्चयवे ।

विजयबाहु रजुहुणे पुत् विक्रमबाहु रजु कालयेदी आर्यदेशयेहि टपन्, पलत्तदीपनम् प्रदेशयद अविपत्तिव,
वीरबाहु नम् अयेक् लङ्काद्रोपय अत्तपत्करगत्तु कैसत्तेन् महत्तू भटसेनावक् सहितव महताट गोडवैसूसेय । विक्रम-
बाहु रज ओहु हा युद्धकरत्तु सँदहा मन्नारमट गियेय । मेहिदी हटगत् युद्धयेन् विक्रमबाहु रजु पैरदियेन् वीरबाहु पोळोन्-
नरुपरयट गोस् पुय अत्तपत्करगत्तेय । विक्रमबाहु रजु हस्तसार वस्तुद रेगेन कोटसर नम् दनववट पळायियेय ।
विक्रमबाहु रजु लुहुवै द गोस् वीरबाहु महाकर्दम दुर्गयक्हि सिंहलरजु हा युद्धकोट पैरद जीवित्तयटद पैमिणियेय ।
मेहि सँदहन् वीरबाहु आर्यदेशयेहि टपन्तेक्ययि कियन लददेय पुहेयिन् ओहु टटुक् इन्दियावे सिट पैमिणियेक् विययु-
त्तुयि । एवकुटुवूवत् ओहु राजपुत्रवंशिकयकेयि निश्चय करगेन्मट वरम् कारणयक् नोमेतियि । ओहुणे आधिपत्य
पैवति पल्लदी पनम् प्रदेशय कुमद्वैयि तीरणय करगेन्मट तुपुळ्वेन ।

मिन्पसुव आर्य हेवत् राजपुत्रजनयन् लङ्काइतिहासयेहि सँदहन्वन्ने दैवदेनि राजधानिय समयेहिदीय ।
दैवेनि पराक्रमबाहु रजुहुणे पुत् सत्तरवेनि बोसत् विजयबाहु रजु सिंहासनारुढवी दैवुरुदक्, गियपसु मित्र नम्
राजद्रोहि सेनाधिपतियेकुविसिन् ए मिहिपल्लवे मे मरवनलददेय । रजुहुणे मल्लू भुवनेकवाहु कुमारया सत्तर
अत्तिन् मिदी लुहुवै द पुननवट असुनावी यापव् दुर्गयट गोस् वन्तेय । इन्पसु मित्र नम् सेनाधिपतिया राजाभरण-
येन् सेरेही रजमालिगाव तुजट गोस् सिंहासनारुढव सेनावट तमा दैक्कीय । सेनावट पडिदीमेन तमाट पच-
पात करगत्तु सँदहा पञ्चकुोट आर्यभटययट पडिदीमट सैरसुण्येय । ठक्कुरक नम् ओहुवुगे नायकया पडि प्रति-
त्तेपकोट पञ्चकुोट सिंहलसेनावक् वेतनदानयेन् सम्रहकटयुत्तययि पिळ्ळिरुदुन्नेय । सिंहलभटयन् किसिन्
नोकिया पडि पिळ्ळिगत्तु पसु नैवत् आर्यभटययट पडिदीमट सैरसुण्णक ठक्कुरकतेमे नैवत्तु प्रवित्तेप कळेय । मीट
कारणा कवर्दैयि विचारनलदिन् रजु इदिरिये कियमूहयि कोकल ठक्कुरक प्रधानकोट एत्ति आर्यभटयो सिंहासना-
रुढवू मित्र सेनाधिपतिया इदिरियट गेनयनलददेय । ठक्कुरकतेमे मित्रसेनेविया इदिरिपिट बुहुमन् सहितवमेन्
मोहेतक् सिट तमागे भटययट सङ्गाकोट तियुत्तू कडुव पुद एकपहरिन्म मित्रसेनेवियागे हिंस कपाहेत्तीय । एवित
महत् अरगल्लयक् हटगत्तेय । “मे पा पीवू क्रियाव कुमट कल्लेदै”यि कियमिन् सिंहलसेनावो ठक्कुरकयाट तर्ज-
नय कळेय । निर्भयवू ठक्कुरकतेमे यापहुनुवर सिटिना भुवनेकवाहु रजुहुणे नियोगयेन् करनलदैयि कीय । मिन्-
पसु सिंहलसेनावोद ठक्कुरक प्रधान आर्यभटययट एकतुड यापहुनुवरट गोस् भुवनेकवाहु कुमारया राज्ययट
पत्तकोट अभियेक कळेय ।

मेहि सैदहन् आर्ययो राजपुत्रजातिकयोययि पळमुवेन् पैन्वातुन्ने कोडरिटन् महाताविसिन्य । आर्य-
भटयिन्गे नायकथाट ठक्कुर यननामय महावंशयेहि दीतिवे । मे नामय हिन्दी वङ्ग आदी उतुर इन्दियावे भाषा-
वल पवत्ता "ठक्कुर" यन पदय बबट सैकनैव ।

मेहि दैकून् प्रवृत्तियेन् पेणेन्ने मे कालयेदी सिहलरजहुगे युद्धसेनावेहि राजपुत्रजातिकयन् सेवाकम् कळ-
बवय । आर्य हेवत् राजपुत्रभटयो स्वामिपक्षपातव स्वकीय जीवितयद नोतका क्रियाकर तिबेन बैन् मे प्रवृत्तियेन्
पेणे । सिंहलसेनावन्द राजद्रोहिथाट पचव पवत्ता वेलावेदी तमन्ट अतटपत् लाभयद प्रतिचेपकोट मिन्नसने-
वियाट पक्षपातवृत्तयेन् वियहेकि अन्तरायद नोसलका तमन्गे स्वामियागे वंशयेहिन् कुमारथाट राज्य गेनदीमट
शौरवीर्य्य गति दक्वा ठक्कुर सह ओहुगे आर्यभटयो क्रियाकळोय । मेहिदीपेन्वनलद उदाग्वू शृण्यन् गेण राजपुत्र-
जातिकयो सुप्रकटह । मे कालयेदी राजपुत्रजनयन् लङ्कावट पैमिण सिंहल रजुट सेवाकम् करतु सैदहा पत्वीमट
हेतुव महभत्जातिकरजुन् विसिन् बोहो राजपुत्रजातिक राज्ययन् अत्तप करगेनीमययि सितियेहेकिय ।

स्वकीय रूपलावण्ययेन् हा पतिव्रतागुणयेन्द लोकय विस्मयद पत्कळ पद्मिनी नम् कुमरिय लङ्कावेहि सिटि
चौहान् राजपुत्रवंशिक कुमरेकुगे दुःखियक् बव राजस्थानये इतिहास प्रवृत्तिबलिन् पेणे । पद्मिनी कुमरियगे
कथाप्रवृत्तिय नोदन्ता यमेक् एतेयि सितियेनोहेकि हेयिन् एय मेहिदी विस्तर कटयुतु नोवे । पद्मिनी कुमरियगे
कालयद बोसत्विजयबारजहुगे कालयट समीपवैविन् आर्यहेवत् राजपुत्रजनयो लङ्कावे विसुवोययि सिंहलइतिहासयेन्
दैन्गन्ट लैबेन प्रवृत्तियद राजस्थानये वशकथावन्हि दक्वनलद प्रवृत्तिद एकिनेकट संसन्दनय वेत् ।

पद्मिनी कुमरियगे जन्मभूमियवू लङ्काव मे द्वीपय नोव राजस्थानयट असल प्रदेशयक्ययि महामहोपाध्याय
गौरीशङ्कर ओमातुमा विसिन् सैतदी प्रकटकरनलद लिपियेक दक्वा तिबे । राजस्थानये इतिहासय हा पुरावृत्त
पिळिबैदव अद्वितीय दैनुमक् ऐति मे पैळितुमागे मतय सैमअतिन्म गरुळयुतुथि । एतकुदुवूवत् लङ्कावे
राजपुत्रजनयन् पिळिबैदव मेहि दक्वन करुण हा संसन्दनयकोट मे प्रश्नय कल्पना किरीमट ए पैळितुमाट
गौरवसहितव आराधना करमि ।

लङ्काव हा राजस्थानय अतर पैवति सम्बन्धयट साच्चिबशयेन् टैक्विय हैकि तवत् करुणक् पस-
ळोसूर्गेनि शतवर्षयेदी रचनाकरनलद काव्यशेखर नम् सिंहल काव्ययेहि एतुवेय । बरगुसेनुवर सिट तक्सल्ला-
नुवर दक्वा भार्गय वर्णनाकरन काव्यशेखर कर्त्त, गङ्गानदिय दिगे प्रयागतीर्थयट गोस् एतैनिन् बटहिर अतट
हैरी गोवर्धनपर्वतय पसुकोट मालवदेशयेहि सिप्रानदिय एतरव तक्सल्लानगरयट पैमिणिसैटियट दक्वा तिबे ।
मेयिन् पेणेन्ने काव्यशेखर कर्त्तगे तक्सल्लाव गम्भार देशयहि एनमिन् सुप्रकट पुरय नोव राजस्थानयेवू नगरयक्
बवय । राजस्थानये इतिहासय सह पूर्वतत्त्व गेन कर्नेल् टोड महन्तु विसिन् लियनलद सुप्रकट ग्रन्थयेहि
चितोरनगरय तक्सल्ला यन नमिन् पूर्वकालयेहि प्रसिद्धवू बवक् दक्वा एतुवेय । काव्यशेखरये तक्सल्लानग-
रय पिहितियेययि दक्वन प्रदेशयद चितोरनगरय असल हेयिन् राजस्थानये तक्सल्लानगरयक् पसलोसूर्गेनि
शतवर्षये सिंहलयन् दैनसिटि बैन् निश्चित वे ।

लङ्काव हा राजस्थानय अतर पैवति सम्बन्धयट साच्चिभूतवू तवत् करुणक् जैगदी एळिदरव्वी तिबे ।
अनुराधपुरये रुवन्गैलि महास्तूपये हटैस् कोटुवे तिबी सैतदी सम्भवू निदन् वस्तु अतर राजपुत्रदेशये पुराण

तैवकासि विसृज्य पमणविय । मे कासिबल एकू पैतृक गोत्र रूपयकूद अनित् पैतृते अधारोहकयकुगे रूप-
यकूद वेत् । नागरीअक्षरवलिन ए कासि निक्तुत्कळ रजुनगे नम् सेंदहृकोट तिबेत् । कासि बोहोसे गेवी-
गोस तिबेन निसा मेनम् सम्पूर्णसे कियवागैरुम जगहृदयि । मे वर्गवे कासि इन्दियावे पुराय कासि गैस
कनिहेम्, विरसन्ट स्मित् आदि पंडिबरुन् विसिन् लियनलद पोतवल विरतरकोट ऐव । रुवन्वैलिसैवे मेकासि
हा समग तिवू अनित् वस्तुनद दहृतुनवेनि शतवर्षयट पण्य अयन् वूने वेत् । मे राजपूत कासिद ए कालयदम
अयत्य । राजस्थानयेन् लङ्कावट पैमिणि जनवन् विसिन् मे कासि गैरपुनट ऐदैयि अनुमान कटहैकिय ।

राजस्थानये इतिहासय गैस करुण सेबीमट स्वकीय जीवितय सम्पूर्णयेन् गतकोट इन्दियावे पमणक् नोव
विदेशयनहिद स्वकीय पण्डितत्वय पतळकोट गरुहुमन् लत् महामहोपाध्याय गौरीशङ्कर ओम्ना पंडितुमाट गौरव-
किरीम पिणिस सङ्ग्रहकरनुलबन पोतट लङ्काव हा राजस्थानय अतर पैवति सम्बन्धय गैस मे सुल्लिपिय
एवीमट हैकिनीम इवासतुटट कारययकि । मेहि दकुवनलद ऐतैम् करुण निरचयवशयेन् तवमत् कियहैकि नोव
नसुत् राजस्थानये इतिहासय सम्बन्ध विशारद दैनीम् पति पण्डितवरुगे कलनावट गोबरनेत्यय बल्लपोरोतनुवेमि ।

[अनुवाद*]

उत्तरी भारत के राजपूतों और लङ्का के बीच किसी समय कुछ सम्बन्ध रहा प्रतीत होता है । इस विषय में अब तक
जिब बातों का पता लगा है उन को एकत्र कर दिखाना इस लेख का उद्देश्य है ।

‘महावंश’ आदि लङ्का के ऐतिहासिक ग्रन्थों में राजपूत आर्य नाम से उल्लिखित हैं । यह नाम राजपूतों के लिए प्रयुक्त किया
गया है, इस बात को सच से प्रथम बता देने वाला, लङ्का-इतिहास का पूर्ण विद्वान् श्री एच्. डब्ल्यू. कोहरीम्बन् है । सामान्यतः
आर्य शब्द से उत्तर भारतीय लिए जा सकते हैं । वे भी इस का उल्लेख बहुत स्थानों में राजपूतों से सम्बन्ध रखता है । इस
बात को निश्चित करने के लिए पर्याप्त सामग्री भी है । सिंहली भाषा की आर्यवंश में है । फिर भी लङ्का के पश्चात्कालीन लेखों
में आर्य शब्द केवल उत्तर भारतीयों के लिए प्रयुक्त है । माना जा सकता है कि यह प्रयोग द्राविड़ों की व्यवहार शैली के
अनुकूल पर प्रचलित हुआ होगा । ग्यारहवीं शताब्दी में आर्य या राजपूत जाति के एक व्यक्ति का उल्लेख मिलता है । यह
लङ्का-इतिहास में प्रथम ही प्रथम उल्लेख है । इन दिनों में चोळद्विजियों ने सिंहल राज्य का विनाश किया और द्वीप का अधिकांश
चोळ राज्य के अधीन हो गया था । इस स्थिति में जगतीपाल नामक एक राजवंशीय चत्रिय का अयोध्यापुरी से लङ्का में आना,
विक्रमपण्डु नामक लङ्का के प्रादेशिक द्विविज राजा को युद्ध में मार कर लङ्का राज्य में चार वर्ष राज्य करना, तत्पश्चात् चोळों का उस
को मार कर उस की महिषी, पुत्री और धन ले कर चोळ देश में चला जाना महावंश में वर्णित है । दक्षिण भारत के शिलाशेखों
में भी यह बात इस से अशत । मिल दिखाई गई है । उत्तर भारत से लङ्का में आने वाला जगतीपाल नहीं है, वहाँ उन का नाम
वीरशालामेन्न है और वह कान्यकुब्ज नगर से आया है । चोळद्विजियों ने जिस तरह उसे हराया, उस की महिषी और पुत्री को वे
जैसे अपने देश को गए—यह बात जिस प्रकार महावंश में वर्णित है, उसी प्रकार मयिमल्लस्व स्थान के राजाधिराम नामक चोळराज
के एक शिलाशेख में भी उस का उल्लेख है । आचार्य श्री हुल्लूर्श का मत है कि महावंश में उल्लिखित जगतीपाल दक्षिण भारत
के लेखों का विविध वीरश(र) आमेवर् है ।

उन विना में कान्यकुब्ज (कन्नौज) नगर एवं अयोध्यापुरी दोनों राजपूतों के हाथ में थे । इसलिए हम प्रश्न से लङ्का में
आ कर राज्य करने वाला जगतीपाल या वीरशालामेन्न राजपूत वंश में से हो सकता है ।

१०५८ ई० में विजयवाहू नामक एक सिंहली राजपूत ने चोळों को लङ्का से भगा कर हम द्वीप का अधिपत्य फिर
से सिंहली राजाओं के अधीन कर दिया था । राजा विजयवाहू के राज्य-काल में जगतीपाल की रानी और लडकी चोळों से
छूट कर चोळ देश से लङ्का में आई । राजा विजयवाहू ने उन के वंश का समाचार सुना और उन्होंने उन को कुलीन समझ कर

* अनुवादक—श्री कमलमिश्र परेर, काशी ।

कुमारी लीलावती को अपनी महिषी बना लिया। उस महिषी से राजा विजयबाहु के यशोवरा नाम की एक पुत्री हुई थी। वीरवर्मा (वीरवर्म) नामक राजपुत्र को वह ब्याही गई। उस के लीलावती और सुगन्धा नाम की दो पुत्रियाँ हुईं जिन में से कुमारी लीलावती का विवाह राजा विक्रमबाहु के साथ और सुगन्धा का कुमार सिरिवल्लभ के साथ कर दिया गया था। सुगन्धा देवी का पुत्र मायाभरपू रुद्रगु राज्य का अधिपति हो कर राजा पराक्रमबाहु के विरुद्ध खूब लड़ा। कुमार सिरिवल्लभ के पुत्र आर्यवंश के अन्तर्गत हैं ऐसा महावंश का कहना है। आर्यवंशी या राजपूत-परम्परागत जगतीपात्र की वंश-परम्परा में अल्प एक कन्या के साथ सिरिवल्लभ का विवाह होने के कारण उन के पुत्र आर्यवंशी हो गए ऐसी कल्पना हो सकती है। इन दिनों में जङ्गल की राजवंशावली अपने मार्गवश से प्रकट होती रही है। इस बात की कल्पना करने में हेतु भी है। चाहे कुछ भी हो, यह निश्चित है कि इस काल में खट्वा के शासक क्षत्रियों का सम्बन्ध आर्यों या राजपूतों के साथ रहा है।

राजा विजयबाहु के पुत्र विक्रमबाहु के राज्य-काल में आर्य देश में अल्प, पलन्दीप नामक स्थान के अधिपति वीरबाहु खट्वा को खेने की इच्छा से भारी सेना के साथ जाकर महातोटा (महाघाट) पर उतरे थे। उन के साथ युद्ध करने के लिए राजा विक्रमबाहु मझा (वर्तमान तलेई मझार—रामेश्वर के सामने उस पार) पर पहुँच गए थे। उस युद्ध में विक्रमबाहु का पराजय होने के कारण वीरबाहु ने पोळोन्नपुर जा कर उस को अपने हाथ में कर लिया। जितनी हो सहीं वतनी चीजें अपने साथ ले कर विक्रमबाहु कोटसर नामक प्रदेश (वनपद) में भाग गया था। विक्रमबाहु का पीछा करते हुए वीरबाहु अन्त में कईमदुरा (एक पञ्चमय दुरा ?) में सिंहल-राजा से युद्ध में हार कर मारा गया। इस वीरबाहु का आर्य देश में जन्म होना बताया गया है। इसलिए उचर भारत से इस का आगमन हुआ होगा। ऐसा होने पर भी वह राजपूत-वंश का है इस बात का निश्चयक कोई हेतु नहीं है। उसी तरह यह भी निश्चित नहीं हो सकता कि वीरबाहु का शासित पलन्दीप प्रदेश कैसा और कहाँ है।

इस के अनन्तर दैवदेनि राजधानी के काल में आर्य या राजपूतों का नाम खट्वा-इतिहास में आता है। पराक्रमबाहु दूसरे के पुत्र राजा बोसद विजयबाहु चौथे के दो वर्ष गद्दी पर बैठने के बाद मित्र नामक एक राजद्रोही सेनाधिपति ने उस राजा का वध करवा डाला। राजा का छोटा भाई सुवनेकबाहु कुमार शत्रुओं के हाथ से लूट कर, पीछा करने वालों से बच कर, यापव् दुर्ग में जा छिपा। उस के बाद सेनाधिपति मित्र राजवत्त पहन कर मडल में गया और सिंहासन पर बैठ कर अपने को सेवा के सामने दिखलाया। वेतन देकर सेवा को अपने पक्ष में करने के ल्यार्थ उस ने सब से पहले आर्य सैनिकों को प्रथम वेतन देना चाहा। ठकुरक नामक उन के वायक ने वेतन लेने से इनकार कर प्रथम सिंहल सैनिकों को वेतन देकर उन का आदर करने को कहा। सिंहल सैनिकों के मौनपूर्वक वेतन लेने के बाद उस ने फिर आर्य सैनिकों को वेतन देना चाहा। परन्तु ठकुरक ने फिर इनकार कर दिया। इस का कारण पूछा जाने पर उस ने कहा कि मैं राजा के सामने बताऊँगा और वह अपने सैनिकों समेत गद्दी पर बैठे हुए राजा के सामने पहुँचाया गया। सेनाधिपति मित्र के सामने सुदूर्च भर विनयपूर्वक खड़े रहने के बाद ठकुर ने आर्य सैनिकों को ध्वारा किया और अपनी तेज लज्जवार खींच कर मित्र का सिर धड़ से अलग कर दिया। उस समय एक भारी उपद्रव उठ खड़ा हुआ। “यह अग्रिम कर्म तुने क्यों किया है” ऐसा प्रश्न करते हुए सिंहल सैनिक उस को धमकाने लगे। निर्भीक ठकुर ने कहा कि यापहु नगर में बैठे हुए राजा सुवनेकबाहु की आज्ञा से यह काम किया गया है। इस के बाद सिंहल सैनिकों ने भी ठकुरक प्रमुख आर्य सैनिकों के साथ यापहु जा कर कुमार सुवनेकबाहु का अभिषेक किया और उन को गद्दी पर बैठाया।

ये लोग राजवंशी हैं इस बात को सर्व-प्रथम बता देने वाला मि० कोहर्लिंग्टन है। आर्य सैनिकों के वायक का महावंश ठकुरक नाम से वंशलेख करता है। यह नाम हिन्दी, बङ्ग आदि उचर भारतीय भाषाओं में प्रचलित “ठकूर” शब्द ही है।

इन बातों से ज्ञात होता है कि इन दिनों में सिंहल-राजा की फौज में राजपूत अपनी भरती करा लेते थे। स्वामिभक्त आर्य या राजपूत अपने जीवन तक की उपेक्षा करते हुए स्वामी का काम करते थे, यह भी इन बातों से प्रतीत होता है। राज-द्रोही के पक्ष में सिंहल सैनिकों के रहते हुए, हस्त-आप्त लाभ (धन) को छोड़ कर, ‘मित्र’ के पक्षपातियों से सम्भव दुर्गतियों की भी उपेक्षा करते हुए, अपने स्वामि-वंशी एक राजकुमार को राज्य दिखाने के उद्देश से ठकुरक और उस के सैनिकों ने शूरवीरता-पूर्वक ही काम किया था। इन बदर शूर्यों के लिए राजपूत असिद्ध हैं। यवन राजाओं द्वारा राजपूतों का बहुत सा राज्य छीन लिया जाना ही खट्वा में आकर सिंहल राजाओं के आश्रित इन दिनों में इन के रहने का कारण हो सकता है।

अपने रूप-सौन्दर्य और पातिव्रत धर्म से दुनिया को चर्चित करने वाली पद्मिनी खट्वा के एक राजपूत चौहान की पुत्री रही है, ऐसा राजस्थान के इतिहासों से पता लगता है। पद्मिनी की कहानी से अपरिचित कोई न होगा, इसलिए उस के बारे में

यहाँ लिखना अनावश्यक है। कुमारी पद्मिनी का समय राजा विजयबाहु के निकट होने के कारण लङ्का में राजपूतों की स्थिति-सम्बन्धिनी सिंहल-इतिहास से ज्ञात बातें, राजस्थान की वंशकथाओं में दिखाई हुई बातों से परस्पर मेल खाती हैं।

कुमारी पद्मिनी का जन्मस्थान लङ्का, यह दीप नहीं है बल्कि वह राजस्थान के निकट एक प्रदेश है, ऐसा कुछ काल पहले महामहोपाध्याय पं० गौरीशङ्कर ओझा-लिखित एक लेख में बताया गया है। राजस्थान के इतिहास और पुरावृत्तों के विषय में अति-नीच ज्ञान रखने वाले इस विद्वान् का मत हर तरह से आदरणीय है। तो भी लङ्का में राजपूतों के सम्बन्ध में यहाँ दिखाई गई बातों को मिला कर इस अंश पर फिर से विचार करने के लिए मैं वक्त पण्डितजी से आदर-पूर्वक प्रार्थना करता हूँ।

पन्द्रहवीं शताब्दी में रचा हुआ काव्यशेखर नामक सिंहल-काव्य में लङ्का और राजस्थान के बीच रहे सम्बन्ध को पुष्ट करनेवाली एक और बात मिलती है। बनारस से तच्छिळा (तक्षला) तक का मार्ग वर्णन करने वाला काव्यशेखर का रचयिता ज्ञाना के किनारे अथाव तक जा कर पुनः वहाँ से पश्चिम की ओर हो कर गोवर्धन पर्वत होता हुआ मालव देश की सिमा नदी को पार कर तच्छिळा में जाना बताता है। इस से मान्य होता है कि उस कवि का तच्छिळा गन्धार देश में तच्छिळा नाम से प्रसिद्ध शहर नहीं है, मश्रुत राजस्थान का एक शहर है। राजस्थान के चित्तौड़ की पूर्वकाञ्ची प्रसिद्धि तच्छिळा नाम से रही थी ऐसा राजस्थानीय इतिहास और पुरावृत्तों का लेखक श्री कर्नल डॉल् अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में बताता है। यह निश्चित है कि राजस्थान में तच्छिळा नामक एक स्थान पन्द्रहवीं शताब्दी में सिंहलियों को ज्ञात रहा क्योंकि काव्यशेखर की तच्छिळा का स्थान भी चित्तौड़ के समीप है।

लङ्का और राजस्थान के बीच सम्बन्ध की शोचक (साचीमूत) एक और बात कुछ दिन पहले प्रकट हो गई है। अनु-राधपुर के स्वर्णमाखि-स्वर्ण (चनूमेखि) के मन्थ चतुष्कोण घेरे में से प्राप्त प्राचीन चीजों के बीच राजपूत देश की प्रायः बीस प्राचीन साम्रमय सुद्राएँ भी हैं। इन सुद्राओं में एक और बैल का और दूसरी ओर अम्बारोहक (घुड़सवार) का चित्र है। इन सुद्राओं को खाने वाले राजाओं के नाम नन में नागरी अक्षरों से लिखे हैं। अधिक बिस जाने के कारण वे नाम अच्छी तरह पढ़े नहीं जा सकते। भारतीय प्राचीन सुद्राओं के बारे में कनिंभम् विरसुवट्ट् रिसव की लिखी पुस्तकों में इन सुद्राओं का परिकय दिया गया होगा। स्वर्णमाखि स्वर की इन सुद्राओं के साथ प्राप्त अन्य वस्तुएँ भी लगभग तेरहवीं शताब्दी की हैं। राजपूत सुद्राएँ भी उस समय की हैं। राजस्थान से लङ्का में आए हुए लोग इन सुद्राओं को लाए होंगे, ऐसा अनुमान होता है।

राजस्थानीय ऐतिहासिक अन्वेषण में अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पण करने वाले, भारतवर्ष एवं विदेशों में भी अपनी विद्वत्ता से कीर्ति-प्राप्त, महामहोपाध्याय पं० गौरीशङ्कर ओझा के गौरवार्थ संगृहीत अभिनन्दन-ग्रन्थ में "लङ्का और राजस्थान" के सम्बन्ध में लिखा गया यह छोटा लेख मेट करना अति हर्षप्रद है। इस में लिखी हुई कुछ बातें—अभी तक विशिष्ट न होने पर भी—राजस्थानीय इतिहास के विषय में विशाल ज्ञान रखने वाले पण्डितों के विचार का विषय हो जायँगी, ऐसी आशा है।

माधवाचार्य और अमात्य माधव

श्रीयुत बलदेव उपाध्याय, एम० ए०, साहित्याचार्य, हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी ।

दक्षिण भारत के इतिहास में विजयनगर का राज्य विशेष महत्त्व रखता है। पन्द्रहवीं शताब्दी में यही एक स्वतन्त्र हिन्दू राष्ट्र था जो वैभव तथा शासन के विषय में प्रभावशाली मुगल साम्राज्य के सामने खड़ा हो सकता था। इस के विपुल वैभव को देख कर, मुगलशासन से उत्पन्न होने वाले आर्य-सभ्यता के विस्तार तथा विद्या के प्रसार को अवलोकन कर, विदेशी यात्रियों को चकित होना पड़ा था। वास्तव में, उत्तर भारत के विधर्मी यवन आततायियों के निर्दय उत्पीड़न से दक्षिण की हिन्दू प्रजा को बचाने के लिए विजयनगर के राजाओं ने जो कार्य कर दिखलाया वह इतिहास में अत्यन्त श्लाघनीय है तथा सुवर्णाक्षरों से लिखने लायक है।

चौदहवीं सदी की बात है। आजकल के मैसूर राज्य तथा समग्र दक्षिण भारत के ऊपर 'होयसल' नामक राजवंश राज्य करता था। यह राजवंश अपने समय में (तेरहवीं सदी में) अत्यन्त प्रतापी तथा प्रसिद्ध था, परन्तु चौदहवीं सदी के आरम्भ में ही उत्तर भारत के वत्साही पठान आक्रमणकारियों के आक्रमण से इस की शक्ति क्षीण हो चली थी। १३१० ई० में मलिक काफूर ने चढ़ाई की। इस वंश का राजा बल्लाल तृतीय उस समय राज्य करता था। वह पहले पकड़ लिया गया परन्तु पीछे छोड़ दिया गया। पठानों की सदा यही अभिलाषा रही कि समग्र दक्षिण भारत पर शासन करने वाला होयसल राज्य उन की अधीनता में आ जाय। १३२७ ई० में इसी अभिलाषा की पूर्ति के लिए मुहम्मद तुगलक ने फिर चढ़ाई की। होयसल राज्य को हानि उठानी पड़ी तथा उस की शक्ति निर्बल पड़ने लगी। मुहम्मद तुगलक अपनी राजधानी को लौट गया, परन्तु उस का आवक्य सारे दक्षिण भारत पर छा गया। वहाँ की वीर सरदारों को यह साफ-साफ मालूम पड़ गया कि अल्प-प्राण होयसल नरेशों के हाथ में दक्षिण भारत की स्वतन्त्रता निरापद् नहीं है। १३४३ ई० तक बल्लाल तृतीय ने राज्य किया। उस के अमन्दर बल्लाल चतुर्थ को राज्य मिला, परन्तु केवल तीन वर्षों तक राज्य कर होयसल-वंश के अन्तिम सम्राट् ने अपनी ऐहिक जीला संवरण की। १३४६ ई० दक्षिण भारत के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वर्ष है। इसी वर्ष हरिहर ने अपने भाइयों—हुक, मारप्प तथा कम्पण—को सहायता से दक्षिण भारत की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए विजयनगर राज्य की स्थापना की। बल्लाल नरेशों के समय में हरिहर राज्य का प्रधान अधिकारी था। मारप्प मैसूर के पश्चिम भाग में तथा कम्पण पूर्व भाग में राज्य के विस्तार करने में लगे थे। अतः कर्नाटक में स्वतन्त्रता के लिए सब से अधिक प्रयत्न करने वाले इन चारों भाइयों ने १३४६ ई० में तुङ्गभद्रा के तीर पर विजयनगर राज्य की स्थापना की। इस कार्य में उन को विशेष सहायता देने

१. आ० स० इ० १६०७-८, पृ० ३३५।

२. रायवहादुर कृष्ण शाली आदि विद्वान् विजयनगर की स्थापना १३३६ ई० में ही मानते थे, परन्तु नवीन ऐतिहासिक सामग्री की उपलब्धि होने से यह मत ठीक नहीं जैचला। प्राचीन मत की आलोचना तथा उपरिलिखित सिद्धान्त की व्याप्ति के लिए दे०—ई० हि० क्वा०, लि० ३, पृ० १२१-१३।

वाले थे माधवाचार्य नामक विद्वान् । इसी नैष्ठिक ब्राह्मण के उपदेश का यह सुपरिग्राम था कि आर्य संस्कृति को जीवित रखने, हिन्दू धर्म को विधर्मियों से बचाने तथा वैदिक साहित्य को पुनरुद्धार करने में विजयनगर के सम्राटों ने विशेष रूप से हाथ बँटाया ।

माधवाचार्य अपने समय के बड़े भारी विद्वान् थे । विजयनगर के प्रथम महाराजाधिराज हरिहर के थे प्रधान मन्त्री थे । महाराज हरिहर अत्यन्त स्वातन्त्र्य-प्रेमी तथा वैदिक धर्म के स्थापक क्षत्रिय नरेश थे । माधवाचार्य भी आदर्श विद्वान् थे । इस प्रकार ब्राह्म तथा क्षत्र तेज के दुर्लभ योग से विजयनगर का राज्य चमक उठा तथा सदा के लिए भारतीय इतिहास में हिन्दू-राज्य का एक आदर्श बन गया । इन्हीं माधवाचार्य के विषय में नाम-साम्य से उत्पन्न होने वाली कुछ मिथ्या बातों के निराकरण के लिए यह छोटा लेख लिखा गया है ।

कहा जाता है कि माधवाचार्य ने विजयनगर के राज्य-विस्तार के लिए कई देशों पर चढ़ाई की थी तथा उन्हें जीत कर राज्य में मिलाया था । इन्हीं ने सेनापति का भी काम किया था । परन्तु यह वर्णन वास्तव में सत्य नहीं है । जो स्वयं एक बड़े भारी विद्वान् थे तथा अन्त में संन्यासी बन कर विद्यारण्य के नाम से प्रसिद्ध हुए, उन्होंने शान्तिचिंत ब्राह्मण का क्षत्रियचिंत सेनापति का पद ग्रहण करना उतना उचित नहीं प्रतीत होता । इस प्रसिद्धि का कारण यह मालूम पड़ता है कि हरिहर के एक दूसरे मन्त्री, शत्रुघ्न के विनायक तथा गोता के शासक का नाम भी माधव था । अतः माधव की विजयवार्ता, नाम की समता के कारण, माधवाचार्य के ऊपर आरोपित की गई है, परन्तु ये दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे । इन के वंश, गुरु तथा रचनाओं की परीक्षा करने पर हम इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं ।

अनन्तभोगसंसक्तो द्विजपुङ्गवसेविवः ।

सचिव सर्वलोकानां प्राप्ता नयति माधवः ॥

सायणस्य ।

माधवाचार्य के जीवन-चरित के विषय में उन के तथा उन के भाइयों के लिखे ग्रन्थों से ही सहायता नहीं मिलती, बल्कि तत्कालीन विजयनगर के राजाओं के शिलालेखों तथा शासनों से भी विशेष रूप से सहायता प्राप्त होती है । माधवाचार्य ने अपने ग्रन्थों के आरम्भ में अपने माता-पिता तथा अपने गुरुओं का नामोल्लेख किया है । उन के अनुज प्रसिद्ध वेदभाष्यकर्ता सायणाचार्य ने भी अपने ग्रन्थों के आरम्भ में अपने वंश का संक्षिप्त परिचय प्रदान किया है । विजयनगर के प्रधान मन्त्री होने के कारण उस समय के राजकीय शासनपत्रों में भी इन का उल्लेख हुआ है । इसी सामग्री से हम माधवाचार्य का ऐतिहासिक वृत्त सङ्कलन कर सकते हैं ।

माधवाचार्य के पिता का नाम सायण था । माता का नाम था श्रीमती । इन के दो छोटे भाई थे । उन में जेठे का नाम सायण था तथा छोटे का भोगनाथ । उन का सूत्र बौधायन सूत्र था, वेद कृष्ण-यजुर्वेद तथा गोत्र भारद्वाज था । 'पराशरमाधवीय' के उपेक्षा से ये बातें मालूम होती हैं—

श्रीमती जन्मो यस्य सुकीर्तिः सायणः पिता ।

सायणो भोगनाथश्च मनोबुद्धौ सहोदरौ ॥ ६ ॥

यस्य बौधायनं सूत्रं शाखा यस्य च यजुषी ।

भारद्वाजं कुलं यस्य सर्वज्ञः स हि माधवः ॥ ७ ॥

'यज्ञतन्त्रसुधानिधि' के आरम्भ में सायणाचार्य के निम्नलिखित श्लोकों से इसी बात की पुष्टि होती है—

तस्याभूदन्वयगुरुत्वसिद्धान्तदेशिता ।

सर्वज्ञः सायणाचार्यो मायणार्थतनूद्भवः ॥ ७ ॥

उपेन्द्रस्येव यस्यासीत् इन्द्रः सुमनसा प्रियः ।

महाक्रतूनामाहर्ता माधवार्यः सहोदरः ॥ ८ ॥

इस श्लोक की उपमा पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि माधवाचार्य सायण के जेठे भाई थे । अन्य ग्रन्थों में व्यक्त रूप से ही सायण ने माधव को अपना जेठा भाई लिखा है । 'अलङ्कारसुधानिधि' की पुष्पिका में सायण ने अपने को 'माधवाचार्यानुजन्मनः' तथा 'प्रायश्चित्तसुधानिधि' की पुष्पिका में 'माधवभोगनाथसहोदरस्य' लिखा है जिस से माधवाचार्य के जेठे होने में तनिक भी सन्देह नहीं रहता ।

माधवाचार्य के अनुज सायणाचार्य को हम चारों वेदों के भाष्यकार के रूप में भली भाँति जानते हैं, परन्तु सायण ने केवल वेदभाष्य ही नहीं लिखा प्रत्युत यज्ञ, धर्मशास्त्र, व्याकरण तथा अलङ्कार-सम्बन्धी उपयोगी अनेक ग्रन्थों की भी रचना की । इन के नाम ये हैं—(१) सुभाषितसुधानिधि, (२) प्रायश्चित्तसुधानिधि, (३) अलङ्कारसुधानिधि, (४) धातुवृत्ति, (५) पुरुषार्थसुधानिधि तथा (६) यज्ञतन्त्रसुधानिधि । इन ग्रन्थों में अलङ्कारसुधानिधि बड़े महत्त्व का है । इस में अलङ्कारों के उदाहरण सायणाचार्य ने अपने ही विषय में दिए हैं । ग्रन्थ अधूरा ही है, परन्तु फिर भी इस की ऐतिहासिक महत्ता अधिक है । इस के अवलोकन से जान पड़ता है कि सायण के तीन पुत्र थे—कम्पण, मायण तथा शिगण । कम्पण सङ्गीत-शास्त्र के विशेषज्ञ थे; मायण कवि थे—गद्य-पद्य-रचना में बड़े प्रवीण थे । शिगण वैदिक थे—धनान्त वेद का इन्होंने ने अभ्यास किया था—

तत् संव्यञ्ज्य कम्पण व्यसनिनः सङ्गीतशास्त्रे तव

प्रौढि मायण गद्यपद्यरचनापाण्डित्यमुन्युद्भव ।

शिल्पां दर्शय शिङ्गण क्रमजटाचर्यासु वेदेष्विनि

स्वान् पुत्रानुपलालयन् गृहगतः संमोदते सायणः ॥

माधवाचार्य के दूसरे अनुज का नाम भोगनाथ था । इन के ग्रन्थों के नष्ट हो जाने के कारण हम इन के विषय में बहुत कम जानते हैं, परन्तु ये भी अपने समय के एक बड़े सहृदय कवि थे । इन्होंने ने कम से कम इन छः काव्य-ग्रन्थों की रचना अवश्य की थी क्योंकि इन का उल्लेख हम सायण के 'अलङ्कारसुधानिधि' में पाते हैं । इन के नाम ये हैं—(१) रामोल्लास, (२) त्रिपुरविजय, (३) उदाहरणमाला, (४) महागणपतिस्तव, (५) शृङ्गार-मञ्जरी तथा (६) गौरीनाथाष्टक । काव्य-कला में निपुण होने के कारण इन्हें तदनु रूप पद भी मिला था । ये महाराज सङ्गम द्वितीय के नर्म सचिव थे । इन की कविता बड़ी सरस होती थी ।

माधवाचार्य ने अपने ग्रन्थों में अपने तीन गुरुओं का बड़े आदर से स्मरण किया है । इन के नाम थे—विद्यातीर्थ, भारतीतीर्थ तथा श्रीकण्ठ । ये उस समय के प्रधान विद्वान् तपस्वी यतियों में गिने जाते थे । 'काल-माधव' में गजानन की स्तुति के अनन्तर माधवाचार्य ने एक ही पद्य में इन तीनों गुरुओं का एक साथ स्मरण किया है—

सोऽहं प्राप्य विवेकतीर्थपदवीमान्मायतीर्थं परं

भञ्जन् सज्जनसङ्गतीर्थनिपुणः सद्वृत्ततीर्थं अग्रम् ।

१. इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के साक्ष्य वर्णन के लिए दे० ई० आ० भाग ३२ (१६१६), पृष्ठ २२-२३ ।

लब्धामाकलयन् प्रभावलहरीं श्री भा र ती ती र्थ-तो

वि धा ती र्थ सुपाश्रयं हृदि भजे श्री क ण्ठ भव्याहृतम् ॥

इन में भारतीयीर्थ उस समय शृङ्गेरी मठ की गद्दी पर विराजमान थे। १३४६ ई० में समस्त शत्रुओं को जीत कर महाराज हरिहर ने अपने भाइयों के साथ शृङ्गेरी की यात्रा की थी। इस विजय के उपलक्ष में उन्होंने नौ गाँवों का दान शृङ्गेरी में रहने वाले ब्राह्मणों तथा दपस्त्रियों को दिया^१। उस शासनपत्र में भारतीयीर्थ श्रीपाद का नाम आदर से लिया गया है। आप उस समय के एक पहुँचे हुए महात्मा थे। माधवाचार्य ने अपने 'न्यायमालाविस्तर' में यवीन्द्र भारतीयीर्थ की कृपा से प्रतिष्ठा प्राप्त करने का उल्लेख किया है—

स भव्याद् भा र ती ती र्थ-यवीन्द्रचतुराननात् ।

कृपासंव्याहता लब्ध्वा परार्थप्रतिबोऽभवत् ॥

विद्यातीर्थ स्वामी उस समय के एक सिद्ध पुरुष थे। आप श्री परमात्मतीर्थ के शिष्य थे तथा 'रुद्रप्रश्न-भाष्य' नामक ग्रन्थ के प्रणेता भी। विजयनगर के प्रवापी नरेश भी आप की कृपा के भिन्न कने रहते थे। आप की बड़ी प्रतिष्ठा थी। माधव ने इन्हें अपना मुख्य गुरु कहा है—

अन्तः प्रविष्टः शास्तेति बोऽन्तर्यामिश्रुतीरितः ।

सोऽस्मात् मुख्यगुरुः पातु वि धा ती र्थ-महेश्वरः ॥

आप सायणाचार्य के भी गुरु थे। वेदभाष्यों के आरम्भ में सायणाचार्य ने विद्यातीर्थ महेश्वर की जो श्लाघनीय स्तुति की है उस में इन की ओर भी १ वृ संकेत किया गया है तथा इन्हें महेश्वर का अवतार माना है^२।

वीसर गुरु श्रीकण्ठ या श्रीकण्ठनाथ के विषय में विशेष पता नहीं चलता। ये कोई शैव महात्मा जान पड़ते हैं। भोगनाथ ने अपने ग्रन्थों में इन का सादर उल्लेख किया है जिस से जान पड़ता है कि भोगनाथ इन्हें अपना गुरु मानते थे^३। काञ्ची के एक शिलालेख में श्रीकण्ठ सायण के भी गुरु कहे गए हैं^४।

सारांश यह कि भारतीयीर्थ, विद्यातीर्थ तथा श्रीकण्ठ—ये तीनों महापुरुष माधवाचार्य तथा उन के दोनों अनुजों के गुरु थे।

माधवाचार्य ने बहुत से धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की है जिन में ये ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—(१) पराशरस्मृति-व्याख्या या पराशरमाधव, (२) व्यवहारमाधव, (३) कालमाधव, (४) जीवन्मुक्ति-विवेक, (५) जैमिनीयन्यायमालाविस्तर तथा (६) पञ्चदशी। अन्तिम ग्रन्थ की रचना विद्यारण्य स्वामी ने की थी। कुछ लोग माधवाचार्य तथा विद्यारण्य को भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हैं^५, परन्तु पण्डितों की सार्वत्रिक प्रसिद्धि तथा पीछे के ग्रन्थों के निर्देश से दोनों एक ही व्यक्ति जान पड़ते हैं। पण्डितों का यह विश्वास है और ऐतिहासिक दृष्टि से यह ठीक भी जैसा है कि माधवाचार्य ही संन्यास लेने पर विद्यारण्य के नाम से

१ इ० हि० क्वा० वर्ष १ स० २ (अन १६३३), पृ० १३२ ।

२ अल्प निर्धनसितं वेदा यो वेदेभ्योऽलिखितं जगत् ।

निर्ममे तमहं कवे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

३ श्रीकण्ठ गुरुः परेऽपि गुरोः लोकत्रयेऽप्यद्वुतम् ।

भक्तधीनमर्वाच्च वैद्यतनहो सर्वेऽप्यमी देवताः ॥ महागणपतिस्तव ।

४ दे० इ० हि० क्वा० जि० ६, स० ४, पृ० ७०१—१७ ।

प्रसिद्ध हुए तथा शृङ्गेरी मठ के अधिपति हुए^१। पञ्चदशी उसी समय का ग्रन्थ है। अन्य ग्रन्थ पहले की रचनाएँ हैं।

इस प्रकार माधवाचार्य चतुर्दश शताब्दी के एक बड़े भारी शास्त्रवेत्ता विद्वान् ठहरते हैं। विजयनगर के महाराजाधिराज हरिहर तथा बुक्क के समय में वैदिक धर्म का जो पुनरुद्धार तथा प्रतिष्ठा हम देखते हैं उस के लिए सब से अधिक श्रेय माधवाचार्य को है। वैदिकमार्गप्रतिष्ठापक हरिहर की आज्ञा से माधवाचार्य ने चारों वेदों का माध्य अपने अनुज सायणाचार्य से लिखवाया। इस कार्य के लिए हम लोग आप के अतीव अनुगृहीत हैं। यदि आज सायणाचार्य उपलब्ध न होता, तो वेदों का जो कुछ थोड़ा-बहुत अर्थ तथा रहस्य हम समझ पाते हैं, वह भी असम्भव हो जाता। अतः विद्वत्समाज सदा के लिए इस महापुरुष का ऋणी रहेगा।

तस्यास्ति शस्त्रयशसो नयशैर्यमुख्यैः

ख्यातो गुणैर्जगति माधव इत्यमात्यः।

यो ब्रह्म जिह्वादमनाधिकृतः पवित्रं

चत्र च जैत्रममयाय भुवो विभर्ति॥

कस्यचित्।

माधव नाम के एक दूसरे विद्वान् ब्राह्मण ने, विजयनगर के अनेक महाराजों के समय में मन्त्री का काम करते हुए, राज्य-विस्तार करने में अधिक सहायता पहुँचाई थी। ये महाशय मन्त्री थे। अतः माधवाचार्य से इन की मित्रता दिखलाने के लिए शिलालेखों तथा शासन-पत्रों में ये माधव मन्त्री या माधव अमात्य कहे गए हैं।

इन के पिता का नाम चावुण्ड मट्ट तथा माता का माचाम्बिका और गोत्र आङ्गिरस था^२। इन के गुरु का नाम काशीविलास क्रियाशक्ति था जो एक महान् शैवाचार्य प्रवीत होते हैं^३। माधव मन्त्री का जहाँ कहीं उल्लेख है वहाँ इन के गुरु का भी नाम आदर के साथ उल्लिखित हुआ है। माधव अमात्य अद्वैत मत के प्रतिष्ठापक थे। शिलालेखों में लिखा है कि उस समय अद्वैत मत—उपनिषदों के द्वारा प्रतिपादित वेदान्तमार्ग—छिन्न-भिन्न हो गया था। माधव ने उसे फिर उचित स्थान पर प्रतिष्ठित कराया। इसी लिए इन की उपाधि 'उपनिषन्मार्गप्रवर्तकाचार्य' थी। इस उपाधि-धारण से इन की विपुल वेदान्ताभिज्ञता का पता चलता है। उपनिषत् मार्ग को परिष्कृत करने की उच्च भावना से प्रेरित हो कर ही अमात्य माधव ने स्कन्दपुराण के अन्त-

१ दे० ई० आ० लि० ३६, पृ० १८—१९; ई० हि० क्वा० लि० ८, स० ३, पृ० ६११—१४।

२ गोत्रे मेऽङ्गिरसां प्रचण्डतपसश्चातुयडपृष्ठीसुर-
प्रष्ठानुद्भवमेत्य नीतिसरयौ दत्तां धियं शैषयीत्।
सूरिः सन्नपि सर्वदानवमधःप्रह्लाददानेचित्तां
यद् भूयः कवितां व्यवक्ति तनुते नो कस्य वेवाद्भुतम् ॥

३. क्रियाशक्तिगुरुः साक्षात् तेजसा ओजियम्बकः।

क्रियाशक्ति चतुर्दश शताब्दी के सिद्ध शैवाचार्य थे। कहीं-कहीं ये विजयनगर के महाराज हरिहर द्वितीय के कुलगुरु कहे गए हैं—विरूपाक्ष साक्षात् कुलगुरुमदैवं कुलगुरुः

क्रियाशक्त्याचार्यः कलिकलमकण्ठीरवयशः ॥

ई० आ० ४६, पृ० १८।

गैत ब्रह्मज्ञान-प्रतिपादिका सूतसंहिता की 'वात्पर्यदीपिका' नामक विशद व्याख्या की है। इस टीका का अनुशीलन करने से स्पष्ट पता लगता है कि माधव मन्त्री एक बड़े भारी दार्शनिक विद्वान् थे। इस ग्रन्थ के आरम्भ में भी माधव ने अपने गुरु का सादर स्मरण किया है^१। विद्वान् होने के साथ-साथ ये शिव के बड़े भारी उपासक थे। कितने ही स्थानों में इन्होंने शिव-मन्दिरोँ की स्थापना की थी।

अब माधव की क्रियाशीलता पर दृष्टिपात कीजिए। १३४७ ई० में जब हरिहर प्रथम के अनुज मारप्प अपरान्त प्रदेश पर शासन कर रहे थे, तब माधव उन के मन्त्री थे। कुछ काल के अनन्तर हरिहर के पीछे बुकराय विजयनगर के शासक हुए। तब माधव उन्हीं के अमात्य बन कर वहाँ निवास करने लगे। इतिहास के देखने से पता चलता है कि इसी समय मुसलमानों ने जा कर गोवा पर कब्जा कर लिया तथा पूरे परिचर्मी घाट पर अपना शासन जमाया। इन दुष्टों को उखाड़ने के लिए माधव मन्त्री भेजे गए। इन्होंने अपने प्रबल प्रताप तथा सैन्यबल से विधर्मी यवनों का समूल नाश किया तथा हिन्दू देवताओं की पूजा-प्रतिष्ठा को फिर से आरम्भ किया^२। महाराज ने प्रसन्न हो कर १३६८ ई० के आसपास इन्हें बनवासी प्रान्त (जयन्तीपुर) का शासक बनाया। माधव ने बहुत दिनों तक यहाँ शासन किया तथा अपनी नीतिकुशलता से विजयनगर के सम्राट् की समृद्धि में योगदान दिया। १३८१ ई० में माधव मन्त्री की मृत्यु हुई। शिलालेख में माधव 'भुवनैकवीरः' कहे गए हैं जिस से इन के विपुल शौर्य तथा चात्रवेज से सम्पन्न होने की बात सहज में ही जानी जा सकती है।

ऊपर माधवाचार्य तथा माधव अमात्य के विषय में ज्ञात उटनाओं का वर्णन किया गया है। इस वर्णन से स्पष्ट मालूम पड़ेगा कि मायब तथा श्रीमती के पुत्र, विद्यातीर्थ भारतीतीर्थ तथा श्रीकण्ठ के शिष्य, सायब तथा भोगनाथ के ज्येष्ठ भ्राता, हरिहर प्रथम तथा बुकराय के सलाहकार तथा गुरु, 'कालमाधव' 'न्यायमाला-विस्तर' आदि ग्रन्थों के रचयिता, संन्यास ग्रहण करने पर विद्यारण्य के नाम से प्रसिद्ध होने वाले माधवाचार्य चावुण्ड भट्ट तथा माचास्विका के पुत्र, क्रियाविलास क्रियाशक्ति के शिष्य, सूतसंहिता की 'वात्पर्यदीपिका' व्याख्या के रचयिता, अपने बल से गोवा से तुर्कों को मार भगाने वाले, बनवासी के शासक, उपनिषन्मार्ग-प्रवर्तकाचार्य माधव अमात्य से सर्वथा भिन्न हैं। अतः माधव मन्त्री की विजय-वार्ताओं का माधवाचार्य पर आरोप करना नितान्त अनुचित है।

१ श्रीमत्काशीविद्यासायक्रीयाशक्तिशेविना।

श्रीमत्पुण्यकपाटाब्जलेखानिष्ठातचेतसा ॥ २ ॥

वेदशास्त्रप्रतिष्ठात्रा श्रीमन्माधवमन्त्रिणा।

वात्पर्यदीपिका सूतसंहिताया विचोक्ते ॥ ३ ॥

आत्मन्दात्म-संस्कृत-ग्रन्थमाला २५।

२ आशान्तविश्रान्तवशाः स मन्त्री विशो जिगीषुर्महता बलेन।

गोवामिथा कोंकणराजबासीमन्येव मन्त्रेऽस्त्यवर्णयेव ॥

प्रतिष्ठितान् तुर्कसङ्घान् उपाव्य दोष्या भुवनैकवीरः।

उन्मुखितानामकरोत् प्रतिष्ठां श्रीसत्तनापाविमुखाभुजां य ॥

ज० बं० रा० पृ० सो० ४, पृ० ११५।

आहोम राज्यर शासन-प्रणाली

श्रीयुत मधुराप्रसाद गोस्वामी, गुवाहाटी (गौहाटी, आसाम) ।

[आसाम के आहोम-वंशी राजाओं ने लगभग ६०० वर्ष सफलतापूर्वक राज्य किया है। उन की शासन-प्रणाली का अध्ययन करना तथा आसाम की तात्कालिक सामाजिक और राजनीतिक परिस्थिति से उस का सामंजस्य कर के देखना इस लेख का उद्देश्य है।]

इन आहोम राजाओं का विरुद्ध स्वर्ग देव था। युद्ध, सन्धि और कानून बनाने का सब अधिकार इन के हाथ में था। पर इस का मतलब यह नहीं कि आहोम राजा स्वेच्छाचारी और निरङ्कुश थे। शासन में उन के अधिकार समसामयिक मुगल-सम्राट् अकबर या औरङ्गजेब की अपेक्षा बहुत कम और सीमित थे। पर आसाम के गोहाईयों (मन्त्रियों) के हाथ में बहुत शक्ति थी। मुख्य तीन गोहाईयों की सलाह से ही राजा का चुनाव होता था। आहोम राजा वंश-परम्परागत न होते थे। कुछ निश्चित घरानों (कहू) के सब से योग्य राजकुमार में से ही राजा चुना जाता था। राजा के दुष्कर्मों या अत्याचारी होने पर मन्त्रियों को उसे गद्दी से उतार देने का भी अधिकार था। आसाम के इतिहास से इस प्रकार के उदाहरण दिए जा सकते हैं। योग्य शासक न मिलने पर कभी-कभी मन्त्रि-मण्डल मिल कर स्वयं भी शासन करता था। एक बार इसी तरह गोहाईयों ने राजा सुकाफ़ के बाद उस के पुत्र तावगिलाई को गद्दी न दी, और भी कोई योग्य कुमार उन की नज़र में न था; अतः उन्होंने ने कुछ काल (१३११—२० ई०) तक स्वयं ही शासन चलाया। छोटा राजा ने बहुत अनाचार और असीद्धन शरम कर दिया था। तब आ कर गोहाईयों ने परस्पर सलाह की और उसे उतार कर कामरूप के एक कुमार गदापाणि को राज्य सौंप दिया।

इस प्रथा के कारण कभी-कभी मन्त्रि-मण्डल के विभिन्न सदस्य अपने अनुकूल कुमारों को गद्दी देने का जतन करते थे। ऐसे मौकों पर खूब षडयन्त्र रचे जाते थे। पर इन सब का स्पष्ट प्रभाव देश की सार्वजनिक शान्ति पर कभी देखने में नहीं आया। सरदारों ने ही ये बातें चला करती; प्रजा से इन का कोई सम्पर्क न था। आहोम शासन-तन्त्र एक वैध शासन-प्रणाली थी। राजा भी शासन-तन्त्र का एक मुखिया मात्र था। ये कहने को तो सम्पूर्ण शक्ति उस के पास थी; पर उसे राज्य की चली आती हुई प्रथाओं का पालन करना पड़ता था। उस के विरुद्ध चलने या नई प्रथा चलाने का सामर्थ्य उस के पास न होता क्योंकि उस की कोई अपनी स्थायी सेवा न होती थी। रूप का चलन भी वहाँ प्रायः नहीं था। पर इस का मतलब यह नहीं कि आहोम राज्य की सामरिक शक्ति कम थी। यदि ऐसा होता तो आसाम ६०० साल तक लगातार अपनी स्वतन्त्रता कायम न रख सकता। इस सम्पूर्ण समय में मरान, कछाड़ी और सुसलमानों के उपद्रवों और आक्रमणों का सामना उन्हें करना पड़ता रहा। सुसलमानों ने १३ बार आसाम पर आक्रमण किया, पर हर बार उन्हें असफल होना पड़ा। बिना एक सशक्त सैनिक बल के किसी भी राज्य का उस अवस्था में बिरकाल तक बना रहना असम्भव होता।

आहोमों की सामरिक अवस्था बड़ी उत्तम थी। उनके शत्रु सुसलमानों ने उन के अनुशासन और रणकुशलता की बड़ी प्रशंसा की है। गोहाई, फुकन, बरुआ, इजारिका, सैगपा, बड्डा, सब उन के सैनिक अधिकारियों के नाम हैं। इन का युद्ध के अवसर पर सैन्य युद्ध-क्षेत्र में उपस्थित रहना अनिवार्य था। साधारण सैनिकों को पाइक अर्थात् पदाति कहते थे। ये सब साधारण प्रजा में से होते थे। इन्हें वेतन-स्वरूप २ पूरा (८ बीबा) कमीन मिलती थी। हर चार पाइकों में से एक को राजसेवा में उपस्थित रहना आवश्यक था। उस की अनुपस्थिति में उस की भूमि आदि का प्रबन्ध शेष तीन पाइकों को करना पड़ता था। इस २ पूरा कमीन पर पाइकों का स्वाभाविक अधिकार था। एक नियत आयु के बाद उसे पाने का अधिकार हर एक पाइक को था। शान्ति के समय इन पाइकों का काम राजा के घर के काम करना, सड़के बनाना, लाना-बोहना और शब्द आदि बनाना होता था। सरदारों और उच्च पदाधिकारियों को वेतन-स्वरूप राज्य से पाइक मिलते थे, जो उन के सेतों में तथा अन्य

काम करते थे। साधारणतया हम इसे सामन्त-पद्धति कह सकते हैं, पर यूरोप की सामन्त-पद्धति से इस में फर्क था। वहाँ दैत्यत सामन्तों के अधीन रहती थी। पर आहोम शासन-प्रणाली के अनुसार हर एक व्यक्ति पर राजा का सीधा अधिकार था। सामन्तों को राजा की ओर से परिचर आदि मिलते थे। अतः इन का उपयोग राज-शक्ति के खिलाफ नहीं किया जा सकता था। भूमि और मनुष्य दोनों पर राजा का एक समान अधिकार समझा जाता था। सुख-बुराई के लिए पाइको को कई जखों में बाँटा जाता था। जल्दवार को बड़ा और सैन्धा कहते थे। झेड़े-झेड़े अपराधों का फैसला ये ही लोग करते थे। इन्हें चुबने का अधिकार पाइको को था। वे जब चाहते उन्हें पदच्युत कर अपने में से ही किसी दूसरे को इन पदों पर विषय कर लेते थे। बड़े-बड़े अपराधों के मुकदमे राजधानी के बरबा फुकन आदि वच्च पदाधिकारियों के पास जाते थे।

आहोम राजाओं ने अपने यहाँ रूपय का चलन न होने से व्यापार पर कभी ध्यान नहीं दिया। उन की नीति सदा कृषि की वृद्धि की ओर रहती थी। सबके बनावत, साखाव खुदवाना, दया अन्य प्रकार से खेती की वृद्धि करना, यही उन की आर्थिक नीति थी।]

सामाजिक और राजनैतिक अनुष्ठान-बिलाक चिरकाल एके ढेरे ना थके। अवस्था और कालभेदे सेइ-बिलाक लरचर करा आवश्यक हय। जि जातिये पुरनि अनुष्ठान-बिलाकते सदाय खामोचभारि धरि थाकिव खोजे, सेइ जातिर अध-पाव हबलै बेथि दिन ना लागे। आहोम-बिलाके जे च'श' बखर काल आसामत अति सुख्यतिरे राजत्व करिज पारिले, वार एटा कारण तेभेँलोकर बदार और गुणप्राही स्वभाव। धर्म और समाज-सम्बन्धीय आहोमर भालेमान निजा अनुष्ठान आखिल। आसामत किछुदिन थकार पिछते सेइ-बिलाक एरि दि आहोम-बिलाके वार ठाईव हिन्दू अनुष्ठान ग्रहण करिले। राखिले मात्र तेभेँलोकर राज्यशासन-प्रणाली। चुकाफा आसामलै आहि एइ देशत जि शासन-प्रणाली चलाले, चन्द्रकान्तसिंहस्वर्गदेवेब्रो प्राय सेइ एके प्रखलिरै राजकार्य चलाइखिल। च'श' बखर स्वच्छन्दे बलि-अह्रा एइ शासन-प्रणालीदेनो कि, वार लगत आसामर सामाजिक और राजनैतिक अवस्था खाप खाइखिलने नाइ—ताके आलोचना करा आमार प्रबन्धर अदेय।

आहोम-रजा स्वर्गदेव आहोम शासन-प्रणालीर अधिपति आखिल। समर, सन्धि, आइन-कानून आदि राज्यर आवश्यक काम स्वर्गदेवर आह्मा-मते हैखिल। डाढरीया आदि विषया-सकल्ल स्वर्गदेवे पातिखिल, और जगर पाले तेभेँलोकर स्वर्गदेवे आडिबओ पारिखिल। एई बुलि जे आहोम रजा स्वेच्छाचारी आखिल, तेने न हय। मोगल सम्राट् आकवर वा औरङ्गजेवर तुलनात आहोम रजार अधिकार नानाप्रकारे सीमावद्ध। मोगल सम्राटर इच्छार विपरीते बलिव परा विषया मोगल राज्यत नाखिल। मन्त्री-सकल सम्राटर अनुग्रहापेची साधारण कार्यकारक (Secretaries) माथोन। तेभेँलोकर निज बुद्धि और विवेचना मते राज्यर कोनो कामके करिवपरा चमता मोगल मन्त्री-सकलर नाखिल। आजिकालिर आमेरिकार युक्त-अदेशर चेकटेरी-सकल मोगलमन्त्री-सकलर अनु-रूप। आहोम गोहाँइ विनिजना एभेँलोकर तुलनात बर चमताशाली विषया। एकगाट हले तेभेँलोके रजा भङ्गा पता करिव पारिखिल, और उपयुक्त कौबर ना पाले राजकार्यके चलाइखिल। आसामर बुरखी लिखक गेइट चाहबे एइ नियम-बिज्ञाक केवल नासत हे थका बुलि कय। प्रतापसिंह और गदाधरसिंहर दरे पराक्रमी और लरा रजा और कमलेश्वरसिंहर दरे दुर्बल रजार दिनत शासन-नियमर अनेक व्यतिक्रम घटिखिल बुलि तंखेते कैखे। एने व्यतिक्रम मालकै चाले सकलो देशर शासन बुरखाँते पोवा जाव। दूबर वंशी अष्टम हेनरीर दिनत अखण्ड प्रतापी पार्लामेंट सभाके अति बरावर्ती अवस्थात देखा जाय। किन्तु सेई पार्लामेंट सभाइ एसमयत शासनतन्त्रर वलत निज प्रभाव देखुवाइ चार्लस रजार प्राणदण्ड विधानो करि-

छिल। आसामतो सेई दरेई सबल रजार हातत परि दुर्वल मन्त्रीर निज चमता केतिआवा केतीआवा तलपरा एको आचरित हव लग्गीया कथा न हय। किन्तु एने व्यतिक्रम थका बुलिएइ आहोम रजा स्वेच्छाचारी वा मइमत बुलिले भूल हव।

मन्त्रीर हातत रजा भङ्गापता चमता थकाटो भारतर इतिहासत एको नतुन कथा न हय। भङ्गाटो एरिलेओ रजा पतार उदाहरण पुरनि भारतर हिन्दू राज्य-विलाकत अनेक देखा जाय। अध्यापक जायसवालर 'हिन्दू पोलिटि' नामर ग्रन्थत रजा निर्वाचन सम्बन्धे बहुलाइ आलोचना करा हैछे। प्राचीन भारतत रजा वछा मन्त्रीसकलक राजकृत बुलिछिल। पालीभाषर कोनो एक सूत्रमते राजकृत शब्दर अर्थई मन्त्री बुलि जायसवाले लिखिले।

वाछनि प्रथा आछिल बुलि गोहाई-सकले जरे तरे परा डेका अनि रजा पातिव नोवारिछिल। गोटा-दियेक निर्दिष्ट फैदरपरा कोवँर अनि सदाय राजपाटत बहुवा हैछिल। सेइ फैद कोइटार कोवँर-सकल भितरत जाके उपयुक्त बुलि गोहाई-सकले सेवा करिछिल, तेवँ सिंहासन पाइछिल। योग्य कोवँर नापाले मन्त्री-सकले निजे राज्य चलाव परा विधान आछिल। अध्यापक सूर्यकुमार भुवादेवे सम्पादन करा स्व० हरकान्त वरुवार 'आसाम बुरज्जीर' १७ पृष्ठात एइ दरे कैछे। "पाछे मन्त्रीसकले आशै भाल ना पाइ चतुर्थे चुखाडफा राजार राजनीर गर्भत जात ताओचुलाइ कोवँरक रजा ना पाति १३११ शकर परा १३२० सकलैके राज्यशासन करि आछिल।" एइ धरणर मन्त्रिशासन आहोम राजत्वत केइवा बारे हैछिल। देशर सुशासनर निमित्ते मन्त्री-सकलर हातत एने असाधारण चमता दि आहोम शसनतन्त्रइ एटा ढाढर काम करिछिल। एने दिहा नथका हले दुर्वल रजाइ पाइ आहोम राज्य काहानिवाइ चारखार करिलेहेवेन। अनुपयुक्त आरु दुर्वल कोवँरक राजपाट निदिधार उपरिओ अत्याचारी आरु अयोग्य राजाक भाङ्गि न रजा पता चमता मन्त्री सकलर आछिल। लरा रजार अविचार आरु उत्पीडन सहिव नोवारि ढाढरीया-सकले केनेकै गदापाणि कोवँरक राजपाट दिले एइ विषयेओ हरकान्त वरुवार बुरज्जीत लिखा आछे। "लरा रजाइ अनेक कोवँर-सकलक धरि धरि अनि दण्डबन्ध करि अनेक अनोति कर्म करिव धरिले। सेइ देखि बुढागोहाँबि प्रभुति ढाढरीया-सकले मनत विरक्त है अन्य एक जनके रजा पाति लवर मनस्थ करिले, जेहेतु राज्य भङ्गापता करार भार ढाढरीया-सकलर आछिल। पाछे ढाढरीया-सकले रजा हवर योग्य लोक नेदेखि गदापाणि कोवँर कामरूपत थका शुनि तेवेई वइ रजा हवर उपयुक्त हेन जानि रजा पातिलै जावर कारणे वरफुकन प्रभुतिलै लिखात..... वन्दर वरफुकन सकलो फुकन राजखोवारे परामर्श करि गदाधर कोवँरके योग्य हेन जानि रजालोवा स्थिर करि.. रजा होवा बुलि सेवा करिले।" (पृष्ठ ५६)

सकलो समयते उपयुक्त कोवँर पोवा ना जाय। केतिपावा-केतिपावा प्राय सकलो कोवँरर गाते एटा न हय एटा दोष थाके। एने स्थलत काक एरि काक धरिव ढाढरीया-सकलर एटा समस्या है परं। स्वभावते प्रत्येक जनइ आपोनार मनरे मिला कोवँर एजन राजपाटत पाले भाल पाय, कारण तेतिथान रजाइ तंत्रोके आन दूनन गोहाँ-इतके बेंचि अनुग्रह देखुवाव, आरु मन्त्रीसभाव तंत्रोेर चमता आरु प्रतिपत्ति बहुत गुणे वाढिब। गतिके ममान गुनी कोवँर कंवाजनो थाकिले गोहाँइ-सकले निज निज स्वार्थर अनुरोधत राजपाटर कारणे कलिकन्दल करे। एने कन्दलत माधारण प्रजार कोनो सम्बन्ध नाछिल; ढाढरीया आरु विपया-सकलैहे एइ-विलाकत योग दिछिल। समूह प्रजार महायरे देखादेखि युद्धत राजपाट लोवार आशा नेदेखि कोवँर-सकले गोहाँइ-मकनर लगत यांग है दलादलि करि नाना अभिसन्धिर सूत्रपात करे। एने धरणर अभिसन्धि आहोम राजत्वत अनेक बार हैछिल, आरु

अनेक बार एनं चक्रान्तत परि कोवैर आरु डाङ्गरीया सकले अनाहकत चकु, काथ, आनकि समये समये प्राथ पर्यन्त हेरुबाइछिल ।

निर्वाचन नीति थका कारणे सिंहासन लै प्रविशोगिता होवाटो स्वाभाविक । एने अरियाअरि आजिकालिओ ह्य, किन्तु दलबद्ध राजनैतिक मत नचला कारणे आहोम राज्यर प्रविशोगिता डाङ्गरीया आरु कोवैरर भितरते आवद्ध आछिल । पराजित दलक दमाइ राज्य निरापद करिवर निमित्ते न राजा आरु तेओरर दले गुरु व्यवस्था करिव लगा हैछिल । वास्तविकते शासन तन्त्र-मते चलिब खोजा रजाइ सेइ दिनत एने नीति अवलम्बन न करि नोवारेओ । गोहाई-सकलर सन्मति बिने जेतिआ रजाइ कोनां काम करिव नोवारे, सेइ गोहाई-सकलर भितरत जाते रजार विरुद्धपन्थी कोना डाङ्गरीया ना थाके तालै चोवा रजार धाइ कर्त्तव्य । नतुवा शासन विषयत सदाय ऐक्य मत पोवा टान ह्व, आरु आनकि सिंहासनेइ निरापद न ह्व । सेइ कारणे प्रत्येक आहोम-रजा शिङ्गरीचरत जठियेइ आगर विषया भोगि निजर बाछनि मते विषया पातिलोवा देखा जाय । राजद्रोह आदि गुरु अपराधर चेक थका पुरनि विषयार विप्लवसम्पत्ति काढ़ि आनि, प्राणदण्ड शास्ति दियारो उदाहरण आछे । दायित्वपूर्ण इङ्ग्राज शासनप्रणालीत एकालत एइ दरेई मन्त्रीर दोष विचार करि प्राणदण्ड दिया हैछिल । आधुनिक राजनीतिप मात्र प्राणदण्डर व्यवस्था गुचाइछे ।

अभिषेकर समयत रजाक नीतिवाक्य शुनुवा नियम आछिल । तुलुबीया बुरंजोर ४१ पिठित बुड़ा गोहावे न रजाक शुनुवा उपदेश खनि एइ दरे दिछे—“तोमाक महामनु राजपदक दिले । सन्तक पालन, दुष्टक दण्ड, प्राणीर सुख दुख विचार तोमार इहे धर्म, आरु हाँगर वृत्तर आशयत जेने कै ताप आदिक नापाय, कर्काई रजा-देवर आश्रयते तेनेकै देवको देवको देशर प्रजार दोषे गुणे ना पाइछिल । आजि धरि परमेखरे दोष गुणर आश्रय कराळे । जि कार्यर परा दोष हइ, जि कार्यर परा गुण हइ आको स्वर्गदेवे नियम करिव लागे । आरु तोमार तिनटि माई आछे, इ-बोरको पुत्रवते प्रतिपाल करिव लागे । इ-बोरेयो पितृवोषे सेवा करिव लागे । पाछ लौको वर-मरु क्रमे प्रवर्त्तिब लागे । आरु तियाम रजाको नेरिवा, पुत्रवते स्नेह दया करिवा ।” बुड़ा गोहाईर एइ उपदेशते रजार धाइ कर्त्तव्य खिनिर पटा आभास पोवा जाय । उपदेशर भाव लै चाइ आहोम रजाक स्वर्गदेव बुलिलेओ तेओरर जे कोना देवदत्त अधिकार थका बुलि स्वीकार करा न हैछिल, सेइ विषये कोना संदेह नाथाके । स्वर्गदेव उपाधिटे हिन्दुवे दिया, आहोम रजा-सकले आदिरे परा देववंशी बुलि बोधणा करिछिल, आरु हिन्दु-विलाकेओ आहोम रजाक देववंशी बुलि कै स्वर्गदेव उपाधिरे विभूषित करिछिल । किन्तु सिंहासनत ठठार दिनरे परा स्वर्गदेवे प्रजार दोष-गुणर सागी ह्व लागे । देववात उत्पत्ति हलेओ स्वर्गदेव एके वारेइ दायित्व-रहित न ह्व । देवदत्त अधिकार थका हले आहोम रजाक सिंहासनर परा नभाव परा कमता मन्त्री-सकलक दिब नोवारिले हेतेन, कारण देववार परा अधिकार पोवा रजाइ मन्त्रीर वश है चलिब नोवारे । किन्तु आहोम शासनतन्त्रइ देवदत्त अधिकार ना मानिछिल, आरु सेइ कारणेइ मन्त्री-विलाकर हावत विशेष कमता दि रजार हाव मरि वान्छि दिछिल ।

आहोम शासनविधिमते राजसिंहासनत जेनेकै कांस वापतीया अधिकार नाछिल, राजकमताओ सेई दर कोना रजार व्यक्तिगत स्वत्व बुलि थरा न हैछिल । पुरनी हिन्दु राज्यर नीतिमते राजकमता बुक्तिबद्ध अधिकार । राजभार पाइ रजाइ निज स्वायं परि प्रजार हितर निमित्ते चेटा करिव लागे । आहोम-विलाकर मंतओ राजपद ठिक पुरनि हिन्दूयुगर दरे एखन विरवास करि दिया भार । नियम-मते बहव करिव नोवारिले कोना नृपति-यंइ एइ

भार चिरकाल दाबी करिब नोवारं । अनुपयुक्त जेन देखिले डाढरीया-सकले एजन रजार मूरर परा खडाइ नि राजभार भान जनर हातत दियाटो आहोम राजतन्त्र एटा अति स्वाभाविक फल बुलि धरिब लागिब । यथार्थते आहोम शासन-प्रणालीर राज्यर शेष अधिकार (sovereignty) रजा, नाइबा गोहोइ-सकलर हातत नाछिल । आमेरिकार युक्त-प्रदेशर दरे एइ अधिकार शासनतन्त्रते निबद्ध । गोहोइ-सकले शासनतन्त्र पराहे रजा भडा पता क्षमता पाइछिल, आरु रजायो शासनतन्त्ररे अङ्ग हिछावेहे राजकार्यत प्रधान क्षमता चलाब पारिछिल । राज्यर सुशासनर निमित्ते शासनतन्त्रत बन्धा छटा नियम आछिल, सेइ नियम उल्लङ्घा करिले रजायो राजक्षमता चलाब नोवारिछिल आरु मन्त्री-सकलेओ रजा भडा पता करिबलै बल पाइछिल । एतेके आहोम मते रजा, मन्त्री, डाढरीया सकलें समाने शासनतन्त्रर अधीन ।

आहोमर एइ कटकटोया शासनतन्त्र लिपिबद्ध अवस्थात नाछिल । देश दस्तूर आरु पूर्वापर आचार मते राजकार्य ओ चलोवा हैछिल । एइ आचार-बिलाकर सकलो देशर मानुहर माजतेइ अद्भुत क्षमता देखा जाय । जनसाधारणे सहजे आगर धरख करण एरि नतुन नीति नियम लब नोखोजे, आरु रजाइ किवा कारखे न प्रथा सुमाब खुजिलेओ अशेष चेष्टार फलत हे सेइ प्रथा चलाब पारे । आहोम राज्यर नीति-नियम-बिलाक प्राय सदाय एकेइ आछिल । तार कारण एटा एइ जे आहोम रजार सैनिक-बल एने नाछिल जे सहजे कोनो एटा पुरनि नियम गुछाइ बखेरे प्रजार माजत नतुन नियम चलाब पारे । आहोम राज्यत स्थायी फौज रखा दिहा नाछिल, आरु स्थायी फौज ना राखिले रजार क्षमता स्वतते सीमाबद्ध ।

स्थायी फौज रखार दिहा नाछिल यदिओ आहोम-बिलाकर राज्य रचार निमित्ते एटा अति सुव्यवस्थ सामरिक व्यवस्था आछिल । तेओलोके राज्य लबरे परा शेषलैके प्राय सकलो समयते देशत एटा न हय एटा चर्यात आछिल । मराठ, कछारी, मछल्मान आदिर उपद्रवर माजत देशत शान्तिरचा करि प्रजाक मुखे सन्तोषे रखा साधारण शक्तिर काम न हय । एबार न हय दुबार न हय चैथ्य बार मछल्माने आसाम आक्रमण करे, आरु एइ चैथ्यबारेइ आहोम-बिलाके शत्रु लगत जुजि देशर स्वाधीन जीवनरचा करिछिल । मछल्मान-सकले निजे असमीया सेनाक शलागि गैले । आचल कथा, आसामर सामरिक व्यवस्था एने परिपाटी आरु टान आछिल जे इङ्गितते गोटेइ जातिटोवेइ काचिपारि जुजलै जाव पारे । सेइ कारखेइ देखा जाय जे आगर परा गुरि लैके गोटेइ आहोम विषया-बिलाक सामरिक मर्यादार अधिकारी । गोहोइ, फुकन, वरुवा, हाजरीका, शईकीया, बडा सकलोएटि सामरिक कर्मचारी । युद्धर समयत तेओलोके भागे भागे सेना लै युद्धक्षेत्रत उपस्थित हव लागे । एइ सेनार परिमाण अनुसारे उपरवा कर्मचारी-सकलर सान-मर्यादाओ कम-बेच हय । सेना-बिलाकक पाइक बोला होइछिल । पाइक शब्दर अर्थ पदातिक । पाइक-बिलाकर भितरत सकलोवे सदाय जूज करिबलै जाव ना लागे । आचलते पाइक-बिलाक साधारण रायत । आजिकालिर दरे सेइ दिनत धनर व्यवहार कम थकाकारणे रजा घरर काम करिबलै मानुह पोबा टान आछिल । गतिके रजाइ रायतर परा माटिर कर न लय । खाजजार सलनि प्रत्येक चारिजन पाइकर भितरत एजने गै रजाघरत काम करि दिया नियम आछिल । रजाघरत खाटि दियावावे पाइके पति दुपुराकै माटि पाइछिल । जि जन पाइक रजाघरत खाटिबलै जाय तेओर माटि बारि, खेतिबाति बाकी तिनिजने चाय । शान्तिर समयत रजाघरर काम सहज आछिल । खेतिबाति करा, आलि-पहुली तोला, पुखुपी खना आदियेइ पाइकर खाइ काम । जि-बिलाक पाइक रजाक ना लागे, सेइ-बिलाके गै डाढरीया आदि विषया-बिलाकर घरत काम करि दिया व्यवस्था आछिल । गतिके डाढरीया-सकले-आजिकालिर उच्च कर्मचारीर

दरमहा ना पाइखिल। तेभ्रोलोकर पारिश्रमिक दिह्लावे थावतीय काम करिवर निमित्त रजाधर परा किल्लुमान वनुवा पाइखिल। एइ वनुवा-विलाकोइ युद्धर समयत साजिपारि निज निज विषयार अधोने गै जुज करिव लागिखिल।

माटिर खाजनार सलनी रजा वा राजकर्मचारीर धरत काम करा नियमटां ईंग्लण्डतो एकालत आखिल। ताके “फिडेलिन्म्” बोलिखिल। किन्तु आसामर पाइक-विलाक ईंग्लंडर “भिलेन” प्रजार अनुरूप यथार्थते नाखिल। ईंग्लंडर “भिलेन” रायत-विलाक सेइ देशर डाडर डाडर डाङ्गीया वा लहँ-विलाकर प्रजा। लहँ-विलाकर आह्मावते तेभ्रोलोको जुज करिवलै जाव लागिखिल। तेभ्रोलोको जि माटि खाइखिल सि लहँ-विलाकर सम्पत्ति। किन्तु असमीया पाइक-विलाक आरु आसामर माटि उभयेइ असमीया रजार निजा सम्पत्ति। “सि-सकलर मते (आहोमर मते) रजा जे केवल भूमिर अधिकारी एने न ह्य, मानुहरो अधिपति। उमयके दान आरु हुहान्तर करिव पारिखिल।” आसाम वुरखी—गुनाभिराम वरुवा—२७३ पृ०। पाइक-विलाकरो निजा भोगर माटि दुपुरा पोवा एटा मन्वत बुलि रजाइ स्वोकार करिखिल, आरु सेइ कारखे पाइक प्रजाइ निर्दिष्ट वयसत भरिदिलेइ खेलर विषयार परा निजर मागर माटि दावी करिव पारिखिल, राविन्दन चाहवे तेभ्रोर ‘एकाउण्ट भव् आसाम’ नामर कितापत लिखिले।

आसामर एइ “फिडेल” प्रणालीर पटा डाडर गुण ए जे आखिल जं एइ देशर प्रजा-विलाक मदाय रजार अधीनेइ आखिल। इभोरपर फिडेल राज्यर डाङ्गीया-सकलर दरे असमीया पाइकक कोनो डाङ्गीयाइ रजार विरुद्धे बुलि देशत उत्पात करिव नोवारिखिल। कालक्रमत जेतिया धनर प्रचलन हुल गा-खाटनिर ठाइट धन दि माटि खोवा नियम चलिल।

पाइक-प्रणाली बकार कारखे आहोम आसामत राजकोषर अवस्था कोनां समथते दुर्वल हुनलै ना पाले। देशर दुर्योगर समयत आहोम रजाइ प्रजाक करकाटलेरे चेपा निडि प्रजार हुतुवाइ राज्यर थावतीय काम कराइखिल। शिल्प, वाणिज्यर बहुल वित्ताखलै वाट नाचायो आहोम रजाइ जयसागर, शिवसागरर दरे धुखुरी, चेउनी, वेदर आलीर दरे गढ़ आरु नानान दौल, वेवालय कराइ राज्यर समृद्धि वढाव पारिखिल। आन फाले रजा आरु प्रजार मितरत सदाय धनिष्ठ सम्बन्ध आखिल। राज्यर थावतीय कार्यते प्रजार स्वार्थ बका बुलि प्रजाइ सहजे अनुमान करिव पारिखिल, सेइहे विपदर समयत आहोम रजाइ गोटेइ प्रजारे अकपदीया सहाय आरु समर्थन पाइखिल।

चलांचा-करोवार सुविधार कारखे पाइक-विलाकक खेले खेले भगोवा हैखिल। खेले खेले वढा, शङ्कीया आदि पाइकर उपरत विषया आखिल। साधारण अपराधी-विलाकर दोषादोष विचार करि एइ कर्मचारी विलाकोइ दण्ड विहित पारिखिल, किन्तु डाडर अपराधीर विचार आरु दण्डकार भार वरवहवा आदि राजधानीर विषया-सकलर हातत। कोनो खेलर विषया अत्याचारी है पाइकर उपरत उपद्रव करा जेन देखिले पाइक-विलाक एकमत है तेभ्रोक भाङ्गि न विषया पावेव पारिखिल, एइ धरयर निर्वाचन चमता आजिकालि अति उन्नत गणतन्त्र प्रधान देशतो विरल। वढा, शङ्कीया, हाजरिका आदि विषयार हातत खेलर ओपरत थावतीय चमता दिया थाके, तेने विषयाको जि शासनतन्त्र-मते प्रजाइ भाङ्गि पावेव पारिखिल सेइ शासनतन्त्र प्रेषता-सम्बन्ध किवा सन्देश आकिव पारने ? मोटते कवलै गले आहोम शासनतन्त्रत गणतन्त्र सकलां लचबेइ विद्यमान आखिल। देशर सुशासन आरु प्रजार व्यक्तिगत स्वाधीनतार कानां प्रकार बति नोहोवाके जिमान खनि स्वायत्त-शासन दिव पारि, आहोम शासनतन्त्रत सेइखनि दिया व्यवस्था आखिल। एने एटा उच्चतरपर शासनप्रणालीरे जि जातिप च’ ग’ वल्लर काल पन्नन राज्य सुख्यातिरे राजत्व करिखिल, सेइ जातिर राजनैतिक प्रतिभा सकलोर गौरवर विषय।

श्री चैतन्यदेव कौन शके अन्तर्हित हन ?

अध्यापक श्रीयुत द्रविशचन्द्र महाचार्य, चट्टग्राम ।

[श्री चैतन्यचरितामृत नामक गौड़ग वैष्णव सम्प्रदाय के सुविख्यात ग्रन्थ में वर्णित है कि शक संवत् १४२२ में, ४८ वर्ष की अवस्था में, श्री चैतन्य महाप्रभु की मृत्यु हुई। जयानन्द तथा लोचनदास उन की मृत्युतिथि आषाढ़ शुद्ध सप्तमी, रविवार बताते हैं। परन्तु शक संवत् १४२२ में आषाढ़ शुद्ध सप्तमी को रविवार नहीं था। इस में, संवत् में ही भूल मात्स्य पड़ती है, तिथि में बहरी। दूसरा संवत् १४२८ बताया जाता है परन्तु उस में भी यही कठिनाई आ पड़ती है। यह संवत् १४२४ (शक) होना चाहिए क्योंकि उस वर्ष आषाढ़ शुद्ध सप्तमी रविवार को थी। बालकवि कर्णप्र के 'श्री चैतन्यचरितामृत' में श्री चैतन्यदेव का वय ४७ वर्ष दिया है तथा वही लेखक के 'श्री चैतन्यचन्द्रोदय' नाटक द्वारा भी संवत् १४२४ की ही पुष्टि होती है।]

प्राचीन बङ्गसाहित्ये इतिहास आं जीवनी-ग्रन्थ अति दुर्लभ। कतिपय 'चरित'-ग्रन्थ पाओआ गलेओ, महापुरुषगणेर जन्म-मृत्युर तारिख-निर्णय कर। एक प्रकार असाध्य। एह साधारण धारणार बशवर्ती हइया आमरा जखन गौडीय वैष्णवाचार्यगणेर विवरणीते पाश्चात्य धरणे लिखित बहुतर जन्ममृत्युर शकाङ्क प्रथम देखिते पाइ, तखन वस्तुतइ आनन्दलाम हय। सम्प्रति कौतूहल-वशतः ऐ रूप कतिपय शकाङ्क विशेषभाव आलोचना करिया आमरा एककाले हताश हइयाछि। एकमात्र श्रीचैतन्यदेवेर जन्म-शकाङ्क व्यतीत, 'बङ्गभाषा ओ साहित्य' प्रभृति ग्रन्थे गृहीत वैष्णवाचार्यगणेर तारिखगुलिअर एकटीओ अभ्रान्त बलिखा प्रतिपन्न हय किना सन्देह। आमरा बङ्गीय साहित्यिकवृन्दके असुरोध करितेछि, पवित्र वैष्णव-इतिहासेर एह कलङ्क जेन ताँहारा विज्ञान-सम्मत प्रणाली अवलम्बने अपनोदन करेन। आमरा वर्तमान प्रबन्धे देखाइते चेष्टा करिब जे स्वयं महाप्रभु कौन शके अन्तर्हित हइयाछिलेन से विषये यथेष्ट विचारेर अवकाश रहियाछे।

श्री चैतन्यचरितामृत ग्रन्थे स्पष्टाचरे लिखित आछे, १४५५ शके ४८ बत्सर बयसे महाप्रभुर अन्तर्धान हय। अन्य कोन ग्रन्थे बोध हय अन्तर्धानेर कोन शकाङ्क स्पष्ट करिया लिखित नाइ। चरितामृत ग्रन्थ महाप्रभुर अन्तर्धानेर अनेक पर रचित। ग्रन्थशेषे ग्रन्थसमाप्तिकाल एह रूप पाओआ जाय —

“शाके सिन्धुग्नितबाणेन्दौ ज्येष्ठे वृन्दावनान्तरे।

सूर्ये असितपञ्चम्यां ग्रन्थोऽयं पूर्यतां गतः॥”

लिपिकारंर दोषे पाठान्तर घटाव, बहुकाल यावत् तारिखदी सन्दिग्ध अवस्थाय रहियाछे। अथच गणित ज्योमिषशास्त्रेर साहाय्य अकाट्यरूपे इहा निर्णय करा चले। आमरा गणना करिया देखियाछि, १५३७ शकाब्दे (७३ में १६१५ ख्री०) ८-इ ज्यैष्ठ रविवार (चान्द्र वैशाखेर) कृष्णा पञ्चमी तिथि ३-६-५० पल पर्यन्त छिल। सुतरां इहाइ चरितामृतेर प्रकृत रचनाकाल। “सूर्याहे सितपञ्चम्यां” पाठ भुल, कारण ऐ शके 'असित' अर्थात् कृष्णा सप्तमी सङ्कलवार पड़े, एवं शुद्धा पञ्चमी ज्यैष्ठ मासे सोमवार एवं शुद्धा सप्तमी बुधवार पड़े। “शका-

प्रिबिन्दुबाखेन्दौ" पाठटी एकेवारेइ भुल एवं कल्पित—१५०३ शके (२३शे मे १५८१ ख०) २५ शे ज्येष्ठे (चान्द्र-ज्येष्ठे) कृष्णा पञ्चमी ४ । १० पल पर्जन्य छिल, किन्तु से दिन मङ्गलवार, रविवार नहे । ऐ मासेइ कृष्णा सप्तमी बुधवार । गौडीय वैष्णवैर सम्प्रदायविशेष दीर्घकाल जावत् एइ भान्त एवं कल्पित रचनाकाल (१५०३ शक) प्रचार करिया आसितेछेन । प्रेमविलासेर एक अभिनव विलासे एव वनविष्णुपुरे एक पुँथिते (बङ्गीय कवि २८-६ पृ०) नाकि एइ तारिख पात्रोआ जाय ।

जाहा हुवक, महाप्रभुर अन्तर्धानेर ८२ वत्सर परं रचित एकमात्र ग्रन्थेर उपर निर्भर करिया १४५५ शके ताँहार विरोभाव अविसंबितरूपे ग्रहण करा जुक्तिजुक्त नहे । चरितामृते शकाङ्क भिन्न मासादिर बल्लेख नाइ । जयानन्द ओ लोचनदासेर मते रथनाश्रर अन्यबह्ति परवर्ती आषाढेर शुक्ला सप्तमीते महाप्रभुर विरोधान हय एवं से दिन रविवार छिल । बहुकालपूर्व पुरातन "श्री श्रीविष्णुप्रिया पत्रिकार" द्वितीय वर्ष (७२ पृ०) जनैक लेखक एइ तारिखटी गणना करिया देखियाछिलेन । १४५५ शके ३१ शे आषाढ रविवार शुक्ला अष्टमी ४-६४१ पल छिल (आमादेर गणनाय ४६।३३ पल), किन्तु से दिन शुक्ला सप्तमी पात्रोआ जाय ना । उक्त लेखक महोदय १४५५ शकाङ्क अश्विना धरिया तिथिटाइ भुल साव्यस्त करियाछिलेन । आमरा किन्तु मने करि तिथि अपेचा शकाङ्कटाइ भुल ह्योआर अधिक सम्भावना । चरितामृते लिखित शकेर ठिक एक वत्सर पूर्व १४५४ शकाब्दे १० इ आषाढ रविवार (६ इ जुन, १५३२ ख०) शुक्ला सप्तमी ५१।५४ पल पात्रोआ जाय एवं इहाइ महाप्रभुर विरोधानेर प्रकृत तारिख हइवे । एतद्विन्न १४५८ शकेओ २७ शे आषाढ रविवार (२५ शे जुन १५३६ ख०) शुक्ला सप्तमी ५५।१० पल छिल । महाप्रभुर जीवनीपत्नी विभिन्नग्रन्थे विभिन्नप्रकार, चैतन्यभागवते ताँहार नीलाचले बास अधिकाश पुँथिते "अष्टाविंशति वत्सर" लेखा आछे (संशोधन करिया "अष्टादश सवत्सर" लिखित हइयाछे) । जयानन्दओ तिन वार लिखियाछेन (पृ० १३७, १४६-५०) २८ वत्सर । दुइ जनेर मते ऐक्य देखिया आमरा ग्रथमतः १४५८ शकइ अवधारण करिते प्रवृत्त हइयाछिलाम । कृष्णदासेर मते २४ वत्सरे संन्यास, १८ वत्सर नीलाचले बास एवं ६ वत्सर विभिन्नस्थाने अग्रण । ६, १८, २४ संख्यागुलि गणितान्तेर हिसावे एतइ विशुद्ध एवं निर्दोष जे स्वभावतइ ए स्थले निपुण हस्तेर परिचालना आशङ्कित हय । चैतन्येर चरितावलीमन्थे सर्वापेचा प्राचीन एवं ग्रामाणिक ग्रन्थेर दोहाइ दिबा आमरा उक्त उभय मतइ परित्याग करिते बाध्य हइयाछि ।

इहा निरान्त कलङ्केर विषय जे गौडीय-वैष्णव सम्प्रदायेर कीर्तिस्मर्य बालकवि कवि-कर्णपुरे "चैतन्य-चरितामृत" महाकाव्य ए जावत् समुचित आदरलाभे बन्धित रहियाछे । जगतेर साहित्ये १६ वत्सरेर बालक-रचित महाकाव्य अति विरल । एइ ग्रन्थेर शेष श्लोके "वेदा रसाः श्रुतय इन्दुरिति..." रचनाकाल निबद्ध रहियाछे—१४६४ शक ज्येष्ठ मास कृष्णा द्वितीया सोमवार । एइ तारिखटी गणितशास्त्रेर साहाज्ये विशुद्ध प्रतिपन्न हय । १४६४ शके ५ इ ज्येष्ठ सोमवार (१ ला मे १५४२ ख०) कृष्णा द्वितीया २२।१० पल छिल । सम्प्रति ढाका-विश्वविद्यालये एइ काव्येर एक मूल्यवान् हस्तलिखित प्रतिलिपि सगृहीत हइयाछे—ताहावे प्रतिलिपिकारक धृटी श्लोके निजेर परिचयादि ज्ञापन करियाछेन । ताँहार नाम विष्णुदास गोस्वामी एवं तिन स्वयं रूपगोस्वामीर शिष्य छिलेन । (ढाकार पुँथिलानि विष्णुदासेर स्वहस्तलिखित पुँथिर अपेक्षाकृत आधुनिक एकत्वानि नकल-मात्र हइवे ।) एहीय श्लोकटी मूल्यवान् ।

चैतन्यचन्द्रचरितामृतमङ्गलमैद्वयं द्वान्द्विकैर्विरचितं कविकर्णपुरैः ।

रूपारव्यमत्प्रभुरैः स्वकरान्मुजान्तै शके हयर्मुमुदने लिखितं पुरा यत् ॥

इहा हइते जाना जाय अद्भुतकर्मा कविकर्णपूर मात्र १६ वत्सर बयसे (२८ वत्सर नहे—मूलकाव्ये ओ द्वितीय सर्ग ६० श्लोके “दृग्घट” १६ अर्थे प्रनुक्त हइयाछे) एइ महाकाव्य रचना करेन एवं रचनारमात्र तिन वत्सर परे १४६७ शके स्वयं रूपगोस्वामी स्वहस्ते एइ ग्रन्थ नकल करियाछिलेन । रूपगोस्वामीर करकमलाङ्कित ग्रन्थेर प्रामाण्यविषये बोध हुय मतद्वैध हइवे ना । एइ महाकाव्येर शेष सर्गे पाओआ जाय (४० श्लोके) महाप्रभुर २४ वत्सरे संन्यास, ३ वत्सर श्रीचेत्रे बाहिरे नानादेशे जाताजात एवं २० वत्सर श्रीचेत्रवास (१८ सर्ग, ६१ श्लोक द्रष्टव्य) । परवर्ती ४१ श्लोके स्पष्ट भाषाय ४७ वत्सर लीलाकालेर उल्लंख रहियाछे । एतदनुसारं १४५५ (किंवा १४५८) शक छाहिया १४५४ शकाब्देइ अन्तर्धान अवधारित हुय । शास्त्रमते आनुर्गणना साबनमाने करिते हुय । १४५४ शके विरोधानकाले तौहार बयःक्रम ठिक ४६ वत्सर ११ मास कएकदिन वरीयै हइयाछिल । तर्कचछले सौरमान धरिया परवत्सर (१४५५ शके) ओ बयःक्रम स्थूलतः ४७ वत्सर पाओआ जाय बटे, किन्तु शुक्ला सप्तमी तिथि ओ रविवारेर सम्मिलन घटे ना । तद्विष १४५४ शकाब्द भारेकटी निदर्शन द्वारा सूचित हुय ।

कविकर्णपूर परित्यक्तवयसेर रचना चैतन्यचन्द्रोदय नाटकेर दशम अङ्के नीलाचले एक वत्सरेर महामहोत्सव विशेषभावे चित्रित हइयाछे । अङ्केर शेषे अद्भुत ओ महाप्रभुर जे कथोपकथन लिपिबद्ध हइयाछे ताहा आलोचना करिले निःसन्देह प्रतिपन्न हुय जे से वत्सरइ महाप्रभुर लीलाबसान हइयाछिल । ‘लोकान्तरे’ किंवा ‘वपुरन्तरे’ महाप्रभुर सङ्ग प्रार्थना एवं ‘अवतारान्तरे’ प्रतिश्रुति दान अन्यथा अर्थहीन हइया पड़े । एइ शेष वत्सरेर महोत्सवेर शेष दिन होरापञ्चमी छिल—इहाओ जयानन्देर ओ लोचनदसेर उल्लिखित तिथिर परिपोषक बटे । एइ शेष वत्सरटो गणितेर साहाय्ये बाहिर करिया लओआर एकटी प्रकृष्ट चिह्न अज्ञातभावे विद्यमान रहिआछे । दशमाङ्केर १३ श्लोक हइते जाना जाय से वत्सर “महाव्येष्टो जोग” सङ्घटित हइआछिल । एइ जोग स्थविशास्त्रोक्त एकटी दुर्लभ ग्रह-समावेश । रघुनन्दनेर विधितखे एइ जोगसङ्घटनेर नानाविध शास्त्रीय प्रकार प्रदर्शित हइयाछे । महाप्रभुर नीलाचल-वासकाले दुइ बार मात्र एइ महाव्येष्टो जोग गर्भना द्वारा पाओआ जाय । १४४३ शके एवं १४५४ शके । १४५४ शके २१शे ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्दशी ४।२६ पलेर पर पूर्णिमा; अनुराधा नक्षत्र ४५।१ पल पर्जन्य, बृहस्पति अनुराधा नक्षत्रे (७।५।४७।२४) एव रवि अनुराधा नक्षत्र हइते ठिक पञ्चदश रोहिण्यो नक्षत्रे वर्तमान छिल । विधितस्वभूत व्याघ्रमूर्ति-वचनानुसारं किंवा वृत्तीय भवानुसारे इहाइ “महाव्येष्टो जोग” बटे ।

सुतरां श्रीचैतन्यदेवेर अन्तर्धान घटियाछिल १४५४ शकाब्दे १२६ आषाढ़ रविवार शुक्ला सप्तमी तिथि-सम्ये—१५३२ ख्रिष्टाब्दे ६६ जुन तारिले ।

मध्ययुग में राजस्थान और बङ्गाल के बीच साधना का सम्बन्ध

श्रीधुत चितिमोहन सेन, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन ।

भारतवर्ष में आज आधुनिक शिक्षा-दीक्षा का इसना विस्तार हुआ है और हम लोग विराट् भारतीय संस्कृति और सार्वभौमिकता की बँधी-संधी इतनी बोलियाँ रटा करते हैं, फिर भी हमारी सङ्कीर्ण प्रान्तीयता का अन्त नहीं ।

अच्छी तरह देखने से मालूम होता है कि हमारी उदारता का अर्थ यही है कि दूसरे लोग उदार हो कर हमारी सारी प्रादेशिक वस्तुएँ निर्विवाद स्वीकार कर लें पर हमें अपनी सीमा छोड़ कर ज़रा भी बाहर न जाना पड़े ।

प्राचीन काल में, सम्भवतः, इस तरह की बँधी-संधी बोलियाँ नहीं थीं, पर ज्ञान, धर्म और संस्कृति का लेन-देन कितना स्वाभाविक था ! बाहर की दुनिया के साथ भी इन सब विषयों के साथ योग रहने में भारतवर्ष को कोई बाधा नहीं थी । और रेल, स्टीमर, तार, बाकघर आदि के बिना ही उन दिनों में भारतवर्ष के सभी प्रदेशों में जो योग था वह बड़ा ही विस्मयजनक है ।

मैं गौड़ (बङ्गाल) का हूँ और भोम्बाजी राजस्थान के । यद्यपि इतनी दूर से आज मैं अपनी अन्तर् का निर्मल श्रद्धाञ्जलि निवेदन करने जा रहा हूँ, फिर भी आजकल बहुतेरे के लिए इस प्रदेश-भेद का भूल जाना सम्भवतः कठिन होगा । पर उन दिनों में इस व्यवधान से कुछ आता-जाता नहीं था ।

शङ्कराचार्य, रामानुज आदि दक्षिण भारत के निवासी थे पर आज समूचे भारतवर्ष में उन का स्थान है । जयदेव बङ्ग देश के थे पर भारतवर्ष में कहाँ उन का गान आदर के साथ नहीं गाया जाता ? छीलायुक्त बिल्वमङ्गल तामिल देश के रहने वाले थे पर आज का बङ्गाली भी, प्रत्येक गृह में, यही समझता है कि वे उस के अपने देश के ही आदमी हैं ।

उन दिनों सारे भारतवर्ष में ऐक्य-योग के कितने ही साधन थे । सारे भारत में फैले हुए तीर्थ थे; इसी लिए अन्यान्य प्रान्तों के लोगों की आँखें ही बङ्गाली के प्रत्येक घर में उस का चित्त राजस्थान के पुष्कर क्षेत्र के दर्शन के लिए व्याकुल रहा करता था । राजस्थान के जैन साधु, दल बाँधकर, बङ्ग देश के पारसनाथ आदि नाना जैन तीर्थों का दर्शन करने आया करते थे ।

साधु लोग अपने शिष्यों के साथ, दल बाँध कर, तीर्थ-दर्शन और अन्य कई उद्देश्यों से नाना प्रदेशों में भ्रमण किया करते थे । जातुर्मास्य और वर्षाकाल के उपलक्ष्य में बहुत दिनों तक एक ही स्थान पर वास भी करते थे । इसी लिए अनेक प्रकार से प्रत्येक प्रान्त में पारस्परिक भावों का आदान-प्रदान चलता था, इसी लिए एक प्रान्त की संस्कृति (culture) दूसरे प्रान्त में फैल पाती थी ।

किसी एक प्रान्त में एक धर्म या संस्कृति का उदय होता तो उस धर्म और संस्कृति के साथ ही साथ उस प्रदेश की भाषा भी अन्यान्य प्रान्तों में समाहत होती थी ।

संस्कृति और धर्म के साथ ही भाषा का भी विस्तार और प्रचार हुआ करता, तथा प्रत्येक प्रदेश में आपस का परिचय भी घनिष्ठ हो जाता करता था। नाना-प्रदेश-वितरित भाषा पर नाना स्थानों की छाप पड़ा करती थी।

मध्य भारत में प्रचलित संस्कृत की बात छोड़ देने पर भी देखते हैं कि जो पाली भाषा बौद्धों की इतनी भक्ति और श्रद्धा का धन थी वह क्या बाद में केवल उत्तर मागधी मात्र रह सकी? दिनों-दिन वह गौरसेनी-धर्माक्रान्त हो गई। जैन-मागधी में ही क्या अन्त तक मगध का वह रूप टिक सका था?

‘कल्हर’ (संस्कृति) के प्रयोजन से परवर्ती काल में भी, देखा जाता है, अपभ्रंश भाषा नाना स्थानों में व्याप्त हो गई। अवश्य ही प्रान्तभेद से उस में कुछ रूप-भेद भी हुआ था। ‘बौद्ध गान ओ दोहा’ में जिस प्रकार का अपभ्रंश पाया जाता है, प्रायः उसी तरह का अपभ्रंश, जरा-जरा प्रादेशिक विरिष्टता के साथ, कर्नाटक से बङ्गाल तक फैला हुआ था। भिन्न-भिन्न प्रान्तों के भक्त और साधक लोग उस समय एक-दूसरे के गान और भजन समझ सकते थे।

बङ्गाल के नाथ और योगियों के पद, मैनामती और गोपीचन्द के गान सारे उत्तर भारत—यहाँ तक कि सिन्ध, कच्छ, गुजरात, महाराष्ट्र और कर्नाटक—में भी गाए जाते थे। मैं ने राजपूताने के योगियों में, यहाँ तक कि कच्छ दीनाघर में भी—बङ्गाल के नाथ और योगियों के अनुरूप बाणी का प्रचलन देखा है। गोरखनाथ (गोरखनाथ) के गान, नाथ और योगी-पद बङ्गाल, राजपूताना इत्यादि सब जगह प्रचलित थे। जयदेव की भाषा यद्यपि संस्कृत है फिर भी वह काफी मात्रा में प्राकृतवर्सी है। फिर भी, उन का गान काश्मीर से कुमारी तक सर्वत्र समान भाव से समाहत था। यह ठीक है कि इस तरह का विस्तार होने में काफी समय लगा था; किन्तु आज के इस वैज्ञानिक सुयोग के काल में भी वैसा होना सङ्ग नहीं है।

दिखी के बादशाह के सेनापति हो कर राजा मानसिंह बङ्गाल आए थे, फलतः यशोहर (जैसेर) की देवी गईं राजपूताने के आसरे में। साथ ही साथ यशोहर की देवी के पुजारियों को भी आसरे जाना पड़ा। आज भी वहाँ उस देवी की पूजा भक्ति के साथ होती है और देवी के उन बङ्गाली सेवकों का दल आज भी उस की पूजा को चला रहा है।

वृन्दावन में गौड़ीय वैष्णव सन्प्रदाय के सात प्रधान ठाकुर थे। श्री श्री गोविन्द को श्री रूप गोस्वामी ने प्रतिष्ठित किया था; श्री श्री मदनमोहन को श्री सनावन गोस्वामी ने और श्री श्री राधासोहन को श्री जीव गोस्वामी ने प्रतिष्ठित किया था। किसी-किसी का मत है कि इन्हें श्री रूप गोस्वामी ने प्रतिष्ठित किया था। श्री श्री गोपीनाथ की प्रतिष्ठा श्री भूगर्भ गोस्वामी और श्री मधु पण्डित ने की थी। श्री श्री श्यामसुन्दर वत्सल देश के भक्त श्री श्यामानन्द के प्रतिष्ठित थे। श्री श्री राधाविनोद की प्रतिष्ठा श्री नरोत्तम ठाकुर ने, श्री श्री गोकुलानन्द की प्रतिष्ठा श्री लोकनाथ गोस्वामी ने और श्री श्री राधारमण की प्रतिष्ठा श्री गोपाल भट्ट ने की थी। श्री श्री राधाविनोद और श्री श्री गोकुलानन्द की सारी सेवा एक ही साथ होती है।

वत्सलवासी भक्त श्री श्यामानन्द के स्थापित श्री श्री श्यामसुन्दर के सेवक उड़िया हैं, और बाकी ६ ठाकुरों के सेवक बङ्गाली हैं। ‘गोविन्द, गोपीनाथ, मदनमोहन’ इन तीन ठाकुरों की ही प्रतिष्ठा ज्यादा है। उन में भी गोविन्द की प्रतिष्ठा सब से अधिक है।

अन्त तक श्री गोपाल भट्ट के प्रतिष्ठित श्री श्री राधारमण का विग्रह ही वृन्दावन में टिक सका। दिखी के अत्याचार से श्री श्री गोविन्द, राधा-दामोदर, गोपीनाथ, श्यामसुन्दर, राधाविनोद, गोकुलानन्द इन कई

विग्रहों को राजपूताने के जयपुर में चला जाना पड़ा और श्री श्री मदनमोहन को जयपुराधीन ने अपनी ससुराल करौली में भेज दिया। जयपुर-नरेश के साले करौली के राजा गोपालसिंह ने सन् १८४० ई० के आस-पास करौली में मदनमोहन का एक सुन्दर मन्दिर बनवाया। कहा जाता है कि भक्त सूरदास वृन्दावन में इन्हीं मदनमोहन के बड़े उपासक थे।

वृन्दावन में गोविन्दजी का जो मन्दिर था वह जैसा मनोरम था वैसा ही विशाल भी। इस मन्दिर की दीवार से जुड़े हुए एक अस्पष्ट प्रस्तर-फलक के पाठ से जाना जाता है कि आमेर-नरेश मानसिंह ने अकबर के चौथीसवें राज्यवर्ष में, श्री रूप-सनावन के उत्त्वावधान में, गोविन्दजी की प्रतिष्ठा कराई थी। मुल्तान के कृष्ण-दास बखिक् ने भी इस में काफी सहायता दी थी। यह मन्दिर बाद की सुसल्लमानों के हाथ से विकृत हो गया। जो थोड़ा सा बच रहा है उसे देख कर ही अचरज में पड़ जाना पड़ता है। गोपीनाथ का मन्दिर भी शेखाबाटी (राजपूताना) के रायसिंह का बनवाया हुआ था। ये सम्राट् अकबर के सभासद थे। इस समय यह मन्दिर जीर्ण हो गया है।

वृन्दावन के साथ विग्रहों में से छः तो गए राजपूताने में। वहाँ जाने पर भी छः में से पाँच के सेवक बङ्गाली हैं, उन का विवाहादि सम्बन्ध आज भी बङ्गालियों में ही होता है।

दिखो के अत्याचार से राजपूताना बचा था। इसी लिए केवल देवता या देवविग्रह ही नहीं, अनेकानेक स्वाधीन मत और सम्प्रदायों के उपदेशार्थों ने भी अपने-अपने पोथी-पत्रों के साथ राजस्थान में आश्रय ग्रहण किया। जाना स्थानों से सेठों का दल भी आ कर वहाँ आश्रित हुआ था। इसी लिए उन दिनों में राजपूताना नाना धर्मों, भावों और ऐश्वर्यों से समृद्ध हो उठा था।

छः-छः गौड़ीय ठाकुर अपने सेवकों सहित राजस्थान में प्रतिष्ठित हुए। इस के फल-स्वरूप गौड़ीय मतवाद राजस्थान में विशेष रूप में सम्मानित हुआ। आज भी गीजगढ़ के सरदार, खुशहाल सिंह के समान विद्वान् और भक्त लोग गौड़ीय गुरु के शिष्य हैं। आप एक बार जयपुर के हार्डकोर्ट के न्यायाधीश थे।

वृन्दावन में गौड़ीय ठाकुर का मन्दिर बनवा कर और कुसमय में छः ठाकुरों को आश्रय दे कर तथा उन की सेवा के लिए व्यय की व्यवस्था कर के राजपूताने को—खास कर जयपुर को—राजा लोग बङ्गाल के चिर कुत-ज्ञाता के पात्र हुए हैं।

जाना कारखों से जयपुर के साथ बङ्गाल का सम्बन्ध बहुत पुराना है। प्राचीन जयपुर नगर की जो नगर-प्रतिष्ठान-व्यवस्था (Town Planning) इतनी सुन्दर है वह बङ्गाली विचारधारा अट्टनार्थ की बनाई हुई है।

अंगरेज़-राजत्व के प्रारम्भ में राज-काल के लिए और विशेषतः अंगरेज़ी शिक्षा देने के लिए जो बङ्गाली राज-पूताने में गए थे, आज उन की चर्चा नहीं कहेंगे, साथ ही राजपूताने से कलकत्ते में उधारा सारे बङ्गाल में जो राज-स्थानी, भारवाही व्यवसायियों का दल बास करके दिन-दिन स्वदेश को समृद्ध कर रहा है उस की बात भी आज नहीं कहेंगे। क्योंकि यह बात इस नए युग से सम्बन्ध रखती है। हमारा वक्तव्य उस मध्य युग से है जब नामा प्रान्तों में सम्बन्ध स्थापित करने में धर्म और 'कल्चर' का वफ़ादा छोड़ कर अन्य कोई स्थूल वैपयिक वफ़ादा ही बर्दा था।

आज कलकत्ते का बड़ा बाज़ार देखने से जान पड़ता है कि कोई राजस्थान का ही महानगर है। प्राचीन काल में भी व्यवसाय के लिए श्रुतिदावाद, जियागञ्ज प्रभृति स्थानों में अनेक राजस्थानी जैन सेठ आ कर बास करने लगे थे।

जो हो, राजनैतिक और वैयक्तिक सम्बन्ध कभी भी ऐसा विग्रह नहीं होता। इसी लिए राजपूताने और बङ्गाल में जो विग्रह आध्यात्मिक सम्बन्ध है उसी को मैं आज श्रद्धा-सहित स्मरण कर रहा हूँ।

राजपूताने के पास ही हैं वृन्दावन और मथुरा। ओ श्री बल्लभाचार्य के मत को पुष्टि-मार्ग कहते हैं। इन का स्थान मथुरा-गोकुल में था, वृन्दावन में नहीं। इन को भी अन्त में नाथद्वारा में जा कर आश्रय लेना पड़ा। वृन्दावन गौड़ीय भक्तों की साधना और राजपूत राजाओं की सहायता से ही गठित हो उठा था।

सनकादि सम्प्रदाय से उद्भूत होने पर भी वृन्दावन का राधावल्लभी सम्प्रदाय गौड़ीय मत से, विशेष कर नित्यानन्दी भाव से, प्रभावाम्बित था। इसी लिए वे पुरुष की अपेक्षा प्रकृति को ही प्रधान मानते हैं। उन की राधा आगे हैं कृष्ण पीछे। इस सम्प्रदाय के साथ गौड़ीय महाप्रभु के सम्प्रदाय का बड़ा बनिष्ठ सम्बन्ध है। कवि नागरीदास राधावल्लभी कहे जाते हैं पर बहुत लोग उन्हें गौड़ीय सम्प्रदाय के ही समझते हैं।

सोलहवीं शताब्दी के शेष भाग में वृन्दावन में हरिदासी या टट्टी सम्प्रदाय का उद्वल हुआ। इन में भी गौड़ीय भावों का प्रभाव पाया जाता है। इस सम्प्रदाय में विट्ठलविपुल, विहारिणीदास, सहचरीशरण प्रभृति विख्यात लोगों ने जन्म ग्रहण किया। विख्यात कवि शीतल स्वामी का जन्म भी इसी टट्टी सम्प्रदाय में हुआ था। इन सब महापुरुषों के लेख और प्रभाव से भी राजपूताने में गौड़ीय भावों का बहुत प्रसार हुआ है।

भक्त और साधिका मीराबाई राजस्थान की कन्या हैं, यह बात बङ्गाल के भक्त कभी मन में भी लाते हैं ? मीराबाई तो उन के अपने घर की हैं; उन की जीवनी, उन का गान तो बङ्गाली भक्तों की अपने अन्तर की वस्तु है।

मीरा के साथ गौड़ीय साधकों का बनिष्ठ परिचय हुआ था, बहुत कुछ गौड़ीय प्रभाव भी उन के जीवन में घटा था। फिर मीरा के गान ने भी बङ्गाल के भक्तों को कम सरस नहीं किया था। वे तो मीरा को अपना स्तनन ही समझते थे।

उन दिनों में भी देखते-देखते किस प्रकार एक प्रदेश का उत्तम काव्य और साहित्य दूसरे प्रदेशों में फैल जाता था, इस बात को हम भक्ति मुहम्मद जायसी (१५४०) के 'पदुमावती' काव्य के प्रसार को देख कर समझ सकते हैं। जायसी एक ओर तो चिरवी सम्प्रदाय के सुहीरहीन के शिष्य थे और दूसरी ओर अलङ्कारादि शास्त्रों में आलक्ष्य पण्डितगण उन के गुरु थे। अमेठी के हिन्दू राजा उन के भक्त थे। उन्होंने ने ही जायसी की दरगाह बनवा दी थी।

इस पदुमावती की रचना के कुछ ही दिन बाद बङ्गाल में भी उस की ख्याति फैल गई।

सुदूर अराकान तक जब इस की ख्याति फैल गई तो वहाँ के सुसलमान राजा मगन ठाकुर के अनुरोध से कवि अलावल ने पदुमावती का बँगला अनुवाद किया। कहाँ जायसी का देश और कहाँ अराकान ! इस पदुमावती काव्य से ही बङ्गाली के घर-घर में भीमसिंह और पद्मिनी की कथा प्रसिद्ध हो गई। इसी लिए पुरानी बँगला कहानियों में पुष्कर की अपेक्षा चित्तौर का नाम अधिक सर्वजन-परिचित है। चित्तौर की इस कथा के कारण सारा राजस्थान उन की अपने घर की चीज़ हो गई।

उस समय साधारण जनता उदयपुर का नाम बहुत कम जानती थी। त्रिपुरा राज्य में एक उदयपुर के स्थापित होने पर भी राजा-रईसों को छोड़ कर साधारण लोग उदयपुर का नाम कुछ अधिक नहीं जानते थे।

वर्तमान युग में प्राचीन भारत की वीरता के प्रति भक्ति दिखाने के लिए राजपूताने के इतिहास ने सम्भवतः बङ्गला साहित्य में ही पहले-पहल अत्यन्त मुख्य स्थान ग्रहण किया था। किन्तु हमारा विषय है मध्य युग की साधना का परिचय। इसी लिए आज इन बातों के बल्लेख का कोई हेतु नहीं है।

केवल हिन्दुओं के द्वारा ही बङ्गाल और राजपूताने का सम्बन्ध घनिष्ठ नहीं हुआ। मुसलमान साधकों के द्वारा भी यह सम्बन्ध दिन-दिन घनिष्ठ होता गया है।

साधक-शिरोमणि मुईनुद्दीन चिरती (११४२-१२३६) ने अपनी साधना का पीठ अजमेर को बनाया। इसी लिए बङ्गाल के ठेठ देहात के मुसलमान भी मक्का की भाँति पवित्र समझ कर अजमेर में तीर्थ-यात्रा को जाते हैं। हिन्दू साधकों में से भी अनेक साधकों ने चिरती के साधना-स्थान तक तीर्थ-यात्री की भाँति श्रद्धा सहित यात्रा की है। १६२५ ई० के आस-पास श्रीहट्ट के विथङ्गल मठ के संस्थापक साधक राम-कृष्ण अपने शिष्य कृपालदास को लो कर वहाँ गए थे और वहाँ कुछ दिन रह कर बहुत से साधकों से परिचित हुए।

सुप्रसिद्ध फ़ैज़ी और अबुलफ़ज़ल के पिता का नाम था सुबारक नागोरी। ये यद्यपि भारतवर्ष के बाहर से आए थे फिर भी आ कर जोधपुर के अन्तर्गत नागोर नामक ग्राम में रहने लगे थे। इसी लिए इन की उपाधि 'नागोरी' हुई। कुरान, हदीस इत्यादि शास्त्रों पर सुबारक की विशेष आस्था नहीं थी। वे स्वाधीन 'कलचर' के उपासक थे। इसी लिए वे यूनानी अर्थात् ग्रीक दर्शन और नव-अप्लूतात्नी (Neo-Platonic) ज्ञान के अगाध पण्डित थे। भारत में इतना स्थान रहते हुए भी क्यों वे राजपूताने में ही आ कर रहने लगे, यह समझना कुछ विशेष कठिन नहीं है। जो राजस्थान चिर काल अपनी स्वाधीनता की रक्षा के लिए युद्ध करता आया था वही स्वाधीनता के साधकों का आश्रय-स्थान था और था स्वाधीन चिन्ता का उपयुक्त साधना-पीठ। इसी लिए देखा जाता है कि मध्य युग में राजस्थान में अनेकानेक स्वाधीन मतवाद का प्रादुर्भाव हुआ है और बाहरी अत्याचार से पीड़ित अनेक मतवाद इसी राजस्थान में आश्रित हुए हैं।

अकबर जब अपने उदार धर्म के प्रचार के लिए उद्यत हुए उस समय नागोरी सुबारक के पुत्र सुप्रसिद्ध फ़ैज़ी (१५४७) और अबुलफ़ज़ल (१५५१) ही उन के दाहिने हाथ थे। सुबारक ने अपने पुत्रों को भारतीय शास्त्र, दर्शन और कलचर (संस्कृति) में सुपण्डित बनाया था। फ़ैज़ी वेदान्त के गम्भीर पण्डित थे। उन्होंने अच्छे-अच्छे वेदान्त-ग्रन्थों, महाभारत, रामायण आदि का अनुवाद किया था।

जब मध्ययुग के उदार धर्म-साधकों ने साधना में हिन्दू और मुसलमानों की अभ्यात्म-विद्याओं का सम्बन्ध करना चाहा तो उस समय भारतीय संस्कृति ने वेदान्त-विद्या को तथा मुसलमानों द्वारा सम्राट्ट यूनानी 'कलचर' ने नव-अप्लूतात्नी (Neo-Platonic) मत को आगे किया। इन दोनों मतों ने दो दिशाओं से आ कर बीच में मिलन-सेतु की रचना की थी। वास्तव में ये ही दो मत ऐसे थे जिन में इतना प्रसार-गुण था कि इस कार्य को कर सकते थे। मध्ययुग के भारतीय असांख्यिक उदार साधकों में, विशेष कर बङ्गाल के आञ्जलि-वाल्मीकि में, इस भारतीय नव-अप्लूतात्नी मत को 'नागोरी विद्या' नाम दिया गया है। खूब सम्भव है कि सुबारक नागोरी के नाम पर ही यह नामकरण हुआ हो।

दरिया साहब नाम के दो साधकों ने साधना के द्वारा इस नागोरी मत को विशेष रूप से प्रतिष्ठित और विस्तृत किया था। एक थे दरिया साहब सारवाही (१६७६-१७५८)। इन का जन्म मुसलमान माता से धुनिया वंश में हुआ था। बहुत लोग इन्हें दादू का अवतार समझते हैं। दादू की ही भाँति इन के उपदेश

१५ अङ्गों में विभक्त हैं। इस मत में हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों के शिष्य हैं। ये लोग राम, परब्रह्म आदि शब्दों का व्यवहार करते हैं। इन के यहाँ ब्रह्म परिचय है, और हैं योग की गम्भीर बातें।

और एक दरिया साहब बिहारी थे। उज्जयिनी के राजवंश की एक धारा आ कर बक्सर के पास जगदीशपुर में राज्य करती थी। उसी क्षत्रिय-वंश में साधक पीरमशाह ने जन्म ग्रहण किया था। सूफी साधना से आकृष्ट हो कर पीरन साहब सूफी हो गए। इन्हीं पीरन साहब के पुत्र थे दरिया साहब। कबीर के द्वारा ही विशेष रूप से आप अनुप्राणित हुए थे। आप भगवान् को 'सत्यनाम' कहा करते थे।

ये लोग लिखित किसी शास्त्र, व्रत, तीर्थ, आचार, बाह्य विधि आदि के कायल नहीं हैं। विग्रह-मूर्ति या अवतार की पूजा भी ये लोग नहीं करते। जाति-भेद भी नहीं मानते। मत्स्य-भास और जीव-हिंसा का इन के यहाँ निषेध है। इन के ३६ प्रधान शिष्य थे। चार स्थानों पर इन के चार प्रधान अखाड़े हैं। मनुआ चौकी के अखाड़े के अलखशाह पूर्व देश में गए थे। गौड़ वरेन्द्र हो कर, सैनसिंह और अष्टग्राम होते हुए, ये दक्षिण में शाहबाजपुर तक गए थे। हिन्दू और मुसलमान सब को ये योग और मैत्री का उपदेश सर्वत्र करते बिरे। इन्हीं के उपदेश के फल-स्वरूप नागोरी मत विशेष रूप से बङ्गाल में प्रचारित हुआ और बाबल-बाबल, दरवेश आदि सम्प्रदायों में फैल गया। पूर्व बङ्ग के मदन प्रभृति पद-रचयिताओं में, दक्षिण शाहबाजपुरी और अष्टग्रामी बाबलों में और रङ्गपुर के पश्चिम भाग के सोनाझाशाह के सम्प्रदाय आदि में यह नागोरी मतवाद इसी तरह प्रतिष्ठित हुआ।

अलवर राज्य में अट्टारख्वाँ शवाब्दी में रसूलशाह नामक एक फकीर रहते थे। बङ्गाल के एक तान्त्रिक साधक के निकट वे तान्त्रिक साधना के रहस्यों से अवगत हो कर तान्त्रिक साधना में प्रवृत्त हुए। बाद को वे एक मशहूर तान्त्रिक हुए और उन्होंने ने इस मत का प्रचार किया। यह मत पञ्जाब तक फैल गया। ये लोग तान्त्रिकों की तरह चक्र में बैठते हैं और वीराचार से साधना करते हैं। ये लोग कट्टर-भेद कर के सहस्रार सुधा का पान करते हैं। लौकिक भद्र की भी ये लोग उपेक्षा नहीं करते। ये लोग अलौकिक क्रिया कर सकते हैं और रसायनविद्या में बड़े पटु होते हैं। काव्य-साहित्य के रसास्वादन में भी इन की प्रीतिष्ठा है*।

इन के एक शिष्य थे शाहअली। ये बङ्गाल में आ कर उत्तर बङ्ग के मोटमारी में गए और सहज साधक रूपचन्द गोसाईं के साथ साधन में युक्त हुए। उस समय वहाँ तीन सहज मत के साधकों के सम्प्रदाय थे। कमलकुमारी, माम्मवाड़ी और मध्यमा। कमलकुमारी मत के साधक माला-विग्रह आदि ग्रहण करते थे, इसी लिए शाहअली की उन के साथ विशेष घनिष्ठता नहीं हो सकी। माम्मवाड़ी सम्प्रदाय के साधकगण उदार और "अव्यक्तलिङ्गाचार" थे। ये माला, विग्रह, तुलसी, गङ्गाजल आदि की विशेष पूज्यता नहीं मानते। साम्प्रदायिक भेद-भुक्ति भी इन में कुछ वैसी नहीं थी। इसी लिए इन्हीं के साथ शाहअली का योग हुआ। रूपचन्द गोसाईं के शिष्य खेपा (= पागल) गोसाईं नीलफामारी के अन्तर्गत बेलपूकुर ग्राम में १५-१६ वर्ष पहले मरे हैं। उस समय उन की अवस्था शायद ७५ वर्ष की थी। उस प्रदेश के हिन्दू-मुसलमान बाबलों में आज भी उन की साधना का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

* यह लेख लिखा जा चुका था, मैं मेजने की व्यवस्था कर रहा था, कि मेरे एक गुजराती मित्र ने काठियावाड़ में पाई गई बँगला की एक प्राचीन हस्तलिखित पुस्तक दिखाई। यह पुस्तक बङ्गाल के रसूलशाही तान्त्रिक मत की है। पुस्तक जैन पुस्तकालय में पड़ी थी। माखम होता है, ब्रूल से यह पुस्तक राजपूताने का सफर करती हुई जैन साधुओं के साथ काठियावाड़ पहुँची।

जयदेव के गीतगोविन्द का ही नाम प्रसिद्ध है। किन्तु साधकों में उन के अनेक सहज पद भी प्रचलित हैं। केवल सिक्ख लोगों के ग्रन्थ साहब में ही नहीं, दादू-पन्थी साधकों प्रभृति ने भी अत्यन्त समादर के सहित उन सब पदों को अपने संग्रह-ग्रंथों में ग्रहण किया है। ये पद असल में बँगला में लिखे गए थे; किन्तु पञ्जाब, राजपूताना प्रभृति प्रदेशों तक पहुँचने में उन्हें कोई बाधा नहीं थी। यद्यपि उन स्थानों में जा कर इन पदों में बहुत रूपान्तर हो गया है। उन दिनों राजस्थान और पञ्चनद के साधक जयदेव को अपने घर का ही आदमी समझते थे; यह बिलकुल नहीं समझते थे कि वे एक भिन्न प्रदेश के आदमी हैं।

रामानन्द के बहुत से शिष्य थे। उन में बहुतेरों का जन्म राजस्थान में हुआ था। कुछ लोग ऐसे भी थे जो साधना की सुविधा के लिए वहाँ जा बसे थे। रामानन्द के शिष्यों में घन्ना जाट जाति के थे। पीपा राज-पूत थे और एक छोटे से राज्य के अधिपति थे। अपने कुल-धर्म शाक्त-साधना को छोड़ कर भक्ति के पथ में आए और राज्य-वैश्वर्य त्याग कर बाहर निकल पड़े। उन की एक रानी भी उन के साथ चली। द्वारका के पास पीपावट में वे बहुत दिनों तक रहे। वहाँ पीपा के भक्तों का एक मठ है।

पूर्व बङ्ग के विख्यात विग्रहल मठ के स्थापयिता प्रसिद्ध साधक रामकृष्ण १६२५ ई० के आसपास तीर्थ-यात्रा के लिए पीपावट में गए और कुछ दिनों तक वहीं रहे भी। इसी लिए रामकृष्ण के स्थापित विग्रहल मठ और ढाका फरीदाबाद के मठ में भी उन दिनों पीपा-पन्थी साधुओं का प्रचुर यातायात हुआ करता था। रामकृष्ण के भक्त भी राजस्थान और द्वारका के पीपा भक्तों के मठ में जाया-आया करते थे। वे लोग जयपुर गल्ला के अनन्तानन्द के मठ में भी जाया-आया करते थे। अनन्तानन्द रामानन्द के ही एक शिष्य थे। जयपुर में क्षात्री सम्प्रदाय का एक मठ है; वहाँ तक भी बङ्गाल के भक्तों की गति-विधि थी।

साधक रैदास जाति के चमार थे। एक समय राजपूताने में उन का यथेष्ट प्रभाव था। राजस्थान के अनेक कुलीन और राजवंशियों में भी उन के भक्तों का अभाव नहीं था। बङ्गाल में भी बहुत रैदासी थे। इसी लिए वे लोग चिर दिन से ही राजस्थान को ओति के साथ स्मरण करते आए हैं।

अलवर के लालदास का जन्म उस भैरव-वंश में हुआ था जिन का व्यवसाय ही लूट-पाट था। भक्तों में यह बात प्रसिद्ध है कि एक गौड़ीय वैष्णव साधक की प्रेम-साधना देख कर ही ये भजन-कीर्तन के अनुरागी हुए थे। अलवर के डेहरा ग्राम में भक्त चरणदास का जन्म हुआ था। दिल्ली के आस-पास इन के बहुत भक्त हैं। विहार और बङ्गाल में भी इन के भक्त बीच-बीच में दिखाई दे जाते हैं।

रामसनेही सम्प्रदाय के प्रवर्तक सन्दराम था रामचरण का जन्म जयपुर के सुरासेन ग्राम में हुआ था। उत्तर-पश्चिम प्रदेश से ले कर गुजरात तक उन के अनेक मठ हैं। बङ्गाल में भी उन के भक्त कहीं-कहीं थे।

कहा जाता है कि दादू और उन के कई शिष्य देश-पर्यटन करते-करते बङ्गाल और जगन्नाथ तक आए थे। दादू के शिष्य सुन्दरदास भी बङ्गाल में रहे थे। १५८६ ई० में, बौसा नगर में, सुन्दरदास का जन्म हुआ था। कविरूप से सुन्दरदास की खूब ख्याति है।

भक्त दादू का (१५४४-१६०३) नाम और साधना-स्थान राजपूताने में मशहूर है। बङ्गाल के बाउल भी उन का नाम अति श्रद्धा के साथ स्मरण करते हैं। इन्हीं बङ्गाल के बाउलों के गान में ही मुझे प्रथम बार सम्मान मिला कि दादू पहले मुसलमान थे और उन का नाम था 'दाऊद'। बाउलों के गान में ही सुना था—
“श्रीगुरु 'दाऊद' बन्दि 'दादू' यों नाम ।”

(श्री दाऊद गुरु की बन्दना करते हैं जिन का नाम है दादू ।) बाद को अनेक राजस्थानी ग्रन्थों में भी मैंने इस बात का समर्थन पाया था ।

कहा जाता है कि दादू ने देश-परिक्रमा करते समय बङ्गाल में आ कर यहाँ के भक्तों और साधना के साथ वनिष्ठ भाव से परिचय स्थापन किया था ।

दादू-पन्थी अनेक पुरातन संग्रह-ग्रन्थों में नबनाथों के नाम और उन के पद पाए जाते हैं । मैंने इस प्रकार का एक बृहत् संग्रह-ग्रन्थ जयपुर के एक बृद्ध दादू-पन्थी साधु के पास देखा था । उन के शिष्य शङ्करदासजी हमारे परिचित थे । ग्रन्थ सन् १७०६ ई० का लिखा था । बाबा ईश्वरदास ने अपने शिष्य वैरागी सन्ता से इसे लिखवाया था । ग्रन्थ का लेखन कृतुबर्मा की मढ़ी में बाबा गोकुलदासजी की कुटिया में वैशाख कृष्ण ११ को समाप्त हुआ था । यह एक संग्रह-ग्रन्थ है । इसमें एक नाथ-पद है—

“अदेख देखिबा देखि विचारिबा,

आकृष्ट राखिबा वाचिबा...

पाताल गङ्गा स्वर्गे चढ़ाइबा”—इत्यादि ।

बङ्गाल के नाथ-पन्थियों में ये पद अति परिचित हैं ।

दादू बानी के माया अङ्ग में है—

“ऊमा मारं, बैठ विचारं, सम्भारं जागव सूता ।

तीन लोक तव जाल विहारख तहाँ जाइया पूता ।” (१३६)

और पूर्व वङ्ग के नाथ योगियों में पाया जाता है—

“उठ्या सारन, बैठ्या सारन, सामाल जागव सूता ।

तिन भुवने बिछाइना जाल कइ याबि रे पूता”

राजस्थान के नाना ग्रन्थों में माया और गोरखनाथ का संवाद पाया जाता है । उस में देखा जाता है कि माया कहती हैं कि—

ऊमा मारं बैठा मारुं, मारुं जागव सूता ।

तीन भवन भग जाल पसारुं, कहाँ जायगा पूता ।

और पूर्व वङ्ग के नाथपन्थियों के पद में देखते हैं—

उठ्या मारुम बैठ्या मारुम, मारुम जागव सूता ।

तिन नामे काम जाल बिछाइमू कइ जाबि रे पूता ।

राजस्थानी दादू-पन्थी पोथी में देखते हैं वे गोरखनाथ इस को उत्तर में कहते हैं—

ऊमा खण्डूं बैठा खण्डूं, खण्डूं जागव सूता ।

तीन भवन ते भिन है खेलूं ते गोरख अवधूता ।

बङ्गाल के योगियों के पद में देखते हैं—

उठ्या खण्डुम बैठ्या खण्डुम खण्डुम जागव सूता ।

तिन भुवने खेलुम आसुग तय ते अवधूता ।

नाथ-योगियों के पद की यह भाषा पूर्व बङ्गाल की निरान्त परिचित ठेठ ग्रन्थ भाषा है।

इस से क्या यह नहीं भालूस होता कि राजस्थान और बङ्गाल के साधकों की घनिष्ठता कितनी गहरी और एकान्त थी ?

नराना, ग्रामेर और साँभर में दादूजी के साधना-स्थान, घौसा में जगजीवनजी और सुन्दरदासजी का स्थान, सांगानेर और फ़तेहपुर में रत्नबजी का स्थान, जोधपुर के गूलर ग्राम में भाषोदासजी का स्थान, डीड-वाणा और फ़तेहपुर में प्रयागदासजी विहाणी का स्थान, बूरोरा में शङ्करदासजी का स्थान, सांगानेर में मोहन-दासजी का स्थान, भान्सी में जनगोपालजी का स्थान—ये सब स्थान बङ्गाल के साधकों के निकट भी अपरिचित नहीं हैं। आगकल के शिखित विद्वद्बृन्द इन सब घनिष्ठताओं की कोई ख़बर नहीं रखते; फिर भी इन दो देशों के निरन्तर हीन-दुखी साधकों के दल कितने प्राचीन काल से ही परस्पर में घनिष्ठता-स्थापन करते आ रहे हैं।

४

अर्वाचीन काल

भारतीय दुसरा रणसंग्राम

अथवा

विजयनगरचें शेवटचें युद्ध

श्रीयुव वा० मी० वेन्ने, पुणे

[विजयनगर के युद्ध का कारण धार्मिक नहीं था। दम का वास्तविक कारण यह था कि रामराजा के राज्य-काल में विजयनगर का उत्कर्ष तत्कालीन दक्षिण भारतीय सुसंवसित राजाओं को असह्य था। भारत में यह युद्ध दक्षिण भारत के दक्षिणी और दक्षिणी अशों का युद्ध था, न कि हिन्दुओं और मुसलमानों का धार्मिक युद्ध। अतः का वास्तव तो पीछे से अली आदिलशाह को अपनी ओर मित्राने के लिए बोला गया। सर्वप्रथम अली आदिलशाह रामराजा के पक्ष में था, तथा इन दोनों में पूर्ण मित्रता थी। रामराजा ने अली आदिलशाह का वात्स्यावस्था में पालन किया था; इन दोनों में विरोध का कोई कारण नहीं था। विजयनगर के युद्ध की पहली दो लड़ाइयों में—जिन में से दूसरी लगातार साढ़े चार दिन तक होती रही—रामराजा की विजय रही, तथा यदि एकएक अली आदिलशाह बोला है कर उस पर आना न कर देता तो शत्रु-सैन्य का पूरा पराभव हो जाता। अली आदिल ने घोषे से रामराजा को पराजित किया तथा उन्हीं के कहने से उस का शिरच्छेद कर डाला।]

हिंदुस्थानाच्या इतिहासांत 'विजयनगरच्या साम्राज्याला' महात्वाचें स्थान प्राप्त झालेलें आहे। हे महत्त्व त्या साम्राज्याच्या क्षेत्रभूयदिवरून मिळालेलें नसून तें विजयनगरचा रूपास व त्यावेळीं झालेला अतुल्य रणसंग्राम यासुळें मिळालें आहे। हा रणसंग्राम इ० स० १५६५ त झाला व त्यानंतर ओढवयांच अवधीत विजयनगरचें साम्राज्य लयास गेलें।

सोळाव्या शतकाच्या सुकवातीस विजयनगरच्या सम्राटपदावर तुळूव वंशीय कृष्णदेवराय झाला होता। वानें मोठा दिग्विजय करून सुसंजमानी राज्यांवील वराचसा मुख्य काविल केला। कृष्णदेवराय इ० स० १५२८ त मरण पावला तेव्हां त्याचा सावित्रभाऊ अच्युतराय गादीवर झाला। हाही इ० स० १५४२ त मरण पावला। नंतर त्याचा मुलगा व्यंकटदेव व नंतर सदाशिवराय गादीवर बसले। कृष्णदेवरायाच्या कारकीर्दीत त्याचा जावई अलीय रामराजा हा शूर व कर्तृत्ववान असल्याने प्रबळ झाला होता। कृष्णदेवरायानंतर यानेंच सर्व कारभार पाहिला व आपल्या बाहुबलानें पुंडशाळेगारांचा मोड करून व गोजारील वराच मुख्य जिंकून आपले राज्यक्षेत्र वाढविलें आणि सर्वत्रांवर चांगलाच दरारा बसविला, शोकारील उत्तरेकडोल पादशाहाहि चिंताक्रांत होऊ लागले। रामराजाचा उत्तरेवर होणारा उत्कर्ष व त्याचें चढाईचें वर्तन त्यास असह्य वाटत होतें। अशा विजयनगरच्या अ-भरमराटीच्या परिस्थितीत हा रणसंग्राम घडून आला।

इतिहासांत या रणसंग्रामाचें असें कारण देण्यात येतें कीं, रामरायानें आदिलशाहाच्या एका हुकरायाच्या नोडबावर इस्लामी धर्माचा गौणपणा सिद्ध करण्याचा प्रयत्न केला। त्यासुळे सर्व पावशाहांना त्यानीं चिडवून

जुल्लमासुलेच मला त्याचेबरोबर यावे लागले। मी तुमच्या मांडीवर खेळलो आहे व आद्यापिहि तुमचा पुत्र आहे असेच मानित आहे। आपणांस दिलेल्या आभिवचनांत यत्किंचित अंतर करणार नाही। मी तुमचा आहे। जरी मी शत्रू बरोबर असलो तरी माझ्या विषयी शंका देण्याचे कारण नाही। परंतु ही बातमी पादशाहांस लागतांच त्यांनी आदिलशाहास तोंडी निरोप पाठवून विचारले की, 'ही लपंडावी व फितुरी तुम्हीं करित आहांत हे योग्य नाही। आम्हीं तुमचेवर अवलंबून नाहीत। रामराजाचा आम्हीं नाश करणारच। परंतु तुम्हीं जर या लढाईत आमच्या बरोबरीने मेहनत केली नाहीत तर प्रथम तुमचाच नाश करणे आम्हांस भाग पडेल। आदिलशाहा या दटावणीस घाबरला व 'तुम्हीं ज्याप्रमाणे सांगता त्याप्रमाणे आजपर्यंत करीत आलो आहो व पुढेही करीन, शंका नसावी असे त्यांनी कळविले। आदिलशाहाचे या पूर्वीचे वर्तन व आश्वत्थनास यावर रामराजाचा विश्वास बसला असल्यास नवल नाही।

नंतर रामराजाने आपली सेना रक्कसगी-संगढगीच्या उघड्या मैदानांत नेली। तेथे रणगढी बांधून रणतंत्रमही उभारला व त्यासमोर्वी आपले सैन्य ठेवून शत्रूवर हल्ले करण्यास सुरुवात केली। दोन दिवस [१७-१८ एप्रिल] अशा तऱ्हेने गेले। इमादच्या सैन्याने आपला मोर्चा तालीकोट येथील चालोस घरांच्या भागे नेला व तेथे बारगीर, वजीर व मराठे सरदारांसह तळ दिला। राजा भूवरनेही आपले मुख्य सैन्य रक्कसगीच्या मैदानांत ठेवून तो काहीं निवडक निवडक सैन्यानिशी तालीकोटकडे गेला। अशा रितीने या दुसऱ्या फेरीचा वेळी हे रणक्षेत्र रक्कसगी ते तालीकोट पर्यंत पसरले गेले होते। रक्कसगीच्या सैन्याचे अधिपत्य राजा कोंडवरूकडे दिले होते।

उजवठांच [ता. २० एप्रिल] पादशाही सैन्य कर्नाटकी सैन्यावर चालून आले। राजा कोंडवरू व इतर सरदार त्यांस तोंड देण्यास पुढे गेले। सकाळपासून दुपारी तीन वाजेपर्यंत निकराचे युद्ध झाले। दोन्हीहि बाजूंकडील बरेच लोक कामास आले। पादशाही सैन्याचा जोर दिसतांच राजा कोंडवरूने राजा भूवरकडे निरोप पाठविला की 'तीनही पादशाहा आमचेवर तुटून पडत आहेत। तरी त्यांचे पाठीवर सैन्य पाठवावे। असे केल्यास त्यांच्या सैन्याचा नाश होईल व आपणांस जय मिळेल। आदिलशाहा व इमाम नायक हे अद्यापि युद्धांत शामिल झाले नाहीत। त्यावरून असे वाटते की ते आपले विरुद्ध लढणार नाहीत। परंतु ते आपली कदाचित ऐनवेळी फसगती करतील। तरी त्याचे बोलण्यावर विश्वास चालणार नाही। जर आपण आबाजी नायकाबरोबर दहा हजार घोडदळ व वीस हजार पायदळ रवाना केलेत तर आमची फचे होईल व शत्रूची धूळधाण उडेल। रामराजाला हा बेट पसंत पडला व त्याने ताबडतोब कुमक रवाना केली। इकडे युद्ध चालूच होते। इमादघचे सैन्य व निजामशाहा धीर धरून लढत होते। कुल्शहाहाने तर माघार घेतली व आश्रयाची जागा पाहून तेथे जाऊन राहिला। या घुमशक्तीत राजा भूवरचेहि बरेच सैन्य कामास आले। हे पाहून रामराजाने त्या दोन्ही पादशाहांवर तुटून पडण्यास सांगितले। खास रामराजाही आपल्या अमृत गजावर आरुढ होऊन लढाई करीत होता व हुकुम देऊन सैन्य लढवित होता। अशा तऱ्हेने तीन दिवस व चौथ्या दिवशी सकाळ पासून युद्ध झाले। तेव्हा शत्रूपाचा बरेच लोक मारले गेले व शत्रूसैन्य सैरावैरा जंगलांत पळू लागले। शेवटी त्या दोन्हीहि पादशाहानी माघार घेऊन दोन कोस भागे तळ घेतला। अशा रितीने रामराजाला हा दुसरा विजय मिळाला व रामराजाचे सैन्य आनन्दभरित होऊन गाफिल राहिले।

पातशाही सैन्याचे झालेले नुकसान व या विजयाने त्यांची झालेली मानहानी यासुळे ते सर्व चिड्ढन गेले। त्यांनी पुन्हा एकदा जेव्हा हल्ला देण्याचे ठरविले। त्यांनी आदिलशाहास निकराचा निरोप धाडला की, 'तुम्ही आतापर्यंत आम्हांस कांहीच मदत केली नाहीत। उलट शत्रु आमच्या सैन्याचा नाश करता आहो हे पाहण्यांतच आपण मग आहांत। आपलो इच्छा। आम्हीं धैर्याने पुन्हा एकदा निकराचा प्रयत्न करू' आणि आमच्या विश्वासू सरदारांच्या

साहाय्यानें इस्लामी धर्माची अन्नू मा.भाळू ।" हा निरोप गेला त्यावेळीं दुपारचें तीन वाजले होतें। पादगादी सैन्य शत्रूवर हल्ला चढविण्यामाठीं तयारी करीत होते व अली आदिलशाह निमाज पढत होता। त्यानें तो निरोप ऐकून इस्लामीयांची अन्नू वाचविण्याबद्दल व त्यांस जत्रुवर विजय मिळविण्याबद्दल परमेश्वराची कर्तुणा भाकली। एकदम आपल्या सैन्यास हुकुम दिले व राजा भूवरच्या गाफिर अमलेल्या सैन्यावर तो तुटून पडला। रामराजाचा सैन्याची दाणादाख उडाही व लोंक लढण्यास तयार होण्यापूर्वीच त्याचा नाग फेला गेला। चिजवस्तु लुटली। आदिलशाहाच्या लोकांनी राजा भूवर चाम वेढा घातला व त्याला पकडून आदिलशाहापुढें नेले। तेव्हा राजा भूवर घोलला कां, 'आत्तापर्यंत तुला मी माझा शुलगा म्हणून समजत आलों। जंवटीं तूं मला अमा हा दगा दिलास। हे तुभ्या ब्रह्म माज्जे आदि काय ? योग मनुष्य आपल्या पितृस्थानी मानलेल्या माणमाला असें कमवितात का ? माभ्यावद्दल म्हणगील नर अगा तरहेनें माझी प्रजा व सैन्य विश्वासघातानें धळी पडल्यानंर मला या जगान काहीं मिळवावयाचें गढिले नाहीं। तूं कृतघ्नपणें जरी अमा विश्वासघात केला आहेस तरी मी तुमचाजवळ जेवटचो मागणी करीत आहे कां माझे गौर शत्रु सैन्याच्या हातीं पडण्यापूर्वीं तूं आपल्या तगवारीनं काप व नंतर तुभ्या जावोचा, धर्माचा व राज्याचा वदंड उपभोग घे। जंवटीं रामराजानें परमेश्वराचो प्रार्थना केली व पुन्हा एकदा आदिलशाहान गौर कापण्यास मार्गतले व आदिलशाह ने रामराजाचे गौर धडापासून वेगळें केलें। ही घातमी इतर पादगादीस समजताच त्यानींहि दृष्टे चटविले। कर्नाटकी सैन्याचा सहार व लुटालुट केली। अशा तरहेनें या भारतीय दुमऱ्या रणमप्रामाचा जंवट भाला।

नंतर ते पादगादी सैन्य याम विजयानगरावर पावून गेलें व तें शहर लुटलें। आदिलशाहानें सवोस मंजवानी देऊन त्याची शोळवण केली। राजा भूवरचें गव कागीस पाठविले। विजयानगरचे शहर लुटलें तेव्हा राजधानी पेनकोड्यास गेली हांती। तथें आदिलशाहानें वेढा दिला व पेनकोड नंतर दीड महिन्यानीं म्हणजे जूनच्या सुरुवातीस ताव्यात घेतलें। विजयानगरचें साम्राज्य मोडलें। इमलामी पादशाहान या दुमऱ्या भारतीय रणमप्रामात मिळालेल्या यशाने आपलीं राज्ये चिरस्थायी करता आलीं।

रामराजा रकाळां संवत्सरी (गव) शालीवाहन शके १४८७ (चालू १४८६) वैशाख मासी बहुल अष्टमी व सोमवार राजी श्रवण नक्षत्री (२३ एप्रिल १४६५ अथवा २२ रमजान ८७२ हिजरी) सायकाळानंतर मारला गेला।

वरील हकीकतीला मुख्य आधार म्हणजे समकालीन रामाजी हरकारा नांवाच्या लुई रामराजाच्या नोकरांने लिहिलेली हकीकत होय यावरून रणसंग्रामाला धर्माधर्मातील वेढ हे कारण नसावे। हा रणसंग्राम हिंदू मुसलमानां-तील नसून कर्नाटकचें साम्राज्य व उत्तरकडील राजे याचेतील असावा। रामराजा इस्लामी पादशाहांस तोंड देतांना संनापतीचें काम उत्कृष्टपणें करीत होता व त्या सर्वांस तोंड देण्याइतके त्याचें सामर्थ्य होतें। आदिलशाहाचें व त्याचें बाकडे नसून उलट त्याची सैन्यच होती। मात्र आदिलशाहानें पेनवेळीं विश्वासघात, आणि तोहि इतर पादशाहाच्या दटावणीला मिळून, कोल्यासुळें रामराजा चालीकोट जवळ पकडला गेला व शेवटीं मारला गेला आणि अशा रीतीनें हे रक्कसकगी-तंगडगीच्या मैदानापासून चालीकोटपर्यंत व्यापलेल्या रणक्षेत्रात हा हिन्दुस्थानच्या इतिहासातील दुसरा मोठा भारतीय रणसंग्राम हिंदू साम्राज्याच्या नाशास कारणीभूत झाला।

आधार ग्रन्थ

‘रामराजा चरित्र’ अथवा ‘दि हिस्ट्री ऑफ़ दि फ़ाज़ ऑफ़ रामराजा किंग ऑफ़ विजयनगर’ मेकेन्ज़ी का संग्रह, जि० न, इण्डिया ऑफ़िस; बाम्बे गवर्नमेंट गज़ट-बीजापुर; ‘हिस्ट्री ऑफ़ दि कर्नाटक एण्ड डेकन’; भारत इ० सं० सं० इति वृत्ते व संसंजन. वृत्ते; राजापुरोहित—‘कर्नाटकाचा इतिहास’।

हीरविजय सूरि और अकबर

मुनि विद्याविजय

इतिहासज्ञ लोग, जितना अकबर से परिचय रखते होंगे, उतना हीरविजय सूरि से नहीं। कुछ वर्षों के पहले तो, जहाँ तक मेरा खयाल है, अच्छे अच्छे जैन विद्वान् भी इस बात को नहीं जानते थे कि हीरविजय सूरि का अकबर के साथ भी खासा सम्बन्ध था। परन्तु संशोधन के ज़माने में कई अप्रकट बातें प्रकाश में आ ही जाती हैं। इस प्रकार अब यह बात प्रकट हो चुकी है कि हीरविजय सूरि का अकबर के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा और उन्होंने अकबर के पास चार साल तक निरन्तर रह कर उस पर अपने चरित्र का अपूर्व प्रभाव डाला था।

हीरविजय सूरि अकबर के समकालीन जैन-धर्म के प्रभावशाली आचार्य थे। जैन समाज पर उन का बड़ा प्रभाव था। करीब दो हजार साधुओं को वे अधिपति थे। उनकी विद्वत्ता और साधुता की ख्याति सर्वत्र फैली हुई थी। यद्यपि वे अधिकतर गुजरात में ही भ्रमण करते थे, परन्तु दूर दूर के जैन लोग उन पर बड़ी श्रद्धा रखते थे।

वे बहुत बड़े, जैन-धर्म के शासनसम्राट् होते हुए भी जैन साधुओं के आचारों का कठोरता के साथ पालन करते थे। शारीरिक श्रृंगार न करना, परिमित वस्त्र, और भोजन के लिए काष्ठपात्र रखना, मधुकरी वृत्ति से निर्बाह करना, हमेशा पैदल ही भ्रमण करना, किसी भी प्रकार की सबारी नहीं बरतना, जूते और छाते का धारण न करना, एक स्थान में न रह कर आठों मास भ्रमण करते रहना, और चातुर्मास एक स्थान में रहना, स्त्री और पैसे से सर्वथा दूर रहना इत्यादि साधु आचार, जो भगवान् महावीर के समय से, ढाई हजार वर्ष पूर्व से, चले आये हैं, उन का यथोचित पालन करते थे।

इस प्रकार हीरविजय सूरि एक आदर्श साधु, त्याग की मूर्ति, बड़े भारी विद्वान् और उपदेशक थे।

हीरविजय सूरि का जन्म वि० सं० १५८३ में हुआ और उन्होंने न सं० १५८६ अर्थात् १३ साल की उम्र में विजयदान सूरि के पास साधु-दीक्षा ली। उन्हें सं० १६०७ में ‘पण्डित’ पद, १६०८ में ‘उपाध्याय’ पद, और १६१० में आचार्य पद प्राप्त हुआ।

जैन साधुओं का उपदेश सार्वजनिक कल्याण के लिए होता है। उन के उपदेश में स्वार्थ की मात्रा नहीं रहती। क्योंकि वे ऐहिक सुखों के लिए किया किसी प्रकार के स्वार्थ के लिए साधु नहीं होते। यही कारण है कि जैन साधु प्रजा में सुख-शान्ति स्थापित करने के लिए, प्रजा का कल्याण करने के लिए, समय समय पर राजाओं को भी प्रतिबोध करते आये हैं। जैन साधु हमेशा से मानते आये हैं कि ह्वाज आदमियों को उपदेश देने की अपेक्षा एक राजा को उपदेश देना अधिक अच्छा है। क्योंकि राजा का सदाचरण-सद्भाव प्रजा के लिए लाभदायक होता है। इसी कारण कई जैन पूर्वाचार्यों ने राजाओं को प्रतिबोध करने का गौरव प्राप्त किया है। उदाहरणार्थ सप्रति राजा को आर्य सुहसि ने, आम राजा को बापमहि ने, इस्तिकुडी के राजाओं को वासुदेवाचार्य ने, बनराज को शीलगुण सूरि ने और सिद्धराज एवं कुमारपाल को हेमचंद्राचार्य ने प्रतिबोध कर प्रजाहित के महत्वपूर्ण कार्य करवाये थे। हिन्दू ही नहीं, मुहम्मद तुगलक, फीरोजशाह, अलाउद्दीन और औरंगजेब सराखे झूरहृदय, निष्ठुर मुसलमान बादशाहों पर भी जिनसिंह सूरि, जिनदेव सूरि और रबखोर मूरि जैसे जैनाचार्यों ने प्रभाव डाल कर धर्म और समाज की रक्षा की थी।

इसी प्रकार हीरविजय सूरि ने अकबर जैसे सम्राट् पर भी बहुत प्रभाव डाला, और जैन धर्म के ही नहीं, समस्त प्रजा के कल्याण के अपूर्व कार्य करवाये। बल्कि यों कहना चाहिए कि हीरविजय सूरि और उन के बाद अकबर के समीप गए हुए उन के शिष्यों ने अकबर के जीवन की कायापलट सी कर दी थी।

यह तो जगप्रसिद्ध बात है कि अकबर बड़ा भारी सहृदयकाँची था। उस को अपनी बुद्धि, ज्ञान और राजत्व का गर्व था। विस पर भी किसी न किसी कारण से उस में जिज्ञासा वृत्ति अवश्य थी। कोई नई बात उस के देखने वा सुनने में आती तो वह उस का परिजान करने की कोशिश करता। हीरविजय सूरि के समागम में भी ऐसी ही विचित्र घटना का प्रसंग पाया जाता है।

फतहपुर-सीकरी में चंपा नाम की एक जैन आधिका ने छः महीने के उपवास^१ किये थे। अकबर को इस का पता चला। बादशाह, अपने दो मनुष्यों को, जिन का नाम मगल चौधरी और कमरुद्दीन बताया जाता है, भेज कर जाँच करता है। बाद में छः महीने के उपवास की समाप्ति पर जैनो की तरफ से जो जुलूस निकला, उस में यह तपस्विनी बाई भी थी। अकबर ने बाई को बड़े आदर के साथ महल में बुला कर, कितने उपवास किये, किस प्रकार किये, इतने उपवास क्योंकर हो सके, इत्यादि कई प्रश्न किये। चंपा बाई ने यथोचित उत्तर देते हुए कहा कि—“मैं अपने गुरु हीरविजय सूरि की कृपा से ही इतने उपवास कर सकी हूँ।” बादशाह के पूछने पर बाई ने यह भी बताया कि “हीरविजयसूरि इस समय गुजरात के रां धार शहर में हैं।”

१ जैन साधु जिना गृहस्थ जितने भी उपवास करते हैं वे सर्वथा निराहार ही करते हैं। दिन में या रात्रि में कोई भी लाघ पीन नहीं ली जाती। बहुत प्यास लगने पर सिर्फ दिन दिन में ही गरम पानी लिया जाता है। इस प्रकार छः महीने का उपवास इस बाई ने किया था।

२ जगद्गुरु काव्य के कर्ता का कथन है कि अकबर ने यामसिंह नामक जैन गृहस्थ में हीरविजय सूरि का पता वर्षाप्त कर लिया था। विज्ञाप्यप्रशस्ति काव्य के अनुसार अकबर ने हीरविजय सूरि को बुलाने का निम्न्य पत्रमात्रा में उन की प्रशंसा सुन कर ही किया था।

हीरविजय सूरि की तरफ आकर्षित होने का तथा उन को बुलाने का यही खास निमित्त था ।

बाद में अकबर ने एक पत्र मातुकल्याण और थानसिंह नामक जैन गृहस्थों तथा धर्मसिंह पन्थास से लिखवाया और एक खत खुद लिखा ।

उस समय गुजरात का सूबेदार था शहाबखाँ (शहाबुद्दीन अहमदखाँ) । बादशाह ने इस सूबेदार को लिख दिया कि 'हीरविजय सूरि को हाथी, घोड़े, रथ, व्यादे आदि ठाट व इज्जत के साथ भेजो ।' ये पत्र बादशाह ने दो से बड़ा ओ के साथ भेजे । 'ही र सौ भा ग्य का व्य' में इन मेवदाओं के नाम मौदी और कलाम दिये गये हैं ।

हीरविजय सूरि इस समय गंधार में थे । दोनों पत्र हीरविजय सूरि के पास पहुँचने पर अहमदाबाद, खंभात, गंधार आदि के जैन गृहस्थ लोग इकट्ठे हुए । हीरविजय सूरि को जाना चाहिए था नहीं ! इस विषय में बहुत परामर्श हुआ । गृहस्थ लोगो ने, अकबर के निर्मंत्रण पर अनेक तर्क वितर्क कुतर्क कर के सूरि जी को जाने से मना किया, परन्तु अन्त में सूरि जी ने अपनी ओजस्वी भाषा में सब को उत्तेजित कर के वस्तुस्थिति समझाई, और अकबर के पास जाने का निश्चय किया ।

वि० सं० १६३९ के मार्गशीर्ष कृष्ण। ७मी के दिन हीरविजय सूरि ने फतहपुर सीकरी के लिए प्रस्थान किया । लंबी मुसाफरी थी । अपना पुस्तक, बख्श, पात्र आदि सब सामान कंधे पर ठाठा कर पैदल चलना था । ग्रामाभ्यास भिक्षावृत्ति करते हुए जाना था । इन कारणों से भक्त जनो को आचार्य जी का गुजरता छोड़ना बहुत खटकता था, दुःखकर होता था, परन्तु भविष्य में होने वाले लाभ पर दृष्टिपात करते हुए सूरि जी ने उन सारे कष्टों को तुच्छ समझा ।

हीरविजय सूरि के साथ इस समय ६७ साधु थे, जिन में प्रधान विमलहर्ष उपाध्याय, शान्तिचद्र गणि, पं० सोमविजय, पं० सहजसागर, पं० सिंहविमल, पं० गुणविजय, पं० गुणसार, पं० कनकविजय, पं० धर्मसी ऋषि वगैरह थे ।

हीरविजय सूरि, अपनी इस संदली के साथ ज्येष्ठ शुक्ला १२ (सं० १६३९) को फतहपुर सीकरी पहुँचे । उन्होंने गंधार से चंचोला, जंबूसर, सोजीत्रा, नावर, बोरीसाणा, कड़ी, महसाना, पाटन, सिधपुर, रोह, आबू, सिरौही, सादड़ी, वान्ता, बगड़ी, जयताण, फलोदी, सांगानेर, हिंदवण, और बयाना होते हुए फतहपुर सीकरी में प्रवेश किया था । आखरी मुकाम उन्हो ने 'अमीरामाबाद' में किया ।

१. द्विनेमेदिकल बक्यो में यह ग्राम (अमिरामाबाद) नहीं है, परन्तु प्राचीन ग्रन्थों से पता चलता है कि हीरविजय सूरि ने आखिरी शुक्रम अमिरामाबाद में किया था । अष्टमदास कवि ने हीरविजय सूरि रास में लिखा है—

“बयाना नई अमिरामाबाद शुरू आबतां गयो विषवाद ।

फतेपुर मशी आवह जसिप अनेक पंडित पंडित तस्यई” ॥२४॥ पृ० १०८ ।

अर्थात् बयाना के बाद अमिरामाबाद आये थे ।

हरिसौभाग्य काव्य में लिखा है—

“पवित्र स्तीर्थं ह्वाण्वजन्तूपुरेऽमिरामादात्मि ।

यावत्समेतः प्रसुतेत्य तावद् द्वाग्वाचकेन्द्रेण नतः स तावत् ॥

सर्ग १३, श्लो० ४४ ।

हीरविजय सूरि का प्रवेशोत्सव बड़े आहम्वर के साथ किया गया। जैनों के साथ राज्य के सहकार ने इस उत्सव की शोभा बहुत बढ़ा दी।

‘ही र वि ज य सूरि रा स’ के कर्त्ता ऋषभदास कवि का कथन है कि जिस दिन हीरविजय सूरि ने फतहपुर सीकरी में प्रवेश किया, वे फतहपुर सीकरी के एक सामन्त जगन्मल कच्छवाह^१ के महल में ठहरे थे। जगन्मल कच्छवाह ने बड़े आदर के साथ सूरि जी की भक्ति की।

दूसरे दिन अर्थात् ज्येष्ठ शुक्ला १३ के दिन हीरविजय सूरि की मुलाकात साम्राट् अकबर से होने वाली थी। अकबर के पास पहुँचने के पहले हीरविजय सूरि अबुलफजल के यहाँ कुछ समय ठहरे^२ और जन्ही के द्वारा इस प्राथमिक मुलाकात का समय निर्णय किया गया।

बादशाह के महल में सूरि जी बुलाये गये। सूरि जी अपने १२ शिष्यों के साथ महल में पधारे, अर्थात् कुल १३ साधु इस प्रथम मुलाकात में थे। अपने तीनों पुत्रों (शेखजी, पद्मादी (मुराद) और वानियाल), अबुलफजल एवं बीरबल आदि राज्य के बड़े बड़े कर्मचारियों सहित अकबर ने, सूरि जी का स्वागत किया। प्रारम्भ में वाहर के हलाल में अनेक सुख वार्त्ताओं की पृच्छा होने के पश्चात् अकबर ने महल की चित्रशाला में पधारने के लिये प्रार्थना की। परन्तु अन्तर के कम्पने में गालीचा बिछा हुआ था। सूरि जी ने इस पर हो कर चलने के लिये अपने साधु धर्मात्तुसार इन्कार किया। अकबर ने कारण पूछा। सूरि जी ने साधु धर्म दिखलाते हुए ‘दृष्टि पू तं न्य से त् पा द म्—‘दृष्टि से पवित्र बनी हुई जगह पर पैर रखना चाहिए।’ इत्यादि बातें समझाईं। यहाँ आश्चर्य जनक घटना यह हुई कि सूरि जी को अदर ले जाने के लिये ज्योंही अकबर ने गालीचे का एक पल्ला उठाया, उस ने देखा कि हज्जारों चीटियाँ फिर रही हैं। इस पर अकबर को बड़ा आश्चर्य हुआ और सूरि जी पर श्रद्धा अधिक बढ़ी। बाद में निर्दोष स्थान में बैठक रखी गई और सूरि जी से बादशाह ने उपदेश सुना।

इस प्रथम मुलाकात में हीरविजय सूरि ने देव, गुरु और धर्म का स्वरूप समझाया।

इस मुलाकात के प्रसंग पर बादशाह ने अपने पर लगी हुई शानि की दशा के खराब असर को दूर करने के लिए ताबीज जैसी कोई चीज बना देने की प्रार्थना भी की। परन्तु सूरि जी ने ‘मंत्र-तंत्रादि करना साधु का धर्म नहीं है’ ऐसा स्पष्ट उत्तर दिया।

हीरविजय सूरि के सम्बन्ध में कई ऐसी दन्त कथाएँ, दन्तकथाएँ ही नहीं, बल्कि कुछ संस्कृत ग्रन्थों में भी ऐसा पाया जाता है कि उन्होंने अकबर को उस के पिछले पूर्वज बताये, टोपी उढ़ायी, एक बकरी को ढक कर उस में से दो जीव दिखाये, इत्यादि कई चमत्कारिक बातों का बर्णन पाया जाता है। और ऐसा कर के हीरविजय सूरि की अस्वामाविक महिमा बढ़ाई गई है। परन्तु यह बात बिलकुल गलत है। हीरविजय सूरि ने कोई चमत्कार नहीं दिखाया। बल्कि जब कभी अकबर ने ऐसे प्रश्न किये, तब बिलकुल इन्कार कर दिया। हाँ, इतना अवश्य कहा—‘आप जीवों पर रहम कीजिये, जीवों की रक्षा कीजिये, प्रजा के दुःखों को निवारण कीजिये। आप का भला होगा। आप दुःखों से मुक्त होंगे।’

१ जगन्मल कच्छवाह जयपुर के राजा बिहारीमल का छोटा भाई था। विशेष के लिये देखो ‘ब्राह्मन्-मु अकबरी’ के प्रथम भाग का, बर्त्ताकमेन ऑमेजी अनुवाद, पृ० ४३६।

२. विन्सेट स्मिथ लिखता है—

बादशाह को उन से (हीरविजय सूरि से) वार्त्तालाप करने का अवकाश मिला, तब तक वे अबुल फजल के पाम बिठाये गये। अकबर पृ० १६७।

अकबर के पास पुस्तकों का एक सुंदर भंडार था। यह भंडार पद्मसुन्दर नामक, नागपुरीय तपागच्छ के साधु के स्वर्गवास होने से अकबर के पास आया था, अकबर ने इस प्रथम मुलाकात में हीरविजय सूरी को यह भंडार भेंट किया, परन्तु सूरी जी ने इस को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। उन्होंने कहा कि—“हम जितने ग्रंथ पढ़ सकते हैं, उतने ही अपने पास रखते हैं। और हमें ग्रंथों की आवश्यकता होती है तो भंडारों से पढ़ने के लिये मांग लेते हैं। आखिर मे ‘वि ज य प्र श स्ति म हा का न्य’ के कर्त्ता के कथनानुसार, यह भंडार आगरे में अकबर के नाम से जनता के लाभ के लिये खोला गया।

इस वर्ष का चातुर्मास सूरी जी ने आगरे में ही किया।

हीरविजय सूरी के चरित्र और विद्वत्ता का प्रभाव अकबर पर बहुत गहरा पड़ा। फतहपुर सीकरी, आगरा और उस के आस पास चार साल तक हीरविजय सूरी रहे। अकबर से समय समय पर अकबर पर प्रभाव मिलते रहे, दूर रह कर के भी सदेश किंवा पत्र द्वारा उपदेश देकर कई प्रजाहित के व जीव दया के कार्य करवाये।

अकबर के यहाँ जो पत्नी दरवों में बंद थे, उन को मुक्त कराया, फतहपुर सीकरी के ढाबर में मछलियों का पकड़ना बंद करवाया, पुरुषणा पर्व के ८ दिन तथा आगे पीछे के दो दो दिन मिला कर कुल भाद्रपद कृष्ण १० से भाद्रपद शुक्ल ६ तक सारे राज्य मे कोई जीवहिंसा न करे, ऐसा हुक्म निकलवाया और ‘जजिया’ नामक प्रसिद्ध ‘कर’ तथा तीर्थों पर जो यात्रियों से ‘कर’ लिया जाता था, वह भी उठवा दिया।

इस प्रकार हीरविजय सूरी जी ने अकबर से बहुत कार्य करवाये।

बादशाह अकबर के दरबार मे हीरविजय सूरी का प्रवेश राजा और प्रजा के लिए अत्यन्त लाभदायक हुआ। हीरविजय सूरी का ही क्यों? हीरविजय सूरी के शिष्यों ने भी अकबर के जीवन पर शिष्यों से समागम कुछ कम प्रभाव नहीं डाला था। शान्तिचन्द्र उपाध्याय, भातुचन्द्र जी, सिद्धिचन्द्र जी और विजय सेन सूरी भी अकबर के दरबार के रह बने थे। इन्होंने भी अपने चारित्र के प्रभाव व उपदेश से अच्छे अच्छे कार्य अकबर से करवाये।

शान्तिचन्द्र जी ने अकबर की तारीफ के १२९ श्लोकों का एक काव्य रचा, जिस का नाम ‘कृ पा र स को श’ है। शान्तिचन्द्र जी बादशाह को यह काव्य सुनाते थे। कभी कभी अपनी अवधान करने की शक्ति से भी बादशाह को चमत्कृत करते थे। बादशाह ने इनके उपदेश से ‘अपने (बादशाह के) जन्म दिन वाले सारे महीने में, रविवार के दिनों में, संक्रान्ति के दिनों में और नवरोज के दिनों में कोई भी ब्राह्मणी जीवहिंसा न करे, ऐसा हुक्म निकाला था। ‘ही र सौ भा ग्य काव्य’ के कर्त्ता का कथन है कि—“बादशाह ने अपने तीन लड़कों—सलीम, मुराद और दानिशाल के जन्म वाले महीनों के लिए भी जीवहिंसा-निषेध का फर्मान निकाला था।

कुल मिला कर एक वर्ष मे छः महीने और छः दिन के लिये अकबर ने अपने सारे राज्य में जीवहिंसा नहीं होने के फर्मान निकाले थे।

कहा जाता है कि—‘जजिया’ बन्द कराने का फर्मान भी शान्तिचन्द्र जी ने ही प्राप्त किया था। शान्तिचन्द्र जी के कराये हुए कार्यों में इन का ‘कृ पा र स को श’ काव्य प्रधान कारण है।

शान्तिचन्द्र जी के बाद मे भानुचन्द्र जी और सिद्धिचन्द्र जी अकबर के पास रहे थे। इन दोनों का संबन्ध गुरु शिष्य का था। इन दोनों ने अकबर के पास रह कर अच्छी ख्याति प्राप्त की। भानुचन्द्र जी पर बादशाह बहुत प्रसन्न था। बादशाह जब कभी फतहपुर सीकरी किंवा आगरा छोड़ कर बाहर जाता, भानुचन्द्र जी को अवश्य साथ ले जाता। भानुचन्द्र जी अपने साधुधर्म के नियमानुसार पैदल ही जाते थे। बादशाह को विश्वास हो गया था कि इन महात्मा के वचनो मे सिद्धि है। इस के उसे कई प्रमाण भी मिल गये थे।

इतिहासकारों के कथन से यह बात स्पष्ट है कि बीरवल के अनुरोध से, अकबर प्रतिविन सूर्योपासना करता था। वदानी लिखता है :—

दूसरा यह हुक्म दिया गया था कि—सवेरे, शाम, दुपहर और मध्यरात्रि मे—इस प्रकार दिन मे चार बार सूर्य की पूजा होनी चाहिये। बादशाह ने भी सूर्य के १००१ नाम जाने थे। और सूर्याभिमुख होकर भक्ति पूर्वक उन नामो को बोलता था।

सूर्य के ये १००१ नाम किस के द्वारा प्राप्त किये थे ? यह किसी ने नहीं बताया। जैन ग्रंथों में इस के सम्बन्ध मे बहुत सी बातें लिखी गई हैं। ऋषभदास कवि ने 'हीरविजय सूरि रास' मे लिखा है :—

“पातशाह काश्मीरे जाय, भाणचद पुटे पणि थाय,
पूछइ पातशा ऋषि ने जोइ, खुदा नजीक कोने बली होई ? ॥ १९ ॥
भाणचद बोल्या ततखेव, नजीक तरणी जागतो देव ।
ते समयों करि बहुसार, तस नामि ऋद्धि अपार ॥ २० ॥
हुअो हकम ते तेणीवार सँमलावे नाम हज्जार ।
आदित्य ने अरक अनेक आदि देवमां घणे विवेक ॥ २१ ॥

इस से मालूम होता है कि—बादशाह जब काश्मीर गया था तब भानुचन्द्र ने सूर्य के सहस्रनामो का स्तोत्र सुनाया और सिखाया था। भानुचन्द्र जी के उपदेश से सिद्धाचल जी को यात्रा पर जाने वाले लोगो से जो 'कर' लिया जाता था वह बादशाह ने बन्द कर दिया, और उस का फरमान पत्र लिख कर हीरविजय सूरि के पास भेज दिया।

भानुचन्द्र जी को जैन सभ ने 'उपाध्याय' पद दिया, उस से भी बादशाह का ही अनुरोध था।

भानुचन्द्र जी के शिष्य सिद्धिचन्द्र जी बड़े विद्वान् और शतावधानी थे। सिद्धिचन्द्र जी की शक्ति से प्रसन्न हो कर बादशाह ने उन्हें 'जुशफहम' का पद दिया था।

भानुचन्द्र जी और सिद्धिचन्द्र जी अक्सर विजयसेन सूरि को प्रशंसा किया करते थे। विजयसेन सूरि हीरविजय सूरि के प्रधान शिष्य थे, पटुवर थे। अकबर ने हीरविजय सूरि को पत्र लिख कर विजयसेन सूरि को अपने पास बुलाया। वि० स० १६४९ में विजयसेन सूरि राधनपुर (गुजरात) से प्रस्थान करके लाहौर में अकबर से जा

१ इस स्तोत्र की एक हस्त लिखित प्रति आगरे के 'श्री विजय धर्म हज्जती ज्ञान मंदिर' में है, उसका आदि श्लोक यह है—

“नमः श्री सूर्यदेवाय सहस्रनामधारिणे ।

कारिणे सर्व सौख्याना प्रदायामृतमेव ॥

मिले। इस समय अकबर लाहौर में रहता था। विजयसेन सूरि और अकबर की प्रथम भेंट लाहौर के 'कश्मीरी महल' में हुई। नंदिबिजय जी जो कि विजयसेन सूरि के शिष्य थे, अष्टावधान कर बादशाह को प्रसन्न किया। बादशाह ने उन्हें 'खुराफहम' का पद दिया।

विजयसेन सूरि की विद्वत्ता और चारित्र्य पर अकबर बहुत प्रसन्न हुआ। विजयसेन सूरि के उपदेश से अकबर ने गाय, भैंस, बैल और भैंसों की हिंसा बन्द करा दी। एवं मृत मनुष्य का 'कर' लेना बन्द करा दिया।

अब तक के वृत्तान्त से यह स्पष्ट होता है कि—हीरविजय सूरि, शान्तिचन्द्र उपाध्याय, भानुचन्द्र उपाध्याय, और विजयसेन सूरि ने अकबर के जीवन पर बड़ा भारी प्रभाव डाला था। 'जज्ञिया' कर विद्वानों का मत उठवाना, सिद्धाचल, गिरितार, तारंगा, आवू, ऋषभदेव, राजगृह के पहाड़ और सम्मत् शिखर आदि श्वेतान्वर तीर्थों के परवाने लेना, सिद्धाचल का कर बन्द करवाना, मृत मनुष्यों के घन ग्रहण करने का रिवाज बन्द करवाना, पक्षियों को पिंजरों में से छुड़वाना, गाय, भैंस, बैल, भैंसों की हिंसा रकवाना आदि अनेक कार्य उपर्युक्त जैन महात्माओं ने करवाये थे और जैन साधुओं के उपदेश से अकबर ने मांसाहार भी बहुत अंशों में बन्द कर दिया था। इन बातों का उल्लेख 'अनुल-फजल' ने 'आईन्-ए-अकबरी' में एवं 'बदाउनी' ने भी अपनी पुस्तक में किया है। इसी प्रकार प्रसिद्ध इतिहासकार विन्सेट स्थित भी अपनी अकबर नामक पुस्तक के ३३५वें पृष्ठ में लिखता है :—

"मांसाहार पर बादशाह की बिल्कुल रुचि नहीं थी, और अपनी पिछली जिंदगी में तो जब से वह जैनो के स मा ग म मे आ या तभी से उसने इसका सर्वथा ही त्याग कर दिया।

स्थित यह भी लिखते हैं :—

"मगर जैन सा धु ओ ने बर्षों तक अकबर को उपदेश दिया था। बादशाह के कार्यों पर उस उपदेश का बहुत प्रभाव पड़ा था। उन्होंने अपने सिद्धान्त उससे यहाँ तक मनवा दिये थे कि—लोग उसे जैनी समझने लग गये थे।

विन्सेट स्थित ने अपने 'अकबर' नामक ग्रन्थ के २६२वें पृष्ठ में पिनहेरो (Pinheiro) नामक एक पुर्तगाली पादरी के पत्र के एक अंश को उद्धृत किया है, जो उपर्युक्त बात को प्रमाणित करता है, उस में कई जैन सिद्धान्तों का उल्लेख करने के साथ यह भी लिखा है।*

अन्त में लिखा है :—

"इति सूर्यसहस्रनामस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥ असु ओ सूर्य सहस्र नाम स्तोत्रं प्रत्यहं प्रथमपुष्पीपति कोटीकोटि संवटित पदमल त्रिषंढाधिपति दिव्यजीपति पाविसाह ओ अकबरसाहि जलालदीनः प्रत्यहं श्रयोति, सोमपि प्रतापवान् भवतु ॥ कल्याणमस्तु ॥"

कादम्बरी की टीका, विवेक-विलास की टीका और भक्तामर की टीका आदि अनेक ग्रन्थों में भानुचन्द्र जी के नाम के पहले सूर्य सहस्र नामाभ्यापकः विशेषण का प्रयोग आया है। अतएव यह निर्दिष्ट सिद्ध होता है कि भानुचन्द्र जी ने ही अकबर को सूर्य के सहस्र नाम सिखलाए थे।

१. आईन्-ए-अकबरी, ज्वेरेमैन द्वारा अनुवादित, जि० १, पृ० ११-६२; अलबदाउनी, डब्ल्यू० एच्० जौ द्वारा अनुवादित, जि० २, पृ० २६४, ३२१।

* "अकबर जैन सिद्धान्तों का अनुयायी है।"

यह पत्र उस ने लाहौर से ता० ३ सितम्बर १५९५ के दिन लिखा था। यह वही समय है जब कि विजयसेन सूरि लाहौर में अकबर के पास थे।

इतिहासज्ञों से यह बात छिपी नहीं है कि अकबर ने सन् १५७९ में 'दीन-ए इलाही' नामक स्वतंत्र धर्म की स्थापना की थी। और एक धर्म समा भी कायम की थी। इस धर्म समा में प्रारम्भ में तो धर्म समा के सदस्य मुसलमान मौलवियों को ही सम्मिलित किया था। परन्तु बाद में ईसाई पादरी, पारसी सोवेद, हिन्दू ब्राह्मण, और जैन साधु भी सदस्य बनाये गये। इनमें कुल मिलाकर १४० सदस्य थे। 'आईन-गु-अकबरी' (अङ्गरेजी अनुवाद) के दूसरे भाग के तीसरी 'आयत' में इन सदस्यों की सूची दी गई है। इस धर्म समा को पाँच श्रेणियों में विभक्त किया गया था। प्रथम श्रेणी में वे सदस्य रखे जाते थे जो इस लोक और परलोक का ज्ञान रखते थे। जिन जैन महात्माओं द्वारा अकबर के जीवन की काथा पलट कर देने का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनमें से तीन महात्मा अकबर की इस धर्म समा के सदस्य थे ऐसा 'आईन-ए अकबरी' की उपर्युक्त सूची से प्रकट होता है। वे तीन हैं—हीरविजय सूरि, भातुचन्द्र जी और विजयसेन सूरि। इन में हीरविजय सूरि का नाम है प्रथम श्रेणी में, और विजयसेन सूरि तथा भातुचन्द्र जी का नाम है पाँचवी श्रेणी में। हीरविजय सूरि का नाम है १६ वे नम्बर में और विजयसेन सूरि तथा भातुचन्द्र जी का नाम है १३९, १४० में। ये तीनों नाम अङ्गरेजी अनुवादन में इस प्रकार लिखे हैं हीरजी सूर, विजयसेन सूर, और भानचन्द्र।

अब इस लेख को पूर्ण करने के पहले एक बात का यहाँ विचार करना आवश्यक समझता हूँ। यह तो निश्चित हो चुका है कि अकबर के दरबार में जैन साधुओं का प्रवेश हुआ था, और उन उपसहार जैन महात्माओं ने अकबर के जीवन पर प्रभाव डाला था। इतना ही नहीं, परन्तु उन्होने अकबर से लोकोपकार के व जीवदया के अनेक कार्य करवाये थे, तथापि इस का क्या कारण है कि—विन्सेंट स्मिथ के पहिले किसी भी इतिहासकार ने अकबर के जीवन चरित्र को लिखने के समय जैनो के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा ?

मैं इस के तीन कारण समझता हूँ। (१) उन ग्रन्थकारों ने जैन साहित्य को देखा ही नहीं। (२) मूल फारसी ग्रन्थों में 'यति' 'सेवका' 'व्रति' आदि शब्द आये हैं, ये कौन हैं ? इस बात को अनुवादक लोग नहीं समझ सके। (३) 'आईन-ए-अकबरी' में उपर्युक्त तीन जैन महात्माओं के नाम पढ़ने में गलती हुई। इन तीन कारणों से अकबर और जैनो का सम्बन्ध इतिहासकारों से गुप्त रहा।

जैन साहित्य ज्यों ज्यों प्रकाश में आया और विद्वानों के हाथ में आता गया, त्यों त्यों अब विद्वानों को यह बात ज्ञात हुई कि हीर सौभाग्य-काव्य, विजयप्रशस्ति-काव्य, जगद्गुरु-काव्य, कर्मचन्द्र चरित्र, गुर्वावली, कृपारसकोश, सोमसौभाग्य-काव्य, तथा कई पट्टावलि आदि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में तथा हीरविजय सूरि रास, लाभोदय राम, कर्मचन्द्र चौपार्श्व, तीर्थमालाएँ विजयविलक सूरि रास, अमरसेन-वयरसेन आख्यान, मल्लीनाथ रास, पदमहो-त्मव राम, दुर्जनशाल वावनी, परब्रह्म प्रकाश, विजय चिन्ता मणि स्तोत्र आदि कई प्राचीन गुजराती साहित्य ग्रन्थ हैं, जिन में अकबर और जैनाचार्यों के सम्बन्ध का काफी वर्णन पाया जाता है।

दूसरी बात जैन पारिभाषिक शब्दों का न समझना। 'यति' और 'सेवका' शब्द मूल फारसी ग्रन्थों में लिखा गया है। ये शब्द 'वौद्ध' साधुओं के लिये नहीं, परन्तु जैन साधुओं के लिये ही हैं। आज भी

मुसलमान लोग अकसर कर के जैन साधुओं को 'से व डा' कहते हैं। पञ्जाब में तो आमतौर से 'से व डा' नाम से ही पुकारे जाते हैं। जैन साधुओं को प्राचीन समय में 'श्रमण' कहते थे। सम्भव है यही 'श्रमण' 'से व डा' के रूप में आगया हो। डॉ० स्मिथ के कथनानुसार सब से प्रथम भूल मि० चैलमर्स ने 'अकबर नामा' के अंग्रेजी अनुवाद करने में की, बाद में इलियट और डाउसन ने भी वही भूल की। इन तीनों की भूल ने बाननोअर को भी भूल में डाल दिया। इसी प्रकार भूले होती आईं।

सत्य बात तो यह है कि अकबर के दरबार में कोई 'बौद्ध साधु' गया ही नहीं। विन्सेन्ट स्मिथ लिखते हैं:—

"अकबर की बौद्धों के साथ न कभी मेंट हुई थी और न उस पर उन का प्रभाव ही पड़ा था। न बौद्धों ने कभी फतहपुर सीकरी की धर्म सभा में भाग लिया था और न कभी अबुलफजल के साथ ही किसी बौद्ध साधु की मुलाकात हुई। इस से बौद्ध धर्म के विषय में उस का (अकबर का) ज्ञान बहुत ही कम था। धार्मिक परामर्श सभा में भाग लेने वाले जिन दो-चार लोगों के लिये बौद्ध होने का अनुमान किया गया है वह भ्रम है। वास्तव में वे गुजरात से आये हुए जैन साधु थे।"

स्वयं अबुल फजल 'आईन-ए-अकबरी' में लिखता है "विरकाल से बौद्ध साधुओं का कहीं पता नहीं है। बेशक पेरु, तनासिरम और तिब्बत में ये लोग कुछ हैं। बादशाह के साथ तीसरी बार रमणीय काश्मीर की मुसाफरी में जाते वक्फ़ इस मत के (बौद्ध मत के) दो चार वृद्ध मनुष्यों से मुलाकात हुई थी, मगर किसी विद्वान् से भेंट नहीं हुई।"

इन बातों से स्पष्ट है कि—अकबर की धर्म सभा में कोई 'बौद्ध साधु' नहीं थे—नहीं गये थे।

तीसरी बात यह है कि—अकबर की धर्म सभा के सदस्यों में तीन जैन साधुओं के नाम अवश्य हैं, परन्तु इसके पढ़ने वालों ने गलत पढ़ा और गलत पढ़ने पर भी उस पर परामर्श नहीं किया कि—ये कौन होंगे? हीरविजय सूरि के स्थान में हरि जी सूर, विजयसेन सूरि के स्थान में विजयसेन सूर, और भातुचन्द्र के स्थान में भानचन्द—ऐसा अनुवाद किया गया है।

इस प्रकार वि० सं० १६३९ से वि० सं० १६५१ तक अकबर के साथ जैन साधुओं का सम्बन्ध लगातार रहा था। उस के बाद जब तक अकबर जीवित रहा उस को और उस के बाद उस के लड़के जहाँगीर को भी जैन साधु मिलते और धर्मोपदेश देते रहे थे।

१ दे०—आईन-ए अकबरी (सैरिड कृत अंग्रेजी अनुवाद), जि० ३, पृ० २१२।

राजपूत और मराठे

श्रीयुत भास्कर रामचन्द्र भालेगाव, ग्वालियर

अद्वैतसिंह श्रीयुत गौरी शंकर जी ओम्हा महोदय पुरातन-विशारद हैं, सशोधक हैं, भारतीय प्राचीन लिपियों के विद्वान हैं और हैं कई ऐतिहासिक ग्रन्थों के प्रणेता, पर आप का सच में अधिक महत्व का और स्थायी कार्य है राजपूतों के इतिहास की सामग्री का संग्रहण, सङ्कलन और सम्पादन। यद्यपि प्राचीन काल से लेकर आज तक के हमारे देश के इतिहास के साधन तो यद्यन्तर्विखण्ड हुए विपुल रूपेण पाए जाते हैं। किन्तु अनेकों राज्य के स्थापित होने के पूर्व किसी भारतीय परिदृष्टि में सुसूत्र रूपेण भारतीय, प्रान्तीय या जातीय इतिहास लिखने का प्रयत्न नहीं किया। अनेकों राज्य के आरम्भ काल में कुछ उदारशासक पश्चिमीय विद्वानों ने भारतीय इतिहास की प्राचीन सामग्री एकत्र करना आरंभ किया और गणितीय सांसाद्री ऑफ बगल जैसी कुछ संस्थाएँ भी स्थापित हुईं, साथ ही व्यक्तिगत रूप में ग्राण्ड डक ने मराठों का इतिहास लिखा, फॉर्म ने रास माला अर्थात् गुजरात के इतिहास का सम्पादन किया, डॉड ने राजपूताने का इतिहास लिखा तथा मालकम ने मध्यभारत का, कनिंघम ने मिर्कसो का, पॉमसन ने बुंदेलो का, ब्रिज ने निजाम का, विल्स ने मैसूर का तथा उन कार्यकर्ताओं के अन्तिम प्रतिनिधि डॉक्टर विन्सेण्ट स्मिथ ने भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास लिखा। यद्यपि भारतीय दृष्टि कोण में उक्त इतिहासों में कई प्रकार की त्रुटियाँ हैं—उस समय इतने साधन भी उपलब्ध नहीं थे और न एक व्यक्ति को इतनी सामग्री मिल ही सकती थी, तथापि तात्कालीन परिस्थिति के देखते उन आरम्भिक कार्यकर्ताओं ने जो कुछ किया, वह तो अचर्य ही अचर्यकर है। आज दिन तक कई भारतीय विद्वानों ने उक्त कृतियों की आलोचनाएँ एवं प्रत्यालोचनाएँ भी कीं, किन्तु अब तक बहुत कम विद्वानों ने तत्संबन्धी स्वतन्त्र इतिहास-ग्रन्थ लिखने का प्रयत्न किया है। अद्वैत ओम्हा जी जैसे भाग्यवान इतिहासकार तो उगली पर गिने जाने योग्य भी न मिलेंगे, जिन्होंने पूर्ववर्ती सिद्धान्तों का केवल खण्डन-मखन ही नहीं किया बल्कि राजपूतों का स्वतन्त्र और सर्वाङ्गपूर्ण इतिहास लिख कर अपनी कृति को ही एक मात्र अधिकारपूर्ण रचना कहलाने का सुयश प्राप्त किया है। अतएव जब तक राजपूत जाति और हिन्दी भाषा जीवित रहेगी, तब तक ओम्हा जी का राजपूताने का इतिहास ही एकमात्र सन्दर्भ ग्रन्थ माना जायगा। यों तो सर देसाई ने भी महाराष्ट्र का इहत् इतिहास लिख कर ग्राण्ड डक के इतिहास की आवश्यकता ही नहीं रखी, किन्तु ओम्हा जी की नई जगलों, पहाड़ों, बीहड़ों, गुफाओं आदि विद्वत् स्तरों पर स्वयं घूम कर सामग्री बढ़ोरने जैसा प्रचण्ड प्रयत्न सिवा राजवाड़े के अन्य किसी भारतीय विद्वान ने नहीं किया, राजवाड़े भी कोई सुसूत्र इतिहास न लिख सके, अतएव श्री ओम्हा जी की कृति सर्वथा अद्वितीय है। हिन्दी का अहो भाग्य है कि उस के एक सपूत ने अपनी कृति के बल पर अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की, अतएव स्मृति-ग्रन्थ के द्वारा उन का अभिनन्दन किया जाना सर्वथा आवश्यक था। अस्तु।

श्री ओम्हा जी का अर्थात् विषय है राजपूतों का इतिहास। वास्तव में मराठे भी राजपूत ही हैं और इस बात को श्री ओम्हा जी ने भी अपने इतिहास के चतुर्थ खण्ड में स्वीकार कर लिया है। महाराष्ट्र के प्राचीन विभाग दण्डकारण्य में वस्ती करने के समय उत्तरीय भारत के क्षत्रिय और ब्राह्मण ही वहाँ पर उपनिवेशित हुए थे और उन समय प्रान्तों में पारस्परिक हृदय सम्बन्ध भी था। मध्य युग में भी मुसलमानों के आधिपत्य एवं कौटुम्बिक कलह के कारण क्षत्रपति शिवाजी महाराज के पूर्वज तथा अन्य क्षत्रिय कुटुम्ब राजपूताने में वसिष्ठ की ओर चला दिये और

महाराष्ट्र में स्थायी रूप से बस जाने के कारण मराठे कहलाये; किन्तु आश्चर्य की बात है कि एक ही रक्त-मांस-पिण्ड के होने पर भी उन दोनों के विभिन्न दृष्टि कोण होने के कारण अनन्तर उन में पारस्परिक मनो मालिन्य हो गया। जिस से कई रण-संग्राम हुए और पारस्परिक भलाई बुराई की बातें भी इतिहास में अंकित हुईं। निर्बल राजपूत यवन सत्ता के पोषक और प्रशंसक बने तो मराठों ने पुरुषार्थ और बाहुबल द्वारा यवनो को हेय सिद्ध कर अपना अधिराज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। इस संघर्ष में राजपूत मराठों में खूब ठनी, जिस का वर्णन श्री ओम्ना जी को भी अपने इतिहास में लिखना पड़ा है। राजपूतों के इतिहास लेखक मराठों का दोषाधिष्करण करते हैं और महाराष्ट्र के इतिहास-कार राजपूतों की भूले बताते हैं, अतएव उक्त समय समाजों के प्राचीन, मध्यकालीन तथा आधुनिक पारस्परिक सम्बन्ध, उन के राजनैतिक प्रमाद आदि विषयों का संशोधन, मनन तथा विवेचन, की अत्यन्त आवश्यकता है। इसी से तत्सम्बन्धी अल्प विवेचन, इस लेख के द्वारा, करने की चेष्टा की जाती है।

मराठे और राजपूत एक ही वंश के हैं; इस में कोई संदेह नहीं। राजपूतों के पंचकुल और छत्तीस कुलों की नाईं प्रान्तिक उपभेदों के कारण मराठों के १६ कुल माने गये हैं और तत्सम्बन्धी पर्याप्त साधन भी उपलब्ध है। मराठों के कुल, क्षत्रियों की नाईं, सूर्य, चन्द्र, शेषवंश और यदुवंश में विभाजित हैं। उदयपुर के गोहिल, सोसोदिया, सक्तावत, चूड़ावत राणावत आदि उपकुलों की नाईं महाराष्ट्र वासियों के एक ही कुल या वंश के विभिन्न उपनाम (आड़नाम) पाये जाते हैं। राजपूत सोलंकी, परमार, प्रतिहार और चौहान की नाईं मराठों में चालके अथवा सोलखे, पोवार अर्थात् पवार, चव्हाण तथा प्रतिहार हैं। राजपूत और मराठों के कुलों की समानता निम्नलिखित विवेचन से भी सिद्ध है। यथा :-

मराठा कुल			राजपूत कुल
सूर्यवंशी, सुरोशी, सुरखे	सूर्य
सोम वंशी	सोम
यादव र्ण जाधव	यदु
पँवार, पोवार	परमार
चालके, सालुङ्के	सोलङ्की
चव्हाण	चौहान
चावरे	चावड़े
रठाठो	राठौर
शेलार, सेलार	सिलार
सैन्डक, शिन्दे	सिन्दा
धामपाल	धमपाली
अभीरे	अभीर
अनङ्ग	अनङ्ग
प्रतिहार	प्रतिहार
कलचुरे	कलचुरके
मोरे	मोरी
तुवार (शिरके-फालके)	तँवर

गोरे	गौर
गूजर	पड़ गूजर, वीर गूजर
काटे	काटी
परिहार	परिहार

महाराष्ट्रीय विभिन्न राजपूत कुलों के कुल, गोत्र और आड़नामों में भी बड़ा फर्क पड़ गया है, जिस से एक ही गोत्र के विभिन्न कुल-नाम पड़ गये हैं। यथा—

गोत्र	मराठा कुल	मराठी कुल-नाम
चौहान	चव्हाण	लाड, तावडे, मोहिते, कालभोर, रणदिवे, हन्पीर राव
”	लाड़ कुल	लाड़
”	तावडे	तावडे, सांगल, जामले
”	मोहिने	बाँडे, कटि, कामरे आदि।

इसी प्रकार एक गोत्र के कई मराठा कुल और अत्येक मराठा कुल के कई आड़नाम पाये जाते हैं, किन्तु वंशों के चिन्ह, छत्र, कुल, देवता, वर्ण, अग्नि, ध्वजा का रंग, वेद, मुख्य स्थान आदि बातें निश्चित हो जाने से उनके मुख्य कुल का पता चल जाता है। उदाहरणार्थ सोमवंशी राजा चव्हाण, नगर मेवाड़, अवन्तीपुरी, खेत सिंहासन खेत छत्र, खेत निशान, खेत घोड़ा, ध्वज पर चन्द्र, कुल—देवता, ज्वालामुखी भवानी, हल्दी, सेना, कई का उपयोग, गुरु वसिष्ठ, गोत्र चव्हाण, वेद ऋग्वेद त्रिपदा गायत्री छन्द, कुल—लाड़ लावेड़ मोहिते आदि इसी प्रकार चालके उर्फ चालुक्य कुल का वल्लभ गद्दी बदामी दूसरी गद्दी कल्याण, सफेद सिंहासन, सफेद छत्र, निशान घोड़ा, ध्वज पर गणेश जी, गुरु दालभ्य, गोत्र चालुक्य, गायत्री मन्त्र, नील वर्णये मुख चिन्ह चलाये गये हैं।

मराठों के उपनामों की भी विचित्र रूप से उत्पत्ति हुई। किन्हीं कुल में तो वे ही उपनाम चले आते हैं जो आदि में थे यथा—यादव, पवार, चौहान, तौर आदि, किन्तु कोई कोई नाम विरोधवटनाओं के कारण बदल गए। घुरपड़े वास्तव में सिसोदिया राजपूत हैं, किन्तु उनके पूर्वजों ने घुरपड़ अर्थात् गोह की सहायता से एक किले की दीवार को फाँदा था, अतएव यही उनका वंश नाम भी हुआ। फालके असल में तैवर राजपूत हैं। गोलकुण्डा राज्य में इस वंश के दो आताओं में से एक पर प्रसन्न होकर बादशाह ने उसे पोशाक अटा की। तब उन दोनों भाइयों ने उसका बटवारा कर लिया, जब वे दरबार में पहुँचे और उनसे पूछा गया तो उन्होंने कहा कि पोशाक के “दोन दोन फाड़ केले” अर्थात् दो दो टुकड़े कर लिये जिससे बाद को वे फाड़ के फालके कहलाये। कुछ मराठे अपने ग्राम नामों से प्रसिद्ध हुए यथा पाटणकर सोलंकी राजपूत हैं निम्वालकर पवार हैं अग्निवाड़ी से अग्नि, माहुरग्राम से माहुरकर आदि, किन्हीं किन्हीं के वास्तविक नाम दक्षिणी भाषा में दोले जाने के कारण परिवर्तित हो गये हैं। जैसे राना से राने, मोर्ये से मोरे, चालुक्य से चालके आदि। महाराष्ट्र के शासक भी राष्ट्रकूट चालुक्य, यादव आदि राजपूत वंश ही थे। छत्रपति शिवा जी के पूर्वज मेवाड़ के अधीश्वर महाराणा अजीत सिंह के पुत्र सज्जन सिंह और कैम सिंह थे, जो सम्बत् १३६७ में दक्षिण में जा कर बसे, जिनकी १२ वी पीढ़ी में छत्रपति का जन्म हुआ था। प्राचीन समय में इन विभिन्न प्रान्तीय क्षत्रियों में—पारस्परिक विवाह भी होते थे। कल्याण के जैसिंह चालुक्य के पुत्र मूलराज ने अनहिल पट्टण के राजा भोजराज चावड़ा की कन्या से विवाह किया था तथा धृष्णीराज चौहान का जदोमालम

अर्थात् देवगिरि के यादव भिल्लम की कन्या से विवाह होने का भी पता चलता है—पर अनन्तर प्रान्त, भाषा, व्यवहार-वर्तव्य आदि भेद तथा प्रवास की असुविधा के कारण पारस्परिक व्यवहार का लोप हो गया। अस्तु।

महाराष्ट्र में क्षत्रियों की बस्ती क्यों और कब हुई? इस विषय की स्वर्गीय डाक्टर भण्डारकर राजाराम शास्त्री भागवत, स्वर्गीय राजवाड़े जी भारतचार्य वैद्य जी आदि ने काफी चर्चा की है। इतिहासकारों राजवाड़े जी का तत्सम्बन्धी प्रयत्न अवश्य ही अभिनन्दनीय है। आपने महाराष्ट्र के बसाहत काल के विषय में ग्रामनाम, प्राणी नाम, पर्वत, नदियाँ आदि की काफी खोज-भाल करके यह सिद्ध किया है कि नन्दकुल का अन्त होने पर यहाँ के क्षत्रिय चातुर्वर्ण्य की रक्षा के लिये इंग्लैंड के प्यूरिटन फावर्स अथवा फ्रांस के हेनो की नौ ई. उत्तरीय भारत से प्राचीन दख्ख-कारखंभे में जा बसे हैं, अतएव उत्तरी भारत तथा महाराष्ट्र के क्षत्रियों के एक ही कुल होने, उनके महाराष्ट्र में उपनिवेशित होने का समय आदि विषयों की विशेष खोज तथा विवेचन की अत्यन्त आवश्यकता है। अस्तु।

मराठों के मध्य कालीन इतिहास का प्रारम्भ देवगिरि के यादव-राज्य-पतन से आरम्भ होता है—महाराष्ट्र में मुसलमानों का आधिपत्य स्थापित होने पर वहाँ के क्षत्रियों ने आर्य सभ्यता की रक्षा के लिये सुदूर प्रदेश कर्नाटक में विजयनगर साम्राज्य स्थापित किया। उस राज्य में और बहमनी तथा उसकी पाँच मुसलमान शाखाओं के आश्रय में भी मराठों ने अपने बाहुबल पर बड़ा पुरस्कार दिलाया। उस समय भी राजपूताने के क्षत्रियों ने दक्षिण की ओर जाकर अपना साम्य निर्माण किया जिसके कई प्रमाण उपलब्ध हैं। हाल ही में सुप्रसिद्ध इतिहासविद् डाक्टर बालकृष्ण जी ने छत्रपति शिवाजी के पिता शाह जी का चरित्र प्रकाशित किया है उसमें मुघल राज्य के पूर्वजों का शाही फर्मानों के आधार पर सीसोदिया वंशज होना, १४ वीं शताब्दी में उनका दक्षिण में बसना तथा दक्षिण के बहमनी बादशाहों द्वारा जमीन प्राप्त करना आदि बातें लिखी हैं। श्री ओमा जी ने भी अपने इतिहास में तत्सम्बन्धी उल्लेख किया है। शिवा जी के पिता शाह जी महाराज के दुर्बार में जयराम पिण्डे नामक एक कवि हो गया है, जिसका लिखा राधा माधव विलास चम्पू नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। उसमें स्पष्ट रूपसे उन्हें सीसोदिया वंशज लिखा है। शाह जी के दुर्बार में विभिन्न भाषा भाषी लगभग ३५ कवि मौजूद थे; उनमें से एक कवि ने लिखा है कि—

जाणा छौं शाहराज, राणा जी रो भाई छे जी।

देश छै जी चित्रोद, कुल जात राणा री॥

छत्रपति शिवाजी के दुर्बारी कवि वीर रसाचार्य भूषण ने लिखा है—

+ + लियो विरद सीसोदिया x x x

भूमिपाल तिन में भयो + x

रत भूसिला सु मौसला x x x x

उक्त अवतरणों से भी छत्रपति का सीसोदिया होना सिद्ध है। महाराज शिवाजी का राज्याभिषेक करने वाले पण्डित वर्य गागा भट्ट जी ने भी कहा है कि—

यः क्षात्रधर्मस्य नवावतारः

महाराष्ट्र के तत्कालीन पुराण मत बादी ब्राह्मण छत्रपति शिवा जी को क्षत्रीय स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं थे, अतएव छत्रपति ने अपना मुस्त्यार उदयपुर भेज कर महाराजा जी से स्वयं को सीसोदिया वंशज होने का प्रमाण पत्र प्राप्त किया और पण्डित वर्य गागा भट्टजी को काशी से निमंत्रित कर उनके द्वारा वेदोक्त पद्धति से निज के उपनयन तथा राज्याभिषेक संस्कार करवाये महाराज शिवा जी का सुगलों से संवर्ष होने के कारण तत्कालीन राजपूत राजा और

सर्दारों से, जिन्होंने मुगलों की आधीनता स्वीकार कर ली थी, परोक्ष-अपरोक्ष रूप से संबन्ध हुआ था। उन में से जोधपुर के महाराजा जयसिंह तथा जयपुर के महाराजा मिर्जा राजा जयसिंह से विशेष संबन्ध हुआ। शिवाजी का उन समय सर्दारों से जो पत्र व्यवहार हुआ, वह पूर्णतया अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुआ है, किन्तु बहुत संभव है कि जयपुर तथा जोधपुर के दवारी रेकार्ड से भविष्य में उस का पता चल जाय। महाराजा शिवाजी मुसलमानी सत्ता के बदले स्वराज्य स्थापित करना चाहते थे और मुगल सर्दारों के नाते जयसिंह तथा जयसिंह का उद्देश्य शिवाजी को धर दबा कर उन्हें मुगलों के आधीन करना था। वास्तव में शिवाजी का उद्देश्य कहीं जैसा और अभिन्न नहीं था और कई नाटकों व उपन्यासों में तत्सम्बन्धी कई मनोरंजक बातें भी लिखी गई हैं, किन्तु आश्चर्य है कि राजपूताने के भाट चारणों ने मराठा और राजपूतों के सम्बन्ध में मराठों को सर्वदा द्वेष बतलाने की ही चेष्टा की है। एक भाट ने तो यहां तक लिख मारा है कि “राजपूतों की तलवारों के आगे मराठों के भाले मोच खा गये” वह कविच निम्न है—

गजन सभ्रम लिया, गनीमा तातणीनी गढ़ ।

हुई खग तणै, भाला तणी हार ॥

अर्थात् गजसिंह के पुत्र जयसिंह ने अपने गनीम—राजपूत—मराठों के किले जीत लिये, राजपूती तलवारों के आगे मराठों के भालों की हार हुई।

थो तो महाराजा शिवाजी का बुंदेला नरेश महाराजा छत्रसाल, रामसिंह, उदैमान राठौड़ आदि कई प्रमुख राजपूत सर्दारों तथा राजाओं से परिचय तथा निकट सम्बन्ध हुआ था, पर महाराज के राजनैतिक कार्य में प्रमुखतया जयसिंह, जयसिंह, रामसिंह तथा छत्रसाल ही विशेष उल्लेखनीय हैं, अतएव उस सम्बन्ध पर ही अब हम विचार करें।

सन् १६६५ में मिर्जा राजा जयसिंह को औरंगजेब ने दक्षिण का सूबेदार बनाया था, पर बीजापुर की सेना से पराजित होने के कारण सन् १६६७ में औरंगजेब ने उन्हें हटा दिया और शाहजावा मुअज्जम को सूबेदार बना कर महाराजा जयसिंह को उस की सहायतार्थ दक्षिण भेजा। मिर्जा के साथ रामसिंह सीसोदिया, राजा सुजानसिंह बुंदेला, पुत्र कीरतसिंह, पूरणमल बुंदेला आदि राजपूत सर्दार भी थे। मिर्जा जी ने युक्ति प्रयुक्ति से महाराज को दिल्ली चलने तथा किसी प्रकार का बोझा न होने का वचन दिया, जिस के विषय में उन दोनों में बहुत कुछ पत्र व्यवहार हुआ, जो अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुआ है। जयसिंह ने समय समय पर जो पत्र बादशाह की ओर भेजे उस का बहुत सा अंश तो प्रकाशित हो चुका है किन्तु उस की दूसरी बाजू, महाराष्ट्र के तत्कालीन पत्र, अभी हिन्दी या अंग्रेजी में प्रकाशित नहीं हुए, अतएव तत्कालीन मुगलों का इतिहास अथवा महाराजा जयसिंह की जीवनी लिखने के लिये मराठी साधनों के अध्ययन की आवश्यकता है। जयसिंह के पुत्र रामसिंह की सहायता से महाराजा शिवाजी का बादशाह की कैद से निकल जाना भी प्रसिद्ध है, किन्तु तत्सम्बन्धी अभी तक थोड़े-से सामग्री उपलब्ध नहीं हुई। सन् १६६८ से १६७१ तक जोधपुर के महाराजा जयसिंह भी मुगल दवारी से दक्षिण के प्रबन्ध के लिये भेजे गये थे और उनका महाराजा शिवाजी से भी घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया था, अतएव तत्सम्बन्धी महाराष्ट्र तथा राजपूताने की सामग्री एकत्र करने से ही तत्कालीन वास्तविक घटनाओं का पता चल सकता है। महाराजा छत्रसाल बुंदेला महाराज छत्रपति शिवाजी से दक्षिण जा कर मिले थे, जिस का उल्लेख लालकवि ने ‘छत्रसाल प्रकाश’ में भी किया है, पर उस विषय के

यथेष्ट प्रमाण अभी नहीं मिले हैं। उदैराज, उदैमान राठौड़, राजा कर्ण, कीरतसिंह कछवाहा, पूरणमल बुंदेला, मौहकमसिंह, मोहनवास, रामसिंह सीसोदिया, सुमानसिंह, सुजानसिंह, सुमानसिंह आदि राजपूत राजा तथा सर्दारों का युद्ध, सन्धि, व्यवहार आदि विविध कारणों से महाराजा शिवाजी से परिचय हुआ था, अतएव उन के विषय की दोनों प्रान्तों की सामग्री का सङ्कलन करना आवश्यक है। तत्कालीन महाराष्ट्र की मुसलमान सत्ता बीजापुर से शाहजहाँ तथा औरंगजेब के युद्ध हुए थे और उन में मुगलों के सर्दारों के नाते रतलाम के महाराजा रामसिंह राठौड़ आदि कई राजपूतों ने भाग लिया था। उन के विषय की भी बहुत सी सामग्री महाराष्ट्र में मिल सकती है। छत्रपति शिवाजी के पुत्र संभाजी से बोरबर राठौड़ दुर्गादास का घनिष्ठ परिचय और सम्बन्ध हुआ था। संभाजी के दीवान कान्ठकुब्ज कविकलश उत्तर भारत निवासी थे तथा महेरादास नामक उन के एक दर्बारी कवि का होना भी पाया जाता है। कोई उसे भाट बतलाते हैं। कुछ वर्ष पूर्व स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसाद जी ने कविकलश सम्बन्धी एक पत्र प्रकाशित किया था, उस से सिद्ध होता है कि संभाजी को बादशाह के द्वारा मरवाने में उस का भी हाथ रहा हो, इसी से उसे विश्वासघातक मान कर बहिष्कृत कर दिया गया था। इस उदाहरण से भी सिद्ध है कि उभय प्रान्तों की सामग्री का संशोधन करने से राजपूत और मराठा दोनों जातियों के इतिहास की बहुत सी अप्रकाशित बातें ज्ञात हो जावेगी। अस्तु।

महाराजा जसवन्तसिंह जोधपुर वाले के पुत्र अजीतसिंह गुजरात के सूबेदार थे और वे उस प्रान्त को हड़पना चाहते थे; इसी से उन्हो ने अपने प्रतिस्पर्धी मराठा सर्दार विलाजीराव गायकवाड़—वर्तमान बड़ौदा राज्य के स्थापक—को मरवा डाला था। उस का लड़का अमरसिंह भी गुजरात में रहा और वास्तव में उसी ने सन् १७३२ में डाकोर में पिलाजी का खून कराया उस का बदला पिलाजी के भाई महादजी और लड़के दमाजी ने जोधपुर को लूट कर लिया। मराठों ने तत्सम्बन्धी बहुत कुछ सामग्री उपलब्ध है। सवाई जयसिंह के सेनापति कृपाराम नादिरशाह की लूट के समय दिल्ली में थे और मराठों से उस का भी सम्बन्ध था। बाजीराव के भाई चिमाजी ने मालवे पर चढ़ाई कर सन् १७२४ में वहाँ के मुगलों के सूबेदार गिरधर बहादुर को मार डाला तथा सन् १७३१ में स्वयं बाजीराव पेशवा ने राणोजी सिंधिया, मल्हारराव होल्कर उदाजीराव पवार तथा अन्य मराठा सर्दारों की सहायता से मालवे के सूबेदार दयाबहादुर को तिरला के रणक्षेत्र में मार कर मालवा में मराठा शाही स्थापित की। मालवा पर चढ़ाई कर के उस प्रान्त को मुगलों के चङ्कल से छुड़ाने के लिए इन्दौर के जमींदार रावणन्दलाल मण्डलोई ने सवाई जयसिंह के द्वारा पेशवा बाजीराव को निमंत्रित किया था। तत्सम्बन्धी बहुत सी सामग्री प्रकाशित हो चुकी है और भविष्य में और भी मिल सकती है; विशेष रूपेण सवाई जयसिंह की मराठों सम्बन्धी उदारता तो कभी मुलाई नहीं जा सकती। महाराजा सवाई जयसिंह तथा प्रथम बाजीराव पेशवा में जो पत्र-व्यवहार हुआ था उस में से एक संस्कृत पद्य-मय पत्र पाठको के अवलोकनार्थ यहाँ पर उद्धृत किया जाता है। पत्र के आरम्भ में बाजीराव ने जयसिंह की बड़ी प्रशंसा की है और 'राजाधिराज' 'महाराज' जैसे विशेषणों से युक्त पत्र लिखा है; साथ ही अपने पुरुषार्थ से धनकामा भी है। उसी पत्र में निम्नश्लोक है।

पीत्वा गर्जन्यपल्ले दिशि दिशि जलदास्त्वं शरण्यो गिरीणाम्
सुत्राण्य त्रास भाजां त्रिदशिविदिपिनां जन्मभूमिस्त्वमेव ।
गाम्भीर्यं तच्च तादृक त्वयि सलिलनिधे किन्तु विज्ञाप्यमेतत्
सर्वोपायेन मैत्रावरुणमुनिक्कपादृष्टयः कांच्छीयाः ॥ १ ॥

इस श्लोक में राजा जयसिंह को समुद्र की उपमा दे कर कहा है कि तेरा उदक प्राशन करके मेघ चारों ओर गर्जना करते हैं, इन्द्र से पीड़ित पर्वतों का तू रक्षक है, देववृक्ष अथवा कल्पवृक्ष की जन्मभूमि भी तू है, तेरी गभीरता भी अगाध है, इन सब गुणों के होते हुए भी सूचित किया जाता है कि सभी उपायों से मित्रावरण के पुत्र अगस्त्य मुनि की कृपादृष्टि के आकांक्षी बने रहो। इस रूपक का अर्थ यह है कि तेरे सामर्थ्य के आश्रय से अन्य राजा तथा सर्दार अपना वड़पन टिकाए हुए हैं, तू मुसलमानों से पीड़ित लोगों का अभयदाता है, तू हमारी इच्छापूर्ण कर सकता है, किन्तु अगस्त्य मुनि अर्थात् सुभ वाजीराव पेशवा का कृपाकांक्षी बना रह, अन्यथा तेरा नाश होगा। इस का उत्तर जयसिंह ने निम्नलिखित श्लोक से दिया—

क्षन्तव्या द्विजजातयः परिभवेऽप्येतद्वचः पालनात् ।

पीतः कुम्भ समुद्रवेन जलधिः किं जातमेता वता ।

मर्यादां यदि लघवेद्विधिवशात् यस्मिन्क्षणे वारिधिः ।

त्रैलोक्य सचराचरं प्रसति चेत् कस्तत्र कुम्भोद्भवः ॥

महाराजा सवाई जयसिंह उक्त श्लोक में स्वयं को समुद्र स्वीकार कर के कहते हैं कि यदि प्रसंग वशा ब्राह्मण क्षत्रियों का अपमान भी करे तो भी वह क्षम्य ही है, इसी वचन का प्रतिपालन हम करते हैं। कुम्भ (घड़े) से उत्पन्न अगस्त्य मुनि ने समुद्र शोषण किया था यह सच है, किन्तु यदि दैव योग से समुद्र अपनी मर्यादा का उल्लंघन करे तो वह उत्क्षण ही चराचर सहित त्रैलोक्य को डुबो देगा, फिर अगस्त्य मुनि की तो बात ही क्या है? इस रूपक में जयसिंह ने यह वतलाया है कि ब्राह्मणों की रक्षा करना हमारा धर्म है, अतएव हम को उस के लिये कष्ट भी उठाने पड़ें तो भी हम तुम पर कृपा भाव ही बनाये रखेंगे, पर इस से तुम हम को निर्बल मत समझना। यदि मैं क्रोधित हुआ तो सारे देश का वण्टाढ़ार कर दूंगा, फिर तुम्हारी तो बात ही क्या है? सवाई जयसिंह के पास व्यकाजी नामक वाजीराव का वकील रहा करता था, किन्तु अभी तक जयसिंह और मराठों का पत्र व्यवहार बहुत कम प्रकाशित हुआ है। सन् १७३७ में निजाम से साथ मराठों का भोपाल के निकट जो युद्ध हुआ, उस में कोटा के राजा दुर्जनसाल भी मराठों से लड़े थे और तभी से मराठों का ध्यान उस राज्य की ओर आकर्षित हुआ।

वाजीराव पेशवा ने महाराजा छत्रसाल बुंदेला को मुहम्मदली बगश की चढ़ाई के समय जो सहायता दी, वह इतिहास में कभी मुलाई नहीं जा सकती। तत्सम्बन्धी—

जो गति गाह गजेन्द्र की, सो गति भई है आज ।

बाजी जात बुंदेल की, बाजी राखो लाज ॥

यह बोधा प्रसिद्ध है ही। उस उपकार के उपलक्ष्य में पेशवा को २। लाख की जागीर बुंदेलखण्ड में महाराजा छत्रसाल ने दी थी। छत्रसाल ने मत्तानी नामक एक सुन्दर वचन युवती वाजीराव को भेंट की थी। उसी के वंशज ब्रौदा के नवाब कहलाये। छत्रसाल के पुत्र हृदयसाह तथा जगतराज के भी साथ पेशवा ने भैयाचारे का नाता खूब निभाया। सवाई जयसिंह के बकांल विक्रमाजीत, सिवसिंह, सभाचन्द, सभासिंह आदि अन्य सर्दारों से भी मराठों का सम्पर्क हुआ था। उदयपुर के महाराणा संग्रामसिंह, वाजीराव पेशवा तथा प्रसिद्ध मराठा सर्दार श्रीपतिराव प्रतिनिधि को बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे। उदाहरणार्थ महाराणा के उन्हें लिखे हुए दो संस्कृत पत्रों में से यहाँ पर एक पत्र उद्धृत किया जाता है।

श्री एक लिंगः (ता: २ । ४ । १७२९)

स्वस्ति श्री महाराजाधिराज महाराणा श्री संग्रामसिंह नृपवर्यदेशात् स्नेहसंदोहसद्भासु स्वामिकार्यैकनिष्ठा-
न्तःकरणप्रवृत्तिषु मुख्यामात्य राजश्री बाजीरावजी बल्लाळेषु सुप्रसादो लिख्यते । यथा श्रीमत्कृपया शमिह भवदीय
मीनशमविच्छिन्नमनितरसाधारणमेवमानमीहा महे । श्रीमतोऽत्रत्य भाधिकेष्विषोह्य कृतिमतया यादगन्योन्यं प्रेम वर्तते
तदधिक वृद्धिमुपशान्तु अपरंच चतुः शाश्वियणों राजद्वितीयमुख्यपरिडिता वीरेश्वर भट्टा विवाहार्थं दक्षिणप्रान्ते यास्यन्ति
भवन्मोलान्तरमेषां पथि निष्प्रत्यूहं गमनागमने भवन्तस्तथा विधास्यन्ति । श्रीमतः किमधिकम् सुविस्तु । संवत्से
रसवसु मुनीन्द्रसंख्ये मध्वमेचक पूर्णार्थां चन्द्रेग्रगे रचितोयं वर्णचरः ॥
मुख्यायात्म राजश्री बाजीराव बल्लाळेषु योग्य मदः पत्रम् ।

बालाजी बाजीराव पेशवा ने अर्जुन सिंह धंधेले की भी बड़ी सहायता की थी । इसी समय सिंधिया
और होल्कर ने बुंदेलों का जैतपुर किला जीत लिया था । तत्सम्बन्धी बहुत कुछ सामग्री उपलब्ध हो चुकी है ।
सवाई जयसिंह के पुत्र ईश्वरीसिंह और माधौसिंह ने जयपुर की गद्दी हस्तगत करने के लिए जो भगड़ा हुआ,
उसमे मराठों ने बहुत कुछ योग दिया । ईश्वरीसिंह बड़ा पुत्र था, पर माधौसिंह उदयपुर की राजकन्या का पुत्र होने
के कारण राणा जी ने पेशवा को १५,००,००० रुपये नज़र देने का वचन देकर माधौसिंह के सहायक होने का आग्रह
किया, पर सिंधिया होल्कर ने ईश्वरीसिंह को सहायता करके माधौसिंह तथा उसके सहायक महाराणा जगतसिंह
को हरा दिया । कोटा और बुंदी के राजाओं ने भी माधौसिंह को सहायता दी थी, अतएव सिंधिया ने
उन दोनों राज्यों पर चढ़ाई करके खूब द्रव्यसम्पन्न किया, यह देख कर होल्कर को भी द्रव्य-लोभ छूटा और
माधौसिंह ने ६५,००,००० लाख रुपये देने का वचन देते ही होल्कर ने पिछली कार्यवाही को भूल कर ईश्वरी सिंह
पर चढ़ाई कर दी । अन्त में पेशवा स्वयं राजपूताने में पहुँचे । जब ईश्वरी सिंह ने पेशवा और होल्कर दोनों
को माधौ सिंह का सहायक पाया, तब उसने और द्रव्य पेशवा को देना कबूल कर लिया; पर, पूरी रकम न मिलने
से पुनश्च उस पर चढ़ाई की गई । अन्त में ईश्वरीसिंह ने आत्म-हत्या कर ली और माधौसिंह को राज-गद्दी मिली ।
उसी माधौसिंह का दिया हुआ परगना रायपुर अभी तक होल्कर के कब्जे में है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि
जयपुर के भगड़े में मराठों ने लोभवश आकारण चढ़ाई बरवाई की । उन्होंने कभी ईश्वरीसिंह और कभी माधौ-
सिंह का पक्ष ले कर राजपूतों से सदा के लिए शत्रुता कर ली और स्वयं राजनीति तथा इतिहास में सर्वदा के लिए
कलंकित हो गये । ता० ७ मार्च सन् १७४७ का पेशवा का लिखा हुआ एक मराठी पत्र प्रकाशित हो चुका है ।
उसमें लिखा है कि 'राणा जी के वकील १५,००,००० रुपये नज़र देने के लिए तैयार हैं; इसलिए माधौसिंह को २४ लाख
की जागीर दिला दो और माधौसिंह से भी १२-१५ लाख या जितना अधिक हो सके, वसूल करो । इससे दोनों तरफ से
लाभ होगा ।'—आश्चर्य की बात है कि पेशवा ने ही सबसे पहले ईश्वरीसिंह को गद्दी पर बिठाने की राय दी थी, पर महार
राव होल्कर ने माधौसिंह को सहायता देकर पेशवा को भी अपनी ओर मिला लिया । अनन्तर ३० अग्रेल सन् १७४८
को पेशवा स्वयं राजपूताना पहुँचे और ईश्वरीसिंह तथा माधौसिंह दोनों से ३१ लाख और १० लाख रुपया क्रम से
वसूल करने को सन्धि की । कहना नहीं होगा कि इस बे-पैदी की नीति से मराठों की बहुत कुछ बदनामी हुई और
तभी से राजपूत और मराठों में पारस्परिक द्रोह उत्पन्न हुआ । बुंदेलखण्ड पर चढ़ाई कर के जैतपुर का किला हस्तगत
करने और उसे पुनश्च जगतराज बुंदेला को देने की मराठों की कार्यवाही पर भी अभी प्रकाश पढ़ने की आवश्यकता

है। दतिया के राजा पर चढ़ाई करने के विषय में २२ अक्टूबर सन् १७४६ को पेशवाने जो पत्र लिखा था, उसे पढ़ कर तो अँगरेजों की कूटनीति का स्मरण हो आता है और यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि वेल्जली ने मराठों को जीतने में जिन उपायों का अवलम्बन किया था, वे ही उपाय पेशवा ने अपने सरदारों को सुझाये थे। माधवसिंह जयपुर वाले के सहायक महाराणा जगतसिंह का पेशवा से जो पत्र-व्यवहार हुआ, वह भी अभी प्रकाशित नहीं हुआ है। सर्वाई जयसिंह ११ मई सन् १७४१ को घौलपुर में पेशवा से मिले और उसी समय परस्पर सहायक रहकर, ६ मास के अन्दर, मालवा की सनद पेशवा को दिलाने का अभिवचन, सर्वाई जी ने दिया था, किन्तु अभी तक जयसिंह और मराठों के विशेष सम्बन्ध पर प्रकाश डालनेवाले पत्र प्रकाशित नहीं हुए हैं। सन् १७४२ में ओरछा के राजा से बरवासागर के निकट मराठों का युद्ध हुआ। उसमें राखो जी सेधिया के पुत्र प्योतिवा और मल्हारकुण्ण अलगवाले मारे गये थे। तत्सम्बन्धी विरोध खोज की भी आवश्यकता है। सन् १७४७ में सिन्धिया ने कोटा पर चढ़ाई की थी। उसी समयसे राजा जालिमसिंह का मराठों से सम्पर्क हुआ, जो मराठा-शाही के नष्ट होने तक बना रहा।

जालिमसिंह की राजनैतिक हलचलें मराठों के इतिहास में विशेष महत्व का स्थान रखती हैं और राजपूतों के इतिहास पर भी उसके व्यक्ति की छाप जमी हुई है; अतएव तत्सम्बन्धी दोनों प्रान्तों से सामग्री इकट्ठी की जाना चाहिये। इनके अतिरिक्त जानकी राम, राजा दुर्लभराय, हरीराम, सभासिंह, धासीराम आदि लोगों का भी मराठों के उत्कालीन इतिहास में खूब पाया जाता है। मारवाड़ के राजा अजीतसिंह के अभयसिंह और वल्लभसिंह नामक दो पुत्र थे। सन् १७५० में अभयसिंह की मृत्यु होने पर उसके पुत्र रामसिंह से वल्लभसिंह ने राज्य छीन लिया। रामसिंह ने जगन्नाथ पुरोहित तथा सामन्तसिंह द्वारा जयाप्पा सेधिया से सहायता चाही, किन्तु वल्लभसिंह को अन्य राजपूत राजा तथा जाटों की सहायता थी, पर शीघ्र ही वल्लभसिंह की मृत्यु विप खिलाने से हो गई। कर्नल टॉड ने लिखा है कि यदि वल्लभसिंह जिन्दा रहता तो मराठों की पटली राजपूताने में कभी न जमती। वल्लभसिंह के पुत्र विजयसिंह ने रामसिंह को निर्बल और व्यसनाधीन समझ कर उसके राज्य का बहुत सा अंश हस्तगत कर लिया, अतएव रामसिंह ने अपने वकील चंदराम को जयाप्पा सेधिया के पास सहायता पाने के लिए भेजा। उस समय सेधिया होलकर ने सूरजमल जाट पर चढ़ाई की थी। सूरजमल ने जयपुर के ईश्वरसिंह की सहायता की थी, तभी से मराठों की उससे चढ़ा-चढ़ी हो गई थी। मराठों का उत्तरीय भारत से चौथ वसूल करना भी सूरजमल को अखरा था, तब उससे उसने दिल्ली पर चढ़ाई कर बाघराह को अपने कब्जे में करना चाहा। इसी से वजीर मीर सादुल्लाह ने सूरजमल को घर ध्वाने का मराठों से आग्रह किया था, तब सिन्धिया, होलकर और पेशवा, राघोबादादा ने भरतपुर राज्यान्तर्गत कुन्देरी के किले पर चढ़ाई कर दी। उस युद्ध में मल्हारराव के इकलौते पुत्र अहिल्याबाई के पति खगदेराव मारे गये, तब मल्हारराव ने जयद्रथ-वध जैसी जाटों का निःपात करने की भीषण प्रतिज्ञा की। मल्हारराव की यह प्रतिज्ञा सुनकर सूरजमल ने अपने वकील रूपराम कटारे के पुत्र तेजराम कटारे द्वारा जयाप्पा सेधिया की ओर, पगडी-धला, भैया-बारा स्थापित करने के विचार से, अपनी पगडी भेज दी। उबर सिन्धिया होलकर से पहले से मनोमालिन्य छोटी चुका था, अतएव जयाप्पा सेधिया ने होलकर को अकेला छोड़ कर रामसिंह की सहायतार्थ राजपूताने की ओर कूँच कर दिया। तब होलकर को भी विवश होकर १७ मई १७५४ को ६० लाख रुपये कर लेकर जाटों से सुलह करनी पड़ी। उग्र विजय सिंह ने भी ५०-६० हजार फौज इकट्ठी करके मराठों से सामना किया। मल्हारराव की सहायभूति विजयसिंह की ओर थी। सिन्धिया ने नागौर के किले में विजय सिंह को बहीनों तक घेर रखा। तब विजय सिंह ने

केसरी सिंह खोखर नामक एक राजपूत को भिलारी के वेष में भेज कर जवापा को न्हाते समय छुरी से मरवा डाला ।

वास्तव में केवल नैतिक भय से होकर अपनी फौज सहित विजयसिंह के सहायक नहीं हो सके, किन्तु उनके उकसाने से ही जयपुर के माधौसिंह तथा अन्य राजा विजय सिंह के सहायक हुए थे । बाद में जवापा के भाई दत्ताजी ने विजयसिंह को घर दबाया । अन्त में मारवाड़ राज्य के तीन भाग किये जाकर एक हिस्सा विजयसिंह तथा एक रामसिंह और पेशवा को देने की सुलह हुई और २ करोड़ रुपये द्बार्-खर्च विजयसिंह से लेना तै पाया । जयपुर वालों से भी गुनहगारी वसूल की गई । इसी समय से कृष्णा जी जगन्नाथ नामक एक मराठों का वकील विजयसिंह के द्वार में रहने लगा, जिसके लिखे हुए सैकड़ों अखबार (Newsletters) उपलब्ध हुए हैं । और उनसे तत्कालीन इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है ।

मारवाड़ के युद्ध के अनन्तर ही रामसिंह दाढ़ा बूंदी नरेश की मृत्यु हुई, अतएव उनकी रानी ने अपने अल्पायु लड़के को गद्दी पर बिठाने में सिधिया से मदद चाही, जिससे दत्ताजी सिधिया को ४० लाख रुपये सहज ही में मिल गये । पानीपत के युद्ध के समय देवीवत नामक एक दिल्ली निवासी कायस्थ शुजाउद्दौला की ओर से सदा शिवराव भाऊ के पास रहता था । लाला कृपाराम नामक एक कायस्थ सवाई जयसिंह का दरबारी था और उसी के द्वारा बाजीराव तथा जयसिंह में मित्रता हुई थी । बाजीराव पेशवा ने उसको तथा उसके पुत्र तुलजाराम को राजपूताने में अपना वकील नियत किया । तुलजाराम के पुत्र सेवकराम ने भी जयपुर में तथा १७७७ से १७९३ तक कलकत्ता में बहैसियत मराठों के वकील की नौकरी की थी । उसके बहुत से अखबार उपलब्ध हुए हैं । सूरजमल जाट ने पानीपत के युद्ध में तथा उसके अनन्तर पराजित मराठों को आत्मीय भाव से जो सहायता दी, वह अद्वितीय थी । मराठा जाति उस के उस उपकार को कदापि भूल नहीं सकती । तत्समय ही बहुत सी सामग्री मराठी में उपलब्ध है ।

सूरजमल के पुत्र जवाहरसिंह ने गह्वारराव होलकर की सहायता से दिल्ली पर चढ़ाई करके नजीबख़ां रुहेले को घर दबाया था, किन्तु १७६७ के लगभग जवाहरमल मराठों के विरुद्ध हो गया । गोहद के जाट वास्तव में पेशवा के ही बनाये हुए राजा थे । पर, पानीपत के युद्ध के बाद उन्होंने मराठों से मुखातिफत की, तब राधोबा पेशवा ने गोहद पर चढ़ाई कर १५ लाख रुपये खिराज १७६७ उनसे वसूल किया ।

काशी के राजा चेतसिंह का मराठों से गहरा सम्पर्क रहा था । वारन हेस्टिंग्स ने उसके साथ जो कुछ अन्याय किया था, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता, किन्तु महाद जी सिधिया ने उसे आश्रय देकर ५ लाख की जागीर दी थी । पेशवा तथा नाना फड़नवीस से भी चेतसिंह का परिचय था और उनका पत्र-व्यवहार भी उपलब्ध हो चुका है । इसी प्रकार अनूप गिरि उर्फ हिम्मतबहादुर नामक गुर्खाई सैनिक का मराठों की उत्तर-भारतीय-राजनैतिक हलचलों में विशेष उल्लेख पाया जाता है । आरंभ में वह तथा उसका भाई उमराव गिरि शुजाउद्दौला के पास नौकर थे और वे पानीपत के युद्ध में मराठों के विरुद्ध लड़े भी थे । जाटों और मराठों के युद्ध में भी उन्होंने जाटों का साथ दिया था । जब दिल्ली के वजीर मिर्जा नजफख़ां ने उन्हें अपने पास रख लिया, तब उनका मराठों से विशेष सम्बन्ध हुआ । महाद जी सिधिया का दिल्ली पर अधिकार स्थापित होते ही उन्होंने अनूपगिरि की सहायता से दिल्ली के सर्दारों की भीतरी बातें और द्रव्य प्राप्त करने के साधन जानने चाहे; किन्तु २-३ वर्ष बाद महाद जी के विरुद्ध पडवय्न रचने का पता सिंधिया को चलते ही उन्होंने गुर्खाई को कैद कर लिया और उनकी जागीर भी जब्त कर ली । तब उसने सिंधिया के विरुद्ध बलवा किया और वह महाद जी के प्रतिस्पर्धी तुकोजी होलकर तथा बाँदा के नवाब

अलीमहादुर से जाकर मिला। सिंधिया तथा अनूपगिरि गुस्साई के झगड़े के सैकड़ों कागजात मराठी में उपलब्ध हैं।

सन् १८०३ में अनूपगिरि ने अङ्गरेजों का साथ दे कर वुंदेलखण्ड में अङ्गरेजों की सत्ता स्थापित कराई थी। हिन्दी के कवि पद्माकर जी ने 'हिम्मत बहादुर विरदावलिंग' नामक ग्रन्थ भी लिखा है। अस्तु, जब मराठों ने सन् १७८३ में गोहद के राणा छत्रसाल पर चढ़ाई की, उस समय राजा माणिकपाल करोली वाले ने जाट को आश्रय दिया था, किन्तु अनन्तर उसने महाद जी के आग्रह और दबाव से राणा को सङ्कुम्भ महाद जी को सौंप दिया। १७७८ में जयपुर के राजा पृथ्वीसिंह की मृत्यु हुई किन्तु उसका पुत्र नावालिग होने से उसका भाई प्रतापसिंह ही शासन-प्रवण करता था। माचोई के राज राजा प्रतापसिंह महाद जी के मित्र थे, जो मराठों की कृपा के कारण ही अलवर राज्य के संस्थापक कहलाये। वह जयपुर राज्य में अपना प्रभाव स्थापित करना चाहते थे, अतएव उन्होंने महाद जी को सुझाया कि जयपुर का शासक प्रतापसिंह नालायक है, अतएव यदि पृथ्वीसिंह के लड़के मानसिंह को उसकी ननसाल किशनगढ़ से लाकर गढ़ी पर बिठाये तो आप का ५० लाख रुपये दिलाऊंगा तब जयपुर के प्रधानमन्त्री खुशालीराम बोहरा जयपुर वाले प्रतापसिंह का सदेश लेकर महाद जी के पास गया, किन्तु महाद जी ने साढ़े तीन करोड़ रुपये, पिछले कर का बकाया, माँगी। पर खुशालीराम ने इतनी रकम देने में असमर्थता प्रकट की। तब राजा ने ६३ लाख रुपये में झगड़ा निपटवा दिया। उस समय ११ लाख रुपये नन्द तथा शेष रकम की वसूली के लिए मुल्क देना करार पाया। पर जब वह नन्द रकम भी नहीं मिली, तब सिंधिया ने फौज भेजकर जयपुर के कई सुहालों पर कब्जा कर लिया। उस समय प्रतापसिंह का साथ विजयसिंह जोयपुर वाले ने दिया और खुशालीराम को मराठों का मित्र समझकर वह मार बाला गया। सन् १७८७ में जयपुर पर महाद जी सिंधिया ने चढ़ाई की। उस समय मुहम्मदवंश हम्नानी जो दिल्ली का सर्दार था और मराठों से कुदृष्ट था, राजपूतों से जा मिला था। उस के पङ्कयन्त्र से ही राजपूत मराठों में—लालसोट नामक स्थान पर—भीषण युद्ध हुआ, किन्तु मराठा पलटनों की विरवासचातकता के कारण महाद जी को वापिस लौट जाना पड़ा। जयपुर के उक्त युद्ध सम्बन्धी सैकड़ों असली पत्र मराठी में प्रकाशित हो चुके हैं और अभी सैकड़ों अप्रकाशित पड़े हैं, अतएव कहना नहीं होगा कि बिना उस सामग्री का अध्ययन किये राजपूतों का इतिहास नहीं लिखा जा सकता।

राजोगढ़ के खीची राजा पर बाजीराव पेशवा ने चढ़ाई कर उनसे वार्षिक कर लेना निश्चित किया था। नागोर के युद्ध में बलभद्र सिंह खीची ने जयाप्पा सिंधिया को सहायता भी की थी, किन्तु अङ्गरेजों के प्रथम युद्ध में अङ्गरेजों ने खीची को मराठों से फोड़ कर अपनी ओर मिला लिया था, अतएव महाद जी ने राजोगढ़ पर चढ़ाई करके बलबन्त सिंह को कैद कर लिया। बलबन्त सिंह, उसके पुत्र जयसिंह, दुर्जनसाल आदि खीची सम्बन्धी मराठी साहित्य भी अध्ययन करने योग्य है। महाद जी को सन् १७८५ में आर्थिक सहायता की आवश्यकता हुई। उसी समय बाँवा के गुगनसिंह के पुत्र मधुकरशाह तथा खुमानसिंह में राजगढ़ी के लिए झगड़ा उठ खड़ा हुआ, तब महाद जी ने अपने सेनापति खरडेराव हरी को भेज कर मधुकरशाह को सहायता की। अपना खरडेराव ने पन्ना, औरछा, कोटरा तथा दतिया के भी कई झगड़े तै कर के उन से सन्धियाँ की थी। खरडेराव हरी इन पंक्तियों के लेखक के पूर्वज थे, अतएव हम के संग्रह में वुंदेलखण्ड तथा लालसोट सम्बन्धी बहुत सी अप्रकाशित हिन्दी-मराठी सामग्री मौजूद है। उज्जयपुर के राणा के निर्दल होने से रावत भीमसिंह मंत्री ही राज्य को बना बैठा था तब महाद जी ने जालिमसिंह कोटे वाले की—सहायता में कितौर का किला जीतकर उज्जयपुर पर अपना प्रभाव स्थापित किया और सुलह की। मराठों को राजपूताने

पर अधिकार स्थापित करने में जालिमसिंह ने बहुत सहायता की, इसके अतिरिक्त जवाहरसिंह, नवलसिंह, रणजीत-सिंह जाट, प्रताप सिंह माचौड़ीवाले, विजयसिंह जोधपुर वाले, महाराणा भीमसिंह उदयपुर वाले, किसनगढ़, बीकानेर आदि राज्यों से मराठों का महादजी के समय युद्ध, सन्धि, राजनीति आदि में बहुत कुछ सम्बन्ध रहा। सम्बन्धी विपुल सामग्री भी उपलब्ध है। इसी समय महाराणा रणजीतसिंह जाट का भी मराठों से सम्पर्क हुआ। हम यह तो नहीं कह सकते कि मराठों से राजनैतिक प्रसाद नहीं हुए, किन्तु यह देख कर अत्यन्त आश्चर्य होता है कि ज्योही मराठे साम्राज्य-सत्ता धारी—अर्थात् दिल्ली के खासी—बन बैठे, त्योही राजपूतों ने उनका विरोध करना आरम्भ कर दिया। जिससे पारस्परिक संघर्ष हुआ और अन्तों की दृष्टि में वे दोनों हेय सिद्ध हुए। इस प्रकार राजपूत और मराठे दोनों सर्वदा के लिए निर्वल हो जाने से ही विदेशीय अङ्गरेजों का आधिपत्य यहाँ स्थापित हो गया, पर यदि मराठे और राजपूत एक होकर अपनी शक्ति को बढ़ाते तो आज भारतवर्ष का मानचित्र किसी और ही रंग का होता।

महादजी के दत्तक पुत्र दौलतराव का उनकी माताओं से भगदा हो गया था। इस गृह-कलह ने बड़ा भीषण रूप धारण कर लिया था। दत्तिया के महाराज छत्रजीत तथा भरतपुर के सर्दार दुर्जनसाल ने उन स्त्रियों की सहायता की थी; तत्सम्बन्धी सामग्री जुटाने की भी आवश्यकता है। गोहद के महाराणा कीरत सिंह तथा अङ्गरेजों में जो सन्धियाँ हुईं, वह भी बड़ी महत्वपूर्ण हैं। यशवन्तराव होल्कर ने जोधपुर के राजा की सहायता से अङ्गरेजों से युद्ध प्रारम्भ किया और मुकुन्दरा के दर्रे में अङ्गरेजी सेना को तुरी तरह से हराया। यद्यपि कोटा के मन्त्री राजा जालिमसिंह की अप्रत्यक्ष रूप से अङ्गरेजों को सहायता थी, पर यशवन्तराव की समर्थ सेना के आगे अङ्गरेजों की कुछ न चली। अन्तिम वाजीराव पेशवा ने भी अङ्गरेजों के युद्ध में जालिमसिंह से सहायता चाही थी। सिंधिया, होल्कर तथा पेशवा का जालिमसिंह से जो पत्र-व्यवहार हुआ, वह बड़ा महत्व-पूर्ण होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। रणजीतसिंह नाट भरतपुरवाले तथा यशवन्तराव ने भरतपुर की चढ़ाई में अङ्गरेजों के छक्के छुड़ा दिये थे। वह एक चिरस्मरणीय ऐतिहासिक घटना है। यशवन्तराव के दीवान बालाराम, सेनापति रामदीन तथा वकील लाला भवानीशंकर, महाराजा दौलतराव के दीवान गोकुल पारख, साहू-कार खुराशचंद और मुन्शी कमलनयन, लाहौर के महाराजा रणजीतसिंह का अङ्गरेजों के विरुद्ध होल्कर को सहायता देने का पत्र-व्यवहार, जोधपुर के राजा तख्तसिंह, जयपुर के जगत सिंह, अलवर के राव राजा माचौड़ी वाले, भरतपुर के रणजीतसिंह आदि राजाओं का मराठों से सम्बन्ध-विच्छेद और सेनापति लेक से १८०३ सुलह करना तथा सन् १८१७ में उदयपुर, राजगढ़, रतलाम आदि राज्यों को ईस्ट इंडिया-कम्पनी से सम्बन्ध विषयक सामग्री से मराठे और राजपूत दोनों के इतिहास पर प्रकाश पड़ सकता है। दौलतराव ने जयपुर से संधि की थी और चंदेरी, भदावर, शिवपुर आदि छोटे-छोटे राजपूत राज्यों को परास्त किया था। इन्दौर, ग्वालियर, धार, देवास बड़ौदा आदि महाराष्ट्र राज्यों के अधीन अब भी कई प्राचीन राजपूत राजा जागीरदार और सर्दार हैं, तत् सम्बन्धी ऐतिहासिक सामग्री से भी कई ऐतिहासिक सुस्थित सुलभ सकेगी।

अङ्गरेजी इतिहासकारों ने लिखा है कि “समस्त राजपूत राजाओं ने स्वेच्छा से अपने हथियार अंग्रेजों को सौंप दिये।” किन्तु यह कथन वास्तविकता से परे है। हमको सन् १८१७ का अजमेर के सूबेदार बापूशिंदे का एक पत्र जिसमें उदयपुर के महाराणा जी के एक पत्र को उद्धृत किया है प्राप्त हुआ है, उससे पता चलता है कि

सन् १८१७ में राजपूत राजा अङ्गरेजों से सुलह करने के लिये तैयार नहीं थे, किन्तु सिंधिया होलकर की उदासीनता, तटस्थ नीति तथा पिण्डारियों की गडबडी के कारण उन्हें सुलह करनी पड़ी। सारांश, मराठा और राजपूतों का लगभग ३ शताब्दियों तक प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से जो राजनैतिक सन्ध रह्य, तत्सबन्धी अभी तक बहुत कम खोज या चर्चा हुई है और इसी से दोनों प्रान्तों के इतिहास में कई भ्रमात्मक बातें अंकित हुई हैं, अतएव सच्चा और निष्पक्ष इतिहास लिखे जाने के लिये उभय प्रान्तों के इतिहास लेखकों को पारस्परिक विचार विनिमय एवं आदान-प्रदान की नीति का अवलम्बन करने की अत्यंत आवश्यकता है।

स्थानाभाव एवं विस्तार भय से इस सक्षिप्त लेख द्वारा हम अधिक विवेचन नहीं कर सके, तो भी इस लेख के द्वारा प्रमुख व्यक्ति, ऐतिहासिक घटनाएँ तथा समय का उल्लेख कर दिया गया है। राजपूताने में तो केवल स्वर्गीय मुसिफ देवी प्रसाद जी, टेसी टोरी, रामकरण जी, रेऊली तथा ओम्हा जी आदि दस-पाँच महोदयों ने ही ऐतिहासिक खोज का कार्य किया, किन्तु महाराष्ट्र में तो गत ६० वर्षों में १००५० विद्वानों ने ऐतिहासिक सामग्री एकत्र की, जिससे अब तक लगभग १ लाख असली कागजात प्रकाशित हो चुके हैं और इससे दूनी सामग्री अभी अप्रकाशित पड़ी है। पूना का भारत-इतिहास-संशोधक-मण्डल, धूलिया का राजवाड़े संशोधन मन्दिर, सितारे का पारसनीस म्यूजियम तथा इन्दौर, वार, ग्वालियर आदि विभिन्न स्थानों के व्यक्तिगत संग्रहों में राजपूताना सबन्धी बहुत सी सामग्री पड़ी है, जो जिज्ञासुओं की वाट जोड़ रही है अतएव यदि इस लेख को पढ़कर किसी सज्जन को उस दिशा में कार्य करने की स्फूर्ति हुई, तो मैं अपना श्रम सफल समझूँगा।

The Author of the First Grammar of Hindustani

प्रो० डा० फोक्स, लन्दन विश्वविद्यालय

[सर जार्ज ग्रियर्सन ने आ० आ० प० में उल्लेख किया है कि हिन्दुस्तानी का सर्वप्रथम व्याकरणकार केटलर था। इसी के विषय में कुछ विशेष टिप्पणियाँ यहाँ दी जाती हैं।]

यह व्याकरण ओलंदेज़ (डच) भाषा में १६६० व १६६८ ई० के बीच लिखा गया। केटलर का जन्म पूर्वी प्रशा में एल्लिंग नामक स्थान पर २५ दिसम्बर सन् १६५९ ई० को हुआ था। वह जोशुआ केटलर नामक जिल्दसाज़ का लड़का था। सन् १६८२ ई० में उसने डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी में नौकरी कर ली तथा भारत में आया। यहाँ पर उसने काफी पैसा कमा लिया। उसकी मृत्यु ईरान में हुई।]

In his *Linguistic Survey of India*,¹ Sir George Grierson has given a brief account of the first Hindustani Grammar written by John Joshua Ketelaar, a servant of the Dutch East India Company. Sir George Grierson says "He wrote a grammar and a vocabulary of the 'Lingua hindostanica,' which were published by David Mill in 1743, in his *Miscellanea Orientalia*. We may assume that they were composed about the year 1715"

In the present commemoration volume composed in honour of Mahamahopadhyaya Pandit Gauri Shankar Ojha, who, by his excellent works on the archaeology and history of Rajputana, has done so much to promote the *lingua franca* of India, it will not be out of place to publish some further particulars regarding the author of the first Hindustani Grammar

As regards the grammar itself, it is true that it was published in Latin by David Mill (or Millius), Professor of Oriental languages in the University of Utrecht, in his *Miscellanea Orientalia* (Leyden, 1743). The original, however, was written by Ketelaar in the Dutch language, a manuscript copy is preserved in the State Record Office ('Rijks Archief') at the Hague. It contains a grammar and vocabulary both of the Hindustani and Persian languages. I here give the Dutch title in English translation: *Instruction or tuition in the Hindostani and Persian languages, besides their declension and conjugation, together with a comparison of the Hindostani with the Dutch weights and measures, likewise the significance of sundry Moorish names, etc.* By John Joshua Ketelaar, Elbingensem. And copied by Isaac van der Hoeve, of Utrecht. At Leekenaarw Ao 1698"

¹ *Linguistic Survey of India*, Vol. IX (Calcutta, 1916), Part I, pp. 6-8.

From this title it is evident that Ketelaar must have composed his grammar between A.D. 1682, the year in which he came to India and A.D. 1693, the date of the Lucknow copy. As he can hardly have undertaken a work of this description in the first years of his Indian career we may perhaps assume that he wrote it between 1690 and 1698.

It further appears that Ketelaar was born at Elbing a town in East Prussia, situated on the coast of the Baltic Sea not far from Danzig. His real family name was Kettler, and it was only after he had entered the service of the Dutch East India Company that it was changed to Ketelaar this form being the Dutch equivalent of the German *Kettler*.

He was of humble extraction,² being the eldest son of a bookbinder Joshua Kettler by name. The date of his birth was the 25th December, 1659. In certain books on the local history of Elbing we find some particulars regarding young John Joshua which go to show that he was not exactly a promising and well-behaved or even an honest youth. He had been apprenticed to a master-bookbinder named John Schwechausen. Now it happened again and again that the latter missed small sums of money. He did not know who was the culprit but at last he caught young Kettler in the act and gave him a sound scolding. The apprentice then hired a horse and bolted to Marienburg. His master went after him and brought him back to his house. This compulsion evidently raised the young man's fury. He made an attempt to poison his master by secretly putting some arsenic in his jug of beer. The worthy master-bookbinder was saved from imminent death only by a considerable dose of liquid butter, administered to him by his neighbour, the apothecary Michael Wulf. This happened on the 5th October, 1680 when John Joshua had nearly reached the age of twenty-one years. Curiously enough he received no further punishment but was simply dismissed. The same evening the young man left for Danzig, where he found employment with another book-binder without, however, mending his ways. After a few days he forced his new master's money-chest, stole three rix-dollars and absconded by sea to Stockholm, the capital of Sweden.

For one year and a half we lose sight of John Joshua Kettler. In the spring of the year 1682 we find him at Amsterdam the capital of Holland. He had taken service with the Dutch East India Company. Like so many of his countrymen, he was probably allured by the tales of India's boundless wealth which unscrupulous crimps were in the habit of relating in order to entice poor Germans into the bondage of the powerful Company.

From this moment it is the Company's well-kept and carefully preserved records which supply us with information regarding the further adventures of John Joshua.

² For the information here published I am greatly indebted to the Keeper of the Municipal Records of the town of Elbing, to whom I here wish to express my obligation.

Ketelaar, as henceforth he was called by his newly adopted Dutch name³ A remarkable career it was on which he now entered, and certainly a more honourable one than his early escapades would have led one to expect

In May, 1682, Ketelaar sailed from Texel on board the Company's ship "t. Wapen van Alkmaar" belonging to the Amsterdam 'Chamber' of the Company. It was as a common soldier that he started on his Indian career. From the muster-rolls we find that in 1691 he served under the Directorate of Surat and was stationed at Broach in the capacity of 'Assistant'. In 1695 he was 'Assistant' at Agra, in 1699 book-keeper of the factory at Ahmadābād, and in 1700, when he was transferred to Agra, he bore the title of book-keeper and provisional 'Chief'.

We may perhaps assume that in the course of his first sojourn at Agra he also visited Lucknow. We have seen above that the copy of his Hindustani Grammar now preserved at The Hague was prepared at Lucknow in A.D. 1698. In all probability it was made under Ketelaar's personal instructions and supervision.

In the year 1710 it was resolved to send an embassy under Mr. Cornelius Bezuijzen, Director of the Dutch factories in Gujarat and Hindostan, to Shāh 'Ālam Bahādūr Shāh who had succeeded his father 'Ālamgīr (Aurangzeb) in 1707. But in October 1710 the ambassador elected died at Surat after a lingering illness. Some time previous to his demise he recommended Ketelaar, then Chief Merchant, to be his successor both as Director of the Dutch factories and as Head of the proposed embassy.

In the following year, 1711, the embassy started from Surat and, travelling by way of Agra, arrived on the 10th December of that year at a distance of 6 kos from Lahore where the Emperor was encamped. The ambassador was still at Lahore waiting for his *firmān*, when Bahādūr Shāh suddenly died on the 28th February, 1712. The diary of the embassy gives a vivid account of the confusion that followed the death of the Emperor. The Dutch ambassador was even solicited by the Wazīr Zulfiqār Khān to take an active part in the struggle for the throne on behalf of the eldest son of the deceased monarch; but he politely declined the invitation under the plea of ill-health. When Jahāndār Shāh had come out victorious, negotiations for the *firmān* were continued with his court. They had not yet had the desired effect when on the 9th May the Emperor moved camp and with his whole army started for Delhi. It should be remembered that his nephew Farrukhsiyar was making preparations in Bengal to dispute his uncle's possession of the crown. The Dutch ambassador and his suite accompanied the Imperial Court on the march to the capital which was carried out under conditions of extreme discomfort in the hottest time of the year. On the 24th June Delhi was reached. Here the rest of the summer was passed with continuous solici-

³ I wish here to record my indebtedness to Dr. R. Bylma, Keeper of the State Records, The Hague, for the information kindly supplied by him.

⁴ An English translation of the journal of Ketelaar's embassy has been published in the *Journal of the Panjab Historical Society*, Vol. X (1929), pp. 1-94.

tions to obtain the desired privileges from the Imperial Court. It was not until the 9th of October that after endless delays on the part of the Emperor and his officials the Dutch ambassador, having attained his object, could leave Delhi.

The return journey to Surat by way of Agra, Gwalior, Narwar, Sarangpur, Ujjain, Jhabna, Godhra and Baroda, took four months and was attended with grave dangers and great difficulties as all along the road the country was infested with robbers, while the petty Rajas of Malwa made it their business to levy blackmail from the caravans passing through their territories. When at last Surat was reached on the 17th February, 1713, the first news which greeted the ambassador was that Jahāndār Shāh had been defeated and killed by his nephew Farrukhsiyar. This meant that the privileges granted by the former for the trade of the Dutch had become absolutely valueless and all the exertions and perils sustained had been in vain.

All through this difficult enterprise Ketelaar had shown extraordinary ability. The prolonged negotiations with the Moghul Court required an uncommon degree of patience and tact, and on the long and dangerous journey from Lahore to Delhi and from Delhi to Surat no small amount of courage and firmness was needed. What strikes us most in the account of Ketelaar's embassy is that singleness of purpose and devotion to duty which pervades it in the curious garb of its antiquated matter-of-fact and sometimes humorous style.

The Dutch East India Company was in the habit of sending an embassy to the Shāh of Persia every twenty years. It is not surprising that, when in 1716 the time for this embassy had arrived again, it was Ketelaar who was chosen to be its Head. We possess a detailed account of this Persian embassy composed by a German soldier, Johann Gottlieb Worms by name, who belonged to the ambassador's suite during this expedition.¹ The writer was evidently a man of little education, but a shrewd observer who has faithfully recorded his experiences. In the beginning of his narrative he relates that Ketelaar was a Lutheran by religion and had then been in India for thirty years. This is not far from the truth, as we have seen that he had sailed for India in the year 1682.

Apparently Ketelaar was then at Batavia from where the embassy sailed towards the end of July, 1716. The ambassador's suite consisted of two Senior Merchants, two book-keepers, three 'Assistants' and twelve soldiers, the latter attired in brand-new uniforms, which Worms, who was one of them, describes with evident satisfaction. The embassy was, moreover, attended by a French periwig-maker, a tailor and four or five musicians. According to the fashion of the period the gentlemen wore wigs!

The Company's ship 'Beverwaard,' which conveyed the ambassador and his suite,

¹ Johann Gottlieb Worms, *Ost-Indien-und Persiansche Reisen*, etc., Dresden and Leipzig, 1737, pp 247-306. The official journal of Ketelaar's Persian embassy is preserved in the Record Office at The Hague. It covers 500 pages in manuscript.

² In English travels of the period the name is spelt *Gombroon*.

arrived at Gamron^a (the same as Bandar Abbās), the well-known port of the Persian Gulf, after a voyage of eight weeks. Thirty days later there arrived two other ships from Ceylon, carrying six elephants which were intended as a present for the king of Persia from the Dutch East India Company. Worms expatiates with obvious delight on the tricks which some of these elephants could perform, an accomplishment which was no-doubt calculated to render them more acceptable to the royal recipient.

The journey from Gamron to Ispahan, which was performed on horses provided by the Persian authorities, took eight weeks. On the way the famous ruins of Persepolis were duly inspected. The solemn entry of the embassy in Ispahan is described by Worms in great detail and is, moreover, illustrated by a quaint engraving. The six Ceylonese elephants headed the procession and were followed by ten horses likewise intended as a present for the King. Next came two trumpeters and ten soldiers, all on horseback. The ambassador followed by the gentlemen of his suite, all of them mounted on Persian steeds, formed the centre of the pageant, while a group of Persian attendants and more than a hundred camels and mules loaded with the embassy's requisites and presents for the Shāh brought up the rear.

It was the policy of the Dutch East India Company to display great pomp in dealing with Oriental potentates. The ruler of Persia at the time of Ketelaar's visit to Ispahan was Shāh Husain, who, according to Worms, was then fifty years old. He was the last unworthy scion of the renowned Safawī dynasty who sat on the Persian throne. The wretched condition of the population clearly betrayed misrule under the nominal authority of the weak and effeminate king. The country was famine-stricken, so that the poor died in the streets of the capital. The carcasses of camels, horses and mules were devoured by the starving people. Worms relates that, while the wealthy Persians showed no compassion, the Dutch ambassador distributed bread and wine among the poor.

Another trait, incidentally recorded by the honest German soldier, shows Ketelaar's interest in the eastern nations with which he came into contact. During his prolonged stay at Ispahan he caused large pictures to be made showing a man and a woman of each of the various nationalities to be met with in the Persian capital, including the fire-worshippers, every one of these wearing the dress peculiar to them. These pictures which were intended to be presented to the East India Company must have formed an interesting collection. It is not known what has become of them.

About this time a military expedition was directed against the Georgians and Khurasanians who had risen in rebellion against the central government. Worms witnessed the Persian army starting on this warlike enterprise,—a force of some 100,000 men, including the camp followers. He was struck by the want of order and discipline which characterized these proceedings.

Regarding the negotiations carried on by the ambassador with the Court we find very little in the narrative of the German soldier. Presumably his humble position precluded his being initiated in these weighty affairs. We may assume that the Envoy,—

while staying in the Persian capital, had to bear up against the same kind of procrastination which he had experienced in the course of his Indian mission. This may be inferred from the fact that his sojourn at Ispahan took no less than six months. At last the return journey to the coast could be undertaken.

When the party had travelled as far as Shirāz, the ambassador received letters from the Dutch Director at Gamron conveying the alarming news that two ships manned with Arab soldiers had arrived before Hormuz⁷ with the object of wresting that important fortress from the Persians. It was apprehended that they might also attack Gamron. On account of this eventuality the ambassador ordered the twelve soldiers under his command to proceed to Gamron with all possible speed. Rading day and night they covered the distance in twelve days, during which time they enjoyed only twelve hours' sleep. Their arrival at Gamron was hailed with great joy by the Europeans belonging to the Dutch factory.

The ambassador himself arrived a fortnight later. In the meantime the Persian authorities had despatched some 1,000 men under a colonel to Gamron. The ambassador did not fail, on his arrival, to call on the military commander in his camp outside the town. On this occasion the latter demanded that the Company's ships which was to convey the members of the embassy back to Batavia, should, together with the Dutch sailors, be placed at his disposal in order to carry troops to Hormuz and relieve that place. This request, which was repeated on the following day through an officer deputed by the Persian commander, was met with a firm refusal. Ketelaar declared that, being himself a servant of the Company, he had no right to dispose of the Company's ship in this manner. He declined to assume this responsibility.

The Persian commander now resorted to such measures as might coerce the ambassador to comply with his wishes. He posted some hundreds of his soldiers around the Dutch factory. Neither fresh water nor victuals were allowed to enter the building. The discomfort caused by this measure was extreme. Fresh water used to be brought daily on camels from the mountains, as the water in the local cisterns was unfit for drinking purposes. Only one cask of drinkable water was available in the factory besides a limited amount of dried provisions. Even in this distress Ketelaar did not yield. When the blockade had lasted two days, the ambassador was attacked by a violent fever to which he succumbed after three days. The Persian commander, startled by this result of his high-handed action, now withdrew his soldiers.

The mortal remains of the ambassador were buried in great state in the Dutch cemetery which was situated half a mile outside the town of Gamron, not far from the English graveyard. The chief mourner was Samuel Gruttner, a nephew of the deceased, who evidently had served under him. The same relative caused a grand monument to be erected over the grave of his uncle at the cost of 600 guilders. It is described in Worms'

⁷ Spelt *Ommuz* in Worms' account

itinerary as "a pyramid, 30 cubits high, more costly than any of the sepulchres at that place" Presumably we shall have to imagine a rather clumsy, obelisk-shaped pile, like the contemporaneous monuments still extant on the Dutch cemetery of Surat

From information kindly supplied by the British Consul at Bandar Abbās it appears that the tomb in question has disappeared In a letter dated 13th March, 1933, that officer writes that "there used to be a very old ruin in the shape of a monument situated on the border of the oldest part of the town (once Gambroon) which was known as "Goor-i-Ferangh" (Europeans' grave), but this ruin, and others in close vicinity to it, were demolished about twenty-five years ago, when it was decided to build new houses on the site"⁸

From the fortune amassed by Ketelaar considerable endowments were bequeathed by him to the various Protestant churches in his native town The church "zum Heiligen Leichnam" (i.e., Corpus Christi) spent the money on the purchase of a new organ which is still in use Not far from it on the southern wall of the church there is a painted portrait of the donor It shows a full face with ample forehead, a long straight nose, a resolute mouth and chin He wears no beard or moustache, but a large periwig according to the fashion of the time It is a face expressive of fortitude and sagacity

⁸ In 1900 the monuments in question were still extant, although in a ruinous condition Cf *The Geographical Journal*, Vol. XVI (1900), p. 212, where a sketch of them will be found

चौथ आणि सरदेशमुखी

श्रीयुत यशवंत बासुदेवशाही परे, मिरज

[चौथ व सरदेशमुखी की भाग सर्वप्रथम शिवाजी ने सन् १६१२ ई० में औरंगजेब के सम्मुख रखी थी। जिस समय दिलावर झाँ तथा मिर्जा राजा जर्वासिंह की मेना ने महाराष्ट्र पर चढ़ाई की तथा यहाँ पर विजय प्राप्त करना प्रारम्भ किया तब शिवाजी ने उनसे सुलह करने में ही अधिक दूरदर्शिता समझी। अन्य इतिहासकारों का यह कहना कि उस समय शिवाजी ने यह समझ कर कि वे सुगल सैन्य का पराभव न कर सकेंगे संधि कर ली, असत्य है। यह समझ केवल उन का एक राजनैतिक दाँव था तथा वह पूर्ण सयुक्तिक भी था। उस संधि की शर्तों के परिशीलन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। शिवाजी ने इन संधि द्वारा सुगल साम्राज्य में अपनी दांग छटा दी तथा ऐसा करने में अंगुली पकड़ कर पहुँचा पकड़ने की उन की नीति थी। यद्यपि इन शर्तों को औरंगजेब ने नहीं माना परन्तु आगे चलकर यह नीति बहुत काम आई। मराठों की अभिप्रेत की सारी नीति उसी पर केंद्रित थी। प्रथम पेशवा बाळाजी विश्वनाथ ने सैन्यदल धन्युयों के राजत्वकाल में स्वराज्य तथा चौथ व सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार प्राप्त किया। उसमें विशेषतः यह था कि यह वसूल सरकारी दफ्तरों में दल उन स्थानों की सब से अधिक आय पर लिया जाता था। इस प्रकार मराठों साम्राज्य की पहिली सीढ़ी बनाई गई। तदनन्तर इसी मार्ग पर चढ़ने से मराठों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। औरंगजेब की सहायक नीति भी तात्त्विक दृष्ट्या यही थी। सन् १७११ ई० की दूसरी सन्ध के अनुसार मराठों को मालवा तथा नर्मदा व चम्बल नदियों के मध्य प्रदेश की चौथ व सरदेशमुखी का अधिकार प्राप्त हो गया। तीसरी व अन्तिम सन्ध से उन्हें मुल्तान पञ्जाब व्हा सिंध अंतर्गत बहेलखण्ड व राजपूताना इत्यादि प्रदेशों में बेसी अधिकार प्राप्त हो गए। परन्तु इसमें मराठों का उत्तरदायित्व बढ़ गया तथा इसी समय प्रहकलह प्रारम्भ हो जाने से वे उसे पूर्णतया सँभाल न सके। इसी कारण सन् १७११ ई० में उन्हें हार जानी पड़ी।]

राजकारण हा एक बुद्धि आणि शक्ति या दोन साधनानी खेळावयाचा डाव आहे। या दोनी साधनांचा पूर्णपणे मिलाप माल्याशिवाय राजकारणांत कोणतीही गोष्ट सिद्धीस जात नाही। सत्तराव्या आणि अठराव्या शतकात मराठ्यांनी स्वराज्याच्या राजकारणाचा एक मोठा डाव मांडला होता। मराठ्यांनी विशेषकरून बुद्धि बळाच्या जोरावरच हा डाव जिंकला होता असें मराठी इतिहासावरून दिसून येते। मोगल, रोहिले, पठाण, रजपूत जाठ हे लोक शरीरसामर्थ्याने मराठ्यापेक्षा कांकळसर जास्तच होते। या सर्व लोकांचा पाडाव करण्यांत मराठ्यांना जे वेळोवेळ यश आले त्याचे श्रेय बहुतांशी त्यांच्या सुसहीपगाला—बौद्धिक श्रेष्ठतेलाच दिलेपाहिजे।

चौथसरदेशमुखी चा हक्क ही मराठी इतिहासांतील गुरु किल्ली होय। या हक्का च्या अभ्यासानेच मराठी इतिहासांतील बहुतेक कोडी सुटतात। मराठ्यांच्या लष्करी हालचाली आणि कारखानी डावपेंच—त्यांचे हर्षामर्षांचे प्रसङ्ग—त्यांनी सोसलेल्या आपत्ति किंवा मिळविलेली विजय यांचे भर्मे समजून घेण्यासाठी चौथ सरदेशमुखीच्या हक्का चा ग्रन्थ नेहमी दृष्टीपुढे ठेवावा लागतो। अशा या महत्त्वाच्या विषयाचें त्रोटक विवेचन आणि त्रोटक इतिहास आम्ही या लेखांत देणार आहो। तसेकरण्या पूर्वी पुढील विवेचनात वल्लेखित्या जाणाऱ्या न्यायिक व खळे या सम्बन्धी थोडीशी प्रास्ताविक माहिती प्रथम नमूद केली पाहिजे।

दहाव्या शतकाच्या अखेरीस मुसलमानांच्या भरतखंडावर स्वार्था सुरू झाल्या। पहिलीं दोनशे वर्षे ते पञ्जाब व दिल्ली प्रान्त यांत घुमाकळ घालीत होते। तेराव्या शतकांत ही परकी सत्ता सर्व हिन्दुस्थान भर पसरली, आणि तिने दक्षिणेंस नर्मदा ओलांडून कृष्णानदी पर्यंत मजल गाठली। तेराव्या शतकांतच दक्षिणेत बहामनी पातशाही ची स्थापना झाली। सोळाव्या शतकांत उत्तरेकडे मोठी राज्यक्रांति होऊन मोंगल पातशाहीची स्थापना झाली। अर्वाचीन हिंदुस्थानच्या इतिहासांत या मोंगल पातशाहीचें नांव चिरस्मरणीय होऊन राहिले आहे। पहिल्या पन्नास वर्षांतच मोगलांनीं सर्व उत्तर हिन्दुस्थान व्यापले आणि नंतर त्यांनी दक्षिणेकडे मोर्चा वळविला। मोगल दक्षिणेत येण्यापूर्वीच बहामनी पातशाही नष्ट होऊन तिच्या जागीं अहमदनगरची निजामशाही, विजापूरची आदिलशाही, आणि गोवळकोंडयाची कुतुबशाही अशी तीन मोठीं मुसलमानी राज्ये म्हालीं होती। मोंगलांनीं दक्षिणेंत येऊन प्रथम निजामशाही बुडविली आणि नंतर ते विजापूरच्या आदिलशाहीच्या राशीला लागले। परंतु याच वेळीं दक्षिणेत स्वराज्य संस्थापक श्री शिवाजी महाराज यांचा ऋपाट्याने उत्कर्ष होत गेला त्यामुळे मोगलांच्या सत्तेस कायमचा पायबंद बसला। महाराजांचा जन्म इ० स० १६३० च्या फाल्गुन महिन्यांत झाला। वयाच्या बाराव्या तेराव्या वर्षीच त्यांनीं बारा मावळे काबीज करून स्वराज्य सत्थापनेस प्रारंभ केला। पहिली सतरा अठरा वर्षे मराठी सत्ता सद्दाहीच्या दुर्गम पठारांतूनच वावरत होती। त्या मुदतींत महाराजांनी विजापूरवार्याचा अनेकदा पराजय करून त्यांचा दम बराच मोडला। स० १६६० चे सुमारास मराठी सत्ता बद्रमूल होऊन महाराजांचा जयदुंदुभी चौमुलखीं गज्जू लागला आणि त्यांच्या प्रतापाची फळ सोलापूर अहमदनगर, नाशीक, खानदेश, गुजराथ या मोगलांच्या प्रांतास लागणार असो सुमार दिसू लागला आणि स० १६६१-६२ पासून मराठे व मोगल यांमधील खऱ्याखऱ्या भगड्यास सुखात म्हाली।

मोगल व मोसले यांची शत्रु या नात्याने जानपट्टान दोन पिढ्यांची होती। शिव छत्रपतींचे वडील शाहा जी राजे हे पूर्वी निजामशाहीत मोठ्या मान्यतेचे सरदार होते। मलिकंबर वजीराने जहांगीर व शाहजान या मोगल पातशाहांनीं अनेक युद्धे केलीं त्यांतून शाहाजी राजांनी मोठा पराक्रम गाजविला होना। मलिकंबरच्या मृत्युनंतर शहा जी राजांचा लौकिक व दारा अतिशय वाढला आणि त्यांच्या इच्छे प्रमाणे आदिलशाहा व निजामशाहा यांच्या दरबारांचीं सूत्रे हाळू लागली। शाहाजी राजे हे स्वपराक्रमाने प्याद्याचे फर्जी म्हाले होते आणि त्यांच्यापेढा प्रताप शाली पुरुष त्यावेळीं दक्षिणेत कोणी ही नव्हता। इंग्रज इतिहासकार त्यांना किंगमेकर अशी पदवी देतात ती सार्थ आहे। स० १६३१ साली त्यांनीं एक अल्पवयी मुलगा निजामशाही तख्तावर बसविला आणि त्याचा नांवावर शाहाजी राजांनी मोगलाशीं उघड बैर आरंभिले हे युद्धसुमारे सहा वर्षे चालू होते आणि त्या मुदतीत मराठे व मोगल यांमध्ये अनेक रणसंप्राप्त होऊन शाहाजीराजांनी पुष्कळ वेळां मोगली फौजांची दाणादाग उडवून दिली पुढे आदिलशाहा मोगलाना मिळाले त्यामुळे शत्रूचे पारडे पुष्कळ जड झाले। तथापि शाहाजी राजांनी हिमत खर्चू ने देतां आदिलशाहा व मोंगल या दोनी शत्रूंनी मोठ्या मदुर्मकीने टक्कर दिली। शेवटी प्रतिज्ञूल परिस्थिती मुळे शाहाजीराजांना हार खावी लागली आणि शेवटी त्यांना निजामशाही राज्य मोगलांच्या स्वाधीन करावे लागले। स० १६३६ सालीं शाहाजी राजे आदिलशाहांचे जहांगीरदारदार वनून कायमचे कर्नाटकांत गेले आणि तिथे ही त्यांनी मोठे राज्य संगदून केले। याप्रमाणे दक्षिणेत मराठ्यांचे वर्चस्व प्रस्थापित करण्याचा शाहाजी राजांचा प्रयत्न फसला तथापि त्यांच्यापराक्रमाचे महत्त्व कोणत्याही प्रकारे कमी होत नाही। कार्येजच्या इतिहासांत हानिबालच्या पराक्रमाने त्यांच्या पित्याचे म्हणजे हिंस्रकार याचे कर्तृत्व म्हांकले गेलेले दिसते त्या प्रमाणे मराठी इतिहासांत महाराजांच्या अलौकिक प्रतापामुळे शाहाजी राजांचे कर्तृत्व

चांगलेसे दृष्टीत भरत नाही । वस्तुतः महाराजांनी प्रारंभी ज्या चळवळी केल्या आणि अल्पावधीत जे मोठे यश मिळविले त्याचे बरेचसे श्रेय शहाजी राजानाच दिले पाहिजे । शहाजी राजांच्या कष्टांना मुळें पुढील दोन परिणाम घडून आलेले स्पष्ट दिसतात । ते असे—(१) मराठे सेनापतींनी तयार केलेले मराठी सैन्य हिंदुस्थानातील नामांकित मुसलमानीसैन्यांचा पराजय करून शत्रूने ही गोष्ट शहाजी राजांनी प्रथमच सिद्ध केली त्यामुळे मराठ्यांचा आत्मविश्वास वाढला आणि त्या मानाने मोगलांच्या लौकिकाचा भ्रम कमी झाला । या आत्मविश्वासाच्या वळावरच महाराजांना आपल्या कारकादींच्या प्रारंभीच मराठी राष्ट्राचे स्वातंत्र्य जाहीर करण्याचे धारिष्ट्र उत्पन्न झाले । महाराजांनी बयाच्या चौदाव्या वर्षी म्हणजे स० १६४४, ४५ साली आपल्या नांवाचा शिक्षा करविला त्यांत पुढील मजकूर आहे—

प्रतिपच्चद्र लेखेव बर्धिण्यु विरववदिता ।

शाहसुनोः शिवस्यैषा मुद्रा मद्राय राजते ॥

या मुद्रेपैकी 'प्रतिपच्चद्रलेखेव बर्धिण्यु' आणि 'विरववदिता' हे दोन शब्द अतिशय अर्थपूर्ण आहेत । पहिल्या शब्दाने महाराजांचा आत्मविश्वास व्यक्त होतो आणि दुसऱ्याने त्यांच्या महत्कांक्षेची सर्वादा समजते । (२) शहाजी राजांनी पचरा बोंस वर्षे मोगलांशी राजकीय प्रतिस्पर्धा या नात्याने सामने दिले त्यामुळे महाराजांना मोगलांच्या गुणदोषांची पारख उत्तम प्रकारे करता आली । मोगल लोकांची कृष्ण काराधानाबद्दल मोठी ख्याति होती । कृष्णवेपथेणें, खोटी पत्रे तयार करणे, झूठबापा देऊन शत्रूची दिशाभूल करणे, विश्वास दखवून शत्रूचा नाश करणे खोट्या आणाशय्या घेणे वगैरे अनेक दुर्गुण मोगली राजनीतीत प्रासुल्याने वावरत होते । मोगलांच्या या दुर्लौकिकामुळेच कोणत्याही दगलबाजीच्या कृत्याला 'मोगली कावा' असे मराठी बखरीतून नांव दिलेले आढळते । महाराजांनी 'शठप्रति शाठ्य' या न्यायानें मोगलांशी वागताना असे धूर्तपणाचे डावपेच लढविले की, त्यामुळे मोगलांची ही दगलबाजीची अफळ शेवटी गुग होऊन गेली । मराठ्यांच्या या धूर्तपणाला मोगलांनी 'गनिमीकावा' असे नांव दिले आणि तो शब्द अजूनही मराठी भाषेत त्याच अर्थानें रुढ आहे । गनिमीकाव्याचे उत्कृष्ट उदाहरण म्हणजे चौथसरदेशमुलीची कल्पना हे होय ।

महाराजांनी प्रारंभीच आपले स्वातंत्र्य जाहीर केले तथापि काळवेळ ओळखून आणि स्वपरवलावल जाणून ते या स्वातंत्र्याच्या कल्पनेत फरक करावयास तयार असत । स० १६६० पर्यंत महाराजांची विजापूरकरांशी युद्धे झाली त्यांतून आदिलशहांचें अवसान ओळखून महाराजांनी शत्रूशी बरोबरीच्या नात्याने सामने दिले आणि शत्रूचा पुरा मोड केला । पुढे मोगलांशी गांठ पडली तेव्हां मोगली साम्राज्याचे सामर्थ्य ओळखून महाराजांनी स्वातंत्र्याची मजबूत कल्पना उराशी बाळगून शत्रूशी कायमचे वैर बांधण्याची इर्षा धरली नाही । त्यांनी प्रथम 'चौथसरदेशमुली' या नांवाखाली आपली एक नोकरीची कल्पना मोगला पादशह । पुढे मांडली । या कल्पनेचा उल्लेख मराठी इतिहासांत प्रथम स० १६६५ साली झालेला आढळतो, तो प्रसंग असा—

त्या साली जयनगरचा मिर्जा राजा जयसिंग आणि दिल्लीखान हे दोन मोगल सरदार महाराजांवर चालून आले । प्रथम महाराजांना वठणीवर आणून त्यांचा कायमचा बन्धोबस्त करावा आणि नन्तर विजापूरच्या आदिलशहाना तबी देऊन त्यांचा कडून सालाबाद प्रमाणे खंडणी वसूल करावी अशी दोन मुख्य कामे या मोगल सेनापतींना सांगण्यांत आली होती । यथिल मदिन्यांत (स० १६६५) मोगली प्लेजेने पुणे प्रांती येऊन सिंहाखडव पुरन्दर या किल्ल्याला वेढा दिला । महाराज त्यावेळी मोठे आरमार बरोबर घेऊन मलबारप्रांती गेले होते । तिकडे त्यांनी गोव्यापासून वासिलीोर, कुमठे, होनावर, गोकर्ण पर्यंत सुल्लुख लुटून मोठी बूट मिळविली । या आरमारी स्वारीला मराठी

इतिहासांत 'बसनूरची स्वारी' असं नांव दिलेले आढळते. महाराज या स्वारीतून रायगडावर परत येतात तोच त्यांना मोंगलांची बातमी समजली। महाराजांच्या गैरहजेरीत नेतानी पालकर आणि काढतोजी गुजर या मराठे सेनापतींनी मोंगलांशी टक्कर दिली। परन्तु तीत त्यांना यश आलं नाही। मोंगलांचा दिवसे दिवस विजय होत चालला आणि त्यांच्या अधाढीच्या टोळ्यांनी खुद्द रायगडापर्यंत मजल गांठली तेव्हा पुढील मसलतीची चर्चा करण्याकरिता प्रमुख मराठे सरदार व मुत्सद्दी महाराजां जवळ रायगडावर जमा झाले। या लोकांच्या समेत काय चर्चा झाली याची हकीगत कोठेही दिलेली नाही। परिणामावरून या चर्चेचे अनुमान बांधावयाचे तर मराठी राष्ट्रपुरुषांची ही सभा चिरस्मरणीय समजली पाहिजे। या समेत पुढील दोन गोष्टी निश्चित करण्यांत आल्या। त्या अशा—(१) मोंगलांची फौज आली आहे तिच्याशी लढून व्यर्थ नुकसान करून घेण्यापेक्षा पुढील फायद्यावर नजर देऊन तूर्त शत्रूशी सलोखा करावा। तहाच्या निमित्ताने आपली नोकरीची कल्पना मोगल दरबारांत कितपत रुजते याचा एकदां ठाव घ्यावा। एकदां नोकरीच्या निमित्ताने मोगली राज्यांत चंद्रप्रवेश झाला म्हणजे पुढे मुसलप्रवेश करून शत्रूचे राज्य आपल्या काबूत आणतां येईल। (२) मोंगली राज्याशी आपले पुढील धोरण निश्चित ठरेपर्यंत तहाच्या निमित्ताने लढाई बंद ठेवावी आणि मोंगली फौजेचे लचांड आपणावर आले आहे ते तूर्त विजापूरच्या आदिल शहावर परभारे सोडून द्यावे। मोगलाना मिळून आदिलशाही मुख्य लुटण्यांत आपला तूर्त फायदाच आहे। याप्रमाणे राज्यांतील प्रमुख मुत्सद्दी व सरदार यांच्या विचारें भावी धोरण निश्चित केल्यावर महाराज पुढील उद्योगास लागले। राजा जयसिंग आणि दिलीरखान पैकीं दुसरा केवळ आढमुठा पठाण सरदार होता। राजा जयसिंह हा मात्र दिल्ली दरबारांतील नामांकित मुत्सद्दी व सरदार होता। दोन्ही सरदारांचे पातशहांशी विशेषसे रहस्य नव्हते। विशेषतः जयसिंगाबद्दल तर औरंगजेबाला विशेषच अविश्वास वाटत होता। जयसिंग व पातशहा यांमध्ये हे जे थोडेसे वैमनस्य होते त्याचा महाराजांनी ताबडतोब फायदा घेतला। रघुनाथपंत न्यायमंत्री यांच्या मार्फत त्यांनी जयसिंगाशी सख्यजोडले आणि नंतर त्याच्या मार्फत मोंगलांशी तह घडवून आणला। या तहात मुख्य कलमे अशीं होती—

१ निजामशाही राज्यापैकी महाराजांनी मोंगलाकडून अलीकडे मुख्य जिंकला होता त्यापैकी सिंहगढ, पुरंदर वगैरे वीस किल्ले आणि त्या किल्ल्याखालचा तीन लक्ष होनांचा मुख्य महाराजांनी मोंगलास परत द्यावा बाकीचे बारा किल्ले आणि त्या किल्ल्याखालचा एक लक्षहोनांचा मुख्य महाराजांनी स्वतःकडे ठेवून घ्यावा। हा एक लक्ष होनांचा मुख्य आणि महाराजांच्या ताब्यांत असलेला इतर मुख्य ही सर्व पातशहाकडून महाराजां कडे चाललेली जहागीर समजवी।

२ संभाजी राजांच्या नावें पातशहाी फौजेत पांच हजार फौजेची मनसबदारी मिळावी। महाराजांनी ही फौज घेऊन मोगलाना विजापूरचा मुख्यवेण्यांत मदत करावी।

३ मोंगली मुख्यत्वावर महाराजाना पाँच लक्ष होनांची चौथ सरदेशमुखी मिळावी। चौथ सरदेश मुखीचा वसूल महाराजांनी स्वतंत्रपणें परभारे ज्याचा सरदेश मुखीच्या हक्काबद्दल मराठ्यांनी मोंगली रयतेचे चोरदखबे खोरापासून संरक्षण करावे। मराठ्यांनी स्वतः ही मोंगली रयतेस उपद्रव देऊ नये। चौथईच्या हक्काबद्दल मराठ्यांनी फौज ठेवून पातशहा ची चाकरी करावी।

४ चौथ सरदेश मुखीच्या हक्का बद्दल पातशहास दर साल तीन लक्ष होन या हेंत्वा प्रमाणे बाळीस लक्ष होनांचा नजराणा द्यावा। तह होताच मराठे व मोंगल यांनी एकत्र होऊन विजापूर राज्यावर खारी करावी।

या तहाच्या अदी उभयपक्षा पाळल्या जातील थावरलची जामीनदारी जयसिगाने पतकरली होती। या तहामुळे एक गोष्ट ताबडतोब बघून आली। ती गोष्ट म्हणजे तह होणांच मराठीआणि मोगली फौजा एकत्र होऊन विजापूर राज्यावर चालून गेल्या आणि लढाईचा सर्व हंगामा परमारे आदिलशाही मुलखांत पडला ही होय। तह झाल्यावर महाराजांनी आपली राजनिष्ठा आणि नम्रता व्यक्त होईल अशा दरबारी भाषेत पातशहाकडे एक लांबलचक पत्र पाठविले। सारांश, या तहप्रकरणी आपल्या नोकरी पेशास अनुरूप अशी नम्रता महाराजांनी या प्रसंगी धारण केली होती।

महाराजांचे राजकीय डाव नेहमी खोल आणि दूरदर्शी असत। या तहांत महाराजांनी तीन लक्ष होणांचा मुख्य देऊन मोंगलाची ताबेदारी पतकरली ही गोष्टच प्रथमदर्शनी ठळकपणे नजरेत भरते परन्तु तहांतील सर्व कलमांची फोड करून त्यांतील कार्यकारण भाव आणि परस्पर सम्वन्ध लक्षांत घेतले तर हा तह म्हणजे मोंगलांना फसविण्याकरिता महाराजांनी योजलेली एक 'गनिमी काव्याची' मुकांडी होती एवढाच तात्पर्यार्थ शिल्लक राहतो। आमचे म्हणणे स्पष्ट करण्याकरिता महाराजांनी या तहांत मागितलेल्या चौथ सरदेशमुखीचे स्वरूप आणि तहाच्या सर्व कलमांतून व्यक्त होणारे राजकारणाचे डावपेच यांचा जलगाढा आम्ही येथे करतो।

सर देश मुखी—मोंगली मुलखावर दर शेकडा जादा दहा टक्के प्रमाणे मराठ्यांनी वसूल करावे। म्हणजे एखाद्या प्रांताचे उत्पन्न शंभर ६० भरले तर सरदेशमुखीमुळे ते उत्पन्न एकशे दहा ६० समजावे। शंभर मोंगलांचे आणि वरचे दहा मराठ्यांचे। या हक्काच्या मोबदल्यांत मराठ्यांनी मोंगली रयतेचे सरक्षण करावे अशी तहामध्ये अट होती। आपल्या प्रजेचे सरक्षण करण्याचा हक्क मराठ्यांस देणे म्हणजे त्या प्रांतापुरते मराठ्यांचे वर्चस्व पातशहाने मान्य करणे असाच या गोष्टीचा राजकीय अर्थ होत होता।

२ चौथ अथवा चौथाई—सरदेशमुखी वजा जाता प्रांताचा वसूल शिल्लक राहिल त्यापैकी पचवीस टक्के वसूल मराठ्यानीच्यावे। तहा मध्ये पांच लक्ष होणांचा चौथाईचा हक्क महाराजांनी मागितला होता। याचा सरळ अर्थ असा का, वीस लक्ष होन वसूल येणाऱ्या मोंगली मुलखा पैकी पंधरा लक्ष होन मोंगलांनीच्यावे आणि पांच लक्ष होन मराठ्यानीच्यावे। चौथाईच्या हक्काबद्दल महाराजांनी फौज बाळगून पातशहाची चाकरी करावी। चौथाईचा वसूल मराठ्यांनी मोंगल अमलदारांस न विचारता परमारे स्वतंत्र हक्काने रयतेपासून घ्यावा अशी महाराजांनी तहा मध्ये अट घातली होती ती या वाचतीत विचारांत घेतली पाहिजे। मराठ्यांचा असला चौथाईचा हक्क मान्य करणे म्हणजे त्या प्रांतापुरता मराठ्यांचा एक चतुर्थांश मालकी हक्क पातशहाने मान्य करणे असाच या गोष्टीचा राजकीय अर्थ होत होता।

३ तहामध्ये महाराजांनी मोंगलास तीन लक्ष होणांचा मुलूख दिला तोही एक लपटावीचा प्रकार होता। या मुलखाच्या मोबदल्यांत पांच लक्ष होणांचा चौथाईचा हक्क म्हणजे पर्यायाने वीस लक्ष होन उत्पन्न येणाऱ्या मोंगली मुलखांत सत्कार करण्याची सुभा महाराजांनी या तहात पातशहाजवळ मागितली होती ही गोष्ट या वाचतीत विचारांत घेतली पाहिजे। सारांश, आवळा देऊन कोहळा काढण्या पैकीच हा सर्व प्रकार होता।

४ तहामध्ये दरसाल तीन लक्षहोन नजराणा मरण्याची अट होती तोही असाच लपटावीचा प्रकार होता। तीन लक्षहोन म्हणजे त्यावेळच्या धारणी प्रमाणे सुमारे दहा अकरा लक्ष रुपये होवात। समाजी राजाना पातशहाने पांच हजार फौजेची मनसब द्यावी असे एक या तहात कलम होते ते या ठिकाणी विचारात घेतले पाहिजे। मनसबदार हे नेहमी इतलासी असत। म्हणजे फौजेच्या खर्चाबद्दल त्यांना सरकारी खजिन्यांतून नक रुपये मिळत असत। समाजी

राजांच्या पांच हजार फौजेच्या वार्षिक खर्चाची बेरीज तत्कालीन हिशेबाप्रमाणे सुमारे दहा बारा लक्ष रुपये होत होती । महाराजांनी पातशहाकडे भरावयाचा नजराणा आणि संभाजी राजाना फौजेच्या खर्चालादल पातशहा कडून मिळावयाची रक्कम यांची बजावाट केली तर मराठे व मोंगल यांनी एकमेकांस कांही देऊ घेऊ नये असा सरळ हिशेब होत होता ।

सारांश, प्रजेचें संरक्षण आणि पातशहाची नोकरी या गोड दरबारी नांवाखालीं आपल्या वर्चस्वाचे आणि मालकीहक्काचें उदाचे पिल्लू शत्रूच्या मुलखांत हळूच सोडून द्यावे एवढाच हा तह ठरविण्यांत महाराजांचा हेतु होता असे स्पष्ट दिसतें । एखादा राजा अडचणींत सांपडून सर्वस्वी नाडला गेल्याशिवाय तो असली शिरजोरपणाची नोकरी कधींहीं कवूल करणार नाही । मोंगली राज्य त्यावेळें अत्यंत बलिष्ठ होते । त्यांतून औरंगजेब हा महापूरत आणि पाताळयंत्री पातशहा होता । तो महाराजांचो असलो ही नोकरी कसची मान्य करतो ? जयसिंगाने मराठ्यांशी ठरविलेला तह पातशहाने थोडासा फरक करून मंजूर केला । दरबारी रिवाजाप्रमाणे औरंगजेबाने महाराजां कडे मानाचा पोपाक, तरवार बगैरे सरंजामही पाठविला । पातशहाकडून महाराजांच्या पत्राचे उत्तर आले त्यांत महाराजाना उचेंजन वाटेल असा बराच मजकूर होता । चौथे सरदेशमुखीच्या हक्काचा मात्र पातशहा ने आपल्या उत्तरांत उल्लेखसुद्धां केला नव्हता । मग तो हक्क मान्य करण्याचे दूरच राहिले ।

या तहा संबंधी आम्ही आतां पर्यंत थोडीशी जास्त विस्तारपूर्वक हकीगत दिली आहे त्याचे कारण चमूद केले पाहिजे । शिवचरित्रा पैकी ज्या गोष्टीचा अजून नीटसा डलगडा झाला नाही त्यापैकीच हे तदुपकरण आहे । याप्रसंगीं मोंगलांचो चडूकडून जबरदस्ती झाली आणि मराठे सेनापतींचें चहुंवाजूनी उपाय धकले—सर्व राज्य गमावण्याचा प्रसङ्ग प्राप्त झाला तेव्हां महाराजांनीं भवानोदेवीला कौल लाविला—नन्तर शत्रूशी यासमयी कसा तरी समेट करून बचाव करून घे असा देवीने दृष्टांत दिला त्यामुळे महाराजांनीं मोगलाशी हा तह केला अशी वस्तुस्थितीचा विपर्यास करणारो एक भाकडकथा मराठो बखरींतून दिजेजो आहे । मि० ग्रॉट डक, न्यायमूर्ति किंकेड, राव, सरदेसाई वगैरे अलीकडील मराठी इतिहास लेखकांनीं ही भाकडकथा खरी मानून किंवा आपल्या कल्पनेनें एखादा असंबद्ध कार्यकारणभाव करून या प्रसंगाची हकीगत आपापल्या ग्रंथांतून लिहून ठेविली आहे । शिवचरित्राचे रहस्य समजून घेण्याचा किंवा वस्तुस्थितीचा ओष लक्षांत घेण्याचा आतांपर्यंत कोणाही लेखकाने प्रयत्न केला नाही त्यामुळे शिवचरित्रापैकी या महत्त्वाच्या प्रसंगाच्या बाबतीत हकीगत आणि मांडणी या दृष्टीनें मोठा विपर्यास घडून आलेला आहे । न्यायमूर्ति रानडे यानी मात्र हा तह करण्यांत महाराजांचा कांही तरी कारखानीपणाचा डाव असला पाहिजे असा शेर या प्रसंगासम्बन्धे लिहून ठेवला आहे । परन्तु तो डाव कोणता हे त्यानाही उलगडून सांगता आले नाही । असो जयसिंगाची स्वारी आणि तहानन्तर घडलेल्या गोष्टी यांची माहिती आतां पर्यंत प्रसिद्ध झाली आहे तीवरून आमच्या मतें पुढील दोन गोष्टी स्पष्ट दिसतात (१) पहिली गोष्ट अशी की, महाराजांचा सर्वस्वी निरुपाय झाला आणि कशी तरी वेळ मारून नण्याकरितां त्यानी पड लावून शत्रूशी हा तह केला असा सर्व लेखकांनीं निष्कर्ष काढला आहे तो चुकीचा आहे । जयसिंग यंत्रित महिन्यांत (१६६५) पुणे प्रांती दारबल झाला । पुढे दोन महिन्यानी महाराजांनी हा तह घडवून आणला । त्या मुदतीत चार दोन किरकोळ लढायांतून मोंगलांची सरशी झाली होती । मोठी लढाई होऊन मराठे व मोंगल यांच्या बलाबलाचा निर्णय लागण्याचा प्रसङ्ग महाराजांनी या स्वारीत आणलाच नाही । या तह प्रकरणाचे मर्म वखरकारांना नीट समजले नाही त्यामुळे महाराजांनीं मुख्य देऊन मोंगलांची नोकरी पतकरली ही गोष्ट साजरी दिसण्याकरितां त्यांनी याप्रसङ्गी महाराजाना पडलेले

सकट आणि भवानीदेवीचा दृष्टांत वगैरे काल्पनिक मजकुराने हा प्रसंग सजविला आहे। महाराजांना स्वतः मोगलांच्या सामर्थ्याची पर्वा कधीच वाटली नाही आणि त्यांच्या पिढ्याला भय हा विकार माहीतच नव्हता। शिवाय औरंगजेबासारख्या कट्ट्या दुष्मानाशी सख्य केले असता संकटकाली आपला धचाव होईल असे मानण्याइतका अप्रभुत्वपणा महाराजांच्या ठायी खास नव्हता। या तहापूर्वी दोन वर्षे त्यान्ही शाहिस्तेखान आणि राजा जसवंत सिंग या मोगल सेनापतींची अगदी दाणादाण उडवून दिली होती। तहाच्या आदल्या वर्षीच त्यांनी मुरत शहर लुटले होते आणि मक्केचे मुसलमान यात्रेकरू मारढले होते। या तहाचा वेरग झालेला दिसतांच पुढेही महाराजांनी मोगली फौजांची वेळोवेळ अशीच दुर्दशा केलेली दृष्टीस पडते। महाराज व औरंगजेब हे दोघेही एकमेकांचे वर्मकर्म पूर्णपणे जाणून होते आणि दोघेही महाधूर्त पाताळवंत्री मुत्सद्दी होते। या सर्व गोष्टी जसे घडल्या म्हणजे महाराजांनी एक मोठा राजकारणाचा डाव पोटांत ठेवूनच तहाचे घोलणे सुरू केले—जयसिंगाने बलाबलाचा विचार पाहूनच हा तह पतकरला आणि औरंगजेबाने कोण त्या तरी निमित्ताने एकदा महाराजांना हाताखाली घालून ठेवावे एवढ्याच हेतूने हा तह तूर्तातूर्त मजूर केला—या गोष्टी स्पष्ट होतात। (२) मोगलासारख्या वलाढय सरकाराशी मराठी राज्याचे भावी धोरण काय रहावे आणि त्या धोरणाची अंमलबजावणी करतां करतां शत्रूचे राज्य आत्ते आत्ते आपल्या कावूत कसे आणावे या गोष्टीची रूपरेषा महाराजांनी प्रमुख मुत्सद्दी व सरदार यांच्या विचाराने या प्रसंगी निश्चित ठरविली होती असे स्पष्ट दिसते। पूर्वानुसंधान असल्या शिवाय राजकारणांत कोणतीही गोष्ट एकाएकी घडून येत नाही। पेशवाई अखेरपर्यंत सर्व मराठ्यांनी मोगल पावशाहाशी जे एक ठराविक विशिष्ट धोरण ठेविले होते आणि चौथसरदेशमुखीच्या हक्काबद्दल मराठ्यांनी शेंबट पर्यंत जो एवढा अट्टाहास घेतला होता त्याचे मूल महाराजांच्या या धोरणांतच हुडकले पडले। हेधोरण आणि त्याची मांडणी यांचा पहिला प्रयोग या दृष्टीनेच महाराजांनी मोगलाशी हा तह घडवून आणला होता। महाराजांचे या प्रसंगीचे वर्तन या दृष्टीने त्यांच्या सर्व चरित्राशी कसे सुसंगत ठरते हे दर्शविण्याकरितांच आम्ही थोडासा विषयांतराचा दोषपतकरून या तहप्रकरणाची हकीगत इतकी विस्तार पूर्वक दिली आहे।

तहातील कलमें आणि त्यांतून व्यक्त होणारे राजकीय धोरण यांचा विचार करतां महाराजांनी संभाजी राजांच्या नांवावर पांच हजार फौज घेऊन मोगलांना विजापूर चा मुख्य वेण्यांत मद्ध करावी आणि तिच्या मोबदल्यांत त्यांना चौथसरदेशमुखीच्या नावाखाली मोगली राज्यांत एक चतुर्थांश मालकी हक्क मिळावा एवढाच तात्पर्यार्थ शिष्टांक राहता। नोकरी आणि मालकीहक्क यांची अशी ही सांगड घालण्यांतच महाराजांचे अलौकिक बुद्धिकौशल प्रगट होते। मोगलांच्या नाशाकरितां महाराजांनी हा एक राजकारणाचा सापळा तयार केला होता। सामान्य लोकाना महाराजांच्या नोकरीचे दूधमात्र दिसावे आणि दुष्पाठी मागे उभा असलेला त्याचा मालकीहक्काचा वडगा मात्र सहसा कोणाच्याच लक्षात येऊ नये अशी या कल्पनेत मोठीसोय होती। मोगली राज्य त्यावेळीं अत्यंत बलसंपन्न होते आणि पूर्वेस बंगाला-पश्चिमेस कदाहार, हिरात आणि उत्तरेस हिमालय दक्षिणेस नर्मदा नदी एवढ्या मोठ्या विस्तीर्ण भूप्रदेशावर ते राज्य पसरले होते। अशा वलाढय राष्ट्राशी कायमचे वैर न थांबता नोकरी करण्याच्या मिपाने त्या राज्यांत प्रथम आपल्या लढानसा मालकीहक्काचा चंचु प्रवेश करावा—मोगल सुखासमाधानाने नगेकतील तर जबरदस्ती करून आपल्या मालकी हक्काच्या नोकरीचे खोगीर त्यांजवर लादावेपुढे पावशाही सत्ता जसजशी दुर्बल होत जाईल किंवा मराठी सत्ता जसजशी प्रबल होत जाईल त्या मानाने आपला

मालकीहक्कास्त जास्त विस्तृत करून मोगली राज्य पादाक्रांत करावे-पादशाही नष्ट होई पर्यंत आपल्या नोकरीचा नम्र मुजरा पादशाह्याच्या डोळ्यासमोर सतत धरावा असे महाराजानी या प्रसंगी धोरण निश्चित केले होते। महाराजांचे हे धोरण त्यांच्या पश्चात् सर्व मराठ्यांनी पेशवाई अखेर पर्यंत चालविले आणि त्याधोरणाच्या बळावरच पुढे मराठ्यांनी सर्व मोगली राज्य पादाक्रांत केले। महाराजांच्या हयातीत मात्र या धोरणाला व्यवस्थित आणि निश्चित स्वरूप प्राप्त झाले नाही। या राजकारणाच्या चोळण्यासाठी महाराज पुढे जयसिंहाच्या मध्यस्थीने पातशाह्याच्या भेटीसाठी आगम्यास गेले होते। तेथे औरंगजेबाच्या अवकृपेने सांपडून ते कसे नजरबंदीत पडले आणि मिठाईच्या पेट्यांनी तून त्यानी कैदेतून कशी सुटका करून घेतली हा सर्व मजकूर इतिहास प्रसिद्धच आहे। कैदेतून मुक्त होतांच महाराजानी मोगलांस दिलेला मुलूख परत काबीज केला आणि मोगली मुलखावर स्वाभ्या कर करून चौथ सरदेशमुखीचा बसूल जबरदस्तीने घेण्यास सुरवात केली। पुढे गोव्याचे फिरंगी आणि विजापूरचा आदिलशहा यांच्या मुलखांतूनही महाराज या हक्काचा बसूल सक्तीने घेऊ लागले।

सं० १६८० साली महाराज कैलासवासी झाले। नंतर सर्वदक्षिण काबीज करण्याकरिता औरंगजेब स्वतः एक लक्ष फौज घेऊन दक्षिणेत आला। मोगलांनी पहिल्याच सपाट्यांत विजापूरची आदिलशही आणि गोवळकोडयाची कुतुबशाही ही दोनी मुसलमान राज्ये समूळ बुडविली। नंतर ते मराठी राज्यांच्या राशीला लागले। मराठे व मोगल यांमधील हा घनघोर संग्राम सतत सत्तावीस वर्षे चालू होता। त्या युद्धांत शेवटी मोगलांचा पुरा मोड झाला आणि अपेशाने भग्नहृदय होत्याता औरंगजेब सं० १७०७ साली औरंगाबादेस मृत्यु पावला। तो पातशाहा मराठ्यांचा कट्टा द्वेषी होता। त्याने मराठ्यांच्या चौथ सरदेशमुखीस उर्फ मालकी हक्काच्या नोकरीस कधीही मान्यता दिली नाही इतकंच नव्हे, तर तो मराठी राष्ट्राचे स्वतंत्र राजकीय अस्तित्व सुद्धा कबूल करावयास तयार नव्हता। औरंगजेबाच्या पश्चात् दिल्ली दरबारांत बेबंदशाही माजली आणि मराठ्यांनी हातपाय पसरण्यास सुरुवात केली। गुजराथेत खडेराम दाभाडे, बगदाडांत परसोजी भोसले, खानदेशांत नेमाजी शिंदे, विजापूर प्रांती चंदाजी चव्हाण, कर्नाटकांत सिंदोजी धोरपडे असे अनेक मराठे सरदार जागजागी प्रबळ होऊन बसले। औरंगजेब मरून पुरतीं दहा वर्षे झालीं नाहीत तोच मराठ्यानी नर्मदे अली कडील मोगली मुलखावर आपला चौथ सरदेशमुखीचा अंमल बसविला।

मराठ्यांची अशी जबरदस्ती पाहून जागोजागचे मोगल अंमलदार त्यांच्या या हक्कास मान्यता देत परंतु पातशाही सनदेशिवाय मराठ्यांच्या या आक्रमणास राजमान्यता देण्यासारखी नव्हती। मराठ्यांस ही राजमान्यता उर्फ पातशाही सनद मिळण्याचा संभव सं० १७१८ पासून स्पष्ट दिसू लागला। त्यावेळीं फरुक्शेयर पातशाहा दिल्लीच्या सिंहासनावर होता आणि सव्यदबंधु या नांवाने ओळखले जाणारे दोन उमराव त्याचे प्रधान होते। पातशाहा आणि दरबारांतील इतर उमराव यांचे सव्यद बंधूशौं विवुष्ट होते आणि पातशाहा तर त्यांचा नाश करण्या करिता संधीच पहात होता। सव्यद बंधूनी मराठ्याशी राजकारण केले त्यावरून बाळा जी विश्वनाथ पेशवे हे शाहूछत्रपतीच्या आज्ञेवरून मोठी मराठी फौज बरोबर घेऊन दिल्लीस गेले आणि त्यानी दिल्ली-दरबारांत सव्यदबंधूंचे बर्चस्व पुनः प्रस्थापित केले। सव्यदानीं मराठ्यांच्या साहय्याने फरुक्शेयर यास पवच्युत करून त्याच्या जागी महंमदशाहास गादीवर बसविले मराठ्यांच्या या कामगिरी बद्दल सव्यदानी सं० १७१९ च्या मार्च महिन्यांत महंमदशाहाकडून मराठ्यांस स्वराज्य चौथ आणि सरदेशमुखी अशा तीन हक्कांच्या सनदा देवविल्या। सं० १७१९ हे साल मराठी इतिहासांत सुवर्णचक्रांनी लिहून ठेवण्याइतके महत्वाचे आहे। सं० १६६५ साली शिवाजी महाराजानी जो राजकारणाचा डाव टाकला होता त्याचा पहिला हप्ता पुढे पन्नास वर्षांनी पेशव्यांनी या सनदा मिळवून मोगलांकडून उगवून

घेतला। जिवंत राष्ट्रांत राजकीय घोरणाचा जिवंतपणा आणि एक सूत्री पणा दिसून येतो त्याचे हे प्रत्यंतर होय। डाव टाकण्यांत ज्याप्रमाणे पहिल्या छत्रपतीचे म्हणजे शिवाजी महाराजांचें अलौकिक बुद्धिवैभव प्रत्ययास येते त्याप्रमाणेच त्या डावाचा पहिला ह्मा उगवून घेण्यांतही पहिल्या पेशव्यांचे म्हणजे बाळाजी विश्वनाथ पेशव्यांचें तसेच अलौकिक बुद्धि-कौशल दिसून येते। महाराज हे ज्याप्रमाणे मराठी राजकारणाचे जनक होत त्याप्रमाणेच पेशवे हे मराठी राजका-णाचे सरक्षक होत। महाराजांनी गुरुस्थानी वसून मराठ्यांना थोडेसे राजकारणाचे मंत्र शिकविले आणि शिष्यांनी पुढे त्या मंत्रांचा मनन पूर्वक अभ्यास आणि तर्कशुद्ध आचार करून राजकारणांतिल महत्पद प्राप्त करून घेतले असे मराठी इतिहासावरून दिसून येते। असो, स. १७१९ साली पातशाही सनदांमुळे मराठ्यांस काय मिळालें आणि मिळालेल्या हक्कांचा पुढे मराठ्यांनी स्वराज्यसंबर्धनाकडे कसा उपयोग करून घेतला हे आता ओघानेचा सांगीत-ले पाहिजे।

स्वराज्याची सनद—औरंगजेब पातशाहा मराठी राज्याचे स्वतंत्र राजकीय अस्तित्वसुद्धा मानावयास तयार नव्हता हे पूर्वी सांगितलेच आहे। मोगली वंशराज मराठी राज्याची औरंगाबाद सुम्यात आतापर्यंत गणना केली जात असे। या स्वराज्याच्या सनदेने मराठी राज्याचे राजकीय स्वातंत्र्य पातशाहाने मान्य केले एवढाच या सनदेचा राजकीय अर्थ आहे। या सनदेच्या व्यवहारांत प्रत्यक्ष मुलूख देण्याघेण्याचा काहीच सवध येत नव्हता। या सनदेत उल्लेखिलेला मुलूख पूर्वीपासून मराठ्यांच्याच ताब्यांत होता। इतकेच नव्हे, तर सनदेत ज्याचा उल्लेख केलेला नव्हता असा पुष्कळच मुलूख मराठ्यांनी आगाऊच घळकाविला होता। इतर उद्योगमुख राष्ट्रप्रमाणे मराठे लोक ही नवीन मुलूख जिंकताना तो आपल्या। स्वराज्यापैकी आहे किंवा परराज्यापैकी याचा विधिनियेय कधीही बाळगीत नसत स्वराज्याविषयी मराठ्यांची कल्पना प्रारंभी अगदीच संकुचित स्वरूपाची आणि अल्प प्रमाणावर होती। शहाजी राजे आणि शिवाजी महाराज यांनी संपादन केलेल्या मुलखासच मराठे लोक प्रारंभी स्वराज्य समजत असत। या शिवकालीन स्वराज्यापैकी सर्व मुलखाचा पातशाही सनदेत उल्लेख केलेला नव्हता। सामान्यतः जव्हारपासून गोंयापर्यंत कोकणपट्टी आणि घाट-माध्यावरील पुण्यापासून हल्याळ सांभराजीपर्यंत मावळप्रांत आणि तुंगभट्टेच्या उत्तरीतीर असलेले कोपळ, गद्गद वगैरे तालुके एवढ्याच मुलखाचा पातशाही सनदेत समावेश केलेला होता। तुंगभट्टेपलीकडे शिरे, बाळापूर, होसकोटे, बिदर, बगलोर, कोलार वगैरे फार मोठा मुलूख शहाजी राजांनी मिळविला होता। तो मुलूख या वेळी मोगल किंवा मराठे या पैकी कोणाच्याच प्रत्यक्ष ताब्यांत नव्हता पुढे हैदरअलीने तो मुलूख जिंकून घेतला आणि मराठ्यांना हा शिवकालीन स्वराज्याचा भाग पुनः कधी आपल्या ताब्यांत घेता आला नाही। असो, स्वराज्या बरोबर चौथ सरदेश मुखीच्याही सनदा मिळाल्या त्यामुळे पेशव्यांनी स्वराज्याची कल्पना पुष्कळच व्यापक बनविली। शिवछत्रपतींचा मुलूख आणि त्यांनी मोगलाकडे मागितलेला चौथ सरदेशमुखीचा हक्क यांस मराठे लोक या पुढे स्वराज्य म्हणू लागले। मराठ्यांच्या स्वराज्याच्या कल्पनेत या हक्काचा समावेश झाला होता ही गोष्ट मराठी इतिहास वाचताना नेहमी दृष्टी पुढें ठेवावी लागते। कारण जुन्या ऐतिहासिक पत्र व्यवहारांतून स्वराज्य आणि मोगलाई असे शब्द येतात त्याठिकाणी स्वराज्याचा अर्थ चौथ सरदेशमुखीचा वसूल असाच नेहमी व्याख्यात असतो। चौथ सरदेशमुखीच्या हक्काचा म्हणजे मोगली राज्यावरील चौथाई मालकीहक्काचा आपल्या स्वराज्याच्या कल्पनेत अतर्भाव करण्यांतच पेशव्यांच्या जयप्रभु राजकारणाचे मर्म सांठविलेले आहे। स्वराज्याच्या या व्यापक कल्पने प्रमाणे दक्षिणेतील मोगली मुलखावर स्वराज्य आणि मोगलाई असे दोन अमल पातशाही सनदांनी यावेळी प्रस्थापित झाले। याचा अर्थ असा की, पसतीस टक्क्या-पुरते मराठी अमलदार आणि पाऊंसरो टक्क्यापुरते मोगली अमलदार असा दुहेरी अमल मोगली मुलखावर बसला।

या प्रमाणें मराठे हे एका दृष्टीनें पातशाही सत्तेत भागीदार होऊन बसले। ही भागीदारी केवळ कल्पनेतच न राहतां प्रत्यक्ष व्यवहारांत तिची अंमलबजावणीहोऊं लागली आणि प्रत्येक प्रांताच्या राजकीय व्यवहारांत स्वराज्य आणि मोगलाई असा स्वतंत्र हिशेब कागदोपत्री होऊं लागला। एखादे बलिष्ठ सरकार उलथून पडण्याकरितां पाश्चात्य देशांतून हल्लीं Parallel Government स्थापन करण्याची युक्ति निघाली आहे निघाच एक सुंदर आणि व्यवस्थित नमुना त्यावेळीं मराठ्यांनीं आगाऊच निर्माण केला होता असे स्पष्ट दिसते। एका न्यानांत दोन तरवारी ज्याप्रमाणे नांदू शकत नाहीत त्याप्रमाणेच परस्परांच्या शत्रु स्थानीं असणारी दोन सरकारे एका प्रांतांत एका वेळीं नांदू शकत नाहीत हा इतिहासाचा अनुभव आहे। राजसत्ता हा कधी भागीदारीचा विषय होऊं शकत नाही। मराठ्यांना अशी भागीदारी देऊन पातशाहाने आपल्याच हाताने मोगली राज्यास पुरण्याकरितां एक खड्डाच तयार करून ठेवला होता। कारण पातशाही सनदेने निर्माण झालेले हे दोन अंमल हेच पुढे मोठे भांडणाचे मूळ होऊन बसले आणि त्या भांडणांत मोगली सत्तेचें हळू हळू उच्चाटण होत गेले। स्वराज्याची सनद मिळवून आणि स्वराज्याची कल्पना व्यापक करून पेशव्यानीं मोगली मुलखावर आपल्या Parallel Government च्या कल्पनेचे खोरी ठेवले होते हे बरील विवेचनावरून वाचकांच्या आतां लक्षांत येईल।

चौथ सरदेशमुखीची सनद—दक्षिणेतील मोगली राज्याचे औरंगाबाद, वन्हाद, वेदर, विजापूर, हैदराबाद आणि खानदेश असे सहा सुभे होते। या सहाही सुभ्यावर चौथ सरदेशमुखी वसूल करण्याचा हक्क मराठ्यांस या पात शाही सनदेमुळे प्राप्त झाला या हक्कांच्या स्वरूपाचे विवेचन या पूर्वी करण्यांत आलेच आहे। पातशाहाकडून सनदा मिळवितांना पेशव्यानीं त्यांत एक कारस्थानीपणाची मेख मारून ठेविली होती ती मेख म्हणजे या हक्कांचा वसूल मराठ्यांनी तनख्याच्या उत्पन्नावर करावा असा त्यानीं पातशाही सनदांतून उल्लेख करवून घेतला होता ही होय। तनखा हा शब्द जमाबंदी पैकीं आहे। एखाद्या प्रांताचे वसुली उत्पन्न आणि तनख्याचे उत्पन्न यांच्या अर्बात महदंतर आहे। एखाद्या प्रांताचा आजमितीस जो प्रत्यक्ष वसूल येत असेल किंवा येण्यासारखा असेल ते त्या प्रांताचे वसूली उत्पन्न होय। एखाद्या प्रांताचा कधीकाळी जाखीत जास्त वसूल आलेला सरकारी दप्तरांत नमूद असेल ते त्या प्रांताचे तनख्याचे उत्पन्न होय। या दृष्टीने एक लाख तनख्याच्या उत्पन्नाचा मुलूख आजमितीस काहीं अस्मानां मुलतानी मुळे फक्त दहा हजार वसूली उत्पन्नाचा असू शकेल किंवा कदाचित् तो ओसाड मैदानही असू शकेल। त्या प्रांताचे वसुली उत्पन्न कितीही येवो सरकारी दप्तरांत मात्र त्या प्रांताचे तनख्याचे उत्पन्न एक लाख रुपयेच समजलें जाते। असे मोगलांच्या दक्षिणेतील सहा सुभ्यांचे तनख्याचे उत्पन्न अठरा कोट रुपये ठरविलेले होते। या अठरा कोटी पैकीं साडेचार कोट रुपये चौथाई आणि अठरा कोटीवर दहा टक्केप्रमाणे एक कोट ऐशी लक्ष रुपये सरदेशमुखी एकूण सुमारे सव्वा सहा कोट रुपये मराठ्यांस या सनदामुळे मिळावयाचे होते। वस्तुतः मोगलांचा हा तनखा म्हणजे एक पोकळ आणि अगडबंद आकडेमोड होती। मोगलांच्या या सहा सुभ्यांत ज्याचा समावेश करण्यांत आला होता तो मुलूख आतांपर्यंत मोगलांच्या निर्वेधपणे कधीही ताब्यांत आलेला नव्हता त्यामुळे काही तरी ऐकीव माहिती जमेल धरून मोगलांनी हा तनखा ठरविलेला होता। सर्व मुलूख मोगलांच्या निर्वेधपणे ताब्यांत आला असता तरी सुद्धा या सहा सुभ्यांचे वसुली उत्पन्न अठरा कोट रुपये येण्यासारखे नव्हते। त्यांतून स० १६८० पासून पुढे चाळोस बर्षेपर्यंत दक्षिणेंत मोगल आणि मराठे यांमध्ये प्रचंड झगडा चालू होता प्रत्येक प्रांतांत दंगे, लूट आणि लुडाय यांचे साप्ताभ्य पसरले होतें—अणि लष्करांच्या पायमल्लीमुळे बहुतेक सर्व प्रांतचवस्त झाला होता त्यामुळे अठरा कोट रुपये तनख्याच्या या मोगली मुलखांतून घड दोन कोट रुपये सुद्धांमूल येण्यासारखा नव्हता। अशा स्थितीत मोगलअंमलदारांनी या दोन कोटींतून मराठ्यांस सव्वा सहा कोट रुपये द्यावे कुटून

आणि मराठी अमलदारानी ते वसूल करावे कसे ? पातशाहानें वसुली उत्पन्नापैकी मराठ्यांस चौथाई दिली असती तर हा घोटाळा झाला नसता । परंतु घोटाळा करण्याकरितांच पेशव्यानी ही तनख्यावरील वसुलीहक्काची राजकारणाची मेख जाणून जुजून मारली होती । त्यामुळे मोगली अमलदारांच्या दृष्टीने ही चौथ सरदेशमुखीची सनद म्हणजे एक अशक्य सनद होऊन वसली । मोगलांनी आपखुपीने कितीही दिलें किंवा मराठ्यांनी जबरदस्तीने कितीही मिळविले तरी शेवटी मराठ्यांचीच वाकी मोगल अमलदारांकडे निघावी अशी पेशव्यानी सनद मिळवितांना आगाऊच सोय करून ठेविली होती ।

१. मोगली प्रांतांत मराठी अमलाचे उठाचें पिल्लू शिरणें ही गोष्ट स्वभावतःच मोगली सत्तेला नाशकारक होती । त्यांतून मराठी पक्षास या तनख्यावरील वसुली हक्काची जोड मिळाल्यामुळे मराठ्यांचे पारडे जास्तच जड झाले । पेशव्यानी पुढे चौथसरदेशमुखीची आपापसांत वांटणी केली तीतही त्याचे धूर्त आणि दूरदर्शी राजकीय धोरणाच प्रत्ययास येतें चौथसरदेशमुखीमुळे पाऊणशे टक्के मोगलाई आणि पसतीस टक्के स्वराज्य अशी व्हाणेंतील मोगली उत्पन्नाची वाटणी झाली हे पूर्वी सांगितलेच आहे । पाऊणशे टक्के मोगलाईत दोन वाटण्या होत्या । पन्नास टक्के जहागीर आणि पचवीस टक्के फौजदारी । जहागीरच्या उत्पन्नाची मातकी मोगल पातशाहा कडे होती । फौजदारीचें उत्पन्न स्थानिक स्वर्च आणि वदोवस्त यांसठी राखून ठेवलेले असे । पेशव्यानी स्वराज्याची वांटणी ठरविली ती अशी—सरदेशमुखी हे छत्रपतीचे वतन ठरविण्यांत आले । चौथाई पैकी पचवीस टक्के राजबावती, सहा टक्के साहोत्रा आणि तीन टक्के नादगौडी असे आपणखी तीन हक्क छत्रपतींना देण्यांत आले । वाकीच्या सासष्ट टक्क्यांचा हक्क मोकासा या नांवाखाली निरनिराळ्या राजपथकी सरदारांना देण्यांत आला । उदा—एखाद्या प्रांताचा तनखा चारशे रुपये धरला तर सरदेशमुखीमुळे ते उत्पन्न चारशे चाळीस समजण्यांत येत असे या चारशे चाळीस रु० ची पहिली वाटणी म्हणजे तीनशे रु० मोगलाई आणि तनख्यापैकी चौथाई शंभर रु० आणि तनख्यावरील सरदेशमुखी चाळीस पकून एकशे चाळीस रु० स्वराज्य ही होय । मोगलाई व स्वराज्य यांच्या पुढील वाटण्यांचे कोष्टक असे मांडता येईल :—

मोगलाई	स्वराज्य
२०० जहागीर	४० सरदेशमुखी
१०० फौजदारी	२५ राजबावती
<u>३००</u>	६ साहोत्रा
	३ नादगौडी
	<u>६६</u> मोकासा
	१४०

मोगलाची वाटणी मोठी असूनही तीत त्यांचे फक्त दोनच हक्कदार असत । मराठ्यांची वाटणी छोटी असूनही तीत पेशव्यानी पाच हक्कदार वाटले होते । स्वराज्याच्या सदराखालील पहिले चार हक्क छत्रपतींचे होते । गावचे लहान लहान गट पाहून आणि या चारी हक्कांबद्दल निरनिराळे अमलदार नेमून छत्रपती या हक्कांचा वसूल वेत असत । मोकासा ज्यांना वाटून दिलेला होता अशा राजपथकी सरदाराची सध्या तर शेकडों-हजारोंनी मोजण्याइतकी मोठी होती । अशा या लहान वाटण्या पाहण्यांत पेशव्यांचा एक खोल राजकीय डाव होता । मोगली मुलखांतून या हक्कांचा वसूल

सुधेपगालें येणार नाही हे जाणून मराठी पक्षाचे मनुष्यबळ शक्य तेथे वाढविण्याकरितांच पेशव्यानी हा सर्व खटाटोप केला होता। पेशव्यांच्या या व्यवस्थेमुळे कोणी छत्रपतींच्या एखाद्या हक्काचे अंशसुद्धा किंवा वतनदार या नात्याने तर कोणी मोकरातांत वांटणी असलेले सरदार या नात्याने अशा निरनिराळ्या नात्यानीं महाराष्ट्रातील बहुतेक सर्व कर्तृत्ववान माणसांचे हितसंबंध हक्कांच्या प्रकरणांत गुंतले गेले आणि राजकीयदृष्ट्या स्वार्थ आणि परमार्थ यांचा उत्कृष्ट मिलाफ होऊन मोगलाशी लढण्याचा प्रसंग पडला म्हणजे हजारो मराठे एका निशाणाखाली आपोआपच जमूं लागले। पेशव्यानी नुह्या राष्ट्राभिमानाच्या कल्पनेवरच विशेषशी भिस्त न ठेवतां व्यवहारिक दृष्टीने हजारो मराठ्यांचे हितसंबंध या हक्कांच्या वसुलीत गुंतविले त्यामुळे मराठी पक्षास थापुदे मनुष्यबळाची कधीही बाण पडली नाही।

शिवाजी महाराजांनी मोगली राज्यांत दुहेरी अंमलाचा चतुःप्रवेश करण्याची कल्पना काढली त्यावेळी ती अगदीच ओवढ घोवढ स्वरूपाची होती। मोगल सरकार त्यावेळी जबरदस्त होते त्यामुळे या कल्पनेस विशेष से व्यवस्थित मूर्त स्वरूप येण्याचा त्यावेळी फारसा संभव नव्हता। पुढे मोगली राज्याची उतरती कळा लक्षांत घेऊन पेशव्यानीं या कल्पनेस व्यवस्थित मूर्त स्वरूप दिले आणि तनख्यावरील वसुली हक्काची जोड देऊन आणि सर्वांचे हित संबध या कल्पनेत गुंतविले जावेत या दृष्टीने या हक्कांचे क्षेत्र जास्तीत जास्त व्यापक करून हा चौथ सरदेश मुखीचा हक्क म्हणजे एक राजकीय शास्त्र बनविले। हक्कांची मांडणी करताना पेशव्यानी अशी सोय तीत करून ठेविली होती की जीमुळे मोगलांचे हातपाय सर्व बाजूनी आपोआपच बांधले जावेत आणि मराठ्यांचे हातपाय सर्व बाजूनी आपोआपच पसरले जावेत। मूळ कल्पना जशी अपूर्व होती त्याप्रमाणेच पुढे तिची मांडणीही अपूर्वच करण्यांत आली। या दृष्टीने या कल्पनेचे मूळ जनक शिवाजी महाराज आणि संस्थापक बाळाजी विश्वनाथ पेशवे या दोघांच्याही बुद्धीची करामत सारखीच प्रत्यबास येते आणि क्षणभर असा संदेह उत्पन्न होतो की, या वायवीत गुरुची करामत अधिक कां शिष्याची करामत अधिक। शिवाजी महाराजांसारखे राजकारणाचे गुरु जसे विरळा त्याप्रमाणेच बाळाजी विश्वनाथासारखे शिष्यही विरळाच होत आणि म्हणूनच चौथ सरदेश मुखीच्या वायवीत पहिले छत्रपति आणि भट घराण्यापैकीं पहिले पेशवे ही गुरुशिष्यांची जोडी मराठी इतिहासांत अजरामर होऊन वसली आहे।

बाळाजी विश्वनाथ पेशव्यानी या पातशाही सनदा मिळवून मराठी इतिहासास निराळें बळण लाविले आणि त्यानी पुढे या हक्कांची व्यवस्थित आणि व्यापक मांडणी केली त्यामुळे मराठ्यांच्या कर्तृत्वास भरपूर बाध सांपडला। आतांपर्यंत मराठी सत्ता सहयाद्रीच्या दुर्गम पठारांनून किंवा कर्नाटकांतील ओसाड आणि निर्जल प्रदेशांतूनच वावरत होती। राजसत्तेचे खरे सुख आणि वैभव मराठ्यानी आतांपर्यंत अनुभविले नव्हते। इतकेच नव्हे, तर पाहिलेमुद्दा नव्हते। पेशव्यांच्या या कामगिरीमुळे मराठी राजकारणाने थापुदे दक्षिणेकडे पाठ करून उत्तर हिंदुस्थानाकडे तोंड वळविले। त्या प्रांतांतील अनेक विलासांनी संपन्न असलेले पातशाही राजवाडे, अनेक सुख साधनांनी संपन्न असलेली मोठमोठी शहरे, धनधान्याने संपन्न असलेले मोठमोठे भूप्रदेश हे सर्व मराठी राजकारणाच्या थापुदे सतत दृष्टीसमोर दिसू लागले मराठ्यांची स्वराज्याची कल्पना थापुदे सहयाद्रीच्या पठारांपुरतीच मर्यादित न राहतां तिने थापुदे विराट रूप धारण करून पूर्वेस बंगाल्यापासून पश्चिमेस कंधार—हिरात पर्यंत मजल गांठली। ज्योत्नास क्षेत्र मिळाले म्हणजे ज्योत्नास करणारी माणसे आपोआपच निर्माण होतात। मराठी साधुसंत आणि शिवाजी महाराज यांच्या लोकोत्तर शिकवणीवरून महाराष्ट्रांत नवजीवनाचा संचार आमूलाग्र झाला

होता आणि महाराष्ट्रांतजिकडे तिकडे उत्साह आणि पराक्रम यांचे पाट जागजागीं तुंबले होते । नदी मुखाने समुद्रांत प्रवेश व्हावा त्याप्रमाणे चौथसरदेशमुखीच्या रूपाने मराठ्यांचा पातशाही राजकारणांत प्रवेश झाला त्याबरोबर या नवजीवनाच्या शक्तीस नवीन क्षेत्र मिळाले आणि हजारो नवीन नवीन माणसे निर्माण होऊन त्यानी हां हां म्हणता सर्व मोगली राज्य प्राप्त टाकले । मराठी इतिहासांतील या महत्त्वाच्या स्थित्यन्तराचे सर्व श्रेय बाळाजी विश्वनाथ पेशव्यानाच दिले पाहिजे ।

चौथ सरदेशमुखी या विषयाचे तात्त्विक विवेचन हाच या लेखाचा मुख्य विषय आम्ही कल्पिलेला आहे । आणि त्या दृष्टीने या हक्कांचे स्वरूप आणि त्यांतील राजकारणाचे धागेदोरे यांचे त्रोटक विवेचन आम्ही आवापर्यंत केले आहे । एका या हक्कांचें स्वरूप आणि मांडणी निश्चित झाल्यावर व्यवहारिक दृष्टीने त्या कल्पनेचा विस्तार कसकसा होत गेला या माहितीचा समावेश या लढानशा लेखात होण्याजोगा नाही । कारण चौथ सरदेशमुखीचा विस्तार आणि स० १७२० पुढील मराठी राज्याचा इतिहास या गोष्टी परस्पराहून फारशा भिन्न नाहीत तथापि या कल्पनेचा पुढील विस्तार लक्षात घेतल्याशिवाय वाचकांना या विषयाचें महत्त्व नीटपणें अजमावितां येणार नाही । सवव विषयाच्या पूर्त तेसाठी त्या दृष्टीने आम्ही थोडीशी माहिती येथे सक्षेपाने नमूद करतो ।

बाळाजी विश्वनाथांनी पातशाही सनदा मिळविल्या त्यांत दक्षिणेत मराठी अंमलाचे वर्चस्व प्रस्थापित करावे हाच त्यांचा प्रधान हेतु होता । परंतु या हक्कांचे स्वरूप आणि मांडणी या गोष्टी मुख्यतःच अशा स्वरूपाच्या होत्या कीं, प्रत्यक्ष प्राणावर बेतल्याशिवाय कोणताही मोगल सुभेदार त्या कबूल करावयास तयार नव्हता । त्यावेळीं निजामुलमुख नावाचा दक्षिणेत मोगल सुभेदार होता । हा निजामुलमुख आणि त्याचा मुलगा निजामअल्ली यांचा मराठी इतिहासाशी निकटचा संबंध येतो । हे पितापुत्र स० १७२० पासून स० १८०३ पर्यंत दक्षिणेत मोगल सुभेदार होते आणि त्यानी त्या सुदृढीत पहिल्या बाळाजी विश्वनाथापासून शेवटच्या रावदाजीपर्यंत साती पेशव्यांच्या कारकीर्दी पाहिल्या । दोघेही घोरणी मुत्सद्दी आणि पराक्रमी सरदार होते त्यामुळे त्यांवर या हक्कांचे खोगरी ठेवताना पेशव्यांना बहुत प्रयत्न करावा लागला । मराठे व निजाम यामधील हा लढा स० १७२० पासून स० १७६० पर्यंत विरोध जोराने चालू होता । त्या सुदृढीत मराठ्यांनी निजामावर वेळोवेळ खल्या करून आणि नाना कारस्थाने करून दक्षिणेतील बहुतेक मोगली सुलूख जिंकून घेतली । स० १७६० पुढेही निजामास मराठ्यांचा बहुत त्रास सोसावा लागला शेवटी निजामाने या त्रासास कटाक्षून इंद्रजांचा आश्रय केला त्यामुळे त्याचा वचाव होऊन निजामाचे राज्य या जुन्या नांवाखाली मोगलाई पैकी थोडासा अवशेष अजूनही दक्षिणेत शिल्लक राहिला आहे ।

बाळाजी विश्वनाथांनी पातशाही सनदा मिळविल्या त्यावेळीं मालवा आणि गुजराथ या प्रांतांची ही चौथ सरदेशमुखी मराठ्यांस देण्याचे पातशाहा आणि सय्यदबघु यानी कबूल केले होते । या वावरीत बोलणे करण्यासाठी पेशव्यांनी देवराय हिंगणें नांवाचा बकील आपल्या पाठी मागे दिल्लोत ठेविला होता । पुढे दिल्ली दरबारांतून सय्यदांचे जबाबदार झाले त्यामुळे त्यावेळीं या प्रांतांबद्दल पातशाही सनदा मराठ्यांस मिळू शकल्या नाहीत । परंतु नवीन मुलूख जिंकताना मराठे पातशाही सनदांची थोडीच अपेक्षा ठेवीत होते । बवीन मुलूख प्रथम काबीज करावा आणि नंतर त्या बद्दल साधेल तेव्हा आणि साधेल तरा पातशाही सनदा मिळवाव्या असा मराठ्यांचा नेहमीचाच बळक ढपलेला होता । त्यादृष्टीने स० १७२० पूर्वीच मराठ्यांनी बहुतेक गुजराथ प्रांत आगाऊच व्यापून टाकला होता । पुढे दक्षिणेपुरत्या पातशाही सनदा हाती पडल्यावर मराठे मालवा प्रांतांत शिरले आणि स० १७२४ पासून स० १७३९ पर्यंत अवघ्या आठ वर्षांतच राजा गिरिधर आणि वयावद्दार हे दोन मोगल

सर्व पातशाही मुलखावर मराठी अमल प्रस्थापित करण्याचा सुयोग मराठ्यांस आतां दिसू लागला । या सनदे प्रमाणे पाहिले तर दिल्ली शेजारचा पांच पन्नास मैलांचा टाप्पू आणि राहानशाहा ही भक्तेबाज पदवी एवढेंच वैभव आतां दुर्दैवी दिल्लीच्या पातशाहाजवळ शिल्लक राहिले होते । पातशाहाकडून ही तिसरी सनद स० १७५० सालीं मराठ्यांस प्राप्त झाली ।

या सनदेमुळे मोगल पातशाहीचे डोईजड ओगे मराठ्यानी डोक्यावर घेतले ते मात्र त्यांना नीटसे मेपलं आले नाहीं आणि त्या उद्योगांत मराठे आणि रोहिले—पठाण यांचे हाडवैर जु पले । ही सनद हाती पडतांच स० १७५१ सालींजयाजी शिंदे आणि मल्हारराव होळकर यांनी दुआबात शिठन एकाच स्वारींत साठ सत्तर हजार रोहिले—पठाणाची फौज बुडविली । रघुनाथराव पेशव्यानीही स० १७५४, ५५ साली आणि १७५७, ५८ साली अशा उत्तरांती दोन स्वान्या केल्या पहिल्या स्वारीत मराठ्यानी रजपूत व जाठ राजे आणि अंतर्वेदीतील पठाण सरदार यांना नरम केले, दुसऱ्या स्वारीत तर मराठ्यानी अफगाणिखाना पर्यंत मजल गांठून अटके पावेतो भगवा मेढा नाचविला । याप्रमाणे मराठ्यांच्या स्वान्या चालू होत्या तरी त्यांच्या विशेषसा उपयोग होत नसे । कारण मराठे स्वारीतून परत दक्षिणेत येतात तोच त्यांच्या पाठोपाठअवदालीही दिल्ली प्रांतांत येत असे आणि मराठ्यानी केलेल्या सर्व कार्यांचा विध्वंस करीत असे । अबदालीचा हा त्रास चुकविण्याकरितां स० १७५७ साली दत्ता जी शिंदे साठ सत्तर हजार फौज बरोबर घेऊन पंजाब आणि अंतर्वेदी या प्रांतांत गेले । या स्वारीत अफगाण, रोहिले आणि पठाण यांनी एजकूट करून शिष्ट्यांचा मोडकेला आणि दिल्लीशेजारी बदाय घाटावर उभयपक्षांत मोठी लढाई झाली वीत दत्ता जी शिंदे आणि हजारो मराठे यांची शत्रुकडून कत्तल झाली । शिष्ट्यांच्या या स्वारीचे अपेक्षे धुवून काढण्या करितां सदाशिवराव पेशवेएक लाख फौज बरोबर घेऊन स० १७६० साली दिल्लीप्रांती दाखल झाले । पेशव्यांची ही स्वारी 'पानिपतची मोहीम' या नावाने मराठी इतिहासांत प्रसिद्ध आहे । या मोहिमेतही मराठ्यांना भयंकर अपेक्षे आले आणि बहुतेक मराठी फौज या स्वारीत गारद झाली ।

याप्रमाणे मोगल पातशाही ताब्यात घेण्याच्या प्रयत्नांत मराठ्यांना द्रव्य आणि मनुष्यबल यांची भयंकर हानी सोसावी लागली तथापि कािकाठी धरून त्यांनी हाती घेतलेला उद्योग सोडला नाहीं । माधवराव पेशव्यांच्या कारकीर्दीत स० १७६९, ७० साली रामचंद्र गणेश कानडे आणि विसाजी कृष्ण विनीवाले हे दोघे सरदार पन्नास साठ हजार फौज घेऊन पुनः दिल्ली प्रांती आले आणि शहाआलम याची तत्त्वावर स्थापना करून त्यांनी दिल्ली दरबार हाती घेतले । मराठ्यांचे हे दिङ्गोबरील वर्षेख फार दिवस राहिले नाहीं कारण स० १७७३ साली दक्षिणेत नारायणराव पेशव्यांचा खून झाला आणि पुढें मराठ मंडळांत गृहकलशाची यादवी भाजली त्यामुळे मराठ्यांना दिल्लीतून आपोआपच पाय काढून घ्यावा लागला मराठ्यातील हा गृहकलह स० १७८२ साली समाप्त झाला आणि लागलीचा महादजी शिंद्यानी ही दिल्लीची मसलत पुनः हातीवे । जो । शिंद्यानी आठ दहा वर्षे सख्त मेहनत करून दिल्ली प्रांतातील रोहिले—पठाण सरदारांचा असा बीमोड करून टाकला कीं, मराठ्यांना विरोध करण्यास यापुढे त्यापैकी कोणी शिल्लकच राहिला नाहीं । शिंद्यांच्या या पराक्रमांमुळे मराठे विरुद्ध रोहिले—पठाण या तट्याचा कायमचा निकाल लागला आणि पातशाहा मराठ्यांच्या कायमचा हाती सापडला । शिंद्याजी महाराजांनी स० १६६५ साली जो राजकारणाचा डाव मांडला होता तो पुढे सवाशे वर्षांनी महादजी शिंद्यानी याप्रमाणे सिद्धीस नेता त्यामुळे मराठे इतिहासांत त्यांचे नांव चिरस्मरणीय होऊन राहिले आहे ।

वरील विवेचना करून मराठी राज्याच्या बाढीत चौथसरदेशमुखीच्या कल्पनेचा केवढा मोठा सवध होता हे आतां वाचकांच्या लक्षांत येईल । या विवेचनावरून आणखीही एक गोष्ट स्पष्ट होते । ती अशी की, राजकारणांत महत्त्व प्राप्त

करून व्याख्याचे तर मुत्सद्यांनी बुद्धि आणि बीरांची तरवार यांचा पूर्णपणे मिलाफ व्हावा लागतो। मुत्सद्यांच्या बुद्धीची करामत केवढीही मोठी असली तरी तिचा अंमल मंत्रसभेपुरताच मर्यादित असतो। व्यवहारांत त्या करामतीची अंमलबजावणी नेहमीं मनगटाच्या जोरावरच करावी लागते। मराठ्यांची बुद्धि जशी व्यापक आणि पक्षेदार होती त्याप्रमाणेच त्यांचे मनगटही तसेच बळकट आणि खंडीर होते आणि त्यामुळेच सह्याद्रीच्या पठारातून वाघरणाच्या कंगाल मराठ्यांना स्वराज्य आणि स्वधर्म यांचा उद्धार करून हिंदुपदपातशाही स्थापन करता आली। चौथे सरदेशमुखीचे आम्ही आतांपर्यंत विवेचन केले आहे त्यावरून मराठे केवळ लुटारू होते त्यांच्या हालचालींत शिस्त नव्हती—त्यांना राजकीय धोरण माहीतच नव्हते—त्यांच्यांत माणुसकीचा गंधमुद्दा नव्हता—मराठी राज्य म्हणजे वस्तुगतीच्या ओघातील एक वाऱ्याचा फुगारा—तो आपोआपच वाढला आणि आपोपच फुटला—असल्या प्रकारचीं विधाने मुसलमान आणि इंग्रज इतिहासकारांनी लिहून ठेविलीं आहेत तीं किती द्वेषमूलक, अग्रपुद्ग आणि खोटी आहेत हेही वाचकांस दिसून येईल। सतराव्या आणि अठराव्या शतकांत मराठ्यांनी स्वराज्याचा मगडा चालविला होता तो सर्व हिंदुस्थानाच्या इतिहासांत केवळ अपूर्व होता आणि त्या भगड्यांत स्वराज्य आणि स्वधर्म यासाठी ज्यांनी देह फिजविले आणि प्रसंगी प्राणमुक्तां अर्पण केले त्या पुण्यात्म्यांना जेवढे धन्योद्गार द्यावेत तेवढे शोबेचे ठरणार आहेत।

चौथे सरदेशमुखीच्या कल्पनेत नोकरी आणि मालकीद्वक् यांची जी मुळांत सांगड घालण्यांत आली आणि त्या कल्पनेची पुढे जी मांडणी करण्यांत आली त्याला तोड दुसऱ्या कोणत्याही इतिहासांत सांपडत नाही राजकारणांत असली ही अघटित घटना घडवून आणण्याचा पहिला मान मराठी इतिहासानेच पटकावला आहे आणि त्या गोष्टींचे शिवद्वजपति आणि बाळाजी विश्वनाथ पेशवे यांच्या बुद्धिचैमवाचे अपूर्वत्व सांडविलेले आहे। पुढे हिन्दुस्थानचे राज्य विंकताना इंग्रजांनी मराठ्यांच्या या चौथे सरदेशमुखीची नकल अंमलांत आणलेली दिसून येते। इंग्रजांनी पुढे या नांवाखाली ही कल्पना अमलांत आणून अनेक सहान मोठी राज्ये घरांत टाकली। या कल्पनेला पगारी मैत्री असे नांव देता येईल। मराठ्यांनी मालकीद्वक्चाची नोकरी करतां करतां साम्राज्य उभारले तर इंग्रजांनी पुढे पगारी मैत्री करतां करतां सर्व हिन्दुस्थान जिंकले। मराठ्यांचा चौथे सरदेशमुखी उर्फ मालकी द्वाचाची नोकरी आणि इंग्रजांची पगारी मैत्री या दोनी कल्पनांतून मूळभूत तत्व, साय आणि साधने या दृष्टीने विलक्षण साम्य आहे। मराठ्यांची मूळ कल्पना जास्त व्यापक आणि गुंतागुंतीची होती। इंग्रजांनी नकल करताना कल्पनेचा व्यापक पणा बहुतांशी कायम ठेवला आणि गुंतागुंत मात्र बरीच कमी केली। इंग्रज व मराठे यांच्या राजनीतींत मात्र बराच फरक दृष्टीस पडतो। इंग्रज हे व्यापारी होते त्यामुळे त्यांची ही पगारी मैत्री म्हणजे केवळ एक ताकापुरतें रामायण होतें। फायद्याचा प्रसंग दिसला म्हणजे ते मैत्रीच्या जोरावर हात पुढे करीत आणि नुकसानीचा प्रसंग दिसला म्हणजे मात्र ते मैत्री गुंडालून ठेवून खाका वर करीत। निजामाने इंग्रजारी ही मैत्री केली परंतु खड्यांचे लढाईत इंग्रजांनी त्याला तोंडपशी पाडले। रजपूत राजांनी ही पगारी मैत्री पतकरली परंतु नुकसानीचा प्रसंग पडतांच लॉर्ड कार्नवालिस याने बचन भंग करून त्या रजपूत राजांना शिंदे होळकरांच्या भक्ष्यस्थानी खुशाल सोडून दिले। अयोध्येचा नवाब सुजाउद्दौला याने या पगारी मैत्रीचा आश्रय केला परंतु पुढे सुजाचा मुलगा असफउद्दौला याच्या हातीं भिकेची मोळी देऊन आणि सुजाची बायको व आई यांची द्रव्यासाठी बेअरू करून वॉरेन हेस्टिंग्सने या मैत्रीचे बीज कसे करून दाखविले हे इतिहास प्रसिद्धच आहे। सारांश, इंग्रजांच्या पगारी मैत्रीत अतःकरणाचा ओलावा नव्हता। मराठे हे राजे होते त्यामुळे त्यांच्या राजनीतीत जास्त सौजन्य दिसून येतें। त्यांनी शत्रु ताब्यांत सांपडला असता त्याची विटवना केली नाही किंवा मैत्रीच्या मिषाने त्यांनी कोणाची बंधना केली नाही। मराठ्यांनी नोकरी करताना

आपला प्रामाणिकपणाही कधी सोडला नाही। मोगल रियासतीतील मुसलमान उमरावांनीच दिल्लीच्या मुसलमान पादशाहांची वेळोवेळी अप्रतिष्ठा करण्यांत पुढाकार घेतल्याचे दिसून येते। सव्यदवधूनीं फरुकशेखर पातशाहांचा खून केला गाजोबदोन वजोरांनी अहमदशाह आणि अलमगीर या दोन पातशाहांचे पाठोपाठ खून केले। गुलाम कादराने तर शाहआलम पातशाहाचे डोले काढून आणि पातशाही बेगमावर अत्याचार करून पातशाही राजवाड्यांत नगा नाचव घातला। मराठे हे पातशाहांचे शत्रु असताही त्यांनी पातशाही पदाची कधी अप्रतिष्ठा केली नाही। उलट पातशाहांचे अस्साठी मराठ्यांनी अनेक हालअपेष्टा आणि नुकसाने सोसली आणि पानिपताचा दुर्घट प्रसंग आपल्या राष्ट्रावर ओढवून घेतला। या सर्व गोष्टी लक्षांत घेता इंग्रजांच्या पगारी मैत्रीपेक्षा मराठ्यांची माझकीहक्काची नोकरी जास्त प्रामाणिक स्वरूपाची होती असे स्पष्ट म्हणावे लागते।

पंडित गौरीशंकर ओझा यांचा इतिहासाचा व्यासंग दांडगा आहे। मराठी इतिहासापैकी या महत्त्वाच्या विषयावर आमचे विचार प्रदर्शित करून आम्ही पंडितजींची एक नम्र सेवा केली आहे। पंडितजींच्या वयाला सत्तर वर्षे पुरीं माली असताही त्यांचा उद्योग अजून अखंड चालू आहे। दीर्घायुष्य आणि दीर्घबोधा याचा असा हा मेळ क्वचित् दृष्टीस पडतो। पंडित महाशयांना दिवसेंदिवस आयुरारोग्य लाभो आणि त्यांच्या हातून उत्तरोत्तर वाढमयसेवा घडो असे चिंतून आम्ही हा लेख पुरा करतो।

हिंदुस्थानचा लष्करी इतिहास

सनरत्न गावासाहेब हिंदे, बडोदा

वैदिककाळी आर्य लोक हिंदुस्थानांत आले त्यावेळी ते हिंदुस्थानातील अनार्य लोकांपेक्षा, युद्धकलेमध्यें व राजास्त्रांत जास्त निष्णात होते, हे कबूल करावे लागते। त्यावेळी चारी वर्णांची स्थापना झालेली नव्हती। लढाई करीत ते क्षत्रिय, व देवतांची पूजाअर्चा करीत ते ब्राह्मण, अशी त्यावेळी समाजाची रचना होती। हिंदुस्थानातील रानटी लोकांस धोड्याची माहिती नव्हती। आर्य लोकांबरोबर दक्षिण म्हणजे धोडे होते, व त्या धोड्यावर वसून अगर रयांत वसून ते लढत असत, त्यामुळे पाय-दळापेक्षा त्यांचा वेग जास्त असला पाहिजे। त्यास मिळून अनार्य लोक परभाव पावत व पळून जात असत। अनार्य लोकांच्या मुसत्या तीरकमळोपेक्षा आर्यलोकांची लढाईची हत्यारे जास्त सुधारलेली होती। बाण, तीर, तूणीर, डाल, तरमार, भाला, परछू बगैरे हत्यारे आर्यलोक लढाईत वापरीत असत। याशिवाय दुष्मनांच्या त्रीरापासून शरीराचें रक्षण करण्याकरिता चिलखत व शिरस्त्राणही वापरण्यांत येत असे। दुष्मनावरजास्त वेगाने व जोराचा हल्ला करण्याकरिता धाड्यांचा व रथांचा उपयोग केला जात असे। त्यांच्या बाणांस इरण्याची अणकुचीदार शिंगे अगर लोखंडाची पावी लावलेली असत। त्याचममाणे आर्यलोक जुटीने शत्रूशी लढत असत। या कारणाने या मूठमर आर्य लोकांनी अनार्यलोकांचा लढाईत पराभव करून, त्यांच्या मुलाखात आपली कायमची बसाइत केली व तेथे लहान लहान राज्ये स्थापन केली। म्यागम्हीन रायफल असलेली व शिस्त शिकलेली शस्त्र शिपायांची एक

कंपनी, ठासण्याच्या बंदुका असलेल्या बीन शिस्तीच्या हजार लोकांसही भारी असते, असा अर्वाचीन युद्धकलेचा अनुभव आहे। यावरून ज्यांची शास्त्राचे उत्तम व शिस्त चांगली, ते लढाईन विजयी होणार हा नियम सिद्ध होतो।

२ भारतीय युद्धाचे वेळी भरतभूमीचे लष्करी वैभव अगदी शिखरास पोचले होते, व युद्ध कलाशास्त्र अगदी पूर्णत्वास गेले होते, असे म्हटले असता अतिशयोक्ती होणार नाही। परंतु मोठ्या दुःखाची गोष्ट ही आहे की, ह्या युद्धकलेचा उपयोग स्वतःच्या कुलाचा व इतर क्षत्रिय कुलांचा भारतीय युद्ध संहार करण्याकडेसच करण्यांत आला। राष्ट्रवृद्धि करण्याकडे ह्या कलेचा उपयोग म्हाला नाही। त्याकाळी सुद्धा लढाईचें काम मुख्यतः क्षत्रिय वर्गासच करावे लागत असे। बोढदळ, पायदळ, हत्ती व रथ असे फौजेचे मुख्य चार भाग असत। ह्याशिवाय ट्रान्सपोर्ट, नौका, हेर, इटेलिजन्स डिपार्टमेंट (शत्रूची माहिती ठेवणारे खाते) अशी चार निरनिराळी खाती होती। ही फौजेची रचना व व्यवस्था अर्वाचीन काळच्या अगदी सुधारलेल्या फौजेप्रमाणेच होती। तोफखान्याचे काम रथ करीत असत। विमानाची कलाही त्यावेळी माहित होती व तिचा उपयोग द्वारकेच्या वेढ्यांत करण्यांत आला होता। विमानांतून बाँबच्या एवजी त्यावेळी दगड व बाण फेकण्यांत येत असत। तोफांचा उपयोग कित्यावरून करण्यांत येत असे, असे वर्णन आहे। परंतु ह्यावेळी तोफेची व बंदुकीची दारू माहित होती की नाही याबद्दल संशय आहे। ह्यावेळच्या तोफा म्हणजे दगडी गोळे फेकण्याची विशिष्ट प्रकारची एका तऱ्हेची यंत्रे होती असे मानण्यांत येते। बंदुकीचे काम धनुष्यबाण करीत असत। आर्यलोकांनी ही कला फार उत्तरीला नेली होती। बाणाचा पल्ला एका मैलपर्यंत जात असे। हत्तीची योजनाही लढाईत करण्याची चाल होती, परंतु या गजसेनेपासून कधी कधी स्वपक्षांचेही नुकसान होत असे। मंत्रविद्येचाही उपयोग लढाईत करण्यांत येत असे। परंतु हल्लीच्या सुधारलेल्या विसाव्या शतकांत, ह्या मंत्रविद्येस कोणी महत्त्व देईल की काय ह्याचा संशयच आहे। अशक्य कोटीतंच या विद्येची गणना हल्ली करण्यांत येईल।

३ कंपनी, बटालियन, ब्रिगेड, डिव्हिजन, आर्मीकोर वगैरे हल्लीच्या सुधारलेल्या फौजे प्रमाणे त्यावेळच्या फौजेची रचना होती व तीवर हल्ली प्रमाणेच निरनिराळ्या दर्जाचे अंमलदार नेमण्यांत येत असत। निरनिराळ्या प्रकारची, शत्रुसंहार करण्याची हत्यारे बापरण्यांत येत असत। प्रत्येक राजाजवळ कांही ठराविक खडी फौज असे। सक्तीची लष्करी नोकरी त्यावेळी अंमलांत नव्हती। फौजेस वेळ बर पगार दोण्यांत येत असे।

४ कित्याला वेढा पडला म्हणजे कशी व्यवस्था करण्यांतयेत असे, ह्याचे द्वारेकच्या वेढ्यांत फारच चांगले वर्णन केले आहे। हल्लीच्या महायुद्धांतील लीज, नामूर, अँटवर्प वगैरे प्रसिद्ध कित्यांचे वेढे असेच होते। त्यावेळी धर्मयुद्ध करण्याकरितां फार सक्तीचे नियम करण्यांत आले होते, ते हल्लीच्या सुधारलेल्या राष्ट्रांच्या नियमांसारखेच होते। या नियमास जर्मनीने जसे सध्याच्या महायुद्धांत धाड्यावर बसविले, तसे त्यावेळी कोणी केल्यास, त्यास फार हीन मानीत असत। लढाईच्या वेळी निरनिराळे व्यूह करण्यांत येत असत। हल्लीही बोढदळ, पायदळ व तोफखाना कसा लढवावा याजबद्दल निरनिराळे व्यूह ठरालेले आहेत लढाईला उत्तम वर्षा काळ कोणता व लढाई कोणत्या जाग्यावर थावी ह्याजबद्दलही नियम ठरविलेले असत। फौजेच्या तळावर घासदाण्याचा, हत्याराचा वगैरे पुरवठा करण्यांत येत असे। जखमा बांधण्याकरितां शस्त्रवैद्यही बरोबर असत। लेबरकोर (मजूर) चे लोकही बरोबर ठेवीत असत। भारतीय युद्धांत एकंदर ६६ लक्षांवर लोक मारले गेले असें स्त्रीपर्वात म्हटले आहे। हल्लीच्या महायु-

भारतीय युद्धाच्या काळी
फौजेची रचना

भारतीय युद्धाची हल्लीच्या
महायुद्धा बरोबर तुलना

द्वांत इतके लोक एकसमयावच्छेदकरून मारले गेले नाहीत, म्हणून आजपर्यंतच्या सर्व युद्धांत भारतीय युद्ध महायुद्ध ठरते। भारतीय युद्ध फक्त १८ दिवसच चालले होते, परंतु हल्लीचे युद्धचार वर्षांवर चालले होते। भारतीय फौजेला जसे राहण्यास जितकी जागा लागली असेल तितक्या टापूतच हे युद्ध झाले, परंतु हल्लीच्या युद्धाच्या रणांगणाची रुंदी पांचशे मैलांच्या वर होती। हल्लीच्या महायुद्धांतील सेनापति किती तरी मारे जसे व त्याला तरवाही वाळवाही लागत नसे; परंतु भारतीय युद्धाच्या सेनापतीस स्वतः धनुष्यबाण घेऊन रोज लढावे लागत असे। हल्लीच्या सेनापतीस हातांतील शस्त्रपिचां स्वतःच्या डोक्याचाच फार उपयोग करावा लागतो। लढाईच्या प्रदेशाचे नकाशे, तारारथे, टेलिफोन, विमाने, बगैरेच्या साहाय्यवर हल्लीच्या सेनापतीस शेकडो मैलांच्या अंतरावरून लढाई चालवावी लागते। ही सुधारणा भारतीय युद्धाच्या वेळी नव्हती। बाकी इतर गोष्टीत भारतीय युद्धाच्या वेळी हिंदुस्थानांतील युद्धकलाशास्त्र व शिस्त हल्ली प्रमाणेच होती असे म्हटले असतां अतिशयोक्ति होणार नाही। फौजेची रचना, घटना व व्यवस्था अगदी सुधारलेल्या पारिश्चित्या राष्ट्रप्रमाणे होती। या युद्धांत सामील झालेल्या १८ अज्ञाहिणी सैन्यांपैकी फक्त १० इसम जिवंत राहिले, बाकीची सर्व फौज कत्तल झाली। अठरा दिवसांत इतका मोठा मनुष्य संहार झाल्याचे जगाच्या इतिहासात एकही उदाहरण सांपडणार नाही। हे महायुद्ध म्हणजे क्षत्रिय कुलांचा—जडबऱ्यांचा निःशात असेच म्हणावे लागते।

८ बौद्ध व पौराणिक काळामध्ये लष्कराची रचना, व्यवस्था व शिक्षण सुधारण्याकडे राजे लोकांचे फारसे लक्ष होते असे दिसत नाही। पूर्वी जे चालत आले होते, तेच चालू ठेवण्यांत आले। बौद्ध व हिंदू धर्माच्या मांडणा मध्येच राजे लोकांचा बहुतेक काळ जात होता असे दिसते। आर्य लोक या काळांत मनुष्याच्या बौद्ध व पौराणिक काळ नवी इतके मोठे धनुष्य वापरीत होते। तीन हात लांबीची तरवार दोन्ही हातांत धरून मारण्यांत येत असे। घोडेस्वाराजवळ दोन भाले असत, त्यांचा उपयोग ते एकावेळी कसा करीत असत हे समजणे कठीण आहे। घोड्याच्या तोंडांत लोखंडी लगाम न देतां नुसती ओठाळीदेऊन ते लोक घोड्यावर बसत असत। घोड्याच्या वेळी हे घोडे त्याच्या काढूत कसे रहात असत हेनवल आहे अरक्तानामधे ह्या प्रमाणेच अद्याप अरब लोक घोड्यावर बसतात, व एका लाकडीच्या इशाथाने ते आपल्या घोड्यास बाटेल त्या ठिकाणी उभा करितात अगदी वळवितात। हे लोक घोड्यावर बसण्याच्या कामांत फार पटाईत म्हणून ह्याची ख्याती आहे। लढाईच्या वेळी शेतकऱ्यांस उभयपक्षांकडून कोणत्याही प्रकारचा त्रास पोचत नसे, चद्रगुमाच्या वेळी फौजेच्या सहा मार्गांची देखरेख तीस असलद्वारांचे कौन्सील नेमून त्याच्या मार्फतीने ठेवण्यांत येत असे। अशोक राजापासून “अहिंसा परमो धर्म” हे बौद्ध धर्माचे आदिर्तत्व अमलांत आल्याने बहुतेक लढाया बंद पडल्या। अर्थात् लष्कराचे महत्त्वही कमी झाले। लष्करी उन्नतिपेक्षा आत्मिक उन्नतीकडे सर्वांचे लक्ष लागले। उत्तर हिंदुस्थानांत प्रख्यात राजा हर्षवर्धन हा झाला। या चक्रवर्ती राजाने ३५ वर्षेपर्यंत लढाया सुरू ठेवून सर्व उत्तरहिंदुस्थान एक झत्राखाली आणिले। हर्यान आपल्याजवळ फार मोठी खडी फौज ठेविली होती, रयांचा लढाईत उपयोग होत नसे, म्हणून हरया राजाने रथ ठेवण्याचे प्रथम बंद केले। मनुते लढाईसंदर्भात बरीच माहिती आपल्या ग्रंथातून दिलेली आहे। किंसे कसे असावे, त्याचा बंदोबस्त कसा करावा, लढाई कोणत्या झुत सुरू करावी। लढाईमध्ये फौजेची वाटणी कशी करावी, दुष्मनाच्या फौजेत फाफिदूर कसा करावा बगैरे वगैरे लोकांची ओळख घोरणे त्याने नमूद केलेली आहेत या काळात निरनिराळ्या प्रकारची मनुष्यसंहारक हत्यारे वापण्यांत येत असत। परंतु बंदुकीच्या दारूचा शोब लागला

होता असें दिसून येत नाही। अग्निअस्त्र विश्वकर्मानें शोधून काढीले म्हणून म्हटलें आहे, परन्तु ते अस्त्र म्हणजे दारूचे फेकण्याचे बाण असावेत असे वाटतें।

६ महंमुदाच्या वेळची हिंदुस्थानची स्थिति मात्र शोचनीय दिसते। अनेक प्रसंगी रजपूत राजे एकत्र होऊन महंमुदाशी लढण्यास आले त्यांच्या फौजेची संख्या अतोनात होती। असें असतां एकाही प्रसंगां त्यांस यश मिळालें नाहीं। युद्धाची शिस्त अगाऊ ठरवून ठेवणे हे जे युद्धकलेचे महत्त्व, ते हिंदु लोकांनी हिंदु राजांचा काळ कधीही पाळिले नाही। अनेक प्रसंगी जयप्राप्ती होण्याच्या अगादी ऐन गर्दीत, सेनापति पडला अगर त्यास हत्तीवेऊन पळाला, किंवा निशाण दिसेनासे झाले, कीं हिंदु फौज भयभीत होऊन समर सोडून पळून जाई। महंमुदानें परमेश्वराची आराधनात करावी म्हणजे जय ठेविलेला असे त्याचे लोकांस वाटे, पण शौचैवीयादि गुणामध्ये पुरातन काळापासून नांवांजलेल्या रजपूत लोकांच्या हातून, महंमुदाच्या यःकश्चित् फौजेचा मोड एकदांही होऊं नये हे मोठें नवल आहे। एकंदरीत हिंदु राज्यांचा वृद्धापकाळ झाला होता; लोकांचे शौर्याचे व पराक्रमांचे दिवस गेले होते, कोण आला व कोण गेला ह्याची चाढ राहिलेली नव्हती। अंगांतीस सत्त्व निवून गेल्यामुळें जुनुभास्तव हातपाय हालवावे, अशांतली त्यांची स्थिति झाली होती। ह्याच्या उलट महंमुदाची स्थिति होती। महंमुदाचे राज्यास सुकटा आरंभ झालेला; मुसलमानी धर्माची भरज्वानी; परदेशी गेतया शिवाय स्वदेशी राहून काम भागणारे नव्हते। तेन्हां अर्थात् मुसलमानांचा तीव्र वेग वृद्ध हिंदूस सहन झाला नाही।

७ त्या वेळच्या मानाने रजपूतांचे युद्धकलेचें ज्ञान परिपूर्ण नसून, त्यांनीं नवीन युक्त्या किंवा नवीन पद्धति स्वीकारल्या नाहींत। ते जुन्यांचाच आश्रय घरून राहिले। शस्त्रास्त्रांच्या व युद्धकौशल्याच्या बाबतींत ते मुसलमानांहून फार मागे होते। सुक्तीचा किंवा काव्याचा ते आश्रय करीत नसत। नवीन युद्धकलेचा रजपूतां मध्ये अभाव होता युद्धाच्या वेळींऐन प्रसंगां ते आळशी राहत। हेर पाठवून शत्रूच्या हालचालींची बातमी आणून त्यांजवर नजर ठेवणे, राजीचे छापेघालणे, हुलकावणी दाखवून शत्रूस पेचांत आणणे, असल्या गोष्टींचा त्यांनीं अवलंब केला नाही; तसेच अनेक बारीक बाबतींची तजवीज अगाऊ लावून ठेवणे जरूर असते। आयत्यावेळीं विपरीत प्रकार झाल्यास त्याच्या प्रतिकाराचा विचार अगाऊ ठरवून ठेवावा लागतो। हे काम हिंदू राजांनीं केल्याचें दिसत नाही। त्यांच्या फौजांत सर्व प्रकारचा गोधळ व अव्यवस्था असे। गजबघी महंमूद, महंमद घोरी, अज्जलद्दीन खिलजी, तयमूरलंग, बाबर, हे सर्व कसलेले थोडे असून तत्कालीन युद्धकलेत पूर्णपणें वाकब होते। त्यांच्या तोडीचा एक ही पुरुष हिंदूच्या बाजूस दिसून आला नाही। रजपूतांचे युद्धकलेचें ज्ञान हजारों वर्षांचें जीर्ण झालेले होते। आपसांतल्या युद्धांत त्यांस त्या ज्ञानाचा कितीही उपयोग होत असला, तरी परकीयांशी त्यांचा सामना झाल्याबरोबर ते फिके पडले। युद्धकलेचा तरी बारवार अनुभव पाहिजे। बाह्य जगाशीं वरचेवर युद्धप्रसंग येऊन राष्ट्र कसत गेले पाहिजे। तसे प्रसंग हिंदु लोकांस पूर्वीं फार दिवस आले नसल्याने, मुसलमानांशीं त्यांची एकदम गांठ पडली तेन्हां त्यांचा निभाव लागला नाही।

८ युद्धकले संबंधी आगखी दुसरा एक मुद्दा असा आहे की, रजपूतांनी केवळ स्वसंरक्षणापुरताच विचार पाहिला; आपण होऊन शत्रूवर स्वार्था करून त्यांस त्यांच्या सुलखांत जेरीस आणण्याचा प्रयत्नच कोणी केला नाही। सरक्षणात्मक व अग्निघातात्मक अशी युद्धाची दोन अंगे आहेत। एकदा युद्ध सुरू झाल्यावर जरूरी प्रमाणे ह्या दोन ही अंगांचा अवलंब करावा लागतो। शत्रूच्या मूळठिकाणावर प्रहार केल्याशिवाय त्याचा निःपात होत नाही। गजबघी महंमूद किंवा

रजपूतांची युद्धकला
संरक्षणात्मक होती।

महमद घोरी ज्याप्रमाणे हिंदुस्थानावर स्वार्थ्य करीत होते, त्याचप्रमाणे जयपाळ किंवा पृथ्वीराज ह्यांनी अफगाणिस्तानावर स्वार्थ्य केल्या पाहिजेहोत्या। त्यांनी पुष्कळदा मोठमोठे जमाव करून मुसलमानांशी टक्कर मारली, पण कित्याचा आश्रय करून ते शत्रूच्या हत्य्यांची वाट पहात स्वस्थ वसत। अशा पद्धतीने मुसलमानांचे नुकास होणारे नव्हते। त्यांचा पराभव झाला, तरी डोंगरांपलीकडील त्याचे स्वतःचे राज्य सुरक्षित असे। हिंदुस्थानांत इम्रजानी आपली राज्यस्थापना ज्या पद्धतीवर केली, तीचे उदाहरण प्रस्तुत विवेचन करितांना ध्यानांत ठेवण्याजोगे आहे।

९ ह्या काळी आमच्या रजपूत क्षत्रियांची कशी दुर्दशा झाली होती, हे समजण्यास तत्कालीन रासा ग्रंथ फार उपयोगी पडतील। विशेषतः चंद भाटाचा ग्रंथ विस्तृत व वाचनीय आहे। निरनिराळ्या राजघराण्यांतील परस्पर वैमनस्ये, पैशाच्या लोभाने मुसलमान शत्रूस वातमी पोचविणाऱ्या राष्ट्रद्रोही लोकांचा सुळसुळट, रजपूत पौजाची अव्यवस्थित रचना, शत्रूकडील वातमी मिळविण्याविषयी आमच्या वीर पुरुषांनी केलेली हयगय, जातिभेदाच्या व्यवस्थेमुळे एकट्या क्षत्रियांवरच पडलेल्या दुष्टाचा सर्व बोजा, आणि इतर वर्गांच्या ठिकाणी असलेली स्वदेश संरक्षणाविषयी अनास्था, इत्यादि कारणांमुळेच इतक्या दूर अंतरावरून मुसलमानांचा रिषाव हिंदुस्थानांत कसकसा झाला, त्याची उमज ह्या रासा ग्रंथावरून पडणारी आहे। येथील शेतकरी व कामकरी कामकरी वर्ग इतक्या निकृष्टावस्थेत पडला होता की, ब्राह्मणास व क्षत्रियांस ते शत्रूसमान समजत, आणि त्यांच्या जाचणुकितून सुटका होईल तर घरी असे त्यास होऊन गेले होते अशा स्थितीत मुसलमानांशी लढण्याची सर्व भिन्न केवळ एका वर्गावर पडली, आणि ब्राह्मण, वैश्य व शूद्र हे अगदी अलिप्त राहिले। त्यास युद्धशिक्षण व शास्त्राज्ञांचा उपयोगही ठाऊक नव्हता। “देशाचे कांही का होईना, कसा तरी आपला बचाव झाला म्हणजे बस” एवढीच भावना ब्राह्मणांच्या ठिकाणी राहिली होती, वैश्यांनी द्रव्यार्जनाच्या नादी राहून आपला धनसंचय राष्ट्रकार्यास दिला नाही, शूद्रांस तर परशूच्या आगमनाने आनंदच वाटला। आपसातील वैमनस्याचा सूड घेण्याकरितां जयचंद राठोड वगैरे कित्येक राजांचे पाठवळ मुसलमानांस होते। कनोजच्या फौजेत मुसलमानांचा भरणा होता। पृथ्वीराजाच्या हालचालीची खडानखडा वातमी महमद घोरीस जयचंद कडून समजत होती।

१० पूर्वापार चालत आलेले रजपुतांचे सुद्ध संप्रदाय व वीर्यशालीपणाचे सकेत अनेक वेळां त्यासच बाधक झाले आहेत। असे सकेत लढणाऱ्या दोनही पक्षांनी पाळिले, तरच त्याचा हेतु सफल होतो। नाहीतर एकट्यानेच पाळिले असता ते पाळणारास बाधक होतात। उदाहरणार्थ, समरांगणी पराभव झाला रजपुतांनी ‘जशास तसें’ असता, शत्रूस पाठ दाखवून परत यावयाचे नाही. अथवा शरण आलेल्या शत्रूचे पारिपत्य करावयाचे नाही, हे रजपुतांचे संकेत प्राचीनकाळी त्यांस कितीही सन्मान्य वाटले, तरी मुसलमानांशी झगडण्यांत त्यांजपासून रजपुतांचे नुकसानच झाले आहे, हे जयपाळ पृथ्वीराज इत्यादि-फांच्या गोष्टीवरून व्यक्त होईल सचक्कीन हाती लागला होता त्याचवेळी त्यास जर पृथ्वीराजाने ठार केला असता, तर पुढील भयंकर प्रसंग त्याजवर ओढवला नसता। एकवार पराभव झाला असता गोबळून न जाता व्यवस्थितपणे फौजेस परत आणून, पुनः सर्व युद्धाची सर्व तजवीज नीटपणे लावून शत्रूस जिंकाने, ते सोदून घेऊन रजपुतांनी आपल्या सन्मान्य सक्तेसां अनुसरून अनेक प्रसंगी वायकासुतांची कत्तल करून धाराविषी मोक्षपद मिळविले आहे। पडता काळ आला असता युक्तीने स्वसंरक्षण करून कावेबाजपणाने शत्रूस जिंकण्याचा अवश्य मार्ग आरमी आरमी तरी रजपुतांनी खोकारिला नाही। उदात्त व वीर्यशाली वर्तन, वशाच प्रकारचा सामने

वाला असेल तरच फायदेशीर होते, नाही तर प्रसंग पडेल शीख तजवीज ठेवणे भाग आहे। रणजितसिंगाचा सेनापति हरिसिंग ललबा याने अफगाणिस्तानांत गोमांसाचे, डुकराचे मांस कसे करून दाखविले याजबद्दलची हकीकत शीखलोकांच्या प्रकरणांत दिलेली आहे। त्याप्रमाणे जशास तसे वर्तन ठेवल्याशिवाय अशा कामी निभावणूक नसते।

११ आरंभीच्या शंभर दीडशे वर्षांत विजयनगरच्या राजांची सत्ता व ऐश्वर्य बहामनी राज्याच्या मानाने फारच मोठे होते। पण ह्या हिंदु राज्याच्या पायास न्याय व नीति ह्यांची भर नव्हती पुष्कळसा धनसंचय करून रोषआराम व

विजयनगरच्या

राजांची स्थिति

चैन करावी, इकडेच बहुतेक राजांची व दरबारी मंडळींची विशेष प्रवृत्ति होती। समो-

बाराची परिस्थिति ओळखून तदनुसार आपली राजव्यवस्था करण्यास लागणारी उदार व

उच्चतर दृष्टि राजकर्त्यांकी कोणाच्याच ठायीं असलेली दिसत नाहीं। बहुतेक राजे विषयी

व खीलंपट होते। त्यांचे लक्ष सदां चैन करण्याकडे असे। प्रांतिक कामदारांस नेहमी असे हुकूम दिलेले असत की,

कोठेही सुद्ध किंवा विशेष देखणी सुलगी आढळून आली की, लगेच तीच्या आड्बापांच्या संमतीने ती राजाकडे

पाठवून थावीड्हा हा प्रघात राज्यांत विशेष जाचक झाला असेल हे सांगणे नकोच। राज्यांतील बऱ्याचशा व लढायावधुतेक

भानगडी अशा स्त्रीविषयक कारणांनीं उदबलेल्या होत्या बायकामुलांची मानहानि सहन करण्यापेक्षां लहूत जीव गेले ला

बरा, अशा प्रकारची उत्तरेतील रजपुतांची उच्च भावना, दक्षिणेतील झारजांच्या मनास कधीं शिवली नाही। पुष्कळसे

द्रव्य दिले म्हणजे आपणांस पाहिजे ती गोष्ट अनुकूल करून घेतां येईल, अशीच त्यांची नेहमी समजूत होती।

१२ शीख फौजेची शिस्त व लष्करी तयारी रणजितसिंगाच्या वेळीं कंपनी सरकारचा फौजेसारखीच्यो होती।

पायदळाचे खरे महत्त्व ह्यास चांगले समजले होते। यूरोपियन अमलदार नेमून आपल्या फौजेस ह्याने नवीन तऱ्हेचे

शीख शिपाई लष्करी शिस्त दिले होते। इंग्रज सरकारची दोस्ती ठेवण्यांतच आपल्या राज्याची चळकटी

आहे, हे रणजितसिंगास पक्के साहित होते। महाराजा रणजितसिंग मरण पावतांच फौजेत

गोधळ सुरू झाला। यूरोपियन अमलदारांस फौजेतून कमी करण्यांत आले। पराक्रमी, करारी व धोरणी राजा अगर

सेनापति नसल्याने फौज शिरजोर झाली। इतक्या उघ्यास आलेली शीख फौज, पुढे चांगल्या राजाच्या व सेनापती-

च्या अभावी बेलगामी झाली। कोणाचा पायपोस कोणाच्या पायांत राहिला नाही। राजवाड्यांत चाळू असलेल्या

नीतिमत्तेच्या अभावाचा परिणामही शीख फौजेवर झाला। महाराजा रणजितसिंगाने स्थापन केलेले शीख लोकांचे

राज्य फौजेच्या बहुकमीपणामुळेच लयास गेलें। शीख शिपाई उत्तम लढवऱ्या, ह्याची जाणीव कंपनी सरकारास होती

म्हणून शीखांचे राज्य खालसा करवांच शीख लोकांस आपल्या फौजेत त्यांनी दाखल केले। तयार असलेल्या साधनांचा

इंग्रजांस पुढे फार फायदा झाला। रणजितसिंगाने केलेल्या प्रयत्नांचे फळ इंग्रजांस मिळाले। इंग्रजी फौजेमध्ये शीख

शिपायांची गणना उत्तम लढवऱ्यांत करण्यांत येत असते। बेलगामी शीख शिपाई इंग्रजी फौजेत शिस्तीचा दास बनला।

सर्व अकलेचे काम।

१३ हिंदुस्थानांत सुसलमानांचे राज्य, गुलामवंशांतील कुत्सुहीन ह्याने प्रथम स्थापन केले व दिल्ली ही त्याने आप

राजधानी केली। गुलामवंशानंतर खिलजी घराणे दिल्लीच्या तत्त्वावर आले। या घराण्यांत अज्ञातहीन खिलजी,

हा प्रख्यात व शूर सुलतान झाला। ह्याने देवगिरीच्या लुटीत मिळविलेल्या द्रव्याचा

मोगल बादशहाशिवाय

इतर सुसलमान राजांचा

काल।

उपयोग आपल्या फौजेची सुधारणा करण्याकडेस केला। मोगलांच्या स्वारीस टक्कर देऊन

त्याने त्यांस पळावयांस लाविले। पद्मिनीकरितां ह्याने चितोडगडास वेढा घालून चितोडगड

घेतला, परंतु पद्मिनी मात्र मिळाली नाही। दिल्ली येथे ह्याने एक मोठा किल्ला बांधला।

मोगलांच्या स्वारीपासून हा पुष्कळ अकल शिकला । नवीन तोफा श्रोतण्याचा व हत्यारे तयार करण्याचा कारखाना ह्याने सुरू केला । फौजेचे पगार कायम केले, व धान्याचे भावही नक्की ठरविले होते । खिलजी घराण्यानंतर तुघलख घराणे दिल्लीच्या तत्कावर आले । या घराण्यांतील “अचाट कल्पनांचा” वादशाह महमद तुघलख हा प्रसिद्ध आहे । चीनवर स्वारी करण्याकरितां ह्याने एक लाख फौज पाठविली होती, परंतु त्यापैकी फक्त १० इसमच परत आले, तसेंच तुर्कस्थान व इराण जिंकण्याकरितां याने मोठी फौज तयार केली होती । ह्याच्या पदरी नऊ लाख घोडवळ होते असे म्हणतात । तुर्की घोडवळाचे घोडे उत्तम जातीचे होते । फौजेची हजरी वादशाह स्वतः घेई, व, सर्व फौजेस पगार सरकारी तिजोरीतून मिळत असे । तुघलख घराण्यानंतर दुसरे वादशाह झाले, परंतु ते सर्व दुर्बल होते । दक्षिणे-मध्ये मुसलमानांचे वहामनी राज्य उदयास आले । ह्या सुलतानाजवळ फार मोठी खडी फौज रहात असे । फौजेस पगार इंग्रजी फौजेच्या पगारपेक्षा जास्त मिळत असे । गुजराथमध्येही महमद बेगडा व बहादुरशाह हे फार शूर सुलतान झाले । गुजराथच्या सुलतानाच्या फौजेत ढाख, दोन तरबारी, खजीर, गढा व तुर्की वीरकमठे वापरीत असत । शिपाई लोक अंगात चिलखते अगार कापूस घातून शिबलेले जाड कोट घालीत असत । ह्या सुलताना जवळ उत्कृष्ट तोफगाना होता व तोफा श्रोतण्याचा कारखानाही होता । दक्षिणेमध्ये वहामनी सुलतानानंतर हैदरअली व टिपू सुलतान हे प्रख्यात मुसलमान राजे झाले । हैदरअलीने कवायती फौज ठेविली होती, व त्याच्या मुलाने ह्या फौजेची फारच सुधारणा केली होती । त्यांनी आपल्या फौजेत फ्रेंच असलदार नोकरीस ठेविले होते । ह्यांच्या लढाईच्या युक्त्या फारच सुधारलेल्या होत्या । टिपू सुलतानने परेत कवायतीचे एक पुस्तक तयार केले होते । कवायतीचे फ्रेंच शब्द बदलून ते पर्शियन व तुर्की केले होते । तोफा श्रोतण्याचा कारखानाही काढिला होता । हिंदुस्थानांतील इतर राजांप्रमाणे तरबारीवर व भाल्यावर भिल ठेवणारा टिपू सुलतान नव्हता तोफांचेच । बंदुकांचे खरे महत्त्व त्यास समजले होते । त्याच्या तोफखान्यांत हाविट्स्मर जांबीची तोफही होती । दोन नळी व तीन नळी बंदुकाही त्याचा कारखान्यांत तयार होत असत । बंदुकीची गोळी आरपार जाऊ नये अशा प्रकारच्या ढालीही तयार करण्यांत येत असत ।

१४ मोगल बादशाहानी युद्धकला हिंदुस्थानांत उज्जित द्योस आणिली । पूर्वीचे हिंदु राजे सेनांचे मालक होते, पण नायक नव्हते । लाखो लोकांची फौज व्यवस्थितपणे वागवून व तिजवर हुकमत चालवून काम घेणे, ही गोष्ट मोगल बादशाहानीच केली । खरे युद्धकलानैपुण्य दाखविण्याचे प्रसंग बादशाहांमधेच आले । बहुधा मोगल तियासतीचा फाल प्रत्येक वायतीत मोगल लष्कराची व्यवस्था परिपूर्ण होती । लष्कराच्या सोयीचे रस्तेही सर्व देशभर मोगलांनीच बांधिले, तसेच राहतासमोवती मजबूत तटबंदी करून बंदोबस्त करण्याची पद्धत, जरी पूर्वी येथे ठाऊक असली, तरी ती तत्कालीन सुधारणांनी परिपूर्ण करण्याचे काम मोगलांनीच केले । आग्रा, दिल्ली, अहमदाबाद, मुगल, लाहोर, अलाहाबाद इत्यादि धाटेले तितक्या शहरांची उदाहरणे ह्यासवधी देता येतील । मोगल बादशाह्याच्या वेळी बोंडेस्वायचे साहाय्य वाढून, पायदळ फौज निकामी ठरली । हिंदुस्थानांत प्रथम तोफांच्या उपयोग वावरने केला । मुसलमान लोकांस तोफांच्या व बंदुकीच्या दारूची माहिती झालेली होती । ह्याच्या लष्कराची शिग्न फारच उत्तम होती । शिपायांप्रमाणे डाढी थडीवाऱ्यात पडून रहात असे । त्याने आपल्या फौजेस उभे प्रतीचे लष्करी शिक्कण देऊन तयार केले होते । अकबर बादशाहाने लष्कराची रचना व व्यवस्था फारच उत्तम रीतीने ठेविली । बादशाही फौजेमध्ये मुसलमानांची व रजपुतांची, अग्रा दोन्ही जातींच्या फौजा होत्या । बादशाही मनसबदारी मध्येच उमरावांमध्ये दोन्ही जातींचे लोक होते । रजपूत राजेलोकांनी शरीर सर्वव करून, त्याम त्यानी आपलेमें केले होते । शिपायांपासून मनसबदारी पर्यंत सर्वांचे पगार नक्की करण्यात आले मोने । मोटमोठ्या

मनसबदारांस जहागिरी देण्याची पद्धत याच बादशाहाने सुरू केली । अशा जहागिरी रजपूत मनसबदारांस फार देण्यांत येत असत । कित्येक मुसलमान मनसबदारांसही जहागिरी देण्यांत येत असत । या जहागिरीच्या पद्धतीनेच मनसबदार पुढे बलाढ्य झाले, व मोगल बादशाहीच्याउत्तरत्या काळांत स्वतंत्र झाले । फौजेतील सर्व घोडयांस बादशाही डाग देण्यांत येत असे । मानाच्या पदव्या देण्याची चाल मोगल बादशाहीच्या वेळी अंमलांत होती । घोडदळ, पायदळ व तोफखाना, ह्याप्रमाणे फौजेचे तीन प्रकार होते । तरी लढाईमध्ये सर्वभिस्त घोडदळावरच असे । घोडदळाचा मान पायदळापेक्षा फार होता । या तिन्ही प्रकारच्या फौजेमध्ये हल्लीं प्रमाणे रेजिमेंट ब्रिगेड, डिव्हिजन असे ठरीव भाग नव्हते । मनसबदार लोक खोटीहजरी दाखवून पगार उपटीत असत । तोफा तयार करण्याचा कारखाना अकबर बादशाहाने ठेविला होता । पुढे पुढे फ्रेच, पोतुगीज वगैरे लोकांकडून सुद्धां तोफा विकत घेण्यांत येत असत । तोफांस चढतकलून वैलांच्या जोड्या जोडीत असत । कांही हलक्या तोफा असत त्यांस घोडे जोडीत असत ।

१५ प्रथम सुखातीस लढाईमध्ये हत्तीचा उपयोग करीत असत परन्तु पुढे हत्तीचा उपयोग मुख्य सेनापतीस वसण्याकरितां व राजभेडे नेण्याकरितांच करूं लागले । बादशाही जनाना व सामान नेण्याकरितांही हत्तीचा उपयोग करीत असत । बंदुकांचा उपयोग लढाईत होऊं लागल्यापासून हत्तीस कोणीही लढाईत नेत नसत । निरनिराळ्या जातीचे लोक आपापल्या रिवाजप्रमाणे पोषाख करीत असत । आपली फौज सोडून दुष्मनाच्या फौजेस मिळणाऱ्या लोकांस देहांत शासन देण्यांत येत असे । शिपायास कोणत्याही प्रकारचे कवायतीचे शिक्कण दिले जात नसे परन्तु प्रत्येक शिपाई स्वतंत्रपणे कसरत करून आपल्या शरीराची जोपासना करीत असे । लढाईमध्ये सांपडलेल्या लोकांची कत्तल करून त्यांच्या शिरकमलांवर मनोरे बांधण्याची दुष्ट चाल मोगल बादशाहीत होती ।

१६ आरंभी मोगल लोक हे साहसी व खोन्नति प्रित्यर्थ भटणारे होते, परन्तु त्यांस स्वास्थ्य मिळूं लागल्या बरोबर ते चैनी व आळशी बनले । बाबर बादशाह दोन दिवसांत घोड्यावर १६० मैल मजल करून गंगानदीतून दोन वेळ पोहून गेला । त्याच्याच पांचवा बंशज औरंगजेब तत्कावर अस्तां दरबारच्या मोगल बादशाही रसातळास जाण्याची कारखे लोकांस सडु मलमलीचा पोषाखसुद्धां जड वाटे । बादशाहाच्या स्वारीबरोबर प्रवासांत असतां ते लोक पलंगावर निजून रहात व नोकर त्यांस पलंगासकट वाहून नेत । आणि मुक्कामावर पोचल्या बरोबर भोजन त्यांची वाट पाहत तयार असे । अश्या ऐदी व मिजासी लोकांची दक्षिणेंमध्ये कांदा भाकर खाणाऱ्या चपळ मराठयांनी त्रेधा उडवून दिली यांत कांही नवल नाही । मराठयांचा झपा झाला म्हणजे जामानिमा घालण्यांत व दाढी मिशीची कंगई करण्यांतच या लोकांचा पुष्कळ वेळ जात असे । “अल्ला, अल्ला, या तोबा, ये मराठे कैसे सैतान है” असे म्हणून घोड्यावर स्वार होईपर्यंत मराठे निघून ही जात असत । मोगल बादशाही नाही-शी होण्यास मुख्य कारण फौजेची बरोबर तयारी नव्हती व फौजेमध्ये शिस्त बिलकुल राहिली नव्हती । फौजेमध्ये राजनिघेचा अभाव होता व स्वाभिमान अगर देशाभिमान बिलकुल नव्हता, कांही मुसलमान फौजेचे बादशाही तत्कावर प्रेम होते, परंतु मोठो संख्या हिन्दूंचो असल्याने बरोल प्रेमाचा कांही एक उपयोग झाला नाही । औरंगजेबानंतर कोणीही खंदा वावडा दिल्लीच्या तत्कावर वसला नाही । त्यामुळे मोगल बादशाही लवकरच उधावईस आली । प्रत्येक स्वारास आपला घोडा भरावा लागत असल्याने तो त्याची फार काळजी घेत असे । घोडा लढाईत मेला की आपले कायमचे त्यास माहित असे । म्हणून तो शूर शिपाई असला तरी आपला घोडा वचविण्याकरितां लढाईत

कुचराड करीत असे। लष्करी शिक्षण व शिस्त याचा अभाव व सरजामी पद्धत यासुळेच मोगल बादशाही रसातळास गेली असेही कित्येकांचे म्हणणे आहे।

१७ श्री छः शिवाजी महाराजांनी मराठी राज्याची स्थापना केली। पूर्वीच्या हिंदु राजांची व थवनी बादशाहांची पद्धत लक्षांत घेऊन व त्यात स्वतःच्या अनुभवानें योग्य त्या सुधारणा करून, महाराजांनी आपल्या फौजेची रचना व व्यवस्था केली होती। त्यांच्या फौजेचे घोडदळ व पायदळ असे दोन मुख्य भाग होते। श्री छः शिवाजी महाराजांचा काळ तोफखाना त्यांचेजवळ फार थोडा होता। गनिमी कान्याने, डोंगराळ मुलखात त्यास लढावें लागत असल्याने त्यांना तोफखान्याची जरूरीही मासत नसे। डोंगरी किल्ल्यावर मात्र तोफा ठेवण्यांत आल्या होत्या। तोफा बहुतकरून, इंग्रज, फ्रेंच व पोर्तुगीज व्यापारांकडून खरेदी करण्यांत येत असत। तोफा अगर बहुता तयार करण्याचा कारखाना नव्हता। सुरवातीस मावळे लोकांच्या पायदळ फौजेवर लढाईचें काम मागत असे, परंतु पुढे राज्यवृद्धी जास्त झाल्यावर व मुसलमानांच्या मोठमोठ्या फौजांबरोबर सामने करण्याचे प्रसंग येऊ लागले तेव्हां, घोडदळ ठेवणे भाग पडलें। घोडदळांत वारगीर व शिलेदार असे दोन प्रकार होते। हीन पद्धत हल्लीच्या इंग्रज सरकारच्या देशी फौजेतही आहे। घोडेस्वारास चांगला पोषाख देण्यात आला होता। तरबार भाला व ढाल ही घोडेस्वाराची मुख्य हत्यारे असत। हत्यारे न्यानी त्यांनी आपल्या पदवीच्या आणावी असा नियम होता, दाखुगोला मात्र सरकारातून मिळत असे, सेक्शन, ट्रूप, स्कॉडून, रेजिमेंट, ब्रिगेड ह्या अर्वाचीन लष्करी पद्धतिप्रमाणें घोडदळाची रचना होती, व त्यावर लहान मोठे अमलदार मुकर केलेले असत। प्रत्येकाच्या पगाराचा एक नक्की केलेला असे। पायदळात मावळे आणि हेटकरी हेच लोक नोकर असत। प्रत्येक पायदळा जवळ ढाल, तरबार व बटुक ही तीन हत्यारे असत। पायदळांत सुद्धा लहान मोठ्या तुकड्या असून त्यांच्यावर नाईक, हवालदार, जुमलेदार, हजारी वगैरे अंमलदार असत। ह्या लष्कराशिवाय महाराजांच्या खास जिल्ह्याची फौज निराळी होती। फौजेत भरती महाराजांच्या पसतीने केली जात असे, व प्रत्येक इसमाने जुन्या शिपायाची नामीनकी घ्यानी लागत असे।

१८ महाराष्ट्रांतील लढाईच्या सैन्यरचनेच्या कसबाची सर्व मगार डोंगरी किल्ल्यावर असे, म्हणून अशा डोंगरी किल्ल्यावर महाराजांनी फारच उत्तम व्यवस्था ठेविली होती। पावसाळ पुरा झाला की, घोडदळास परमुलखांत स्वारी करण्यास पाठविण्यांत येत असे। ह्याच हेतु हा असे की, घोडदळाचा आठ महिन्यांचा शिवाजी महाराज फौजेचा खर्च, परमारे शत्रूच्या मुलखातील लुटीवर भागविण्यांत यावा व फौज नेहमी लढाईच्या उपयोगास कायत असत कामी तयार रहावी। स्वारीस जाणऱ्या लष्करा पैकी कोणीही इसमाने आपली बायको, बटोक किंवा कलाबतीण बरोबर घेऊ नये व स्वारी बरोबर कलाल नसावे अशी सक्त ताकीद असे। हा नियम तोडणारास वेद्दात शासन देण्यांत येत असे किती सक्त शिस्त। स्वारीस निघण्यापूर्वी सर्व फौजेची महाराज स्वतः तपासणी करीत असत। स्वार, घोडा व त्याचे सामान बरोबर आहे की नाही हे पाहण्यांत येत असे। हल्लीच्या मोबिलीकेशन इन्स्पेक्शन सारखीच ही तपासणी होती। जहागिरी देण्याची पद्धत महाराजांनी अगदी बंद केली होती। सर्वांस लाबकीप्रमाणे रोकड पगार देण्यांत येत असे। वरा परपरा एकाच हुद्यावर कोणासच ठेवण्यांत येत नसे। कर्तबगारी दाखवावी आणि बद्दलती मिळनावी असा प्रकार होता। प्रत्येक किल्ला, व छावणी व स्वारी यांतील अधिकाऱ्यांवर नजर ठेवण्याकरिता हेर ठेविले होते। शत्रूकडील बातमी काढण्याकरिताही इंटेलिजन्स डिपार्टमेंट होते। महाराज स्वतः उत्तम लढवय्ये होते। वेढ्यां हातांत पट्टे चढवून लढाईच्या अगदी गर्दीत ते घुसत असत। यासुळे

त्यांच्या फौजेची त्यांच्यावर नेपोलियन बोनापार्टा प्रमाणे भक्ति होती। महाराज बक्षिसें देण्यांत ज्याप्रमाणें उदार होते, त्याच प्रमाणे कोणाही कामांत कसूर केली तर त्यास सक्त शासन देण्यांत ते पुढेमार्गे पहात नसत।

१९ डफ व एल्फिस्टन यासारखे मराठेशाहीचे इतिहासकार, यांचे म्हणणे असे होते की, मराठ्यांचा उदय सत्ताधि पर्वतावरील बाळलेल्या गवतांत अकस्मात उद्भवणाऱ्या वणव्याप्रमाणे होता। या वणव्याचा व्याप्रमाणे आधीं कांहींएक मागमूस नसतो, पणतो एकदम पेट घेतो व त्याचा क्षणाधीत जिकडेतिकडे मराठ्यांचा उदय कसा काळा फैलाव होतो व तो वणवा लवकरच विलयास जातो। तीच तऱ्हा मराठ्यांच्या राजकीय उदयाची आहे। शिवाजीपासून या राजकीय उदयास एकाएकी प्रारंभ झाला। योडयाच काळांत मराठेशाहीचा सर्व हिंदुस्थानभर विस्तार झाला व योडयाच काळांत देशाचा विलयही झाला। डफ साहेबांचे हे मत त्यावेळी सर्वसंमत असे समजले जात असे, पण न्यायमूर्ती रानडे यांनी आपतया “मराठ्यांच्या सत्तेचा उदय” या ऐतिहासिक ग्रंथांत मत खोडून काढिले आहे।

२० पेशवाईच्या अमदानीत, श्री० छ० शिवाजी महाराजांनी केलेली लष्कराची रचना व व्यवस्था पुढे चालविण्यांत आली नाही। सातारकर राजेपेशव्यांचे मालक न राहतां त्यांच्या कैद्या सारखे राहिले। पेशव्यांसवस्त्रे देण्यापुरतीच त्यांची नांवाची सत्ता राहिली, बाकी सर्व सत्ता संयुष्टांत येऊन पेशवेच सर्व मराठी पेशवाईच्या अमदानीचा काळ राज्याचे मालक बनले। पेशव्यांनीं सरंजामी पद्धत सुरू करून आपल्या हाताखालील सरदारांस मोठमोठ्या जहागिरी दिल्याने ते स्वतंत्रपणे वागू लागले। भोसले, शिंदे, होलकर, गायकवाड, पवार वगैरे मोठमोठे सरदार मोठमोठ्या लढाऊ फौजा बाळगून मुलुखगिरी करीत असत। पेशव्यांची खडी फौज अशी दहापांच हजारांवर नव्हती। मराठी फौजेत पायदळपेक्षां घोडदळाचा भरणा अधिक होऊ लागला। गनिमी काव्याने मैदानांत लढण्याच्या पद्धतीला घोडदळाचाच उपयोग जास्त होऊ लागला, त्यामुळे पायदळ मार्गे पडले। खडी पायदळ फौज व पागा ही बारमहा नोकरीत असे, परंतु शिलेदार वगैरे इतर फौज तात्पुरती जमविलेली असे। तिच्या नोकरीस ठराविक मुदत नसे। मुलुखगिरीवर फौज निघाली म्हणजे हे लोक येऊन सामील होत व मुलुखगिरी संपून फौज परत फिरली म्हणजे हे लोक आपआपल्या गांवी परत जात। यांच्यामध्ये शिस्त बिलकूल नव्हती। भरतीकरिता केव्हाही माणसांची अगर घोड्यांची खोद नसे। शिपाईगिरी हा त्यावेळच्या मराठ्यांचा पेशाच झाला होता। बंदुका व तोफा मराठे करीत असत, परंतु त्या चांगल्या होत नसत। ही हत्यारे इंग्रज फौज व पोर्तुगीज व्यापार्यांकडून विकत घेत असत। तोफांची व बंदुकांची दारुही चांगली होत नसे। मराठ्यांच्या स्वारी बरोबर तोफखाना असे, परंतु त्यांची सारी मिस्त घोडदळावर असे। कवायती पायदळाचा व तोफखान्याचा उपयोग प्रथम पानिपतच्या लढाईत मराठ्यांनी केला। पुढे कवायती फौजेची ही पद्धत, महादजी शिंदाने तर चांगलीच यशस्वी करून दाखविली। महादजीने ही कला युरोपियन लोकांपासून उचलली। त्याची महलाकांता मोठी असल्याने लष्करी सामर्थ्याचे हे साधन त्याने ताबडतोब उपयोगांत आणले, व डिबाईनच्या हाताखाली त्याने कवायती कंपू तयार करविले। हत्यारे व तोफा अंतर्गत्याचा कारखाना शिंदाने आग्रयासा काढिला। बडगांव व खर्डा येथील लढायांत या कवायती कंपूचा उपयोग विशेष झाला। या कंपूत मराठ्यांशिवाय अठरापगड जाती होत्या। “मराठ्यांच्या खालचा घोडा ज्या दिवशी निघून गेला, त्या दिवशीच त्यांचे राज्य गेले” असे एकाने म्हटले आहे। मराठ्यांनी गनिमी काव्याची युद्धपद्धति टाकून कवायती पद्धति स्वीकारली ही गोष्ट त्यांच्या फायद्याची झाली नाही असे पुष्कळ लोकांचे म्हणण आहे। मुख्य सत्ता कमजोर

फाल्गुने सरदार स्वतंत्र झाले। जो तो आपआपल्या पुरता पाहू लागला, यामुळे मराठी साम्राज्याचें तुकडे तुकडे झाले। श्री०छ० शिवाजी महाराज, पहिले बाजीराव पेशवे व महादजी शिंदे ह्यांच्या मराठी साम्राज्य स्थापनेच्या च्या महत्त्वाकांक्षा होत्या त्या रसातळास गेल्या। इंग्रजासारख्या परकीयांचा प्रवेश हिंदुस्थानांत होण्यास एकच्या मराठ्यांचाच काय तो अडथळा होता तो अडथळा मराठा साम्राज्याचे तुकडे झाल्याने नाहिस झाला।

२१ मराठा शिपायाने आपला दरारा सर्व हिंदुस्थानभर वसविलेला होता। त्याने मोगल पातशाही नामधारी पातशाही केली, अफगाणांना खडे चालून अटकेपार घालवून दिले, रोहिल्यांची रंग जिरविली, आणि शूरपणामध्ये सान्याजगांत गाजलेले जे रजपूत, त्यांस आपल्या ताटाखालची मांजरे वनविली। रजपूत मराठ्यांची महुं मकी' कवी कपटाने लढणारे नव्हते, परंतु मराठ्यांशी लढताना ते इतके जेरीस आले की, त्यांनी आपली धर्म युद्धाची परंपरा सोडून जयाप्पा शिंद्याचा कपटाने मारेकऱ्याहून खून करविला। मराठे गनिमी काव्यांत पटाईत होते, तसेच समोरासमोर दोन हात करण्यांत ही कोणाला हार जाणारे नव्हते। त्याच्या तरवारीचे पाणी व भाल्याची फेक यांना अफगाण व रजपूत हे चांगल्या रीतीने ओळखीत असत। फिरग्यांनाही मराठ्यांच्या शौर्याची ओळख वसईच्या वेदयांत व अन्य प्रसंगी चांगल्या रीतीने पटली होती। परंतु मराठेशाहीचा अंत झाल्यावर मराठ्यांना वॉईट दिवस आले। त्याच्या तरवारीला गज चढू लागला व त्याच्या चात्रतेजाला प्रोत्साहन मिळोनासे झाले। पुढे इंग्रज सरकारच्या देशी फौजेत मराठे नोकर राहू लागले मुंबई सरकारचे चीफ सेक्रेटरी मि० पी० आर० कॅबेल यांनी "मराठा शिपाया सवधी" तारीख २६ फेब्रुवारी सन् १९१९ मध्ये अन्वर्थो पोलॉजिकल नावाच्या मुंबईतील वजनदार संस्थे पुढे एक निवड वाचला। त्यामध्ये त्यांनी मराठा शिपायाची फारच तारीफ केली आहे। मराठा शिपाई देखने मे दव्जू नाही। तो पठाण किंवा शिख शिपाया प्रमाणे धिप्पाड किंवा मजबूत वांच्याचा दिसत नाही। त्याचा पोषारव भपकेदार नसतो। "जी हुजूर" "जी गरीब परवर" अशी दरवारी थाटाची अदवशीर हिंदुस्थानी मिठास भाषा तो बोलत नाही, म्हणून इंग्रजी फौजेमध्ये मराठ्यांची भरती कमी करण्याकडे कल होऊ लागला। बालू महायुद्धांत "मरेने पण हटणार नाही व "मराठा" हे नांव खरे करीन," अशा प्रतिज्ञेने तो रणांगणावर लढला। महाराष्ट्रांत सैन्य भरतीचे काम जोराने सुरू झाले तेव्हा पुन्हा मराठे सार्वभौम सरकारास मदत करण्यास पुढे आले। मोठमोठे लष्करी अमलदार मराठा शिपायाचा पराक्रम, धाडस, हुषारी, कावेबाजपणा, काटकपणा, चिकाटी, इमान इत्यादि विषयी चोहोंकडे बोलबाला करीत आहेत। फ्रान्स, मेसापोटेमिया, ईस्ट आफ्रिका, इजिप्त, पॅलेस्टाईन वगैरे देशांतल्या रणांगणांमध्ये मराठ्यांनी आपले चात्रतेज प्रत्येकाला आपून दिले। जर्मनांना आणि तुर्कांना जेरीस आपणण्याच्या कामी मराठ्यांनी उत्कृष्ट सहाय्य केले। मराठ्यांच्या लष्करी वाण्याची परंपरा फार जुनी आहे। त्याच्या चात्रतेजावद्दल नुसती कागदावर अगर भाषणांत बोलबाला करून त्यांचे समाधान होणार नाही। इंग्रज सरकारास जर ह्या लष्करी वाण्याच्या लोकांचा सारा उपयोग करून वेणे असेल तर यांच्यातील सुशिक्षित मराठ्यांस लष्करी कॉलेज मध्ये शिक्षण देऊन सरकारने या तरुण मराठ्यांस लायक करून सडळ हाताने फौजेमध्ये वरिष्ठ अंमलदारांच्या जागा देऊन, त्यांची वृज करण्याचे योग्य होईल। प्रत्येक मराठा जातीने शिपाई आहे। लष्करी पेशा हा मराठ्यांचा आवडता पेशा आहे। त्यांच्या नैसर्गिक गुणाचे चीज होण्यास त्यांस सधी व उत्तेजन मात्र दिले पाहिजे।

शिवाजी का क्षत्रियत्व

श्री० बालकृष्ण एम० ए०, पी०एच० डी०, कोल्हापुर

बृहत्तर महाराष्ट्र के संस्थापक शाहजी भोसले का वंश सीसोद के सूर्य वंश से जुड़ा हुआ है। राजपूताना में चित्तौड़ और जयपुर तथा दक्खन में कोल्हापुर और मुघोल के राजाओं का परस्पर रिश्ता था और वह सम्बन्ध अब तक भी चला जाता है। मुघोल के सरदारों को बहमनी और आदिलशाही बादशाहों से शिवाजी की पूर्व पीढ़िका जो फारसी सनदें मिली थी, उन से भोसलो का मूलतः राजपूत होना निःसंशय रूप से सिद्ध हो गया है। सात पीढ़ियों तक वे 'राणा' नाम से प्रसिद्ध थे। यह उपाधि १४७ ई० में भीमसिंह के समय में राजा नाम से बदल दी गई। उस साल से मुघोल के शासकों ने 'राजा घोरपड़े बहादुर' यह विरुद्ध धारण किया और दूसरी शाखा; देवगिरि जागीर के जागीरदार, भोसले नाम से प्रसिद्ध रहे। भोसले शब्द ही उन का भास्वत कुल या सूर्यवंशी होना सूचित करता है। दक्षिण में उन्होंने प्रचण्ड पराक्रम और उग्र वीरता के काम किए थे; इस लिए भी उन को 'भृशबल' व भोसले कहते थे। पुराणों ने यह सिद्धांत प्रचारित किया कि कलियुग में केवल दो ही वर्ण हैं—एक ब्राह्मण और दूसरा शूद्र; क्योंकि सच्चे क्षत्रिय और वैश्य विलुप्त होगये हैं। इस कारण दक्खन में क्षत्रिय भोसले ब्राह्मणों की परिभाषा के अनुसार शूद्र हो गये। ब्राह्मणों के इस बदमूल विश्वास ने शिवाजी को क्षत्रिय राजा की तरह वैदिक रीति से राज्याभिषेक कराने के अयोग्य ठहरा दिया। यह प्रचलित विश्वास तात्कालिक एक डच-पत्र में प्रकट होता है। उस में लिखा है कि "राज्याभिषेक से ८ दिन पहले २९ मई १६७४ ई० को शिवाजी को क्षत्रिय बताया गया। उसी दिन वे ब्राह्मणों के समान हो गये; क्योंकि अन्य ब्राह्मणों के विरोध करने पर भी गंगाभट्ट ने उन के सामने वेदमन्त्रों का पाठ किया।" यह स्मरण रखना चाहिए कि १७ वीं सदी के ब्राह्मणों का राजपूतों को क्षत्रिय मानने से इनकार करना उन के दार्शनिक ऐतिहासिक पूर्व-गिदी और उच्च-वंश को नहीं बदल सकता। शिवाजी के मूल पुरुष भोसलो का सम्बन्ध सीसोदिया से है और इस कारण वे राजपूत कुलों में सर्वश्रेष्ठ हैं।

शिवाजी महाराज के पूर्वज किस वंश के थे, इस की खोज में कई ऐतिहासिकों ने मनगढ़न्त कल्पनाओं और कहानियों का सहारा लिया है। इस रोग से मुसलमान, पुर्तगाली डच और अंग्रेज ऐतिहासिकों में से कोई भी अछूता नहीं बचा है। मुगल साम्राज्य और बीजापुर की आदिलशाही के प्रसिद्ध क्रांतिकारी ऐतिहासिकों की शिवाजी की नीच वंश का सिद्ध करने में मुस्लिम ऐतिहासिकों ने कुछ उठा नहीं रक्खा है। आन्त धारणा शिवाजी के महत्त्व को कम करने और उन को एक साधारण किसान का लड़का सिद्ध करने के उद्देश से उन्होंने निराधार काल्पनिक कहानियाँ गढ़ी हैं। अज्ञानवश कुछ लोगों ने इन निराधार बातों को तथ्य के रूप में मान लिया और अपनी पुस्तकों में भी इसी मत को स्थान दिया। जैसे फादर नवराट (१६७०) ने शिवाजी को एक मुगल लिखा है। इसी तरह Relation ou Journal d'un voyage fait aux Indes Orientales एक फ्रेंच लेखक ने भी महाराज शिवाजी को मुगल-सम्राट् का रिश्तेदार बनाया है। गाढी लिखता है कि शिवाजी बसीन शहर के पास के विरार गांव के स्वामी मेनेजेज् का लड़का है। थेवनो ने भी यह शल्लती की है और वह लिखता है कि शिवाजी बसीन में पैदा हुए थे। भीमसेन ने 'सुराक्ष-ए-दिलकशा' नामक अपने रोजनामचे

मे शिवाजी के पूर्ववराजो के विषय मे एक कल्पित मत प्रचलित किया है। उस का लिखना है कि राणा भीम-सिंह का एक दासी-पुत्र पहले खानदेश आया और वहाँ से वाद को पूना चला गया। इस मे जो वंशावलि दी गई है, वह सर्वथा असम्भव है। इस लिए यह विश्वास-योग्य नहीं है। मन्त्री भी इसी बात पर विश्वास कर के लिखता है कि राणा का एक दासी-पुत्र मेवाड़ से भाग कर बीजापुर के दरबार मे आया और उस को दरबार के चौल, खम्भात, वसीन और वम्बई का इलाका जागीर मे मिला। खाफीखा और फरिस्ता ने भी इसी मत को स्वीकार किया है। ये चारो ऐतिहासिक मुगल-सम्राटो और मुसलमान शासकों के यहाँ नौकर थे। इस लिए इन लोगो का शाहजी और शिवाजी के पूर्वजो के वृत्तान्त को पक्षपात-रहित हो कर लिखना सम्भव नहीं था। अब यह बात निर्विवाद मान ली गई है कि शिवाजी और उस के पूर्वज सीसोद और चित्तौड़ के शासक विशुक्त और सर्वोच्च सूर्यवंशी राजपूतों के वंशज थे।

राजा जसवतसिंह ने शिवाजी के साथ पूना मे गुप्त सन्धि करते समय उसे राजपूत माना था। यह घटना राव्या-भिषेक से नौ साल पहले की है। पर यह आश्चर्य-जनक है कि प्रो० यदुनाथ सरकार ने अपने चरित्र-नायक की महत्ता पर सब से बड़ी चोट लगाई है; क्योंकि उस के बारे मे लिखा है कि “शूद्र का लड़का हो कर भी उसने क्षत्रियो के लिए उचित अधिकार और सम्मान की इच्छा की है।” सरकार के मतानुसार भोंसले न तो क्षत्रिय थे और न द्विज, पर एक खेती करने वाले किसान थे। प्रायः सब स्मृतिकार खेतिहरो को वैश्यो के अन्तर्गत मानते हैं और वैश्य द्विजो के अन्तर्गत हैं। इस पर भी सरकार भोंसलो को द्विजो से बाहर रखते हैं। सरकार बाबाजी को चिटनीस और दूसरे लेखको को बखरो के आधार पर किसान बताते हैं। पर वस्तुतः शिवाजी के पूर्वज सेनापति और दक्खन के राज्यों के सामन्त थे। चिटनीस के बखर में शिवाजी के आदि-पूर्वजो के जो नाम दिये हैं, वे दक्खन के बादशाहो द्वारा दी गई सनदो से पुष्ट होते हैं, इस लिए वे पूर्ण रूप से प्रामाणिक हैं। सरकार एक ओर गागामट्ट को उस समय का सब से बड़ा धर्म-शास्त्री, वाग्मी, चारों वेदो और छत्रो शास्त्रो का पूर्ण विद्वान् बनाते हैं। हिन्दू जाति मे गागामट्ट उस समय का व्यास और ब्रह्मदेव के नाम से प्रसिद्ध था। परन्तु दूसरी ओर यह लिख कर कि, “रूपयो के लोम मे पड़ कर उस समय के व्यास और ब्रह्मदेव ने शिवाजी को क्षत्रिय उद्घोषित कर दिया। यद्यपि वह वस्तुतः क्षत्रिय नहीं था। इस तरह इस ब्रह्मदेव ने अपनी अन्तरात्मा को स्वर्ण के टुकड़ों पर बेच दिया।” इस प्रकार गागामट्ट पर यह लाञ्छन लगा कर उस को साधारण लोगो की नजरो मे भी सरकार ने गिरा दिया। इस के अतिरिक्त उन का यह भी कहना है कि भोंसले वंश की वंशावली चतुर मन्त्री बालाजी आबाजी और दूसरे कर्मचारियों ने जाली बनाई है। पर सरकार का यह आरोप ठीक नहीं है। क्योंकि चिटनीस घराने और बखरो का वंश-वृक्ष अधिकांश मे सनदों से प्रामाणित हो चुका है। शिवाजी के चतुर मन्त्रियो की यह जालसाजी नहीं है, पर वस्तुतः सरकार की यह चातुरी है कि बिना कोई कारण दिये उन्होंने मे वंश-वृक्ष को कल्पित बना दिया है।

शिवाजी क्षत्रिय कुलोत्पन्न सूर्यवंशी और सीसोदिया वंश के हैं इस बात पर शिव-काल मे किसी को सन्देह ही नहा हुआ था। उस समय या उस के बाद के साहित्य में शिवाजी को सूर्यवंशी क्षत्रिय सब ने स्वीकार किया है। खालीपुलाक न्याय से हम कुछ साक्षियाँ नीचे देते हैं—

१ ‘शिवभारत’ लिखता है कि भालोजी और शाहजी सूर्यवंश से सम्बन्ध रखते हैं—

तं सूर्यवंशमनघ कथ्यमानं मयादितः ।
 सर्वेऽप्यवहितात्मनः शृणुध्वं शृणुवतां वराः ॥
 दक्षिणस्यां दिशि श्रीमान् मालु वर्मा नरेश्वरः ।
 बभूव वशे सूर्यस्य स्वयं सूर्य इवैव जसा ॥

शि० भा० अ० १.४१-४२

एक जगह अन्यत्र शिवभारत का कर्त्ता लिखता है कि सूर्यवंशी लोग डरे हुए पर अपना पराक्रम नहीं दिखाते, इस कारण शिवाजी ने भागती हुई रुस्तम की सेना को पकड़ा नहीं—

तदनु शिव नृपस्तं प्राप्त भगं पुरस्तात्
 प्रसभमपसरन्तं रुस्तुमं त्रस्तमुच्चैः ।
 निकटगमपि नैव न्य ग्रहीन्निग्रहा ह
 न हि विदधति भीरौ शूरतां सूर्यवंश्याः ॥

शि० भा० अ० २४.७४

२. 'परनाल पर्वत ग्रहणाख्यात' शिवाजी का सीसोदिया वंश बताता है ।

३. शिवाजी के राज्याभिषेक के समय हुई उन के वश की खोज का परिणाम लिखते हुए 'समासद' लिखता है—

“गागाभट्ट ने राजा के वंश की खोज कर के कहा कि राजा शुद्ध क्षत्रिय सीसोदिया वंश के उत्तर से दक्षिण में आये एक घराने में है । उत्तर में क्षत्रियों के जिस प्रकार संस्कार होते हैं उसी प्रकार राजा का संस्कार कराओ ॥”

४. शवाजी के दरबारी, वीर-रस के हिन्दी-कवि भूषण ने शिवाजी को सूर्यकुलवंशोद्भव लिखा है—

सूर सिरामनि सूरकुल सिव सरजा मकरंद ।

भूषण क्यो औरग जितै कुल मलिच्छ कुल चंद ॥ १६३ ॥

सीता संग सोभित सुलच्छन सहाय जाके भूपर भरत नाम भाई नीति चारु है ।

भूषण भनत कुल सूर कुल भूषण है दासरथी सब जाके भुज भुव भारु है ।

अरि लंक तोर जोर जाके संग बानर हैं सिंधुर हैं बांधे जाके दल को न पारु है ।

तेगहि कै भेटै जौन राकस मरद जाने सरजा सिवाजी राम ही को अवतारु है ॥ १६६

(श्री शिवराज-भूषण)

राजवंश का वर्णन करता हुआ राज-कवि लिखता है—

राजत है दिन राज को वंश अवनि अवतंस ।

जा मे पुनि पुनि अवतरे कंस मथन-प्रभु-अस ॥ ४ ॥

महावीर ता वंस मैं भयो एक अवनीस ।

लियो विरद “सीसोदिया” दियो ईस को सीस ॥ ५ ॥

ता कुल मैं नृप वृद्ध सब उपजे वल्लभ बुल्लद ।

भूमिपाल तिन मैं भयो बडो “भाल मकरद” ॥ ६ ॥

(श्री शिवराज-भूषण)

५. शाहजी ने ६-७-१६५७ ई० को कर्णाटक से बीजापुर के सुलतान अली आदिलशाह के नाम एक पत्र लिखा था, जिस में उस के व्यवहार की शिकायत करते हुए उसे निम्न शब्दों में चेतावनी दी थी—“मैं सुलतान को स्मरण कराना चाहता हूँ कि मैं राजपूत हूँ। आज तक मैंने चार द्वादशाहों की नौकरी की है, पर कहीं भी वेद्वज्जती और गैर मेहरबानगी की नौकरी नहीं की है ॥”

६ स्कॉट की हिस्ट्री ऑफ़ डकन के बुन्देला प्रकरण पृ० ४ में शिवाजी को सीसोदिया राजपूत लिखा हुआ है ।

७. खफी खान ने लिखा है कि शिवाजी चितौड़ के राणा के वंशज हैं ।

८. रामचन्द्र पत आमात्य को, जो शिवाजी, सम्भाजी और राजाराम के समयों में मन्त्री-पद पर काम करता रहा, शिवाजी के विषय में पूर्ण ज्ञान था। वह अपने एक राजकीय आदेश में शिवाजी को ‘चरित्र-कुला-वत्स’ लिखता है ।

९ शिवाजी के पिता शाहजी के दरबार के राज-कवि ‘जयराम’ ने अपने ‘राधा-भावव-विलास चम्पू’ नामक ग्रन्थ में, जो उस ने १६५४-५८ ई० में लिखा था, शाहजी को मूर्यवंशी और सीसोदिया राजपूतों का वंशज बताया है—

सुनियतु करन बलि भोज वो करन—

साहे सम साता को मनवा कोहि करतु है ।

शील ओ सुकृत वंस उन में न एको अस—

सि सो दि या अ व त स सहजुधरतु है ॥४७॥

महीच्या महेद्रा मधे मुख्य राणा ।

ब (द) ली पास त्याचे कुली जन्म जाणा ॥

त्याचे कुली ‘भाल’ भूपाल माला ।

जयाने जले शसु सपूर्ण कैला ॥ ८५ ॥

इद भयो सब हीदुन को अरु आयु समान यो छत्र कियो है ।

ज्यो दि गोवर्धन कृष्ण धरयो तर गोकुल व लोक जियो है ॥

साहे खुमान को दान कहा विधि कैसे कियो निधि मोल लियो है ।

कारनिया को कछो करतार ने सी सो दि ये कु ल सी सो दि यो है ॥ १०४ ॥

पुच्छत भावकु आवे के नर दान लयो गुन कौन कियो ते ।

भात कहे नृप साह दियारे सि सो दि यो देल असीस दिये ते ॥ १०८ ॥

शाह महीसुर फौजे चले महामंडल दान चक्र हले ।

गढ़ मह ठाप डव दुहले वैसे खमठ निपिटि मले ।

रुद्र रूप भूप जस तज सुचन्नु सु भन्नु किले ।

विक्रम कसिबीसे उसीनर सीसोदिये ईस जितिले ॥ ११५ ॥ (२७० पृ०)

१०. प्रसिद्ध ऐतिहासिक श्रीयुत गौरीशंकर हीराचंद ओम्हा ने अपने 'राजपूताना का इतिहास' प्रथम भाग (पृ० ५१४) में लिखा है—“इस पर उस (अजयसिंह) के दोनो पुत्र—सज्जनसिंह और कैमसिंह—अग्रसन्न हो कर दक्षिण चले गये। मेवाड़ की ख्याती के कथनानुसार इसी सज्जनसिंह के वंश में मरहटों का राज्य स्थापित करने वाले प्रसिद्ध शिवाजी उत्पन्न हुए।”

११. उदयपुर राज्य के 'वीर-विनोद' नामक बृहत् इतिहास में शिवाजी का महाराणा अजयसिंह के वंश में होना लिखा है। (वीर-विनोद, खंड २। पृ० १५८१-८२) इस पर टिप्पणी करते हुए श्री ओम्हा ने लिखा है कि—

“शिवाजी और उन के वंशज मेवाड़ के सिसोदिया राजवंश से निकले होने के कारण सितारे के राजा शाहू के कोई संतान न होने से उस ने उदयपुर के महाराणा जगतसिंह (दूसरे) के छोटे भाई नाथजी को सितारे की गद्दी के लिए दत्तक लेना चाहा था।”

१२. २८ नवम्बर १६५९ ई० के एक अँगरेजी पत्र में शिवाजी को “एक महान् राजपूत लिखा है।”

१३. १० दिसम्बर १६५९ ई० के एक अँगरेजी पत्र में लिखा है कि “राजपूत इतर हिन्दुओं से अलग समझे जाते हैं।”

१४. टॉड ने आपने राजस्थान के इतिहास के प्रथम भाग में शिवाजी का वंश-वृक्ष दे कर उन को अजयसिंह व अजयसी के पुत्र सज्जनसिंह का वंशज बताया है।

१५. कास्ट एण्ड ट्रिक्स के लेखक मि० रसल ने (भा० ४०, पृ० २००) लिखा है कि—“मि० एन्थोवन ने १८३६ ई० में लिखा है कि पवित्र राजपूत घराने के शिरोमणि उदयपुर के महाराणा ने अपने एक कर्मचारी द्वारा जाँच करा कर स्वीकार किया कि भोसले और अन्य कुल घराने राजपूत होने का हक रखते हैं।”

१६. वंश की जाँच का परिणाम दो पत्रों में मि० डोगरे कृत 'सिद्धान्त विजय' में प्रकाशित हुआ था। एक पत्र महाराणा उदयपुर का और दूसरा उन के राजगुरु अमरेश्वर के पुरोहित का, सतारा के महाराजा श्री प्रतापसिंह के नाम लिखा हुआ है। उन में लिखा है कि—“आप हमारे निकट के सम्बन्धी हैं। उस बात के लिए कोई भेद-भाव नहीं है। हम इस बात को सदा अपने हृदय में स्थान देंगे। मूलतः हम दोनों एक हैं।”

१७. कर्नल जी० बी० भालसन (१८७५) ने अपनी पुस्तक हिस्टोरिकल स्केच ऑफ दि नेटिव स्टेट्स (पृ० २५४-२५५) में लिखा है—“मराठा अनुश्रुति के अनुसार शिवाजी उदयपुर के उस राजकीय परिवार के वंशज हैं, जो हुगरपुर में राज्य करता था। इस राजघराने के राज्याधिकार से वंचित १३ पुत्रों में से एक अपने पैतृक घर को छोड़ कर बीजापुर के दरबार में आया और उस की सेवाओं के बदले उसे दरबार से सुथोल जिले में ८४ गाँवों की जागीर और 'राजा' की उपाधि मिली। इस व्यक्ति का नाम सज्जनसी था और इस के चार पुत्र थे, जिन-में सब से छोटे पुत्र सूरजाजी का शिवाजी को सीधा वंशज बताया जाता है।”

लेखक का Shivaji the Great Vol I, P. 54

१. डॉ० बालकृष्ण—शिवाजी वि श्रेष्ठ, नि० १, पृ० २४

२. वही, पृ० १२१।

३. डा० रा० नि० १०, पृ० ३१४।

१८. सि० क्लन्स ने Historical Sketch of the princes of India (पृ० १३०) में लिखा है—

“उनमें से ‘सज्जन सी’ नाम का एक व्यक्ति दक्खन में आया और बीजापुर राज्य की सेवा में भरती हुआ, जिसने उसे मुघोल जिले के ८४ गाँव और राजा की पदवी दी। सज्जनसी के चार पुत्र थे—बाजीराजे, जिसके घराने में मुघोल की जागीर है, दूसरा निःसन्तान मर गया, बलवत्सी से कपिशा के घोरपड़े उत्पन्न हुए हैं। सब से छोटे सुगा जी के भोसा जी नाम का एक लड़का था, जिससे भोसले शाखा की उत्पत्ति हुई है। इसके दस पुत्र थे, जिनमें से सब से बड़ा पाटूस के समीप देवलगढ़ में जाकर बसा, जिस गाँव का पटेल भालो जी था। वह अहमदनगर के मुलतान के आधीन कर्तृत्ववान पुरुष था और जिसको मुलतान की ओर से एक जागीर मिली थी, जो उसके बाद उसके पुत्र शाह जी को मिली। बाद में वह बीजापुर के मुलतान के नीचे एक प्रधान मराठा सरदार हुआ। उसने अपनी जागीर में सतारा पूना—जितने का आजकल पूना जिले में समावेश होता है—और सतारा जिले का कुछ भाग मिला लिया। इन्हीं घाटियों में उसके पुत्र शिवाजी ने उसकी स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य की कल्पना को पूर्ण किया।”

इस उद्धरण में बहुत सी बातें अशुद्ध हैं, पर मुख्य बात कि शिवाजी राजपूत थे, निर्विवाद और सन्देह-रहित है।

इस में एक बात ध्यान देने की है कि ‘शिवाभारत’ ‘परनाल-पर्वत-ग्रहणाख्यान’ ‘राधाभाष विलास चम्पू’ और ‘शिवाजी-भूषण’ शिवाजी के राज्याभिषेक से पहले या कुछ काल बाद उन्हीं के जीवन-काल में ही लिखे जा चुके थे; और वे सब मानते थे कि शिवाजी क्षत्रिय हैं और क्षत्रिय कुलावतस उदयपुर के सीसोदिया राजा के वंशज हैं। इस कारण यह कथा कि शिवाजी के राज्याभिषेक के समय यह प्रश्न उठा कि शिवाजी क्षत्रिय हैं या नहीं और गागा भट्ट ने उन्हें क्षत्रिय उद्घोषित किया, सर्वथा कल्पित प्रतीत होती है, क्योंकि इस की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। सब जानते थे और मानते थे कि शिवाजी क्षत्रियकुल शिरोमणि सूर्यवंशी हैं। इस में यदि कुछ सच्चाई का अंश है, तो इतना ही है कि दक्खन में ब्राह्मणों के सिवाय और तीनों वर्णों के सम्कार शूनों के समान होते थे। इस कारण सम्भव है कि महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों ने यह प्रश्न उठाया हो कि शिवाजी का राज्याभिषेक किस विधि से किया जाय और इस विषय में गागा भट्ट का निर्णय मान कर उन का राज्याभिषेक-सम्कार उत्तर के क्षत्रिय राजाओं के समान किया गया। इस के अतिरिक्त इस प्रचलित कथा में और कुछ सच्चाई नहीं मालूम होती।

यह ऊपर दिखाया गया है कि शिवाजी सूर्यवंशी राजपूत और महाराष्ट्रा उदयपुर के वंशज थे। पर शिवाजी और भोसले वंश को क्षत्रिय मान लेने से ही सारा काम नहीं समाप्त हो जाता। इस के लिए यह भी आवश्यक है कि सज्जनसिंह से ले कर शिवाजी तक का वंश-वृक्ष पेश कर के वंशावलि द्वारा सिद्ध किया जाय कि शिवाजी क्षत्रिय थे। इस समय चार वंशावलियाँ—कोल्हापुर दरवार, टोंड-राजस्थान, चिटनीस की खर और सतारा म्युजियम और तंजौर का शिला-लेख प्राप्त हैं। इन के अनुसार शिवाजी का वंशवृक्ष आगे दिये वंश-वृक्षों के अनुसार होगा:—

शिवाजी के पूर्वजों का वंश-वृक्ष

कोल्हापुर दरवार	टोंड-राजस्थान	चिटनीस की खर और सतारा का म्युजियम	तंजौर का शिलालेख
१ लक्ष्मणसी १३०३ (मृत्यु)	१. अजयसी	१. लक्ष्मणसिंह	१. थेकोजी
२. सज्जनसिंह १३१० में सोडावाहा में आया	२. सज्जनसी	२. सज्जनसिंहजी	२. शरभजी

कोल्हापुर दरबार	दोंड-राजस्थान	चिटनीस की बख्त और सवार का शुक्तिवम	तंजौर का शिक्षालेख
३. दलीपसिंह	३. दलीपजी	३. दलीपसिंहजी	३. भद्रसेन
४. शिवाजी	४. शिवाजी	४. सिंहजी	४. एकशिख
५. भोसाजी	५. भोरजी	५. भोसाजी	५. रामचन्द्र
६. देवराजजी	६. देवराज	६. देवराजजी	६. भीमारी
		१४१५ ई० में दक्षिण में आये	
७. छत्रसेन	७. छत्रसेन	७. इन्दुसेनजी	७. एकोजी
८. माहलजी	८. माहलजी	८. मुमकुण्ड	८. बराह
९. खेलेजी	९. खेलेजी	९. रूपसिंहजी	९. एकोजी
१०. जनकोजी	१०. जनकोजी	१०. भूमीन्दुजी	१०. ब्रह्मजी
११. सम्भाजी	११. सत्तुजी	११. बापाजी	११. शाहजी
१२. बाबाजी	१२. सम्भाजी	१२. बरबटजी	१२. अम्बाजी रेवायु
१३. भालोजी	१३. शिवाजी	१३. खेलेकर्ण व खेलेजी	१३. परसोजी
१४. शाहजी		१४. कर्णसिंह व जयकर्ण	१४. बाबाजी रेवायु
१५. शिवाजी		१५. सम्भाजी	१५. भालोजी उमा
		१६. बाबाजी	१६. शाहजी
		१७. भालोजी	१७. एकोजी
		१८. शाहजी	

तंजौर-शिक्षालेख में दी गई बंरावली सर्वथा अशुद्ध अप्रामाणिक और अनुपयोगी है। कोल्हापुर और चिटनीस के दिने बंरावली में छत्रमणसिंह के पुत्र सज्जनसिंह के पिता अजयसिंह व अजयसी का उल्लेख नहीं है।

चौथी पीढ़ी में इन से क्रमशः शिवाजी और सिंहजी लिखा है जो दोनों अशुद्ध हैं। वे अभावात् हैं।

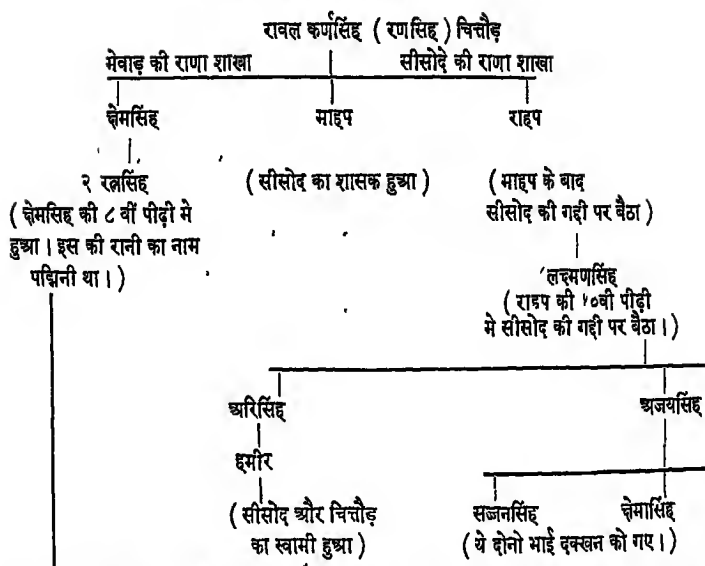
सनवों में इस को सिधोजी लिखा है। ७वीं पीढ़ी में चिटनीस ने छत्रसेन के स्थान पर इन्दुसेन लिखा है। इस्त लिखित मुखोलचखर (पृ० ८८) में लिखा है कि इन्द्रसेन शत्रु के हृदय में अपना भय और आतंक बिठाने से छत्रसेन के नाम से प्रसिद्ध था। वह छत्रसिंह के नाम से भी मशहूर था, पर हमने छत्रसेन को स्वीकार किया है क्योंकि सनवों में उसका यही नाम मिलता है। ८वीं पीढ़ी का नाम चारों बंरावली में मिल भिन्न है। पर अन्तिम तीन नाम बाबाजी, भालोजी और शाहजी पाँचों बंरावलियों में एक ही हैं। शिवाजी के इन तीन पूर्वजों के नाम बहुत से इस्तलिखित पत्रों में मिलते हैं। बीच के नाम उस समय तक सम्बन्धित रहेंगे, जब तक कि कोई सनद या पत्र न मिले। अब तक ज्ञात शुद्ध बंरावली नीचे दी जाती है —

शिवाजी के पूर्वजों की शुद्ध वंशावली

सनवों के आधार पर	{	१. लक्ष्मणसिंह
		२. अजयसिंह
		३. सज्जनसिंह—१३२० ई० के लगभग दक्षिण के लिए प्रस्थान किया।
		४. दत्तात्रेयसिंह
		५. सियोजी
		६. मैरोजी व भोसाजी
		७. देवराजजी
		८. ब्रह्मसेन
		९. शुभकृष्ण
पुस्तकों के आधार पर	{	१०. रूपसिंह
		११. भूसेन्दुजी
		१२. घोपाजी
		१३. बारहटजी
		१४. खेल्गेजी
पत्रों के आधार पर	{	१५. परसोजी
		१६. बाबाजी
		१७. मासोजी
		१८. शाहजी
		१९. शिवाजी

शिवाजी का आदिपुरुष उपर्युक्त वंशावलिओं में सज्जनसिंह दिखाया गया है, और वस्तुतः वही था भी। यह शिवाजी के पूर्वज अजयसिंह व अजयसी का च्येष्ट पुत्र था। इस के पूर्वज चित्तौड़ और सीसोद के शासक थे। इसे निम्न वंश-वृक्ष में दिखाया गया है—

सज्जनसिंह के पूर्वजों का वंशवृक्ष १



उक्त दो पीढ़ियाँ सज्जनसिंह और उस के पिता का नाम नवम्बर १३५२ में सज्जनसिंह के पुत्र राणा दिलीपसिंह को मिले हुए फर्मान से पुष्ट होते हैं और यह भी पता लगता है कि देवगिरि या दौलताबाद के प्रान्त में उन को दस गाँव इनाम में दिये गये थे। दिलीपसिंह के पुत्र राणा सिधोजी ने गुलबर्गा के बहमनी बादशाहों को बहुत सहायता दी और इस के बदले में उसे 'भीर नौबत' की उपाधि दी गई; ऐसा फरिस्ता का कथन है। सिधोजी के पुत्र मैरोजी ने भी बादशाह की सेवा में कुछ कसर बाक़ी न रखी। इसलिए इस राणा को १३९८ ई० में मुघ़ल का नगर और उसके पास के ८४ गाँव इनाम में दिये गये। यह फ़ीरोज़शाह की दी हुई सनद से पता लगता है। उसके पुत्र देवराज ने १६ वर्ष तक बादशाह की सेवा की। फिर उसके पुत्र उग्रसेन ने अलाउद्दीन अहमदशाह बहमनी की जान बचाई। इस असाधारण सेवा के बदले में उसे १४२४ ई० में फर्मान दिया गया; जिसमें चार पीढ़ियों के नाम स्पष्ट रूप से दिये गये हैं। वे ये हैं—

राणा सिधोजी, मैरोसिंहजी, राजसिंह देवराणा और उसका पुत्र राणा उग्रसेन। राणा उग्रसेन का नाम इन्दुसेन भी प्रसिद्ध है। यह अपने भाई प्रतापसिंह के साथ कोंकणपट्टी को जीतने में लगा रहा। एक बार वह विशालगढ़ या खेलना के शिकरसरदारों के हाथ में पड़ गया। परन्तु कुछ मुहत्त बाद उस के बहादुर पुत्रों ने उसे छुड़ा लिया। सनदों से ऐसा प्रतीत होता है कि १४५४ ई० तक इन सीसोदिया भोसलों को देवगिरि, मुघ़ल, रायबाग और वार्डे जैसे दूरस्थ इलाकों में जागीरें मिली हुई थीं। उग्रसिंह की मृत्यु के पश्चात् उस के दो पुत्रों कर्णसिंह और शुभकृष्ण में परस्पर वैमनस्य हो गया। इस पर छोटा भाई शुभकृष्ण अपने चाचा प्रतापसिंह के साथ देवगिरि की जागीर पर १४६० ई० के करीब चला गया और इस तरह इन दो भाइयों के अलग अलग होने पर भोसलों की दो शाखाएँ

हो गई। बड़ी शाखा मुघोल में राज्य करती रही और उस के सम्बन्ध में बहुत से फर्मान राजा साहब मुघोल के पास मौजूद हैं।

दूसरी शाखा देवगिरि की जागीर पर कुछ काल तक सन्तुष्ट रही। परन्तु उन्हें भी निजामशाही के बादशाहों ने अपना सरदार बनाया और पूना के आस-पास की जागीर उन्हें इनाम में दी। बाबाजी, भालोजी और शाहजी के सम्बन्ध में बहुत से हस्तलिखित पत्र मिलते हैं, जिन से पता लगता है कि उन्होंने बहुत बहादुरी के काम कर के यश प्राप्त किया।

इस बात को सिद्ध करने के लिए कि देवगिरि की शाखा मुघोल के राजाओं के साथ सम्बन्ध रखती थी, दो सनदे मौजूद हैं। एक १४९४ ई० में कर्णसिंह और रामकृष्ण नामक दोनों भाइयों को बाई में जागीर दी गई। इस में से कुछ हिस्सा शाहजी ने घोरपड़ों से वापिस लिया। इस बात को बताने के लिए १६४६ई० की एक सनद मौजूद है, जिस में दोनों शाखाओं का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट तौर पर बताया गया है^१। इस की पुष्टि उस पत्र से भी होती है जो शिवाजी ने बाजीराजे के पुत्र मालोजी घोरपड़े को लिखा था^२।

इस तरह बीच के थोड़े से नामों को छोड़ कर पहले और पिछले वंशजों के नाम सनदों, हस्तलिखित पत्रों आदि से पुष्ट होते हैं। उन साक्षियों से सिद्ध होता है कि शिवाजी के पूर्वज सूर्यवंशकुलोत्पन्न थे और सीसोद और चित्तौड़ के राजाओं के वंशज थे।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि तत्कालीन सनदों और अन्य बातों के आधार पर सिद्ध हो चुका है कि सतारा और कोल्हापुर के शासक और उन के रिश्तेदार मुघोल कापशी आदि घोरपड़े शासक सूर्यवंश से सम्बन्ध रखते हैं और चित्तौड़ और उदयपुर के राजा के वंशज हैं। इस लिए न्याय-पूर्वक वे अपना सम्बन्ध ऐतिहासिक महाकाव्य काल के श्री रामचन्द्र से जोड़ सकते हैं। महाराष्ट्र साम्राज्य के संस्थापक शिवाजी, शिवराम, शिवराज व शिव छत्रपति की नसों में राजपूतों का विद्युद्भ रक्त प्रवाहित हो रहा था। उन के पूर्वज शूद्र किसान न थे, दक्खिनी सुलतानों के नीचे १३५०ई० से एक विशाल प्रदेश के शासक थे। इस के अतिरिक्त माता की ओर से देवगिरि के यादवों के वंशज होने का वे गौरव कर सकते थे। बहुत से लोगों ने शिवाजी को तुच्छ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, क्योंकि उन्होंने स्थापित मुसलमानी राज्य के विरुद्ध विद्रोह का मण्डा खड़ा किया। सब से अधिक शक्तिशाली प्रतापी मुगल-सम्राट् औरंगजेब को नीचा दिखाया, ७०० वर्षों के राष्ट्रीय पतन का प्रतीकार किया, हिन्दू संस्कृति और हिन्दू-धर्म की महिमा और गौरव को फिर से स्थापित किया और मुगल-साम्राज्य और दक्खन के सुलतानी राज्यों के भग्नावशेषों पर एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया।

१ शिवाजी वि ड्रेट नो १, पृ० २००।

२ वहीं, जि० २, पृष्ठ २८१

राजपूताने में प्राचीन शोध

दीवानबहादुर हरबिलास सारदा, अजमेर

भारतवर्ष के इतिहास में सदा से राजपूताने का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। प्राचीन काल में ही नहीं, किन्तु मुसलमानों के समय में भी इस प्रान्त के निवासी उन से लड़ने अथवा उन के सहायक होने के कारण बहुत प्रसिद्ध हुए। इस देश में अनेक वीर, विद्वान् एवं कुलाभिमानों 'राजा, सरदार आदि हुए, जिन्होंने अनेक युद्धों में अपने प्राणों की आहुति दे कर अपनी कीर्ति को अमर किया। क्षत्रिय जाति सदा से वीरता के लिए प्रसिद्ध रही है। चित्तौड़, कुम्भलगढ़, मांडलगढ़, अचलगढ़, रणथंभोर, गागरौन, भटनेर (हतुमानगढ़), बचाना, तहनगढ़, मंडोर, जोधपुर, जालोर, आम्नेर आदि किलों तथा अनेक प्रसिद्ध रण-क्षेत्रों में कई बड़े-बड़े युद्ध हुए, जहाँ अनेक वीर क्षत्रियों ने वहाँ की मिट्टी का एक एक कण अपने रक्त से तर किया। कई स्थानों में वीर क्षत्रियों तथा क्षत्रिय बालाओं ने अपने धर्म तथा सतीत्व की रक्षा के लिए वीरता के साथ जौहर की धकती हुई आग में कूद कर अपने प्राण दिये। इतना ही नहीं, किन्तु कई जगह उन्होंने तलवार चमका कर लड़ाइयों भी लड़ी थीं। राजपूताने में ऐतिहासिक दृष्टि-कोण से भ्रमण करने वालों को स्थान-स्थान पर ऐसे स्मारक मिलेंगे, जिन्हें देखने से मालूम होगा कि वहाँ अनेक वीर पुरुषों ने शत्रुओं से लड़ कर अपने प्राण दिये थे। कर्नल जेम्स टॉड ने राजपूताने के ऐसे अनेक स्थल देख कर यही लिखा है—

“राजस्थान में कोई छोटा-सा राज्य भी ऐसा नहीं है, जिस में थर्मोपली जैसी रणभूमि न हो और शायद ही कोई ऐसा नगर मिले, जहाँ लियोनिदास जैसा वीरपुरुष उत्पन्न न हुआ हो।”

इस वीरभूमिके भिन्न-भिन्न भागों में समय-समय पर अनेक राजवंशों ने अपना अधिकार जमाया, अनेक बाहरी आक्रमणों से—विशेषतः मुसलमानों की चढ़ाइयों तथा उन के साथ की लड़ाइयों के कारण यहाँ के प्राचीन इतिहास के साधन नष्ट हो गये। अपनी प्राचीन पुस्तके नष्ट हो जाने के कारण भाटों ने कई पुस्तके लिख डाली, जिन में उन्होंने इस देश पर राज्य करने वाले वर्तमान राज-वंशों के पिछले नाम, जो उन्हें मिल सके, दर्ज किये और पुराने नामों में से जिन-जिन प्रसिद्ध राजाओं के नाम परम्परा से सुनने में आते थे, वे ही लिखे। अपनी पुस्तकों को पुरानी बतलाने के लिए उन्होंने अनेक कल्पित नाम और झूठे संवत् लिखे। जिन प्राचीन वंशों ने यहाँ राज्य किया, उन में से कई एक के नाम तक उन को मालूम न हो सके। उन की पुस्तके, जो बहुत अशुद्ध लिखी जाती हैं और जिन में उन को दिये हुए इनाम-इकराम का हाल अतिशयोक्ति के साथ लिखा रहता है, इतिहास की पुस्तके समझी जाने लगीं। उन्हें भी वे किसी को बतलाने में, अपनी जीविका के चले जाने के विचार से, बहुधा संकोच करते रहे। ऐसी स्थिति में राजपूताने का प्राचीन इतिहास अंधकार में ही पड़ा रहा और जिन प्रसिद्ध राजाओं के नाम जन-श्रुति से सुनने में आते थे, वे कब हुए और उन्होंने अपने जीवनकाल में क्या-क्या किया, यह सब प्रायः अज्ञात ही रहा।

भारत में अङ्गरेजी राज्य की स्थापना के पश्चात् विद्या का फिर प्रचार बढ़ा और पश्चिमी शैली पर अङ्गरेजी के साथ संस्कृत तथा अन्य भाषाओं की पढ़ाई आरंभ हुई। अपने विद्या-प्रेम के कारण कई अङ्गरेज विद्वानों ने संस्कृत का अध्ययन प्रारंभ किया और सर विलियम जोन्स ने महाकवि कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटक का अङ्गरेजी

अनुवाद प्रकाशित किया, जिसे देख कर पाश्चात्य विद्वान् चकित हो गये और शेक्सपियर की तरह कालिदास का आदर करने लगे।

इस प्रकार सस्कृत-साहित्य की महत्ता का परिचय संसार के विद्वानों को होने लगा। शनैः-शनैः यूरोप में सस्कृत का पठन-पाठन आरम्भ हुआ। ई० सन् १७८४ में सर विलियम जोन्स के प्रयत्न से एशिया के इतिहास, शिल्प, साहित्य आदि के शोध के लिए कलकत्ते में एशियाटिक-सोसाइटी-ऑफ्-बंगाल नाम की संस्था स्थापित हुई और ई० सन् १७८८ में उक्त संस्था के द्वारा 'एशियाटिक रिसर्चेज' नामक प्राचीन शोध सम्बन्धी पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ हुआ। यूरोप के सब देशों में उस की ख्याति फैली और उस का फ्रेच अनुवाद भी होने लगा। उक्त पत्रिका की २० जिल्दे छपने के पश्चात् ई० सन् १८३२ से उसी संस्था-द्वारा उस के स्थान में 'जर्नल-ऑफ्-दी-एशियाटिक-सोसाइटी ऑफ् बंगाल' नाम का त्रैमासिक पत्र प्रकाशित होने लगा। यूरोप में भी इस विषय की बहुत-कुछ चर्चा आरम्भ हुई और ई० सन् १८२३ के मार्च से लन्दन में भी उसी उद्देश्य से 'रॉयल-एशियाटिक-सोसाइटी' की स्थापना हुई और उस की शाखाएँ वम्बई और सिलोन (लका) में भी खुली। इसी तरह समय-समय पर फ्रांस, जर्मनी, इटली आदि यूरोपीय देशों में तथा अमेरिका एवं जापान में भी एशिया सम्बन्धी भिन्न-भिन्न विषयों के शोध के लिए संस्थाएँ स्थापित हुईं। उन के मुख-पत्रों में भारतीय पुरातत्त्व सम्बन्धी विषयों पर अनेक लेख प्रकट हुए और अब तक हो रहे हैं। ई० सन् १८४४ में 'रॉयल-एशियाटिक-सोसाइटी' ने भारत सरकार द्वारा इस कार्य का होना आवश्यक समझ कर ईस्ट-इण्डिया-कम्पनी से निवेदन किया और ई० सन् १८४७ में लॉर्ड हार्डिज के प्रस्ताव पर 'बोर्ड ऑफ् डाइरेक्टर्स' ने इस काम से लिए खर्च की मजूरी दी। ई० स० १८६१ में युष्मान्त के मुख्य इन्जीनियर कर्नल ए० कनिंघम ने इस विषय की योजना तैयार कर लॉर्ड केनिंग की सेवा में पेश की, जो स्वीकृत हुई और सरकार की ओर से प्राचीन शोध के निमित्त 'आर्कियाॅ-लॉजिकल सर्वे' (पुरातत्त्व-विभाग) नाम का महकमा कायम हुआ। फिर जनरल कनिंगडम ने उत्तरी भारत में और डॉ० जेम्स वर्जेस ने पश्चिमी और दक्षिणी भारत में प्राचीन शोध का कार्य आरम्भ किया। ई० सन् १८७२ में इसी उद्देश्य से 'इंडियन्-एटिक्वेरी' नामक मासिक-पत्र का प्रकाशन आरम्भ हुआ। वह अब तक बराबर निकल रहा था। ई० स० १८८८ से आर्कियाॅ-लॉजिकल सर्वे की ओर से एपिग्राफिया-इंडिका नाम की त्रैमासिक पत्रिका निकलने लगी, जिस की अब तक २० जिल्दे छप चुकी हैं। भारत के इतिहास के लिए उस का बहुत महत्त्व है। इस प्रकार अनेक विद्वानों के श्रम तथा सरकार के प्रयत्न से भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की बहुत-कुछ सामग्री उपलब्ध हुई है, जिस से राजपूताने के इतिहास के भिन्न-भिन्न भागों पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। निम्न पक्तियों में इस राजपूताने के इतिहास के अनेक अंगों की पूर्वी के लिए यत्न करने वाले विद्वानों का कुछ परिचय देते हैं।

मेवाड़ के सुप्रसिद्ध एवं प्रतापी महाराणा कुंभा वडे वीर, विद्वान्, शिल्प और संगीत के अद्वितीय ज्ञाता तथा अनेक ग्रन्थों के प्रणेता थे। अपने वंश के इतिहास की तरफ उन की विशेष रुचि थी, परंतु उस समय उन के पूर्वजों की शुद्ध नामावली तथा उन का चरित्र तत्काल उपलब्ध नहीं था, जिस से उक्त महाराणा कुंभा ने अपने राज्य में मिलने वाले अनेक प्राचीन शिलालेखों का समूह करवाया और उन के आधार पर अपनी वंशावली ठीक की, इतना ही नहीं, किन्तु यथासाध्य उन का वृत्तान्त भी एकत्र किया। उन्होंने एरुलिंग-मठात्य का 'राजवर्णन' नाम का अध्याय स्वयं समूह किया और वह भी अपनी कल्पना के अनुसार नहीं, किन्तु अनेक प्राचीन शिलालेखों के आधार पर। उन्हीं के समय की

कुम्भलगढ़ की बड़ी प्रशस्ति की तीसरी शिला के आरंभ में जन-श्रुति के आधार पर उन के पूर्वजों का वर्णन है, फिर 'राज-वर्णन' प्राचीन प्रशस्तिथों के आधार पर लिखा गया है। इस 'राजवर्णन' का अधिकांश नष्ट हो गया है थोड़ा-सा अंश बचने पाया है; परंतु उक्त महाराणा के एकलिंग-महात्म्य के 'राजवर्णन' नामक अध्याय से नष्ट हुए सारे अंश की पूर्ति हो जाती है। इस प्रकार महाराणा कुम्भा को राजपूताने का सर्व-प्रथम प्राचीन शोधक कहना चाहिए।

कर्नल टॉड ई० सन् १७९९ के मार्च मास में भारत में आये। उस समय उन की आयु १७ वर्ष की थी। ई० सन् १८०० में वे १४ नंबर की देशी पैदल सेना में लेफ्टनेंट के पद पर नियत हुए। ईजीनियरी के काम में कुशल होने के कारण दूसरे ही वर्ष दिल्ली के पास की पुरानी नहर की पैमाइश का काम उन के कर्नल जेम्स टॉड (ई० सन् १७८९—१८३४) सुपुर्द हुआ। चार वर्ष के अनंतर वे दौलतराव सिन्धिया के दरबार के सरकारी राजदूत और रेजिडेंट मि० ग्रीम मर्सर के साथ रहने वाली सरकारी सेना की टुकड़ी के अध्यक्ष नियत हुए। उस समय सिन्धिया का मुकाम मेवाड़ में होने से उन्हें आगरे से उदयपुर पहुँचना था। मार्ग में ही टॉड ने पैमाइश शुरू कर दी और कुछ लोगों को उस का काम सिखला कर जहाँ वे स्वयं न जा सके वहाँ अपने ही खर्च से उन्हें भेज कर नकशे तैयार करवाए और उन की जाँच कर सबसे पहले राजपूताने का नक्शा उन्होंने ही तैयार किया। ई० सन् १८१८ में गवर्नमेण्ट ने राजपूताने के राजाओं से सन्धि आरंभ की और कर्नल टॉड उदयपुर, जोधपुर, कोटा, बूँदी, सिरोंही और जैसलमेर राज्यों के पोलिटिकल-एजेंट नियुक्त हुए और १८२२ की जून तक वे इस पद पर बने रहे। फिर वे स्वदेश को चले गये।

वीर जातियों के इतिहास से उन्हें बड़ा प्रेम था, इस लिए उन्होंने राजपूतों के इतिहास की सामग्री का संग्रह करना प्रारंभ किया और उदयपुर, जोधपुर, कोटा, बूँदी तथा सिरोंही राज्यों में भ्रमण कर वहाँ के अनेक शिलालेख, दान-पत्र, सिक्के आदि का बड़ा संग्रह कर लिया। जिन राज्यों में वे न जा सके, वहाँ का इतिहास उन्होंने उन राज्यों से—अथवा अन्य प्रकार से—प्राप्त किया। स्वदेश जाते समय वे उदयपुर से गोगूदा, बीजापुर आदि स्थानों में होते हुए सिरोंही और वहाँ से आवू पहुँचे। तत्पश्चात् परमारों की प्रसिद्ध राजधानी चंद्रावती के प्राचीन खंडहरों का निरीक्षण कर गुजरात होते हुए वे खभात से काठियावाड़ और कच्छ को पहुँचे। वहाँ से जल-मार्ग द्वारा बम्बई पहुँच कर इंग्लैंड को प्रस्थान किया। राजपूताने में रहते समय उन के साथ रहने वाले सरकारी सिपाहियों के अफसर वॉगन वाघ (Wagh) चित्रकला में बढ़े निपुण थे। कर्नल टॉड जहाँ-जहाँ जाते, वहाँ वे उन के साथ रहते और प्राचीन मंदिरों मूर्तियों आदि के चित्र उन के लिए तैयार करते। इसी तरह जब से वे आये, तब से उन के प्रस्थान के समय तक यति ज्ञानचंद्र बराबर उन के साथ रहे। उन को टॉड अपना गुरु मानते थे और वही उन्हें पृथ्वीराज रासौ आदि भाषा-काव्यों का अर्थ सुनाते और शिलालेख आदि पढ़ते थे। कर्नल टॉड राजपूताने से संस्कृत और भाषा के अनेक ग्रन्थ, २० हजार प्राचीन सिक्के, कई शिलालेख तथा अन्य सामग्री अपने साथ विलायत ले गये। लंदन पहुँचने के बाद उन्होंने राजपूताने का कीर्तिसूचक रूप ऐनल्स-एंड-ऐंटी-किटीज ऑफ राजस्थान, नाम का एक वृहद् ग्रन्थ लिख कर ई० स० १८२९ में उस की पहली जिल्द और १८३२ में दूसरी जिल्द प्रकाशित की, जिस से पहले पहल यूरोप वालों को राजपूतों की वीरता, उदारता आदि गुणों का परिचय हुआ। उस के पश्चात् उन्होंने उदयपुर से प्रस्थान कर बंबई तक की अपनी यात्रा का वर्णन "ट्रेवल्स-इन्-वेस्टर्न-इंडिया" नाम के एक वृहद् ग्रन्थ में लिखा, जो उन की मृत्यु के पीछे ई० सन् १८३९ में प्रकाशित हुआ।

आधुनिक काल के राजपूताने के प्राचीन शोधको मे कर्नल टॉड सबसे पहले थे। उन्हो ने सैकड़ों शिलालेखों, अनेक ग्रन्थों, क्यातों तथा फरिश्ता आदि की फारसी तबारीखों के आधार पर राजपूताने का जो इतिहास लिखा, वह पहला एवं असाधारण ग्रन्थ है। उन के समय में राजपूताने में रेल, तार, डाक, सबके आदि न थी ऐसी दशा में उन्होंने छोड़ों, हाथियों, ऊँटों आदि पर हजारों मील की यात्रा कर जो कार्य किया, वह उन की असाधारण गवेषणा, अथाह परिश्रम और कुशाम बुद्धि का परिचय देता है। राजपूताने की प्राचीन शोध-सम्बन्धी जो बातें इस समय ज्ञात हुई हैं वे बहुधा उस समय अज्ञात थी और अधिक प्राचीन लेख पढ़ने के साधन न थे, जिस से उन के ग्रन्थों में कहीं कहीं परिवर्तन करने की अव आवश्यकता हुई है, तो भी उस समय के उन के अगाध परिश्रम और गवेषणा को देखते हुए राजपूताने के इतिहास से प्रेम रखने वाला कोई भी विद्वान् उन की सराहना किये बिना नहीं रह सकता।

ज्ञानचन्द्र जयपुर के खरतरगच्छ के यति अमरचन्द के शिष्य थे। भाषा-कविता के अच्छे ज्ञाता होने के अतिरिक्त उन्हें संस्कृत का भी ज्ञान था, इस कारण कर्नल टॉड उन को अपना गुरु मान कर सदा अपने साथ रखते टॉड के राजस्थान तथा ट्रैबल्स इन वेस्टर्न इंडिया में जितने शिलालेखों और ताम्र-पत्रों का उल्लेख मिलता, वे सब उन्होंने ही पढ़े थे। वे ई० सन् की १० वीं शताब्दी के आस-पास के शिलालेखों को पढ़ लेते थे, परन्तु प्राचीन शिलालेख उन से ठीक नहीं पढ़े जाते थे। संस्कृत का ज्ञान भी साधारण होने के कारण कहीं कहीं उनमें त्रुटियाँ रह गईं, जो टॉड के ग्रन्थों में ज्यों की त्यों पाई जाती हैं। कर्नल टॉड ने महाराणा भीमसिंह से सिफारिश कर उन को बहुत-सी जमीन दिलाई। उन का चपासरा मांडल नामक कस्बे में है, जहाँ टॉड के समय को कई एक पुस्तकों, चित्रों तथा शिलालेखों की नकलें विद्यमान हैं।

जिस प्रकार कर्नल टॉड ने राजपूताने के इतिहास के लिए प्रशसनीय प्रयत्न किया, उसी तरह क्लिवोफ फॉर्ब्स ने गुजरात के इतिहास का उद्धार किया। पाटन आदि स्थानों में गुजरात से संचय रखने अलेग्ज़ेंडर क्लिवोफ फॉर्ब्स वाले कई प्राचीन, संस्कृत ग्रन्थ मिल जाने से इन्होंने वही खोज के साथ रास मा ला (ई० सन् १८९१-१८९४) नामक गुजरात का बृहद् इतिहास लिखा। उस के सम्बन्ध में उन्हो ने आबू की यात्रा की और वहाँ के कई शिलालेखों की नकलें कीं और देसवाड़े के दोनों जैन-मन्दिरों की कारीगरी की उत्तमत्ता के विषय में बहुत-कुछ लिखा है।

अलेग्जेन्डर कर्निगहम इजोनियर थे और कई लडाइयों में रहे थे। ई० सन् १९६१ में भारत-सरकार ने आर्कि-योलॉजिकल डिपार्टमेंट स्थापित कर उन्हें उस का अध्यक्ष नियत किया। उन्हो ने चीनी यात्रियों के यात्रा-विवरणों को मूल आधार मान कर सारे उत्तर-भारत में प्राचीन शोध का काम किया। राजपूताने में वैराट् आवेर, जयपुर, अजमेर, चद्रावती (मालवरापाटन), कोलवी की गुफाएँ (ई० सन् १८९४-१८९६) (मालवावाड राज्य), कोटा, भरतपुर, कामा, बयाना, विजयमन्दिरगढ़, तहन्नगढ़, खानवा, तिजारा, बहादुरपुर, अलवर, राजगढ़, पारानगर आदि स्थानों का निरीक्षण कर वहाँ के शिलालेख, शिल्प आदि पर पत्रात्र प्रकाश डाला। उन के समय तक अशोक के जितने शिलालेख ज्ञात हुए, उन की उन्होंने एक पुस्तक प्रकाशित की, जिस में वैराट् (जयपुर राज्य) का लेख और माझू वाला अशोक का सच के नाम का पत्र भी प्रकाशित हुआ है। इन्हो ने पुरातत्व सम्बन्धी कई ग्रन्थ लिखे और भारतवर्ष के प्राचीन भूगोल के सम्बन्ध

में एं थं ट जि आं थ की आं व ई डि या नाम की बृहद् पुस्तक लिखी, हजारों सिक्के एकत्र किये और उन पर चार ग्रन्थ लिखे। महाराणा कुम्भा के चतुरस्र बड़े सिक्के को पहले पहल उन्हो ने ही प्रकाशित किया। उन के सिक्को के ग्रन्थों में राजपूताना से सम्बन्ध रखने वाले भी कई सिक्के छपे हैं। उन की रिपोर्टों की २३ जिल्लें तथा अन्य ग्रन्थ राजपूताने के लिए ही नहीं, किन्तु सारे भारतवर्ष के प्राचीन शोध के लिए बड़े महत्त्व के हैं। उन के अगाध परिश्रम और अध्यवसाय का परिचय उन के ग्रन्थों से ही अनुमान किया जा सकता है। सरकार ने आप को सी. ऐ. इ. के सी. ऐ. इ. की उपाधियाँ दी थीं।

मि० कार्लाइल जनरल कनिंगहम के असिस्टेंट थे। उन्होंने राजपूताने में खेड़ा, रुवास, बथाना, विजयमंदिर-गढ़, माचेडी, वैराद, घौसा, नाई, चाटसू, शिवदूंगर, टोड़ा, बधेरा, वीसलपुर, कर्कोटकनगर (जयपुर राज्य), नगरी (मध्यमिका, उदयपुर राज्य), मोरा, विजोल्मों आदि स्थानों में भ्रमण कर वहाँ ५० सी० एस्० कार्लाइल का विवरण लिखने के अतिरिक्त कई शिलालेखों का पता लगाया और बहुत से सिक्के संग्रह किये। कर्कोटकनगर से मिलने वाले मालबाँ तथा शिबि जनपद की मध्यमिका (नगरी मेवाड़) के सिक्के और मेवाड़ के प्रथम राजा गुहिल के सिक्के सब से पहले उन्हीं को मिले थे। ई० सन् १८७१ से १८८० तक की जनरल कनिंगहम की आकियाँ लॉजिकल सर्वे की रिपोर्टों में कई जगह इन के राजपूताना-सम्बन्धी अनुसंधानों का विवरण मिलता है।

मि० गैरिक भी जनरल कनिंगहम के असिस्टेंट थे। उन्हो ने वैराद, आवेर, जयपुर, अजमेर, नागौर, मंडोर, जोधपुर, पाली, नाडौल, जूना खेड़ा, नाथद्वारा, चित्तौड़, निमटोर, चंद्रावती (भालरापाटन) खटकड़ और भीमगढ़ आदि स्थानों का निरीक्षण किया और कई शिलालेखों का पता लगाया। वे चित्तौड़ के ५५० बी० डब्ल्यू गैरिक कीर्तिस्तंभ की बची हुई दो शिलालाओं तथा रावल समरसिंह के समय के वि० सं० १३३० के चित्तौड़ के शिलालेख का चित्र सर्व-प्रथम प्रसिद्धि में लाये।

डॉ० भगवानलाल इंद्रजी जूनागढ़ के रहने वाले प्रश्नोरा नागर थे। रासमाला के कर्ता किलोक फॉर्ब्स की सिफारिश से वे बर्बई के सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डा० भाऊदाजी के असिस्टेंट नियत हुए। उन्होंने भाऊदाजी के साथ रहते समय काठियावाड़, दक्षिण आदि के अनेक शिलालेख संग्रह किये और उन्हें डा० भगवान लाल इन्द्रजी पढ़ा। उड़ीसा की प्रसिद्ध हातीगुम्फा वाले राजा खारवेल के शिलालेख को सर्व-प्रथम प्रसिद्ध में लाने का श्रेय भी उन्हीं को है। उन्होंने ने नेपाल में भ्रमण कर वहाँ के अनेक शिलालेख संग्रह किये। मथुरा के समीपवर्ती प्रदेशमें दौरा कर मथुरा के प्रसिद्ध सिंहध्वज का, जिस पर खरोष्ठी लिपि में क्षत्रियों के कई लेख खुदे हुए थे, पता लगा कर उसे प्राप्त किया। कामा की मसजिद के स्तंभ पर खुदे हुए शूरसेन वंशी यादवों के ई० सन् की ७ वीं शताब्दी के लेख को शुद्धतापूर्वक पढ़ा और प्रकाशित किया। मि० कैम्बेल की अध्यक्षता में प्रकाशित होने वाले बम्बई गैजेटियर की पहली जिल्द के लिए गुजरात का प्राचीन इतिहास भी आपने ही लिखा, जिस में राजपूताना के बहुत से भागपर राज्य करने वाले सोलंकियों का विस्तृत इतिहास भी है। अन्य अन्य सिक्को के सिवा आपने क्षत्रप राजाओं के सिक्कों का बहुत बड़ा संग्रह किया जिसे अपनी मृत्यु के समय उपर्युक्त मथुरा वाले सिंहध्वज के साथ ब्रिटिश-म्यूजियम को भेंट कर दिया। उन की शोधक-बुद्धि, विद्वत्ता और गवेषणा अपूर्व थी। लयिदन की युनिवर्सिटी की तरफ से आप को 'डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी' की उपाधि मिली थी। ई० स० १८८८ के १६ मार्च को उन का स्वर्गवास हुआ।

ये दशवाढ़िया गोत्र के चारण्य थे। उन के पूर्वज रूप के साँखले राजाओं के पोलपात थे। साँखलों का रूप का राज्य छूट गया, तब वे भी अपने स्वामी के साथ मेवाड़ में आ रहे। यहाँ समय समय पर उन्हें महाराणाओं की तरफ से कई गाँव मिले। कविराजा श्यामलदास उदयपुर के महामहोपाध्याय कविराज राणा शंभुसिंह और सज्जनसिंह के विरहासपात्र रहे। महाराणा सज्जनसिंह ने अपने श्यामलदास ई० सन् (१८६१- राज्य का बृहद् इतिहास प्रकाशित करने का निश्चय कर उस के व्यय के लिए एक लाख रुपये स्वीकृत किये और वह कार्य कविराजा के सुपुर्दे किया। आपने अंग्रेजी, फारसी और संस्कृत जानने वाले विद्वानों को अपने इतिहास-कार्यालय में भर्ती किया और मेवाड़ तथा बाहर के राज्यों में पंडितों को भेज कर अनेक शिलालेखों की छापे तैयार करवा कर उन का संग्रह किया। उन्होंने विस्तार-पूर्वक उदयपुर राज्य का और राजपूताना तथा बाहर के अन्य राज्यों का, जिन का किसी न किसी प्रकार उदयपुर से सम्बन्ध रहा, संप्रति इतिहास लिखा। जिन मुसलमान सुलतानों और बादशाहों का मेवाड़ से युद्ध आदि के रूप में संबंध रहा, उन का भी इतिहास इस ग्रंथ में लिखा गया। उक्त बृहद् ग्रंथ का नाम 'वीर-विनोद' रक्खा, जिस में अनेक शिलालेखों, दान-पत्रों, सिक्कों, राजकीय पत्र-व्यवहार, बादशाहों फरमान आदि का बहुत अच्छा संग्रह हुआ है। यह उपयोगी ग्रंथ छप तो गया, परन्तु राज्य की तरफ से प्रसिद्ध न किया गया। इस से उन का सारा श्रम बस्तुतः जैसा होना चाहिये, वैसा सफल न हो सका और विद्वत्समाज को उस का यथेष्ट लाभ न पहुँच सका। उनका देहान्त वि० सं० १९५१ तदनुसार ई० सं० १८९४ में हुआ।

मुशी देवीप्रसाद जाति के कायस्थ थे। पहले वे टोंक राज्य में नौकर थे, फिर उन्होंने ने जोधपुर राज्य की सेवा आरम्भ की। वे फारसी के अच्छे विद्वान् और इतिहास के प्रेमी थे। उन्होंने ने अनेक फारसी-ग्रन्थों के आधार पर वावर-नामा, हुमायूनामा, अकबरनामा, जहाँगीरनामा, शाहजहाँनामा, औरंगजेबनामा, खान-मुगी देवीप्रसाद (ई० सन् १८४८—१८९३) खानानामा आदि पुस्तकें लिख कर हिन्दी-पाठको के लिए मुसलमान-कालीन इतिहास जानने का अच्छा साधन उपस्थित कर दिया। अपने इतिहास-प्रेम के कारण उन्होंने उदयपुर, जयपुर, बीकानेर, जोधपुर आदि के कई राजाओं के चरित्र भी हिन्दी और उर्दू में प्रकाशित किये। मुशी जी जहाँ जाते, वहाँ के शिलालेखों की छापे तैयार करते और अपने इतिहास-प्रेमी मित्र गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के पास भेज कर उन्हें पढ़ाते। उन्होंने प्रतिहार राजा वाडक और कच्छुक के शिलालेख और इमिमाति माना के मन्दिर के गुप्त सवत् २८९ (ई० सन् ६०८) का तथा जालौर आदि के शिलालेखों को पुस्तक-कार प्रकाशित किया। वे निर्भीक इतिहास-लेखक थे। उन की पुस्तकों की राजपूताने में बहुत कुछ प्रशंसा है। उन का देहान्त ता० १५ जुलाई ई० सन् १९२३ (वि० सं० १९८०) में हुआ।

भावनगर राज्य के स्वामी राजल तख्तसिंह जी को इतिहास का अधिक प्रेम होने के कारण उन्होंने ई० सन् १८८१ में अपने राज्य में आर्किवाॅलॉजिकल डिपार्टमेंट स्थापित किया और कई विद्वानों-द्वारा काठियावाड़ से मिलने वाले मौथी, चत्रगौ, गुमों, बलभी के राजाओं, सोलंकियों और गोहिलों के शिलालेखों तथा दानपत्रों का संग्रह करवाया और उदयपुर के सूर्यवंश से अपने वंश का विकास होने के कारण उदयपुर, चित्तौड़, एकलिंगजी, नागदा, आबू, राणापुर, नारलाई, सादबी, राजनगर आदि स्थानों से मिलने वाले मेवाड़ के सूर्यवंशी राजाओं के भी कई एक शिलालेख अपने पहिलों द्वारा एकत्र करवाये।

ई० सन् १८८५ में भा व नगर-प्राचीन-शोध-सं ग्रह नामक बृहद् ग्रन्थ का प्रथम भाग, जिस में उक्त राज्य की ओर से सूर्यवंशियों (मेवाड़ के गुहिल वंशियों और काठियावाड़ के गोहिलों) से सम्बन्ध रखने वाले कई एक शिलालेख उन के गुजराती और अङ्ग्रेजी भाषान्तर सहित—विजयशंकर गौरीशङ्कर श्रोमा के द्वारा संपादित एवं प्रकाशित हुए हैं। उक्त ग्रन्थ के अंत में काठियावाड़ और राजपूताना के कई सौ अन्य शिलालेखों की तालिका उन के सक्षिप्त परिचय सहित दी गई है। यह ग्रन्थ इतिहास-प्रेमियों के लिए बड़ा उपयोगी है। इस के अतिरिक्त एक लै क्रा न ऑ व प्रा कृत एंड संस्कृत इन्स्ट्रिक्शन्स नामक एक दूसरा ग्रन्थ भी महाराजा ने प्रकाशित किया, जिस में काठियावाड़ से मिलने वाले सौर्यवंशी राजा अशोक, क्षत्रपो, गुप्तवंशी स्कंदगुप्त और वलभी के राजाओं, मेवाड़ के गुहिल वंशियों, काठियावाड़ के गोहिलों और गुजरात के सोलंकियों के ६४ शिलालेख एवं दान-पत्र अङ्ग्रेजी अनुवाद और उन के चित्र-सहित छापे हैं।

उक्त महाराजा का यह कार्य सर्वथा प्रशंसनीय है।

डॉ० बूलर जर्मनी के हेनोवर नगर के रहने वाले थे। उन्होंने हेनोवर, गॉटिंगेन, पेरिस, ऑक्सफर्ड आदि नगरों में रह कर जर्मन, अङ्ग्रेजी और संस्कृत की शिक्षा पाई और ई० सन् १८८० में बंबई के एल्फिन्स्टन कॉलेज में संस्कृत के प्रोफेसर और फिर उस विभाग के अध्यक्ष नियत हुए। उन को बम्बई गवर्नमेंट डा० जॉन जॉब्स बुजर (ई० ने कई बार हस्तलिखित संस्कृत और प्राकृत पुस्तकों के सग्रह करने के लिए भिन्न-भिन्न सन् १८३०-१८६८) स्थानों में भेजा। उन्होंने लगभग ५००० संस्कृत हस्तलिखित ग्रंथ प्राप्त किये। उन्होंने भी दौरा किया और जैसलमेर के प्रसिद्ध जैन भटारों के संस्कृत और प्राकृत ग्रन्थों को राजपूताने के कुछ भाग में देखने के लिए ऊँट की सवारी कर मरुभूमि में वहाँ तक की यात्रा की। वे ही पहले विदेशी विद्वान् थे, जिन्होंने वहाँ के भटारों को देखा। इसी तरह उन्होंने कश्मीर में जा कर वहाँ की पुस्तकों की खोज की और अनेक प्राचीन पुस्तकें प्राप्त कीं, जिनमें शारदा (कश्मीरी) लिपि में भोज-पत्र पर लिखी हुई जयानक रचित पृथ्वी राज-विजय महाकाव्य की पुस्तक उल्लेखनीय है। यद्यपि यह पुस्तक अपूर्ण है, तथापि राजपूताने के इतिहास के लिए इस का विशेष महत्त्व है। उन्होंने संस्कृत ग्रन्थों की खोज के अतिरिक्त अनेक प्राचीन शिलालेखों का इंडियन आर्टिक्वेरी, एपिग्राफिया इंडिका आदि पत्रिकाओं में सम्पादन किया। प्राचीन भारत के इतिहास के लिए यह बहुत उपयोगी कार्य हुआ है। उन्होंने एन्साइक्लोपीडिया ऑफ इन्डो-आर्यन-फाइलॉलॉजी नामक भारतीय खोज-संबंधी कई जिल्दों का ग्रन्थ तैयार करवा कर प्रकाशित करने का सराहनीय प्रयत्न किया, किन्तु उस की थोड़ी ही जिल्द उन की जीवित दशा में छप सकी। प्राचीन लिपियों के संबंध में उन्होंने उसी में *Indo-Palaeographie* नामक ग्रंथ ई० सन् १८९८ में जर्मन भाषा में प्रकाशित किया, जिस का डॉक्टर फ्लैट ने अङ्ग्रेजी अनुवाद किया इन में भारतीय प्राचीन लिपियों के ९ नकशे हैं, जिन की सहायता से प्राचीन लिपियाँ पढ़ी जा सकती हैं। डॉक्टर बूलर बड़े विद्वान् और पुरावृत्त के खोजी थे। उन्होंने कई संस्कृत ग्रन्थ प्रकाशित किये। कई एक का उन्होने अनुवाद भी किया। ई० सन् १८९८ ता० ८ अप्रैल को जर्मनी की कोन्स्टन्स नामक मील में सैर करते समय किरती के उलट जाने से उन की खेद-जनक मृत्यु हुई।

डॉ० फील हॉर्न प्रशिया (जर्मनी) के गोटिंगेन नगर के रहने वाले संस्कृत के असाधारण विद्वान् और संस्कृत व्याकरण के अच्छे ज्ञाता थे। उन्होने प्रो० मेक्समूलर को सायण की टीका सहित ऋग्वेद के प्रकाशन में बहुत कुछ

सहायता की थी। ई० स० १८६६ में वे हिन्दुस्तान मे आये और पूना के बेकन कॉलेज में संस्कृत के प्रोफेसर नियुक्त हुए। उन्होंने पतञ्जलि का संपूर्ण महाभाष्य चार जिल्हों मे सम्पादित किया डॉक्टर जॉन्स कीज हॉर्न और व्याकरणके अन्य ग्रन्थों के विषय मे भी बहुत कुछ लिखा। भारत के प्राचीन (ई० स० १८४०-१९०६) इतिहास की ओर उन का विशेष ध्यान होने से उन्होने अनेक शिला-लेख और दान-पत्र "इंडियन आर्टिक्वेरी, "एपिग्राफिया इंडिका" आदि मे सम्पादित किए। राजपूताने से सम्बन्ध रखने वाले कई शिला-लेखों का उन्होने सम्पादन किया, जो गुहिल, चौहान, परमार, प्रतिहार आदि वंशों के प्राचीन इतिहास के लिए विशेष महत्व के हैं। उन्होंने अपने समय तक के उत्तरी और दक्षिणी भारत के प्रकाशित शिला-लेखों और दान-पत्रों की सार-सहित सूचियाँ "एपिग्राफिया इंडिका" मे छापी। ये राजपूताने की ही नहीं, किन्तु भारत भर के इतिहास-अभियो एवं पुरातत्व-वेत्ताओं के लिए परमोपयोगी हैं। उत्तरी भारत की सूची को काशी की ना० प्र० सभा के मंत्री रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दर दास ने प्राचीन 'लेख मणिमाला' नाम से हिन्दी मे प्रकाशित की थी।

प्रो० पीटर्सन ने एडिनबरा और ऑक्सफर्ड की युनिवर्सिटियों में ऑग्रेजी के साथ संस्कृत की शिक्षा पाई और सन् १८७३ मे वे बम्बई के एलिफन्टिन कॉलेज में संस्कृत के प्रोफेसर नियत हुए। बम्बई सरकार की तरफ से उन्होंने संस्कृत एवं प्राकृत की प्राचीन पुस्तकों की खोज के लिए गुजरात और राजपूताने में कई बार दौरे किए। राजपूताने में उदयपुर, कोटा, बूंदी आदि राज्यों में भ्रमण कर उन्होंने कई पुस्तकों (ई० स० १८४०-१८९१) का पता लगाया, जिन मे राजपूताना के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले कई संस्कृत काव्य भी हैं। उन्होंने कोटा के पास वाले कण्ठ्वा कं मन्दिर के वि० स० ७९५ (ई० स० ७३८) के शिलालेख का, जो कर्नल टॉड के समय ठीक ठीक नहीं पढ़ा गया था, शुद्धतापूर्वक सम्पादन किया। डॉ० पीटर्सन ने संस्कृत पुस्तकों की खोज-सम्बन्धी ६ रिपोर्टें प्रकाशित की, जिन मे राजपूताने की इतिहास-सम्बन्धी बहुत सामग्री है। इन के सिवा उन्होंने अलवर राज्य के पुस्तक-मठार का एक बृहद् एवं महत्त्वपूर्ण सूचीपत्र भी ई० स० १८९२ मे प्रकाशित किया।

डॉ० वेब वीकानेर तथा उदयपुर के रेजिडेन्सी सर्जन रहे थे। सिकके एकत्र करने का शौक होने के कारण उन्होने राजपूताने के हिन्दू राज्यों के सिक्कों का अच्छा संग्रह कर ई० स० १८९३ में "दि कर्न्सीज ऑफ़ दि हिन्दू स्टेट्स ऑफ़ राजपूताना" नामकी एक पुस्तक प्रकाशित की, जिस मे उक्त राज्यों के प्रचलित उपलब्ध सिक्कों का चित्र-सहित विवरण दिया गया है। यद्यपि इस मे राजपूताने के सब प्राचीन सिक्कों का विशेष वर्णन नहीं मिलता, तो भी उन्होंने जो संग्रह किया है उतना एक पुस्तक के रूप में अन्यत्र मिलना कठिन है। इसलिए उन की बड़ पुस्तक भी राजपूताने के इतिहास के लिए उपादेय है।

श्वेताम्बर संप्रदाय के जैनाचार्य विजयधर्म सूरि संस्कृत और प्राकृत के प्रकाशक पंडित, जैन आदि दर्शन-शास्त्रों के अद्वितीय ज्ञाता और जैन-इतिहास के शोधक विद्वान् थे। वे जहाँ-जहाँ जाते चतुर्मास करते, वहाँ के शिलालेखों का संग्रह बराबर किया करते थे। उदयपुर राज्य का देलवाडा (ई० स० १८६८-१९२२) नामक स्थान जैन-मन्दिरों के लिए प्रसिद्ध है। वहाँ तथा उस के समीपवर्ती प्राचीन नागदा नगर से उपलब्ध होने वाले जैन-लेखों का संग्रह 'देवकुल पाटक' नाम की पुस्तिका मे उन्होंने प्रकाशित किया है। उन के संग्रह किए हुए सैकड़ों शिला-लेखों में से ५०० शिला-लेखों का एक अलग ग्रन्थ प्राचीन

लेख-संग्रह भाग १ के नाम से मुनिराज श्री विद्याविजय जी ने ई० सन् १९२९ में उन के स्वर्गवास के अनंतर प्रकाशित कराया। ये लेख राजपूताना के इतिहास के लिए बड़े उपयोगी हैं।

डॉ० पलीट इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा पास कर सन् १८६७ में बम्बई पहुँचे। ई० सन् १८८३ में गवर्नमेंट एपिग्राफिस्ट के पद पर नियत हुए। उन्हें इतिहास से बहुत प्रेम एवं शिलालेखों को पढ़ने तथा उन की खोज की लगन थी। उन्होंने ई० सन् १८८८ में 'गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स' नामक डॉक्टर जॉन मैक्कुल प्रसीडेंट विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किया, जिस में गुप्तों और उन के समकालीन राजाओं के उस (ई० सन् १८४७—१९१०) समय तक के ज्ञात ८१ शिलालेख और ताम्र-पत्र चित्रों और अग्नेची अनुवाद के साथ छपे हैं। इस में गगधर (मालावाड़ राज्य) से मिला हुआ वि० सं० ४८०का, विजयगढ़ (विजयमदिरगढ़, भरतपुर राज्य) से मिला हुआ यौधेयो का तथा वि० सं० ४२८ का विष्णुवर्द्धन का लेख प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ में राजपूताने के इतिहास पर प्रकाश डालने वाले कई अन्य लेख भी प्रकाशित हुए हैं। उन्होंने 'डायनेस्टीज ऑफ दि केनारीज डिस्ट्रिक्ट' नाम का बम्बई प्रान्त से संबंध रखने वाले प्राचीन इतिहास का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा, जो मि० केम्बेल द्वारा सम्पादित बम्बई गैजेटियर की पहली जिल्द के दूसरे भाग में प्रकाशित हुआ है। उन्होंने "इंडियन ऑटिक्वेरी" तथा "एपिग्राफिया इंडिका" में अनेक शिलालेखों और दान-पत्रों का सम्पादन किया है, जिन में से कई एक राजपूताने से सम्बन्ध रखते हैं। वे "इंडियन ऑटिक्वेरी" के ई० सन् १८८९ से १८९१ तक संपादक भी रहे।

आप ने लंदन और केम्ब्रिज में अध्ययन किया। संस्कृत के आप अच्छे ज्ञाता और ब्रिटिश म्यूजियम के प्राच्य-देशीय (oriental) पुस्तक-विभाग के अध्यक्ष थे। उन्होंने बौद्ध धर्म-सम्बन्धी प्राचीन पुस्तकों की खोज के विचार से नेपाल की यात्रा की और वहाँ अनेक अज्ञात ग्रन्थों का पता लगाया।

सेसिल बेंडाल वे राजपूताने में जयपुर, उदयपुर, चित्तौड़ आदि में इसी उद्देश्य से गये थे। उन्होंने आबेर के किले में सूर्य-मंदिर के वि० सं० १०११ के शिलालेख का तथा उदयपुर की पुरानी राजधानी आहाड़ के शक्ति कुमार के शिलालेख का पता लगाया और उन्हें अपनी 'जर्नी ऑफ लिट्रेरी ऐंड आर्कियॉलॉजिकल रिसर्च इन् नेपाल ऐंड नॉर्दर्न इंडिया' (१९१८) नामक पुस्तक में चित्र-सहित प्रकाशित किया।

डॉ० टेसीटोरी इटली देश के निवासी थे। उन को राजस्थानी और डिंगल भाषा से बड़ी अभिरुचि थी। बंगाल की ऐशियाटिक सोसाइटी ने राजस्थानी और डिंगल भाषा के ग्रन्थों की शोध करवाने के उद्देश्य से इस महत्वपूर्ण कार्य के लिए डॉ० टेसीटोरी को नियत किया। उन्होंने जोधपुर और बीकानेर डॉक्टर टेसीटोरी राज्यों में रह कर वहाँ के अनेक डिंगल ग्रंथों को तीन विभागों में सूचियाँ बनाई, जिन्हें बंगाल ऐशियाटिक सोसाइटी ने अलग पुस्तककार प्रकाशित किया है। इन सूचियों के अतिरिक्त खडिया जगा कृत 'रतनसिंह री वचनिका', बीकानेर के रठोड़ पृथ्वीराज कृत 'बेलि क्रिसन रन्मणि री' और बिहसूजा कृत 'राव जयवर्सी रो छंद' नामक तीनों डिंगल भाषा के ग्रन्थों का सम्पादन किया। इस के सिवा उन्होंने अपने दौरे की वार्षिक रिपोर्टें भी प्रकाशित कीं, जिन में राजपूताने के कई स्थलों का वृत्तान्त तथा कई शिलालेख भी छपे हैं। ई० सन् १९१८ में यथावस्था में ही उन का देहान्त हो गया।

ये सुप्रसिद्ध संस्कृतज्ञ विद्वान् सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर के पुत्र थे और एल्फिन्स्टन कॉलेज (बम्बई) में संस्कृत के प्रोफेसर थे। वे भी बंबई-सरकार की तरफ से हस्त-लिखित प्राचीन पुस्तकों की खोज के लिए नियत हुए

थे। इन्होंने राजपूताने मे उदयपुर, नाथद्वारा, जैसलमेर आदि के पुस्तक-संग्रहों का निरीक्षण किया, जिन का वर्णन उन की रिपोर्टों में छपा है। जैसलमेर के पुस्तक-भंडार के उत्तम ग्रंथों का विशद वर्णन श्रीधर रामकृष्ण मंडारकर लिखने के अतिरिक्त उन्होंने वहाँ के कई एक शिलालेख प्रकाशित किये। जैसलमेर के शिलालेखों को सर्वप्रथम प्रसिद्धि में लाने का श्रेय उन्हीं को है।

ये कलकत्ते के रहने वाले थे। एक प्रसिद्ध वकील के यहाँ इन का जन्म हुआ। अमेजी के अतिरिक्त ये संस्कृत, फारसी, हिन्दी, उर्दू, मराठी, गुजराती, अरबी आदि कई भाषाओं के ज्ञाता थे। 'आर्कियालॉजिकल डिपार्टमेंट' मे प्रवेश करने के पश्चात् वे कलकत्ते के सुप्रसिद्ध इंडियन म्यूजियम के पुरातत्व-विभाग राखतदास बेनर्जी के अधीन रहे। उन को भारत की प्राचीन लिपियों और सिक्कों के विषय में बड़ी (ई० सन् १८८२-१९३०) अभिरुचि थी। पहले पहल उन्होंने बगाल और उड़ीसा मे प्राचीन शोध का कार्य किया। फिर आर्कियालॉजिकल विभाग मे वेस्टर्न सर्कल के सुपरिण्डेण्ट नियत हुए। वेस्टर्न सर्कल से राजपूताने का संबंध होने से उन्होंने अजमेर, उदयपुर, धौकानेर, भरतपुर, इन्डौर आदि राज्यों मे दौरा कर अनेक स्थानों और वहाँ के शिलालेखों आदि का विवरण लिखा, जो राजपूताने के इतिहास के लिए उपयोगी हैं। उन की मृत्यु के अनन्तर हाल ही मे वड़ी-वड़ी दो जिल्लों मे प्रकाशित उन का उड़ीसे का इतिहास उन के जीवन का सर्व श्रेष्ठ ग्रन्थ है। उस के प्रत्येक पृष्ठ पर गम्भीर गवेषणा की छाप लगी हुई है। उन्हो ने 'इंडियन आटिक्वेरी' और "एथिग्राफिया इंडिका" आदि मे अनेक शिलालेख एवं ताम्र-पत्रों का संपादन किया। ईसा से पूर्व करीब ३००० वर्ष की सभ्यता का परिचय देने वाले सिंध के सुप्रसिध स्थान मोहनजोदड़ो का पता लगाने और उस की सर्वप्रथम खुदाई करने का श्रेय उन्हीं को है। आर्कियालॉजिकल विभाग से सवध छोड़ने के बाद वे काशी के हिन्दू विश्वविद्यालय मे प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभाग के अध्यक्ष नियत हुए। उन्हो ने बगला साहित्य को उन्नत करने के लिए दो जिल्लों मे बगाल का इतिहास तथा अनेक ऐतिहासिक उपन्यास उस भाषा मे लिखे। उन की बगला मे लिखी हुई भारत के प्राचीन सिक्कों के संवत् की 'प्राचीन मुद्रा' नामक पुस्तक भी एक उपादेय ग्रन्थ है। ना० प्र० सभा ने इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया। २३ मई सन् १९३० ई० को सारत के उस श्रेष्ठ पुरातत्वविद् का थोड़ी आयु मे ही देहान्त हो गया।

ये संस्कृत और प्राकृत के बड़े विद्वान् हैं। जैन साधनों से उपलब्ध होने वाले प्राचीन इतिहास से इन्हे बड़ा अनुराग है। इन्हो ने प्राचीन जैन लेखों की दो पुस्तके-प्रकाशित की हैं। पहली छोटी पुस्तक में सुप्रसिद्ध जैन राजा खारवेल का लेख और दूसरी बड़ी मे गुजरात, काठियावाड़, राजपूताना आदि से मिलने वाले ५५७ लेखों का संग्रह है। ये दोनों पुस्तके इतिहास-श्रेमियों के लिए बड़े महत्त्व की हैं। आज कल मुनिजी कई प्रतियों के आधार पर प्रबंध-चिन्तामणि, तीर्थकल्प आदि जैन आचार्यों के ग्रन्थों का उत्कृष्ट सम्पादन कर रहे हैं। आप शान्ति-निकेतन (विश्व भारती) मे जैन साहित्य के अध्यापक हैं। इन्हो ने जर्मनी जा कर पठन-पाठन तथा सम्पादन-कला का विशेष अध्ययन किया है।

ये प्रसिद्ध विद्वान् सर रामकृष्ण गोपाल मंडारकर के पुत्र हैं। शरभ में ये आर्कियालॉजिकल सर्वे के वेस्टर्न सर्कल के सुपरिण्डेण्ट मि० कार्ल्स के असिस्टेंट नियत हुए। राजपूताना वेस्टर्न सर्कल मे होने के कारण इन्हो ने राजपूताने के उदयपुर, जोधपुर, जयपुर, कोटा, भिमानगर और सिरोही राज्यों मे दौरा किया, जहाँ के कई स्थानों और शिलालेखों का वर्णन उस सर्कल

डॉक्टर देवदत्त रामकृष्ण
मंडारकर

की वार्षिक रिपोर्टों में छपा है। पीछे से ये उक्त सर्कल के सुपरिटेण्डेंट हुए। इन्होंने “इंडियन आर्टिक्वेरी”, “एपिग्राफिया इंडिका” आदि में कई शिलालेख प्रकाशित किये हैं। इस समय ये कलकत्ता युनिवर्सिटी में प्रचीन भारतीय इतिहास के प्रोफेसर हैं और इन्हें उक्त विश्व-विद्यालय से सम्मानार्थ पी एच्० डी० की उपाधि मिली है। इस समय ये “इंडियन आर्टिक्वेरी” तथा ‘एनल्स ऑफ दि मंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट के संपादकों में से एक हैं।

ये ओसवाल जाति के महाजन और बंगाल के जमींदार और कलकत्ते के निवासी हैं। इन्होंने धार्मिक भाव से अनेक जैन तीर्थों की कई बार यात्रा की और अपनी शोधक-बुद्धि के कारण जहाँ पृथ्वी नाहर, एम्० जहाँ ये गये वहाँ के जैन शिलालेखों का संग्रह करते रहे। उसी के फलस्वरूप इन्होंने जैन-लेख-संग्रह की तीन बड़ी बड़ी जिल्दे प्रकाशित की हैं, जिन में करीब २५०० शिलालेखों का संग्रह हुआ है उक्त संग्रह की तीसरी जिल्द में केवल जैसलमेर के ही जैन-लेखों का संग्रह है। ये जिल्दे राजपूताने के इतिहास के लिए विशेष महत्व की हैं और इन का प्रयत्न सर्वथा सराहनीय है।

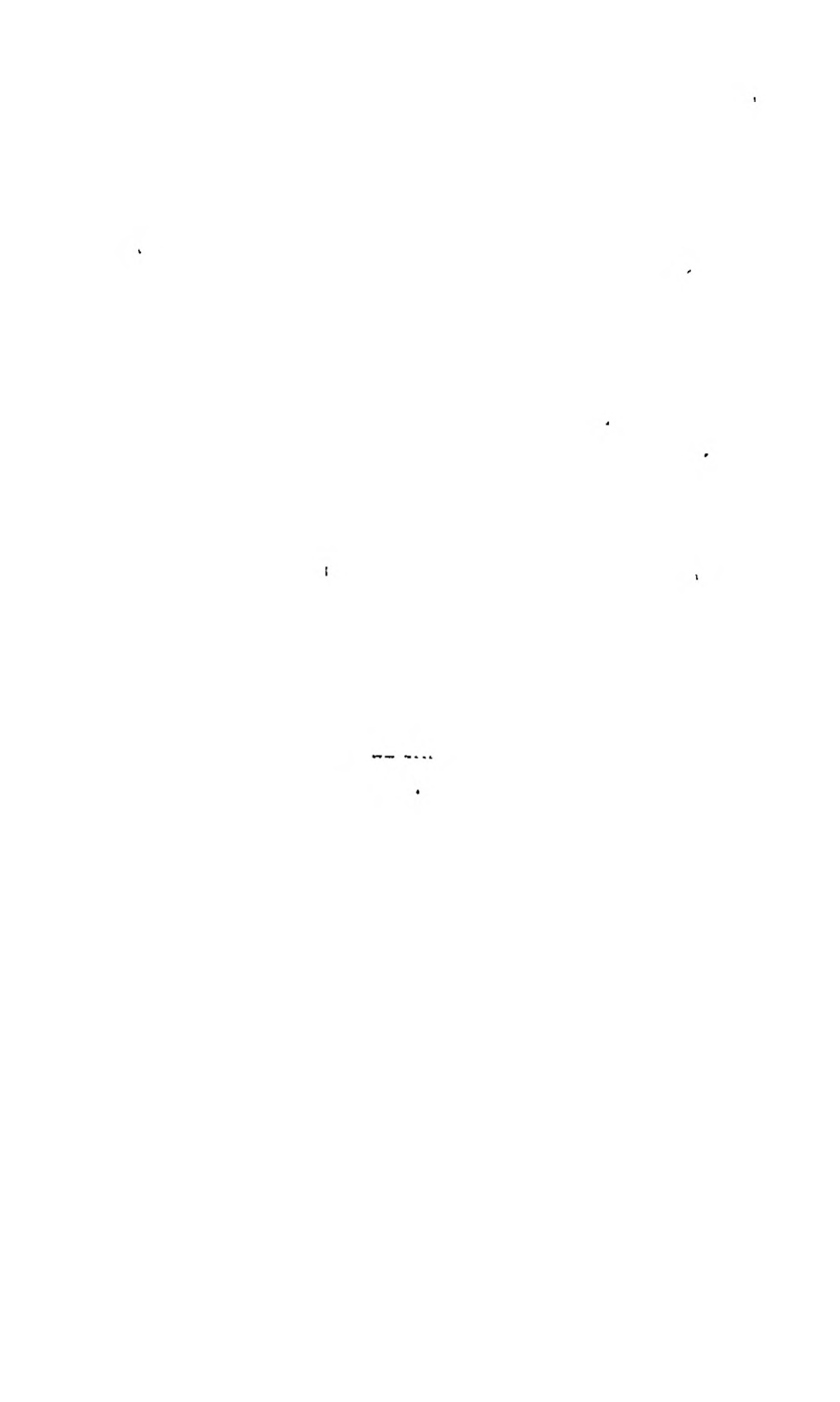
ओमा जी वड़े विद्वान् और इतिहास के अद्वितीय ज्ञाता हैं। आपने अपना विद्याध्ययन समाप्त करने के बाद अपना सारा जीवन इतिहास की खोज में लगाया है। आप करीब २० वर्ष तक उदयपुर में रहे। आपने कुछ वर्ष कवि-राजा श्यामलदास के साथ रह कर उक्त राज्य के इतिहास-विभाग में मंत्री का काम किया। महामहोपाध्याय शयबहादुर तत्पश्चात् ये उदयपुर म्यूजियम के अध्यक्ष नियत हुए। ई० स० १९०८ में आप राजपूताना म्यूजियम अजमेर के क्यूरेटर बनये गये। आपने अपने जीवन में राजपूताना के इतिहास-सम्बन्धी बहुमूल्य खोज की। जिस से कई राजपूत वंशों की वंशावलियों में जो श्रृंखलाएं टूटती थीं तथा कुछ का कुछ लिखा था, वह सब आपने अपनी खोज के आधार पर ठीक किया। आपने कई इखल-लिखित ग्रन्थ, प्राचीन सिक्के, शिलालेख एवं ताम्रपत्र आदि एकत्रित किये हैं, जिन से राजपूताने के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ई० स० १८९४ में आपने ‘भारतीय प्राचीन लिपि माला’ नामक अपूर्व ग्रन्थ की रचना की। उस समय तक संसार की किसी भी भाषा में ऐसा अनूठा ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ था। अतएव भारत तथा यूरोप के विद्वानों तथा पुरातत्त्वविदों ने उस की मुक्तकंठ से प्रशंसा की। राजपूत जाति से विशेष प्रेम होने तथा उस के शौर्य आदि गुणों से सुग्ध हो कर कर्नल डॉब्र महोदय ने एनल्स एंड ऐंटिकिटीज ऑफ राजस्थान नामक बृहद् इतिहास-ग्रन्थ लिखा था किन्तु नवीन शोध के अनुसार उस में परिवर्तन करने की आवश्यकता हुई। महाराजकुमार बाबू रामदीनसिंह ने इस का अनुवाद कराया, तो इस के संपादन तथा टिप्पणी का-भार आप को सौंपा। आपने उस कार्य को विद्वता-पूर्वक किया। महानुभाव डॉब्र के प्रति भी आप की असीम श्रद्धा एवं भक्ति होने से आपने ई० स० १९०२ में उन की सविस्तर जीवनी लिखी जिसे खड्गबिलास प्रेस ने छाप कर प्रकाशित किया। ई० स० १९०७ में आपने सोलंकियों का प्राचीन इतिहास लिखा। आज तक हिन्दी में इस पराक्रमी एवं गौरवशाली जाति का ऐसा सर्वाङ्गपूर्ण इतिहास न था। विद्वानों तथा इतिहास वेत्ताओं ने इस इतिहास की बहुत प्रशंसा की तथा नागरी-प्रचारिणी सभा ने इस के लिए एक पदक प्रदान कर आप को सम्मानित किया। मेवाड़ और सिरोंही राज्य के इतिहास भी आपकी अमूल्य कृतियाँ हैं। आपके राजपूताने के बृहद् इतिहास की, जो १०—१२ भागों में समाप्त होगा, २ जिल्दे (४ भाग) प्रकाशित हुई हैं। उन के देखने से आपके गंभीर अध्ययन एवं अथक परिश्रम का परिचय मिलता है। यह इतिहास आजतक के लिखे हुए अन्य इतिहासों में अपने ढंग का एक ही है। आपकी स्मरण-शक्ति असाधारण है और आपका सस्तिष्क बहुमूल्य ऐतिहासिक घटनाओं का अखूट भंडार है। नागरी-प्रचारिणी पत्रिका-द्वारा, जिस का आपने

महामहोपाध्याय शयबहादुर
गौरीशंकर हीराचंद जी
ओमा (१८६३—)

अब तक संपादन किया, आपने हिन्दी-जगत् को उत्कृष्ट साहित्य के साथ अमूल्य ऐतिहासिक सामग्री भेट की है। आप ही के शोध से राजपूताने के इतिहास के प्रत्येक अंग पर प्रकाश पड़ता है। आप का राजपूताने का इतिहास संपूर्ण प्रकाशित हो जाने पर गिबन के 'राइज ऐंड फॉल ऑफ़ दि रोमन एम्पायर' नामक इतिहास की भाँति युगान्तर उपस्थित कर देगा। ई० सन् १९२८ में आपने मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पर प्रयाग की हिन्दुस्तानी एकेडेमी में ३ व्याख्यान दिये, जो पुस्तकाकार प्रकाशित हुए हैं। उक्त पुस्तक में ई० सन् ६००-१२०० तक की भारतीय संस्कृति के विविध विषयों का विशद वर्णन है। राजपूताने की ऐतिहासिक खोज के लिए आप अथक परिश्रमी और अपने समय के सर्वश्रेष्ठ इतिहासज्ञ हैं।

भारत-सरकार ने आप को रायबहादुर और महामहोपाध्याय की उपाधियों से विभूषित किया है।

उपयुक्त विद्वानों के महान् श्रम से राजपूताने पर राज्य करने वाले सौर्य, मालव, ग्रीक, आर्जुनायन, वरीक, हूण, गुर्जर, बैस, चावड़ा, गुहिल, प्रतिहार, चौहान, राठौर, कछवाहा, यादव, परमार, सोलंकी, नाग, योधेय, तंवर, दहिया, निकुप, डोडिया, गोड़, झाला आदि राजवंशों का बहुत कुछ शुद्ध इतिहास प्रसिद्धि में आ गया है, जिस से भावों की पुस्तकों और कथाओं में लिखे हुए अनेक कल्पित बातों का निराकरण हो सकता है। अतएव ये विद्वान् प्रत्येक विद्यालुभागी तथा इतिहास-प्रेमी राजपूताना निवासी के सम्मान पात्र हैं।



५

अभिलेखों, मुद्राओं, लिपि तथा प्राचीन
पोथियों का अनुशीलन

प्राचीन राजशासनांतील दानच्छेदाचा निषेध करणारे श्लोक

श्रीयुत पांडुरंग वामन काणे, एल्० एल्० एम्०, मुम्बई

[याज्ञवल्क्य स्मृति (१. ३१८-२०) में विधान है कि आगामी अच्छे राजाओं के परिज्ञान के लिए राजा को दानपत्र वा निबन्ध को कपड़े या ताम्रपत्र पर अंकित करवाना चाहिए, तथा इस प्रकार के लेख उस की सुझा से अंकित होने चाहिए और वन पर दानोच्छेद के परिणामों को भी लिख देना चाहिए। अपराक ने इन श्लोकों पर टीका करते हुए बृहस्पति और न्यास से श्लोक वद्वृत्त किए हैं, जिन में इस का विचार से वर्णन है कि कपड़े या ताम्रपत्र पर लिखे जाने वाले राजशासनों पर क्या लिखा जाना चाहिए। इन में से दोनों स्मृतिमें में पाए जाने वाले एक श्लोक में लिखा है कि दानपत्र में इस तरह के श्लोक रहने चाहिए जिन में दान का पालन करने वाले को स्वर्गप्राप्ति और उस का उच्छेद करने वाले को १०,००० वर्ष नरकभोग लिखा हो।]

पांचवीं शताब्दी के बाद से ऐसे श्लोक सच दानपत्रों में मिलते हैं। प्रारम्भिक गुप्त और पल्लव दानपत्रों में इस प्रकार के श्लोक नहीं हैं। पाचवीं या छठी सदी ई० के दानपत्रों में जहाँ प्रायः इस प्रकार के २, ३ श्लोक ही रहते हैं वहाँ १० वीं सदी और उस के बाद के दानपत्रों में एक एक दर्जन से भी ज्यादा श्लोक इस प्रकार के रहते हैं। इस लेख में ऐसे ४१ श्लोक इकट्ठे किए गए तथा उन के अनुवाद दिए गए हैं। उन में से कुछ धर्मशास्त्र, महाभारत, बृहस्पतिस्मृति तथा अन्यत्र ग्रंथों में आए हैं यह दिखाया गया है। यह दिखाने का यत्न किया गया है कि सब से पुराने किन अभिलेखों और दानपत्रों में श्लोक आए हैं तथा उन के कुछ एक पाठभेदों को भी दे दिया गया है।]

याज्ञवल्क्यस्मृतौ राजानं दान देवानां कोऽपि पद्धतिं स्वीकारावी या विषयीं खालो दिलेले श्लोक आह्वेत ।

दत्त्वा मूर्ध्नि निबन्धं वा कृत्वा लेख्यं च कारयेत् ।

आगामिभद्रपुत्रिपरिज्ञात्वाय पार्थिवः ॥

पटे वा ताम्रपट्टे वा स्वमुद्रोपरिचिह्नितम् ।

अभिलेख्यात्मनो वंशवानात्मानं च महीपतिः ॥

प्रतिग्रहपरीमार्थं दानच्छेदोपवर्जनम् ।

स्वहस्तकालसम्पन्नं शान्तं कारयेत्स्मरम् ॥ (१. ३१८-२०)

अर्थ—भूमिदान केलें असता किंवा पक्षादी वृत्ति नेमून दिली असता पाठीमागून येथारया सज्जन राजाच्या माहितीकरिता राजानें लेख लिहवून ठेवावा । तो लेख बखावर किंवा ताम्रपट्टावर लिहवावा आणि त्यावर आपल्या (गर्भ, वराह वगैरेनीं युक्त असलेल्या) मुद्रेंचा ठसा उमटवावा, आपल्या वंशातील पुरुषांचीं नांवें व आपलें नांव त्या लेखात लिहवावें, दान दिलेल्या भूमीचें किंवा निबन्धाचें परिमाण त्याचप्रमाणें दानाचा विच्छेद केला असता

काय परिणाम होतो याचें वर्णन ही त्या लेखांत असावें । त्या लेखावर स्वतःची सही करून कालाचा (शकनृपकाल वगैरे) निर्देश करून खिरकाल टिकवारे असें शासन राजानें करवून ठेवावें ।

अपराकांनीं याज्ञवल्क्यस्मृतीवरील आपल्या टीकेंत बृहस्पति व व्यास यांच्या स्मृतींतील अवतरणें या श्लोकांच्या व्याख्यानांत दिली आहेत तीं महत्त्वाचीं आहेत, त्यांपैकीं बृहस्पतिस्मृतींतील उतारा खाली देतो ।

दत्त्वा भूम्यादिकं राजा ताम्रपट्टेष्ववा पटे ।
शासनं कार्येद्धर्म्यं स्थानवंश्यादिसंयुतम् ॥
अनाच्छेद्यमनाहार्यं सर्वभान्यविवर्जितम् ।
चन्द्रार्कसमकालीनं पुत्रपौत्रान्वयागतम् ॥
दातुः पालयितुः स्वर्गं हर्तुर्नरकमेव च ।
षष्टिवर्षसहस्राणि दानच्छेदफलं लिखेत् ॥
स्वमुद्रावर्षमासार्धदिनाभ्युच्चाराण्वितम् ।
एवंविधं राजकृतं शासनं समुदाहृतम् ॥

यांतील तिसऱ्या श्लोकाचा अर्थ—दान देणाराला, दिलेलें दान पुढें चालू ठेवणाराला साठ हजार वर्षें स्वर्ग आणि दानाचा अपहार करणाराला वितकींच वर्षें नरक असें दानाच्या विच्छेदाचें फळ (राजशासनांत) लिहावें । बृहस्पतिस्मृतीच्या अवतरणांतील दुसरा व तिसरा हे श्लोक व्यासस्मृतींत ही होते असें अपराकंटीकेवरून दिसतें ।

या स्मृतींत सांगितल्याप्रमाणें ईसवी सनाच्या पांचव्या शतकापासून सर्व राजशासनांत मजकूर लिहिलेला सांपडतो । राजशासनांत येणाऱ्या बाकीच्या मजकुराशीं या निबन्धांत काहीं कर्तव्य नाहीं । दानाची स्तुति व दानविच्छेदाचा निषेध बहुधा प्रत्येक शासनाचे शेवटीं असतो । मुख्यत्वेन गुप्तशासन व एफिआफिआ इन्दिक्ता यांत प्रसिद्ध झालेल्या शासनांवरून वरील दोन विषयां सन्बन्धानें आलेले श्लोक येथें एके ठिकाणीं उद्धृत केले आहेत । शासन जितकें प्राचीन तितके अशाप्रकारचे श्लोक कमी असा साधारण नियम आहे । उदाहरणार्थ, मैत्रक कुलांतील व्याघ्रसेन याच्या ताम्रपट्टांत दोनच श्लोक आहेत (ए० ई० जि० ११ पान २२१), ध्रुवसेनाच्या (गुप्त वल्लभी) संवत् २०६ च्या शासनांत व संवत् २१० च्या शासनांत (ए० ई० जि० ११ पान १०७ व १११) तीनच श्लोक आहेत, पण यशःकर्णदेव याच्या संवत् ८२३ (कलचुरि) च्या शासनांत १६ श्लोक (ए० ई० जि० १२ पान २०५), चाहुमान रत्नपाल याच्या विक्रम संवत् ११७६ च्या ताम्रपट्टांत पंधरा श्लोक (ए० ई० जि० ११ पान ३१२-१३) व कनोजचा राजा गोविन्दचन्द्र याच्या विक्रम संवत् ११८६ मधील सहेय-महेय येथील ताम्रपट्टांत सात श्लोक आहेत । येथें निरनिराळ्या शासनांतील ४१ श्लोक उद्धृत केले आहेत व ते होतां होईल तो किती प्राचीन काळापासून आढळतात ते व भारतवर्षाच्या निरनिराळ्या प्रांतांतही आढळतात हेंही दाखविण्याचा प्रयत्न केला आहे । खाली दिलेले श्लोक कधीं व्यासाचे म्हणून, कधीं मनूचे म्हणून, कधीं स्मृतींतील म्हणून व कधीं कोठील तें निर्दिष्ट न करतांच शासनांत दिलेले

या निबन्धांत खाली दिलेले संकेत आहेत: इ० अ० = इण्डियन आण्टिक्वेरी; ए० ई० = एफिआफिआ इन्दिक्ता, गुप्त० = ३१० पलीट यांनीं संपादिलेलीं गुप्त शासनं ।

आढळवाव । ह्या निबन्धात प्रथम श्लोक, नंतर त्याचा अर्थ, नंतर तो कोणत्या प्राचीन शासनांत सापडतो त्याचे दिग्दर्शन व क्वचित् तो वाढण्यांत इतरत्र सापडतो का याच हे ही दाखविले आहे । खाली उद्धृत केलेल्या श्लोकांपैकीं बरेच जीवानन्द यांनीं प्रसिद्ध केलेल्या वृहस्पति स्मृतींत आढळतात ।

१—बहुभिर्वसुधा दत्ता राजभिः सगरादिभिः ।

यस्य यस्य यदा भूमिर्नस्य तस्य नदा फलम् ॥

सगरादि अनेक राजांनीं पृथ्वीचे दान केलें । ज्या ज्या काळीं ज्या ज्या राजांच्या ताब्यांत पृथ्वी असेल त्या त्या वेळीं त्या त्या राजांला त्या दानाचें (पुण्य) फल प्राप्त होतें ।

हा श्लोक व पुढील चार श्लोक हे अनेक शासनांत येतात । याचे इतके दुसरे श्लोक शासनांत आढळत नाहीत । ह्या श्लोकातील दुमरा चरण 'बहुभिश्चानुपालिता' असा पल्लव सिद्धार्थ याच्या पिकिर ताम्रशासनांत (ए० ई० जि० ८ पान १६२) व कुमारविष्णू याच्या चेंदलूर ताम्रशासनांत (ए० ई० जि० ८ पान २३५) पठित केलेला आहे व तो ब्रह्मगीत श्लोक म्हणून कुमारविष्णूच्या शासनांत दिलेला आहे । हा श्लोक वृ० पान ६४६ वर आहे । हा श्लोक गुप्त० अनुक्रम २१ पान ८३ येथें महाराज हस्तिव याच्या ताम्रशासनांत (गुप्त संवत् १५६), त्याचप्रमाणें महाराज हस्तिव याच्या गुप्त संवत् १८१ मधील ताम्रशासनांत (गुप्त० अनुक्रम २३ पान १०८), धरसेनाचें बलभी शासन (संवत् ५८८, ई० अं० जि० ६ पान ८), मंगलीश चालुक्य यांचें शक ५०० मधील शासन (ई० अं० जि० ६ पान ३६३), शके ७३५ मधील तोरखेडें त.अप्र० (ए० ई० जि० ३ पान ५७) इत्यादि शासनांत आलेला आहे । पहिल्या दोन शासनांत तो व्यासाचा म्हणून दिलेला आहे, तोरखेडें येथील शासनांत 'उक्तं महर्षिभिः' असें म्हटलें आहे । कदम्बवंशीय कृष्णवर्मा (दुसरा) याच्या वनहळ्ळी ताम्रशासनांत मनुष्या म्हणून (ए० ई० जि० ६ पान १८) व होयसळ वीरबल्लाल याच्या शके १११४ मधील शासनांत 'मन्वादयः' म्हणून हा श्लोक अवतारित केलेला आहे । गुप्त संवत् ३०० मधील एका शासनांत 'उक्तं च स्मृतिशास्त्रे' असा उल्लेख आहे (ए० ई० जि० ६ पान १४५) ।

२—पृथिवर्षसहस्राणि स्वर्गे मोदति भूमिदः ।

आच्छेत्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत् ॥

अर्थ—भूमिदान करणारा साठ हजार वर्षे स्वर्गांत आनन्दांत रहातो आणि त्या दानाचा विच्छेद करणारा व विच्छेदाला अनुमति देणारा तितकीच वर्षे नरकांत बास करितो ।

यातील दुसरे अर्थ वृहस्पति स्मृतींत (पान ६४६) आहे । वदामी येथील महाकूट संभावरचें मंगलीशाच्या कारकीर्दीच्या पाचव्या वर्षातील शासन (ई० अं० जि० १८ पान १६, धर्मशास्त्रातील श्लोक म्हणून), गुप्त संवत् २३२ मधील नन्दनाचें अमौष ताम्रशासन (ए० ई० जि० १० पान ५१) व (चेदि) संवत् २०७ मधील दहसेन याचें पार्धी ताम्रशासन (ए० ई० जि० १० पान ५३, व्यासाचा म्हणून), सिंहादित्याचें पालिठाणा ताम्रशासन (इसवी सन् २७४, ए० ई० जि० २१ पान १६-१८, व्यासाचा म्हणून), बलभी संवत् २०६ मधील ध्रुवसेनाचें शासन (ए० ई० जि० २१ पान १०७, व्यासाचा म्हणून), मैत्रक व्याघ्रसेन याचें (चेदि) संवत् २४१ (म्हणजे ई० स० ४८०) मधील सुरत ताम्रशासन (ए० ई० जि० ११ पान २८१, व्यासाचा म्हणून), शके ६८२ मधील गौचिन्दाचें ताम्रशासन (ए० ई० जि० ६ पान २११) इत्यादि शेंकडों ठिकाणी हा श्लोक अवतारित केलेला आहे । ए० ई० जि० १२ पान १३५ येथें हा श्लोक व आणखी तीन श्लोक (अनुक्रम नम्बर १, ५, २५) व्यास व मनु या दोघांचे म्हणून दिलेले आहेत । गुप्त० अनुक्रम

२१ (गुप्त संवत् १५६ मधील) व गुप्त० अनुक्रम २३ (गुप्तसंवत् १६१ मधील), गुप्त० अनुक्रम २६ पान ११७- (गुप्त संवत् १७४ मधील) महाराज जयनाथ याचें ताम्रशासन इत्यादि ठिकाणी व्यासाचा म्हणून व श्वेतच्या शसनांत महाभारतातील म्हणून दिलेला आहे। पुष्कळ ठिकाणी 'षष्ठि वर्षसहस्राणि' असा पाठ आहे।

३—स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत् वसुन्धराम्।

गवां शतसहस्रास्य हन्तुः प्राप्नोति किल्बिषम् ॥

अर्थ—आपण दान केलेली किंवा दुसऱ्याने दान दिलेली भूमि जो हरण करतो त्याला एक लक्ष गाईंचा बंध करणार-याला जे पाप लागत त्याची प्राप्ति होते। गृहस्थरत्नाकर या ग्रंथांत बृहस्पतीचा म्हणून हा श्लोक दिलेला आहे, बलभी येथील धरसेन याच्या बलभिसंवत् २६६ मधील शासनांत (इ० आ० जि० ६ पान ६, व्यासाचा म्हणून), पल्लव राज्ञी चारुदेवी हिच्या ताम्रशासनांत (ए० इ० जि० ८ पान १४६, 'हन्तुः पिबति दुष्कृतम्' असा पाठ आहे), पल्लव सिद्धवर्म याच्या पिकिर ताम्रशासनांत (ए० इ० जि० ८ पान १६२, 'आर्षं श्लोकं म्हणून'), ध्रुवसेन याच्या बलभिसंवत् २१० मधील ताम्रशासनांत (ए० इ० जि० ११ पान १११, व्यासाचा म्हणून), इत्यादि: अनेक ठिकाणी हा श्लोक सांपडतो।

४—स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत् वसुन्धराम्।

स विद्यायां कृमिर्भूवा पितृभिः सह पच्यते ॥

अर्थ—आपण दान केलेली किंवा दुसऱ्याने दान दिलेली भूमि जो हरण करितो तो विष्टेतील कृमि- होऊन आपल्या पितरांसह वर्तमान क्लेश भोगतो।

गुप्तसंवत् १७४ मधील महाराज जयनाथ याच्या ताम्रशासनांत (गुप्त० अनुक्रम २६ पान ११७, 'सर्वमस्य- सभृद्धां तु यो...सह मज्जति', असा पाठ आहे), गुप्त संवत् १६१ मधील महाराज हस्तिन याच्या ताम्रशासनांत (गुप्त० अनुक्रम २३ 'मज्जते' असा 'पच्यते' बदल पाठ), इ० स० सातव्या शतकाच्या पूर्वार्धातील भास्करवर्मन् या राजाच्या निघनपुर ताम्रशासनांत (ए० इ० जि० १२ पान ७५), शके ५०० मधील चाळुक्य मंगलीश याच्या शासनांत (इ० आ० जि० ६ पान ३६३, 'मज्जति' असा पाठ), शशांक राजाच्या कारकीर्दीतील गुप्तसंवत् ३०० मधील एका- शासनांत (ए० इ० जि० ६ पान ४५ स्थितिशास्त्रातील म्हणून), इ० स० ६६० मधील पहिल्या विक्रमादित्याच्या शासनांत (ए० इ० जि० ६ पान १०१, 'षष्ठि वर्षसहस्राणि विद्यायां जायते कृमिः' असा पाठ), कदम्बवंशीय कृष्णवर्म याच्या शासनांत (ए० इ० जि० ६ पान १८, 'षष्ठिवर्षसहस्राणि श्वेरे समसि पच्यते' असा पाठ), राष्ट्रकूट कृष्णराज पहिला याच्या शके ६६० मधील तळेगांव ताम्रशासनांत (ए० इ० जि० १३ पान २७०, व्यासाचा म्हणून), शके ८५१ मधील चवथ्या गोविन्दाच्या शासनांत (ए० इ० जि० १३ पान ३३३), सवत् ११६६ मधील गोविन्दचन्द्र याच्या ताम्रशासनांत (ए० इ० जि० १३ पान २१६) इत्यादि ठिकाणी हा श्लोक आहे। हा बृहस्पति स्थिति पान ६४६ येथेही आहे। काही ठिकाणी 'स्वविद्याया' असा (बृहस्पति) व काही ठिकाणी 'श्वविद्याया' असा पाठ आहे।

५—स्वदत्तां परदत्तां वा यन्नात्र च युधिष्ठिर।

मही मतिमतां श्रेष्ठ दानाच्छ्रेयोऽनुपालनम् ॥

अर्थ—बुद्धिमानांत श्रेष्ठ युधिष्ठिरा ! आपण दान दिलेल्या किंवा दुसऱ्याने दान दिलेल्या भूमीचे यत्नपूर्वक रक्षण कर, (स्वतः) दान देण्यापेक्षा दिलेलें दान रक्षण करणें (किंवा चालू ठेवणें) हें जास्त श्रेयस्कर आहे ।

यातील शब्दचा चरण याज्ञवल्क्य १. ३१८—३२० वरील मितान्तरा टीकेने आला आहे । कदाचित् तो श्लोक ६ मधून ही घेतलेला असेल । महाराज संक्षोभ याचें गुप्त संवत् १५६ मधील ताम्रशासन व महाराज हस्तिन याचें गुप्तसंवत् १६१ मधील ताम्रशासन (गुप्त० अनुक्रम २१ व २३, दोन्ही ठिकाणी 'पूर्वदत्ता द्विजातिभ्यो' असा पाठ आहे), महाराज जयनाथ याचें गुप्त संवत् १७४ मधील ताम्रशासन (गुप्त० अनुक्रम २६ पान ११७ येथें 'स्वदत्ता' असाच पाठ आहे), सैत्रक व्याघ्रसेन याचें संवत् २४१ म्हणजे सन् ५६० मधील सुरत ताम्रशासन (पं० ई० जि० २१ पान २२१ 'पूर्वदत्ता द्विजातिभ्यां यत्नाद्रच' असा पाठ आहे), गुप्त संवत् १८६ (ई० स० ५१८-१९) मधील महाराज संक्षोभ याचें वैतुल ताम्रशासन (पं० ई० जि० ८ पान २८७, येथेंही 'पूर्वदत्ता द्विजातिभ्यो' हा पाठ आहे), ई० आ० जि० ६ पान ३६३ चालुक्य संगलीश याचें शके ५०० मधील शासन (व्यासाचा म्हणून), बुद्धराज याचें ताम्रशासन (सन् ६०६-१० मधील पं० ई० जि० पान २८७, येथेंही 'पूर्वदत्ता द्विजातिभ्यो' हा पाठ आहे), चेदि संवत् ३८२ मधील चवथ्या दहाचे शासन (पं० ई० जि० ५ पान ३७)—या सर्व ठिकाणी व्यासाचा म्हणून हा श्लोक दिलेला आहे । चाह्मन रत्नपाल याच्या संवत् ११७६ मधील ताम्रशासनांत 'पूर्वदत्ता नरेन्द्रैश्च यत्नाद्रच शतक्रतो' असा पाठ आहे ।

६—स्वं दातुं सुमहच्छक्यं दु खमन्यार्थपालनम् ।

दान वा पालन वेति दानाच्छेयोऽनुपालनम् ॥

अर्थ—स्वतांच्या माझकीची वस्तु दान करणें पुष्कळ शक्य आहे पण दुसऱ्याने दिलेल्या दानाचें पालन करणें कठीण आहे । (स्वतः) दान देणें किंवा (दुसऱ्याने दिलेल्या) दानाचें पालन करणें वाटून पालन करणें हें जास्त श्रेयस्कर आहे ।

विक्रमादित्य चालुक्य (पद्मिला) याचें ६० स० ६६० मधील ताम्रशासन (पं० ई० जि० ७ पान १०१), कादम्बवंशीय कृष्णवर्मा याचें ताम्रशासन (पं० ई० जि० ६ पान १८, मनुचा म्हणून) इत्यादि ठिकाणी हा श्लोक आला आहे ।

७—अग्नेरफर्त्य प्रथमं सुवर्णं भूर्विष्णवी सूर्यसुताश्च गाव ।

दत्तास्त्रयत्वेन भवन्ति लोका यः काश्चन गां च महीं च दद्यात् ॥

अर्थ—सुवर्ण हे अग्नीपासून प्रथम उत्पन्न झालें, भूमि ही विष्णूची कन्या आहे व गाई ह्या सूर्याच्या कन्या होत । जो सुवर्णदान, गोदान व भूमिदान करील त्यानें तिन्ही लोकांचें दान केलें असें होतें (कारण अग्नि, विष्णू व सूर्य ह्यांची पृथ्वी अन्तरिक्ष व बुलोक हीं अधिष्ठाते आहेत) ।

हा श्लोक वसिष्ठधर्मसूत्र २८ १६ (येथें विसरा चरण 'तासामनन्तं फलमश्नुवीत' असा आहे), वनपर्व अध्याय २०० १२८ व बृह० पान ६४७ या ठिकाणी सापडतो । हा श्लोक वीवरदेव याच्या राजी ताम्रशासनांत (गुप्त० पान २६१), वीवरदेवाच्या बालोद ताम्रशासनांत (पं० ई० जि० ७ पान १०५, व्यासाचा म्हणून), दन्तिवर्म याचें शके ७८६ मधील शासन (पं० ई० जि० ६ पान २८५ व २८३, व्यासाचा म्हणून), विसरा इन्द्रराज याच्या शके ८३६ मधील शासनांत (पं० ई० जि० ८ पान ३७), महासुदेव याच्या खरिभार शासनांत (पं० ई० जि० ८ पान १७३) सापडतो ।

८—विन्ध्याटवीश्वतोयासु शुष्ककोटरवासिनः ।

कृष्णसर्पा हि जायन्ते ब्रह्मदेयापहारकाः ॥

अर्थ—ब्राह्मणाला दिलेल्या दानाचा अपहार करणारे जलविरहित अशविन्ध्य पर्वताच्या अरण्यांत शुष्क वृक्षाच्या ढोलीत राहाणारे कृष्णसर्प म्हणून जन्मास येतात ।

ई० ऑ० जि० ६ पान ७३ (शके ५३४, व्यासाचा म्हणून), कलचुरि संवत् २६२ (इ० स० ५४१) मधील संगमसिंहाचे तांत्रशासन (ए० ई० जि० १० पान ७४), बलभी संवत् २१० मधील ध्रुवसेन याचे पालिठाणा तांत्रशासन (ए० ई० जि० ११ पान ११३-१४, येथे 'कृष्णाहयो हि जायन्ते भूमिदानं हरन्ति ये' असा पाठ आहे), ए० ई० जि० २ पान २० (सन् ५६५, व्यासाचा म्हणून), चेदि संवत् ३६२ मधील चवथ्या दहाचे शासन (ए० ई० जि० ५ पान ३७), ए० ई० जि० ६ पान २११, शके ६६२ गोविन्द याचे शासन, शके १११४ मधील वीरबल्लाल याचे शासन (ए० ई० जि० ६ पान ६७, मन्वादि महर्षींचा म्हणून) इत्यादि ठिकाणी हा श्लोक येतो । यशःकर्णदेव याच्या चेदि संवत् ८२३ म्हणजे सन् १०७३ मधील तांत्रशासनात 'वारिहीनेश्वरपुत्रे शुष्ककोटरवासिनः । कृष्णसर्पास्तु जायन्ते ब्रह्मदेवस्वहा-रिणः।' असा पाठ आहे । महाराज हस्तिन याच्या गुप्तसंवत् १६१ मधील तांत्रशासनात 'अपानीयेश्वरपुत्रे' 'कृष्णाहयो-भिजायन्ते पूर्वदानं हरन्ति ये ॥' असा पाठ आहे ।

९—यानीह दत्तानि पुरा नरेन्द्रैर्दानानि धर्मार्थयशःराणि ।

निर्मास्यवान्वप्रतिमानि तानि को नाम साधु पुनराददौत ॥

अर्थ—धर्म, अर्थ आणि यश यांची प्राप्ति करून देणारी जी दाने पूर्वी राजांनी दिली ती निर्मात्य किंवा वान्त याप्रमाणे असणारी कोणता साधु पुरुष परत घेईल ?

ए० ई० जि० २ पान २० (चेदि संवत् ३४६ म्हणजे इ० स० ५६५), ए० ई० जि० ५ पान ३७ (चेदि संवत् ३६२), बलभी संवत् २४६ मधील शुद्धसेनाचे तांत्रशासन (ए० ई० जि० १३ पान ३३६), शके ७८६ मधील दन्तिवर्म शासन (ए० ई० जि० ६ पान २८५, २८३), ए० ई० जि० ६ पान २८८ (इ० स० ६०६-१०, 'निर्मुक्तमाल्य' असा पाठ आहे), ई० ऑ० जि० ६ पान ७३ (शके ५३४), बलभी संवत् ३२० मधील ध्रुवसेनाचा ताम्रपट (ए० ई० जि० ८ पान १६०), बुद्धराज याचे तांत्रशासन (इ० स० ६०६ मधील, ए० ई० जि० १२ पान ३५), या सर्व ठिकाणी व्यासाचा म्हणून हा श्लोक दिलेला आहे । इ० स० ५७४ मधील सिंहादित्याच्या पालिठाणा तांत्रशासनात (ए० ई० जि० ११ पान १८) 'यानीह दारिद्र्यभयान्नरेन्द्रैर्दानानि धर्मायतनी-कृतानि' असा पाठ आहे । काही ठिकाणी 'दत्तानि यानीह' असा पाठ आहे ।

१०—सामान्योऽयं धर्मसेतुर्नृपाणा काले काले पालनीयो भवद्भिः ।

सर्वानेवान् भाविनो भूमिपालान् भूयो भूयो याचंत रामचन्द्रः ॥

अर्थ—सर्व राजे लोकांना (हे दिलेले दान) साधारण असून त्यांना तो धर्माप्रत पोचविणारा सेतु आहे । (म्हणजे एकट्यालाच ह्या दानाचे पुण्य मिळणारं नसून त्या पुण्यात मागून येणारे सर्वराजे अंशभाक् आहेत); तुम्ही (भावी) राजांनी वेळोवेळी या सेतूचे (दानाचे) पालन केले पाहिजे । अशी प्रार्थना रामचन्द्र पुन पुनः सर्व भावी राजांना करीत आहे । . . .

चवथ्या गोविन्दाचें शासन (ए० ई० जि० १२ पान ३३३), ए० ई० जि० ८ पान ३७ (शके ८३६ मधील तिसर्या इन्द्रराजाचें शासन), विक्रम संवत् १०७८ मधील भोजाचें ताम्रशासन (इन्डियन हिस्टारिकल काटर्ली सन् १८३२ पान ३०५), ए० ई० जि० २ पान २२० (शके ८२२), परमर्दिदेवाचें संवत् ११२३ मधील ताम्रशासन (ए० ई० जि० ४ पान १८३), होयसळ बौरवळाल याचें शके १११४ मधील शासन (ए० ई० जि० ६ पान ७७, मन्वादिमहर्षींचा म्हणून), या ठिकाणीं हा श्लोक आहे। काही ठिकाणीं अर्घाचा व्यत्यास आहे म्हणजे 'सर्वानेताम्' अशी सुरवात केलेली आहे। उदाहरणार्थ, शके ८१५ मधील नोळंब दंशीय शासन (ए० ई० जि० १० पान ६७, 'याचंत रामचन्द्र' म्हणून 'अर्थयत्येप राम' असा पाठ), संवत् ११७६ मधील गोविन्दचन्द्राचें सहेट-महेट शासन (ए० ई० जि० २१ पान २४), कर्णदेवाचें मद्य १०४७ मधील शासन (ए० ई० जि० २१ पान १४१), चाहमान विग्रहराज याचें शासन (ए० ई० जि० २ पान १२५)।

११—न विपं विपमित्याहुर्ब्रह्मस्व विपमुच्यते।

विपमेकाकिन हन्ति ब्रह्मस्वं पुत्रपौत्रकम्॥

अर्थ—विष हे खरोखर विप नव्हे अर्मे (जाणते लोक) म्हणतात, ब्रह्मस्व हेच विष आहे (कारण) विप हे एक जखाला मारत परन्तु ब्रह्मस्व हे (अपहार करणाऱ्याच्या) पुत्रपौत्राचाही घात करतें।

हा श्लोक वसिष्ठधर्मसूत्र १७ ७६ येथें, बृह० पान ६४८ येथें आहे व पहिलें अर्घ वौधायन धर्मसूत्रातही आहे (१८. १०२) शकं ८१५ मधील धर्मपुर येथील नोळंब शासन (ए० ई० जि० १० पान ६७, येथें 'देवस्व' विषमुच्यते' असा पाठ आहे), शकं ८७७ मधील सोमेश्वराचें शासन (ए० ई० जि० १३ पान १७३, 'देवस्व विष' पाठ आहे), संवत् ११७६ मधील चाहमान रत्नपाल याचें सेवाही ताम्रशासन (ए० ई० जि० २१ पान ३१३-१४), 'कनोजच्या चन्द्रदेवाचें' संवत् ११४८ मधील ताम्रशासन (ए० ई० जि० ७ पान ३०५)।

१२—आस्फोटयन्ति पितरः प्रबलान्ति पितामहाः।

भूमिदोऽस्पृक्तुले जातः स नखादा भविष्यति॥

१३—प्रायेण हि नरेन्द्राणां विद्यते नाशुमा गतिः।

पूयन्ते ते तु सततं प्रयच्छन्तो वसुन्धराम्॥

अर्थ—पितर टाळता पिटावाद, पितामह वड्या मारूं लागतात, को ग्रामच्या कुळांत भूमिदान करणारा म्हाला, तो ग्रामहाला तारील, प्रायः राजाना अशुभगति प्राप्त होत नाहीं कारण ते वसुन्धरेचें सतत दान करीत असल्यानें पुनीत होतात।

यातील पहिला श्लोक बृहस्पतिसंहितेंत (पान ६४५) आहे। दोन्ही श्लोक गुप्त संवत् १७४ मधील महाराज जयनाथ याच्या ताम्रशासनात आहेत (गुप्त० अनुक्रमांक २६ पान ११७)।

१४—सुवर्णमेकं गामेका भूमेरप्येकमकुलम्।

हरन्नरकमाप्नोति यावदाभूतसंख्यम्॥

अर्थ—एक सुवर्ण (सोण्याचें नाणें), एक गांव किंवा एक अंगुलसुद्धा भूमि यांचा जो अपहार करितो त्याला नैतिक प्रलयापर्यंत नरक मिळतो।

हा श्लोक बृहस्पति स्मृतीत (पान ६४७) येतो । तेथे 'गामेकां स्वर्णमेकं वा भूमेरप्यर्धमनुलम् । रुन्धन्नरकमायाति' असा पाठ आहे । इ० स० १०४७ मधील कर्णदेवाच्या ताम्रशासनांत (ए० इ० जि० २१ पान १४१), संवत् ११४८ मधील कनोजच्या चन्द्रदेवाच्या शासनांत (ए० इ० जि० ८ पान ३०५) येथे 'गामेकां स्वर्णमेकं च' असा पाठ आहे), संवत् ११८६ मधील एका शासनांत (ए० इ० जि० २ पान ३६३) हा श्लोक येतो ।

१५—भूमिं यः प्रतिगृह्णाति यश्च भूमिं प्रयच्छति ।

उभौ तौ पुण्यकर्माणौ नियतं स्वर्गगामिनौ ॥

अर्थ—जो भूमीचे दान करितो व जो भूमिदानाचा प्रतिग्रह करितो ते दोघेही पुण्यकर्म करणारे असून निःसंशय स्वर्गास जातात ।

हा श्लोक बृहस्पति स्मृतीत पान ६४७ व बृहद्ब्रह्मसंहिता ७.१६४ येथे आहे । हा श्लोक कर्णदेवाच्या इ० स० १०४७ मधील शासनांत (ए० इ० जि० ८ पान १४१), संवत् ११८६ मधील गोविन्दचन्द्राच्या शासनांत (ए० इ० जि० २१ पान २४), संवत् ११४८ मधील चंद्रदेवाच्या शासनांत (ए० इ० जि० ८ पान ३०५), इ० स० १०४७ मधील कलचुरी सोढदेव याच्या शासनांत (ए० इ० जि० ७ पान ८३), संवत् ११६२ मधील शासनांत (ए० इ० जि० २ पान ३६०) येतो ।

१६—फालकृष्टां महीं दद्यात् सबीजां सस्यमालिनीम् ।

यवत्सूर्यकृता लोकास्त्यावत्सर्वे महीयते ॥

अर्थ—नागरानें नागरलेली, बीजयुक्त व पीक आलेली अशी जमीन जो दान देतो तो जो पर्यंत सूर्याच्या प्रकाशाने लोक प्रकाशित होत आहेत ते तो पर्यंत स्वर्गांत महत्त्व पावतो ।

हा श्लोक बृहस्पति स्मृतीत (पान ६४५) आहे । दुसरा सत्याश्रय पुलकेशी याच्या चिपळूण ताम्रशासनांत (इ० स० सातवें शतक पूर्वार्ध, ए० इ० जि० ३ पान ५२), इ० स० १०७३ मधील यशःकर्णदेवाच्या ताम्रशासनांत (ए० इ० जि० १२ पान २०५) तो येतो ।

१७—भूमिप्रदानान्न परं प्रदानं दानाद्विशिष्टं परिपालनं तु ।

सर्वेऽपि सृष्टौ परिपाल्य भूमिं नृपा नृगाद्या त्रिदिवं प्रपन्नाः ॥

अर्थ—भूमिदानापेक्षा श्रेष्ठ असे दुसरे दान नाही, पण भूमिदानापेक्षाही भूमिदानाचे परिपालन करणे जास्त श्रेष्ठ आहे । दान केलेल्या भूमीचे परिपालन केल्यामुळेच सर्व नृगादि राजे स्वर्गलोकाप्रत गेले ।

महाराज संजोम याच्या गुप्त संवत् १८८ (म्हणजे इ० स० ५१८-१९) मधील बैतूल ताम्रशासनांत (ए० इ० जि० ८ पान २८७, व्यासाचा म्हणून), व त्याच राजाच्या गुप्त संवत् २०८ (गुप्त० अनुक्रम २५ पान ११५) मधील ताम्रशासनांत हा श्लोक येतो ।

१८—भूमिदानसमं दानमिह लोके न विद्यते ।

यः प्रयच्छति भूमिं हि सर्वकामान्ददाति सः ॥

अर्थ—ह्या जगामध्ये भूमिदानासारखे दान नाही; जो भूमिदान करितो तो सर्व काम देतो ।

पद्मव सिंहवर्म याच्या पिकर ताम्रशासनांत (ए० इ० जि० ८ पान १६२, अर्थ श्लोक म्हणून) हा दिलेला आहे ।

१८—योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव वा ।

तात्तुमौ गच्छत स्वर्गं नरकं तु विपर्यये ॥

अर्थ—जो मानमरातवानें दान देतो व जो अशा प्रकारें दिलेलें दान घेतो ते दोघे स्वर्गास जातात, याच्या उलट स्थिति असल्यास ते नरकांत जातात ।

संवत् ११६२ मधील शामनात हा श्लोक आहे (ए० इ० जि० २ पान ३६०) । हा मनुस्मृति ४ २३५ आहे ।

२०—अपि गङ्गादितीर्थेषु हन्तुर्गामयवा द्विनम् ।

निष्कृतिं त्याज्य देवस्वप्नस्वप्नहरणे वृणाम् ॥

अर्थ—गङ्गादितीर्थाच्या ठिकाणीं गाय किंवा द्विज याचा वध करणाराही पुरुष कदाचित् पापापासून मुक्त होईल परन्तु देव व ब्राह्मण यांचें धन हरण करणारा पुरुष (पापातून) मुक्त होणार नाही ।

वेळगावच्या ५० स० १२०४ च्या एका शासनात हा श्लोक येतो (ए० इ० जि० १३ पान २२) ।

२१—मद्वंशजाः परमहीपतिर्वंशजा वा पापादपेतमनसो भुवि भाविभूपाः ।

ये पालयन्ति मम धर्ममिमं ममन्तं तंभ्यो मया विरचितोऽञ्जलिरेप मूर्ध्नि ॥

अर्थ—साम्ब्या वंशातील किंवा परदगातील जे भावी राजे पापापासून मन परावृत्त करून मी जें हे दान केलें आहे तें समग्र पालन करितोत त्याच्यापुढें गिर वाकतून मी अञ्जलि करितो (म्हणजे मी त्यांना हात जोडून नमस्कार करितो). सद्गुण्या विक्रमादित्याच्या निलगुन्द येथील सन् ११२३ मधील ताम्रशासनांत हा श्लोक आहे (ए० इ० जि० १२ पान १५५) ।

२२—अङ्घ्रिर्दत्तं त्रिभिर्मुक्तं सङ्ग्रह परिपालितम् ।

एवानि न निवर्तन्ते पूर्वराजकृतानि च ॥

अर्थ—जलपूर्वक केलेलें दान, तीन पिढ्या उपभोगिलेलीं जमीन व साधुपुरुषांनीं परिपालन केलेलें दान आणि पूर्वीच्या राजांनीं केलेलीं दानें ही निवृत्त होत नाहीत । कदम्बवंशीय कृष्णवर्म याच्या ताम्रशासनात अनुचा म्हणून हा श्लोक दिलेला आहे (ए० इ० जि० ६ पान १८) ।

२३—शक्नो मद्रासनं छत्रं वरायवा वरवारणाः ।

भूमिदानस्य चिह्नानि फलमेवस्युरन्दर ॥

अर्थ—हे इन्द्रा ! शक्नू, राजसिंहासन, छत्र, श्रेष्ठ घोडे व श्रेष्ठ गज हें जें फल (एखाद्याला) प्राप्त होतें तें भूमिदानाचें खोतक आहे (म्हणजे पूर्वजन्मी किंवा या जन्मी भूमिदान करणाराला हीं राजचिह्ने प्राप्त होतात) ।

हा श्लोक बृहस्पति स्मृतींत (पान ६४५) आहे । कलचुरि सोढवेच याच्या इ० स० १०७७ मधील ताम्रशासन (ए० इ० जि० ७ पान ८३), कनोजच्या चन्द्रदेवाचें संवत् ११४८ मधील शासन (ए० इ० जि० ८ पान ३०५), सवत् ११८६ मधील गोविन्दचन्द्राचें शासन (ए० इ० जि० ११ पान २४), यश कर्णदेवाचें इ० स० १०७३ मधील शासन (ए० इ० जि० १२ पान २०५) येथें हा श्लोक आढळतो ।

२४—न तथा सफला विद्या न तथा सफलं धनम् ।

यथा तु मुनयः प्राहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥

अर्थ—या कलियुगांत एक दान जसे सफल होतें तशी विद्या किंवा धन सफल होत नाही असें मुनि म्हणतात ।
दुसऱ्या भिन्नभाच्या शके ६२२ मधील संगमनेर ताम्रशासनांत हा श्लोक व आखखी चार श्लोक (७, १२, ४०, ४१) 'इति पराशरकुत्साङ्गिरस-गौतम-मनु-याज्ञवल्क्यमुनिवचनान्प्रवर्धाय' असे म्हणून दिलेले आहेत (ए० इ० जि० २ पान २१६) ।

२५—भूमिदानात्परं दानं न भूतं न भविष्यति !

तस्यैव हरणात्पापं न भूतं न भविष्यति ॥

२६—पूर्वैः पूर्वतरैश्चैव दत्ता भूमिं हरेत्तु यः ।

स नित्यव्यमने मग्नो नरके च वसेत्पुनः ॥

अर्थ—भूमिदानापेक्षा श्रेष्ठ दान पूर्वीं झाले नाही व पुढें होणार नाही । त्या भूमिदानाचा अपहार केल्याने जें पाप लागतें त्याहून मोठे पाप झाले नाही व होणार नाही । प्राचीन व अतिप्राचीन (दात्यानीं) दिलेल्या भूमीचा जो अपहार करील तो नेहमी संकट-ग्रस्त होईल आणि नरकांत वास करील ।

हे दोन्ही श्लोक काष्ठी येथील पल्लव राजवंशातील दुसरा कुमारविष्णु याच्या चंदलूर ताम्रशासनांत आहेत (ए० इ० जि० ८ पान २३५, ब्रह्मगीत श्लोक म्हणून) । श्लोक २५ हा इन्द्रवर्म याच्या ताम्रशासनांत आहे (ए० इ० जि० १२ पान १३५, व्यास-मनु-गीतश्लोक म्हणून श्लोक, १, २, ५, व २५ या ठिकाणीं दिलेले आहेत) ।

२७—गप्यन्ते पांसवे भूमेर्गप्यन्ते वृष्टिबिन्दवः ।

न गप्यन्ते विधात्रापि धर्मसंरक्षणे फलम् ॥

२८—परदत्ता तु यो भूमिमुपहिंसेत्कदाचन ।

स बद्धो बाणैः पाशैः क्षिप्यते पूयशोषिते ॥

अर्थ—जमिनीवरील मातीचे कण मोजतां येतील किंवा वृष्टि होत असतां पडणारे पाण्याचे बिन्दु मोजतां येतील, परन्तु धर्माचें (दलाचें) रक्षण केल्याने जें फल (पुण्य) प्राप्त होतें त्याचें माप ब्रह्मदेवालाही घेतां येणार नाही । जो कोणी कधीही दुसऱ्यानें दान केलेल्या भूमीचा विच्छेद करील तो बऱ्याच्या पाशांनीं बांधला जाऊन रफ व पू यात फेंकला जाईल ।

हे दोन्ही श्लोक शके १११४ मधील होयसल वीरबल्लाळ याच्या गदग येथील शासनांत आहेत (ए० इ० जि० ६ पान ६७, मन्वादिमहर्षींचे म्हणून) ।

२९—इति कमलदलान्मुविन्दुलोहां श्रियमनुचिन्त्य मनुष्यजीवितं च ।

अतिविमलमनोमिरात्मनीनैर्नहि पुरुषैः परकीर्तयो विलोप्याः ॥

अर्थ—मनुष्याचें जीवित व संपत्ति ही कमलपत्रावरील पाण्याच्या बिन्दूप्रमाणे वंचल आहेत हे ध्यानांत घागवून अतिशुद्ध अन्तःकरणाच्या व आमच्या वंशातील पुरुषांनी दुसऱ्याच्या कीर्तीचा (दाने देऊन मिळविलेल्या) लोप करूं नये ।

शके ६६७ मधील ध्रुवराज याच्या पिंपरी ताम्रशासनांत (ए० इ० जि० १० पान ८६), शके ७८६ मधील दन्तिवर्म ताम्रशासनांत (ए० इ० जि० ६ पान २६४), इ० स० १०७७ मधील कलजुरि सोढादेव याच्या ताम्रशासनांत

(ए० ई० जि० ७ पान ८३), संवत् १०७८ मधील मोजाच्या ताम्रशासनात (इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली स० १८३२ पान ३०५) इत्यादि ठिकाणीं हा श्लोक आहे ।

३०—वाताभ्रविभ्रमसिद्धं वसुधाधिपत्यमापातमात्रमधुरा विषयोपभोगाः ।

प्राणाश्वाप्राजलविन्दुममा नराणां धर्मः मत्वा परमहो परलोकयाने ॥

अर्थ—पृथ्वीचें आधिपत्य हें वारधानें फिरविल्या जाणारया अभ्राप्रमाणें (चंचल किंवा क्षणिक) आहे, विषयाचें सेवन केवळ प्रारम्भी गोढ लागतें (परन्तु परिणामी कट्ट किंवा घातक), मनुष्याचे प्राण हे वृणाशीं लोंबणारया जलविन्दूप्रमाणें आहेत (केव्हा खालीं पडतील याचा नियम नाही), म्हणून लोकहो, परलोकां जाताना धर्म हाच श्रेष्ठ मित्र होय ।

यशःकर्णदेव याच्या कलचुरि संवत् ८२३ (इ० स० १०७२-७३) मधील ताम्रशासनात (ए० ई० जि० १२ पान २०५), संवत् ११८६ मधील गोविन्दचन्द्र याचें सहेवमहेत ताम्रशासन (ए० ई० जि० २१ पान २४), त्याच राजाचें संवत् ११८६ मधील ताम्रशासन (ए० ई० जि० १३ पान २२०) इत्यादि ठिकाणीं हा श्लोक आहे ।

३१—अस्मत्कुलं परमुदारमुदाहरद्विरन्यैश्च दानमिदमत्र नु मोदनीयम् ।

लक्षन्यास्तद्वित्तिलबुद्बुदचञ्चलाया दानं फलं परमशःप्रतिपालनं च ॥

अर्थ—आमचें कुल अत्यन्त थोर आहे अशी घोषणा करणारया (आमच्या बंधांतलें) राजांनीं व इतरानो हें जें दान (आम्हां) दिलें आहे त्याला अनुमति द्यावी । विद्युत् किंवा पाण्याचा बुद्बुदा धाप्रमाणें चञ्चल अशी जी लक्ष्मी तिचें फल म्हटलें तर दान व दुसरयाच्या (दान केल्यामुळें मिळालेल्या) यशाचें परिपालन हेच होय ।

संवत् १०७८ मधील मोजदेवाच्या नवीन संपादिलेल्या ताम्रशासनानें (इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली १८३२ पान ३०५, 'कुलकममुदारमुदाहरद्विर' असा पाठ आहे), संवत् ११६२ मधील गोविन्दचन्द्राच्या घनारस ताम्रशासनात (ए० ई० जि० २ पान ३६०) मध्ये हा श्लोक येतो ।

३२—अस्मिन् वंशे द्विजगोऽपि यशान्या नृपतिर्भवेत् ।

तस्यापि करलग्नोऽहं शासनं न व्यतिक्रमेत् ॥

अर्थ—या (आमच्या) वंशांत ब्रह्महत्या करणाराही जरी कोणी नृपति झाला तरी त्याच्याही पुढें मी अक्षलि जोडलों कीं (प्रार्थना करितों कीं) मी दिलेल्या शासनाचा त्यानें भंग करूं नये ।

इ० स० १०४७ मधील कर्णदेवाचें ताम्रशासन (ए० ई० जि० २१ पान १४१), संवत् ११७६ मधील चाहुमान रत्नपाल याचें सेवाही ताम्रशासन (येथें 'अस्मद्गो यदा जीये यः कोपि नृपतिर्भवेत् । एतस्याहं करं लग्नः' असा पाठ आहे व तो जाल् चंगला आहे), इ० स० १०७३ मधील यशःकर्णदेव याचें ताम्रशासन (ए० ई० जि० १२ पान २०५) इत्यादि ठिकाणीं हा श्लोक येतो ।

३३—यावन्ति सत्यमूलानि गौरीमाणि च संख्यया ।

नरस्तावन्ति वर्षाणि स्वर्गे तिष्ठति भूमिदः ॥

३४—न्यायेनोपाजिता भूमिरन्यायेनोपहारिता ।

हरन्तेो ह्यारयन्तोऽपि आत्रन्याससमं कुलम् ॥

३५—त्रोण्याहुरतिदानानि गावः पृथ्वी सरस्वती ।

आसप्तमं फलन्त्येते दोहवाहननिवेदनैः ॥

३६—सर्वेषामेव दानानामेकजन्मानुगं फलम् ।

हाटकचित्तिगौरीया सप्तजन्मानुगं फलम् ॥

३७—तडागानां सहस्रेण अश्वमेधशतेन च ।

गवां कोटिप्रदानेन भूमिहर्ता न शुष्यति ॥

३८—सत्यं चैव हुतं चैव यत्किञ्चिद्धर्मसंचितम् ।

अर्धाङ्गुलेन सीमाया हरणेन प्रणश्यति ॥

३९—ऋणहर्ता भूमिहर्ता हारयिता हि ते त्रयः ।

एते च नरकं यान्ति यावदिन्द्राश्चतुर्दश ॥

अर्थ—गाईच्या रोसांची जितकी संख्या आहे (म्हणजे असंख्य) किंवा शेतात जगवणारया पिकांची जितकीं मुल्ले असतात तितकीं वर्षे भूमिदान करणारा मनुष्य स्वर्गलोको वास करितो । न्यायानें मिळविलेल्या भूमीचा जर अन्यायानें अपहार केला गेला तर अपहार करणारे आणि करविणारे यांच्या कुलाचा सात पुरुषांपर्यंत घात होतो (म्हणजे नरक-गति प्राप्त होते) । गाय, पृथ्वी आणि विद्या हीं तीन दाने' सर्वदानांत पलीकडचीं आहेत । ही दाने' देशारथाच्या कुळात सातव्या पुरुषापर्यंत दुग्ध, वाहन व निवेदन (विद्यासंपन्नता) या तीन प्रकारांनीं फल प्राप्त होत असते । सर्वदानांचे फल फक्त एक जन्मापुरतेच मिळत असते, परन्तु सुवर्ण, भूमि आणि कन्या यांच्या दानाचे' फल सात जन्म पर्यंत बरोबर येत असते' । भूमीचा अपहार करणारा एक हजार तलाव बांधून, शंभर अश्वमेध करून, एक कोटी गाई देऊन ही (पापांतून) शुद्ध होत नाही । सत्याचे' पालन, अग्नोत हवन यामुल्ले व दुसरथा मार्गांनी जो काहीं धर्माचा संचय केलेला असेल तो सर्व अर्धअंगुल इतकी सुद्धा जर सीमा अपहृत केली तर नाश पावतो । ऋणाचा अपहार करणारा, भूमीचा अपहार करणारा व ऋण आणि भूमि) यांचा अपहार करविणारा हे (तीथेही) चवदा इन्द्रांचे (देवांचर) अधिराज्य असे पर्यंत नरकांत जातात ।

हे सातही (३३-३९) श्लोक चाहुमान रत्नपाल याच्या संवत् ११७६ मधील सेवाढ ताम्रशासनांत आढळतात (ए० ई० जि० ११ पान ३१२-३१३) । यांपैकी ३५ श्लोकाचा पूर्वार्ध, ३७ व ३४ हे श्लोक वृहस्पति स्मृतींत (पान ६४६ व ६४७) येतात । 'त्रोण्याहुरति' 'सरस्वती' हें अर्थ वसिष्ठस्मृति (२६-१६) येथे' ही आढळते' । श्लोक ३३, ३४ हे यशःकर्षादेवाच्या ताम्र शासनांतही येतात (ए० ई० जि० १२ पान २०५) । श्लोक ३७ व ३९ राष्ट्रकूट कृष्णराज ण्णाच्या शके ६६० मधील तळेगांव ताम्रपट्टांत आहेत (ए० ई० जि० १३ पान २८०-८१, ३६ वें उत्तरार्ध 'नरकान्न निवर्तन्ते यावदाभूतसंज्ञकम्' असे' आहे) । ३६ चे पूर्वार्ध वृह० पान ६४६ व वसिष्ठधर्मसूत्र २६.१६ येथें आहे.

४०—भूमिदानं सुपात्रेषु सुतीर्थेषु सुपर्वणि ।

अगाधापारससारसागरोत्तारणं भवेत् ॥

४१—धवलान्यातपत्राणि दन्तिनश्च मदौद्धवाः ।

भूमिदानस्य पुण्यानि फलं स्वर्गः पुरन्दर ॥

अर्थ—योग्यपुरुषांना उत्तम तीर्थांचे ठिकाणी व चांगल्या पर्वकाळीं दिलेले भूमिदान अगाध आणि अपार असा सत्तारसागर तरून जाण्याचें साधन होते। हे इन्द्रा ! मदमत्त वृत्ती व शुभ्रजत्रे हौं भूमिदानाचीं पुण्ये आहूत व स्वर्ग हा फल आहे।

हे दोन्ही श्लोक संगमनेर येथील शके ८२९ मधील यादववंशीयदुसरथा मिहमाच्या ताम्रशासनात आहूत (९० ई० जि० २ पान २१६)

हा श्लोकावरून मुचबारे कार्हा विचार नमूद करणें आवश्यक आहे। गुप्तवंशाच्या पहिल्या शासनांत असले श्लोक नाहींत। उदाहरणार्थ, गुप्त संवत् ८८ (इ० स० ४०७-८) मधील दुसरथा चन्द्रगुप्ताच्या शिलाशासनांत 'यश्चैनं धर्मस्कन्धं व्युच्छिन्धात् पञ्चमहापातकैः संयुक्तः स्यादिति' एवढेंच वाक्य आहे, त्याच प्रमाणे गुप्त संवत् ८३ मधील (गुप्त० अनुक्रमाक ५ पान ३२) शासनात ही 'तदेतरप्रवृत्तं यच्छिन्धात् स गोब्रह्महत्याया संयुक्तो भवेत्पंचमि- रचानार्थे' असे आहे। गुप्त संवत् १४६ मधील स्कन्दगुप्ताच्या ताम्रशासनात एक श्लोक आहे पण तो व्यासाचा किंवा स्मृतीतील म्हणून दिलेला नाही व पुढे आढळणारया श्लोकांपैकी नाहीं। तो श्लोक असा 'यो विक्रमेहायमिमं निबद्धं गोघ्नो गुहघ्नो द्विजघातक स। तैः पातकैः पञ्चभिरन्वितोऽथो गच्छेश्वरः सोऽपनिपातकैश्च॥' गुप्तवंशाप्रमाणेच प्राचीन पञ्चवंशातील शिवस्कन्दवर्मन् याच्या शासनातही (९० ई० जि० १ पान ७) हे श्लोक येत नाहींत। यावरून असे दिसते कीं इ० स० ८ व्या शतकापर्यंत शासने लिहण्याची सर्वसंमत पद्धति ठरली नव्हली व दानविच्छेदा- सन्ध्याचे श्लोक सर्वश्रुत झाले नव्हते। पुढे जसजसे गुप्तसाम्राज्य वळावत जाऊन विस्तृत झाले व वैदिक धर्माचा पुनः विजय व सर्वत्र प्रचार झाला आणि निरनिराळ्या याज्ञवल्क्य बृहस्पति इत्यादि स्मृति प्रमाणां मानण्यांत येऊं लागल्या तेव्हा विशिष्ट पद्धतीने शासने लिहिण्यात येऊं लागली व दानविषयक श्लोक उद्धृत करण्यांत येऊं लागले।

'दानविच्छेदाचा निषेध पुष्कळ श्लोकांत जरी केलेला असला तरी लोभी राजे व इतर लोक दिलेली दाने परत घेत किंवा त्याचा लोप बारवार करीत असे दिसते। यासंबंधानें परित्राजक महाराज संचोम व इतिवृत्त यांच्या शासनात एक नैराश्यपूर्ण विलक्षण वाक्य येते त्याचा उल्लेख केला पाहिजे। गुप्त संवत् १६१ मधील ताम्रशासनांत 'धोन्यथा कुर्वाप्तमहं देहान्तरगतोऽपि महत्वावध्यानेन निर्दहेयम्' (जे कोणी माभ्या दानाचा विपर्यास किंवा छेद करील त्याला मी दुसरथा देहात असलों तरी अत्यंत प्रकल्पाय चित्तून जाळून फस्त करीन) अशी धमकी महाराज हस्तिर् याने दिलेली आहे (गुप्त० अनुक्रमाक २३ पान १०७)। त्याच प्रमाणे गुप्त संवत् १८६ मधील संचोम याच्या शासनांत (९० ई० जि० ७ पान ८७) तेच शब्द आहेत। त्याच प्रमाणे गुप्त संवत् २०६ मधील महाराज संचोम याच्या ही शासनात आहूत (गुप्त० अनुक्रमाक २५ पान ११५)। चाळुक्य विक्रमादित्य (पहिला) याच्या इ० स० ६६० मधील ताम्रशासनांत 'देवब्राह्मण यांना दिलेलीं शासनें त्या तीन राज्यांत नष्ट झालेलीं विक्रमादित्याने पुनः प्रस्थापित केलीं असे' वर्णन आहे (९० ई० जि० ८ पान १००)। विसरथा इन्द्रराजाच्या शके ८३६ मधील शासनात 'प्रवीं च्या राजांनीं विष्णुप्व केलेले चारशे' गाव त्याने परत दिले असा उल्लेख आहे (९० ई० जि० ८ पान २४)।

१. 'अवध्याने' याचा अर्थ 'तुच्छ होऊन, तिरस्कार' असा आहे। तो अर्थ येथे बरोबर जुळत नाहीं। जुळावत 'अपध्यानेन' असे असल्यास जास्त बरे। 'अपध्याने' म्हणजे मनांतल्या मनात शाप येथे। हा शब्द कादम्बरी वगैरे संस्कृत ग्रंथांत येतो।

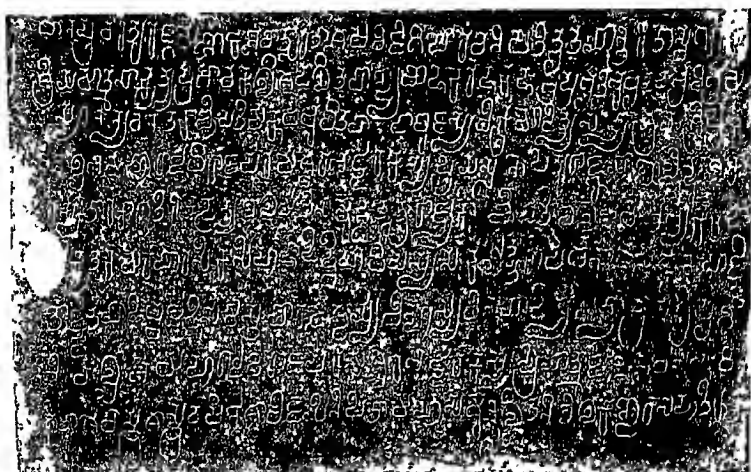
विजयादित्य का अम्मण्णिगि-ताम्रपत्र

श्रीधुत पं० वीरभद्र शर्मा तैलंग, वेद-काव्यतीर्थ, साहित्यविशारद, काशी

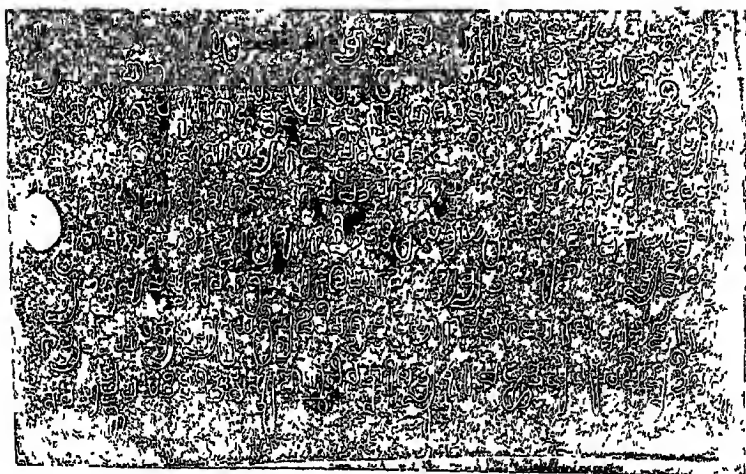
चार साल हुए यह ताम्रपत्र मुझे अपने मित्र पं० श्रीगुरुदेव जी स्वामी द्वारा मिला। आपने बताया कि “१५ साल हुए, मैंने इसे अपनी जन्मभूमि अम्मण्णिगि गाँव के द्विरेमठ में पहले पहल पाया था। यह मठ बड़े श्रीशैल (जि० कर्नूल) के पास वाले, प्रसिद्ध सारंग-मठ वालों के वंशजों का है। इस वंश में दो व्यक्रम माहेश्वर स्वामी प्रसिद्ध तपस्वी और विद्वान् हो गये हैं। पश्चिमी चालुक्य राजाओं के शासनकाल में पंडितों का आदर बहुत होने के कारण हमारे पूर्वजों से से कुछ लोग वहाँ से निकल कर इस अम्मण्णिगि गाँव (जि० बेल्लगाँव) में बास करने लगे थे। इस पत्र के बारे में हमारे वंश में परम्परा चली आती है कि यह पत्र चालुक्य महाराजाओं ने भूदान करते समय हमारे पूर्वजों को दिया था। ३० वर्ष पूर्व इस पत्र के साथ और भी दो पत्र थे, किन्तु इधर कितने ही विद्वानों ने परिशोध के बहाने बहुत कुछ पुस्तकों (ताड़पत्र की) और ताम्रपत्रों को ‘अपनाया’ है, इस के अतिरिक्त मठ के पालकों की असावधानी से भी कुछ पत्र लुप्त हो गये हैं।”

हमारे पास एक ही पत्र है, जिस की लम्बाई ८३ अंगुल, और चौड़ाई, ४३ अंगुल है। पत्र के दोनों तरफ नौ नौ पंक्तियाँ हैं, और चारों तरफ के कोने मोड़ कर थोड़े ऊपर को उठाये गये हैं। एक तरफ का कोना थोड़ा फट गया है। इस तरह पत्र की हालत बहुत कुछ अच्छी है।

विक्रमादित्य सत्याश्रय श्री पृथ्वीवल्लभ महाराज परमेश्वर भट्टारक के पौत्र और विनयादित्य सत्याश्रय महाराज के पुत्र श्रीविजयादित्य सत्याश्रय महाराज के सभी को आज्ञापूर्वक घोषणा करने के कारण इस पत्र का दाता दानावसर पर लिखा जाना माना जायगा। इस पत्र के मालिकों का वंश-परम्परागत कथन भी इस का समर्थक है। दाता तो पश्चिमी चालुक्य वंश का सुप्रसिद्ध राजा है। ये लोग, पहले बातापि (बादामि) नगर में राज्य करने के कारण इतिहास-जगत् में “बातापि के चालुक्य” कर के भी प्रसिद्ध हैं। वंशतालिका के अनुसार यह विजयादित्य द्वितीय पुलकेशी का प्रपौत्र और प्रथम विक्रमादित्य का पौत्र ठहराया गया है। उस समय में द्वितीय पुलकेशी का माई, विष्णुवर्धन महाराजा और उन के पुत्र मिल कर पूर्वी-चालुक्य (वेगी अथवा आन्ध्र) राज्य का पालन करते थे। इस दान के दाता विजयादित्य का समय उस के पिता (विनयादित्य) और पौत्र (कीर्तिवर्मा) के दानपत्रों और शिलालेखों का अवलोकन कर के इतिहास के विद्वानों ने ई० सं० ६६६ से ७३४ के बीच माना है।^१



अम्माणिगि राजपत्र की पहली ओर



अम्माणिगि राजपत्र की दूसरी ओर

इस पत्र का अगला भाग न मिलने से इस दान के प्रतिगृहीता का ठीक नाम या वंश नहीं बतलाया जा सकता। तो भी अम्मण्डिगि के मठ में चली आती चिरकालीन परम्परा के कारण यही अनुमान होता है कि उसी मठ के किसी प्राचीन और तपस्वी आचार्य को यह दानपत्र दिया गया होगा, क्योंकि दक्षिण भारत के मठों में इस प्रकार के दानपत्र अब तक बहुत मिल चुके हैं।

इस तान्नपत्र में “वत्वारिण्युत्तरपट्टतेषु शकवर्षेण्वतीतेषु” (शक वर्ष ६४० बीतेने पर अर्थान् ई० स० ७१८) ऐसा स्पष्ट उल्लेख होने से इस में कुछ भी सन्देह नहीं कि इस पत्र को दिये हुए अब दानपत्र का समय वारह सौ पन्द्रह बरस हो चुके। इस पत्र की लिपि भी इस बात को सिद्ध करने में समर्थ है। कालनिर्णय के विषय में तो यह दानपत्र औरों के लिए भी आदर्श है।

इस पत्र के अक्षर प्राचीन आन्ध्र कर्नाटक-लिपि के हैं, पत्र के एक तरफ के अक्षर गोल और दूसरी तरफ के अक्षर इस से कुछ भिन्न याने कोनेदार होने से ऐसा भास होता है कि इस पत्र को विशेषार्थ लिखने वाले दो आदर्मा होंगे। अक्षरों के गढ़बो में कोई कठिन मसाला भरा है जो बहुत परिश्रम करने पर भी ठीक नहीं निकल सका, इस के अलावा पत्र का दूसरा पादव ज्यादा ऊँचा नीचा है, अतः पत्र का प्रतिविम्ब वैसा नहीं आया, जैसा मैं चाहता था।

स्वरो में इ ए और हलो में ‘क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल ळ, श ष स ह; ञ त्र झ, अचर आये हैं। स्वर मात्राओं में ‘‘, ‘’, ‘’ को छोड़ सभी मात्राएँ आने पर भी ‘इ, और ई’ को मात्रा में कोई भेद मालूम नहीं होता। हल मात्राओं में क् ख् ग् च् छ् ज् ङ् ट् ढ् त् द् न् र् भ् म् य् र् ल् व् श् स ह’ आई हैं। कुछ जगह महाप्राणों के लिए अल्पप्राण ग्रयुक्त किये गये हैं, दोष तो नहीं से हैं। (), [] इन कोष्ठों में दोष और च्युत अक्षरों को दिखाऊँगा, यहाँ मेरे पाठ के अनुसार मूल, और मेरे उत्तर हुए दो चित्र दिये जाते हैं।

पहली ओर का पाठ

- १ दान' प्रवरतुरङ्गमेखैकैनेबोत्सारिदाशेपविजिगिपोरवनिपतिवृत्तयान्तरिता[] स्वगुरो [:]
- २ श्रियमात्मसाकि(ङ्क)स्व प्रभावकुलिग दक्षित पाण्ड्यचोळ केरळ कळभ प्रभृति भूयुद्धप्रविभ्रम-
- ३ स्थानन्यावनत काञ्चीपति मकुट चुवि(न्द्र)त पादायु(म्बु)जस्य विक्रमादित्यसत्याश्रयश्रीश्रु(यि)-
४. वीवल्लभमहाराजाधिराजपरमेश्वरभट्टारकश्रियसूतो [:] पितुराज्या वालेन्दु शेक (ख)-
५. रस्यतारकारातिरिच वैत्यवल्लभतिसमुद्धतत्रैराव्यकाञ्चीपतिवल्लभवष्टभ्य करदी-
६. क(कु)तकवेर पारसिकसिद्धादिद्वीपाधिपत्य सकलौत्तरापयनायमनयोपाधि-
- ७ तोर्जितपाळिष्यवाहिसमस्तपारमैश्वर्यचिन्हस्य विनयादित्यसत्याश्रयश्रीश्रु(यि)-
- ८ वीवल्लभमहाराजाधिराजपरमेश्वरभट्टारकस्यप्रियात्मजरौशावएवाधि-
- ९ गताशेषास्त्रशास्त्र (स्त्रो) दक्षिणाश्याविजयिनि पितामहे सन्मुन्मूलितनिखिलकयटकसहितकृत-

दूसरी ओर का पाठ

- १० रापय विजयगोपुरोरोरप्रतएवावहव्यापारमाचरन्न्रातिगजघटापादनविशी-
११. व्यमान(य) क(क) पाण्यारस्समग्रविग्रहाग्रेसरससाहसरसिकः परामु(इमु)लीक(कु)तश-

१. इस 'दान' शब्द के पहले 'चित्रकंठ' (याने चित्रकंगभिधान) का पाठ और और पत्रों में आया है।

१२. नुमण्डल(लो) गंगा(ङ्गा) यमुनापाळिभजपट(ह)द्वकामहाशब्दचिन्हकभाणिक्यमतंग(ङ्ग)जादीन्पिट् [सा]-
 १३. कुर्व प(म्प) रैः पलायमानैरासाद्य कथमपि विधिवशादपनीतोपि प्रतापदेव विषयप्रकोप-
 १४. मराजकमुत्सारयन्वत्सराजइवानप(पे)क्षित परसहायकत(स्व)द्वप्रहानि(त्रि)गत्स्व स्वमुजावष्टभ (स्म)
 १५. प्रसाधिताशेष विश्वम्भर [:] प्रभुरक(ख)ण्डितशक्तित्रयत्व(त्वा, छ(च्छ)नुमदमञ्जनत्वादुदारत्वा
 १६. श्रिरवद्यत्वाद्यस्मस्तमुवनाश्रयः सकलपारमैश्वर्यव्यक्तिहेतुपाळिभजपटुज्जलप्राप्त्य-
 १७. राज्यविजयादित्यसत्याश्रयश्रीपृथिवीवल्लभमहाराजाधिराजपरमेश्वर भट्टरकसर्वा-
 १८. नेवमाज्ञापयति विदितमस्तुवो [ऽ] स्माभिव(श्च त्वारि ['] शत्रुत्तरपट्छतेषु शकवर्षेष्वतीतेषु

“चित्रकठ नामवाले एक अश्व से ही अनेक वीरो को भगा कर, तीन राज्यों से सपाहित की हुई अपने पिता की लक्ष्मी को अधीन करते हुए, अपने पराक्रम रूपी वज्रायुध से पाण्ड्य बोल केरळ कळभ देशों के नृपति रूपी पर्वतों को मेढ़ते हुए, और किसी राजा के सामने न झुकने वाले कांची नरेश से पूजित विक्रमादित्य सत्याश्रय श्रीपृथिवीवल्लभ महाराज परमेश्वर भट्टरक के सुपौत्र—जैसे शिव जी की आज्ञा से कुमारधर्ममुख ने राक्षससैन्य का विध्वंस किया था, वैसे ही अपने पिता की आज्ञानुसार अत्यद्भुत त्रिदेश कांची राजा की सेना को बाँध कर, क्वेर पारसिक सिंहालादि द्वीपाधीशों को करदाता बनाने वाले, समस्त उत्तराखंड के राजाओं को मथ कर पाळिभजादि निखिलपारमैश्वर्य चिन्हों को प्राप्त करने वाले, श्री विनयादित्य सत्याश्रय महाराजा के पुत्र समग्र धनुर्विद्या को अध्ययन कर के दक्षिण-देश विजय के लिए पितामह के जाने के बाद, विविध बाधाओं को दूर कर, उत्तर-देश विजय के लिए प्रयाण किये हुए अपने पिता के आगे ही युद्ध कार्य को निभाते हुए, शत्रु-राजाओं के कुम्भ-भेदन से अपनी तलवार को धारा फट जाने पर भी युद्ध के अन्त तक सब के आगे रहने के कारण से ही सधैरैरसिक, गङ्गायमुना-पाळिभजादि से चिन्हित, माणिक्यगजों को अपने पिता के हस्तगत कराते हुए भागते हुए शत्रुओं से दुर्दैव से किसी तरह पकड़ा जाने पर भी स्वपराक्रम से ही दूसरों की सहायता की अपेक्षा न करते हुए, वत्सराज की तरह, शत्रु बन्धन से बाहर आ कर स्वमुख बल से इस विश्व को वश में करने वाले और प्रभुमंत्रोत्साह नामक शक्तित्रय की संपन्नता से, शत्रु गर्वपरिहरण से, उदारता से, निर्मलता से, समस्तजगदाधार, और निखिल पारमैश्वर्य के कारण पाळिभज से अत्युज्ज्वल साआज्य मे विराजमान विजयादित्यसत्याश्रय महाराजा सारी प्रजा को यह आज्ञा देते हैं कि “तुम लोगो को मालूम होना चाहिए कि हम इस शकवर्ष के छः सौ चालीस गुजर जाने पर”—

ताम्रपत्र का भाग थोड़ा उपलब्ध होने पर भी यह विजयादित्य के प्रताप को जनाने में समर्थ है। अन्य ताम्रपत्रों से यह मालूम होता है कि पश्चिमी चालुक्यराजाओं ने, काव्ही के पल्लव राजाओं को युद्ध में हरा कर, कावेरी नदी के तीर पर दूसरी राजधानी की स्थापना की थी। यहाँ, पराक्रम का अभिमान या

अनुबन्ध
 राज्य के आशा से प्रेरित हो कर उत्तरदेशीय राज्यों पर भी चालुक्यों ने हमला किया, जंग में काफी जीत भी हुई, किन्तु गडबड़ी में युवराज विजयादित्य पकड़ा गया और उस ने अकेले ही शत्रुओं से लड़ कर अपने आप को मुक्त करा लिया, इत्यादि बातों से कर्णाटक के राजाओं के गत गौरव की सूचना मिलती है।

ऐसा मालूम होता है कि उस समय में गंगा यमुना पाळिभजादि राजाओं के लिए बड़े गौरव के चिन्ह थे। तभी तो विजयादित्य ने भी उत्तरदेशीय राजाओं से छीन कर उन चिन्हों को पिता के अधीन किया।

“गंगा यमुना” नामक विरुद शायद नदी या कलश के रूप में कोई चिह्न हों। “पा लि ध्व ज” तो जैनियों के सिद्धान्त के अनुसार सार्वभौमत्व (परमेश्वर) का चिह्न है। जिनसेनाचार्य-विरचित “प्रादिपुराण” के २२ वें सर्ग में पाळिध्वज के बारे में इस प्रकार कहा गया है—

स्रग्वत्सहसानाब्जहंसवीनमृगेशिनाम् ।
 वृषभेभेन्द्रचक्राद्या ध्वजाः स्युर्दश भेदकाः ॥१॥
 अष्टोत्तरशतं ज्ञेया प्रत्येकं पाळिकेतनाः ।
 एकैकस्थां दिशि प्रोक्तास्तृगंगस्तोयधेरिव ॥२॥
 पवनान्दोलितास्तेषां केतूनामंशुकोत्करः ।
 व्याजुह्व घुरिवाभासि जिनेज्यायै नरामराय ॥३॥
 इत्यभी केतवो मोहनिर्जयोपार्जिता वधुः ।
 विमोक्षिभुवनंशत्व शसतोऽनन्यगोचरम् ॥४॥
 दिश्येकस्था ध्वजाः सर्वे सहस्र स्यादशीति यत् ।
 चतसृष्वथ ते दिक्षु शून्यद्वित्रिकसागराः ॥५॥

“गुष्पमाळा, वल्ह, मयूर, कमल, हंस, गरुड, सिंह, वृषभ, गज, चक्र,” इन चिह्नों से अंकित ध्वजाएँ दस प्रकार हैं, एक एक प्रकार से १०८ खड़ी करने से एक हजार नौ ध्वजाएँ हो जायेंगी, इसी समूह का नाम पा-लि ध्व ज है। चारों दिशाओं में इस प्रकार खड़ा करने से ध्वजाओं की संख्या ४३२६ हो जाती है, इस का भी पा लि ध्व ज नाम है। ऐसा कहा जाता है कि मोहत्याग के बाद जिन भगवान् ने जिस समय त्रिभुवनपतित्व को अपनाया था, उस समय पा लि ध्व ज को भी प्रभुत्व के चिह्न के तौर पर स्वीकार किया था। तभी से राजाओं ने साम्राज्य-चिह्नों में इस पाळिध्वज को महत्त्व दिया होगा।

वृषवुद्धिं पुरावत्त्वं विशित्वाद्यु महोज्ज्वलम् ।
 येन भारतमैतिह्यं गुप्तं हरयं भविष्यति ॥

एकटि शिवकालीन मुद्रा

श्रीधुत सुरेन्द्रनाथ सेन, बी० लिट्० (आक्सफोर्ड), एम्० ए०, पी-एच० डी० (कलकत्ता), कलकत्ता

[कृष्णाजी अनन्त सभासद ने अपनी पुस्तक में शिवाजी के कोषागार का वर्णन करते हुए अनेक सिक्कों का उल्लेख किया है। यह पुस्तक सन् १६१४ ई० में समाप्त हुई। उस समय ये सब सिक्के प्रचलित होने के कारण उन्होंने उनका मान बताने की आवश्यकता न समझी। परन्तु अब वे सिक्के लुप्त-प्राय हो गये हैं, अतएव उन का ठीक ठीक मान बताना कठिन है।

उस तालिका में उल्लिखित सब से प्रथम सिक्का गम्बार (ग्रेग्रैजी गबार) है। हण्टर के मतानुसार यह मुद्रा सन् १७६३ ई० में बम्बई में प्रचलित थी, तथा इस का मूल्य तीन रुपये साढ़े बारह आने था। अठारहवीं शताब्दी के दूसरे तथा तीसरे दशक में भी परिचयी भारत के वाणिज्य-केन्द्रों में यह चलती थी। तत्कालीन कम्पनी के पत्रों से ज्ञात होता है कि सन् १७१६ ई० में सूत में इस का मूल्य कुछ घट गया था। इस के मूल्य का ठीक पता लगाना तो कठिन है; परन्तु बहुधा यह तीन और चार रुपये के बीच होता था।]

कृष्णाजी अनन्त सभासद शिवाजी महाराजेर कोषागारेर विवरण अनेकगुलि सुवर्ण ओ रौप्य मुद्रार उल्लेख करियाछेन। एइ मुद्रागुलि शिवाजी महाराजेर जीवितकाले ओ मृत्युर न व्यवहित परे एरूप प्रचलित छिल जे सभासद तत्सम्बन्धे अन्य कोनो तथ्य प्रदान करा प्रयोजन बोध करेन नाइ। कालक्रमे एइसकल मुद्रा एकेवारे लोप पाइयाछे, सुतरां आधुनिक समये एइ मुद्रागुलि उत्पत्तिस्थान ओ विनिमय-मूल्य सम्बन्धे आलोचना करा असंगत हइवे ना। सभासदेर-अन्धेर इराजी अनुवाद प्रकाश-काले एइ प्राचीन मुद्रागुलि सम्बन्धे आमि विशेष कोनो तथ्य संग्रह करिते पारि नाइ। किन्तु सत्प्रणीत Administrative System of the Marathas वा मराठा-दिगेर राष्ट्र-शासनपद्धति नामक इराजी अन्धेर द्वितीय संस्करणे एकटि परिशिष्टे एइ सम्बन्धे संचेपे आलोचना करियाछिलांम। ऐ परिशिष्ट प्रधानतः विदेशी पर्यटकदिगेर लिखित विवरणेर साहाय्ये सङ्कलित हइयाछिल।

परे लण्डनेर इण्डिया-आफिसेर कागज-पत्रेर मध्ये सभासदेर तालिकार प्रथम सुवर्णमुद्राटि सम्बन्धे आरओ किङ्ग खबर पाओआ गिआछे। महामहोपाध्याय गौरीशङ्कर ओभा महाराजके अर्द्धांशलि प्रदान उपलब्धे एइ सामान्य तथ्य कयेकटि ऐतिहासिक साधारणेर गोचर करितेछि।

सभासदेर तालिकार प्रथम मुद्राटिर नाम 'गम्बा र'। शिवाजी महाराजेर भाण्डारेर एक लक्ष गम्बार छिल। एइ गम्बार ओ समसामयिक इराजी चिठिपत्रे उल्लिखित 'गबार' (Gubbar) जे अभिन्न, ताहा निःसन्देहे बला जाय। हण्टर साहेबेर मते १७६३ अब्दे बोम्बाइयेर बाजारे एइ मुद्रार प्रचलन छिल। तखन एकटि गबार छिल तिन टाका साढ़े बारो आनार समान (Hunter, Annals of Rural Bengal, Appendix O, p.474)। बोम्बाइ पब्लिक कन्साल्टेशन (Bombay Public Consultation) हइते जाना जाय जे एइ मुद्रा अष्टादश शताब्दीर द्वितीय

ओ तृतीय दशके पश्चिम भारतं बहु वाणिज्य केन्द्रे प्रचलित छि। १७२७ सालेर ३२ जानुआरीर कन्साल्टेशन वा आलोचनाय एइ मुद्रा उल्लेख आछे, किन्तु उहार विनिसय-मूल्य सम्बन्धे कोनो कथा नाइ। १७३४ सालेर १७ अगष्ट तारिखे एकखानि चिठि तेलीचेरीर इन्द्राज बधिकेरा सुरत हइते अन्यान्य मुद्रा मध्ये गवारओ चाहिया पाठाइयाछिलेन। ("A supply of money in rupees, venetians and Gubburs for carrying on their purchases"—Bombay Public Consultation, Range CCCXLI No. 7 (b) p 306)

१७३६ साले एइ मुद्रा विनिसय-मूल्य पूर्वापेक्षा कमियाछि। एइ जन्य इइ सेप्टेम्बर बोम्बाइयेर कर्तृपक्ष सुरतेर कर्मचारीदिगके दश हजार गवार किनिते लिखियाछिलेन। तिन टाका साढ़े दश आना वा एगारो आना दरे पाइले पनेरो हजार पर्यन्त गवार क्रयेर अनुरोध एइ पत्रयोगे करा हइयाछि। ("It was reported that Gubburs could be bought at Surat at less than their usual price The gentlemen at Surat were instructed to buy ten thousand and if they are to be had for three rupees ten anas and an half, or three rupees eleven anas then they may buy fifteen thousand"—Bombay Public Consultation, Range CCCXLI No 8 p. 324)। इहा हइते बुझा जाइतेछे जे १७३६ साले गवारेर मूल्य बोम्बाइयेर बाजारे तिन टाका एगारो आना अपेक्षा बेसी छि, किन्तु १७३६ हइते १७६३ साल पर्यन्त एइ मुद्रा मूल्येर बीच हब बेसी तारतम्य हब नाइ।

कुष्णाजी अनन्त सभासद १६८४ साले तौहार ग्रन्थ समाप्त करन। ऐ समये गवारेर मूल्य किरूप छि। ताहा सठिक जाना जाय ना। अनुमान हब जे इहार मूल्य दिन हइते चारि टाकार मध्ये छि।

सभासदेर साक्षिकार अन्यान्य सुवर्णमुद्रा सम्बन्धेओ प्राचीन ग्रन्थ ओ समसामयिक चिटि-पत्रेर साहाय्ये आलोचना हओओ आवश्यक।

मुड़िया लिपि में एक ग्रन्थ

श्री कामताप्रसाद जैन, अलीगंज, एटा

दिक्षी और संयुक्त-ग्रन्थ के हिन्दू व्यापारियों में जो लिपि बहीखाता लिखने के लिए प्रचलित है उसे 'मुड़िया' कहते हैं। वह नागरी लिपि का लघु रूप है। हिन्दू व्यापारी उसे अपने सुभीते के लिए वर्तते हैं। किन्तु वह लिपि व्यापारिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रही। पाठक शायद आश्चर्य करें कि धर्मज्ञ जैन गृहस्थों ने उसे साहित्य-रचना का भी साधन बना लिया था। अलीगंज, जिला एटा, के दिगम्बर जैन शान्तिनाथ के मन्दिर में हमें आठ ऐसी बहियाँ मिली हैं जिनमें जैन साहित्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'त्रिलोकसार' की गाथाओं पर मुड़िया लिपि में टीका लिखी हुई है। पहली बही का आकार ७½ इंच चौड़ा और २½ इंच लम्बा है, और उस में कुल ३७ पत्रे हैं। शेष बहियाँ भी प्रायः इसी आकार और कुछ कमती-ज्यादा इतने ही पत्रों की हैं। पहली बही पर आदि में निम्न प्रकार का लेख लिखा हुआ है:—

धर्मपाल के माथे त्रिलोकसार के गाथान का व्यौरा
चैत बदी ५ सुकर त्रिलोकसार थापा १८२५।

इसी बही के अन्तिम पत्र पर इस की समाप्ति का समय 'संवत् १८२५ मिती सावन सुदी १४ बृहस्पतिवार देवहारा' लिखा हुआ है। इन उल्लेखों से मुड़िया के इस ग्रन्थ का नाम 'त्रिलोकसार के गाथान का व्यौरा' और उस की रचना का आरम्भ सं० १८२५ में सिद्ध होता है। आठवीं बही के अन्त में लेखक ने अपना परिचय और समय निम्न लिखित शब्दों में दिया है:—

'मिती कुआँर बदी १० सनीचर संवत् १८३० लिखित बनारसीदास के बंटा शिवमुख पद्मावतीपुरवार वासी जहानाबाद के।'

इस से स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ जहानाबाद के निवासी किन्हीं शिवमुख द्वारा लगभग पाँच वर्ष में रचा गया था। हमारे खयाल से मुड़िया लिपि में शायद यही सब से पहली उपलब्ध रचना है।

इस ग्रन्थ से दो बातों का पता चलता है। पहली तो यह कि 'मुड़िया लिपि साहित्य-रचना में भी प्रयुक्त हुई है; और दूसरी यह कि वर्तमान प्रचलित मुड़िया से संवत् १८२५—३० की मुड़िया हिन्दी के बहुत निकट, और उस से सादृश्य रखती थी, जैसे कि साथ में लगे हुए मानचित्रों से प्रकट हैं। संभव है, उस समय इस लिपि का जन्म हुए अधिक समय नहीं बीता था।

उक्त ग्रन्थ की रचना का नमूना भी देखिये—

पंक्ति १. "१ सकती। और सेना। और स्थूलपना। और रूप इन का नाम बल है।

२. "सो अहै बल सबद नपुंसकलिंग है ॥ बहुरि बल बीरज और दैतअ (१)

~~Handwritten text, likely a list or index, with several lines crossed out. The text is written in a cursive script and is mostly illegible due to the quality of the scan.~~

३. और काक (?) और बलवान । इन का नाम बली है ॥ सो अहै बल सबद ।

४. पुरख लगा है ॥ सो इह बल सबद कर सकती सेना रूप तन अरथ गरा है ॥”

चित्र १ में दिये गये चद्वरण का पाठ

“॥ है ॥ श्रीमान् । बहुरि काहूकरि हना न जाइ । ऐसा बहुरि प्रतिमान करि रहित । बहुरि प्रतिपत्ती कर्म करि रहित ॥ बहुरि इन्द्रिय सहकार करि रहित ॥ बहुरि इन्द्रियवत अनुक्रम ते । जानने ते रहित । ऐसा जो केवलज्ञान रूप तीसरे नेत्र कर अवलोक है । सकल पदार्थन का समूह जहाँ ॥ ऐसा बहुरि ससार दुख तृपा है (?) ॥ देवेन्द्र । नरेन्द्र । मनेन्द्रन का समूह । जहाँ ऐसा । बहुरि तीर्थकर प्रकृति रूप पुण्य की सहिमा के अवलम्बन ते । ज्येष्ठ भया समोशरण । आठ ८ प्रातिहार्य और ३४ चौतीस अतिशय । आदि—”

इस चद्वरण से स्पष्ट है कि इस लिपि में मात्राओं का अभाव था । ऊपर हम यह लिख चुके हैं कि मुद्रिया लिपि का जन्म उक्त ग्रन्थ के रचना-काल से किञ्चित् पहले हुआ होगा । हमारे इस कथन का समर्थन विक्रम सं० १७५६ के लिखे हुए एक अन्य हस्तलिखित गुटके की लिपि से होता है । उस में प्रयुक्त अक्षर-लिपि की समानता नागरी से अधिक है और उस में आधी-पट्टी मात्राये भी जहाँ-तहाँ लगाई गई हैं । उस का नमूना चित्र सं० ३ में दिया गया है । उस नमूने का पाठ यों है—

१. चानवै नवल सामान मासे० तहां पुर (?)

२. मध्ये नवीनद पु (?) बहुत जोग वील (?)

३. सं० होंदोला त्रैसठ । पुरष को भीमी (?)

४. गाम नगर मधे । ग० पडित लाल जी

५. पलगासै (?) चतुर सरस वनरा०

६. धर्म हीडोरन मूलते त्रैसठ । २—(?)

७. —(?) त्रैसठ । सलाका पुरुष को ही—

८. —डोरो समाप्त ॥ ९ मित्ती साधन सुदी

९. ८ बुधवार सबत् १७५६ को लिखा ।

इसी पोथी में एक स्थल पर सं० १७६५ भी लिखा है । लेखक ने समय-समय पर रचनाएँ लिखी हैं ।

इन चद्वरणों को आधार मान कर यह कहा जा सकता है कि मुद्रिया लिपि का हिन्दी से निकास होना सबत् १७६९ के लगभग आरम्भ हो गया था । आरम्भ में उस के साथ थोड़ी-बहुत मात्राएँ भी सुविधासुसार लगाई जाती थी; किन्तु सबत् १८२५ तक वह लिपि बहुत कुछ विकसित हो गई और उस में मात्राएँ बिल्कुल नहीं रक्खी गई ।

चित्रप्रश्नम्

श्रीयुत शतजन प्रबन्ध, कौञ्चि

चित्रप्रश्नं ज्योतिरशास्त्रसबन्धमाय ओह ग्रन्थमाकुञ्च । ओरुवनरे भाविये संबन्धिचुळ्ळ अरिबु वळरे एळुप्पत्ति इतु नोक्कुन्नतुकोण्टु सिद्धिक्कुञ्च । ई ग्रन्थचित्ते एतेडकिलु चित्रत्तोडु चोदिक्कालरियां ओरुवनरे भावि गुणमो दोपमो एञ्च ।

तालपत्रत्ति एळुत्तारिणकोन्दु वरच्चिट्टुळ्ळ चित्रडळोट्टुकूटिय “चित्रप्रश्नग्रन्थडळ्” मध्यकैरळित्तिले मूञ्चु ग्रन्थपु-
रकळित् निञ्चु ई लेखकञ्च कयट्टुकिट्टियट्टुएट्टु ! । इत्तरं ग्रन्थडळ् इन्त्ययित् वेरे एविट्टेयेडकिलु लएटो एञ्च अरिगुञ्जिल्ल २
एनिकु कण्टेत्तुवान् कळिञ्चेट्तोळं ग्रन्थडळ् ओत्तुनोकि चित्रडळोट्टुकूटि प्रसिद्धपेट्टुत्तेण्मेन्नाणु विचारिक्कुञ्चतु । कौञ्चियिले
आर्कियोळजिक्कल डिप्पाडट्टुमेरिटले ओरु मम्मोयर् आयिट्टायिरिक्कु ईग्रन्थं प्रसिद्धपेट्टुत्तुञ्चतु ।

ई लेखकञ्च पकर्त्तियेट्टुक्कवान् साधिच्चिट्टुळ्ळ ग्रन्थडकित् ओञ्चु तेन्कैलासमेञ्चु प्रसिद्धिकेट्टु रुक्मिण्येकरिले ओरु
सन्ध्यासिमठत्ति निञ्चु किट्टयिट्टुळ्ळताकुञ्च । जगत्तुशु श्री शङ्कराचार्यरुटे शिष्यपरम्परयित् पेट्टु सन्ध्यासिमरुटे ई मठं,
कौञ्चि राज्यत्तिले सन्ध्यासिमठळित्त वेञ्चु एर्रवुं प्रधानपेट्टु ओन्नाकुञ्च । प्रस्तुत ग्रन्थं अविट्टत्ते इप्पोळ्त्तो मठाविपतियाय
शक्तिधरानन्दब्रह्मानन्दभूति स्वामिकळ् एनिकु पकर्त्तियेट्टुक्कवान् सन्तोपपूर्व सम्मविद्धतन्नि ट्टुळ्ळताकुञ्च ।

ई ग्रन्थत्ति आके ओरुनूळ चिबडळुएट्टु । ओरो चित्रवुं ओरो तालपत्रत्तिनरे मुन्वरात्तु वरङ्गपेट्टिरिक्कुञ्च ।
अवातु चित्रडळ् संबन्धिचुळ्ळ कळडळ् अवातु पत्रत्तिनरे पिन्वरात्तु श्लोकहपत्ति एळुत्तपेट्टिट्टुएट्टु । ओरो श्लोकत्तिन्-
रेयुं एट्टत्तु भागनु मार्जजिनिळावि अत्तिनरे मलयाळार्त्यवु एळुत्तिचिट्टुएट्टु ।

ई ग्रन्थत्तिले चित्रडळ् पत्रत्तोळं विशोषपेट्टुवयारोञ्चु ई लेखनत्तोडुकूटि प्रसिद्धपेट्टुत्तिचिट्टुळ्ळ “तामरप्पोयक्” ३
एञ्च । चित्रत्ति निञ्चु मनस्सिक्काक्काम् । इतु ई ग्रन्थत्तिले पत्तिनारामत्ते चित्रमाकुञ्च ।

उत्तरइन्त्ययिले ओरु महापरिडतन्ने रमारकमायि प्रसिद्धपेट्टुत्तुञ्च ओरु ग्रन्थत्ति, द्राविड भाषयाय मलया-
ळत्ति ओरु लेखनं नागरीलिपियित् एळुत्ति प्रसिद्धपेट्टुत्तुञ्च अमिलपसीयं आरेक्किलुं अल्लेक्किलुं, अड्डिनेवेण्मेनु-
निश्चयिक्क “ओम्ना अभिनन्दन ग्रन्थ समित” युटे विशालमनस्कतये इविटे नन्दिपूर्व अनुस्मरिकावे निवृत्तिथिळा ॥

१. ये तीर्थां पुस्तकालय कौञ्चि राज्य के ग्रन्थगत है ।

(१) दि पक्षियम मेनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, चित्रमयलम् ;

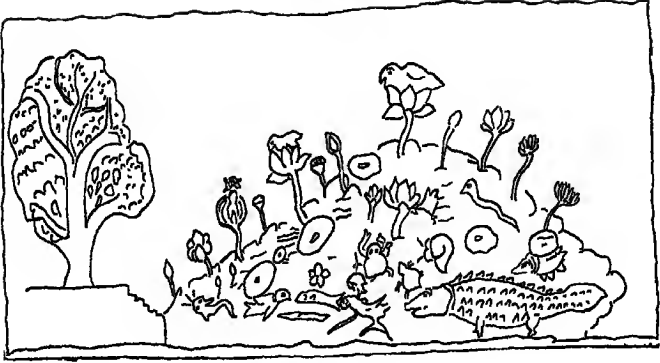
(२) दि तेक्केमचम लाइब्रेरी, त्रिचूर ;

(३) दि ग्रन्थ लाइब्रेरी, त्रिपुचिथुर ।

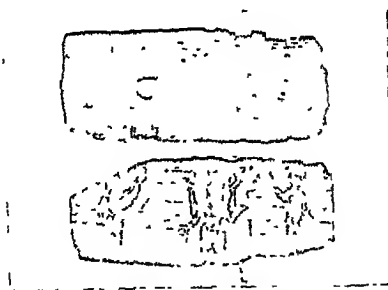
२. इस टिप्पणी के साथ प्रकाशित होने वाले इन पोथियों में से एक के एक फोटोग्राफ से इन चित्रों का स्वरूप और
लाट-पत्र पर लिखने का प्रकार अच्छी तरह प्रकट हो जाएगा ।

३. कमल-वाल ।

तामरप्यायक



नवपङ्कजकैरवामिरामं
सर पद्मसरसोऽमिवीचते यः ।
चनलाभवजे अतीव काम्तिं
परमैश्वर्यमपि प्रयाति सोऽयम् ॥



'चित्रप्रदम्' पोथी का एक पन्ना

[अनुवादः]

चित्रप्रश्नम् ज्योतिष शास्त्र का एक ग्रन्थ है इसे पढ़ने से एक के सविन्य के बारे में अच्छा ज्ञान प्राप्त हो जाता है । इस के किसी चित्र से पूछने से यह जाना जा सकता है कि एक का भविष्य अच्छा है या बुरा ।

ताब के पत्ते पर जोड़े के काटे से खींचे गये चित्रों सहित ग्रंथ मध्य केरल के तीन ग्रंथालयों से मिले हैं । पता नहीं है कि ऐसा ग्रन्थ हिन्दुस्तान में और कहाँ है या नहीं । मेरा विचार यह है कि जितने ग्रंथ मुझे प्राप्त हुए हैं उन सब को चित्रों के साथ छाप कर प्रकाशित करना चाहिए । यह ग्रंथ कोर्बि के आर्चियालॉजिकल बीपार्टमेंट के स्मारक के लिये प्रकाशित किया जाएगा ।

मैं जितने ग्रन्थों की नकल कर सका उन में से एक ग्रंथ “हीन कैलान” के नाम से प्रसिद्ध “तुरिश्चपेरु” के एक संन्यासी के आश्रम से प्राप्त हुआ है । जगतगुरु श्री शङ्कराचार्य जी के शिष्यों में से एक का यह आश्रम कोर्बि के दूसरे आश्रमों से बहुत श्रेष्ठ है । प्रस्तुत ग्रन्थ वहाँ के धानकल के महाधिपति “शक्तिबिरामन्द ब्रह्मानन्द भूति स्वामी” ने नकल करने के लिये मुझे दिया है ।

इस ग्रन्थ में कुल १०० चित्र हैं । हर एक चित्र एक एक ताब के पत्ते पर खींचा गया है । साथ साथ चित्रों के फलों के बारे में श्लोक भी लिखे गये हैं । हर एक श्लोक की बाईं ओर उस का मलयालम अर्थ भी लिखा गया है ।

इस लेख के साथ छपने वाले “सामरूपोचक” नामक चित्र से जाना जा सकता है कि इस ग्रन्थ के चित्र कितने श्रेष्ठ हैं । यह इस ग्रन्थ का १६ वाँ चित्र है ।

उत्तर भारत के एक बड़े पण्डित के स्मारक के लिये प्रकाशित होने वाले एक ग्रंथ में द्राविड भाषा “मलयालम” में एक लेख नागरीलिपि में लिख कर प्रकाशित करना, चाहे यह आवश्यक हो या न हो, वैसा करने का विरह्य करने वाली “श्रीका अभिनन्दन, अन्य समिति” की विशाल हृदयता का धन्यवादपूर्वक अभिनन्दन किये बिना मैं नहीं रह सकता ।

६

ललित कला

Zur Vorgeschichte des Buddha-Bildes

प्रो० डॉ० हेल्मुट क्रॉन ग्लाचनाप, कोनिग्सबर्ग विद्यापीठ

[इस बात की व्याख्या कि साँची और भारहुत के मूर्त इयों में बुद्ध की उपस्थिति को उन की मूर्त के बजाय चिन्हों द्वारा दर्शाया गया है, जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के मूलतः अभाव से तुलना कर के करनी होगी। जान पड़ता है शुरू में, जैसे ब्राह्मण लोग नाम रूपहीन ब्रह्म को चित्रित नहीं करते थे, उसी तरह शिखी लोग उन महात्माओं का भी चिन्हों ने संसार जोड़ दिया है और विर्माण या चुके हैं, मूर्त चित्रण करना पसन्द न करते थे।]

परन्तु इसकी पूर्व की पिछली शताब्दियों के धार्मिक विकास के कारण इस में परिवर्तन हुआ। एकेश्वरवादी विचारों के विकास का फल यह हुआ कि शिव या विष्णु को ईश्वर—अन्य संसारी देवताओं की तुलना में सदा और आनन्द स्वरूप—समझा जाने लगा। ईश्वर का, जैसा कि मगधवादीता में है, ब्रह्म से एकत्व माना गया है।

पर क्योंकि शिव या विष्णु के रूप में उस की मूर्तियाँ पहले से विद्यमान थीं, अतः अब इस शक्ति के लिए कोई स्थान न रहा कि केवल उसी को चित्रों द्वारा उपस्थित किया जा सकता है जो संसारी हो।

इस का अभाव जैनो पर पड़ा, जो सदा से अपने उपासकों को, जो कुछ दूसरे धर्मों में हो उसे देने में तत्पर रहते थे हिन्दुओं की प्रतिमा-पूजन की सफलता ने उन्हें तीर्थंकर-प्रतिमाओं को प्रचलित करने को प्रेरित किया। यदि विष्णु या शिव को मूर्त किया जा सकता था तो महावीर और पादर्व को भी मूर्त करना कुछ कठिन न था। जैनो के सिद्धान्त के अनुसार मुक्तात्मा सदा के लिए संसार के बंधन पर अवस्थित ईश तत्त्वाग्मा रा लोक में सर्वज्ञ, आनन्द-स्वरूप और पूर्ण आध्यात्मिक सुखों के रूप में विचार करते हैं। वे सामारिक परिवर्तनों से अछूते रहते हैं, और सांसारिक झगड़ों से बिल्कुल अलहदा। उन की व्यक्ति या देह नहीं होती, पर इन का एक (अमौलिक) परिमाण होता है, जो उन के अन्तिम अस्तित्व का दो तिहाई रहता है। अतः वे सब एक दूसरे के समान होते हैं।

यदि कोई कलाकार ऐसी दिव्य-सत्ताओं की पार्थिव प्रतिमूर्ति बनाना चाहता तो उसे निर्वच्य महात्मा के रूप में ही, जो व्याव-भक्ष हो और जिस की मुद्रा से स्वर्गीय शान्ति झलकती हो, उपस्थित करना होता। उन की संसार से पूर्ण विरक्ति अक्षुण्ण नेत्रों द्वारा प्रकट की जा सकती। व्यक्ति के पूर्ण लोप का भाव सब तीर्थंकरों को विना किसी प्रकार के वैयक्तिक भेद के एक सा उपस्थित करने से प्रकट हो सकता (इस लिए उन की एक दूसरे से पहचान उन के चिन्हों से ही हो सकती)। इस प्रकार तीर्थंकर प्रतिमाओं का आदर्श स्थापित हुआ।

इस धारणा के लिए कि तीर्थंकर प्रतिमाएँ उन महात्माओं की मुक्तावस्था को ही प्रकट करतीं तथा उन के सांसारिक व्यक्तित्व की स्थिति उन में न रहती थी, दो प्रमाण दिये जा सकते हैं। पहला यह कि अनेक तीर्थंकर-प्रतिमाओं के नीचे यह स्पष्ट लिखा है। दूसरे, तीर्थंकर-पूजा के सिद्धान्त से भी इस की पुष्टि होती है। वह सिद्धान्त यह है कि सब जिन-प्रतिमाएँ पृथग्व के साधन का काम देती हैं; उन का अस्तित्व केवल इसलिए है कि वे शक्ति की कामना को अपाती और उस की प्राप्ति में सहायक होती हैं।

ऐसी सप्त आत्माओं से, जो सब प्रकार की सांसारिक बातों से उदासीन हैं, किसी अन्य प्रकार के इवाम या वरदान की आशा नहीं की जा सकती ।

सत्रैसाधारण पर इन प्रतिमाओं का बहुत प्रभाव पड़ता देख बौद्धों को भी बुद्ध को चिन्हों के बजाय प्रतिमा द्वारा प्रकट करने की सूझी होगी । पर उन के निर्वाण का सिद्धान्त जैतों से बिल्कुल भिन्न होने से वे उस की निर्वाण-प्राप्त अवस्था को चित्रित न कर सकते थे । अतः स्वभावतः जून्हां ने बुद्ध की बुद्धत्व-प्राप्ति और परिनिर्वाण के बीच उन के जीवन की विभिन्न अवस्थाओं को चित्रित करना शुरू किया । यही कारण है कि बौद्ध प्रतिमाएँ तीर्थंकर-प्रतिमाओं की अपेक्षा बहुत अधिक विविधता और सजीवता प्रकट करती हैं । बुद्ध धर्मोपदेश करते, पृथ्वी को साक्षी बनाते आदि कई रूपों में चित्रित किये गये हैं ।

पुरानी बुद्ध प्रतिमाएँ तीर्थंकर-प्रतिमाओं का भाव ले कर ही बनीं, लेखक के इस मत से इस बात की व्याख्या हो जाती है कि सब से पुरानी बुद्ध-प्रतिमाओं और तीर्थंकर-प्रतिमाओं में समानता है, जिसे बुवान झाक ने भी उतना ही अनुभव किया था जितना भारतीय मूर्ति-कला में रुचि रखने वाले शुरू के यूरोपियनों ने ।

अतः लेखक का विश्वास है कि नागन्दा, सारनाथ, बोरोबुद्धर आदि से प्राप्त प्रतिमाओं से पहले भी बुद्ध-प्रतिमाएँ रही होंगी जो अब नहीं मिलतीं; पर जिन के नमूनों पर ये पिछी प्रतिमाएँ बनीं । यह मानना कठिन है कि बुद्ध की मूर्ति पहले पहल यूनानी कलाकारों ने ही आविष्कृत की । लेखक का यह दृढ़ विश्वास है कि उन्होंने ने पहले से विद्यमान एक नमूने को केवल यूनानी साँचे में ढाँरने का काम किया था ।

परन्तु लेखक यह स्वीकार करता है कि इस स्थापना के लिए अभी मूर्त प्रमाणों की जरूरत है, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता । जब तक भारतीय शिल्प की प्राचीन-तम कृतियों के नमूने और न मिलें, तब तक बुद्ध-प्रतिमाओं के उद्भव-विषयक किसी भी स्थापना को सचाई की ओर के प्रारम्भिक प्रयत्न से अधिक कुछ कहना निरी बेपरवाही होगी ।]

Die bekannte Tatsache, dass der Buddha auf den Reliefs von Sāñci und Bhārhut nicht figurlich dargestellt sondern durch bestimmte Symbole vertreten wird, ist oft zu erklären versucht worden. Die meisten Interpretationen befriedigen nicht. Dass es „den fruheren indischen Kunstlern an fruchtbarem kunstlerichhem Geist wie an technischem Konnen gemangelt hat“, um die Gestalt eines Buddha zu schaffen, ist unwahrscheinlich, weil sie dann auch nicht Indra oder andere gottliche Wesen hatten zur Darstellung bringen konnen. Auch die vielfach vertretene Ansicht, die alteren Buddhisten hatten sich, gemass dem Wort des sterbenden Buddha „Die Lehre ist euer Meister, wenn ich hingegangen bin“ nicht fur die Person des Buddha, sondern nur fur die Lehre desselben interessiert und deshalb den Meister durch Symbole der Lehre wie das Rad des Gesetzes versinnbildlicht, greift fehl- hatten die Buddhisten an der Personlichkeit des Erhabenen keinen Anteil genommen, so wurden sie die Geschichte seines Lebens nicht so ausfuhrlich auf den Toren der Stūpas in Stein verewigt haben Der Grund dafur, dass die alteren Buddhisten es vermieden, den Buddha abzubilden wird erst begreiflich, wenn man die Untersuchung nicht auf den Buddhismus beschränkt, sondern sie auf die anderen Erscheinungen des religiosen Lebens Indiens im 1 Jahrtausend v Chr. ausdehnt Es zeigt sich dann, dass auch die Janas ihre Tirthankaras ursprunglich nicht bildlich dargestellt haben: in den ältesten Teilen des Kanons horen wir wohl von Statuen oder Tempeln von Gottern und Yakshas,

Jina-Statuen werden aber erst in späterer Zeit in kanonischen Texten erwähnt. Es ist deshalb anzunehmen, dass die Übereinstimmung zwischen Jainas und Bauddhas keine zufällige ist. Wenn man sich vergegenwärtigt, dass alle noch in den Banden der Welt gefesselten Wesen, Gotter, Menschen und Tiere, abgebildet werden, nur die aus dem Samsāra ausgeschiedenen Erlosten nicht, dann liegt es nahe zu glauben, dass die Künstler der älteren Zeit sich scheuten, den über das Weltgetriebe emporgewachsenen in das Nirvāna eingegangenen Heiligen noch in körperlicher Form wiederzugeben. Für sie war die leibliche Darstellung eines Vollendeten, der das Nirvāna verwirklicht hat, ebenso undenkbar, wie für die Brahmanen die Darstellung des über Name und Gestalt erhabenen Brahman.

In den letzten Jahrhunderten vor Beginn unserer Zeitrechnung trat hierin ein Wandel ein. Das machtvolle Emporwachsen monotheistischer Anschauungen bewirkte, dass unter den zahlreichen Gottern von den Vishnu von anderen Shiva als der eine höchste Weltenherr (ishvara) angesehen wurde, der im Gegensatz zu den im Samsāra verstrickten vergänglichen Devas ewig und selig ist. Dieser ishvara der theistischen Sekten ist nun aber, wie dies z. B. deutlich in der Bhagavadgītā hervortritt, zugleich der Allgott und wird mit dem Brahman identifiziert. Da der ishvara aber gleich den devas schon bildlich dargestellt war (Shiva z. B. schon in Mohenjo Daro), bestand für diese neue theistische Erlösungslehre kein Grund mehr für die Anschauung, dass nur der im Samsāra wandelnde bildlich wiederzugeben sei. Dies blieb nicht ohne Rückwirkung auf die atheistischen Religionen der Jainas und Bauddhas. Die Jainas sind zu allen Zeiten bestrebt gewesen, ihren Anhängern alles zu bieten, was andere Religionen boten, sie haben deshalb den verschiedensten Legenden, Anschauungen, Einrichtungen und Gebräuchen der Hindus Heimatsrecht gewährt, und ihnen ursprünglich Fremdes in ihr System eingebaut (H. v. Glasenapp, „Der Jainismus“, Berlin 1925, S. 446 und Beitr. zur Literaturwiss. u. „Geistesgesch. Indiens“ (Festgabe H. Jacobi) Berlin 1926, S. 339 f.). Der Erfolg des Bilderkults der Hindus veranlasste sie, dem Zuge der Zeit zu folgen und Tirthankara-Bilder einzuführen, wenn der über den Samsāra erhabene Vishnu oder Shiva durch den Meißel eines Künstlers in Holz oder Stein dem Auge der Verehrer gezeigt werden konnte, dann musste es auch möglich sein, Mahāvīra oder Pārśva vor dem Blick des Frommen stehen zu lassen.

Die Form der Darstellung ergab sich von selbst: ein Jina konnte nur so abgebildet werden, wie er für alle Ewigkeit nach seinem Nirvāna existiert. Nach der Lehre der Jainas leben die Erlosten als allwissende, selige, rein geistige Wesen in der auf dem Gipfel der Welt gelegenen Region Ishatprāgbhārā für alle Ewigkeit fort, von allem irdischen Wechsel unberührt und frei von jeder Anteilnahme an irdischen Dingen. Sie sind ohne sichtbare Gestalt, körperlos und darum durchdringbar, aber mit einer räumlichen (immateriellen) Ausdehnung von 2/3 derjenigen, welche sie in ihrer letzten Existenz gehabt hatten. Bei ihnen sind alle individuellen

Verschiedenheiten geschwunden, welche die Karman-Stoffe den Seelen beilegen, sie sind deshalb alle einander gleich. Wollte ein Künstler ein materielles Abbild eines solchen erhabenen Wesens schaffen, dann musste er es als einen unbekleideten, in tiefe Meditation versunkenen Heiligen darstellen, dessen Gesichtszüge erhabene Ruhe widerspiegeln. Die vollige Weltentrücktheit konnte durch halbgeschlossene Augen ausgedrückt werden, die vollige Entpersonlichung dadurch, dass alle Tirthankaras nach genau demselben Typus, ohne jede individuellen Unterschiede (darum also nur durch Unterschriften oder „cīhnas“ von einander unterscheidbar) dargestellt werden. So entstand das typische, immer wiederkehrende, starre und unbewegliche Tirthankara-Bild, das heute noch im Jainismus vorherrscht. Dass die ältesten Tirthankara-Bilder den Heiligen im Zustand der erlangten Erlösung zeigen, nicht aber die Erinnerung an seine irdische Existenz wachhalten sollen, ist aus zwei Gründen wahrscheinlich. Erstens, weil dies bei manchen Tirthankara-Bildern ausdrücklich bezeugt ist (In Jaina-Miniaturen ist dies meistens dadurch angedeutet, dass der Heilige auf der halbmondförmig gezeichneten Siddhashilā sitzt, über Wolken thronet u. s. w. Vergl. die Bilder Plate III fol. 55, VII fol. 38, XIII fol. 66, XVIII fol. 73, XIX fol. 80, 88 bei A. K. Coomaraswamy, Catalogue of the Indian Collections in the Museum of Fine Arts, Boston 1924) und zweitens weil die Theorie über die Tirthankara-Verehrung dies bestätigt. Der Idee nach sollen nämlich die Jina-Bilder als Konzentrationsobjekte dienen; ein Daseinsrecht haben sie nur insofern, als sie bei den Gläubigen, die sich ihrer Betrachtung hingeben, das Heilsverlangen wachsen lassen und die Entstehung der Voraussetzungen zur Erlangung des Nirvāna fördern. Der Tirthankara-Kult hat also nur einen subjektiven, keinen objektiven Wert, denn die allem irdischen Streben entrückten Vollendeten haben gar nicht die Möglichkeit auf das Geschehen in der Welt einzuwirken und ihre Verehrer zu belohnen.

Die grosse Anziehungskraft, welche der Kult der Tirthankara-Bilder auf die Gläubigen, zumal die Laien ausübte, mag auch die Buddhisten dazu veranlasst haben, ihren Meister nicht mehr durch Symbole sondern in körperlicher Gestalt darzustellen. Bei der grundlegenden Verschiedenheit ihrer Nirvāna-Lehre von der der Janas konnten sie den Buddha natürlich nicht als einen in ewiger Weltabgeschiedenheit fortlebenden seligen Geist abbilden, sondern sie konnten nur versuchen, die Erinnerung an sein Erdenwallen festzuhalten. Sie stellten ihn deshalb so dar, wie er sich den Gläubigen in der Zeit zwischen der Erlangung der Bodhi und dem Parinirvāna offenbarte. Aus diesem Grunde zeigen die Statuen von Buddhas im Vergleich zu denen von Tirthankaras eine viel grössere Verschiedenheit und Aktivität. Der Buddha predigt, er ruft die Erde als Zeugin an u. s. w. Dass die ältesten Buddha-Statuen, wie ich glaube, in Anlehnung an Tirthankara-Statuen entstanden, kann als Erklärung für das merkwürdige Phänomen dienen, dass manche Buddha-Darstellungen solchen von Tirthankaras ausserordentlich ähneln, eine Tatsache, die Hiuen-tsang ebenso aufgefallen ist wie den ersten Europäern, die sich mit indischer

Plastik beschaffungen. Ich mochte deshalb annehmen, dass die ältesten (uns heute nicht mehr erhaltenen) Buddha-Statuen Vorläufer der Buddha-Typen gewesen sind, wie sie uns durch die Buddhas von Sārnāth, Nālandā, Borobudur bekannt sind. Aus diesen Erwägungen heraus kann ich mir nicht vorstellen, dass hellenistische Künstler überhaupt erst das Buddha-Bild erfunden haben, es spricht vielmehr meines Erachtens alles dafür, dass sie einen bereits bestehenden Typus in griechischem Sinne umgewandelt haben.

Die hier entwickelten Gedankengänge, welche die geistesgeschichtlichen Voraussetzungen für das Entstehen des Buddha-Bildes darzulegen suchen, bedürfen natürlich noch des Beweises durch Tatsachenmaterial. Solange unser Besitz an Werken der ältesten indischen Kunst noch so gering ist wie heute, wäre es vermessen, zu behaupten, irgendeine Hypothese über die Genesis des Buddha-Bildes sei mehr als ein provisorischer Versuch, die lückenhaften Tatsachen zu deuten. Ich glaube aber meine Ansichten den Kunsthistorikern deshalb unterbreiten zu dürfen, weil ich meine, dass sie geeignet sind, einige Punkte aufzuhellen, die bisher nicht erklärt worden sind.

PALLAVA PAINTING

मीश्रित ति० ना० रामवन्द्य, पृ० २०, मद्रास

[अजिंठा, घाघ, रामगढ़, शिवचित्रवाश, काञ्चीपुरम् के कैलासनाथ और तजोर के वृहदीश्वर मन्दिरों के निम्नि-चित्र प्राचीन भारतीय चित्रकला के ऐसे हुए सौष्ठव्य नमूने हैं। अजिंठा आदि के पारे में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। इस लेख में शिवचित्रवाश और काञ्चीपुरम् के चित्रों की व्याख्या की गई है।

शिवचित्रवाश—पबुकोटै राज्य में राजधानी से १ मील उत्तर पक्क जैन गुहामन्दिर है, जिस की मीलों पर पूर्व-पल्लव राजाओं की शैली के चित्र हैं, जो सामिक साहित्य और साहित्य के महान् सराफ, कवि और प्रसिद्ध कलाकार राजा महेंद्र वर्मा प्रथम (६००—२५ ई०) के बनवाये हुए हैं, और अत्यन्त सुन्दर हैं।

गुफा की घनावट को है—एक १' ६" x १' ६" और ७' ५" ऊँची कोठरी; लम्बा १२' ६" x ७' ५" और ८' ३" ऊँचा मंडप, संपूर्ण गुफा में स्थित पुरव-परिमाण अत्यन्त सुन्दर और सुन्दर पाँच तीर्थंकर मूर्तियाँ, जिन में से तीन अन्तर और दो मंडप के दोनों पाठों में रखी गई हैं।

शिवचित्रवाश का मूल प्राकृत रूप है चित्रण वास—सिद्धों का डेरा। जैन वेवगाथाओं में सिद्धों का महान् स्थान है।

यहाँ अथ हीमारी और ऊत पर लिये दो-चार चित्र ही कुछ अच्छी हालत में बचे हैं। इन की खोज यह है कि बहुत ओवी परन्तु स्थिर और दृढ़ रेखाओं में अत्यन्त सुन्दर और सुवर्ण आकृतियाँ बनी बलावी के साथ लिख दी गई हैं। छाया आदि डालने का प्रयत्न प्रायः नहीं किया गया। रंग बहुत मोटे हैं—लाल, पीला, नीला, काला और सफेद। इन्हीं को मिलाकर कहीं-कहीं कुछ

और हरा, पीला, जामुनी, नारंगी आदि रंग भी बना लिये गये हैं। इसकी सरलता से बनाये गये इन चित्रों में भाव आश्चर्य जनक ढंग से स्फुट हुए हैं और आकृतियाँ सजीव सी जान पड़ती हैं।

सारी गुहा कमलों से अलंकृत है। सामने के दोनों खम्भों को आपस में गुंथी हुई कमलनालों की बेलों से सजाया गया है। खम्भों पर नर्तकियों के चित्र हैं। वरामदे की छत के मध्य भाग में एक पुष्करणी का चित्र है; हरे कमल पत्रों की भूमि पर लाल कमल खिलाने गये हैं; जल में मछलियाँ, हंस, जल मुर्गाबो, हाथी, बैल आदि जल-विहार कर रहे हैं। चित्र के दाहिनी तरफ़ तीन मनुष्याकृतियाँ हैं, जिन की आकृतियाँ आकर्षक और सुन्दर हैं। दो मनुष्य एकट्ठे जल-विहार करते दिखाये हैं; इन का रंग लाल दिया है; तीसरे का रंग सुनहला है और वह इन से अलग है। इस की आकृति बड़ी मनोमोहक और अन्य है।

सौपरमैन्द ने तीर्थंकर के केवली होने पर बैठ कर उपदेश देने को संवर्षण नामक एक स्वर्गीय मण्डप रचा था। उस के चारों तरफ़ ७ भूमियाँ होती हैं, जिन में से गुजर कर ही कोई व्यक्ति उस प्रासाद में तीर्थंकर का उपदेश सुनने पहुँच सकता है। इन में से दूसरी भूमि का नाम स्वाति का है। जैन दिगंबर मूर्ति-शास्त्र श्रीपुराण नामक ग्रन्थ के अनुसार यह स्वाति का भूमि एक तालाब होती है, जहाँ पहुँच कर मन्त्रों (संवर्षण में तीर्थंकर का उपदेश सुनने के अधिकारी उपासकों) को स्नान और जल-विहार करने को कहा जाता है। उक्त चित्र इसी स्वाति का भूमि का है।

अन्य बचे हुए चित्रों में दो नर्तकियों के चित्र हैं जो अन्दर घुसते ही सामने के दो खम्भों पर बने हैं। एक की दाहिनी मुखा गज-हस्त और दूसरी की दण्ड-हस्त मुद्रा में फैली है। इन चित्रों में कलाकार ने मानों गहनो से लदी पतली कमर और चौड़े निरतों वाली, चित्ते की तरह प्रचण्ड शक्तिवाली और मग्न, स्वर्गीय अप्सराओं के और शिव-नटराजन की कल्पना में प्रकट होने वाली नृत्य-ताल और प्रचण्ड स्फूर्ति को एक ही जगह चित्रित कर दिया है।

अन्दर के दाहिने खम्भे पर एक सुन्दर पुरुष-शिर के, जिस के पीछे एक वैसा ही सुन्दर स्त्री का शिर है, निशान दृष्टिगोचर होते हैं। कुछ लोगों ने इसे अर्धनारीश्वर का चित्र माना है। पर एक तो यह जैन मन्दिर है, दूसरे इस को जरा ध्यान से देखने से मालूम होता है कि इस के शिर पर जटा-बूट नहीं बल्कि राजमुकुट था जो अब मिट गया है। संभवतः यह चित्र राजा महेन्द्र वर्मा का अपना हो है। महाबलिपुरम् की बराह गुहा में भी राजा महेन्द्र वर्मा का एक चित्र इसी तरह है। वहाँ राजा अपनी दो रानियों के साथ मन्दिर में घुसता हुआ दिखाया गया है।

कैलासनाथ—काञ्ची पुरम् के कैलासनाथ के मन्दिर में भी मन्दिर की दीवारों पर कलह की परत के मोचे इसी काल के चित्रों के अस्तित्व का पता मिला है। कुछ थोड़ी सी आकृतियों का उद्धार कलह की परत को हटा कर किया गया है। इन में भी वही खूबी है। पर कोई पूरा चित्र अब तक आविष्कृत नहीं हो सका है। इस मन्दिर का बनानेवाला पल्लव राजा नरसिंह वर्मा उर्फ़ नरसिंह (६९० ई०) था।

मलयाडिपट्टि आदि अन्य भी कई स्थानों से इस प्रकार के चित्रों का पता मिला है।]

It is surprising indeed that the earliest extant specimens of Indian painting are so very few that they give room to the doubt whether painting, though spoken of highly in Indian literature, was ever practised at all like sculpture and architecture. But the surviving specimens in the caves of Rāmgarh, Ajantā, Bāgh and Śittannavāsāl and in the Kailāsanātha temple at Kāñchīpuram and the Brihadīśvara temple at Tanjore go to prove effectively that not only was painting popular but was often practised as a single craft being combined with sculpture. Such a combination was treated as the highest form of religious art, being "more difficult and costly

than simple painting, and therefore conferring more merit both on the artist-devotees and their patrons". The result of such a process with a religious background was that fresco and tempera painters attempted "not to produce the atmosphere of Western painting, but to give their work the solidity and reality of sculpture", to show something more than an art of line, to exhibit a remarkable power of delineation and "a subtle modelling of surfaces". The modelling of surfaces was so pleasant and wonderful that we may agree at once with Havell when he says "whether they were modelled by the painter or the sculptor, the finishing brush-outline gave life to the forms"¹ The charge levelled against Indian painting, that it is an art of line only, "that is Indian paintings are not true pictures in the European sense, they are only coloured drawings", cannot be said to be true of that school of Indian mural painting that is seen at its best at Ajantā, Bāgh, Śittannavāsai and the Kailāsanātha temple at Kāñchīpuram. Several writers have dealt with the paintings at Ajantā and Bāgh; it shall be our pleasant task to take up those at Śittannavāsai and Kāñchīpuram which were done in the seventh century and are attributed to the Pallava kings, for which reason we have chosen to call them "Pallava painting"

Śittannavāsai

In a cave temple here executed in the early Pallava style of the Mahendra period are the said paintings of this place, attributed to the royal artist Mahendravarman I (600—625 A.D.), "one of the greatest figures in the history of Tamilian civilisation" This king was, as we have proved elsewhere,² a royal patron of art, an accomplished artist himself, an intrepid architect and a highly cultured poet, musician and dramatist To him are attributed several cave temples, among which Māmandūr and Śittannavāsai cave temples which resemble each other closely are alone interesting for our study of Pallava painting. Some traces of paint were noticed on the walls of the Māmandūr cave (6 miles south of Kāñchīpuram) as also at Mahābalipuram by Dr. Jouveau Dubreuil but they yielded no satisfactory result But an inscription found at Māmandūr, though fragmentary, is of great importance to us as it speaks of the literary accomplishments of Mahendravarman I and his contributions to painting, dance and music. Line 11 of the inscription relates to painting and contains the following verse almost restored.—*Kaṭṭai Praviḥaiya Vṛttim Dakṣiṇa-chitrākṛtyam (kāra) yitvā yatāvāndhi*

¹ *Indian Sculpture and Painting*, p. 163

² See my paper "The royal artist Mahendravarman I" read in December 1931 at the First Bombay Historical Congress

Translation: "Classifying (the subject) from (an old standard) *kalpa* (i.e., work on the subject) he caused to be compiled a commentary or edition (*ṇitti*) called *Dakṣiṇa-chitra* i.e., South Indian art or painting) following strictly the methods and the rules laid down for such a work".

It is evident that the king analysed the subject of painting that was laid down in an earlier work which was probably cumbrous or not clear or which had to be revised in the light of later inventions in the field. The results of his analysis, derived probably from a practical study of the subject, he embodied in a treatise which conformed to the rules relating to such compositions and which he named *Dakṣiṇa-chitra* or Southern Art or Painting.

While Māmandūr has very little of paintings to show to us today the Śittannavāsāl frescoes offer us a pleasant study and entitle the cave temple to be called a *Chitra-sālā* or picture gallery. The architecture and sculptural details of this temple are briefly as follows:—It is identical with that at Māmandūr. In plan, it consists of a *cella*, 9' 6" square and 7' 5" in height with a small pillared verandah in front measuring 22' 6" in length, 7' 6" in width and 8' 3" in height. The temple contains five life-size rock-cut sculptures of Jaina Tīrthankaras seated in the *śam-ṭhāyāṇika* pose, three inside the main shrine and one at each end of the *mandapa*. The two outer ones may be said to represent, as I have proved elsewhere¹, the Tīrthankaras Pārśvanātha and Chandraprabhā. These sculptures are similar in style and execution to some of the later Buddhist images at Ajantā. The carving is marvellous for its precision and excellence of anatomy. The figures are natural and carry themselves with a grace though in an erect posture "like a flame that flickereth not in windless space".

The surface of the rock inside was given a finish to suit it for the subsequent fresco-process. As at Ajantā the walls and ceiling were covered with a layer of plaster, "not only to lighten the gloomy interior but also to serve as a ground work for colour decoration. The designs were first drawn in Indian red on the white plaster, then flat washes of colour were applied and finally outlined in black to show up the designs and colours. The latter were water colours and only five pure colours were used, viz, red, blue, yellow, black and white. From these colours the artists also produced orange, green, brown, purple and pink. Very little attempt at shading was made, less than is found in the Ajantā paintings which they closely resemble".² The cave was intended, even when it was actually carved, to be painted over inside for "the figures carved are not finished as such, for that was left to the painter's plaster and brush". Being the most perishable of the fine arts the painting in this cave has suffered a good deal owing to age and

¹ In my paper "The royal artist Mahendravarman I".

² Kern Institute—Leyden Annual Bibliography of Indian Archaeology, 1930, p 11

age-long neglect and indifference, darkening of the interior of the cave by smoke from the fire of way-side wandering pilgrims cooking their food in, the peeling off of the plaster here and there owing of course to neglect and the almost horrible vandalism to which it has been subjected at the hands of cattle-boys, the natives of the soil

The credit of discovering these paintings ought strictly to go to the late lamented Gopinatha Rao, who communicated his discovery to his scholar friend Dr. Jouveau Dubreuil who forthwith drew the attention of the world by means of a leaflet and an article in the *Indian Antiquary* (Vol. LII, pp 45—47) with a tracing of the outline of a well-preserved dancing figure With his remarkable precision in judgment and the instinct of a born archaeologist he was able to determine that—

“1. The process of Pallava painting is similar to that of the Ajantā paintings

2 The painting of the Pallavas was, perhaps, even more beautiful than their sculpture.

3 The Śittannavāsāl cave is a Jain temple”.¹ After closely examining the Śittannavāsāl paintings and sculptures we have only to conclude that the Professor is remarkably correct in his estimation The sculptures which represent Tirthankaras have been already examined The subject-matter of the paintings alone remains

Before taking to a study of these it is interesting to note that the name of the place, Śittannavāsāl is so un-Tamilian that to explain its derivation we have to look to its Sanskrit or Prākṛit form In Sanskrit it will be “Siddhānām vāsah” *se*, the abode of the Siddhas or ascetics and in Prākṛit “Siddhanna-vāsa” As we know that the Jainas and the Buddhists had a special leaning towards Prākṛit culturally we shall take the Prākṛit form as the nucleus of the modern Tamil name of the place, Śittannavāsāl The term “siddha” is of special value to us for our study for we know that the “siddhas” occupy a pre-eminent place in Jaina iconography and worship Among the *pañcāṇa-namaskāras* that every follower of the Jaina faith should make, the first *namaskāra* is reserved for the “Siddha”. And in Jaina cosmology the highest place or heaven (to use a common and popular term) is spoken of as the *Siddhaloka*, the denizens of which are the *siddhas* or the liberated souls whom even the Tirthankaras worship prior to initiation (*dīkṣā*)² The Jaina ascetics of the place naturally required solitary places like the cave under discussion for the performance of their austerities and *dhyāna* The rocky nature of the country afforded them ample cave-resorts, one of which was the one under discussion, which was embellished with sculptures and paintings by a royal patron of rare artistic taste who was probably

¹ I A Vol LII, p 45

² This has been dealt with in detail by me in my monograph, on *Jaina painting* to be published as a volume of the Madras Museum Bulletin

drawn to the place either because of the sanctity of the place or because of his fervour for the Jaina religion—a point which we have discussed elsewhere.¹ Of those paintings of the place that are intact, careful copies have been made by Mr. M. S. S. Sarma of Madras, some of which have been figured by Mehta in his book on "Studies in Indian Painting". I have seen his copies in colour and was struck by their fidelity to the originals. They have been drawn to correct scale and have been properly toned.

The plaster serving as the primed ground is very thin, of about an eighth of an inch and has adhered to the surface of the rock so well that it is not easy to remove its traces. Particles of husk and straw can be seen in some places and the lime appears to have been mixed up with fine sifted sand. At Bāgh one finds lime mixed up with cow-dung. My friend Mr. Chitra of the Madras School of Arts tells me that the latter mixture would give a suitable ground for the best colour-effect. The colours used are not many; those used are red, yellow, blue, green, black and white. Mr. M. S. S. Sarma has examined them very carefully and tells me that they are natural colours or vegetable colours as some of the local Tamil painters would call them. A bit of the primed ground furnished by the lime-mixture was tasted by him and found to be sweet. While only one variety in each of black, green, blue and white pigments is found, red and yellow have two varieties each. Red has "red ochre" and "vermilion"; and yellow "yellow ochre" and "bright golden".

The colour scheme is harmonious and simple, the colours being well soaked into the surface and given a final polish with probably small prepared pebbles. It is natural without any elaborate attempt at light and shade. The backgrounds are mostly red or green. The paintings are essentially linear; they "began and ended with outlines, and the boldness and firmness displayed in them are really marvellous", "every form being brought out firmly by its decided outline". It has been supposed that the first outline here must have been done with red ochre as at Ajintā, an inference which is but natural as, in the case of such paintings time, exposure, weather and natural decay would tend to obliterate everything else save the red outlines. But according to Mr. M. S. S. Sarma the execution here was different. "The cuncuma (*Kunkuma*) stein which Indian ladies use even today in their toilet is the thing that was used for the preliminary outline. The alkaline nature of the fresh ground converted the yellow of the stein into a rich red colour which was then fixed by outlines of different appropriate colours, thus parcelling out the ground for subsequent coats of colour. The outlines then were emphasised with suitable tints here and there. When the surface moisture is gone, but when the ground is still

¹ See my paper, "The Great Artist, Mihirajivasthapa" read at the Bombay Historical Conference.

damp, light shading by hatching and stippling is indulged in, and afterwards, before the ground completely dries up, the whole is given a polish with small prepared pebbles".¹ The linear draughtsmanship reveals a knowledge of anatomy and perspective far advanced.

The chief decorative *motif* in the whole cave is the lotus with its stalk, leaf and flower As Dr. Dubreuil has remarked in his "Pallava Painting", "The decoration of the capitals of the two pillars of the façade is well preserved and consists of painted lotuses whose blooming stems intertwine with elegance," the pillars being adorned with the figures of dancing girls. The ceiling of the inner cell reveals a geometrical design, complicated, most of which has been unfortunately obliterated. Of those fragments that are luckily intact and have been copied by Mr. Sarma, that on the ceiling of the verandah is the most interesting. It is located in the centre of the ceiling and is flanked by two simple decorative panels with designs looking like carpets spread. A lotus tank in blossom with fishes, geese and other birds, animals such as buffaloes and bulls and elephants and three men who are according to Dr. Dubreuil "surely Jains" wading through gathering lotus flowers, is the subject treated. While the water of the tank alone is treated in a conventional manner the rest is done in a most natural, elegant and simple manner. The fishes and the geese play about in the tank here and there and recall a pleasant paradise. Lotus leaves are made to stand as the background of every lotus flower in bloom. Of the three men, whose pose, colouring and the "sweetness of their countenance are indeed charming", two stand close to each other while the third stands alone at the right hand end of the fresco. The skin of two is dark-red in colour while that of the third is bright yellow or golden. While both Mehta and Sarma do not agree with Dr. Dubreuil who identifies the scene depicted as "probably from the religious history of the Jains", we are of opinion that the French archaeologist is seldom wrong in his surmises and if he errs at all he errs rather on the right side than on the wrong one. The scene depicted is one of the most attractive heavens that find a place in the "Samavasarana" or heavenly pavilion created by Saudharmendra for the Jina to sit and discourse, the moment that he becomes a "Kevali". Seated in the *Gandhakuti* within the "Lakshmivara-mandapa" which in turn is in the centre of the whole *samavasarana* structure the Tirthankara or the Jina holds the divine discourse attended by all pomp. A *divyadhvams* emanates from Him which is interpreted by the *Ganadharas*, the occupants of the first *koshita* which is one of the 12 *koshitas* surrounding the seat of the Jina containing god's creation come to witness the grand scene of the Lord's discourse. The structure including the *Lakshmivara-mandapa* wherein the 12 *koshitas* or compartments are located and the *Gandhakuti* with the Lord in it is surrounded by seven *bhūmis* or regions, each region being encircled

¹ *Triveni* Vol III (1930) No 1 p 72

by a rampart called *vedikā* or *sāla*. Those that are *bhavyas* i.e., 'those good people who will have the good fortune to attend the Lord's discourse in the *samavasāna* structure, have to pass through these regions before they repair to their respective *koshtas* in the *Lakṣmīvara-maṇḍapa*. The second *bhūmī* or region is called the "khātikā bhūmī" or the region of the tank. According to the "Śrīpurāṇa" (a manuscript in Tamil-Grantha in the Madras Oriental Mss. library), a work on Digambara Jaina iconography, this region is described as a delightful tank with fishes, birds, animals, and men frolicking in it or playing in it. The *bhavyas* are said to get down into the tank, wash their feet and please themselves as best as they can. And our painting shows this tank-region with those men pleasing themselves by gathering lotus flowers while animals such as elephants and bulls and birds and fishes are frolicking about pleasing themselves as best as they can¹.

The other paintings in a tolerable state of preservation are two dancing figures on the cubical pillars that catch our eye as we enter the cave. They have been figured by Mehta in his book in plates 3 and 4. The one on the right side is not so well preserved as the one on the left, a sketch of which was published by Dr. Dubreuil in the *Indian Antiquary*. From a sketch of the figure left out by Dr. Dubreuil but figured by Mehta in plate 4 of his book we can see that the left hand of the danseuse is stretched out gracefully in the *dand-basta* pose. The left hand of the other figure (figured by Dr. Dubreuil) is thrown in the *gaja-basta* pose. Both are treated with singular grace, their supple moments being rendered with ease, charm and sureness that could result only from the closest observation and æsthetic insight. Mr. Mehta was so much attracted by these danseuses that he bursts out as follows—"It was left to the artists of Southern India to crystallize into immortal form, the rhythm of dance and the energy of dynamic movement, as seen respectively in the glorious figures of swaying *Apsaras*, "loaded with jewelled ornaments, broad-hipped, narrow-waisted, powerful and graceful as panthers", and in the noble conception of Śrīva as Natarāja—the Divine Dancer"².

On the inner side of the right-hand pillar as we face the cave can be seen a beautiful head with traces of a figure in front and of a woman's head behind. It has been figured in plate 1 of Mehta's book. I examined the copy of Mr. Sarma which shows many more details than Mr. Mehta's. It is that of a splendid figure with an ornamental coronet or head-dress and with *patra-kandalas* in both the ears. While we agree with Mr. Mehta's description of the figure as "an impressive study—showing the strength of delineation and directness of treatment which

¹ A detailed description of the *samavasāna* which occurs in the Digambara Jaina at Tiruparuttikūram near Kāñchīpuram finds a place in my work on "Jaina painting" to be published as a volume of the Madras Museum Bulletin

² Mehta, p 12

'belonged to the palmy days of Ajantā and Bāgh'¹, we are unable to accept his identification of the figure as Ardhanārīśvara or Mahādeva. The figure is surely that of a king accompanied by his wife whom he probably leads into the shrine. Such is the purpose in relegating this painting on the inner side of the pillar as if the persons are heading towards the interior of the shrine. The *patra-kundalas* and the ordinary coronet (not *jatā-mukuta* as Mehta describes it to be) show that Śiva was not intended. And Śiva has no place in a Jaina shrine. We are unable to see in the figure any divinity of expression, that should go as a monopoly to Śiva alone. Such dignity, if any, can go to the king of the land also who in this case ought to be the royal artist Mahendravarman I. That the figure behind him is that of his wife and that he is going with her to the shrine can be easily inferred if we bear in mind that the Varāha cave at Mahābalipuram contains a portrait of Mahendravarman heading towards the shrine, accompanied by two of his queens, the nearer of whom he appears to be leading by her right hand while his half-raised right hand points towards the shrine². He was probably similarly engaged here, though only the head of the king remains with the outline of what looks like a feminine face which we have assumed to be that of his queen.

Kanchipuram

The discussion over this head takes us to the still more fascinating study of the newly discovered fresco-paintings in the Kailāsanātha temple at Kāñchīpuram. The credit of their discovery goes again to Dr. Jouveau Dubreuil who has brought to our notice marvellous Pallava frescoes executed in the same style as those of Śittannavāsal. Mr M S S Sarma has taken copies of these also, two of which have been photographed and published in the *Tiruvens* (Vol IV, No 1). Fig 1 shows the outline of the left side of a man, probably a king, with an expression identical with that of Mahendra at Śittannavāsal. I had been to the Kailāsanātha temple several times and seen them and three others also exposed by the Professor. The paintings cannot date earlier than 690 A.D., for the temple came into existence only then during the rule of the Pallava Narasimhavarman II *alias* Rājasimha. The tradition regarding paintings should have descended down to Mahendra's successors also who were probably also artists like their illustrious predecessor. What has been exposed consists of 5 heads, of which only one is entire. Among the others, one is the right half of a man's torso, another shows the fore-arm and three fingers of a hand, a third shows another half-head and a fourth the head of probably a child with a small coronet on head. A panel contains the design of two vases placed alongside. Traces of drapery of figure, rather fragmentary, are made out here and there also traces of "crude brush lines" which Mr Sarma thinks to be of far later date.

¹ Mehta, p 12

² Gopalan, *Pallavas of Kāñchī*, p 22.

In the few that are visible the outlines are clear and sharp and the colouring bright and rich. The lines flow in curves and have been done in a masterly manner so as to look as if they were designed without any effort. The heads so far revealed are those of men, graceful and dignified. The head that Mr. Sarma figures in the *Tiruvēṇi* as No. 1 (Vol. IV, part I) is easily the best, though half eaten away. The left eye that alone remains "sits charmingly over the left cheek and is full of pathos and feeling revealing a whole world of its own". It is hoped that the coats of white wash that the cells in this temple have had periodically will soon be removed carefully and when these are removed much more of these paintings are likely to be exposed. Even in the Śittannavāsāl temple the inner cell shows on the floor a round stone piece inserted in its centre. Does it lead to a cell underneath? And does the cell underneath also treasure paintings, which, if true must be in a state of excellent preservation? This awaits further investigation.

Dr. J. Dubreuil's find of paintings at Kāñchīpuram was followed by others of equal importance in the Pudukottah state, this time by Mr. K. Venkatarangam of the Pudukottah Museum, who discovered in the rock-cut temple at Malayadīpattī dedicated to Vishnu and founded by the later Pallava king Dantivarman (788—840 A.D.) in the 16th year of his reign, ancient paintings of great beauty and in the style of Śittannavāsāl¹. They were found on the ceiling of the temple and are said to represent scenes from Vaiṣṇavite mythology. As I have not seen them yet I am unable to say what they represent.

¹ Kern Institute Annual Bibliography for 1931, p 1/

.

७

मानुषविज्ञान, जनविज्ञान

Some Tibetan Customs and a Few Thoughts Suggested by them*

स्वर्गाय डॉ० सर जीवन जी अमरोद जी मोदी, पी-एच० डी०, एल-एल० डी०

[खेलक को कुछ दिन टार्जिखिन्ग के आस-पास गुम्पाओं में तिब्बती लामाओं से मिलने और तिब्बतियों के रीति-रिवाजों का अध्ययन करने का मौका मिला है। सांस्कृतिक जन-विज्ञान की दृष्टि से इस प्रकार के अध्ययन का बड़ा महत्त्व है।

जातियों और राज्यों के रीति-रिवाजों में अधिकांश का बन्धन धर्म में हुआ है। आज-कल के दार्शनिक रीति-रिवाज और शिक्षाचार के बहुत से नियमों की नींव धार्मिक है।

तिब्बती बौद्ध या लामा-धर्म में तीन धर्मों की स्मृति है। जरातुली-धर्म, ईसाई-धर्म और तिब्बत का प्राचीन बोन धर्म। जरातुली धर्म की बात हो हमें उसके अन्वेषित सस्कार को देख कर आती है। सुदों के पशु-पक्षियों के खाने को फेंक दिया जाता है। उन के पूजा पाठ और कई विरवासों को देख कर ईसाइयत—कैथोलिक सम्प्रदाय—का स्मरण हो आता है। सूत-मैत्र, भन्ध-तन्त्र, शकुन आदि में विरवास प्राचीन बोन धर्म के प्रभाव के कारण है।

प्राचीन ईरान के इतिहास-ग्रन्थों से पता लगता है कि ईरान और तिब्बत का परस्पर काफ़ी संबन्ध रहा है। फ़रिस्ता के अनुसार काबुल, तिब्बत, पंजाब और सिन्ध पर अस्सिद क़स्तम तक कूबस्थि के वस्त्राधिकारियों का बड़ा था।

बौद्ध महायान मयदाय, लामा धर्म जिस कि एक शाखा है, और इसाईयत में बहुत अधिक समानता है यह तो सब लोग जानते ही हैं, इस समानता को देख कर तरह तरह की कल्पनाएँ ईसाइयों ने की हैं, जैसे गुल्फर (पहली शताब्दी ई० के लगभग) के द्वाँरे में महायान सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य अम्बरोप और छोट धामस का मिलना इत्यादि। पर इस प्रकार की कल्पनाओं से इसकी स्थापना नहीं हो सकती। असल में समानता का कारण दोनों धर्मों का एक ही सिद्धान्तों वाले स्रोत से निकलना ही है। नभ धर्म और ईसाइयत की समानता का भी यही कारण है।

तिब्बती बौद्ध-धर्म या लामा-धर्म कई अर्थों में बुद्ध की शिक्षाओं के अचरार्थ के अनुकूल होता हुआ भी उन की शिक्षा के भाव से सर्वथा विरुद्ध है। बवाहरपाष बुद्ध ने भिक्षु के लिए विवाह का निषेध किया है। तिब्बती लामा विवाह नहीं करते पर रज़ेल रज़ने में कोई हर्ज नहीं समझते। बुद्ध के अहिंसा के सिद्धान्त के अनुसार मांस खाति न खाना चाहिए, पर तिब्बती लोग गाय, भैंस आदि बड़े बड़े पशुओं को मार कर उनका मांस खाते हैं। पक्षियों को मा छोटे छोटे प्राणियों को नहीं मारते। उन का कहना है कि बुद्ध ने कहा था कि कम से कम हिंसा हो। छोटे प्राणियों का मांस खाने से एक आदमी के लिए ही कई प्राणियों का बच करना पड़ता है। अतः बड़े प्राणियों का ही मांस पाना चाहिए। महाबान् बुद्ध ने भिक्षुओं को बीच बीच में कुछ काल एकाग्रता कर के आत्म-विनियम करने की शिक्षा दी थी। तिब्बती लामा एक अन्वेषी गुफा में ६ मास, ३ वर्ष और जन्म भर बन्द हो कर एकाग्रता सेवन किया करते हैं।

उन में शकुनों और भूत-प्रेतों पर विरवास इह दाले का है।]

I had the pleasure of passing about five weeks in May-June 1913 at the Himalayan Hill Station of Darjeeling. I had the good fortune of visiting several hill-stations of India and among them, some of the hill-stations of the Himalayas. But with no hill-station, I was so much pleased as with that of Darjeeling. The charming scenery it commands, both of its beautiful hill-side vegetation and especially its tea gardens, and of the great snow hills towered

* This theme formed the subject of a public lecture delivered under the auspices of the Sae-gon Vachan Institute on the 10th of February 1913

over by the lofty Kinchinjanga, is in itself a great attraction. But the hill had pleased me, nay fascinated me, by the opportunity it afforded me of knowing something of the Tibetan Lamas and of their Buddhist Monasteries. I had read something of the Lamas, their Buddhist religion and their monasteries, but there, at Darjeeling, I had an opportunity to see and study them. We see some remains of the old Buddhist monasteries of India in our country, in our very neighbourhood, for example, in the ruins of the caves of Kenheri in the Thana district and Ellora in H. E. H. the Nizam's dominions, but they are quite of a different type.

A study of the Tibetan customs is very interesting from an Anthropological point of view, as it throws a side-light upon many a point of cultural anthropology. At least, as a Parsee, I have been much interested in many of their customs, which have enabled me to understand some of our old Iranian customs—customs once observed perhaps in Central Asia, both by the ancestors of the ancient Persians and of the Tibetans, or customs given, as suggested by some, by the ancient Persians to the ancient Tibetans. On the subject of some of these old Iranian customs on which some side-light is thrown by the modern Tibetan customs, I have spoken at some length in my five papers before other literary societies.¹ So, in this paper, I will only make a passing reference to them.

We know that most of the customs of a community or nation, have their rise in its church or religion. Most of the customs, known as Court customs or manners and most of the social customs have their parallel, nay, even their origin, in the Church customs. For example, take the ceremonies observed in receiving and honouring royal personages or their representatives.²

We see the like of most of them in the Church. Take for example the following

- 1 The hoisting of flags and banners and all kinds of bunting as marks of welcome
- 2 (a) The firing of guns, (b) the ringing of bells, (c) the playing of bands of music, (d) the cheering of the people, (e) the waving of hands
- 3 The various forms of salutation, beginning with prostration and ending with the most recent forms of court courtesy
- 4 The spreading of carpets or red cloth for great men to walk upon
- 5 The ceremonial presence of body-guards
- 6 The ceremonial forms of address as "Your Majesty, Your Highness, Your Worship Your Honour," and in the East as "Khudavand, Hazrat, Jan'ab," etc

¹ Vide *Journal of the Anthropological Society of Bombay*, 1913. Vide my *Anthropological Papers* II pp 68—124, the Sir Jamset Jeebhay Jadva Jubilee Volume, my paper, pp 35, 36

² *J. Anthropol. Soc.*, Bomb., Vol. XIII, pp. 779—803.

All these forms of respect and honour observed in Court ceremonies and on other high ceremonial occasions seem to have their origin in the Church

Such being the case, we will first speak of the Tibetan Churches, which are ordinarily Tibetan Church spoken of as monasteries, by the Westerners and by the Tibetans

In the vicinity of Darjeeling, we have three Buddhist Ganpas or monasteries I had visited them several times I had opportunities to see more than once, their services, to attend two of their religious processions and to have long talks with some of the Lamas What I propose saying to-day is the result of my own observations, of my talk with the Lamas and with others, especially with the two well-known travellers of Tibet, who had made a long stay in Tibet—Rai Sarat Chandra Das Bahadur and Rev Kawagouch—and of my study of the books of known travellers

Tibet is a tableland of Central Asia situated at a height, varying from 10,000 to 18,000 feet It is all surrounded by mountains, the Himalayas being its southern boundary It has an area of 700,000 square miles Though most of the religious customs are common, some vary in different parts of the country The Tibetan monasteries at Darjeeling give us a vivid idea of the religion of the Tibetans Their religion, or to speak more correctly, their religious services and observances remind us of three religions—(a) Zoroastrianism, (b) Christianity, and (c) Bon religion—with which the early Tibetans seem to have come into some contact

The Religion of the Tibetans

- (a) Their customs of the disposal of the dead, not as observed at Darjeeling, but as observed in Tibet itself remind us of the Zoroastrian mode of the disposal of the dead—the custom of exposure before flesh-devouring birds, observed by the Parsees of Bombay
- (b) Their religious hierarchy, their religious services and even some of their beliefs remind us of Christianity
- (c) The third religion of which we are reminded in Buddhism, which is the prevalent religion, is the ancient Bon religion, which has given some of its elements to the Buddhism of Tibet, more properly spoken as Lamaism

The name and the religion of Buddha have so much fascinated some writers that they see his name in the names of the gods of distant countries, and even in the name of the day of a week For example, Lieutenant Richard Burton says .

The fascinating name of Buddha

“ But the celebrated Eastern reformer's name has extended as far as the good old island in the West It became Fo-e and Ka-ca (Shakya) in China, but, in Cochin China, “Pout,” in Siam, “Pott” or “Poti” in Tibet, perhaps the “Wadd” of Pagan Arabia, “Toth” in Egypt, “Woden” in Scandinavia, and thus reaching our remote shores, left traces in

Wednesday,³ i.e., the day of Woden, the highest God of the Germans and Scandinavia." Justi, Darmesteter, Harlez, Haug, and Meherji rana-vacha take the Gaotama of the Farvashis Yasht (Yh XIII, 16) to the Gaotama Buddha himself

Ferishta, in his well-known history, known, as *Tarikh-i-Ferishta* while tracing the connection between India and Persia from remote times, beginning with the Peshdadian King Faridun, thus refers to the conquest of Tibet by Persia

(a) Influence of "Some authors, however, relate that Faridun even possessed the Zoroastrian Persia Punjab, and that the descendants of Koorshasp (Kershasp), down on Tibet to the celebrated Rustom, held it in subjection together with Kabul, Tibet, Sind and Nemrooz"⁴

According to the Arab historian Maçoudi,⁵ who lived in the tenth century A D, some of the descendants of Amour (عمور) the grandson of Jafet, the son of Noah, had gone and settled in Tibet Their kings were latterly known as

Masoudi on Tibet "Khakans" The Kingdom of Tibet was a kingdom distinct from China⁶ Its people were cheerful, gay and contented They were

rarely seen to be sad or sorry That was due to its fine climate This gaiety and cheerfulness of temper have led the people to cultivate the arts of music and dancing The same cheerfulness makes them feel less the loss of their near and dear ones Maçoudi derives the name Tibet from the Arabic word tabat (تبت) "to fix" "to settle" on account of the Himyarite Arabs having settled there⁷ According to this author, Tibet was known for its musk⁸ (مسك) Chosroes I (Nowshirwan the Just) was on friendly terms with the Khakan of Tibet who sent him some Tibetan curiosities with a letter,⁹ and of all the tribes of the Turks, the Tibetans were the most noble¹⁰

The Arab historian Tabari,¹¹ in his account of the history of the Kings of Yeman for the time between the reign of Kai Kans and that of Bahman of Persia says that in the times of Kings Gustasp and Bahman there reigned in Yeman

Tabari on Tibet Tobba,¹² Abou-Kourroub The rulers of many countries near and far were afraid of him The King of India, once sent him an embassy

³ Lieutenant Richard F Buton's—"Goa and the Blue Mountains of Six Months of Sick-leave"

⁴ Brigg—Ferishta I, *Introductory Chapter on Hindoos*, p Lxvi According to a recent writer it was an Iranian prince who first promulgated Buddhism in China, (*Vide my paper on the subject contributed to Mahamahopadhyaya Dr Jha Memorial Volume*)

⁵ Maçoudi, traduit par Barbier De Maynard, Vol I, p 289

⁶ *Ibid*, pp 350, 351

⁷ *Ibid*, p 351

⁸ *Ibid*, p 353 et seq

⁹ *Ibid*, II, p 203

¹⁰ *Ibid*, III, p 253

¹¹ Tabari, par Zotenberg, Vol I, p 505, et seq

¹² *Tobba* was the name by which the Arab Kings of Yeman were known

with very rich presents made of silk, amber, etc. The Tobba inquired if those things were made in India. The ambassador, afraid lest his answer in the affirmative may tempt the Tobba to take possession of India for its riches, pointed to China as the home of the rich products and praised that country for its beauty and its riches. The Tobba of Yaman thereupon, sent an army to invade China. The army went through Tibet. The commander of the army left an army of 12,000 Arabs in Tibet on his way to China, so that, in case of defeat and retreat, that army may be of use to him. He was victorious in China and on his return he left the 12,000 Arabs in Tibet to live and flourish there. Tabari says that many of the inhabitants of Tibet are descended from the Arabs.

The religious services of the Lamas are of a variegated character. At times, it is unusually noisy, and, at times, it is dignifiedly quiet and solemn. To one who sees it long and on various occasions, it appears to be more the former than the latter. We, in India, are familiar with noisy religious services, wherein drums, trumpets and such other instruments play a prominent part. But, what we see here is nothing compared to what we see in the Tibetan monasteries at Darjeeling. They bring into service all imaginable noisy instruments of their so-called music and make with these a really terrific noise, which, at times, seem to strike terror in us, and which, no doubt, are likely to strike terror among the demons, the ejection of whom is one of the objects of their service.

But, during a part of the service when they conduct it in a quiet muttering tone, if one, familiar with the service of the Catholic Christians, were to hear it from outside, he would suppose it to be some Christian service. The intonation of the prayers during the service is very similar to that of the Christian Catholic prayers. Jesus Christ is known among them as "Yahu-mashi".

Mr R F Johnstone says¹². "It is a matter of common knowledge that some of the doctrines of the Mahayana (not to mention its ritualistic practices) bear a remarkable resemblance to some of the teachings of Christianity". One critic has been venturesome enough to assert that Ashvaghosha and the apostle St Thomas actually became personally acquainted with one another at the Court of St Thomas's supposed Indian patron, Gondophares, or Godopharms, and that such Christian elements as are to be found in the Mahayana were therefore the result of the intercourse between the Christian apostle and the Buddhist patriarch. The problem of the nature of the relationships between Christianity and Buddhism is not to be explained by any such airy suggestion as this. On the whole, there is something to be said for the view, that the resemblances between the Christianity and the "New" Buddhism (as the Mahayana has been called) are not due to borrowing either on one side or the other, but to the fact that

¹² Reginald F Johnstone, *Buddhist China*, p 36

both had access to some sources of doctrinal inspiration—sources which in themselves were not specifically either Christian or Buddhist. It is now a matter of common knowledge that Christianity and Mithraism were in many respects amazingly alike, yet the best authorities assure us, that, at the foot of these two religions, 'lay a common eastern origin (Persian and Babylonian) rather than any borrowing'.

Huc saw so much of similarity between Christian ritual and Tibetan ritual that he said "The devil in his hostility to Christianity had anticipated his coming." Dr Waddell speaks of the religious service of the Lamas as a "most impressive spectacle."

They say that both Ashvaghosh the Buddha and St. Paul the Christian were at one time present in the Court of Gondophur.

Buddhism, mixed with some elements of the ancient Bon religion, is known as Lamaism. A Tibetan traveller writes of Tibet as the country of the Lamas, women and dogs. Every monastery has a number of Lamas or priests attached to them. Those who are regularly enrolled as full-fledged monks get ten rupees per month. The distant monasteries are spoken of as attached to one or another of the big monasteries of Lhasa or Tashai Lumpo, or some such other big monastery. The monastery of Tashilumpo, presided over by the Tashi Lama, has 3,000 Lamas. Their principal dress consists of a loose gown of a pale reddish colour. They move about generally bare-headed and bare-footed. On ceremonial occasions, the chief Lama puts on an additional gown and an umbrella-like cap. The Lamaship is hereditary and a father begins to initiate his son into the order at the age of about nine. The Lamas in the monasteries round Darjeeling are not much versed in their religious lore, but most of those in Tibet are asked to go through a certain course of learning, some of which is a mechanical learning by heart of the Tibetan scriptures. Before initiation they are made to recite by heart the principal portions, about 125 pages of ordinary size. If any candidate commits a single mistake, he is rejected and is made to leave the monastery which educated and maintained him. The Lamas have neither caste nor purdah system.

The early religion of Tibet was Bon religion. It was in the eighth century that Padma Sambhava introduced Buddhism into the country. This Buddhism with the elements of the old Bon religion preceding it is known as Lamaism. It has also something of the elements of Sivaism in it. The belief in devils is an element of the old Bon religion.

In Tibetan Buddhism as seen at Darjeeling, we find that some of the principal injunctions of Buddha are more honoured in the breach than in their observance. The Lamas seem to cling more to the letter than to the spirit. We see this in the following two principal cases: (a) Not to kill, (b) Celibacy.

6] Gaotama Buddha enjoined that his disciples should not kill. That injunction led to abstinence from animal food. Thus, all Buddhist Lamas are expected to be vegetarians. But that is not so. The Lamas at Darjeeling, when asked, why they ate meat said, they "did not kill" but ate the meat of animals killed by others. The Hindus of India venerate the cow and request their Mahomedan brethren not to kill cow. But the Lamas at Darjeeling eat the flesh of all kinds of animals, even of the cow, and I was surprised to see on the back verandah of a monastery itself, a piece of beef in a meat-safe. But, strange to find that, though they eat all kinds of meat, they advocate abstinence from eggs, fish and birds. Their plea in defence of this custom seems to have some force. They say "Buddha has prohibited the killing of animals, so the lesser the number of lives killed for our food the better. When one eats eggs or fish he has to eat several of them to satisfy his hunger. So he takes several lives. It is better therefore to kill one big animal like a cow or sheep and feed from its meat a number of men than to have a number of eggs and fish for each person and thus sacrifice many lives."

Buddha had enjoined celibacy to the priests. This injunction also is observed more in its letter than in its spirit. They do not marry, thinking it unlawful to marry, but they keep women, saying that is not "marrying". So their monasteries have the so-called nuns, who are known as *ani's* and are kept by the Lamas.

Some of the Lamas get themselves entombed. Such entombed Lamas are of three classes: (a) those of the first class take vows for six months; (b) those of the second take vows for three years, three months and three days; (c) those of the third class take vows for life. They shut themselves up in a mountain cave, the entrance to which is shut up, a small opening only being left to pass food. At times, young boys of twelve to fifteen entomb themselves. At first, they think of entombing themselves only for six months with a view to exalt their spiritual character. When they come out, some of them turn out idiotic. This idiocy leads them to take a further vow and thus some entomb themselves for life.

In this case of entombed Lamas, we see a perversion of Buddha's teaching. His injunction for short or long retirements had for its object a kind of moral and religious discipline. He taught that such a temporary retirement gave opportunities for (a) self-examination, and (b) constructive thought which led to the proper way of salvation. But the original good idea was perverted.

The furniture of these tomb-caves was as horrible as the idea and the surroundings. Their drinking bowls of the entombed Lamas were made of skulls of deceased persons. For their blowing instruments for worship they had bone-trumpets made out of the thigh bones of deceased persons. It was believed that the souls or spirits of deceased persons were pleased when their bones were made use of by living men for domestic and

religious purposes So, in the paraphernalia of wandering monks, we often see bone-trumpets and skulls The Lamas are, as it were, roaming monasteries, i e , they carried on their bodies, most of the instruments which we see in a monastery,—bells, flags, rosaries, trumpets, praying-wheels, clarions, dorys (symbolic small scofotros), etc

It is no wonder that retreats of this kind with horrible surroundings make the hermits idiotic and eccentric Even milder forms of retirement are, at times, said to have produced temporary eccentricity Martin Luther even, under such a mild temporary retirement, is said to have grown a little eccentric, and to have once thrown an ink-stand against a devil, who, he imagined, was before him

Their early code of ritual enjoins that the material of their robes should be “woolen cloth” But, nowadays, silk is used by some rich Lamas The colour of the robes in Tibet is yellow or saffron-like The colour spoken of in Lama's Robes their books is *nur senig* or Brahman goose-coloured This sad-coloured bird, the ruddy shell-drake has, from its solitary habits and conjugal fidelity been long in India symbolic of recluseship and devotion¹⁴

The priestly garb consists of three vestments The first is the lower patched robe It is made of about 28 patches, sewn in seven divisions, and fashioned by a girdle at the waist The patches give an idea of poverty

Among the Buddhists there is a particular month, at the end of the rains, known as Chivar Mōsa, i e , Robe-month, when all mendicants are presented with new robes¹⁵ Their robes are made up of patched cloths, because patched clothing indicates poverty

As a man is a child of circumstances and of his surroundings, so also is a nation to a certain extent We have too many monasteries and too many monks in Tibet In fact, the Tibetans are spoken of as a hermit-nation It is this country that has made them so The country is isolated (a) It is surrounded by lofty mountains of which the Mt Everest has the height of 29,000 feet (b) It is barren on account of the frequent fall of snow for a great part of the year and on a great part of the country (c) It is surrounded by uninviting deserts These have made all the people also reserved They do not like the company of foreigners All these circumstances tend to make the people ascetic or hermit-like Thus, we see many monasteries and monks here and many cases of extreme asceticism like those of entombed hermits

The Dalai Lama and the Tashi Lama are the two chief Lamas at the head of all The Dalai Lama rules at Lhasa He is both the Temporal and the Spiritual Head of the country The Tashi Lama rules at Tashi Lumpo, and is next to Dalai Lama in dignity and public estimation His monastery has 3,800 monks attached to it He, however, has to a certain extent

The Dalai Lama held as incarnations

¹⁴ Dr Waddell—*Jamnasam*, p 200

¹⁵ *Ibid* , p 511

somewhat independent sway over his country. He has the right to officiate at the installation of the Dalai Lama. The latter is held, as it were, as an incarnation of the Spiritual Lord, his predecessor. Not only do the Tibetans address him as such but even European diplomats have, out of diplomacy, so addressed a child Dalai Lama.

We have an instance of this kind in Sir W Hastings' embassy. We thus read about it: "On the morning of the 4th December, 1783, the British envoy had his audience and found the child, then aged eighteen months, seated on a throne with his father and mother on his left hand. Having been informed, that, though unable to speak, he could understand, Captain Turner said 'The Governor-General, on receiving the news of your decease in China was overwhelmed with grief and sorrow, and continued to lament your absence from the world until the cloud that had overcast the happiness of your nation was dispelled by your reappearance, and then, if possible, a greater degree of joy had taken place than he had experienced grief on receiving the first mournful news. The Governor anxiously wished that you might long continue to illumine the world by your presence, and was hopeful that the friendship which had formerly subsisted between us would not be diminished, but rather that it might become still greater than before, and that by your continuing to show kindness to his country fellow-men there might be an extensive communication between your votaries and the dependents of the British nation'.

"The infant looked steadfastly at Captain Turner with the appearance of much attention, and nodded with repeated slow motions of the head as though he understood and approved every word. His whole attention was directed to the envoy, and he conducted himself with astonishing dignity and decorum. He was the handsomest child Captain Turner had ever seen."

The Tibetans peculiarly, as it were metamorphose foreign names. This name of Warren Hastings is "Gyal-tochal" Reinponchippo of Calcutta.

Manning thus describes his visit to the Dalai Lama: "This day (17th December, 1811) I saluted the Grand Lama. Beautiful youth Face poetically affecting, could have wept. Very happy to have seen him and his blessed smile. Hope often to see him again."

Manning goes on to relate: "The Lama's beautiful and interesting face and manner engrossed almost all my attention. He was at that time about seven years old, had the simple and unaffected manners of a well-educated, princely child. His face was, I thought, poetically and affectingly beautiful. He was of a gay and cheerful disposition, his beautiful mouth perpetually unbending into a graceful smile which illumined his whole countenance. He enquired whether I had not met with molestation and difficulties on the road, to which I promptly returned the proper answer. I said that I

had had troubles, but now that I had the happiness of being in his presence they were amply compensated I thought no more of them "

Dr. Suen Hedin says of the Tashai Lama that he is " more powerful than all the kings of the world " He rules " over the faith and souls of men from Volga to Lake-Baikal, from Arabia to India " Of his visit to the Tashai Lama he says : " I left the Labang, his cloistered palace, intoxicated and bewitched with his personality This one day was worth many days in Tibet " Dr Suen Hedin, when speaking of the Tashai Lama, his monastery, his officers, etc , speaks of them in Christian phraseology as the Pope, the Vatican, Cardinals, Prelates, etc The Tashai Lama is spoken of as Panchen Rinpoche, i e , the Great person Tashai He is believed to be the incarnation of one Dhyani Buddha He is taken more as a teacher or spiritual head, while the Dalai Lama, who is known as Gyalpo Rinpoche, i e , the precious king, is taken as the Temporal head

The Kashmir Government sends a tribute every three years to the Grand Tashai Lama This grand Lama sends at first about 500 mules to Laddhak in Kashmir, to welcome the embassy bringing the tribute The members of the embassy load them as bales of merchandise on the mules and carry them for trade to Tibet

The monastery of Tashai Lama and other monasteries of Tibet were built like-walled forts They served as fortresses during fight, and these monks, like the Christian monks of the Middle ages, fought as soldiers

Among the religious instruments of the Lamas, what we should generally term as Prayer-Machines¹⁶ draw our special attention
 (a) Prayer-flags Among these Prayer-Machines, I include their (a) Prayer-flags, (b) Prayer-wheels, cylinder or barrels, and (c) rosaries

Their Prayer-flags are, as it were, "the rallying posts of religious sentiments. You see them in monasteries, in the yards of private residences, on hill-tops, rivers, streams and streamlets, on boats, and even in the hands of mendicant Lamas The more the prayer-flags flutter with currents of air, the better So you see them on roofs of houses, on fire-places, tops of hills, and rivers There they flutter by the force of the ascending or descending currents of air and of currents of water They are inscribed with certain prayers, and, with each motion or fluttering movement, a prayer is taken to have been recited

The most common prayer formula on these flags is that of " om mani padme hum," i e , " Hail, the Jewel in the Lotus flower " It is like the Pater noster of the Christmas, Bismilla of the Mahomedans Yathā-hu-vairyo of the Zoroastrians It brings all help and support from divine powers

¹⁶ For a detailed account of these different prayer-machines, *vide* my *Papers* before the Anthropological Society of Bombay Journal, 1913, *Vide* my *Anthropological Papers*, Part II pp 68—92

The flags are made of variegated colours. The Tibetans come into frequent contact with the variegated colours of Nature on their mountains. So, they are very fond of variegated colours. This we see in their flags, and even to some extent, in their dress. The women are on occasions gaily decorated in a dress of variegated colours. Even their shoes or slippers are made of thick cloths of different colours. They buy from the bazars only the soles of shoes and the upper part is their own handwork of variegated colours.

Love of Colours

In the weekly bazars at Darjeeling I was struck at times, with richness of the coloured stuff of the clothes, even of some poor who acted as porters. Some of them put on satin clothes. At first, I thought these satin robes or gowns were presented to them by some rich women whom they served. But, on seeing them on the body of several, I inquired from a shopkeeper, and he said that they were very fond of such clothings, and even the poor of the working class, at times, bought satin worth at about a rupee and a half per yard.

Next to prayer-flags, the most common prayer-machine that we see is the prayer-wheel, cylinder or barrel. They are seen in monasteries, on house-roofs, on streams, at fire places and in the hands of religious-minded persons. They vary in size from a quarter of a foot in length or height to six, seven or more feet and a few inches in diameter to three or four feet in diameter. It is the monasteries that contain the large wheels. At the outside of a monastery, you find, at first, a number of smaller wheels on both the sides of the entrance. The visitor or worshipper at the monastery, first turns all these wheels in turn. He then enters into what may resemble a verandah, where there is a very large wheel. He turns that wheel by means of a large handle. It is an effort to turn this huge machine for some time. I was struck with the devotion of an old Tibetan mendicant woman at the rural monastery of Gang, with which she moved the great machine. The women go to the work as they go to that on a grinding mill with rhythmic movements of their body to and fro. Just as we hear in India of mendicant *sadhus* going from shrine to shrine, living upon the charity of religious-minded persons, we see and hear of mendicant beggars, both men and women going from monastery to monastery, and there turning the prayer-wheels with devotion. The Lamas at the monasteries are expected to feed them while they are there.

The wheels, barrels or cylinders that are placed on roofs of houses and fire-places, etc., are of a very light structure, so as to move with the slightest current of air produced by the moving wind or the ascending current of hot air. The wheels carried by the Lamas are still lighter. Some of them are like the big rattles (ཁྱུ་ཁྱུ་) with which our children play. The Tibetans turn these wheels while talking with you and walking in the street.

These wheels have long pieces of paper rolled over them. These papers have religious prayers written on them. With each turn, or set of turns of the wheel, a prayer

is taken to be recited Thus, in a minute a number of turns of the wheel would, as it were, recite a number of prayers for the person who carried it and moved it

I think the origin of this custom can be seen in the old custom of writing papers in the form of round scrolls We see them still in the case of modern Indian horoscopes and even of old writing Prayers, at first, were written on long pieces of paper which were then rolled on a roller The worshipper, at first, recited leisurely the full prayer reading it in the paper rolled round the roller Then, subsequently, some parts of the written prayer were, here and there, omitted In that operation, the wheel had to move quickly The shortening process went on till at last, it came to a mere mechanical movement

All religious-minded Tibetans carry rosaries in their hands, which they turn, when at prayers, and even while talking or walking We see the use of rosaries among many religious communities, and in their use also we trace the short-
 Prayer-beads or Rosaries or counting or substitution process At first they were used for counting prayers With each recital of short-prayer like the pater noster or the bismilla or the Yathâ-ahu-vairyo one bead was turned As in the case of the wheel so in the case of the rosary, a shortening process went on After some time whole prayers ceased to be recited and only the first parts of the prayers were recited That also in process of time fell through, and the matter came to a mere mechanical movement The English word 'rosary' comes from the word 'rose' So, the corresponding words for it in other languages also come from words related to gardening or vegetation For example the Gujarati word hârdi from hâr a garland These words show, that, at one time, some vegetable products like rose leaves, etc, formed the beads of rosaries

Latterly rosary came from the Church to the state, from temples to society rooms and we find that rosaries formed the part of ladies' ornament in the form of necklaces of gold, pearl, etc

The above shortening process is traced in the history of the word "Hip" in the formation of words "Hip Hip Hurrah" It is said that at the commencement of the

Crusades, Peter the Hermit went from city to city, town to town

A shortening process in the shouts of Hip Hip Hurrah and village to village, shouting Hierasalyra est perdita, i.e., "Jerusalem is lost" The Saracens had taken the holy city of

Jerusalem, and so, Peter went from place to place to arouse Christians to join the Crusaders for the religious war, and, in order to draw the attention of the people to the event and the cause uttered the above words Then, in haste, he shortened the words He only spoke the first letters, viz, H E P of the three words of the above sentence or formula He then joined the letters and spoke the word Hep The people had become so familiar with Peter and his shouts that no sooner he appeared and began to utter the word Hep they welcomed him, joined him and exclaimed Hep Hep Hurrah Thus, gradually what were at one time religious words, or words of the Church, latterly became words of welcome on gay occasions both in streets and in

banqueting halls From the Church the shout came to the State, from temples to society rooms

The Tibetan word Lha-sol reminds us of the shortening process in the Christian religious word *Hep in Hep* *Hep Hurrah* At first, the Tibetan words were "Lhagya lo Lhagyalo," i.e., "God (may give) a hundred years" It was an invocation to the mountain deities Latterly, the words were shortened into Lha Sol which were used generally for a joyful exclamation

Various forms of salutations are known among the Tibetans They vary according to the position of the person who salutes and the person saluted.

Tibetan salutations

The various forms are the following

- (a) Bowing or lowering the head , (b) Protruding the tongue , (c) Pointing the thumb , (d) Scratching the head , (e) Scratching the ear , (f) Pointing or protruding the ear , (g) Doffing the cap , (h) Rubbing of foreheads ;
- (i) Prostrating on knees , (j) Presenting a scarf

Among these, the following strike us as very peculiar The saluter takes off his cap with his right hand, bows a little, holds forth his left ear and puts out his tongue This form of salutation is a relic, reminding one of an old custom of Tibet, China and Central Asia, whereby conquering heroes or kings at times cut off the ears of their war-prisoners or of the persons whom they wanted to punish or to whom they wanted to show their displeasure At times, they cut off the tongue also So in the above mode of salutation, we see a remnant of this custom The saluter holds forth his ear and tongue, and bends his head in submission, indicating, by all these signs, that he places his ear and tongue and even his head at the disposal of the person whom he salutes, and the latter may, if he likes, cut all these off Herbert Spencer has traced, at the bottom of most of our modern-day salutations remnants of the old idea of self-surrender of the person saluting to the person he salutes

The modern salutation of lowering the head out of respect is a remnant of the old custom, whereby the saluter places at the disposal of the person saluted, his head, his very life The modern salutation of ladies to royalties, known as doing courtesy, wherein, they bend their knees, is a remnant of the old form of salutation by prostration Instead of prostrating their whole bodies, the ladies bend their knees indicating that they are prepared to fall in and prostrate

Another form of salutation is that of raising the thumbs and protruding the tongue The projecting of the thumb means approval and satisfaction, and raising the little finger indicates disapproval and hostility Even, in the midst of conversation, if one wished to indicate his assent to what the other person says he raises his thumb The custom in modern assemblies to express assent by raising hands seems to be connected with this custom of indicating assent by raising a thumb In Gujerat, and even in Bombay, we see children indicating friendship with their play-fellows by raising their two fore-fingers with the thumb in the middle, and indicating enmity by protruding their

last finger This seems to have some connection with the above old method The ancient Roman gladiators also raised their thumbs when they showed their submission.

Another peculiar form or mode of salutation during visits is that of presenting scarfs When one goes to another friend, he holds before him a scarf, which consists of a piece of woollen stuff The other side also presents such scarfs In the case of visits to great Lamas, this presentation of scarfs holds the same place as that of holding *nazrana* in India The Indian custom of presenting shawls or *poshaks* (suits of dress on great occasions) seems to have an origin in this old custom

Comparing the modern forms of salutation with these old forms which exist in Tibet, we find that almost all the modern forms have come down from the old An European gentleman's doffing his hat, a lady's courtesy, an Indian gentleman's low salam, a Free-mason's greeting in the First Degree, an officer's presentation of a sword, before the Governor, a soldier's salute by moving his hand across the head, a Parsee lady's salutation of *Ovarna* all these are modern forms of a kind of self-surrender to the person saluted

The Tibetans have several known modes of the disposal of the dead Among these, the principal is the one resembling that of the Parsees, viz, disposal by submitting the bodies to be devoured by flesh-eating animals They expose their bodies to be devoured both by vultures and by dogs In big centres like Lasa and Tashi lumpo, the corpse-bearers form a separate class, living apart from the people They have a number of dogs which devour the flesh They cut the bodies into small pieces, so that the work of the vultures and dogs is made easier They even break and pound the bones and mix them, so that they can be easily eaten away

We see in all monasteries paintings on inner walls, wherein pictures of devils in all possible horrible forms predominate This belief in devils they have inherited from the old Bon religion, once prevalent in the country Some of their paintings carried by itinerant beggars,—Lamas and nuns—from village to village to illustrate their stereotyped religious lectures or sermons, remind us of the pictures of heaven and hell observed on the walls of some of the Christian religious places of Europe and of the pictures in the illustrated works of Dante's *Divine Comedy* and Ardal Viraf's *Pahlavi Viraf Nameh*

One of their religious functions is that of the well-known devil-dances which they generally perform once a year Therein, the monks put on horrible head-dresses bearing the features of devils and dance

No nation or community is free, more or less, from some kinds of superstitious beliefs The Tibetans are more prone to such beliefs, most of them borrowed from the ancient Bon religion Dr Waddell, who is a great authority on Lamaism, takes a very broad liberal view of this matter and says "The movement of the Human spirit is one shape of many names" He adds as an

Superstitions

Illustration "If a learned Tibetan were to attend a wee Free-Kirk service in the Highlands, or in that lonely forbidden region of the Clyde the island or Airan, he might be quite right in thinking it no better than some of the most degraded observances of his friends at home"¹⁷

The following are some instances of their superstition

- (a) During the Tibetan expedition, on 16th March, 1904, they sent a number of Lamas near the British Camp, to pray and ask for the curses of the devils upon the British
- (b) All Tibetans carry some chains. In the war with the English, all the Tibetan soldiers were given chains as amulets. When some were killed even in spite of the chains, they said, that the chains were intended to act against the lead bullets of the enemy, but the English had a little salna in their bullets, so the chains had no effect
- (c) They invoked the spirits of wild animals for protection. In times of war, they suspended carcasses of wild animals like the yak on the gates of their forts, believing that their spirits would help them in driving away the invading enemy
- (d) The teaching of the Lamas that the votaries would go to higher heavens in proportion to the beauty and value of their offerings had led to the encouragement of some Tibetan arts. They aim at producing beautiful votive offerings for the monasteries

Miscellaneous Beliefs and Customs

- (1) On returning from places of pilgrimage, when they come across big trees, they stop and dance round it
- (2) It is an honour for them to ride donkeys
- (3) Among various Buddhist symbols, flower-pots, two fish tied together, and crows are often seen
- (4) The killing of birds is a crime and sin
- (5) They have no caste and purdah system
- (6) The mastiffs or great dogs are the life and soul of the Tibetan shepherds
- (7) The sacred formula of "Om mani padme hum" is held as their eternal truth
- (8) They have a peculiar flag-saluting ceremony which reminds us to a certain extent of our modern military custom
- (9) One of their New Year's Day celebrations consists of burning papers on which prayers and good wishes are written. They believe that the burning of these papers leads to the realization of the blessings of the prayers written on them. This is something similar to the Chinese beliefs. I had the pleasure of seeing a Chinese temple in

¹⁷ Dr. Waddell's *Lamasim*, p. 447

Calcutta, where such papers with prayers written on it were sold. These papers were purchased and burnt by the worshippers. The Chinese prepared paper horses, etc., also and burnt them believing that they received the meritoriousness of supplying the help of horses, etc., to travellers.

(10) The most important implement of religious ritual among the Tibetans was the Dorji, a kind of sceptre. The word meant a thunder-bolt, and it symbolized emblem of power. Darjeeling is said to have derived its name from this word Dorji.

(11) They have periods of the day for religious services, corresponding to the five gahs of the Parsees and the five periods of Catholic service.

(12) The words of Buddhist prayer exclamation are Lha-sal. It is, as said above, a contraction of "Lhagya lo Lhagya lo" meaning "God (give me) an hundred years, God (give me) an hundred years."

(13) Ghee or clarified butter plays an important part in many religious ceremonies and even in social customs. When one presents to another a peg or a bottle of their wine, they place on it a little ghee.

(14) They have elaborate rain-making ceremonies. Regular falls of snow in winter are good for their crops. During the Tibetan invasion by the English army from India, they had a very mild winter and they were afraid of the crops being short that year. They saw heliographs being frequently used, and they thought that the English, by the working of the heliograph, were in some magical way keeping off the snow. So it is said, that in one place a deputation of some Tibetans went to the Commanding Officer of the place and implored him not to write the heliographs and thereby keep off the snow from their fields and lead to their starvation.

(15) Wine and barley are held to be symbols for good omen. When one goes out on a long journey, or on an important errand, the women stand at the door, holding these in hands to wish him godspeed and success. A ragged old woman carrying on an empty basket is a bad omen.

(16) Like the Christian nuns, even women are attached to some monasteries. They are known as "ani". Some of these "ams" live there as kept women of the Lamas who are prohibited to marry. The Lamas do not marry, but some keep women thus adhering to the letter but not to the spirit of the original injunction.

(17) A part of their religious literature is known as the Kangyur. Once a year, Kangyur books have to be read in the monastery. They form a large number. The reading lasts for some days, beginning at about 5 a.m. and ending at 7-30 p.m. They have their meals and tea at irregular intervals during the reading. I saw them drinking their tea with bread in the midst of even smaller services lasting for about an hour. The head Lama sits at one end and the other Lamas on his two sides in parallel lines. They have drinking bowls before them and a woman moves about in their midst pouring hot tea. They seem to be very fond of hot tea, which they sip in the midst of services. No sooner is a cup emptied, than it is re-filled by the woman, the tea cup-bearer.

(18) It is a rule of etiquette never to drink more than one-third of the cup of tea at first neither less than one-third nor less than one-third, the latter being taken as an insult to the cook of the host as it may imply, that he had not prepared good tea

(19) In their religious offerings the tormas plays an important part It is a kind of sweet, formed in the form of a *chorten*, a religious symbolic form

(20) Pillars serve as notice boards in the city of Lhasa The Dalai Lama sticks copies of his edicts on these pillars All important events like treaties with foreigners are thus announced to the public

(21) The following serve as good omens

- (a) A well dressed man or woman , (b) A full vessel , (c) Grain , (d) Grass ,
(e) Firewood , (f) A prayer-flag , (g) Sound of cymbals , (h) A woman
carrying a child, milk or curd
-

Ksatriyas in Greater India

विजयराज चैटर्जी, पी-एच० डी०, डी० लिट०

[कम्बुज, आनाम, जावा आदि से मिले अभिलेखों में ब्राह्मणों का जिक्र बहुत हुआ है। पर क्षत्रियों के बल्लेख बिल्ले ही है। भारत से प्रायः ब्राह्मण लोगो ने जा-जा कर परले हिन्द के प्रदेशों में उपनिवेश बसाये थे। बाद में इन्हीं के वंशजों ने अपने आप को क्षत्रिय कहना आरम्भ कर दिया।

इस प्रकार के कई उदाहरण इस लेख में दिये गये हैं, जब कि ब्राह्मणों ने जा कर राज्य स्थापित किये और बाद में अपने आप को क्षत्रिय कहना शुरू कर दिया। कम्बुज उपनिवेश की स्थापना कम्बु ऋषि नामक एक ब्राह्मण द्वारा किया जाना प्रसिद्ध है। अप्सरा मेरा और कम्बु से वर्धा एक सूर्यवंश का आरम्भ हुआ। इसी तरह एक दूसरे ब्राह्मण कौण्डिन्य और सोमा यक्षिणी से सोमवंश का भी उद्भव उल्लिखित है। बोरनियो, जावा आदि के राजाओं के नामों के पीछे वर्मा आता है। संभवतः पल्लव राजद्वार से ही, जिसका कि इन द्वीपों के भारतीय उपनिवेशों पर बड़ा प्रभाव था, इस का आरम्भ हुआ है। इस प्रकार के उदाहरण बारहवीं सदी तक मिल सकते हैं कि ब्राह्मण परिवार को सेनापति आदि का पद लेकर क्षत्रिय बना दिया गया। केवल वर्मा शब्द से ही इन का अपने को क्षत्रिय बतलाना सूचित होता है। ये लोग बड़े विद्वान् थे तथा वेद शास्त्रादि बारहवीं शताब्दी तक भी पढ़ते थे।]

In the Sanskrit inscriptions discovered in Cambodia, Annam, Java, etc., by French and Dutch archaeologists we find frequent mention of Brahmins but only occasionally do we come across the word 'Kṣatriya'. Of course, in Cambodia there is the 'solar' dynasty founded by the Rasi Kambu and the apsara Merā. From the name Kambu we get Kambuja—the name of the country of which the Europeanised form is Cambodia. Then there is the 'lunar' dynasty traced from the Brahman Kaundinya and Soma—a native queen whose hand the Brahman won after many adventures on his arrival in the newly discovered land. But the founders of both these dynasties were, as we see, Brahmins. The later rulers, however, assume the Kṣatriya title of 'Varman'. In India too we find dynasties, Brahmin in origin, which were recognised later on as Kṣatriya.

Indeed in the earliest inscriptions discovered in Champā (South Annam), Borneo, Java and Cambodia we find all the royal names ending in 'Varman'. Probably this title of 'Varman' came from the Pallava court of Kanchi which influenced in many ways the Hinduised portions of South Eastern Asia. The title 'Varman' was retained right up to the end (of the Hindu period) by the rulers of Cambodia and Champā but elsewhere, as, e.g., in Java, it (this title) fell into disuse much earlier.

From a study of the traditions and inscriptions of Greater India it would thus appear that the Brahmins, who went over from India to those distant regions, married freely native princesses, and after a few generations (when Indian traditions had struck deeper root in the new sort) their offspring, who ruled the land, became known as Kṣatriyas. In Borneo where we find a prince of the name of Mulavarman, son of

Ashvavarman and grandson of King Kundanga, inviting Brahmins to Borneo to perform a Yajña (in the fourth century A.D.)—it is possible that Kundanga was a native ruler who was accepted as a Kšatriya by Brahmins who had early visited that island and that Mulavarman might have been inviting a fresh batch of Brahmins to get his status as a Kšatriya confirmed. In Indian history too there have been ruling families, with no pretensions to Kšatriya blood who have been recognised later on as Kšatriyas.

Indeed in Cambodia, Siam, Burma and Champā we have traditions of Brahman sages having founded kingdoms in those distant regions. From inscriptions it appears that these early Brahman pioneers were reinforced by Brahman immigrants coming from India continuously from the fifth to the fourteenth century A.D. We do not hear of such a continuous inflow of members of any other caste. We hear of some Cambodian monarchs like Haravarman III (1035—1090 A.D.) boasting in their inscriptions of having made people observe strictly the duties of the four castes (वर्ण). But we do not get substantial evidence of any other caste besides that of Brahmins.

If we leave out for the present the title Varman of the kings perhaps the only instance in Cambodian epigraphy where we come across a mention of the word Kšatriya (as referring to residents in that country) is in the eulogy of the mother of King Indravarman (877—889 A.D.) in the inscription of the temple of Baku—"The Queen (mother), born of a family where kings have succeeded one another, became the wife of Prithivindavarman, who came of a family of Kšatriyas (क्षत्रियकुलोद्भवे) and her was the ruler of the land—Shri Indravarman, before whom kings bowed down."

Another passage, which in the opinion of some savants may also refer to Kšatriyas, is in connection with the regulations of the royal āśrama of King Yashovarman of Cambodia (889—910 A.D.)—"Into the interior of the royal hut (in the āśrama compound) the king, the Brahmins, and the offspring of Kings (वृष सुतः) can alone enter without taking off their ornaments." Just after a few lines in the same inscription we get—"The head of the āśrama should do all the duties as, e.g., offering welcome to guests such as Brahmins, children of kings (वृषत सुतः), the leaders of the army, ascetics." May we take the words (वृषसुतः) and (वृषतसुतः) in the same sense as Rājput, to mean Kšatriyas?

In the fourteenth century Javanese chronicle *Nagarakṛtāgama*—we find in the description of the Javanese capital, Majapahit, that in the western part of the city there were the houses of the Kšatriyas and ministers. In Ta Prohm inscription of Jayavarman VII (1182—1202 A.D.) the last of the great Cambodian monarchs, we find an enumeration of the favours conferred by the King on his guru and the guru's family. "To the descendants (of the guru's sons) the title of Senāpati was given as if they had been the descendants of Kings." Do we get here a rather late instance of a Brahman family becoming Kšatriya through royal favour?

Caste regulations, as we learn from the inscriptions, were much more elastic in Kambuja (Cambodia) than in India. Not only did learned Brahmins (some of them

just on their arrival from India) wed royal princesses—but Cambodian monarch like Jayavarman II and Jayavarman VII married Brahman maidens

If, however, we take the title 'varman' of the Indo-Chinese monarchs to denote the fact that these rulers really belonged to the Kṣatriya caste, then we will find ample material in the inscriptions of Champā (South Annam) and Cambodia for a thousand years (almost to the end of the fifteenth century A.D.) about the education, accomplishments, etc., of Kṣatriya potentates in a region so remote from India. We learn, e.g., that several of the royal princes were educated by their gurus in astronomy and mathematics, the grammatical works of Pāṇini and Patañjali, the Dharma-shāstras, the Atharva Veda, and the different systems of philosophy. One sovereign—Yashovarman—wrote a commentary on the Mahābhāṣya of Patañjali. Dancing and singing may also be mentioned among princely accomplishments.

As regards the religion of these rulers we may say that most of the Indo-Chinese monarchs were Shaiva. But some illustrious sovereigns like Jayavarman VII (of Cambodia) were also Buddhists.

We may conclude this short paper on Kṣatriyas in Greater India with a stanza from Yashovarman's Loley inscription in which, in a pithy sentence, an ideal picture of an Indo-Chinese monarch (Yashovarman) is attempted—"He who reigned over the earth, the limits of which were the Chinese frontier and the sea, and whose qualities, glory, learning and prosperity were without any limits."

चीन-संधि-प्रयोचिष्याम् सितोर्वी येन पालिता । गुणान्वतीव कीर्तिस्तु विद्येव श्रीरिवालिता ।

Such would be the high standard which we may expect of Kṣatriya rulers if they were to rule successfully countries at such a distance from India as the Hinduised Kingdoms of Indo-China—though this particular passage, cited here may be only the panegyric of court poet.

मध्यप्रदेश तथा मध्यभारत के राजपूत

रायबहादुर डॉ० हिराछाह, डी० लिट०, कटनी ।

राजपूत का असल अर्थ राजा का पुत्र होता है चाहे वह किसी जाति का हो, परन्तु अनेक युगों से क्षत्रिय जाति के लोग बहुधा राजा होते आए हैं इस से वह इस जाति का पर्यायवाची शब्द बन गया है^१ । कहीं-कहीं अब तक भी ऐसे घराने विद्यमान हैं जो राजपूत कहलाना पसन्द नहीं करते, वे अपने को ठेठ क्षत्रिय कहते हैं । राजपूत का एक और पर्यायवाची शब्द ठाकुर है जिस का अर्थ स्वामी या मालिक होता है । जब कोई व्यक्ति अपने को ठाकुर बतलाता है तो उस से राजपूत का बोध होता है, यद्यपि ब्राह्मणों के भी कई ऐसे घराने पाए जाते हैं जो भूमि-प्रभुत्व के कारण ठाकुर घराने कहलाते हैं । इसी प्रभुत्व के कारण निम्न श्रेणियों के घरानों की भी इसी प्रकार की छाप पड़ गई है । कभी-कभी इस प्रकार की पदवियों और अधिकार के कारण विवाह-सम्बन्ध हो जाने से अनेक जातियों क्षत्रिय जाति में सम्मिलित हो गई हैं, जिन का पृथक् करना अब असम्भव सा दिखता है । मगध का महाप्रतापी शुभवंश कारस्कर^२ जाति का था । यह जाति जाटों से मिली-जुली थी, परन्तु उस घराने की राजकुमारी प्रभावती गुप्ता का विवाह ब्राह्मणवंशी वाकाटक महाराजाओं के यहाँ होने से वाकाटक घराना अन्त में राजपूतों की श्रेणी में आ गया । इसी प्रकार गढ़ामण्डला के गोंड़ों का वराना राज-सभवा ही के कारण राजपूतों के वर्ग में गिना जाने लगा था और उन का विवाह-सम्बन्ध असल क्षत्रियों के घरानों में होने लगा था । गोंड़ राजा दलपतिशाह की भार्या इतिहास-प्रसिद्ध रानी दुर्गावती चन्देल घराने की कुमारी थी । उस के पीछे अन्य जो राजा हुए उन की रानियाँ कोई पट्टिहारिन, कोई बवेलिन, कोई अन्यवंशीय क्षत्राणियाँ थीं । च्युतपद और अत्यन्त गरीब हो जाने पर भी यह घराना अभी तक सिवाय राजपूतों के अन्य किसी से विवाह सम्बन्ध नहीं करता ।

इसी प्रकार की स्थिति का मनन कर कविपय विदेशी इतिहासकारों ने कह डाला है कि राजपूत या क्षत्रिय कोई जाति ही नहीं थी, वह केवल सैनिक और शासक लोगों का समूह था जिसने आपस में शादी-विवाह कर लेने से एक विशेष जाति का रूप धारण कर लिया । परन्तु महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपने बृहद् राजपूताने के इतिहास में इस का पर्याप्त रूप से खण्डन कर सिद्ध कर दिया है कि यह भ्रम है^३ । क्षत्रिय जाति का अस्तित्व बहुधा प्राचीन काल से है । सम्मिश्रण की कथा दूसरी है; ऐसी कोई भी जाति नहीं है

^१ महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर ओझा का कथन है कि सुसलमानों के समय से क्षत्रिय जाति राजपूत कहलाने लगी ।
दे० राजपूताने का इतिहास, पृ० ३८ ।

^२ भीमल काशीप्रसाद जायसवाल—हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया १२०-२२० पृ० (लाहौर १९३३), पृ० ११२ ।

^३ राजपूताने का इतिहास, अध्याय २ ।

जिस में मिश्रण न हुआ हो, परन्तु उस से यह सिद्धान्त नहीं निकलता कि उन जातियों का अस्तित्व ही नहीं था; अस्तु।

भारतवर्ष में राजपूतों की संख्या लगभग एक करोड़ है। राजपूताना उन का ठेठ स्थान समझा जाता है परन्तु वहाँ राजपूतों की संख्या केवल ६ लाख है। मध्यप्रदेश में कोई साढ़े चार लाख तथा मध्यभारत में चार लाख राजपूत पाए जाते हैं। पण्डित गौरीशङ्करजी ने बड़ी खोज के साथ राजपूताने के राजपूतों का विवरण अपने राजपूताना के इतिहास में लिखा है; हम यहाँ पर मध्यप्रदेश और मध्यभारत के राजपूतों और उन के कुलों का कुछ परिचय देने का प्रयत्न करेंगे परन्तु स्थानाभाव से यह केवल बहुत संक्षिप्त रीति से किया जा सकता है।

कवि पद्माकर ने अपनी हिम्मतबहादुर की विरदावली में इन प्रमुख कुलों की सूची दे कर प्रत्येक कुल या कुली की विशेषता या गुण प्रसङ्गानुसार प्रकट कर दिया है; उन का वर्तमान मनुष्य-गणना-विभाग (Census) द्वारा गिनी गई कुरियों से मिलान करने से कुछ उपयोगी बातों का पता लगता है।

पद्माकर लिखते हैं कि रणधीर पर्वार अर्जुनसिंह पर जिस समय हिम्मतबहादुर ने धावा किया, उस समय उन की सेना में अनेक कुरियों के घोड़ा उपस्थित थे; यथा—

चौहान चौदह आकरे। धन्धेरे धीरज धाकरे।
 बुन्देल विदित जहान में। जे सरत अति घमसान मे।
 वघरु बधेले करचुली। जिन की न बात कहूँ डुली।
 रन रैकवारन के भला। जे करत अरिदल पै हला।
 गञ्जत गहरवारहु सजे। जुरि जङ्ग जे न कहूँ भजे।
 बर बैस बीर जुम्हार जे। भुकि भसक भारत सार जे।
 गौतम तमक जे रन करै। अरि काटि कटि कटि कै सरै।
 पड़िहार हार न भानहीं। जिन को हरष घमसान ही।
 बद्धत सुलझी साहसी। जे करत रन में राह सी।
 रजपूत राता हैं सजे। जिन के खड़क रन मे गंजे।
 हरखे सु हाड़ा हिम्मतवी। जिन की जगत रन किम्मतवी।
 राठौर ठुर ठौरन गने। रिपु जियत वहि जिन के हने।
 रन कर करे कछवाह हैं। जे सरत दिग्ध ठुवाह हैं।
 सँग लिप सूर सिसोदिया। जिन को जुरत झूलत डिया।
 तहँ सौर तीवन ताकिप। रन-विरद जिन के बाँकिप।
 सेंगर संपूती सों मरे। जे सुद्ध जुद्धन मे हरे।
 रन अटल बीर इटौरिहा। जे रन जुरत सिरसौरिहा।
 बिलकैत बीर बली चढ़े। सफ रङ्ग जङ्ग सदा मढे।
 नदवान नाहर पिपरिहा। बल के बनाफर सिरिहा।
 सिरसौर गौर गराजि कै। सोभित सिद्धा हैं साजि कै।
 रनधीर बीर चन्देल हैं। जे सरत रन बगमेल हैं।

इन सब कुरियों का बाबा पर्वारों पर था जिन के बाहुल्य का पता मनुष्य-गणना-विभाग से लगवा है। यद्यपि सन् १८६१ से ले कर प्रत्येक गणना के समय राजपूतों की कुरियों का शोध अनवरत किया गया, तथापि आधे से अधिक राजपूत अपनी कुरियाँ लिखाने से किसी न किसी प्रकार वञ्चित रह गए, जिस पर भी मध्यप्रदेश और मध्यभारत में कम से कम दो लाख पर्वारों ने अपनी कुरी दर्ज करवा दी। इन में से कोई छेड़-छाछ इस प्रकार के पर्वार हैं जिनका व्यवसाय खेती होने के कारण वे कुनवी या कुरमी की स्थिति को उत्तर गए हैं। इस प्रकार पर्वारों में भिन्नता आ गई है। किसान पर्वारों के सिवाय मराठा पर्वार और बुंदेला पर्वार भी सामाजिक व्यवहार में कुछ भिन्नता लिए हुए पाए जाते हैं। असल धार के परमार^१, जिनके विषय में कहावत प्रसिद्ध है कि 'जहाँ धार तहाँ परमार जहाँ परमार तहाँ धार', अब बहुत सङ्कुचित हो गए हैं। उन की संख्या प्रायः बीस हजार के लगभग निकलेगी। मराठा पर्वार तो परमारों से भिन्न और कुछ न्यून समझे जाते हैं, परन्तु विचित्र संयोग से धार का राज्य मराठा पर्वारों के हाथ आ गया है। यद्यपि विवाह के नियमों के अनुसार समान कुरी वाले आपस में शादी नहीं कर सकते, तथापि निदान किसान पर्वारों में एक ही कुरी के भीतर विवाह हुआ करता है जिस से स्पष्ट है कि अब के पर्वारों ने कुरी का सङ्केत त्याग कर अपने को पृथक् जाति का रूप दे दिया है।

पर्वारों के पश्चात् रघुवंशीयों का नम्बर आता है। ये कोई आधे लाख के इधर-उधर होंगे। इन का भी एक खण्ड पर्वारों की नई^२ किसान हो गया है, इसलिए इन की गिनती कुपक-वर्ग में होती है। अयोध्या के रघुवंशी घराने इन लोगों से बराबरी का व्यवहार नहीं करते, इसी कारण जैसे किसान पर्वार पर्वार में शादी कर लेता है वैसे किसान रघुवंशी रघुवंशी से अपना विवाह-सम्बन्ध जोड़ता है^३।

रघुवंशीयों से कुछ कम अर्थात् लगभग चालीस हजार चौहान हैं जिन की संख्या मध्यभारत से प्रायः दूनी है। चौहान अपनी शान अलग ही रखता है और अग्निकुलों में अपने को श्रेष्ठ समझता है^४। क्या यह बात छिपी हुई है कि दिल्ली की गद्दी पर एक समय वही विराजमान था, परन्तु 'सब नर होत न एक सर'। कालान्तर में इस कुरी के कुछ लोग तो इतने उबर गए कि वे चौकीदारी का व्यवसाय करने लगे जिस से चौहान नामधारी एक शाखा^५ ऐसी फूट गई कि वह सामाजिक व्यवहार में कोतवालों के बराबर समझे जाने लगी, चरित्रत्व से उस का बन्धन टूट गया और वह एक अलग जाति बन कर अपने ही फिरफे के भीतर निर्वाह करने लगी। यह जाति विशेष कर प्राचीन महाकोशल से पाई जाती है। इसी प्रान्त में कुछ वर्ष पूर्व पटना का राज्य सम्मिलित था, जो कुछ काल तक उड़ीसा से सम्बद्ध रह कर अब एक अलग एजेंसी में सम्मिलित हो गया है; वहाँ के महाराजा चौहान-वंशी हैं और अपना सम्बन्ध दिल्ली से बतलाते हैं।

राठौर राजपूत मध्यप्रदेश में प्रायः सात ही हजार हैं, परन्तु मध्यभारत में इन की संख्या इस से विगुनी से अधिक बैठती है। राठौर राठौर का अपभ्रंश है। इन का दक्षिण में विशेष दौरदौरा था। कोई इन्हें

१. परमारों की गिनती अग्निकुलों में होती है, परन्तु राजा मुअज के समय अर्थात् ईसा की दसवीं शताब्दी तक वे ब्रह्मचर्य कहलाते थे, अर्थात् वह वंश जो ब्राह्मण और क्षत्रिय के योग से उत्पन्न हुआ था। दे० राजपूताने का इतिहास, पृ० ३६।

२. रसेल और हीराबाब—ड्राइन्स एंड कार्टर्स ऑब् सी० पी०, लि० ४, पृ० ३०३।

३. प० गौरीदास ओझा ने सर्वक सिद्ध कर दिया है कि चौहान अग्निकुल के नहीं थे, वे पर्वारों में सूर्यवंशी थे। दे० राजपूताने का इतिहास, पृ० ६३।

४. ड्राइन्स एंड कार्टर्स ऑब् सी० पी०, लि० ४, पृ० ३१०।

सूर्यवंशी और कोई यदुवंशी समझते हैं। मध्यप्रदेश में तेलियों में राठौड़ नाम की एक शाखा है, जो राठौड़ राजपूतों से उत्पन्न होने का दावा करती है। उन का कहना है कि पेट पालने के लिए उन के पूर्वजों ने तेल निकालने का व्यवसाय स्वीकार कर लिया, इस से उन की गिनती तेली जाति में होने लगी। सतना के निकट नारोगढ़ नामक क़िले में तेलियों के राज्य की अनुश्रुति प्रखर रूप से प्रचलित है, जैसी कि उचहरा की और बैरागियों की है। बैरागी-राज्य का भी आधार मिलता है, क्योंकि गुप्त महाराजाओं के समय में यहाँ पर परिव्राजक महाराज राज्य करते थे। कदाचित् नारो के शासक राठौड़ रहे हों, परन्तु अपना सम्बन्ध तेल के व्यवसायियों से रखने के कारण जनता उन्हें तेली जाति का समझने लगी हो। दूसरे स्थान से आए हुए लोगों की जाति-प्राप्ति का यही हाल होता है, यथा उचहरा के निकटस्थ मैहर राज्य के अधिकारी, जो लोग जोगी समझते हैं, यद्यपि वे कछवाहा राजपूत हैं और उन का सम्बन्ध जयपुर राज्य से स्थिर है। कछवाहों में एक शाखा जोगावत या जोगी^१ होती है। बस, दृष्टी पर से लोगों को नटों की समता की जोगी जाति से मिला देने में कुछ देर न लगी।

बघेल यथार्थ में चालुक्य या सोलङ्की राजपूत हैं। इन का एक वंश गुजरात के बाघोली ग्राम से आ कर चित्रकूट के पास बस गया। कालान्तर में वह उस के आसपास की भूमि का स्वामी बन गया, जिस से उस प्रान्त का नाम उस वंश के नाम पर से बघेलखण्ड चल निकला। बघेलों का प्रभाव इतना बढ़ा कि अब उन का नाम प्रमुख वंशों में गिना जाने लगा है। वस्तुतः वह सोलङ्कियों की एक शाखा ही है। मध्यप्रदेश में बघेल कोई डेढ़ ही हज़ार होंगे; परन्तु मध्यभारत में उन की संख्या इस से १६ गुनी है, क्योंकि उस में समस्त बघेलखण्ड का राज्य सम्मिलित है जिस में बघेलों का बाहुल्य स्वाभाविक ही है। जो सोलङ्की अपने को बघेल शाखा में नहीं गिनते वे मध्यप्रदेश में तो प्रायः दो हज़ार परन्तु मध्यभारत में इस से पचगुने हैं। इस प्रकार बघेल शाखा को ले कर सोलङ्कियों की संख्या प्रायः बालीस हज़ार हो जाती है। सोलङ्की अपनी गणना अग्निकुलों में करते हैं; परन्तु महामहोपाध्याय गौरीशङ्कर ओझाजी ने 'सोलङ्कियों का प्राचीन इतिहास'^२ नामक पुस्तक में प्रमाणित कर दिया है कि वे चन्द्रवंशी थे। उन्होंने ने एक जगह लिखा है—“गुप्तों के पीछे एक समय ऐसा था कि उत्तरी भारत में शानेश्वर के प्रतापी राजा हर्ष का और दक्षिणी भारत में सोलङ्की पुलकेशी (दूसरे) का राज्य था। इस प्रतापी सोलङ्कीवंश के राजा बड़े दानी और विद्यानुरागी हुए हैं।” यह तो बात हुई हज़ार डेढ़ हज़ार वर्ष पुरानी, परन्तु विचित्रता यह है कि सोलङ्कीवंश में दानशीलता और विद्यानुराग वर्तमान समय तक बना रहा। बघेलखण्ड के राजकुलों ने महाराजा विश्वनाथसिंह और महाराजा रघुराजसिंह वषट् कोटि के कवि और अत्यन्त विद्यानुरागी केवल १०० वर्ष के भीतर-भीतर विद्यमान थे। देने-लेने में तो वे मुक्त-हस्त थे ही, साथ ही अन्य कार्य भी अपना रूप देख कर करते थे। महाराजा रघुराजसिंह ने तो शेर को भी लोहे या सीसे की गोली से कभी नहीं मारा; जब मारा तब चाँदी की गोली से। रहीम खानखाना ने अपनी विपत्ति के समय बघेल राज्य के चित्रकूट का आश्रय लिया था। ऐसी अवस्था में भी उस के दानपात्र वहाँ पर पहुँचे और प्रेरणा की कि उन को कुछ दिया जाय। बेचारे रहीम के पास उस समय कुछ न था। तब उस ने बघेल महाराजा को यह दोहा लिख भेजा—“चित्रकूट में रमि रहे, रहिसन अवध-नरेश। जा पर विपदा परति है सो आवब यहि देस ॥” इसे पाते ही महाराजा ने अपने कुल-गुणानुसार एक लाख रुपया तुरन्त दे दिया।

१. रुद्रसिंह तोमर—रुद्रचरित्रप्रकाश (तोमर-प्रकाशनगृह, दिल्ली, १९८३), पृ० २४।

२. दे०—पृ० ३-१४।

यादव या यदुवंश का महत्त्व श्रीकृष्ण के उस वंश में जन्म होने से विशेष हुआ। मध्यभारत में इन की संख्या ७ हज़ार है, परन्तु मध्यप्रदेश में इस की दूनी है। इन की युद्ध-शीलता का परिचय महाभारत में विशेष रूप से मिलता है, परन्तु इस कुल की भी एक शाखा छूट कर कृषि-व्यवसायी हो गई है और अपना क्षत्रिय धर्म अर्थात् 'भरिए कि भरि को भारिए' हंसि के हथियारन भारिए' को मूल कर इतनी डरपोक हो गई है कि लोगों ने कहावत बना ली है—'पचा खटका जादम सटका।' इन्हीं जादमों की एक अलग जाति बन गई है जो मध्यप्रदेश में बहुतायत से है।

पड़िहार अथवा परिहार मध्यभारत में चार अभिजातों में से हैं^१। ये मध्यभारत में बहुत हैं अर्थात् १६ हज़ार से ऊपर, परन्तु मध्यप्रदेश में इस का दर्शाया ही पाया जाता है। नागौद और अलीपुरा के राजा इसी कुल के हैं। चन्देलों के पहले इन का बड़ा वैरदौरा था।

सीसेदिया या गहलौय या गोहिल सूर्यवंशी राजपूत हैं। समस्त राजपूत-कुलों में यह कुल श्रेष्ठ समझा जाता है। उदयपुर के राना ठेठ रामचन्द्रजी को वंशज होने का दावा करते हैं। उन की सब राजपूतों के घरानों में प्रतिष्ठा मानी जाती है। इस घराने में सन् १६८८ ई० के आसपास गुहिल नामक राजा हुआ जो बड़ा प्रतापी था। इसलिए इस वंश का नाम उस के नाम से गुहिल कहलाया जिस का अपभ्रंश गोहिल, गोयल, गुह-लौत इत्यादि हो गया। पीछे से इस वंश की एक शाखा सीसेदा गाँव में रहने लगी, इसलिए उस का नाम सीसेदिया पड़ गया। इसी शाखा के वंशधर उदयपुर के महाराजा हैं। मध्यप्रदेश में इनकी संख्या बहुत थोड़ी है, परन्तु मध्यभारत में ये बीस हज़ार से कम नहीं हैं। श्रीरामचन्द्रजी रघुवंशी थे, इसलिए इन को कभी-कभी रघुवंशी कहते हैं। यदि रघुवंशियों की संख्या इन में मिला दी जाय तो इन का बल बढ़ कर, प्रायः केवल मध्यप्रदेश और मध्यभारत ही में, आधा लाख हो जाता है।

जिस प्रकार बघेलवंश द्वारा शासित प्रान्त का नाम बघेलखण्ड पड़ गया है, उसी प्रकार बुंदेला लोगों के आधिपत्य की भूमि को बुंदेलखण्ड कहते हैं। बुंदेला विन्ध्येल शब्द का अपभ्रंश है जिस का अर्थ होता है विन्ध्य पर्वत के निवासी। परन्तु साधारण किस्ती के अनुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति बूंद अथवा बाँदी से बतलाई जाती है। कोई-कोई कहते हैं इन के आदिपुरुष ने अपना सिर देवी को काट कर चढ़ा दिया था। उस समय जो बूंद गिरी उस से एक पुरुष पैदा हुआ, जो बुंदेला कहलाया। दूसरे कहते हैं कि ये लोग बाँदी (दासी) से पैदा हुए हैं इसलिए बुंदेला या बुंदेला कहलाए। यथार्थ में ये काशी के गहरवारों की औलाद हैं। इन की संख्या मध्यभारत में कोई बीस हज़ार के लगभग, परन्तु मध्यप्रदेश में केवल दो हज़ार, है। बुंदेलखण्ड के अनेक राजा इसी वंश के हैं। यथार्थ में आदि घराना ओढ़छा से अलग हो कर पन्ना, अजयगढ़, चरखारी, विजावर, दतिया आदि प्रथक-प्रथक राजवाड़े हो गए हैं।

वैसंभव भी भारत के इतिहास में बड़ा प्रतापी हो गया है। हर्षवर्धन के समय में इस का बड़ा विस्तीर्ण राज्य था। इस वंश के लोग अपने को क्षात्रिवाह्य के वंशज बताते हैं। मध्यभारत में इनकी संख्या दस हज़ार और मध्यप्रदेश में चार हज़ार है। संयुक्तप्रान्त के रायबरेली और उन्नाव जिलों में वैसवाड़ा नामक प्रान्त है जहाँ इन का विशेष बाहुल्य है। उस प्रान्त का नाम इसी कारण से पड़ा।

गौड़ राजपूतों का नाम गौड़ देश में रहने के कारण पड़ा। अयोध्या प्रान्त का प्राचीन नाम गौड़ कहा जाता है। मध्यप्रदेश और मध्यभारत में इन की संख्या बराबर-बराबर है, अर्थात् दोनों प्रान्तों में पार-

१. यथार्थ में ये सूर्यवंशी हैं। राजसेखर ने इन्हें रघुकुलतिलक कहा है।

पाँच छः-छः हज़ार। इन लोगों में चमरगौर नामक शाखा श्रेष्ठ समझी जाती है, यद्यपि साधारण रीति से इस प्रकार का नाम निम्न श्रेणी का सूचक होता है। गौरों से निकल कर गौरायें नामक एक अलग शाखा बन गई है जिस की स्थिति सब गौरों से नीची समझी जाती है। मध्यप्रदेश में ये प्रायः सात सौ हैं, परन्तु जान पड़ता है कि मध्यभारत में ये गौरों में मिला दिए गए हैं।

सॅगर चत्रिय चन्द्रवंशी समझे जाते हैं। इन का राज्य कभी अङ्ग देश (वर्तमान भागलपुर, मुँगेर) में था। इन का मूल उत्पत्ति-स्थान शृङ्गेरी बतलाया जाता है। उसी स्थल पर से इन का नाम पड़ा जान पड़ता है; परन्तु कोई-कोई कहते हैं कि कुल-नाम उन के एक शतकर्णी नामक पुरुष के नाम पर रक्खा गया जिस ने यमुना के दक्षिण गङ्गासागर से चम्बल नदी तक अपना अधिकार जमाया था। इन की संख्या दस हज़ार है।

इतने ही सेन्धो है जो नागवंशियों की शाखा के जान पड़ते हैं। इन का प्राचीन नाम सिन्धा या सिन्दक था। इन लोगों का राज्य वर्तमान बस्तर राजवाड़ा और हैदराबाद के इलाक़ों में था। नागवंशियों का किसी समय बड़ा प्रताप था। बुंदेलखण्ड के भारशिव, जिन्होंने हिन्दू-धर्म का बौद्ध भ्रमेले से उद्धार किया, नागवंशी-शिरोमणि थे। उन्हीं के सम्बन्धी वाकाटक कहलाए, जिन्होंने अपने वर्तमान समय में अनेक अश्वमेध यज्ञ किए और सम्राट् की पदवी धारण की। विद्यामहोदधि श्रीयुक्त काशीप्रसाद जायसवाल ने बड़ी खोज के साथ पता लगाया है कि वाकाटक लोग वाकाट (वर्तमान वागाट, जो भौंसी ज़िले में है) के निवासी थे। ये आदि में ब्राह्मण थे; परन्तु, जैसा पूर्व कह आए हैं, शुभ्र महाराजाओं से सम्बन्ध करने से चत्रिय-गर्ग में आ गए थे।

धाकड़ों का मध्यभारत में अभाव है, परन्तु मध्यप्रदेश में वे नौ हज़ार के लगभग हैं। कहीं-कहीं धाकड़ शब्द 'विदुर' के अर्थ में प्रयुक्त होता है; इस प्रकार पतित राजपूत धाकड़ कहलाते हैं। इन की एक अलग जाति ही बन गई है, जिस के भीतर ये अपना वैवाहिक निस्वार कर लेते हैं।

मध्यभारत में एक विशेष प्रकार के राजपूत मिलते हैं जो चौरसिया कहलाते हैं। प्रत्यक्षतः ये लोग किसी विशेष चौरासी के निवासी थे, जो किसी कारण अन्य वर्गों से अलग कर दिए गए। इन की संख्या सात हज़ार है।

इसी प्रकार उसी प्रान्त में हजुरी पाए जाते हैं, जो राजाओं के हुजूर में सेवा किया करते थे। इन का पद न्यून समझा जाता है। इन की संख्या छः हज़ार है।

चन्देल अथवा चन्द्रात्रेय अपनी उत्पत्ति गहरवारों के पुरोहित से बतलाते हैं। यह एक प्रकार का प्रति-लौम-सम्बन्ध था। बुंदेलखण्ड में बुंदेलों के पहले ये बड़े प्रतापी राजा हो गए हैं। इन्हीं लोगों ने खजुराहो में अत्यन्त भव्य मन्दिर बनवाए, जिन की कारीगरी की समता उत्तर के अन्य मन्दिर नहीं कर सकते। रानी दुर्गावती इसी कुली की सन्तति थी, जो वीरता में अपना नाम अमर कर गई है। चन्देलों की संख्या पाँच हज़ार है।

तोमर या दँबरवंश की संख्या भी इतनी ही है, परन्तु मध्यप्रदेश में इन में कँवर जाति के अनेक व्यक्ति मिले हैं, जिन्होंने ने अपना असल नाम त्याग कर तँवर नाम रख लिया है। तोमर वंश बड़ा प्राचीन है और वह आदि में दिल्ली में राज्य करता था। दिल्ली ही की ओर ये विशेष पाए जाते हैं, परन्तु यहाँ इन की संख्या कँवर-परिवर्तित दँवरों को मिला कर पाँच हज़ार से अधिक नहीं है।

बनाफर भी इतने ही हैं। इन का अड्डा मध्यभारत ही में है। ये बड़े शूरवीर और प्रचण्ड चत्रिय समझे जाते हैं। प्रख्यात आल्हा और ऊदल इसी दल के वीर थे, जिन की कीर्ति अब भी गाई जाती है और सुनने वालों को वीररस से ओत-प्रोत कर देती है। ये चन्देलों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं, और उन्हीं की शाखा में समझे

जाते हैं। कहते हैं, इन का पूर्वज वन में मिला था, इसलिए उस को वंशज बनाकर कहलाए; परन्तु अन्य विद्वानों का मत है कि यह नाम वनस्कर से निकला है जो विदेशी कनिष्क राजा का चयन था। इसी कारण यद्यपि ये वीरता में श्रेष्ठ समझे जाते हैं, तथापि कुल में कुछ न्यून गिने जाते हैं।

गह्वरवार या गाहड़वाल एक प्रधान और सम्मानित वंश है, जिस ने पड़िहारों के पश्चात् कन्नौज का राज्य अपने अधीन कर लिया और चारों ओर अपना आतङ्क जमाया। राजपूताने के राठौड़ अपनी उत्पत्ति इन्हीं गाहड़वालों से बतलाते हैं। गाहड़वारों की संख्या पाँच हजार है।

इतने ही बागड़ी हैं जिन का नाम राजपूताने के बागड़ नामक विभाग से पड़ा है। बीकानेर राज्य के एक बड़े भाग में काँटे की बागड़ या बाड़ी लगाने की चाल है, इसलिए उस विभाग का नाम बागड़ पड़ गया है। बीकानेर में जाटों की संख्या अधिक है इस से यह अनुमान किया जाता है कि वन में से बहुत से लोग बागड़ी राजपूत कहलाने लगे हों, परन्तु इस स्थल में पहले परमारों का राज्य था इसलिए कोई-कोई इन्हें परमारों की शाखा का समझते हैं।

मध्यभारत में देवड़ा या देवला राजपूतों की संख्या कोई चार हजार है। यह जाति चौहानों की एक शाखा है जो अपना निस्तार पृथक् रूप से करती है। पुरवियों की भी संख्या इतनी ही है। ये मध्यभारत और मध्यप्रदेश में बराबर-बराबर बँटे हुए हैं। यह नाम पस्टनिया है और केवल पूरब के रहने वाले राजपूतों का द्योतक है। कोई-कोई पुरवियों को चंदों के अन्तर्गत समझते हैं। (दे० राजपूताने का इतिहास, पृ० ७७)

मध्यभारत में कोई तीन हजार व्यक्तिों ने अपने को सोमवंशी लिखवाया, और मध्यप्रदेश में पाँच सौ ने। काँकेर के महाराजाधिराज अपने को सोमवंशी ही कहते हैं। कोई हजार वर्ष पूर्व महाकोशल (मध्यप्रदेश का वर्तमान छत्तीसगढ़) के राजा सोमवंशी ही कहलाते थे। यद्यपि सोमवंशी का अर्थ चन्द्रवंशी ही होता है, तथापि सोमवंशी कुरी अलग सी हो गई है।

पाइक पुरविया नाम के समान है। पाइक का अर्थ होता है सिपाही। सम व्यवसाय करने से इन लोगों की अलग कुरी बन गई है। इन की संख्या प्रायः ढाई हजार है। अधिकतर ये मध्यभारत में रहते हैं।

कनौजिया राजपूतों की संख्या तीन हजार है। ये केवल मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले में विशेष पाए जाते हैं। उस जिले में एक प्राचीन परगना कनौजा नाम का था। उस स्थल के राजपूत कनौजिया कहलाए। इस नाम का सम्बन्ध संयुक्तप्रान्त के कन्नौज से मिलकुल नहीं है और न वहाँ पर इस नाम के कोई राजपूत मिलते हैं।

धन्वरो की भी संख्या तीन हजार है, परन्तु ये सब मध्यभारत में विद्यमान हैं, मध्यप्रदेश में नहीं। इनकी जाति चौहानों की एक शाखा है। यद्यपि पश्चात्तर ने इन का आदि ही में जिक्र किया है, तथापि अब इन का विशेष महत्त्व नहीं है।

खोन्ही चौहानों की एक प्रमुख शाखा है। इन की संख्या दो हजार है। प्रायः दो सौ को छोड़ कर शेष सब मध्यभारत में रहते हैं। यही दशा दीक्षितों की है और वन की संख्या भी खोन्हीयों के बराबर है। इन के एक राजा ने जैन गुरु हेमचन्द्र सूरि की दीक्षा ली थी इसलिए ये दीक्षित या दीक्षित कहलाए। पश्चात् इस वंश में दुर्गादास नामक व्यक्ति हुआ, जिस के कारण इस कुरी का पर्यायवाची नाम दुर्गा था हरा हो गया। एक शाखा बिलखर नामक गाँव में बसने को चली गई इसलिए उस का नाम बिलखरिया पड़ गया।

वक्सरिया मध्यप्रदेश ही में दो हजार पाए जाते हैं। इन का नाम प्रसिद्ध स्थान वक्सर से पड़ा है। जैसे बहुतेरी जातियों में जायस से आए हुए जायसवाल पाए जाते हैं, वैसे ही वक्सरिया भी अनेक जातियों में होते हैं। वक्सरियों का स्थान राजपूतों में कुछ नीचा समझा जाता है।

चावड़ा भी दो हज़ार हैं। ये विशेष कर मध्यभारत में रहते हैं। ये परमार-वंश से निकले हैं और यही प्राचीन चापोत्कट या चावोटक थे। इन के पुरखा का नाम चाप था। जैवार मध्यप्रदेश में प्रायः तीन सौ और मध्यभारत में सत्रह सौ हैं। रावत एक आदर-सूचक शब्द है जो राव की न्यूनतावाचक संज्ञा है। यह अब अलग कुरी बन गई है। मध्यभारत में इस कुरीवालों की संख्या दो हज़ार है। स्मरण रहे कि मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ विभाग में लाखों रावत हैं, परन्तु वे जाति के अहीर हैं। कहीं-कहीं सौर अथवा शबर लोगों की भी उपाधि रावत है।

भाला कच्छी राजपूत हैं। मध्यभारत में इन की संख्या ढेढ़ हज़ार है। मध्यप्रदेश में एक भी नहीं है। कहते हैं, इन के पूर्वज एक राजा के लड़के की ओर हाथी भपटा, तब उस की माँ ने भाला दे कर अर्थात् इशारा कर के उसे अपने पास बुला लिया। तब से उस के वंशजों और कुरी का नाम भाला पड़ गया। सौराष्ट्र में एक विशाल विभाग का नाम भालावाड़ है, वहाँ पर बहुत से भाला रहते हैं। प्राचीन ग्रन्थों में भाला या भालों की उत्पत्ति ब्राह्मण चरित्रों से बतलाई गई है।

मध्यभारत में सोहनेर पन्द्रह सौ और सकरवार (सीकरी के रहनेवाले) ग्यारह सौ बतलाए गए हैं, परन्तु ये अन्य कुरियों की शाखा के जान पड़ते हैं। वहाँ पर सहस्रेक मोरी भी हैं, जो प्राचीन मौर्यों की सन्तान हैं। महाप्रतापी अशोक इसी कुल के शिरोमणि थे। यह नाम इस वंश के उन पुरखों के निवासस्थान से पड़ा था, जो मोरों की अधिकता के कारण मौर्य राज्य कहलाता था। निकुम्भों की संख्या भी मोरियों के बराबर है। ये सूर्यवंशी राजा निकुम्भ की सन्तान कहे जाते हैं।

गौतम चरित्र अपनी उत्पत्ति गौतम बुद्ध के वंश से बतलाते हैं। ये लोग कोरा में राज्य करते थे और वहाँ पर इन का एक क़िला बना था जो शाहजहाँ के समय में नष्ट कर दिया गया। परन्तु अब भी फ़तहपुर ज़िले में इन की छोटी सी रियासत है। गौतम संयुक्तग्रन्थ और अबध में अधिक हैं। मध्यभारत में ये केवल एक हज़ार हैं और मध्यप्रदेश में केवल तीन सौ।

मदैरिया या भदवारिया चौहानों की एक शाखा है, जो अब प्रायः विलुप्त अलग हो गई है। यमुना के दक्षिण में भदावर नाम का स्थान है, वहाँ पर रहने के कारण इन का नाम मदैरिया पड़ा। इन की संख्या एक हज़ार के लगभग है। बड़गूजर सूर्यवंशियों की शाखा के हैं। ये रामचन्द्र के पुत्र लव की औलाद समझे जाते हैं। उभय प्रान्तों में संख्या केवल छः सौ पाई गई।

बिसेन का मूलपुरुष विश्वसेन समझा जाता है, जो मयूर नामक ब्राह्मण का पुत्र था। उस की माता सूर्यवंशी क्षत्रिया थी, इसलिए यह 'ब्रम्ह' चरित्र-वंश कहलाता है। किसी-किसी का कथन है कि बिसेन महाभारतीय वृष्णि का अपभ्रंश है। ये लोग वृष्णिवंशज हैं। इन की संख्या बहुत कम—तोड़ चार सौ—है; परन्तु युक्तग्रन्थ में ये कुछ अधिक हैं। बिसेनों ही के बराबर गिरी, राना, कदम्ब और रैकवारों की संख्या है। कदम्ब दक्षिण का प्राचीन वंश है। उस वंश के राजा किसी समय बड़े प्रतापी थे। रैकवार अपनी उत्पत्ति सूर्यवंशी भरत के पुत्र पुष्कल से बताते हैं। ये जम्बू के निकट रैकागढ़ में रहते थे, इसलिए इन का नाम रैकवार पड़ गया। मयुरेश कवि ने इस वंश के एक राजा की प्रशंसा करते हुए लिखा है—'सालि और बालि रैकवार भै प्रसिद्ध बड़े दै का लें और करो उचर को जोर है'।

सौ और तीन सौ के बीच वाली अन्य लघु-संख्यक कुरियाँ ये हैं—सुरकी (जो सोलहों का अपभ्रंश है), नाहर, जमट, खरबोंच, हरिया, जौगड़ा और खोंगर। ये विविध मुख्य कुरियों की शाखाएँ हैं; जैसे जमट पवारों

की, नाहर और खाँगर अभिवंशियों की। जिन राजपूत क्षत्रियों की संख्या सौ से कम बतलाई गई है वे ये हैं—
 बनौधिया, बच्छानिया, जलखेड़, पैजवार, फरहरा, हाड़ा, हैहयवंशी करचुलि (कलचुरि), सायनी, सिदा, केसरिया, लहूर और रकसेल। इन में से बहुतेरे मूल क्षत्रियों की शाखाओं या उपशाखाओं के नाम हैं; जैसे हाड़ा चौहानों की एक शाखा है, सिदा नागवंशियों की इत्यादि। परन्तु इन में हैहय एक ऐसा कुल है जिस का प्राचीन काल में बड़ा प्रसार और बाहुल्य था। इस वंश का मूल पुरुष कार्तवीर्य या सहस्रार्जुन था जिस ने रावण को अपने घर पर कई महीनों तक बंध रक्खा था। इस को परशुराम ने समूल नष्ट करने का २१ बार प्रयत्न किया, परन्तु सफल न हुए। इस की राजधानी माहिष्मती (वर्तमान मान्धाता) में थी, जो मध्यप्रदेशान्तर्गत नीमाड़ जिले में नर्मदा के किनारे पर है। कालान्तर में एक शाखा वर्तमान जबलपुर जिले में जा बसी और नर्मदा के तट पर त्रिपुरी को उसने राजधानी बनाया। यह स्थान अब जबलपुर से ६ मील पर तेवर के नाम से प्रसिद्ध है। इस वंश में अनेक प्रतापी राजा हुए, जिन में से कर्ण डहरिया का नाम विशेष स्मरणीय है। उस को नेपोलियन की उपमा दी जाती है। कहावत है—'कर्ण डहरिया कर्ण जुभार। कर्ण हाँक जानै संसार।' कर्ण डहरिया ईसा की न्यारहवीं शताब्दी में हुआ था। उस समय मध्यभारत कलचुरि क्षत्रियों से परिपूर्ण था, परन्तु एक सहस्र वर्ष के भीतर ही इतना हेर-फेर हो गया है कि उन के वंशजों की गणना सहस्रों के बदले दहाई के भीतर आ गई है। इन का राज्य तेरहवीं शताब्दी में अस्त-व्यस्त हो गया; परन्तु अरन ठठठा है, इन के सहस्रों वंशधर क्षत्रियों का क्या हुआ ? शोध से प्रकट होता है कि वे लोग कहीं चले नहीं गए। वे क्रमशः यहाँ की जनता की अन्य जातियों में समा गए। राजक्युत और पदक्युत होने पर प्रत्यक्षतः उन को पेट पालने के लिए अन्य व्यवसायों में संलग्न होना पड़ा। बहुतेरों ने राजघरनों या बनाव्यों के यहाँ 'कलेवा' आदि बनाने का काम स्वीकार कर लिया और अपने स्वामियों की रूचि भव की ओर देख कर उस का भी बनाना आरम्भ कर दिया। फल यह हुआ कि वे अपने-अपने व्यवसाय-सूचक नामों से पुकारे जाने लगे। तथापि कुछ घराने ऐसे भी बच रहे जिन्होंने अपना प्राचीन नाम और काम सुरक्षित रक्खा। वे अब रीवाँ रियासत और जबलपुर जिले में करचुलि नाम से प्रसिद्ध हैं। हैहयों या कलचुरियों के पहले भारत के मध्य भाग में भारशिव और वाकाटक क्षत्रियों का बड़ा दौरेदौरा रहा, परन्तु किसी भी व्यक्ति ने अपने को इन वंशों का नहीं बतलाया। कदाचित् इन के वंशजों ने अपने को अधिक प्रचलित नागवंशी नाम में सम्मिलित कर लिया हो, जिन का उत्थान आदि में मध्यभारत के भिलसा स्थान से हुआ। भारशिवों ने अपने बाहुबल से बौद्ध धर्म को हटा कर पुनः हिन्दू धर्म का प्रचार किया और भौंसी के निकट वागाट नामक स्थान से उत्पन्न वाकाटक राजाओं से सम्बन्ध करके भारतवर्ष में एक प्रबल साम्राज्य स्थापित किया जिस का सामना कोई न कर सका। इन का बल प्रबुर काल तक यथावत् स्थिर रहा परन्तु पाटलिपुत्र के गुप्तों ने वाकाटकों को अपनी लड़की दे कर अन्ध में उन के राज्य को निर्मूल कर दिया। गुप्तों का भी उभय प्रान्तों में कहीं पता नहीं है, यद्यपि सागर जिले का घरन उन का स्वभोगनगर था।

ऊपर लिखे विवरण से जान पड़ेगा कि मध्यप्रदेश और मध्यभारत में प्राचीन प्रतिभाशाली राजपूत-वंश नाग-वंशी, वाकाटक और भारशिव, हैहयवंशी कलचुरि, परमार या पवॉर, चालुक्यवंशी बघेल, सोमवंशी पाण्डव, राष्ट्रकूट या राठौड़, प्रतिहार या पड़िहार और चन्द्रात्रेय या चन्देल थे। इन में से बुंदेले और बघेले सदृष्टि-वाल् रह गए हैं।

वराह अवतार

श्रीयुत रामेश्वर-गौरीशङ्कर भोक्ता, एम० ए०, अजमेर ।

देवो हरिर्जयति यज्ञवराहरूपः सृष्टिस्थितिप्रलयकारणमेकमेव ।

यस्योदरस्थितजगत्त्रयबीजकोशनिर्गच्छदङ्कुरशिखेन विभाति दंष्ट्रा ॥

सोत्रोक्तः

हिन्दू-धर्म में ब्रह्मा, विष्णु और शिव अथवा महेश इन तीन देवताओं का प्रमुख स्थान है। ये जगत् की तीन भिन्न-भिन्न शक्तियों अथवा प्रवृत्तियों—सृष्टि, स्थिति एवं संहार—के अधिष्ठाता माने जाते हैं। विष्णु का संसार के संरक्षण-पालन आदि से सम्बन्ध रहने के कारण सनातनधर्मावलम्बियों का यह धार्मिक विश्वास है कि विशेष परिस्थिति में कुछ असुरों (कु-प्रवृत्तियों) का नाश करने के लिए अथवा उन के कारण जगत् में फैलने वाले अधर्म एवं अत्याचार को प्रतीकार द्वारा शान्ति स्थापित करने के उद्देश से भगवान् विष्णु समय-समय पर सत्य-लोका में मनुष्य एवं मनुष्येतर रूप में अवतीर्थ होते रहे हैं। जिस रूप में भगवान् प्रकट होते हैं, वह उन का अवतार कहा जाता है।

सामान्यतः विष्णु के दस अवतार माने जाते हैं—मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह (या नरसिंह), वामन, परशुराम, राम (रामचन्द्र), कृष्ण, बुद्ध एवं कल्कि। भागवत पुराण में विष्णु के बाईस अवतार बतलाए गए हैं—(१) पुरुष, (२) वराह, (३) नारद, (४) नर-नारायण, (५) कपिल, (६) दत्तात्रेय, (७) यज्ञ, (८) ऋषभ, (९) प्रद्युम्न, (१०) मत्स्य, (११) कूर्म, (१२-१३) धन्वन्तरि, (१४) नरसिंह, (१५) वामन, (१६) परशुराम, (१७) वेदव्यास, (१८) राम, (१९) बलराम, (२०) कृष्ण, (२१) बुद्ध और (२२) कल्कि^१। फिर भी विष्णु के उपर्युक्त दस अवतार ही प्रधान माने जाते हैं। विष्णु के अवतारों की ठीक संख्या का निर्णय यहाँ अनावश्यक है; हमें यहाँ केवल वराह अवतार का विचार करना है।

१. इस लेख के अन्त में उद्धृत।

२. मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः।

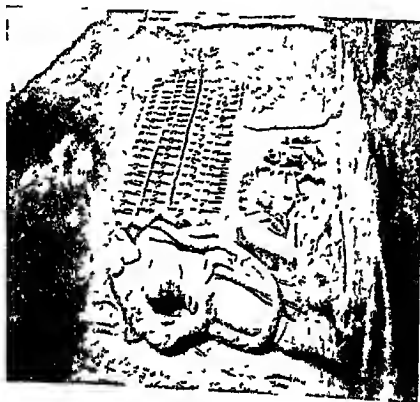
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की च ते दश ॥

वामन-शिवराम आये—यि प्रैकिकल संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, 'अवतार'-अवतान्तर्गत।

म० भा० (कुम्भकोश-संस्क०, धान्तिपर्व, अध्याय ३३८, श्लोक २) में उपर्युक्त श्लोक के 'कृष्णश्च' के स्थान में 'रामश्च' पाठ मिलता है, जो बलराम का धोतक है। सर राजा राजाकान्तदेव के शब्दकल्पद्रुम नामक छद्म संस्कृत कोष में भी यही पाठ दिया गया है। जयदेव कवि ने अपने 'गीतगोविन्द' काव्य के प्रथम सर्ग के आरम्भ में, माखन राग में, विष्णु के दशावतारों की स्तुति की है, उस में भी कृष्ण के स्थान में हजधर (बलराम) का नाम है; किन्तु कृष्ण के पूर्णावतार होने के कारण हमें बलराम के स्थान पर उन की गायना उचित प्रतीत होती है। लेखक का यह कथन केवल कपोल-कल्पना नहीं है, क्योंकि महामारत की किसी हस्त-लिखित प्रति में 'कृष्णश्च' पाठ भी मिलता है। दे० कुम्भकोश-संस्क० के उपर्युक्त श्लोक का टिप्पण।

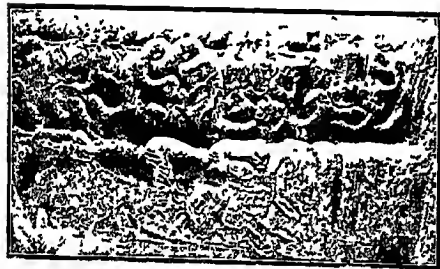
३. श्रीमद्भागवत (निर्णयसागर-संस्क०), १. ३. १—२६।

(१)



वदवागिरि की युका में खुदी हुई वृषाह-प्रतिमा

(२)

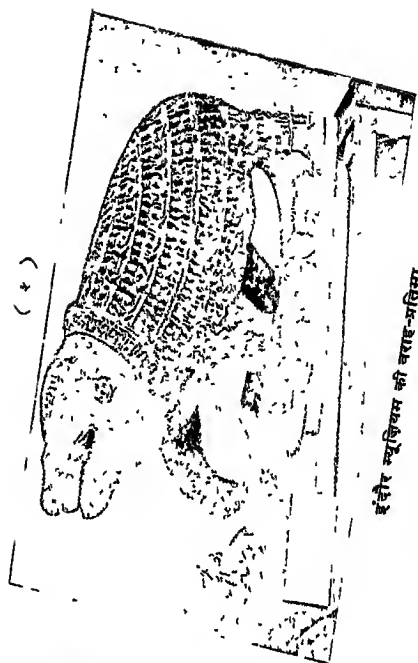


राजिम की वृषराह-प्रतिमा

(३)

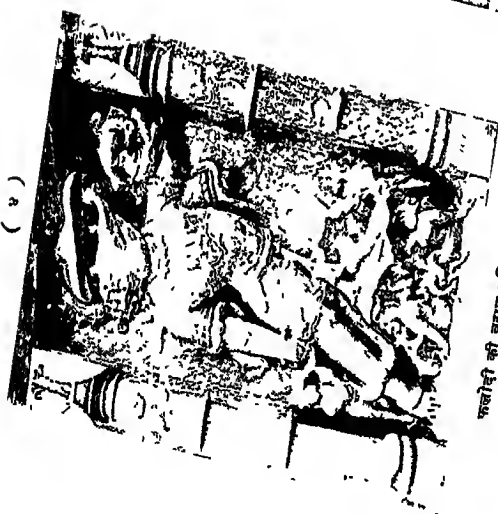


चैतकेश्वर मंदिर की वराह-प्रतिमा



हंदीर म्युजियम की वराह-मतिमा

(४)



फलोदी की वराह-मतिमा

(५)

श्रुत्वेद^१ में रुद्र, महत् और वृत्र के लिए लाक्षणिक रूप में वराह-सूचक शब्द का प्रयोग हुआ है। उस से ज्ञात होता है कि एक बार विष्णु ने सोम-पान किया और इन्द्र की प्रेरणा से वराह (वृत्र) को सौ भैंसे और दुग्धमय मद्य छीन लिया, इतने में इन्द्र ने आ कर उस भयङ्कर वराह को मार डाला^२। इस से अवतार-सम्बन्धी कथा का स्पष्टीकरण नहीं होता, इसलिए हमें पहले-पहल शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ^३ ब्राह्मण में सृष्टिक्रम के सम्बन्ध में यमुष नामक वराह^४ द्वारा पृथ्वी को उठाए जाने का उल्लेख मिलता है। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता से ज्ञान पड़ता है कि “पृथ्वी-रूप जगत् की उत्पत्ति से पूर्व सर्वत्र जल ही जल था। मूर्त शरीर से ठहरने के लिए कोई स्थान न होने के कारण प्रजापति ब्रह्मा वायु-रूप से उस जल में सञ्चार करते थे। उस समय उन्होंने जल में डूबी हुई पृथ्वी को देखा और वराह का रूप धारण कर वे उसे दाँव से उठा कर जल से ऊपर ले आए। उसे बाहर लाते ही उन्होंने अपना वराह-रूप छोड़ विश्वकर्मा बन कर उस का विस्तार किया। तब यह दृश्यमान पृथ्वी बन सकी। ‘प्रथन’ (विस्तार) से ही इस का पृथ्वी नाम पड़ा। वहनन्तर देव-सृष्टि आदि हुई^५”। इस से पता चलता है कि जगत् की सृष्टि के समय प्रजापति ब्रह्मा ने वराह-रूप धारण किया था, न कि विष्णु ने। तैत्तिरीय आरण्यक के ‘वराहेण कृष्णेन शतबाहुना उद्धृता’, इस वाक्य से भी सौ बाहु वाले श्यामवर्ण वराह द्वारा पृथ्वी का उद्धार होना (जल में से निकाला जाना) ज्ञान पड़ता है।

१. १. ६१. ७।

२. मैकडॉनल्ड—वैदिक भाषाशास्त्री, पृ० ११।

३. १३. १. २. ११।

४. संस्कृत-साहित्य में वराह (सूचक) के लिए कई पर्यायवाची शब्द प्रयुक्त होते हैं, जो पाठकों के परिचय के लिए निम्नांकित श्लोकों में दिए गए हैं—

वराहः सूक्तो घृष्टिः कोलः पोत्री किरः कितिः।

इंद्री घोषी खञ्जरोमा कोटो सूदार ह्यसि ॥ २ ॥

अमरकोष, द्वितीय काण्ड, सिंहादि वर्ग।

. अथ किरः कितिः।

सूदारः सूक्तः कोलो वराहः कोटपोत्रियौ ॥ ३२३ ॥

घोषी घृष्टिः खञ्जरोमा इंद्री किञ्जालाङ्गलौ।

आखनिकः शिरोमर्मा स्थूलवासो बहुभुजः ॥ ३२४ ॥

हेमचन्द्राचार्य—अभिधानचिन्तामणि, काण्ड ३ (तिर्थकाण्ड)।

सूक्ते कुसुखः कामरूपी च सखिलमिषः।

तलेषयो चन्द्रद्वः पङ्कजोदणकोऽपि च ॥

अभिधानचिन्तामणि के उपर्युक्त श्लोकों की टीका।

कति देश के राजा पुष्पौत्तमदेव ने अनुनामतः पन्द्रहवीं शताब्दी में ‘त्रिकाण्डशेष’ नामक पद्यबद्ध सुंदर संस्कृत कोप लिखा, जिसे बम्बई के लेमराज श्रीकृष्णदास ने सन् १६१६ ई० में प्रकाशित किया। इस संस्करण में सुद्रित सीलचलन्ध महाघेर की टीका में ‘वराह’ शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हुए लिखा है कि ‘वराह अनीष्टाय मुखादित्यामाय आहन्ति खनति भूमिम्’, अर्थात् अपनी प्रिय मुखा नामक धांस के लिए भूमि को खोदने वाला (पशु) वराह है। वराह को मुखा के लिए भूमि खोदना बहुत पसन्द होता है,—दे० विग्रन्थ कियतां वराहततिभिर्मुखापत्ति पस्वते ...॥ कालिदास—अभिधानशालाङ्कण, २. ६।

५. (आनन्दाश्रम-संस्क०) ७. १. २।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में तैत्तिरीय संहिता की बराह-सम्बन्धी घटना विशद रूप में वर्णित है। उस के अनुसार “सृष्टि से पूर्व, हमें देख पड़ने वाली पृथ्वी के स्थान में, केवल जल था; इसलिए उस समय प्रजापति ने जगत् की सृष्टि करने के लिए बहुत विचार किया। प्रजापति विचार-मग्न थे, उस समय उन्हें जल पर लम्बी दण्डी का एक कमल-पत्र देख पड़ा। उसे देख कर प्रजापति ने अनुमान किया कि वह सृष्टाल-युक्त कमल-पत्र अवश्य किसी न किसी वस्तु के आधार पर ठहरा होगा। उस वस्तु की खोज के लिए जल में डुबकी लगाना आवश्यक था, इसलिए उन्होंने ने बराह-रूप धारण कर उस कमल-पत्र के सृष्टाल के पास ही जल में डुबकी लगाई। भीतर पहुँचने पर उन्हें पृथ्वी मिल गई। तत्पश्चात् उस पृथ्वी की बहुत सी गीली मिट्टी अपने दाँत से उखाड़ कर वे (बराह-रूपी प्रजापति) ऊपर निकल आए और उक्त कमल-पत्र पर उसे फैला दिया। फैलाने (विस्तार) के कारण उस का नाम पृथ्वी (अर्थात् विस्तृत) पड़ा। तदनन्तर सन्तुष्ट हो कर प्रजापति ने कहा कि यह स्थावर-जङ्गम प्राणियों की आधार-वस्तु हो जाय। ‘हीना’ के संस्कृत रूप ‘भवति’ से इस की व्युत्पत्ति होने से इस का नाम भूमि हुआ। फिर उस आर्द्र भूभाग (सृष्टिका) को सुखाने के लिए चारों दिशाओं से प्रजापति-सङ्कल्पित वायु बहने लगा। पवन के भोको से सुखती हुई उस भूमि को प्रजापति ने छोटे-छोटे कट्कड़ों से ढक बनाया और अपने कल्याण की इच्छा की। शर्क रा (छोटे कट्कड़) द्वारा उस की सुखोत्पत्ति होने से उस (पृथ्वी) का नाम शर्क रा पड़ गया। बराह द्वारा लाई हुई मिट्टी (पृथ्वी) की ऐसी महिमा है, इसलिए बराह द्वारा भूमि की जो मिट्टी खोदी जाय, उस का आदर करना चाहिए।” तैत्तिरीय ब्राह्मण के उपर्युक्त वृत्तान्त से जान पड़ता है कि सृष्टि बसाने के लिए प्रजापति (ब्रह्मा) ने पृथ्वी का उद्धार किया न कि विष्णु ने, जैसा पिछले ग्रन्थों में लिखा मिलता है।

वैदिक साहित्य के बाद अब हम रामायण, महाभारत, पुराणों आदि पिछले ग्रन्थों को लेते हैं। वाल्मीकि-रामायण में वसिष्ठ रामचन्द्र को पृथ्वी की उत्पत्ति बतलाते हुए कहते हैं—“पहले सर्वत्र जल ही जल था (अर्थात् जलमयी सृष्टि थी), उसी में पृथ्वी बनी। फिर देवताओं के साथ ब्रह्मा उत्पन्न हुए, जिन्होंने ने बराह-रूप धारण कर पृथ्वी को (जल से ऊपर) निकाला और अपने पुत्रों सहित सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि की।” इस कथन से जान पड़ता है कि रामायण के अनुसार भी आदि-सृष्टि के समय ब्रह्मा ने बराह-रूप से पृथ्वी का उद्धार किया था, न कि विष्णु ने। बराह को विष्णु का एक अवतार मान कर उस की जो महिमा प्रचलित है वह वैदिक काल में,

१. कृष्णयजुर्वेदीयं तैत्तिरीयब्राह्मणम् (आनन्दामन-संस्क०), १. १. ३. पृ० १८। विषय के अधिक स्पष्टीकरण के लिए सायण कृत भाष्य भी देखना चाहिए।

२. ऋद्धमाज्ञाय रामं तु वसिष्ठः प्रत्युवाच ह।

आवागिरपि जामीले लोकस्वात् गवागतिम् ॥ १ ॥

विचर्तयितुकामस्तु त्वामेव द्वाभ्यमववीत्।

इमां लोकसमुत्पत्तिं लोकनाथ निबोध मे ॥ २ ॥

सर्वं सखिजमेवासीत्पृथिवी तत्र निर्मिता।

ततः समभवद्ब्रह्मा स्वर्गमूर्ध्वैः सह ॥ ३ ॥

स बराहस्ततो भूत्वा भोजहार बभूवधरात्।

असृज्य जगत्सर्वं सह पुत्रैः कृतात्मभिः ॥ ४ ॥

निर्णयसागर-संस्क०, अयोध्याकाण्ड, ११०, पृ० ३३१।

अथवा रामायण काल तक, प्रचलित नहीं थी; केवल वेदोत्तर-काल के—उन में भी पिछले—ग्रन्थों में बराह विष्णु के अवतार के रूप में देख पड़ता है^१।

महाभारत के वनपर्व में लिखा है कि पाण्डवों के वनवास-काल में एक बार लोमश ऋषि ने युधिष्ठिर से कहा कि एक सौग वाले बराह (विष्णु भगवान्) ने पाताल में डूबी हुई पृथ्वी का उद्धार किया। "पूर्व समय में, कृतयुग (सत्युग) में, एक बार भयङ्कर परिस्थिति उत्पन्न हुई। उस समय आदिदेव ब्रह्मा ने यमत्व (मृत्यु का निग्रह) किया, जिस से जगत् में कोई नहीं मरता था, किन्तु सर्वत्र उत्पत्ति देख पड़ती थी। हिसक पशु, पक्षी, मृग, बैल, घोड़े, मनुष्य आदि प्राणी हजारों की संख्या में इस प्रकार बढ़ने लगे, जैसे प्रलय-काल में जल की बाढ़ आ जाती है। भयङ्कर संख्या-वृद्धि के कारण बोम्हा बढ़ जाने से पृथ्वी सौ योजन नीचे चली गई; तब उस ने व्यथित हो भगवान् नारायण की शरण में जा कर उन से अपना भार हलका करने के लिए प्रार्थना की। इस पर विष्णु ने उसे आश्वासन दिया कि उस का बोम्हा हलका हो जायगा, इसलिए उसे भयभीत न होना चाहिये। उन्होंने पृथ्वी देवी को सान्त्वनापूर्वक विदा कर अत्यन्त देदीप्यमान (एक) सौग और लाल नेत्रों वाले बराह का रूप धारण किया। फिर अपने बसकते हुए सौग से सौ योजन नीचे से बसुमती (पृथ्वी) को उठा लिया। पृथ्वी के उद्धार के समय बड़ा संचोभ हुआ, जिस से देवता, ऋषि, तपस्वी, स्वर्ग, भूगण्डल एवं तीनों लोक, सब में हाहाकार मच गया और देव या मनुष्य किसी को चैन न पढ़ने लगा। तब देवताओं एवं ऋषियों ने ब्रह्मा के पास जा कर नम्रतापूर्वक उनसे प्रार्थना की कि वीनों लोकों में संचोभ हो रहा है, बराबर जगत् व्याकुल हो गया है, समुद्र-जल छुब्ब हो रहा है, सारी पृथ्वी सौ योजन डूब गई है और हम सब संज्ञा-हीन हो रहे हैं, इसलिए हमें बतलाइए कि किस के प्रभाव से जगत् में इतनी व्याकुलता मची हुई है। उन को वैयर्थ्य दिलाते हुए ब्रह्मा ने कहा कि इस समय तुम्हें भ्रसुरों के उत्पास से भयभीत न होना चाहिये, क्योंकि सर्वत्र विचरणाशील घट-भट-वासी परमात्मा के प्रभाव से यह संचोभ हो रहा है। सौ योजन पर्यन्त डूबी हुई पृथ्वी उसी विष्णु परमात्मा द्वारा निकाली गई है, उस की उद्धार-क्रिया को इस संचोभ का कारण जान कर तुम अपना संशय मिटाओ। यह सुन देवताओं ने कहा कि यदि आप हमें यह प्रदेश बतला दें जहाँ पृथ्वी का उद्धार हो रहा है, तो हम सब वहीं चले जायें। ब्रह्मा ने वह स्थान और विष्णु की पहचान बतलाते हुए कहा कि कालाग्रि को समान देदीप्यमान बराह-रूप में मूचल उठाते हुए लोकहितैवी भगवान् को तुम नन्दन वन में खड़ा पाओगे। उनके वचनश्रवण पर श्रीवत्स शोभित हो रहा है।"

वपुर्क वर्षान के अनुसार बराह-रूपी ब्रह्मा द्वारा आदि सृष्टि के समय पृथ्वी का उद्धार नहीं हुआ, किन्तु पशुओं एवं मनुष्यों की संख्या में असाधारण वृद्धि होने से भाराक्रान्त पृथ्वी जल में कई योजन डूब गई, तब उस की प्रार्थना पर ध्यान दे कर भगवान् विष्णु ने उस का उद्धार किया। रामायण में ब्रह्मा द्वारा पृथ्वी का उद्धार बतलाया गया है, किन्तु यहाँ वही कार्य विष्णु द्वारा एक विस्तृत भिन्न परिस्थिति में सम्पन्न हुआ।

महाभारत के वनपर्व के २७३वें अध्याय^२ में बराह द्वारा पृथ्वी के उद्धार का प्रासङ्गिक उल्लेख है। वहाँ इस सम्बन्ध में लिखा है कि नाभि-मन्त्र से उत्पन्न चतुर्मुख ब्रह्मा ने जगत् को शून्य देख कर भरीचि आदि मानस-पुत्रों को उत्पन्न किया, जिन से बराबर जगत्, यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच, नाग, मनुष्य आदि की उत्पत्ति हुई।

^१ कुम्भकायम्-संस्क०, ११४, २६—२६।

^२ श्लो० १२—२६।

प्रजापति ब्रह्मा अपनी तीन अवस्थाओं द्वारा सृष्टि का सञ्चालन करते हैं—ब्रह्मा-रूप में सृष्टि, पुरुष (विष्णु)-रूप में पालन और रुद्र-रूप में संहार। तत्पश्चात् विष्णु के अद्भुत कर्मों का निर्देश करते हुए लिखा है कि जिस समय सारी पृथ्वी जलमय हो गई थी, उस समय चराचर-स्वामी भगवान् पृथ्वी को स्थापित करने के लिए उसे इधर-उधर इस प्रकार खोजने लगे मानो वर्षा-काल की रात्रि में जुगनु इधर-उधर उड़ रहा हो (इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि इस कथन के अनुसार प्रलयकाल में पृथ्वी जल में डूब गई थी, न कि जन एवं पशु-संख्या की अत्यधिक वृद्धि से भाराक्रान्त हो कर)। अन्त में पृथ्वी को जल में डूबी हुई देख कर वे सोचने लगे कि कौन सा रूप बना कर उसे जल के भीतर से निकाला जाय। दिव्य दृष्टि के प्रभाव से उन्हें जल-विहार की रुचि रखने वाले बराह के रूप का स्मरण हुआ। तब भगवान् ने क्षत्रवेदमय यज्ञबराह का रूप धारण कर जल में प्रवेश किया। उस का शरीर सौ योजन लम्बा, दस योजन चौड़ा, गगनचुम्बी महापर्वत जैसा ऊँचा और श्याम मेघ के समान देख पड़ता था। उस का शब्द प्रचण्ड मेघ-गर्जन की समता करता और उस का तीक्ष्ण तथा चमकीला दाँव बाहर निकला हुआ था। वह यज्ञबराह समुद्र में डूब गया और उस ने अपने एक दाँव पर पृथ्वी को उठा कर उसे यथास्थान स्थापित कर दिया। वनपर्व के १०१ अध्याय^१ में सी विष्णु को सम्बोधन कर पृथ्वी का उन के बराह-रूप द्वारा उद्धार होने का उल्लेख^२ मिलता है।

वल्लिखित पंक्तियों से जान पड़ता है कि वैदिक साहित्य एवं रामायण के रचना-काल तक आदि-सृष्टि के समय जल के अनन्त स्थल-सृष्टि करने के लिए प्रजापति (ब्रह्मा) द्वारा समुद्र में से पृथ्वी का उद्धार होना माना जाता था; किन्तु महाभारत-काल से बराह को विष्णु का एक अवतार माना जाने लगा, जिस के द्वारा पृथ्वी का उद्धार हुआ। अब हमें देखना है कि पौराणिक साहित्य इस विषय में क्या कहता है। विष्णु-पुराण^३ में निम्न-लिखित वृत्तान्त मिलता है।

कल्प के आरम्भ में नारायण नामधारी ब्रह्मा ने प्रजा-सृष्टि की। गत कल्प के अन्त में सत्त्व-गुण-सम्पन्न ब्रह्मा ने रात्रि-निद्रा से उठ कर संसार को शून्य देखा। उस अनादि, सृष्टिकर्ता, ब्रह्म-स्वरूप नारायण परमात्मा ने जगत् को सागरमय और पृथ्वी को उस में लीन देख कर उस का उद्धार करने के लिए—पूर्व कल्पों में धारण किए हुए मत्स्य, कूर्म आदि रूपों की भाँति—बराह का रूप ग्रहण किया, जो वेद-यज्ञ-मय था। तत्पश्चात् जनलोकवासी सनक आदि मुनियों द्वारा स्तुति किए जाने पर उस स्थिरात्मा, सर्वात्मा, परमात्मा प्रजापति ने जल में प्रवेश किया। उन को पाताल में पहुँचने पर उन्हें देख कर देवी वसुन्धरा (पृथ्वी) भक्ति-पूर्वक प्रणाम कर नाना प्रकार से उन की स्तुति करने लगी, जिस में सर्वव्यापी परमात्मा की विभूति का उत्कृष्ट वर्णन है। पृथ्वी द्वारा स्तुति होने के अनन्तर पृथ्वी-धारी (बराह-रूपी) परमात्मा ने साय-गान के स्वर में ध्रु-वर् शब्द से

१. त्वया भूमिः पुरा मष्टा समुद्रासुष्करेण च ।

बाराहं वसुगन्धिव जगदर्थं समुद्धृता ॥ २२ ॥

महाभारत एव रामायण के बराह-विवाह के सम्बन्ध में दे० हॉफ़मन्स—एपिक माइथॉलॉजी, पृ० २१० ।

२. म० भा० सम० गवै, अ० १२ और शान्तिपर्व, अ० २०८ में बराह द्वारा पृथ्वी के उद्धार की जो कथा मिलती है, वह पीछे से जोड़ी हुई जान पड़ती है। सम्भवतः वह पुराणों के आधार पर लिखी गई है।

३. अंश १, ४, श्लो० १—२२ ।

गर्जना की, और नीलवर्ण देह तथा विकसित पद्म जैसे नेत्र वाला वह महावराह पृथ्वी को अपने दाँत पर उठा कर पाताल से ऊपर उठा.....। जिस समय वह पृथ्वी को उठा रहा था, उस के वेदमय शरीर के रोएँ-रोएँ में बसने वाले सनन्दन आदि मुनिजन भक्तिपूर्वक उस की स्तुति करने लगे, जिस में वराह के कुछ अवयवों का यज्ञ के अङ्गों एवं उपकरणों से साम्य दिखलाया गया है। तदनन्तर मुनिजन महावराह-रूपी परमात्मा की महत्ता प्रकट करते हुए उन से जगत् की स्थिति के लिए पृथ्वी का उद्धार कर सब के कल्याण की प्रार्थना करते हैं। इस प्रकार अपनी स्तुति सुन कर भू-धारी परमात्मा ने पृथ्वी को उठा कर समुद्र पर रख दिया, जिस से ऐसा जान पड़ता था मानो उस जल-समूह पर कोई विशाल नाव ठहरी हुई हो। वराह भगवान् के देह की अधिक वृद्धि हो जाने से पृथ्वी डूबती नहीं थी। फिर उसे समतल बना कर अनादि परमेश्वर ने उस पर पर्वत आदि बनाए।

विष्णुपुराणोक्त वराह-वर्णन में प्रलयकाल में पृथ्वी का उद्धार होना बतलाया गया है। इस के अनुसार नारायण-नामधारी विष्णु को ब्रह्मा का एक स्वरूप मान कर उन के द्वारा भू-देवी का उद्धार जान पड़ता है। ऋषियों की स्तुति में विष्णु के महावराह-रूप का यज्ञ से सादृश्य दिखाया गया है, अर्थात् उसे यज्ञवराह माना है।

वराह अवतार की यह कथा थोड़े-बहुत अन्तर से—संचित या विद्युत् रूप से—वायु, अग्नि, मत्स्य, भागवत, पद्म, लिङ्ग, वराह एवं गरुड आदि पुराणों में भी मिलती है। स्थानाभाव से यहाँ इन सब पुराणों में मिलने वाली इस कथा का संविस्तर परिचय देना सम्भव नहीं है, अतएव तत्सम्बन्धी मुख्य-मुख्य बातों का निर्देश-मात्र किया जाता है। वायुपुराण^१ में लिखा है कि अग्नि से जल की उत्पत्ति हुई। अग्नि के नष्ट होने पर पृथ्वी-तल अन्तराल में छोन हो गया, जिस से स्थावर-जङ्गम सृष्टि का विध्वंस हो कर चारों ओर एका-कौर समुद्र देख पड़ने लगा। उस समय नारायण-नामधारी ब्रह्मा योग-निद्रा में निमग्न हुए और सत्त्व-गुण के आधिक्य-वश नौदं द्रुतने पर जगत् को शून्य देख वे वायु बन कर उस जल में, वर्षा-काल में खद्योत की भाँति, सञ्चार करने लगे। फिर पृथ्वी को समुद्र-तल में रही हुई जान कर उस का उद्धार करने के लिए उन्होंने जल-क्रीड़ा के अनुकूल दस योजन लम्बा और सौ योजन ऊँचा वराह-रूप धारण किया और अपने दाँत से पृथ्वी को उठा कर उस का उद्धार किया। महावराह अथवा यज्ञ-वराह की आकृति आदि का वर्णन^२ महाभारत वन-पर्व के २७३वें अध्याय के उल्लिखित वर्णन से बहुत मिलता-जुलता है। यहाँ यज्ञ-वराह के शरीर के विभिन्न अवयवों का यज्ञ के अङ्गों से भली भाँति साम्य दिखलाया गया है, जिस में वह महावराह यज्ञ का, उस के पैर चारों वेदों के, उस का दाँत यूप (यज्ञ-स्वम्) का, सीना शक्ति का, मुख चिति (वेदि बनाने में ईंटों की जुलाई)

१ अ० ६, श्लो० १—२७।

२ दशयोजनचिन्तीर्णं शनयोऽजगत्सृष्टितम्।

नीलमेघप्रतीकाश मेघस्तन्निजस्वयम् ॥ १२ ॥

महापर्यंतवर्षांश्च श्वेतं तीक्ष्णोर्मत्तं ह्रस्वम्।

विद्युदक्षिप्रकाशाक्षमादिस्वयमवतैजसम् ॥ १३ ॥

पीनहृत्तायतस्कन्धं सिंहविक्रान्तगामिनम्।

पीनोत्तकटोदेरा सुश्लक्ष्णं शुभलक्षणम् ॥ १४ ॥

रूपमास्थाय विधुर्लं वाराहमिति हसिः।

पृथिव्युद्धारार्थाय प्रविवेश रसातलम् ॥ १५ ॥

का, जीम अग्नि की, रोएँ दर्भ के, सिर ब्रह्मा का, नेत्र रात-दिन के, नाक के आभूषण वेदाङ्ग के, नाक (अर्थात् नाक से निकलने वाला द्रव पदार्थ) की का, शूथनी सुव की, शब्द साम-ग्योष का, सुर प्राचरिचत्त के, घुटने यज्ञ-पशु के, अँठें वज्रावा की, लिङ्ग होता का, श्वास-वायु अन्तरात्मा का, नितम्ब मन्त्रों के, रक्त सोमरस का, कन्धे वेदि के, उस की गन्ध हवि (होमने का पदार्थ) की, टेङ्ग चाल हव्य-कव्य की, शरीर प्राग्भंश (यज्ञशाला का एक भाग) का, हृदय माह्वयो को दी जाने वाली दक्षिणा का, एक आभूषण प्रवर्ग्य (सोम-याग-सम्बन्धो एक क्रिया) का और उसकी छाया यजमान-पत्नी की सूचक है ।

मत्स्यपुराण^२ में, पृथ्वी पर होने वाली, प्रजापति की सृष्टि का क्रम बतलाते हुए बराह अवतार का निर्देश किया गया है । उस से जान पड़ता है कि बहुत योजनों तक फैलने वाले पर्वतों की अनेक सुविशाल श्रेणियों के असह्य भार से आक्रान्त हो कर पृथ्वी जल में डूब गई थी । उसे कीचड़ में फँसी हुई दुर्बल गाय की भाँति नीचे जाती देख कर मधुसूदन (विष्णु) ने उस को उद्धार का निश्चय किया । उस समय अपने उद्धार के लिए पृथ्वी देवी ने भगवान् की अनेक प्रकार से खुवि की । इस पर विष्णु परमात्मा ने, उसे सान्त्वना देते हुए, कुछ सोच कर जल-क्रीड़ा के लिए बराह-रूप धारण किया । महाबराह के शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों का यज्ञ के विभिन्न अङ्गों से सादृश्य-सूचक वर्णन और बराह-रूप में पृथ्वी के उद्धार का उल्लेख वायुपुराण के तत्सम्बन्धो प्रकरण से ज्यों का त्यों मिलता है । इस में बराह के शरीर की ऊँचाई लम्बाई से दूनी बतलाई गई है^३ ।

श्रीमद्भागवत पुराण के प्रथम स्कन्ध में विष्णु के भिन्न-भिन्न अवतारों का उल्लेख है, जिस से ज्ञात होता है कि यथाधिपति परमेश्वर ने रसावली में डूबी हुई पृथ्वी का उद्धार करने के लिए दूसरा, अर्थात् बराह का, स्वरूप धारण किया^४ । इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि यहाँ बराह को तीसरा नहीं किन्तु दूसरा अवतार

१. स वेदपाद्यपदङ्गः ऋतुवशाचितीमुक्तः ।

अग्निविह्वो हर्मोमा अक्षयौर्मा महातपाः ॥ १९ ॥

अदोरात्रे च यवरो वेदाङ्गमुचिभूषणः ।

आज्यवासः स्रु वतुण्डः सामद्योयस्त्वो महात् ॥ १७ ॥

सप्तचर्ममयः श्रीमान्धर्मविक्रमसंस्थितः ।

प्राचरिचत्तरो धोरः पशुवायुर्महाकृतिः ॥ १८ ॥

वज्राज्ञो होमकिङ्गः स्थानवीथी महौषधिः ।

वाय्वन्तरात्मा मन्त्रस्किगाज्यसृक् सोमशोहितः ॥ ११ ॥

वेदस्कन्धो हविर्गन्धो हव्यकन्यातिवेगवात् ।

प्रादंशकायो धुतिमान्नावादीवाभिरन्वितः ॥ २० ॥

कर्चपाण्डुर्यो योगी महासन्धमयो विभुः ।

वपाकर्मोदिकचिरः प्रचर्धवितभूषणः ॥ २१ ॥

नामाकुन्दोगतिपथो शुद्धोपविषदासकः ।

छायापत्नीसहायो वै भयिष्ठोऽतिवोम्भितः ॥ २२ ॥

भूत्वा यज्ञवरहो वै अपः स आविश्यभुः ।

२. अ० २४८, श्लो० १—४७ ।

३. नास्योत्तमविहीनैस्तुम्बितं द्विगुणं ततः ।॥६४॥

४. 'द्वितीय' तु अवावात्य रसासलगतं महीम् ।

उदरिष्णुपादत यज्ञेशः सौत्कर्षं ययुः ॥ ७ ॥

माना गया है। इस के सिवा वीसरे स्कन्ध के तेरहवें अध्याय में, विदुर-मैत्रेय-सवाद में, विदुर ने मैत्रेय से पूछा कि ब्रह्मा के प्रिय पुत्र सार्वभौम राजा मैं ने अपनी पसन्द की पत्नी पा कर क्या-क्या किया ? मैत्रेय ने उत्तर दिया कि विवाह के पश्चात् मनु ने हाथ जोड़ कर ब्रह्मा से पूछा कि आप मेरे पिता हैं, मैं आप की सन्तान हूँ; इसलिए बचलाइए, मैं किस प्रकार आप की सेवा कर सकता हूँ ? मेरे योग्य कार्यों में से कौन सा करने से मुझे इस लोक में कीर्ति और परलोक में सद्गति प्राप्त होगी ? इस पर, ब्रह्मा ने उसे अपनी स्त्री से अनुरूप सन्तति उत्पन्न कर पृथ्वी का धर्म-पूर्वक पालन और यज्ञ द्वारा परमेश्वर को प्रसन्न करने को कहा। मनु ने ब्राह्म शिरोधार्य कर प्रार्थना की कि पृथ्वी—जो मेरा, मेरी प्रजा और सब प्राणियों का निवास-स्थान है—जल में डूब गई है, इसलिए सब से पहले उसे ऊपर निकाला जाय। पृथ्वी का डूबना जान कर ब्रह्मा उस के उद्धार का उपाय सोचने लगे। ब्रह्मा ने देखा कि ईश्वर ने सृष्टि की उत्पत्ति के लिए उनको पैदा किया है और सृष्टि के आरम्भ में पृथ्वी रसातल में चली गई, इसलिए जिनके हृदय से वे उत्पन्न हुए, वही परमात्मा पृथ्वी के उद्धार की योजना करें, वो अच्छा हो। वे इस प्रकार सङ्कल्प-विकल्प कर रहे थे, इतने में अचानक उनकी नाक में से भ्रूणों के परिमाण का बराह का बच्चा निकल आया। ब्रह्मा ने चक्षु भर उस की ओर देखा, इतने ही में वह हाथी जितना बढ़ गया। यह देख कर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और मरीचि आदि विप्रों तथा मनु आदि कुमारां के साथ ब्रह्मा उस बराह के सम्बन्ध में नाना प्रकार के विचार करने लगे। ब्रह्मा को शङ्का हुई कि कहीं यज्ञ-रूप भगवान् तो उन्हें मोह में नहीं डाल रहे हैं ! अपने पुत्रों के साथ ब्रह्मदेव तर्क-वितर्क में लगे हुए थे, उस समय भगवान् ने अपना शरीर पर्वतप्राय बना कर गर्जना की, जिस से विशाणू गूल उठी और ब्रह्मा तथा सनकादि ऋषि हर्षित हुए। तदनन्तर जन, तप एवं सत्य लोको के निवासी ऋषियों ने उस पवित्र बराह-स्वरूप की स्तुति की, जिसे सुन कर आदिबराह ने पुनः एक बार गर्जना की और गजराज के समान लीला करते हुए जल में प्रवेश किया। उस समय उक्त महाबराह के कोश कड़े और चमड़ी मोटी थी; वह अपने खुरों से मेघ पर आघात करता था। उस के दाँव स्वच्छ और नैने, दृष्टि लीचल, पैर में तीन जोड़, खुर बाण जैसे लम्बे, पूँछ ऊपर उठी हुई और गर्दन के बाल हिल रहे थे। तमाल-पुष्प के समान नील वर्ण वाले उक्त बराह ने अपने दाँव से पादाल में डूबी हुई पृथ्वी को ऊपर उठा कर जल से बाहर निकाला; इतने में हिरण्याक्ष नामक दैत्य ने अपनी गदा से उस पर आक्रमण किया, जिस से आदिबराह ने क्रुद्ध हो कर—जिस प्रकार सिंह हाथी को मारता है उसी तरह—उस का भी भ्रन्त कर डाला। उस के रक्त से आदिबराह का मुख-मण्डल लाल हो गया। हिरण्याक्ष के बध से ब्रह्मा ने उन्हें ईश्वर जान कर वेदमन्त्रों से उन की स्तुति की, जिस से उन के भिन्न-भिन्न अवयवों की यज्ञ के विभिन्न भङ्गों से तुलना की गई है। ऋषिगण बराह-रूपी परमेश्वर की स्तुति कर रहे थे, उस समय भगवान् अपने खुरों से पृथ्वी को द्रुव जल में मली भाँति स्थापित कर वहाँ से चले गए। भागवत पुराण के वीसरे स्कन्ध के १८-१९वें अध्याय में हिरण्याक्ष-वध का सविस्तर वर्णन मिलता है।

लिङ्गपुराण^१ से जान पड़ता है कि ब्रह्मा ने बराह-रूप धारण किया था। प्रलय-यात्रि में, जब सब स्थावर-जङ्गम प्राणियों का नाश हो गया, चारों ओर एकाकार समुद्र देख पड़ता था, ब्रह्मा ने उस पर शयन किया

१. पर्सिमेंट्स ऑफ् हिन्दू आइडोलोट्राफी लि० १, भा० १, पृ० १११।

इसी पुराण में, पूर्व-खण्ड के ६४ वें अध्याय में, दैत्य हिरण्याक्ष द्वारा पृथ्वी के पीड़ित होने और उस के कष्ट के कारण भगवान् विष्णु के वसे पाताल से निकालने की कथा है, जिस से जान पड़ता है कि इस पुराण का यह पिछला अंश किसी समय छेपक-रूप में जोड़ा गया।

और सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा की। तब उन्होंने बराह-रूप बना कर समुद्र के भीतर से पृथ्वी को निकाल कर उसे पहले की तरह स्थापित कर दिया। इस से यह भी विदित होता है कि पृथ्वी का उद्धार करने के पश्चात् विष्णु^१ अपना बराह-स्वरूप छोड़ कर अपने लोक में चले गए तब शङ्कर ने उस दाँत को, जिस पर पृथ्वी उठाई गई थी, ले कर अपने केशपाश में रख लिया, जिस से शिव की शोभा बहुत बढ़ गई।

अग्निपुराण^२ से ज्ञात होता है कि हिरण्याक्ष दैत्यों का राजा था; उस ने देवताओं को जीत कर स्वर्ग-लोक में निवास किया। तब देवताओं ने यज्ञ-रूपी भगवान् विष्णु के पास जा कर उन की स्तुति की, जिस पर उन्होंने ने बराह-रूप धारण कर अन्य दैत्यों के साथ उक्त दानव का संहार किया।

पुराणों के बराह-सम्बन्धी विवरण से मालूम होता है कि विष्णु, वायु एवं मत्स्य में बराह द्वारा पृथ्वी के उद्धार का जो वृत्तान्त है, उस में हमें दैत्य हिरण्याक्ष के साथ के युद्ध का उल्लेख नहीं मिलता। हिरण्याक्ष की कथा श्रीमद्भागवत तथा अन्य पिछले पुराणों में पाई जाती है। अग्नि, गरुड^३, बराह और पद्म पुराण^४ से दैत्य

१. अथ देवे गते त्यक्त्वा बराहे क्षीरसागरम् ॥ २९ ॥

बराह रूपमवर्धं च पादौ च धरा पुनः ।

तस्य दृष्ट्वा भगवान्ता देवदेवस्य धीमताः ॥ ३० ॥

यदृच्छन्वा भवः पश्यन् जगाम जगदीश्वरः ।

दृष्ट्वा जगद्वा इष्ट्वा तां भूषणार्थमयात्मनः ॥ ३८ ॥

दधारा च महादेवः कूर्चान्ते चै महोरसि ।

देवाश्च तुष्टुस्तुः सेन्द्रा देवदेवस्य चैभवम् ॥ ३९ ॥

२. अवतारं बराहस्य वक्ष्येऽहं पापनाशनम् ।

हिरण्याक्षोऽसुरेशोऽमूहोवाञ्छित्वा दिवि स्थितः ॥ १ ॥

देवर्षीत्या स्तुतो विष्णुर्धनं रूपो बराहकः ।

अमूर्तं दानवै हत्वा दैत्यैः साकं च कण्टकम् ॥ २ ॥

चैकदेश्वर-संस्क०, अ० ४ ।

३. संशादीन्पादयामास क्षवतीर्थो हरिः प्रभुः ।

दैत्यधर्मस्य नाशार्थं वेदधर्मादिपुण्यैः ॥ १ ॥

अवतीर्थो बराहोऽथ हिरण्याक्षं जघान ह ।

पृथिवीं धारयामास पादयामास देवता ॥ ६ ॥

पूर्वखण्ड, अ० १४२ ।

४. अग्रमासहारीः स हिरण्याक्षो भद्रोद्धतः ।

बद्धपात्र्य बाहुसाहजैः पृथिवीं समीधराम् ॥ १२ ॥

...उत्पात्य शिरसाऽवाच^१ प्रविशेश रसातलम् ॥ १३ ॥

ततो देवगणाः सर्वे चक्रुस्तस्यपीडिताः ।

शरणां प्रथमुर्द्ध्वं नारायणमनामयम् ॥ १४ ॥

ततस्तदद्भुतं ज्ञात्वा शङ्खचक्रादाधराः ।

चाराहं रूपमास्थाय विश्वरूपी जगार्दनः ॥ १५ ॥

दंष्ट्रयैकवा तं दैत्यं जघान परमेश्वरः ।

संचूर्णितमहागान्धो भमार दितिजायमः ॥ १६ ॥

पतितो धरणीं दृष्ट्वा दंष्ट्रयोन्मुल्य पूर्ववत् ।

संस्थाप्य क्षतयामास शेषे कर्मवृत्तदा ॥ १७ ॥

उत्तरखण्ड, अ० २६४ ।

हिरण्याक्ष द्वारा मर्त्यलोकवासियों को पीड़ित होने, उस को अत्याचारों के फल-स्वरूप पृथ्वी को रसातल में पहुँचने और अन्त में वराह-रूपधारी विष्णु द्वारा उस का उद्धार होने का पता चलता है। हरिवंश^१ का वर्णन वायुपुराण से बहुत मिलता-जुलता है, इसलिए उस का यहाँ पृथक् उल्लेख आवश्यक नहीं। पिछले ग्रन्थों में वराह को विष्णु का अवतार माना गया है और आगम तथा तन्त्र-ग्रन्थों में भी इसी मत की भल्लक देख पड़ती है।

पुराणोंक वराह-वर्णन के अनन्तर शिल्प-शास्त्र तथा आगम-ग्रन्थों में मिलने वाले विष्णु को इस अवतार के विवरण का यत्किञ्चित् परिचय असङ्गत प्रतीत न होगा। इस के साथ-साथ वराह अवतार की भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतिमाओं का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक जान पड़ता है। तबला-कला के फलस्वरूप हमें वराह-अवतार की जो खण्डित एवं अखण्डित सुन्दर प्रतिमाएँ भारत में यत्र-तत्र प्राप्त होती हैं, उन्हें स्थूल रूप से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) आदिवराह, नृवराह अथवा भूवराह ।

(२) प्रलयवराह ।

(३) यज्ञवराह ।

वैखानसागम के अनुसार आदिवराह अथवा भूवराह की प्रतिमा में मनुष्य के शरीर के साथ वराह का मुख, सन्ध्या-काल जैसा वर्ण और चार हाथ होने चाहियें, जिन में से सामान्यतः दो में शङ्ख और चक्र रहें। दाहिना पैर शेषनाग (सप्तलीक) को फल की मणि पर ठहरना चाहिए। उस पैर की जाँघ पर अपने पैर लटकाने पृथ्वी देवी बनाई जाय। वराह को शेष दो हाथों में से बाँया भू देवी को पैरों और दाहिना कमर पर रहे। वराह के मुख से जान पड़े कि वह देवी को सूँघ रहा हो। भू देवी के हाथ अञ्जलिबद्ध हों और उस का शरीर वस्त्र, पुष्प एवं आभूषणों से सुसज्जित होना चाहिए। देवी का मुख श्याम-वर्ण और हर्ष एवं लज्जा का सूचक होना चाहिए। उस का सिर वराह के सीने तक पहुँचे। उस की प्रतिमा को पञ्चतालविधि के अनुसार बनाना चाहिए^२।

विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार उपर्युक्त प्रतिमा में शेषनाग के चार भुजाएँ, रत्न-जडित फन और आश्चर्य-विकसित नेत्र हों। आदिशेष का फन कुछ ऊँचा रहे, जिस से जान पड़े कि वह देव को देखने के लिए उत्सुक है। उस को दो हाथों में हल और मूसल रहें। सर्प की पीठ पर भगवान् आसीढासन में विराजमान हों। उन को बाएँ हाथ पर प्रणाम करती हुई दो भुजाओं वाली स्त्रीरूपिणी पृथ्वी रहे। जिस भुजा पर पृथ्वी हो उसमें शङ्ख और शेष में पद्म, चक्र एवं गदा रहनी चाहिए। नृवराह की मूर्ति कपिल की भाँति ध्यानावस्थित रूप में भी होती है अथवा उस के हाथ पिण्डदान करते हुए बनाए जाते हैं। इस के सिवा मनुष्य का शरीर न हो कर केवल शूकर की आकृति की प्रतिमा भी होती है, जिस में बहुत से दानवों के साथ वराह भूमि खोदता हुआ देख पड़ता

१. अ. २२४ ।

२. आदिवराह चतुर्भुजं शङ्खचक्रधरं सत्वरयामनिर्गमं (सन्ध्याप्रयामनिर्गमं—पाठान्तर) वागेन्द्रकणामधिरुषापितदक्षिण-पादं चतुर्गो महीं दधानं दक्षिणहस्तेन देव्याः पादौ गृह्णन्तं मुक्तेन देवीं निम्रन्तं कृत्वा तां सहीं प्राज्ञबीकृतहस्तां प्रसारितपादां पुष्पाभ्रवरा श्यामाभां किञ्चिदेवं सनीयन् प्रीडाहर्षेण संयुक्तां सर्वाभरणसंयुक्तां देवस्य स्तनान्तां वा पञ्चतालमेव मानेन कारयेत् । २६वां पटल ।

है। विष्णुधर्मोत्तर से ज्ञात होता है कि इस अवतार की दार्शनिक व्याख्या सर्वशक्तिमान् ऐश्वर्य-सम्पन्न परमात्मा द्वारा हिरण्यच-रूप में मूर्तिमान् ब्रह्मान का नाश करना है।

शिल्पस्तन में लिखा है कि नुवराह शूकर के मुख से शोभित, गदा-मद्य-धारी और अपने दाँत के अग्रभाग पर भूमि देवी को ठाढ़ होना चाहिए। आश्चर्य-विकसित नेत्रों वाली देवी हाथ में नीलोत्पल लिए हुए वराह की बाईं कोहनी पर बैठे हो। उस का एक पैर आदिशेष और दूसरा कमठ (कछुए) पर ठहरना चाहिए। इस ग्रन्थ में भी आधे मनुष्य और आधे शूकर के रूप के सिवा पूरे वराह की आकृति भी मानी गई है। उस में मोटी थूथनी, चौड़े कन्धे, तेज़ दाँत और रोमाञ्चयुक्त विशाल शरीर होना चाहिए।

अग्निपुराण में भी आदिवराह का इस से मिलता-जुलता वर्णन है। इस के अनुसार वराह-प्रतिमा का नारङ्गी के जैसा वर्ण होना चाहिए। उस के दाहिने हाथ में शङ्ख और बाएँ में पद्म अथवा लक्ष्मी रहे। यदि प्रतिमा में लक्ष्मी बनाई जाय, तो भू देवी और शेषनाग उस के चरणों

१. नुवराहोऽथवा कायेरशेषोपरि गतः प्रभुः ।

शेषश्चतुर्भुजः कार्यश्चास्त्रकफ्यान्वितः ॥

बाश्चयोःकुल्लनयनो देववीचण्डलस्परः ।

कर्तव्यो सीरसुसलौ करयोस्तस्य यादव ॥

सर्पभोगश्च वर्तन्यस्तस्यैव रचिताङ्गलिः ।

आसीदस्थानसंस्थानस्तपुष्टे भगवान्भवेत् ॥

धामरान्धिता तस्य योधिद्रुपा वसुन्धरा ।

वमस्कारपरा तस्य कर्तव्या द्विसुजा शृङ्गा ॥

यस्मिन् मुखे वरादेवी तत्र शङ्खकरो सवेण ।

अन्ये तस्य कराः कायाः पद्मचक्रगदाधराः ॥

नुवराहोऽथवा कार्यो व्याले कपिलवस्त्रितः ।

द्विसुजस्त्वथवा कार्यः पिण्डनिर्वपतोद्यतः ॥

समग्रकोटरूपेण बहुदानवमध्यगः ।

नुवराहो वराहश्च कर्तव्यः इमाविदारणः ॥

२. मूर्तिमन्तमनैश्वर्यं हिरण्याचं विदुर्भुजाः ।

ऐश्वर्येणाविवाशेन स निरस्तोऽरिमर्दनः ॥

३. नुवराहं प्रवक्ष्यामि सूकराख्येन शोभितम् ।

गदापद्मचरं धार्म्यं दंष्ट्राग्रिणं ससुन्दरम् ॥

विभ्राणं कोर्परे वामे विसयोःकुल्लोचनम् ।

नीलोत्पलधरां देवीमुपरिष्ठात्प्रकल्पयेत् ॥

दक्षिणं कटिर्दक्षं च बाहुं तस्य प्रकल्पयेत् ।

कूर्मपृष्ठे पदं नैकमन्त्रज्ञाग्रेन्द्रपूर्यधि ॥

अथवा सूकराकारं महाकार्यं कचिच्छिन्नेत् ।

तीक्ष्णदंष्ट्राप्रयोद्यात्यस्कन्धकथोर्ध्वरोमकम् ॥

२५वां पटल ।

के पास होने चाहियें^१ । अग्निपुराण के अनुसार वराह-प्रतिमा स्थापित करने से राज्य-लाभ और भवसागर से मुक्ति मिलती है^२ ।

प्रलयवराह की प्रतिमा में भगवान् सिंहासन पर बैठते हैं । उन का दाहिना पैर लटकता और बाँया मोड़ कर आसन पर रखा होता है । पिछली भुजाओं में शङ्ख-चक्र रहते हैं; सामने का दाहिना हाथ अभयमुद्रा में और बाँया जोड़ पर रहता है । प्रतिमा का वर्ण नीला, वस्त्र पीले और शरीर आमूषणों से सुसज्जित होना चाहिये । वराह भगवान् की मूर्ति पैर रखे हुए भू देवी उस की दाहिनी ओर सिंहासन पर बैठो हो । देवी का वर्ण श्याम और शरीर पर आवश्यक गहने होने चाहियें । दाहिना हाथ आसन पर रख, बाएँ में खपल लिए हुए वह आश्चर्य-युक्त नेत्रों से भगवान् को देखती हो^३ ।

यज्ञवराह की प्रतिमा प्रलयवराह से बहुत मिलती-जुलती होनी चाहिये । वह श्वेत वर्ण की और चतुर्भुज होती है । उस की दाहिनी ओर लेने के वर्ण वाली लक्ष्मी देवी बाएँ हाथ में कमल ले कर वराह भगवान् की भाँति सिंहासन पर बैठती है । प्रलयवराह-प्रतिमा में जहाँ भू देवी बनाई जाती है, वहाँ इस में लक्ष्मी देख पड़ती है । यज्ञ-वराह के बाईं ओर भू देवी रहती है । भू देवी का वर्ण श्याम, बाँया पैर लटकता हुआ और दाहिना मोड़ कर आसन पर रहता है । दाहिने हाथ में नीलोत्पल और बाँया हाथ आसन पर रहता है । भगवान् की ओर मुड़े हुए पृथ्वी देवी के चेहरे से आश्चर्य भक्तकता है^४ ।

विष्णु के राम, कृष्ण आदि प्रसिद्ध अवतारों की भाँति प्राचीन काल से सारे भारत में वराह-पूजा का भी बहुत प्रचार था । इस देश में अनेक स्थानों में वराह-मन्दिर बने हुए थे, जिन में से कुछ अब तक विद्यमान हैं । बहुत से मन्दिर नष्ट हो गए हैं, तो भी उन के खँडहरों से अनेक वराह-प्रतिमाएँ अब तक मिलती हैं, जिन में से कई एक पुरातत्त्व-सम्बन्धी संग्रहालयों में सुरक्षित हैं ।

१. नारदो वाय कथञ्चो मूवराहो गदादिमृत् ।

दक्षिणे वामके शङ्खो लक्ष्मीर्वा पश्यमेव वा ॥ २ ॥

श्रीवामकूर्परस्था तु कुमारान्तो वर्यानुगौ । . ॥ ३ ॥

चतुर्बाहुर्बाह्वस्तु शेषः पादितले प्लवः ।

वारयन्बाहुना पृथ्वा वामेन कमलावरः ॥ ११ ॥

बैकट्यार-टील्क, अ० २० ।

२. वराहस्यापनादान्यं भवाञ्चितार्यं भवेत् ॥ २ ॥

वही आध्याय ।

३. वक्ष्ये प्रलयवराहं वामपादं समाकुण्ठ्य दक्षिणं प्रसार्य सिंहासने समासीनं नीलान्नं शङ्खचक्रभयमगदक्षिणहस्तमूषण-
शिलवामहस्तं पीताम्बरधरं सर्वांगमभूषितं कारयित्वा तस्य दक्षिणे देवीं महीं पादं वाममाकुण्ठ्य दक्षिणं प्रसार्यासीनां पञ्चधरवामहस्तामासने निहित-
सर्वांगमभूषितामुत्पलधरवामकराभासविहितदक्षिणकरां किञ्चिदेवं समीक्ष्य विसर्पोत्कुञ्जलोचना कारयेत् ।

४ अथ यज्ञवराहं श्वेतार्धं चतुर्भुजं शङ्खचक्रधरं वामपादं समाकुण्ठ्य दक्षिणं प्रसार्य सिंहासने समासीनं पीताम्बरधरं सर्वांगमभूषितं कारयित्वा तस्य दक्षिणे देवीं शिखं हेमार्धं वामपादं समाकुण्ठ्य दक्षिणं प्रसार्यासीनां पञ्चधरवामहस्तामासने निहित-
दक्षिणहस्ता वामपादं महीं देवीं सत्यश्यामविभा दक्षिणपादमाकुण्ठ्य वामं प्रसार्यासीनामुत्पलधरदक्षिणहस्तामासने निहितवामहस्तां देवं किञ्चित्समीक्ष्य विसर्पोत्कुञ्जलोचना कारयेत् ।

भारतवर्ष में एक से अधिक स्थानों के साथ बराह का महत्त्व सम्बद्ध है। युक्तप्रान्त में एटा से २७ मील उत्तर-पूर्व में गङ्गा-तट पर सोरों नामक प्रसिद्ध हिन्दू-तीर्थ है, जिस का प्राचीन नाम शूकरचेत्र^१ है। बराह-पुराण के अनुसार विष्णु ने इसी स्थान पर बराह-रूप ग्रहण कर अपने दाँत से पृथ्वी का उद्धार किया था^२। यहाँ बराह का एक मन्दिर बना हुआ है। भक्त-प्रवर गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने बाल्य-काल के पाँच वर्ष यहाँ बिताए थे^३ और यही उन्होंने अपने गुरु नरहरिदासजी^४ से पहले-पहल रामायण की कथा सुनी थी^५। काश्मीर में भेलम नदी के दक्षिण तट पर बसे हुए बारामूला के आसपास का प्रदेश भी बराहचेत्र^६ कहलाता है। बारामूला संस्कृत के बराहमूल^७ का अपभ्रंश है। कहते हैं, विष्णु के बराह अवतार का यहाँ

१. नंदाल दे—जिर्माफ्रिकल डिक्शनरी ऑफ् एंथ्रॉपेट्रोलॉजी मेडिपल इंडिया (दूसरा संस्करण), पृ० १३५-३६, २५८।

२. सम चेत्रं परञ्चैव शुद्धं सागवतप्रियम् ॥ ५ ॥

परं सौकरवं स्थानं सर्वसंसारमोक्षणम् ।.....॥ ६ ॥

यत्र संस्था च मे देवि ह्युद्धतासि रसातलाद् ।

यत्र आगीरथी गङ्गा सम सौकरवे स्थिता ॥ ७ ॥

अ० १३७ (वेंकटरवर-संस्क०)।

३. रावबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास और पीताम्बरदत्त बड्ढवाल—गोस्वामी तुलसीदास (हिन्दुत्वामी पुर्कोडमी, इलाहाबाद), पृ० ४०।

४. रामचरितमानस (सटीक), इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग (प्रथम संस्करण), भूमिका-भाग, पृ० २०; गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ३७। बेयीमाधवदास के 'गोसाई'-चरित' के अनुसार तुलसीदासजी के गुरु का नाम नरहयानन्द था। वही पृ० ३८।

५. मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकरखेत।

समुन्नी नहिं तसि बाळपन तब अति रहैँ अचेत ॥ ४३ ॥

रामचरितमानस, बाळकाण्ड।

बेयीमाधवदास के मतानुसार इस सूकरखेत की स्थिति सरयू और वावरा के संगम पर है। यह सूकरखेत सोरों से निज होना चाहिये।

६. नंदाल दे—जिर्माफ्रिकल डिक्शनरी ऑफ् एंथ्रॉपेट्रोलॉजी मेडिपल इंडिया, पृ० २३।

कदम्ब-कुल राजतरंगिणी में बराहचेत्र और बराहमूल का कई स्थानों में उल्लेख मिलता है।

मदुं ययौ च बाराहचेत्रं यत्र विद्यापकः ।...॥ १८६ ॥

नवावमानखिन्नाः स मिहितानन्तदैविकः।

प्रयागवृत्त्य ततो मानी बाराहं चेत्रमाययौ ॥ २०४ ॥

डॉ० स्टाइन-सम्पा० संस्क०, बृहदा तरंग।

बराहचेत्र एवं बराहमूल के भौगोलिक एवं ऐतिहासिक विवरण के सम्बन्ध में डॉ० डॉक्टर सर आर्थर स्टाइन—ए. आर्चिबाल्ड ऑफ् दि किंग्डम ऑफ् कश्मीर वि० १, पृ० २५१, डिम्पल ३८६ और वि० २, पृ० ४८२-८३।

७. बराहमूल प्रविशजागतां द्विषतां बडाल् ।...॥ ३३०६ ॥

राजतरंगिणी (स्टाइन-सम्पा०), सप्तमं तरंग।

...बराहमूलं संप्राप कथंविद् प्रस्थितिं भजन् ॥ ४५१ ॥

बराहमूलैव समं तल्ल सैन्यमब्रुवन् ॥ ४५२ ॥

बराहमूलं सम्प्राप्तमयातः प्रियं सुतम्।

आश्लिष्य विषयो राजा बभूवानन्दशोकयोः ॥ १२२६ ॥

वही, आठवां तरंग।

आविर्भाव हुआ था। यहाँ आदिबराह का एक मन्दिर है। बाराभूला के पास वाले बराह पर्वत का नाम भी इस अवतार के सम्बन्ध के कारण पड़ा होगा। बङ्गाल के पुर्निया जिले में नाथपुर के पास तमोर, अरुण और सुनकोशी नदियों के सङ्गम पर भी एक स्थान बराहचेत्र^१ कहलाता है। यह बराहचेत्र पुराण-वर्णित कोकामुख^२ है। इन उदाहरणों से यह जान पड़ता है कि प्राचीन काल में इस देश में ऐसे अनेक स्थान विद्यमान थे, जिन की प्रसिद्धि बराह-अवतार के सम्बन्ध से हुई। इसी तरह कुछ गाँव, पर्वत आदि के साथ बराह नाम मिलाता है। दक्षिण के राष्ट्रकूट-वंशी राजा गोविन्द द्वितीय के राधनपुर से मिले हुए शक संवत् ७३० के दानपत्र में रत्नजुष गाँव की सीमा बतलाते हुए उत्तर में बराह ग्राम^३ का उल्लेख है, जो डॉ० कीलहॉर्ने के मतानुसार बम्बई प्रान्त का वर्तमान बरगोंव^४ होना चाहिए। अजमेर के राजपूताना म्यूजियम में रखे हुए कन्नौज के रघुवंशी प्रविहार राजा महेन्द्रपाल द्वितीय (ई० स० की दसवीं सदी) के वि० सं० १००३ के शिलालेख में बराहपल्ली^५ गाँव का उल्लेख है। मद्रास प्रान्त के गञ्जाम जिले के अच्युतपुरम् से मिले हुए गङ्गवंशी इन्द्रवर्मन् प्रथम के दानपत्र में बराहवर्त्तनी^६ नामक जिले के सिद्धार्थक गाँव का कुछ भ्रंश दान में दिए जाने का निर्देश है। मद्रास म्यूजियम के गङ्गवंशी बल्लहस्त द्वितीय के, शक संवत् ८८४ के, दानपत्र में भी इस जिले का नाम मिलता है^७। गङ्गवंशियों के कई अन्य दानपत्रों में भी इसका उल्लेख है^८। गञ्जाम जिले के नङ्गाम से

१. इस्तीख़्क़ टूस आबू विष्णु—प्रा० ध० प्र०, वि० ७, पृ० २२६, टि० १।

२. नन्दबाळ दे—जिर्वाग्राफिकल डिक्शनरी, पृ० २३, १०१ और १०७।

३. श्रीवराह उवाच—

भास्ति कोकामुखाचेत्रं श्रेष्ठं कोकामुखाच्छुचि ।
भास्ति कोकामुखात्स्थानं भास्ति कोकामुखात्प्रियम् ॥ १० ॥
मम सा परमा मूर्तिर्यां न जानन्ति गोपिताम् ।
स्मिन् कोकामुख नाम पुराणे कथितं मया ॥ १३ ॥
च० पु०, अ० १७०।

ततो गच्छेत् धर्मज्ञ बाराहं तीर्थमुत्तमम् ।
विष्णुर्बाराहरूपेण पूर्वं यत्र स्थितो विष्णुः ॥ १८ ॥
तत्र स्नात्वा वरमेष्ट अग्निष्टोमफलं स मेत् ।

म० भा० (कुम्भकोपग्रन्थक०), वनपर्व, अ० ८१।

४. ...उत्तरतः बराहग्रामः... (पंक्ति ४६)। पृ० पु०, जि० ६, पृ० २७६।

५. बही, जि० ६, पृ० २७१-७२।

६. दक्षिणस्थानं विधि न पलासकृपिकाचेत्रान्तर्गतं बराहपत्तिग्रामवर्म (पंक्ति २८-२९)। पृ० ई०, जि० १४, पृ० १८७।

७. बराहवर्त्तन्यां सिद्धार्थकग्रामे (पंक्ति ८)।

पृ० ई०, जि० ३, पृ० १२७-२८।

८. बराहवर्त्तन्यां। तामरचेष्टग्रामो नाम (पंक्ति ४३-४४)।

पृ० ई०, जि० ६, पृ० ६८।

९. ई० भा०, जि० १३, पृ० १२०, २७३।

प्राप्त उपर्युक्त वज्रहस्त को, शक संवत् ८७६ के, दानपत्र में बराहवर्चनी को स्थान में कोलवर्चनी^१ प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत में 'बराह' और 'कोल' एक ही अर्थ के सूचक हैं^२। महाभारत से जान पड़ता है कि मगध राज्य की प्राचीन राजधानी गिरिज (अथवा राजगृह) नगर पाँच पहाड़ियों से घिरा हुआ था, जिन में एक का नाम बराह^३ था। इस से अनुमान होता है कि उक्त पहाड़ी पर बराह का कोई मन्दिर भी रहा होगा।

यहाँ कुछ ऐसे प्राचीन स्थानों का उल्लेख युक्तिसङ्गत जान पड़ता है जहाँ बराह अवतार की उच्छ्रष्ट प्रतिमाएँ मिलती अथवा मिली हैं। ग्वालियर राज्य के भेलसा ज़िले में भेलसा से चार मील, २३' ३२' उत्तर अक्षांश और ७७' ४६' पूर्व देशान्तर पर, बेतवा और बेश नदियों के बीच उदयगिरि नामक प्राचीन स्थान है, जहाँ पहाड़ी में काट कर बनाई हुई गुफाएँ और आसपास के बौद्ध भग्नावशेष पुरातत्त्ववेत्ता के लिए दर्शनीय हैं। गुफाओं में से चौथी में नरबराह की एक विशालकाय प्रतिमा दीवार पर पत्थर को काट कर बनाई गई है^४। इस का समय ई० स० ४०० के आसपास^५ माना जाता है। यह गुप्तकालीन तक्षण-कला एक उच्छ्रष्ट नमूना है।

विहार के गया ज़िले में सकरी नदी के दक्षिण तट पर अफसड़ (या अफसण्ड) नामक गाँव में, जिसे जाफ़रपुर भी कहते हैं, बराह अवतार की एक गुप्तकालीन प्रतिमा मिली है^६। शिल्प और सुन्दरता के कारण भारत की अत्यन्त सुन्दर प्रतिमाओं में इस की गणना होती है^७। अफसड़ में गुप्तकाल के अनेक प्राचीन देवालय हैं, जिस से अनुमान होता है कि प्राचीन काल में वहाँ बराह का कोई अन्य मन्दिर अवश्य रहा होगा।

मध्यप्रदेश के सागर ज़िले में परग (संस्कृत परिकिण) नामक प्राचीन गाँव में गुप्तकाल में एक बराह-मन्दिर था, जिस को भग्नावशेष वहाँ अब तक विद्यमान हैं। गाँव से आधे मील पश्चिम में प्राचीन मन्दिरों का समूह है, उस के दक्षिण अन्त की ओर एक दूटे हुए मन्दिर में लाल पत्थर की भूवराह की ११ फुट ऊँची और १२^१/_४ फुट लम्बी मव्य, पूर्वाभिमुख एवं प्रेक्षणीय मूर्ति^८ है, जिस के शरीर पर हज़ारों छोटे-छोटे देवता खोदे गए

१. कोलवर्चनीविषये जुगिलग्रामः प्रदत्तः—(पक्षि २७)।

ए० ई०, जि० ३, पृ० १६२।

२. वही, जि० ३, पृ० १८२, टिप्पण्य २।

३. वैद्यों विपुलः शैलो वाराहो वृषभस्तथा।

तथा ऋषिगिरिस्तात शुभादचैत्यकपङ्कमाः ॥ २ ॥

एते पञ्चमहाश्वेताः पर्वताः शीतलदुनाः।

रचन्तीवामिर्सहस्रं संहस्राणा गिरिजय ॥ ३ ॥

कुम्भकोयल-संस्क० समापूर्व, अ० २१।

सा० पु० में भी एक बराहादि का उल्लेख है। दे० सर मेनियर-बिलियन्स—ए संस्कृत-हिन्दीय डिक्शनरी (नवीन संस्क०), पृ० ६२३।

४. इंग्लिशक गैज़ेटियर ऑफ् इंडिया लि० २३, पृ० १०८-०९। कनिंगहम—आ० स० रि०, जि० १०, प्लेट १८। बर्नेस—दि एन्ट मोन्ट्युमेंट्स, टेंपल्स ऐंड स्क्वैरर्स ऑफ् इंडिया (१८९० ई०), प्लेट २१६-१७। डॉ० कुमार-स्वामी—विरचकर्मा (संद्वन १९१४), प्लेट ६६। डॉ० कुमारस्वामी—हिस्ट्री ऑफ् इंडियन ऐंड इंडोनेशियन आर्ट, चित्र-संख्या १७४।

५. वही, पृ० ८२।

६. एजिट—सा० अ० स०, जि० ३, पृ० २०१। इंग्लिशक गैज़ेटियर ऑफ् इंडिया, जि० २, पृ० ६६।

७. वही।

८. इस के चित्र के लिए दे० रायचहादुर डॉ० हीराबालजी-रचित सागर-सरोज, पृ० १३।

हैं। बराह के दाहिने दाँव पर स्त्री-रूपी पृथ्वी देवी देख पड़ती है। इस की गर्दन के ऊपरी भाग में एक छोटा सा चौकोना देवाल्लय बना है, जिस के प्रत्येक पार्श्व में एक-एक छोटी प्रतिमा बैठी है^१। इस भव्य एवं अति प्राचीन बराह-प्रतिमा के सम्बन्ध में यह विशेष उल्लेखनीय है कि इस के शरीर पर २' ६" लम्बे और १०^३/_४" चौड़े स्थान में एक गद्यमय संस्कृत लेख^२ की आठ पंक्तियाँ खुदी हुई हैं। इस लेख में अक्षरों में हूण नृपति तार-माण के राज्य-काल के प्रथम वर्ष के फाल्गुन मास की दशमी तिथि का निर्देश है (इस में कोई संवत् नहीं दिया गया)। यह एक वैष्णव लेख है, जिस से जान पड़ता है कि स्वर्गीय महाराजा मातृविष्णु के अवसान के पश्चात् उस के छोटे भाई धन्यविष्णु ने विष्णु का वह मन्दिर बनवाया, जिस में यह विशाल प्रतिमा खड़ी थी।

मद्रास प्रान्त में मद्रास से तीस मील दक्षिण में चिङ्गलपट जिले में समुद्र-तट पर महाबलिपुरम् (मामल्ल-पुरम्) नामक स्थान है, जो पाण्ड्यवंशी राजाओं की प्राचीन राजधानी थी। वहाँ चट्टानों को काट कर अत्यन्त सुन्दर गुहा-मन्दिर बने हुए हैं और शिलाओं पर यत्र-तत्र तक्षक-कला के उत्तम नमूने देख पड़ते हैं। इन में से एक आठ स्तम्भ वाली बराह-गुफा में दीवार पर बराह अवतार की बहुत सुन्दर प्रतिमा खोदी गई है^३।

बम्बई प्रान्त के बीजापुर जिले में कृष्णा-नदी की शाखा मलप्रभा के पास बादामी (प्राचीन वातापीपुर) की, जो दक्षिण के चालुक्यों की प्राचीन राजधानी थी, गुफाओं में से तीसरी में अनेक मूर्तियाँ खुदी हुई हैं, जिन में बराह की प्रतिमा^४ प्रमुख एवं उल्लेखनीय है।

सम्यप्रदेश के रायपुर जिले के राजिम नामक स्थान में चालुक्यों के राज्य-काल की नृबराह की एक सुन्दर प्रतिमा है। इस में बराह के चार हाथ हैं, जिन में बाएँ की कोहनी पर भू देवी देख पड़ती है। प्रतिमा-शास्त्र के ग्रन्थों में वर्णित बराह-लक्षणों से इस में केवल यही भिन्नता है कि यहाँ आलीढासन में बैठे हुए आदिशेष बराह भगवान् को अपने फन के स्थान में दोनों हाथों पर धामे हुए हैं। पास की शिला पर नागकुल देख पड़ता है, जिस में नाग अञ्जलिबद्ध हो कर नृबराह का सम्मान कर रहे हैं^५।

बेलूर (मैसूर राज्य) के चेशकेश्वर-मन्दिर में बराह हाथ वाली बराह-प्रतिमा^६ है। दाहिनी ओर के द्वारों में (नीचे से) दानव हिरण्याक्ष के शरीर में लाला हुआ शूल, अङ्गुश, घण्ट, खड्ग, चक्र और वाण हैं। बाईं ओर के हाथों में से दो में फल (नींबू) और खेटक देख पड़ते हैं। तीसरे हाथ की वस्तु अस्पष्ट है। चौथा

१. आ० अ० सं०, जि० ३, पृ० १२३।

२. वही, पृ० १२३-२४।

३. इसके आरम्भ में बराह अवतार की स्तुति में लिखा है कि—

जयति करण्युदारणे जनवेपाषाणवृष्णितमहीम् ।

देवे बराहमूर्तिस्त्रैलोक्यमहागृहकम्मः ॥ (पंक्ति १) ।

४. आ० सं० इ० १४१०-११, पृ० २६-२७ और प्लेट २३ (सी) । कुमारस्वामी—हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन ऐंज इवेलेमेणियन आर्ट, पृ० १०२। रावबहादुर कृष्ण शास्त्री—साम्ब इंडियन इमेजेज ऑफ़ गॉड्स ऐंज गोबेसेज, पृ० २३।

५. गोपीनाथ राव—ऐलिमेंट्स ऑफ़ हिन्दू आइकोनोग्राफी जि० १, भाग १, पृ० १४०, प्लेट ३७। इ० आ०, जि० ६, पृ० ३२४ के सामने की प्लेट, चित्र-संख्या २। विष्णुवर्मा, भाग ६, संख्या ६३।

६. वही, पृ० १४१ और प्लेट ३८।

७. वही, पृ० १४३-४४ और प्लेट ४१, चित्र-संख्या २।

पृथ्वी को पैर को थामे हुए है। पाँचवें में शङ्ख है और छठा विषय सूचित कर रहा है। भगवान् बराह को पैरों से दो असुर कुचले जा रहे हैं। सामने अञ्जलि-बद्ध भू देवी खड़ी है, जिस का सिर टूट गया है। यह प्रतिमा अधिक पुरानी नहीं है, किन्तु इस में बारीक खुदाई देख पड़ती है।

हिन्दुओं के तीर्थ-गुरु पुष्कर (अजमेर से सात मील पश्चिम) में आदिवराह का एक प्राचीन मन्दिर था, जिस में मेवाड़ के महाराणा मेकल (वि० सं० १४०८-८५) ने सोने का तुलादान किया था^१। मुगल बाद-शाह जहाँगीर ने अपनी दिनचर्या की पुस्तक—तुजुके जहाँगीरी—में लिखा है—“पुष्कर के तालाब के चौरफ़ हिन्दुओं के नष्ट-पुराने मन्दिर हैं।.....उन में से एक को राणा सङ्कर (सगर) ने, जो बिन्ही अमर (अमरसिंह) का चाचा और मेरे बड़े सरदारों में से एक है, एक लाख रुपये व्यय कर बनवाया था। मैं उस मन्दिर को देखने गया। उस में श्याम पत्थर की एक प्रतिमा थी, जिस का गईन से ऊपर का भाग सूअर के जैसा और शेष मनुष्य का था।.....उसे तुड़वा कर मैंने तालाब में डलवा दिया^२।”

अजमेर ज़िले के बवेरा (प्राचीन व्याघ्रेरक) नामक स्थान में बराह का एक प्राचीन मन्दिर था, जो सुसलमानों के राज्य-काल में तोड़ा गया। फिर महाराणा अमरसिंह के समय (सन् १५६७-१६२० ई०) रावत मेघसिंह (कालीमेघ) चूड़ावत ने उस का जीर्णोद्धार करवाया^३। अब तक अजमेर-मेरवाड़े में इस मन्दिर की बहुत प्रसिद्धि है। इस में चमकते हुए श्याम पत्थर की शूकर बराह की एक विशाल-काय एवं सुन्दर मूर्ति है, जिस के सारे बदन पर देवताओं की असंख्य छोटी-छोटी मूर्तियाँ खुदी हैं। महामहोपाध्याय रायबहादुर पण्डित गौरीशङ्कर हीराचन्दजी बोम्भा का कथन है कि उन की देखी हुई भूवराह की सब मूर्तियों में यह सब से अधिक सुन्दर है। इस मन्दिर में अब तक पूजा होती है और प्रतिवर्ष कार्तिकी पूर्णिमा को यहाँ बड़ा मेला लगता है।

मेवाड़ के महाप्रतापी एवं विद्वान् महाराणा कुम्भकर्ण (कुम्भा, ई० सं० १४३३-६८) ने चितौड़ के इतिहास-प्रसिद्ध दुर्ग पर आदिवराह का मन्दिर बनवा कर^४ अपनी विष्णु-भक्ति का परिचय दिया था। इस की असली प्रतिमा इस समय विद्यमान नहीं है, किन्तु भीतरी परिक्रमा के पिछले वाक में बराह-प्रतिमा होने से इस के गर्भ-गृह की असली प्रतिमा के सम्बन्ध में ठीक अनुमान हो सकता है। इस समय लोग इस को कुम्भ-

१. काचित्स्थाय पृथिव्यावरतिथौ योदाक्षुतां कांचनौ

शास्त्रज्ञः प्रथमं..... .।

देवं पुष्करतीर्थसाचिधमसुं नारायणं शम्भवं

रूपेणादिवराहमुत्तमतरैः स्वर्गादिकैः पूजयन् ॥ १७ ॥

श्रु गी छापि का शिलालेख (अप्रकाशित)।

२. राँबलै—मेवाँयलै आँज जहाँगीर (तुजुके जहाँगीरी का अंगरेज़ी अनुवाद), जि० १, पृ० २५४।

इस मन्दिर में महाराणा मेकल के तुलादान करने से यह लिखित है कि यह राणा सगर से बहुत समय पूर्व बन चुका था; अतएव इस के निर्माण-काल के सम्बन्ध में बादशाह जहाँगीर का उक्त कथन शुद्ध जान पड़ता है।

३. महामहोपाध्याय रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचन्दजी बोम्भा—राजपूताने का इतिहास जि० २, पृ० ८१७, टि० २।

४. अकारयणादिवराहगोहमेकधा औरमण्य मूर्तिः ॥ ३१ ॥

कीर्तिस्त्वम् की प्रशंति (अप्रकाशित)।

श्याम का मन्दिर कहते हैं। गुजरात के प्रवाषी राजा कुमारपाल सोलङ्की ने भी चितौड़ पर एक वराह-मन्दिर^१ बनवाया था, किन्तु अब उस का वहाँ पता नहीं चलता।

भालावाड़ राज्य में चन्द्रभागा नदी के तट पर चन्द्रावती नामक प्राचीन नगरी थी, जहाँ अब भी अनेक प्राचीन अवशेष देख पड़ते हैं। बहुत बरस पहले वहाँ भूवराह की एक अत्यन्त सुन्दर प्रतिमा थी, किन्तु वि० सं० १६५६ के देशन्यापी दुर्भिक्ष में, उस के पेट में धन की शङ्का होने से, किसी ने लोभवश उसे तोड़ डाला। उस का शेष भाग—जिस में केवल शेषनाग, वराह के चारों पैरों के चिह्न और भूदेवी का आधा शरीर है—महा-महोपाध्याय रा० ब० गौरीशङ्कर हीराचन्दजी भोक्ता सन् १६०८ ई० में वहाँ से अवमेर के राजपूताना म्यूजियम के लिए ले आए। इस के आसन पर खुदे हुए लेख से नवाँ शताब्दी में चन्द्रावती में वराह-मन्दिर के अस्तित्व का पता चलता है।

बाँसवाड़ा राज्य के अर्धुणा नामक पुराने कस्बे में भी एक प्राचीन वराह-मन्दिर था, जिस की प्रतिमा इस समय राजपूताना म्यूजियम में सुरक्षित है। कोटा राज्य में भी कई एक वराह-मन्दिर थे, जिन की प्रतिमाएँ यज्ञ-यज्ञ विलरी पड़ी हैं। आनूप पर्वत के नीचे परमारों की प्राचीन राजधानी—चन्द्रावती—में कई वराह-मन्दिर थे। चन्द्रावती के देवालये से लोग उन की प्रतिमाएँ आसपास के गाँवों में ले गए, जहाँ वे आज भी देख पड़ती हैं। इन में से शूकराकृति वराह की एक प्रतिमा को इन पंक्तियों के लेखक ने रोहेरा गाँव में लक्ष्मी-नारायण-मन्दिर के बाहर देखा है। जोगपुर राज्य के फत्तोदी नगर की वराह-प्रतिमा कला का एक उत्कृष्ट नमूना है। वराह की शरीर-गठन, उस के खड़े रहने का आकर्षक दृढ़, आभूषणों की बारीक खुदाई और पैरों हुए कमल-पत्र के नीचे नागदेवता द्वारा उन के निवासस्थान—पाताललोक—का प्रदर्शन आदि इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय हैं^२।

मध्यभारत में उज्जैन नगर अपने प्राचीन गौरव के लिए भारत भर में प्रसिद्ध है। सुप्रसिद्ध द्वादश ज्योतिर्लिंगों में से महाकाल का मन्दिर यहाँ है। इस प्राचीन नगरी के अवशेषों की खुदाई होने पर किसी दिन भविष्य में अनेक विक्रमकालीन पुरातन वस्तुएँ एवं इतिवृत्त प्राप्त होंगे। अब तक ग्वाल्हियर राज्य के पुरातत्त्व-विभाग की ओर से उज्जैन में खुदाई नहीं हुई है, तो भी वहाँ अनेक वराह प्रतिमाएँ मिली हैं। इधर कुछ

१. कुमारपालदेवालय. अमोलाख्यादि नन्दन।

नीतिरेव प्रिया यस्य सप्तमेष्टि कारिणी ॥ (पृ० ११-१२)।

... .. सौतेरा प्रासाद कारावास ॥

विष्णु[वा]सि ववाप्यथा विष्णु. सोयं वराहो हरि-

भूभारं विभारं चकार... .. लच्छीकथा। (पृ० २१)।

सोढकी कुमारपाल का, चितौड़गढ़ का, शिलाखेख (अप्रकाशित)।

इस लेख के प्रारम्भ में वराह-स्तुति करते हुए लिखा है—

रसातलान्तर्बुधसुजिहीषो. कोलस्य दंष्ट्रा वदनैकदेशे।

नवदुल्लेखेव... .. (पंक्ति १)।

२. पेकिमेंट्स ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी जि० १, भाग १, प्लेट ३६, चित्र-संख्या २।

वर्षों से बज्जैन में मिलने वाली खण्डित एवं अखण्डित प्राचीन मूर्तियों का महाकाल-मन्दिर को एक भाग में संग्रह हो रहा है, जिन में शूकर-वराह की भी एक प्रतिमा है। लेखक ने महाकाल-मन्दिर को संग्रह को सन् १८३२ ई० में देखा है। कोई दो वर्ष पूर्व बज्जैन-निवासी पुरातत्त्व-प्रेमी पं० सूर्यनारायणजी व्यास ज्योतिषाचार्य को दो वराह-प्रतिमाएँ मिली थीं, जिन की सूचना उन्होंने मुझे भेजी थी। इन्दौर राज्य के भानपुरा परगने में भानपुरे से छः मील पर कोहला^१ गाँव प्राचीन अबसोवों के लिए प्रसिद्ध है। कोहला के अनेक प्राचीन देवालयों में वहाँ का वराह-मन्दिर सब से बड़ा और वास्तु-कला की दृष्टि से सुन्दर बना हुआ है। इस समय तक मन्दिर का समा-मण्डप और गर्भगृह विद्यमान है और वहाँ नियमानुसार पूजा होती है। ई० स० १८३० के फरवरी मास में लेखक ने इस के गर्भगृह में वराह की एक अत्यन्त सुन्दर प्रतिमा देखी थी। सुप्रसिद्ध पुरा-विद् राखालदासजी बन्योपाध्याय, एम० ए० (स्वर्गीय) के मतानुसार यह वराह-प्रतिमा सन् १८२० ई० तक वन को मिली हुई सब वराह-मूर्तियों में सर्वोत्तम है^२। कोहला से लगभग तीन मील पर निर्जन वन में बूखर नामक एक पुराने क़स्बे को खण्डहर हैं, जहाँ सन् १८३० ई० में मुझे शूकर-वराह की एक विशाल एवं उत्कृष्ट प्रतिमा मिली थी^३। तत्पश्चात् वह मेरे प्रयत्न से इन्दौर-म्यूजियम् के लिए मँगवा ली गई^४। पाठक उसे चित्र-संख्या पाँच में देख सकते हैं। इन्दौर-म्यूजियम् के अनेक दर्शक उसे देख कर बहुत प्रसन्न होते हैं। साहित्याचार्य पं० पद्मसिंहजी शर्मा (स्वर्गीय) अपनी इन्दौर-यात्रा के समय (सन् १८३० ई०) इस प्रतिमा को देख कर मुग्ध हो गए और इन्दौर से लौटते समय उन्होंने मुझे वचन दिया था कि अपनी मालव-यात्रा के संस्मरणों में वे इस विशाल एवं सुन्दर वराह-प्रतिमा का बल्लेख कदापि न भुलाएंगे^५। काल की कुटिल गति से असमय में ही शर्माजी का देहान्त हो गया और, खेद है, मालव-यात्रा के संस्मरण उन की चमत्कार-भरी लेखनी से न लिखे जा सके! अस्तु। उल्लिखित पंक्तियों से यह माली भाँति मालूम होता है कि प्राचीन काल में भारत में और से छोर तक वराह-पूजा प्रचलित थी। सुदूर ब्रह्मदेश* (बर्मा) भी इस का अपवाद न था। वहाँ के प गा न नगर (= अरिमदनपुर—सम्पादक) की शहरपनाह के दक्षिण-पूर्व कोने में कई बौद्ध मन्दिर हैं; वन में से नत्-झौड़-वयौड़ नामक दसवीं सदी के देवालय की बाहरी दीवार में कई ताक बने हुए हैं, जिन में से एक में नरवराह की एक प्रतिमा है^६। यह बनावट में भद्दी है।

वराहपुराण में मथुरा-माहात्म्य के अन्तर्गत कपिलवराहमाहात्म्य-शीर्षक १६३वाँ अध्याय है। उस में वीस योजना के मथुरा-मण्डल के आसपास के तीर्थस्थानों का बल्लेख करते हुए वराह भगवान् पृथ्वी देवी से

१. प्रोफ़ेस रिपोटे ऑव् दि आ० स० प० आ०, सन् १८२० ई०, पृ० ८३-८७।

२. वही, पृ० ८४।

३. दि इन्दौर स्टेट मैजिस्टियर (नवीन संस्करण, सन् १८३१ ई०), जि० २, पृ० ३।

४. वही, पृ० १०।

५. वीणा, वर्ष ४, अंक ११ (सितंबर १८३२) में लेखक का 'स्वर्गीय पण्डित पद्मसिंह शर्मा (संस्मरण)' शीर्षक लेख, पृ० ८७७।

६. ब्रह्मदेश कहीं का नाम नहीं है। अँगरेज़ी बर्मा न्यम्स-देश का विगाढ़ा हुआ रूप है।—सम्पादक।

६. आ० स० ई० सन् १८१२-१३ ई०, पृ० १३७ और प्लेट ७६, चित्र-संख्या (५)।

कहते हैं कि दक्षिण में केशव (विष्णु) के आकार जैसी मेरी सुन्दर, विशालकाय एवं दिव्यरूपिणी प्रतिमा है, जिस के दर्शन से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। सत्य-युग में मान्धाता नामक राजा ने अपनी भक्ति से मुझे सन्तुष्ट किया, तब मैंने यह प्रतिमा उसे दे दी। वह नित्य इस की भक्तिपूर्वक पूजा किया करता था। मथुरा में लवणासुर का वध हुआ, तब वहाँ उक्त प्रतिमा की प्रविष्टा हुई। कपिल नामक भक्त ब्रह्मर्षि ने इस छुम बराह-प्रतिमा का अपने मन से निर्माण किया था। वह सदा इसकी पूजा किया करता। इन्द्र ने कपिल मुनि को प्रसन्न किया, जिस से उस ने यह दिव्य प्रतिमा सुरराज को दे दी। उस की नियमपूर्वक पूजा करने से इन्द्र को दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ। फिर बहुत समय बीतने पर एक बार रावण स्वर्ग-विजय के लिए इन्द्रलोक को गया, वहाँ उस ने युद्ध में इन्द्र सहित सब देवताओं को जीत लिया। इन्द्र को धन्वी कर रावण ने उस को रत्न-भूषित भवन में प्रवेश किया। वहाँ उक्त बराह-प्रतिमा को देखते ही उसे सम्मोह हो गया। उसे प्रसन्न करने के लिए वह नाना प्रकार से स्तुति करने लगा। तब भगवान् जनार्दन ने सौम्य रूप धारण किया। लौटते समय पुष्पक विमान में बैठ कर रावण ने उक्त प्रतिमा को अपने साथ ले जाना चाहा, किन्तु वह अपने स्थान से नहीं हटी। इस पर रावण विस्मयपूर्वक सोचने लगा कि पूर्वकाल में भगवान् शङ्कर के साथ उस ने कैलास को उठा लिया था; किन्तु इस बार एक साधारण सी प्रतिमा को भी अपने स्थान से न हिला सका! तब कपिलबराह ने रावण से कहा कि हे राक्षस! तू तो भवैष्याव है, तुझ में इतनी शक्ति कहीं से आई? इतने में रावण ने प्रतिमा के दर्शन से अपने में भक्ति का सञ्चार होना प्रकट किया। रावण की भक्ति से उस का रूप छोटा हो गया। फिर रावण उसे लङ्का में ला कर उस का नित्य पूजन करने लगा। मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र ने रावण को मार कर लङ्का में विभीषण का राज्यारम्भिक किया, तब वह प्रतिमा विभीषण से सांग ली। रामचन्द्र उसे अयोध्या ले गए। अयोध्या में उस की स्थापना हुई, वहाँ उसका नित्य पूजन होता था। इस तरह १०१० वर्ष बीत गए। फिर लवण का वध करने के लिए राम ने शत्रुघ्न को चतुर्दिक्षी सेना के साथ मथुरा भेजा। लवणासुर को मार कर शत्रुघ्न ने मथुरा में प्रवेश किया। लवण-वध सुन कर श्रीरामचन्द्र बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने शत्रुघ्न से वर माँगने को कहा। शत्रुघ्न ने बराह भगवान् की याचना की, तब राम ने उन्हें उसे मथुरा ले जाने की अनुमति दी। तदनन्तर शत्रुघ्न ने उसे मथुरा में स्थापित किया।

इस कथा के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि पुराणोक्त स्थल-माहात्म्य प्रायः पोल्ले से चोपक-रूप में जोड़े गए हैं। वैसे तो कई पुराण अधिक प्राचीन नहीं हैं, और बराहपुराण की भी उन में गणना होती है। मथुरा के सम्बन्ध में परिश्रम-पूर्वक ग्रन्थ-निर्माण करने वाले हिन्दी-प्रेमी कलैन्टर आठल साहब के मतानुसार मथुरामाहात्म्य चोपक-ग्रंथ है^१; उन का यह मत असङ्गत नहीं प्रतीत होता। ऐसी दशा में कपिलबराह की कथा में सत्याश कितना है, वह प्रश्न हम विद्व पाठकों के निर्णय के लिए छोड़ते हैं। अस्तु।

यह पहले बतलाया गया है कि विष्णु के राम, कृष्ण आदि अवतारों की तरह बराह अवतार में भी हिन्दू-धर्मावलम्बियों की पर्याप्त श्रद्धा थी और जनता में भक्तिपूर्वक बराह-पूजन होता था। इतिहास से पता चलता है कि इस देश में अनेक बराह-भक्त राजा थे। जिस तरह परमार्थों का कुल-निह्व गुरु है, वही प्रकार दक्षिण के चालुक्यों और विजयनगर के राजवंश का राजचिह्न बराह था। इन वंशों के राजाओं के दानपत्रों पर लगी हुई मुहरों में बराह

१. मथुरा, ए. डिस्ट्रिक्ट मेमोरियल (द्वितीय संस्करण), पृ० ७४।

देख पड़ता है^१; इतना ही नहीं किन्तु इन के दानपत्रों के प्रारम्भ में बराह-स्तुति भी मिलती है, जिस के कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं। बम्बई प्रान्त के थाना ज़िले के सब्जान नामक स्थान से प्राप्त पश्चिमी चालुक्यवंशी राजा बुद्धवर्ष के दानपत्र के आरम्भ में 'ॐ अमरसङ्काशकाय भीषणरक्तांतलोच..... शिखण्डानतं जयतु सदा बराहकृपम्'^२ लिख कर बराह-स्तुति की गई है, और उसी ताम्रलेख की पाँचवीं पंक्ति के 'प्रत्ययो बराहलाञ्छनं च चालुक्यानाम्' इस वाक्य-खण्ड से हमारे उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। मद्रास प्रान्त के कृष्णा ज़िले के पोलमोरु स्थान से मिले हुए पूर्वी चालुक्यवंशी राजा बादप के दानपत्र का 'भगवन्नारायणप्रसादसमासादितबराहलाञ्छनेचण्णवशी-कृतारातिमण्डलानां.....चालुक्यानां कुलमलंकरिष्णोः'^३ (पंक्ति १-४), यह वाक्य भी हमारे कथन का पोषक है। बम्बई प्रान्त से धारवाड़ ज़िले के सूखी गाँव के जोडुकलशदगुडि नामक मन्दिर में लगे हुए दक्षिण के पश्चिमी चालुक्यवंशी राजा सोमेश्वर प्रथम के शक संवत् ८८१ के शिलालेख के प्रारम्भ में बराह-स्तुति करते हुए लिखा है—

जयत्याविष्कृतं विष्णोर्व्वाराहं चाभितारण्यवम् ।

दक्षिणोन्नतदंष्ट्राप्रविश्रान्तभुवनं वपुः^४ ॥

श्रीरङ्गम् के सुप्रसिद्ध रङ्गनाथ स्वामी के मन्दिर में सुरचित तेलङ्ग देश के राजा मुम्मदिनायक के शक संवत् १२३० के दानपत्र के प्रारम्भ में बराह अवतार के सम्बन्ध में ये श्लोक^५ हैं—

१. गेज़ेटियर ऑफ़ दि बाम्बे प्रेसिडेंसी (कैबल-सम्पा०), जि० १, भाग २, पृ० २१६, टि० ४, पृ० ३३८। ए० ई० जि० १६, पृ० १२२।

बराहकृत सुहर के सम्बन्ध में दे० पूर्वी चालुक्य राजा अमरान दूसरे की सुहर—ई० आ०, जि० ७, पृ० १२० के सामने का विवर।

मध्यभारत के सीतामऊ राज्य के राजचिह्न में भी दो बराह अंकित हैं। सिन्धु देश के राजा जयद्रथ की ध्वजा में बराह अंकित होने से वह बराहध्वज कहलाता था—

बराहः सिन्धुराजस्य राजतोऽभिविराजते ।

ध्वजाग्रे लोहिताङ्गाभो हेमजालपरिष्कृतः ॥ २० ॥

शुश्रुसे केतुना सेन राजतेज जयद्रथः।... ॥ २१ ॥

म० भा० (कुम्भकोणम्-संस्क०), प्रोबणपर्व, अ० १०५।

२. ए० ई०, जि० १४, पृ० १४६।

३. वही, जि० १६, पृ० १४१। इस से बहुत मिलती-जुलती भाषा के लिए दे० सन् ६१२ ई० का हैदराबाद से मिला हुआ पुलिकेशी द्वितीय का दानपत्र (ई० आ०, जि० ६, पृ० ७४)।

४. ए० ई०, जि० १६, पृ० ८७। दक्षिण के चालुक्यों के अनेक लेखों में यह श्लोक मिलता है। स्थानामाव-वश अब तक प्राप्त तत्सम्बन्धी सब लेखों का वल्लेख न कर यहाँ केवल इस के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

(१) मिरज राज्य (दक्षिण भारत) में कौटेम नामक कुत्से से प्रान्त परिचमी चालुक्य राजा विक्रमादित्य पाँचवें (त्रिभुवनमल्ल) का शक संवत् १३० का दानपत्र (पं० १)—ई० आ०, जि० १६, पृ० २१।

(२) बम्बई प्रान्त के धारवाड़ जिले के इहल ताडुके के करगुदरी गाँव में लगे हुए परिचमी चालुक्यवंशी राजा विक्रमादित्य छठे और उसके सामन्त वनवासी के महामण्डलेश्वर सैतप दूसरे का कनडी भाषा का शिलालेख (दूसरा श्लोक)—ई० आ०, जि० १०, पृ० २६१।

(३) परिचमी चालुक्य महाराजाधिराज विनयादित्य सत्याश्रय के राज्यकाल के ११ वें वर्ष का कन्नड़ जिले से प्राप्त दानपत्र (पहला श्लोक)—ई० आ०, जि० ६, पृ० ८६।

इस सम्बन्ध में विशेष परिचय के लिए दे०, ई० आ०, जि० ६, पृ० १२४, १२६, १३० और १३३।

५. ए० ई०, जि० १४, पृ० ६०, श्लो० २-३।

श्वेतः शुभं दिशतु शश्वदसौ बराहः पातालसद्यनि तमोगहने रहो यः ।

श्रीसुक्यकुंभधृतिरुद्धहृत्तोत्सवात् प्राक् दन्तेन किचिदुनोदधर बरायाः ॥

तदाक्ययैव प्रथितेऽत्र कल्पे भन्वन्दरे सप्तम आगतेस्मिन् ।

बहुष्वतीतेषु चतुर्गुणेषु कलि विदुः सप्रति वर्तमानम् ॥

विजयनगर के हिन्दू-राजवंश के अनेक राजाओं के बाघलेखों के प्रारम्भ में, विष्णु के इस अवतार की स्तुति में, भिन्न-भिन्न श्लोक पाए जाते हैं ।

दक्षिण के बालुक्यवंशी राजाओं के सोने और चाँदी के सिक्कों पर बराह पाया जाता है । इस सम्बन्ध में पूर्वी बालुक्यवंशी शक्तिवर्मा (सन् १०००-१०१२ ई०) और राजराज (सन् १०१२-१०६२ ई०) के सोने के सिक्के उल्लेखनीय हैं^१ । चाँदी के 'बराह' का—इस सिक्के का यह नाम बराह अवतार के अङ्कित होने के कारण जान पड़ता है^२—मूल्य लगभग ३ १/२ रु० के बराबर माना जाता है^३ ।

१ (१) श्रीकाराकरवृंदाय श्रोढते श्रुतिप्रबले ।

स्थिरान्धारयते कर्त्तिकं नमः प्रथमप्रेत्रिये ॥ १ ॥

विरूपाक्ष का शक संवत् १३०२ का आठपण्डित से मिठा हुआ दानपत्र, पृ० ६०, लि० ३, पृ० २२६ ।

(२) हरेजीवाचाराहस्य दंष्ट्रादण्डः स पातु नः ।

दोमाद्रिकलशा यत्र बाष्पीश्वत्रमियं दधौ ॥

कजीवरम् (मद्रास प्रान्त) से प्राप्त राजा कृष्णदेवराय का शक संवत् १४४४ का दानपत्र, पृ० २-४, पृ० ६०,

लि० १३, पृ० १२६ ।

यद श्लोक विजयनगर के राजाओं के अनेक दानपत्रों के आरम्भ में मिलता है, जिस के कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं—

(क) मद्रास प्रान्त के चिन्नल्लपट जिन्ने के उदूर्वाकम् गाँव से मिले हुए विजयनगर के दूसरे राजवंश के राजा कृष्णदेवराय का शक संवत् १४२० का दानपत्र, पृ० २-३, पृ० ६०, लि० १४, पृ० १७० ।

(ख) सदाशिवराय का शक संवत् १४०३ का दानपत्र, पृ० २-३, पृ० ६०, लि० १४, पृ० २१६-१७ ।

(ग) विजयनगर के तीसरे राजवंश के राजा सिद्धमठ प्रथम के राज्य-काल का, शक संवत् १४६३ का, पेनगुल्लु गाँव (कदम्पा जिन्ना मद्रास प्रान्त) से प्राप्त दानपत्र, पृ० २-४, पृ० ६०, लि० १६, पृ० २४० ।

(३) सम्पत्ति श्रीवराहो नः सम्पादयतु सूपसीम् ।

सामोदासुदहर् नूनि ससुद्रसजिजाप्नुताम् ॥

विजयनगर के पहले राजवंश के राजा विजयभूषति का दण्डपत्रो ('चिन्नूर जिन्ना, मद्रास प्रान्त) से मिठा हुआ

शक संवत् १३३२ का दानपत्र, पृ० ३-४, पृ० ६०, लि० १४, पृ० ७१ ।

(४) असुखलसुदारां धृष्टिकार्यं विभर्ति नः ।

स पायादसिद्धिं विरवं विष्णुरेवः सत्तावनः ॥

श्रीगौळम् से मिले हुए विजयनगर के प्रथम राजवंश के राजा विरूपाक्ष का शक संवत् १३८८ का दानपत्र,

पृ० ६०, लि० १६, पृ० २० ।

२. मानन—दि कोह्लस आर्व् इडिया, पृ० २३ और प्लेट ४, संख्या ४ का सिक्का । सर वॉल्टर ह्युडिन्ट—कोह्लस आर्व् सदन इडिया (दि इटरनेशनल न्युस्मिटेड ओरिएण्टेलिया में प्रकाशित), पृ० १२२ डो और प्लेट ३, ७६-८६ संख्या तक के सिक्के ।

३. मानन—कोह्लस आर्व् इडिया, पृ० २४, टिप्पण १ । पृ० ६०, लि० ४, पृ० २८, टिप्पण १ ।

४. पृ० ६०, लि० ८, पृ० १३० ।

प्राचीन काल में वराह-पूजा का पर्याप्त प्रचार था और जनता में विष्णु के इस अवतार के लिए बहुत भक्ति थी, यह इसी से स्पष्ट है कि जिस प्रकार आजकल रामसिंह, रामदास, कृष्णसिंह, वरसिंहदास, बामन-राव, बुद्धसिंह, परशुराम आदि विष्णुवाचक नामों के साथ विष्णु के इन अवतारों का सम्बन्ध है, वसी तरह प्राचीन काल में अनेक पुरुषों के साथ वराह नाम जुड़ा रहता था। कतिपय राजाओं के नामों के अन्त में भी वराह शब्द देख पड़ता है। कन्नौज के रघुवंशी प्रतिहार राजा भोजदेव (सन् ८४३-८८१ ई०) का दूसरा नाम आदिवराह था। इस के चौदी और ताँबे के सिक्कों में एक तरफ 'श्रीमदादिवराहदेव' लेख और दूसरी ओर वराह (नृवराह) बना हुआ है। कासरूप (आसाम) के राजा इन्द्रपाल के गौहाटी से मिले हुए दानपत्र से जान पड़ता है कि वहाँ के राजा रत्नपाल का विरुद श्रीवराह^१ था। ईसवी सन् की दसवीं शताब्दी में काठियावाड़ के वर्द्धमानपुर (बढ़वान) में चापवंशी धरणीवराह^२ राज्य करता था। अनङ्ग नामक राजा के बुलन्दशहर से मिले हुए वि० सं० १२२३ के दानपत्र में भी धरणीवराह^३ नामक एक शासक का नाम मिलता है। बीजापुर (जोधपुर राज्य) से प्राप्त हस्तिकुण्डी (हथुण्डी) के राष्ट्रकूट-वंशी धवल के वि० सं० १०५३ के शिलालेख में उस के समकालीन शासकों में धरणीवराह^४ नामक राजा का उल्लेख है। जिनसेन-रचित दिगम्बर जैन हरिवंशपुराण में दक्षिण के राष्ट्रकूट-वंशी गोविन्द तृतीय के समकालीन राजाओं का निर्देश करते हुए पश्चिम में वराह (जयवराह) नामक राजा^५ बतलाया गया है।

प्राचीन भारत में राजाओं के सिवा साधारण व्यक्तियों के नामों में भी 'वराह' का प्रचुर प्रयोग देख पड़ता है। गुप्तकालीन भारत के ज्योतिषी वराहमिहिर का नाम भारत भर में प्रसिद्ध है। वराह नामक एक प्राचीन विद्वान् ने शुद्धसूत्रों और श्रौतसूत्रों की रचना की; उस के ग्रन्थ कुछ समय पूर्व प्रकाश में आए हैं। शारवत (आठवीं शताब्दी) नामक कोषकार ने अपने संस्कृत कोष 'अनेकार्थसमुच्चय' के अन्त में वराह नामक एक सम-सामयिक विद्वान् का उल्लेख^६ किया है। इस के सिवा 'ज्योतिषरत्न-प्रणेता वराहशर्मन्', व्याकरण-सम्बन्धी

१. वी० ए० स्मिथ—क० सं० सि० सु०, वि० १, पृ० २११-१२ और प्लेट २४, चित्र-संख्या १८। रैसन—भा० सु०, प्लेट ४, संख्या ४।

२. ज० ए० सो० ब०, जि० ६६, पृ० १८। हेमचन्द्र राय—डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ़ नार्दर्न इंडिया, कलकत्ता, १९२७, जि० १, पृ० २४३।

३. ई० आ०, जि० १२, पृ० १६२-६३।

४. ज० ए० सो० ब०, जि० ३८, भाग १, पृ० २६। कीलहार्ने—ए लिस्ट ऑफ़ दि इन्डिक्रयान्स ऑफ़ नार्दर्न इंडिया, संख्या १७०।

५. कीलहार्ने—ए लिस्ट ऑफ़ दि इन्डिक्रयान्स ऑफ़ नार्दर्न इंडिया, संख्या २३।

६. ..पूर्वा श्रीमद्ब्रह्मसूत्रसि नृपे वसतिरात्रेऽपराम्।

सौराभ्यामधिगच्छत् जययुते वीरे वराहेऽवति॥

गैजेटियर ऑफ़ दि बॉम्बे प्रेसिडेंसी, जि० १, भाग २, पृ० १६७, टिप्पण्य २ और पृ० ३६४—६५। ई० आ०, जि० १४, पृ० १४२।

७. महाबल्लभ कविना वराहेण च वीमता।

सह सम्पन्नपरासुरय निर्मितेय प्रयत्नतः ॥८०७॥

शारवतकोष (कृष्णाजी-गोविंद ओक-सम्पा०), पृ० ६०।

८. आर्कैट—कैटैलांगसू कैटैलांगरय, जि० १, पृ० २४२।

‘प्रयोगसंग्रहविवेक’ के रचयिता बराह पण्डित^१, गृहसूत्रग्याख्याता बराहदेव स्वामी^२ और ज्योतिष की ‘अमचूडा-मणि’ के कर्ता बराह मिश्र^३ के नाम भी इस सन्मन्थ में उल्लेखनीय हैं। बराह नाम-युक्त ग्रन्थों में बराहपुराण, बराहसंहिता, बराहस्फुट और बराहोपनिषद्^४ आदि का निर्देश किया जा सकता है।

मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा अपराजित ने महाराज बराहसिंह^५ को अपना सेनापति नियुक्त किया था। अजण्टा में प्राप्त एक खण्डित शिलालेख में वाकाटकवंशी राजाओं के बराहदेव^६ नामक मन्त्री का उल्लेख मिलता है। पालीवाणा से मिले हुए गारुडकवंशी सामन्त सिंहादित्य के बलभी-संवत् २२५ (संव ५७४ ई०) के दानपत्र में उस वंश के सेनापति बराहदास प्रथम और उस के पुत्र सामन्त महाराज बराहदास^७ का नामोलेख है। इस के सिवा आचीन ऐतिहासिक साहित्य में बराह^८, बराहदत्त^९,

१. आशुष-कैटोपासू कैटोपासू, वि० १, पृ० २१२।

२. वही; पृ० २१२।

३. वही; वि० ३, पृ० ११७।

४. इन ग्रन्थों के सम्मन्ध में दे० वही; पृ० २१२-२३।

५. राजा श्रीगुहिलान्वयामलपवाराओ स्फुरदीधिति...

श्रीमानित्यपराजितः चित्तिभूतामभ्यर्चिषो मूर्धनि ..॥ ३ ॥

शिवारमणो कण्ठितशक्तिप-

क्षुयः समाकान्तमुज्जगन्धुः।

सेनेन्द्रवत्सकन्द इव प्रयोता

वृत्तो महाराजबराहसिंहः ॥ ४ ॥

राजा अपराजित का वि० सं० ७१८ का वदयपुर का शिलालेख (पृ० ६०, वि० ४, पृ० ३१)।

६. आ० सं० ५० या०, वि० ४, पृ० १२४। कीर्तहार्य—युं लिख्त आं दि इन्दिक्कान्स आं नोर्देन इंदिया, संख्या ६२३। सिस्टर विवेदिता—कुटफोरस इन इंडियन हिस्ट्री, पृ० ७१।

७. पृ० ६०, वि० ८, पृ० १७-१८।

८. (१) भूति के पुत्र बराह का राजतरङ्गिणी में उल्लेख मिलता है—

मसादपालवैरयस्य गौरीकात्रिदृष्टाक्षये।

सूतेर्हृक्षधरो वज्रो बराहश्चामवन्मुताः ॥ २०७ ॥

सातवाँ तरङ्ग (स्टाइन-सम्पा० संस्क०)।

(२) बोधिसूक्त बराह का कथा-सरित्सागर में उल्लेख है और वहाँ उस की कथा भी है—

पुरा गुहाया विन्ध्याद्रावासीद्बुद्धोऽसम्भवः।

बराहः कोऽपि सुकृदां मर्कटेन संसं क्षुपीः ॥ १२१ ॥

निर्णयसागर-संस्क०, तरङ्ग ७२, पृ० ३७८।

(३) जैनों के नवें तीर्थंकर का पहला गणवर बराह है और तेरहवें का वाष्पवन भी बराह ही है। इस सन्मन्थ में दे०—मुनि शलचन्द्रजी महाराज द्वारा सम्पा० बृहद् ‘सवित्र अयमागमी कोष’, वि० ४, पृ० ३२२-२३।

९. सुषप्रान्त के अरमोदा क्लिबे के ताजेश्वर नामक स्थान से मिले हुए विष्णुधर्मन के दानपत्र के दूतक का नाम बराहदत्त है—

दूतकः प्रमाताबराहदत्तः (पं० २८)—पृ० ६०, वि० १३, पृ० १२०।

बराहदेव^१, बराहगुप्त^२, बराहतीर्थ^३, बराहदेव शर्मा^४, बराहस्वामी^५, बराहराव^६ और बराहदिग्न^७ आदि व्यक्तियों का भी पता चलता है।

लेख समाप्त करने के पूर्व यहाँ बराह अवतार-सम्बन्धी कुछ अन्य ज्ञातव्य बातों का थोड़ा सा परिचय आवश्यक है। बराह अवतार का जिस समय प्रादुर्भाव हुआ, तब से आरम्भ होने वाला कल्प बराह (या श्वेत बराह)-कल्प कहलाता है। अतः तक यही कल्प चल रहा है; इस में इस समय सातवों (वैवस्वत) मन्वन्तर है। माघ मास की शुक्ल पक्ष की द्वादशी को बराहद्वादशी^८ कहते हैं। उस दिन बराह अवतार के उपलक्ष्य में बराह-मन्दिरों में उत्सव होता है। यह विष्णु के बराह अवतार प्रकट करने की तिथि जान पड़ती है। बराहद्विक्त सिकों का, जिन्हें 'बराह'^९ कहते हैं, पहले उल्लेख हो चुका है। बराह की देवीरूप शक्ति को

१. राजतरङ्गिणी में बराहदेव नामक द्वाराधिकारी (क्योरी के दारोगा) का उल्लेख है—

तेन सर्वाधिकारेषु जयानन्दो नियोजितः।

इदमे बराहदेवश्च वितस्तात्रपुरोद्भवः ॥३६३॥

सातवीं तरङ्ग।

२. श्रीचन्द्रदेव के रामपाल (बङ्गाळ में) से मिले हुए दानपत्र में दानभोगी व्यक्ति के दादा (पितामह) का नाम बराहगुप्त है—

बराहगुप्तपौत्राय सुमंगलगुप्तस्य पुत्राय शान्तिवारिकश्रीपीतवासगुप्तशर्मणे... (पं० २०-२८)

पृ० ६०, जि० १२, पृ० १३६।

३. दक्षिण भारत के सैदे नामक स्थान के मठ में प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् महाचार्य की शिष्य-परम्परा की जो सामावली सुरक्षित है, उस में महाचार्य की शिष्य-परम्परा में आठवें पुत्र का नाम बराहतीर्थ है (पृ० ६०, जि० १२, पृ० ३४६; टिप्पण्य ४)।

४. बङ्गाळ के बर्दवान जिले में नैहाटी से मिले हुए सेनवंशी राजा बङ्गाळसेन के ११वें राज्यवर्ष के दानपत्र में दानभोगी आचार्य श्रीवासुदेवशर्मा के प्रपितामह का नाम बराहदेवशर्मा है—

बराहदेवशर्मणः प्रपौत्राय (पं० ३४)—पृ० ६०, जि० १४, पृ० १९१।

५. बङ्गाळ के राजशाही जिले में चनैदह गाँव से मिले हुए गुप्तवंशी कुमारगुप्त प्रथम के, गुप्त संवत् ११३ के, दानपत्र में बराहस्वामी नामक किसी सामवेदी ब्राह्मण को दान दिए जाने का उल्लेख है—

आनृकटकवालय-कुन्दोगन्नाक्षयबराहस्वामिनो दत्तं (पं० १२)—पृ० ६०, जि० १७, पृ० ३४७।

६. सुंघौर (बङ्गाळ) से प्राप्त पाजवंशी राजा देवपाल के राज्यकाल के ३३वें वर्ष के दानपत्र में दानभोगी के पिता का नाम भट्ट बराहराव है—वेदार्थविदेश यजुर्वेद भट्टविश्वरातस्य पौत्राय विद्यावदात्तसे भट्ट श्रीबराहरातस्य पुत्राय.....भट्टप्रवर बीदेकरातमिश्राय शासनीकृत्य प्रतिपादितः (पं० ३२-३४)—पृ० ६०, जि० १८, पृ० ३०६।

७. बघेलखण्ड के सोहावल कस्बे से प्राप्त उच्छुकनर के महाराज शर्वदेव के गुप्त संवत् १६१ के दानपत्र के लेखक, महासाम्प्रविग्रहिक मनोरथ, के पिता का बराहदिग्न (संस्कृत—बराहदत्त) नाम मिलता है—

लिखितं संवत्सरशते एकवत्सुत्तरे...भोगिकबराहदिग्नपुत्रेण महासाम्प्रविग्रहिकमनोरथेन (पं० २७-३०)—पृ० ६०, जि० १६, पृ० १३०।

८. सनातनधर्मावलम्बियों के ज्ञान आदि के संकल्प में 'श्वेतबराहकल्पे' का उच्चारण होता है।

९. सर सोवियर-बिलियम्स—ए संस्कृत-ईरिलिश डिक्शनरी (नवीन संस्करण), पृ० ६२३।

१०. कशीबार्स (मद्रास प्रान्त) के शारदा मठ के आचार्य महादेवेन्द्र सरस्वती के शक संवत् १६०८ के दानपत्र में रामाशास्त्री को अन्य दानों के साथ दो बराह (करीब ७ रु०) प्रतिवर्ष दिए जाने का उल्लेख है। पृ० ६०, जि० १४, पृ० ३२४ और ३२६।

बाराही कहते हैं और उस की सप्तभाटकाओं^१ में गणना होती है। इस की भी प्रसिमाई यत्र-यत्र मिलती हैं।
अजमेर के राजपूताना म्यूजियम् में भी बाराही की एक प्रसिमा है।

बराह-मक्ति से प्रेरित हो कर कई एक प्राचीन विद्वानों ने बराह अवतार की स्तुति भ्रमवा उस के द्वारा भूषणी के उद्धार का उल्लेख किया है, जिनमें कविकुलशुभ काशिदास^२, जयदेव^३, जीवक^४, बाणभट्ट^५, मनोरथ^६, भावकुदिवाकर^७,

१. ग्राह्या माहेश्वरी चैव कामारी वैष्णवी तथा ।

माहेन्द्री चैव बाराही चासुण्डा सप्त मातरः ॥

२. रसातलादादिमयेन पुंसा भुवः प्रमुक्तोद्भवक्रियायाः ।

अस्याञ्जलम्भः प्रलयमवृद्धं सुहृत्तृप्त्यभरणं वभूव ॥

रघुवंश, सर्ग १३, श्लोक ८ ।

३. वसति द्युवनशिलरे धरणी तत्र अस्मा

शयिनि कलङ्ककलेव निमग्ना ।

केशव छत्रशूररूप अथ जगदीश हरे ॥ ३ ॥

गीतगोविन्द, सर्ग १ ।

४. मेरुकुक्केसरसुदामादिगन्तव्यप्रसामृद्धकान्तिवक्रोपशरीरनालम् ।

धेनोवृत्तं कुक्कलयं सज्जितालसीलसुचंसकार्यमिव पातु स वो बराहः ॥

वज्रमदेव-सङ्कलित सुभाषितावलि (डॉ० पीटर्सन-सम्पा०), संख्या १७ ।

५. (१) कश्चित्प्रलयवेलेव महाबराहर्षासमुत्प्लावधरणिमण्डला—कादम्बरी (निर्णयसागर-संस्क०), पृ० १३०
(विन्वाटवी के प्रसंग में) ।

(२) आदिबराहसमुद्भवधरामण्डलस्थानमिव जलपूरितम्—कादम्बरी (पद्मासार-वर्णन), पृ० ४४-४५ ।

(३) असुरारिमिव अकटितनरहरिवराहरूपम्—कादम्बरी, पृ० ८० ।

६. कवेदानीं क्षपिठास्ते वनमवभदिरामोदितो दिग्द्विपेन्ना

हे मेरो मन्दरादे मलय हिसगिरे साधु वा भूमाधरत्वम् ।

मेघ श्लाघोसि दीर्घैः पृथुभववधरोचण्डयौन्दैः शिरोभिः

शैलसोत्थासमुच्चैरिति धरणिभूतः पातु सुगन्मान्वाहः ॥

सुभाषितावलि, श्लोक १८ ।

७. पातु वो मेदिनीदोला धालेन्नुद्युतितस्करौ ।

दैर्घ्य महाबराहस्य पातालपुद्गलीपिका ॥

सुभाषितावलि, ३० ।

वराहमिहिर^१, विभूतिबल^२, विभूतिमाधव^३, विशाखदत्त^४, व्यास^५, सोमोक्त^६ और हनूमत्^७ आदि उल्लेखनीय हैं। इन के सिवा 'सुभाषितरत्नभाण्डागारम्' में वराह-स्तुति के कई श्लोक^८ दिए गए हैं जिन के लेखकों का पता नहीं चलता।

१. ज्ञाने ओन्नैकदेशे नमसि नयनयोस्तेजसि क्वापि याते
श्वासग्रासोपयुक्ते सकृति जलनिर्वा पायुरन्म्राधपीते ।
पोत्रप्रान्तैकरोमान्तरविचरतां मृत्यतः शार्ङ्गपायोः
क्रोडाकारस्य पृथ्वीमकलितविषयं वैमर्षं वः पुनातु ॥

सुभाषितावलि, १७ ।

२. ...स्पृष्ट्वा वराहचपुर्निन्दुकलाप्रकाशः ।
दंष्ट्रोद्धतचिति हरेरेव तु स्मिन्तं वः ॥

सुभाषितावलि, ३३ ।

३. न सृन्द्रीयान्मृद्वी कथमिव मही पोत्रनिकपै-
मुखाश्लवाजामिः कनकगिरिरीयाद्य विळयम् ।
न शुण्येयुः श्वासैः सन्निलनिघ्नयः सप्त च कथं
वराहो नः पायादिति विषुलचिन्तापरिकरः ॥

सुभाषितावलि, ४५ ।

४. वराहीमात्मयेनेस्तनुमवविधावास्थितस्थानुरूपं
यस्य प्राग्दन्तकोटिं प्रवचपरिगता शिश्रिये भूतचात्री ॥

सुद्वाराचर, अङ्क ७, श्लोक ११ (भरतवाक्य) ।

५. नमस्तस्मै वराहाय हेतयोद्धरते महीम् ।
खुरमव्यगते यस्य मेदः खुरखुरायते ॥

सुभाषितावलि, ७ ।

६. देवो हरिर्जयति यज्ञवराहरूपः
सृष्टिस्थितिप्रलयकारणमेकमेव ।
यस्योदरस्थितजगत्त्रयबीजकोश-
विर्गच्छदंङ्करशिखेव विभ्राति दंष्ट्रा ॥

कवीन्द्रवचनसमुच्चय (विजितयोधका ईदिका मे डॉ० थॉमस द्वारा सम्पा०), ४७ ।

७. न पङ्कजैरासेपं कलथति धरित्रीव्ययमया-
कमुस्तामादृशोऽप्युरगानगरजं शम्भतः ।
न घत्ते ब्रह्माण्डस्फुटनमयतो घर्षररवं
महाक्रोडः पायादिति सकलसङ्कोचितमुखः ॥

सुभाषितरत्नभाण्डागार, पृ० १६, श्लो० २१ । शार्ङ्गधरपद्धति, ८६ ।

राजपूत जाति

श्रीधुत विश्वेश्वरनाथ रेव, साहिवाचार्य, जोधपुर ।

शास्त्रों से पता चलता है कि पहले आर्य जाति से किसी प्रकार का वर्ण-विभाग नहीं था । परन्तु कालान्तर में चार वर्णों की उत्पत्ति हुई । राजा भोज ने अपने "समराज्यासूत्रधार"^१ नामक ग्रन्थ में लिखा है—
ब्रह्मा ने संसार में शान्ति बनाए रखने के लिए शूद्र को पहला राजा बनाया और उस ने राज्य-प्रबन्ध को सुभीते और जाति की उन्नति के लिए चार वर्णों और चार आश्रमों की स्थापना की । उस समय देव-भक्त, शुद्ध आचार-विचार वाले, विद्वान् और शुभी पुरुष ब्राह्मण बनाए गए, बहादुर, उत्साही, वलिष्ठ और रक्षा करने में समर्थ क्षत्रिय हुए, चतुर, धन कमाने की इच्छा वाले, विद्यासी, फुल्ले और दया वाले वैश्य कहलाए और इन्द्रजित, धर्म, सचाई और पवित्रता के विचार से शून्य शूद्र बना दिए गए ।

इस कथन का तात्पर्य केवल इतना ही है कि पहले-पहल आर्य जाति में चारों वर्णों का विभाग शुद्ध, कर्म और स्वभाव के अनुसार ही हुआ था । जन्म से इस का कोई सम्बन्ध नहीं था ।

इस विषय को यहाँ समाप्त कर अब हम आर्य जाति के क्षत्रिय वर्ण के विषय में विचार करते हैं ।

वैदिक और पौराणिक साहित्य को देखने से ज्ञात होता है कि क्षत्रिय वर्ण में भी सूर्यवंश और चन्द्रवंश नाम के दो विभाग हो गए थे । ग्रीक्सन साहब ने भारतीय भाषों द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं का अध्ययन कर उस का दो विभिन्न दलों में भारत में आना और इसी से दो भिन्न वंशों में विभक्त होना माना है । परन्तु कुछ काल बाद इस वर्ण में अग्निवंश नाम के तीसरे विभाग का उत्पन्न होना भी पाया जाता है^२ । पहले-पहल इस का जल्द वि० सं० की ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बने पद्मराज के 'नवसाहसार्द्धचरित' में मिलता है । उस में लिखा है कि—
"आबू पर्वत पर रहने वाले वशिष्ठ ने, विद्यामित्र से अपनी गाय छीन लाने के लिए, अग्नि से एक वीर पुरुष उत्पन्न किया । वह वीर प र अर्थात् शत्रु को मार कर वशिष्ठ की गाय को वापिस ले आया इसी से

१. अ० ७, खंडो० १-१७ ।

२. चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं शुक्लकर्मविभागः ।

मगवद्गीता, अ० ७, खंडो० १३ ।

३. वि० सं० ११९६ (ई० सं० ११०६) के गोविन्दकन्द के लेख में लिखा है—

अभवत्ते सूर्यसोमोद्भूतमविदितमहाक्षत्रवंशद्वयेऽस्मिन्

.....

.....

उद्धृत धर्ममार्गदू प्रथितसिद्ध तथा क्षत्रवंशद्वयं च ॥

इस से प्रकट होता है कि उस समय तक भी क्षत्रिय वर्ण में सूर्यवंश और चन्द्रवंश नाम के दो ही अतिविद विभाग माने जाते थे ।

मुनि ने उस का नाम पर मा र रक्खा।^१ इस से अनुमान होता है कि विक्रम की नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में किसी वशिष्ठगोत्री ब्राह्मण ने किसी बौद्धमतानुयायी क्षत्रियवंश को, प्रायश्चित्त द्वारा, फिर से ब्राह्मण वर्ग में दीक्षित कर अपनी सहायता के लिए तैयार किया होगा। परन्तु पद्मगुप्त के समकालीन हलायुध ने अपनी 'पिङ्गल-सूत्रवृत्ति' में इस वंश को राजा गुच्छ को "ब्रह्म च त्र कु ली न"^२ लिखा है।

अग्निवंश का स्पष्ट उल्लेख 'पृथ्वीराजरासो' में पाया जाता है। उस में परमार, चालुक्य (सोलहवीं), पड़िहार (प्रविहार) और चौहान वंशों का वशिष्ठ को अग्नि से उत्पन्न होना मान कर उन्हें अग्निवंशी कहा है। इसी के आधार पर डॉक्टर दे० रा० भाण्डारकर^३ आदि देशी और मिस्टर वि० आ० रिमथ आदि विदेशी विद्वान् इन वंशों को आर्येतर-विदेशी (खिन्नर = गुर्जर) जाति की सन्तान अनुमान करते हैं और ब्राह्मणों का प्रायश्चित्त करवा कर इन्हें क्षत्रिय जाति में मिला लेना मानते हैं। परन्तु एक तो 'पृथ्वीराजरासो' में दिया पृथ्वीराज, उस के कुटुम्बियों और समकालीन नरेशों का अधिकांश हाल इतिहास के विद्वत् सिद्ध होता है। दूसरा उस में मेवाड़-नरेश महारावल समरसिंह का वि० सं० १२४६ (ई० स० ११६२) में पृथ्वीराज की तरफ से लड़ कर मारा जाना लिखा है। परन्तु समरसिंह वि० सं० १३२४ (ई० स० १२६७) के बाद मेवाड़ की गद्दी पर बैठा था और वि० सं० १३५६ (ई० स० १३०२) में उस का देहान्त हुआ। तीसरा 'रासो' में भविष्य-कथन के तौर पर मेवाड़-नरेश का वि० सं० १६७७ के बाद दिव्यो-विजय करना भी लिखा है^४। ऐसी हालतों में उस के लेख पर विश्वास कर लेना अनुचित ही है।

वास्तव में देखा जाय तो क्षत्रिय वर्ण को ये वंश-विभाग राजवंशों की प्राचीनता और महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिए कवियों की कल्पना मात्र ही हैं। यदि ऐसा न होता तो भारत के सभी प्रसिद्ध राजाओं के शिलालेखों और साम्रपत्रों में उन के वंश का उल्लेख अवश्य मिलता। इस के अलावा यदि किसी वंश के नरेशों की प्रशस्तियों में उन के वंश का उल्लेख मिलता भी है तो उस में बड़ी गड़बड़ पाई जाती है। यदि एक स्थान पर एक वंश को सूर्यवंशी लिखा है तो दूसरे स्थान पर उसी को चन्द्रवंशी आदि लिख दिया है। परमारवंश के विषय में पहले लिखा जा चुका है। आगे कुछ अन्य वंशों के सम्बन्ध में अवतरण दिए जाते हैं।

चालुक्य (सोलहवीं) विक्रमादित्य छठे के वि० सं० ११३३ (ई० स० १०७६) के लेख में चालुक्य (सोलहवीं) वंश को चन्द्रवंशी लिखा है। परन्तु 'विक्रमादित्यदेवचरित' में उस वंश को ब्रह्मा के चुल्हू से—और बिलहारी से मिले हैहय (कलजुरी) युवराजदेव द्वितीय के लेख में द्रोण के चुल्हू से—उत्पन्न हुआ माना है।

बख्तियार से मिर्जा प्रविहार भोज^५ की प्रशस्ति में प्रतिहारों (पड़िहारों) को सूर्यवंशी लिखा है। परन्तु बाउक के वि० सं० ८६४ के लेख में उन की उत्पत्ति हरिश्चन्द्र नामक ब्राह्मण की क्षत्रिया को से बतलाई है^६।

१. कुछ विद्वान् इस विशेषण से इन का पहले 'वशिष्ठगोत्री' ब्राह्मण होना और बाद में क्षत्रियत्व ग्रहण करना अनुमान करते हैं। आनन्द परमार-वंश वाले अपने को माळव-नरेश विक्रमादित्य के वंशज मानते हैं।

२. ई० आ०, लि० ४०, पृ० ७-३६।

३. सौरसे सत्योत्तर विक्रम साक बढ़ीत। दिवलीयर मेवातपति ठैंहि लग्य बळ जीत।

तीसरा समय, कृ० ४४, पृ० २६२।

४. इस का समय वि० सं० १०० और १२० (ई० स० ८७३ और ८९३) के बीच माना गया है।

५. उसी में पहले प्रविहार-वंश का लक्ष्मण से, जो अपने माई रामचन्द्र का प्रतिहार (द्वारागढ) था, उत्पन्न होना ध्वनित किया है।

चौहान कुम्मा के आबू से मिले वि० सं० १३७७ के, लेख में चौहानों को चन्द्रवंशी लिखा है। परन्तु बीसलदेव-चतुर्थ के लेख में उन को सूर्यवंशी कहा है।

ऐसी हालत में देशी और विदेशी विद्वानों का 'युद्धीराजरासो' के आधार पर ही उपर्युक्त वंशों को अग्नि-वंशी मान कर विदेशी गुर्जरों (खिजरो) की सन्तान अनुमान करना उचित प्रतीत नहीं होता।

आगे राजपूतों को अनार्य जाति की सन्तान मानने वाले विद्वानों के दिए प्रमाणों पर विचार किया जाता है—

पूर्वपक्ष—'हरिवंशपुराण' में हैहय (कलचुरि)-वंशियों का यवनों, पारदों और काम्बोजों के साथ उल्लेख किया गया है। इस से हैहय क्षत्रिय विदेशी हैं^१।

उत्तरपक्ष—परन्तु हैहयो की प्रशस्तियों में उन्हें चन्द्रवंशी लिखा है और पुराणों से भी उन का शुद्ध क्षत्रिय होना सिद्ध होता है। ऐसी हालत में उन का यवनों, पारदों और काम्बोजों के साथ उल्लेख होने से ही उन्हें विदेशी मान लेना ठीक नहीं है। इस को भलावा भु ने तो यवनों, पारदों और काम्बोजों तक की क्षत्रिय भाषा है। वह लिखता है:—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।

बृषत्वं गता लोके ब्राह्मणाऽदर्शनेन च ॥ ४३ ॥

पौण्ड्रकाचैः पृथ्विणा काम्बोजाः यवनाः शकाः।

पारदाः पडुवाश्चीनाः किराताः दरदाः खराः ॥ ४४ ॥

अर्थात् पौण्ड्रक, चौड़, द्विविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पडुव, चीन, किरात, दरद और खरा नाम की क्षत्रिय जातियाँ धीरे-धीरे धार्मिक कर्मों को छोड़ देने और ब्राह्मणों के सम्पर्क में न रहने से शुद्ध सम्झी जाने लगीं।

पूर्वपक्ष—'हर्षचरित' में बाण ने शानेधर को राजा प्रमाकरवर्धन का दूथों के साथ ही गुर्जरों की जीतना लिखा है। इस से गुर्जरों का विदेशी होना और दूथों के साथ भारत में आना सिद्ध होता है।

उत्तरपक्ष—परन्तु वात्सव में बाणभट्ट की लिखी—“दूधहरिणकेसरी, सिन्धुप्राजज्वरे, गुर्जरप्रजागट”^२ इस पंक्ति में गुर्जर शब्द से गुर्जर देश-निवासियों का वात्स्य ही भलकता है। ऐसी हालत में इस स्थान पर गुर्जर (खिजर) जाति के विदेशी लोगों की कल्पना करना उचित प्रतीत नहीं होता। इस को भलावा आज तक के प्राप्त इतिहास से भी विदेशी खिजर जाति का भारत में आना सिद्ध नहीं होता।

पूर्वपक्ष—राजोर (अलवर राज्य) से मिले प्रसिद्धार मयनदेव के वि० सं० १०१६ (ई० सं० ६६०) के लेख में मयनदेव को गुर्जर-प्रतिहार-वंशी लिखा है। इसी प्रकार दक्षिण के राष्ट्रकुटी की प्रशस्तिवर्षों में कन्नौज के प्रतिहारों को 'गुर्जरेश्वर' और अरबों की पुस्तकों में 'जुर्ज' लिखा है। इस से सिद्ध होता है कि प्रसिद्धार क्षत्रिय भी विदेशीय गुर्जरों की सन्तान थे।

उत्तरपक्ष—परन्तु वात्सव में वहाँ पर प्रतिहारों के गुर्जर जाति के होने का उल्लेख न हो कर उन के गुजरात के निवासी या गुजरात के शासक होने का उल्लेख है। उस समय राजपूताने का एक बड़ा भाग

१. ई० आ०, मा० ४०, पृ० १६।

२. अ० १०।

३. वात्सव २, पृ० १४३।

‘गुर्जरप्रा’^१ या गुजरात के नाम से प्रसिद्ध था और उस की राजधानी भीनमाल थी^२। सम्भव है, इसी से वहाँ के प्रतिहारों के लेखों में, कन्नौज के प्रतिहारों की शाखा से उन की निम्नता प्रकट करने के लिए ही, उन को निवासस्थान का उल्लेख किया गया हो।

कन्नौज के प्रतिहारों ने चावड़ों^३ को हरा कर पहले अपना राज्य भीनमाल में स्थापित किया था। प्रतिहार चागभट प्रथम (नागावलोक) के सामन्त भट्टवट्ट के, वि० सं० ८१३ (ई० सं० ७५६) के, दानपत्र से उस समय भड़ोच वक के प्रदेश का प्रतिहारों के अधीन होना प्रकट होता है। इस के बाद यहाँ से जा कर इन्होंने कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया था। ऐसी हालत में यदि राष्ट्रकूटों की प्रशस्तियों और अरब लेखकों की पुस्तकों में इन्हें गुर्जरेश्वर आदि लिखा है तो इस में आश्चर्य की कौन सी बात है।

पूर्वपक्ष—गुर्जरवंशी क्षत्रिय विदेशी खिजर जाति की सन्तान है। यह जाति, ईस्वी सन् की छठी शताब्दी में, यूरोप और एशिया की सीमाओं के सङ्गम-स्थान पर रहती थी। कुछ लोग इस जाति का कनिष्क के समय और कुछ हूणों के आक्रमण के समय भारत में आना अनुमान करते हैं। इसी जाति के सम्बन्ध से इस के जीते हुए प्रदेश का नाम गुर्जर या गुजरात हुआ था।

उत्तरपक्ष—परन्तु एक तो, पहले लिखे अनुसार, आज तक के प्राप्त इतिहास से इस जाति का भारत में आना ही सिद्ध नहीं होता। दूसरा भड़ोच के गुर्जर नरेश जयभट्ट तृतीय के, कलचुरी संवत् ४५६ (वि० सं० ७६२ = ई० सं० ७०५) के, दानपत्र^४ में इस वंश को महाराज कर्ण की सन्तान लिखा है। तीसरा विक्रम की सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आने वाले चीनी यात्री हुएन्सांग ने भी गुर्जर देश की राजधानी भीनमाल और वल्लभी के राजाओं को क्षत्रिय बतलाया है।

इसी प्रकार बड़गंजर भी क्षत्रिय हैं और उन का विवाह-सम्बन्ध अब तक उच्च कुल के क्षत्रियों में होता है^५।

१. प्रतिहार मोजदेव का वि० सं० १०० का साम्रपत्र।

२० ई०, जि० ५, पृ० २११।

२. हुएन्सांग का यात्रा-विवरण।

३. कुछ विद्वान् चावड़ों को भी गुर्जर-वंश का मानते हैं। परन्तु छाट के चाखण्य (सोलहू) पुलकेशीराज के कलचुरी संवत् ४६० (वि० सं० ७१६ = ई० सं० ७३१) के साम्रपत्र में लिखा है—‘सौराष्ट्र चावोटक मौय’ गुर्जरादि राज्य’। इस से प्रकट होता है कि उस समय गुर्जर और चावड़े (चापोळट) दोनों निम्न वंशी माने जाते थे।

६० पृ०, जि० १, ख० १, पृ० १०६।

४. ई० आ०, जि० १३, पृ० ७७।

५. यद्यपि प्राचीन काल में आर्य जाति के हीनो वर्गों अर्थात् माहण्यों, क्षत्रियों और वैश्यों में अनुलोम विवाह होते थे, तथापि अन्त में इस का निषेध कर दिया गया था। इस की पुष्टि आगे के अवतरणों से होती है—

ईसवी सन् से पूर्व की तीसरी शताब्दी में आने वाले ग्रीक लेखक मेगास्थेनेस् ने लिखा है—‘कोई भी पुरुष न तो अपनी जाति से बाहर विवाह ही कर सकता है और न अपना पेशा ही बदल सकता है (मैक्किन्डल-कृत अंगरेजी अनुवाद, पृ० ८२-८३)।

ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भारत की यात्रा करने वाले चीनी यात्री हुएन्सांग ने लिखा है—‘प्रत्येक जाति का पुरुष अपनी जाति में ही विवाह कर सकता है (हुएन्सांग का थॉमस बार्टन कृत अनुवाद, जि० १, पृ० १६८)।

इस के अलावा यदा-कदा हो जाने वाले अनुलोम विवाहों की सन्तान माता के वंश की समझी जाने लगी थी। जैसे मारवाड़ के राठोड़ मूल्हा की क्षत्रिया की की सन्तान मूल्हाणेत क्षत्रिय और वैश्या की की सन्तान मूल्हाणेत वैश्य समझी जाती है।

पूर्वपक्ष—उत्तर-पश्चिमीय भारत से सासानी सैली के कुछ सिक्के मिले हैं। उन पर नागरी में “श्री वासु-देव वहमन” और पहलवी में “सकान काउलस्तान सपद लक्षान” लिखा है। कुछ विद्वान् ‘वहमन’ को ‘चाह-मान’ मान कर इस वासुदेव को चाहमान-वंश का सब से पहला ज्ञात नरेश मानते हैं और सिक्कों में के सपाद लक्षान से हिमालय के सिवालक नाम से प्रसिद्ध पहाड़ी प्रदेश का तात्पर्य लेते हैं। उन का अनुमान है कि इन्हीं के साथ आने वाले गुर्जर (खिजर) जाति के लोग ही वहाँ जा कर बस गए थे। इस से चाहमानों के गुर्जर होने में कोई सन्देह नहीं रहता।

ये सिक्के खुसरो द्वितीय (परवेज़) के सैलीसवे राज्य-वर्ष के सिक्कों से मिलते हुए हैं। इसलिए चाहमान-वंशी वासुदेव का समय ई० स० ६२७ (वि० स० ६८४) के करीब होना चाहिए।

उत्तरपक्ष—परन्तु इस विषय में भी विद्वानों में बड़ा मतभेद है। जनरल कनिंगहम इन सिक्कों में के वासुदेव को हूण-वंश का और मिस्टर रैम्सन सासानी-वंश का अनुमान करते हैं। इसी प्रकार अन्य विद्वान् लेख में के कल्पित ‘चाहमान’ को ‘वहमन’ पढ़ते हैं।

इस के अलावा राजशेखर सुरि के बनाए ‘प्रबन्धकोष’^१ के अन्त की वंशावली में चाहमान वासुदेव का समय वि० स० ६०८ (ई० स० ५५१) लिखा है। इस समय में और उपर्युक्त सिक्कों के आधार पर स्थिर किए समय में ७६ वर्ष का अन्तर आता है।

चौहानों के इतिहास से ज्ञात होता है कि इस वासुदेव का सातवाँ वंशज गूवक (प्रथम) था। हर्षनाथ से मिले वि० स० १०१३ के लेख में उस का, अपनी बीराता के कारण, नागावलोक की सभा में वीर की पदवी प्राप्त करना लिखा है। चौहान भट्टबुद्ध के वि० स० ८१३ (ई० स० ७५६) के लेख में भट्टबुद्ध को नागा-वलोक का सामन्त कहा है। इस से नागावलोक और गूवक का वि० स० ८१३ के करीब विद्यमान होना सिद्ध होता है। ऐसी हालत में इस समय में से वासुदेव से गूवक तक के आठ राजाओं के लिए २०० वर्ष का समय निकाल देने से वासुदेव के राज्यारम्भ का समय ‘प्रबन्धकोष’ में दिए समय को निकट ही आता है।

फिर, चौहानों का राज्य पहले-पहल सिन्ध या मुलतान में न रह कर अहिच्छत्रपुर में रहा था और वहाँ से ये शाकम्भरी (सॉभर) की तरफ आए थे। चीनी यात्री हुएन्त्सांग ने (जो वि० स० ६६७=ई० स० ६४० के करीब भारत में आया था) अपने यात्रा-विवरण में इस नगर का वर्णन किया है और उसी के आधार पर जनरल कनिंगहम ने उस का बरेली से २० मील पश्चिम में आधुनिक रामनगर के पास होना माना है। ‘महाभारत’ के अनुसार भी यह अहिच्छत्रपुर उत्तर पाञ्चाल देश की राजधानी था। रही सपाद-लक्ष प्रदेश के हिमालय में होने की बात। परन्तु विद्वान् लोग सपादलक्ष से सवा लाख पहाड़ों के सिलसिले वाले प्रदेश का अर्थ न ले कर सवा लाख गाँवों वाले प्रदेश का तात्पर्य लेते हैं^२, और चौहानों से शासित सॉभर,

१. इन में के अन्य मंडार के सिक्का पर पहलवी में “सफवजु वैश (श्री वासुदेव) वहमन सुस्तान मरका” लिखा है।

२. यह कोष वि० स० १४०५ (ई० स० १३४८) में बनाया गया था।

३. सहेलखण्ड के पूर्वी भाग में।

थोमस वाट्स—हुएन्त्सांग, जि० १, पृ० ३३२, पृंस्टन, जियोग्राफी ऑफ इंडिया, पृ० ३२६।

४. ‘सन्धुपुराण’ में (जिस का रचना-काल ईसवी सन् की नवौं शताब्दी अनुमान किया जाता है) साभर, मेवाड़, कर्नाटक, आदि प्रदेशों में से प्रत्येक में सपादलक्ष (सवा-सवा लाख) गाँव होना लिखा है।

कुमारखण्ड, अ० ३६, श्लो० १३६-१४०।

नागौर और अजमेर का प्रदेश इस समय भी सवाल्ल के नाम से पुकारा जाता है। ऐसी हालत में चाहमानों का गुर्जर-वंशी होना और हिमालय की तरफ से राजपूताने में आना नहीं माना जा सकता।

यही हाल राष्ट्रकूट, गुहिल आदि अन्य चत्रिय जातियों का भी है। श्रीयुत विसंट स्मिथ आदि ने राजपूत जाति का ई० सन् की आठवीं या नवीं शताब्दी में एकाएक उत्पन्न होना मान कर उन का विदेशी या आर्येतर होना अनुमान किया है^१। परन्तु उन का यह अनुमान ठीक नहीं है। क्योंकि ई० स० की पाँचवीं शताब्दी में दक्षिण में राष्ट्रकूटों का राज्य विद्यमान था और इसी शताब्दी के अन्तिम भाग में उस पर सोलहवीं जयसिंह ने अधिकार किया था। सोलहवीं त्रिलोचनपाल के, शक संवत् ६७२ (वि० सं० ११०७ = ई० स० १०५१) के, ताम्रपत्र से प्रकट होता है कि राष्ट्रकूटों के दक्षिण में जाने से पहले उन (राष्ट्रकूटों) का राज्य किसी समय कन्नौज में भी रह चुका था^२।

इसी प्रकार मेवाड़ राज्य के इतिहास से गुहिल-वंश के संस्थापक गुहिल (गुहदत्त) का ई० सन् की छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में और बापा रावल का ई० सन् की आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में मौजूद होना पाया जाता है।

अन्त में हम राजपूतों को अनार्य मानने वाले विद्वानों से एक बात पूछना चाहते हैं। वह यह कि यदि वास्तव में ही उन का अनुमान ठीक है तो आखिर सुदीर्घ काल से भारत में राज्य करने वाले वे पुराने चत्रिय-वंश कहीं और कैसे लुप्त हो गए?

(१) यदि यह कहा जाय कि उन के बौद्ध या जैन मत ग्रहण कर लेने से उन का वर्ण नष्ट हो गया तो यह बात उचित नहीं प्रतीत होती, क्योंकि वैशाली के लिच्छवि चत्रियों के बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेने और दक्षिण के राष्ट्रकूट-नरेश अमोघवर्ष प्रथम के जैन मत ग्रहण कर लेने पर भी उन के वंशज चत्रिय ही बने रहे थे।

(२) यदि यह मान लिया जाय कि विदेशी आक्रमणकारियों ने चत्रिय वर्ण को समूल नष्ट कर दिया तो यह भी सम्भव प्रतीत नहीं होता; क्योंकि छह नरेश मिहिरकुल के (वि० सं० ५६६ = ई० स० ५४२ में) मरने के बाद से करीब पौने पाँच सौ वर्ष (अर्थात् महमूद गज़नवी के पञ्चाद पर अधिकार करने) तक भारत-वर्ष बाहरी आक्रमणों से बचा रहा था^३। और लिच्छवि चत्रियों के वि० सं० ८११ (ई० स० ७५४) तक के मिले लेखों^४ से उन का उस समय तक भी विद्यमान होना सिद्ध होता है। ऐसी हालत में 'पराशर स्मृति' के "कलावाधन्तयोः स्थितिः" इस वचन की दुहाई दे कर राजपूतों को अनार्य मान लेना उचित प्रतीत नहीं होता।

१. श्रीयुत वि० आ० स्मिथ का बन्धुको, राठोड़ों और गहड़वालियों को अनार्य गोंड, भर और खरवारों की सम्मान अनुमान करना भी प्रमाणशून्य ही है। चन्देलों के शिलालेखों में उन को चन्द्रवंशी लिखा है।

२. कान्यकुब्जे महाराज ! राष्ट्रकूटसकलकाय ।

छब्ब्या सुखाय तस्यां त्वं चौलुक्यापुहि सन्ततिम् ॥ ६ ॥

ई० आ०, जि० १२, पृ० २०१।

३. पद्यपि ई० सन् की आठवीं शताब्दी में अरबों ने सिन्ध विजय किया था, तथापि उन का प्रभाव भारत के अन्य प्रान्तों पर नहीं पड़ा था।

४. ई० आ०, जि० ३, पृ० १६३, १६७।

राठोड़ राजवंश का मूल इतिहास

श्रीधुव जगदीशसिंह गहलोत, जोधपुर।

जोधपुर का प्रसिद्ध राजघराना राठोड़ राजवंश कहलाता है। चित्रियों के छत्तीस राजकुलों में राठोड़ों का राजवंश प्राचीन है। “आईन-अकबरी” से ज्ञात होता है कि सम्राट् अकबर की सेना में ६० हजार सवार और दो लाख पैदल राठोड़ थे^१। कर्नल टॉड का मत है कि मुगल सम्राटों ने जितनी विजय प्राप्त की थी, वन में से अधिकांश का श्रेय राठोड़ों को था।

राजपूताना में प्रसिद्ध है कि—

बल्लहट-बड्ढा देवड़ा, करतब बड्ढा गौड़।

हाड़ा बड्ढा गाड़ मी, राणबड्ढा राठोड़॥

अर्थात् देवड़ा राजपूत बल और हट में एक ही है, गौड़ अपने कर्तव्य में अपूर्व है, हाड़ा वदन से गठोला होने में खासानी है और राठोड़ राणचेत्र में अद्वितीय है।

अज देशां, चन्दन बड़ा, मेरु पहाड़ा मौड़।

गरुड़ खंगा लड्ढा गढी, राजकुली राठोड़॥

अर्थात् देशों में अज, वृक्षों में चन्दन पहाड़ों में सुमेरु, पक्षियों में गरुड़, किलों में लड्ढा और राजकुलों में राठोड़ बड़े हैं।

राठोड़ों की उत्पत्ति के विषय में बड़ा मतभेद है। इन की ख्यात में लिखा है कि ये इन्द्र की रहट (रोड़) से उत्पन्न हुए, इसलिए राठोड़ कहलाए^२। एक मत है कि इन की कुलदेवी राष्ट्रसेना या राठाया थी, उस के नाम से राष्ट्रकुट या राठोड़ कहलाए^३। कहीं लिखा है कि इन का मूलपुरुष राष्ट्रकुट था, इस से ये राठोड़ प्रसिद्ध हुए^४। दूसरी ओर राठोड़ों के बड़बा-भाट इन को दैत्यवंशी हिरण्यकशिपु की सन्तान बतलाते हैं^५। कर्नल टॉड ने इन्हें भी राजपूतों के दूसरे वंशों की तरह उत्तर की ओर से आए हुए शक आदि अनाथों की—जिन्होंने हिन्दू-धर्म तथा सम्यग्वा स्वीकार कर ली थी—सन्तान लिखा है^६। डॉ० विंसेंट स्मिथ और उस के लेखों की छाया पर निर्भर रहने वाले कुछ भारतीय विद्वानों का कहना है कि राठोड़, गाहड़वाल और चन्देल आदि प्रसिद्ध राजवंश

१. आईन-अकबरी, लि० ३, पृ० ४४-४५।

२. राजतरंगिणी, भा० १, तरङ्ग १, पृ० ८०।

३. सर सुखदेव—दि राठोर्स, देवर ओरिजिन पैंड ग्रोथ (१८६९ ई०), सूफिका, पृ० १।

४. राजतरंगिणी, भा० १, तरङ्ग १, पृ० ८८; डॉ० राजस्थान, भाग १, पृ० १०५।

५. डॉ० राजस्थान, लि० १, पृ० १०६, पृ० १००, लि० २, पृ० २३।

६. डॉ० राजस्थान, लि० १, पृ० ७३।

प्राचीन आर्य चत्रिय नहीं हैं; किन्तु ये गोंड, भर आदि जङ्गली असभ्य जातियों से निकले हैं और उन्होंने अपनी उत्पत्ति सूर्य और चन्द्र से जा मिलाई^१। कुछ लोगों का ऐसा भी अनुमान है कि राठोड़ दक्षिण के द्रविड हैं^२। परन्तु राठोड़ अपने को शुद्ध चत्रिय आर्य और अयोध्या के महाराजा रामचन्द्र के ज्येष्ठ पुत्र कुश के वंशज बतलाते हैं।

राठोड़ों का सम्बन्ध प्राचीन अभिलेखों और वाङ्मय के रठियों या राठिकों से, जिन के नाम से महाराष्ट्र देश का नाम पड़ा है, प्रतीत होता है। रठिकों का उल्लेख हम अशोक के समय से पाते हैं^३।

वेल्स की गुफाओं में खुदे लेखों में भी राष्ट्रकूट शब्द मिलता है^४। कई विद्वान यह मानते हैं कि राष्ट्रकूट या राठोड़ उत्तर भारत से दक्षिण में गए; परन्तु सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान डॉ० सर रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर और महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशङ्कर-हीराचन्द ओझा के मतानुसार राठोड़ों का मूलराज्य दक्षिण में था और वहाँ से उन्होंने पीछे से गुजरात, राजपूताना, मध्यप्रदेश, मालवा, गया (पीठ) आदि प्रान्तों में राज्य स्थापित किए।

राठोड़ों का, सातवीं शताब्दी के पूर्व का, प्राचीन इतिहास अन्धकार में है। उत्तर भारत की राष्ट्रकूट राजा अभिमन्यु का वाम्रपत्र मिला है जिस में उदिकवाटिका नामक ग्राम का दान देना सूचित होता है^५। उस में संवत् नहीं है, परन्तु उस की लिपि सातवीं शताब्दी की अनुमान की जाती है^६।

सिक्ख^७ और नवसारी^८ से मिले शिलालेखों और वाम्रपत्रों में राष्ट्रकूट और रठ शब्द का प्रयोग किया गया है। मेवाड़ के महाराणा कुम्भा के बेटे रायमल की रानी और राव जोधा राठोड़ की पुत्री शृङ्गारदेवी की बनाई हुई घोसुंडी बावड़ी के सं० १५६१ वि० के शिलालेख में "राष्ट्रवर्य" शब्द तथा नाडोल (मारवाड़) के चौहान कीर्तिपाल के सं० १२१८ सावन सुदि १४ के वाम्रपत्र में "राष्टोड़" शब्द राठोड़ों के लिए मिलता है^९। इसी राठोड़ शब्द से राठोड़ बन गया और यही आजकल प्रचलित है।

आजकल राठोड़ अपने को सूर्यवंशी मानते हैं। राठोड़-राजवंश के प्रायः ६० प्राचीन शिलालेख और वाम्रपत्र दक्षिण गुजरात आदि से मिले हैं। इन में से वि० सं० ६१७ से १०६५ तक के ८ लेखों में राठोड़ों

१. अ० हि० ई० (चुनिय संस्क०), पृ० ३२२।

२. डॉ० वर्नेले रठ शब्द को तैलंग भाषा के रेड्डी शब्द का रूपान्तर मानते हैं, जो उस भाषा में वहाँ के आदिम निवासी किसानों के लिए प्रयुक्त होता है।

३. केव टैपलस् इन्स्क्रिप्शन्, पृ० १२।

४. जर्ली हिस्ट्री ऑफ़ द्रेकन, पृ० ४७।

५. पण्डित—व० ग० १, २, पृ० ३४६; पृ० ६०, जि० ८, पृ० १६३।

६. ई० आ०, जि० २२, पृ० २२०।

७. ज० व० १० पृ० १०, जि० २८, पृ० २६६।

८. जोधपुर राज्य के बाही परगना के गाँव कोयलबाव का अभिलेखित लेख इस प्रकार है—

संवत् १२०८ माघ सुदि १

सोमे श्री जसबल्ल राजे

राठवड़ पुनर्सिंह सुत

पुणपाल सुत शाहनु सो

मनद जि० ८ मन् ठा (१) कारीठा

का चन्द्रवंशी होना लिखा है^१, बाकी में उन की उत्पत्ति के विषय में कुछ नहीं लिखा। राठोड़ों का सूर्यवंशी होना सोलहवीं शताब्दी के लेखों से प्रारम्भ हुआ पाया जाता है।

इतिहासवेत्ताओं में एक और विवाद चला आता है। वह यह है कि क्या राठोड़ और गाहड़वाल (गहरवार) वंश एक है या भिन्न। जोधपुर राज्य के मतानुसार गाहड़वाल और राठोड़ एक ही वंश है और गाहड़वाल राठोड़ों की एक शाखा मात्र है। इस विषय में कई विद्वान् यह प्रश्न करते हैं कि राठोड़ों का गोत्र गौतम और गाहड़वालों का कश्यप है, फिर दोनों एक कैसे? गहरवारों का राठोड़ होना आज तक किसी शिलालेख में नहीं मिला। राठोड़ों की गाहड़वाल शाखा होना किसी क्वात या काव्य आदि में भी नहीं पाया जाता। राठोड़ और गाहड़वाल आज तक आपस में विवाह तक करते हैं^२। इस के सिवा गाहड़वालों को कर्नल टॉड ने राठोड़ों से हलका माना है। पुराने लेखों में गाहड़वालों को सूर्यवंशी और राठोड़ों को चन्द्रवंशी लिखा है।

इन शङ्काओं के उत्तर में जोधपुर राज्य के इतिहास-विभाग का कहना है कि गोत्र तो अपने गुरु के बदलने पर बदल जाता है। विवाह एक ही खौप (कुल) की उपशाखा में हो जाता करता है और गाहड़वाल भी अपने को राठोड़ ही कहते हैं। रघु चन्द्रवंश और सूर्यवंश की बात; सो यह एक मनगढ़न्त कल्पना मात्र है। इस विषय में कैप्टेन ल्युअर्ड^३, हेमचन्द्र राय^४, ओझा आदि कई विद्वानों का मत है कि गाहड़वाल राठोड़ों की शाखा नहीं है, गाहड़वाल एक स्वतन्त्र कुल है। कन्नौज के गाहड़वालों के राज्य में बदायूँ पर राठोड़ों का अधिकार था।

इस के साथ-साथ यह प्रश्न भी है कि वर्तमान जोधपुर-राजवंश के मूलपुरुष किस के वंशधर है? राज्य तो इन को कन्नौज के गाहड़वाल महाराजा जयचन्द्र के वंशधर मानता है। उस के मत में कन्नौज के गाहड़वाल और उस के पड़ोसी बदायूँ के राठोड़ों का मूलपुरुष एक ही था, अर्थात् जो चन्द्र नाम का था। उस का कहना है कि चन्द्र ने पहले बदायूँ और बाद में कन्नौज पर अधिकार किया। बदायूँ में वह राठोड़ कहलाया और कन्नौज में उस के वंशजों का नाम गाहड़वाल पड़ा। क्योंकि कन्नौज का पुराना नाम गाविपुर था जो विगड़ कर गाहड़वाल हुआ। चन्द्र का बड़ा पुत्र सदनपाल कन्नौज की गद्दी पर बैठा और विग्रहपाल को छुटभैया रूप में बदायूँ का राज्य मिला। यही हाल सं० १२५३ के आसपास तक रहा। कन्नौज की शाखा में जयचन्द्र और उस का पुत्र हरिरचन्द्र हुआ और बदायूँ की शाखा में लखनपाल (लगभग वि० सं० १२८० में)। कन्नौज की शाखा में हरिरचन्द्र का पुत्र सेवराज माना जाता है जिस का पुत्र राव सीहा वि० सं० १२८२ के लगभग कन्नौज से मारवाड़ में आया।

परन्तु कई विद्वानों का मत इस के विरुद्ध है। वे तो बदायूँ की शाखा को राठोड़ और कन्नौज की शाखा को गाहड़वाल मान कर इन दोनों राजवंशों को भिन्न-भिन्न मानते हैं और कहते हैं कि कन्नौज और बदायूँ के राजघरानों का मूलपुरुष एक न था, जैसा कि जोधपुर राज्य के महकमे-नवारीज़ ने माना है। बदायूँ के

१ ए० इ०, लि० ६, पृ० २६, ख० सं० ५० सो०, लि० १८, पृ० २६१।

२ चरित्रमित्र (दिसंबर १९३३), भाग २४, संख्या २१, पृष्ठ २४, पृष्ठ ३३।

३ रुडिन प्रिंसन एंड चीफ्स एंड वॉरिंग फेमिलीज इन सेंट्रल इंडिया (१९२३ ई०), पृ० ३।

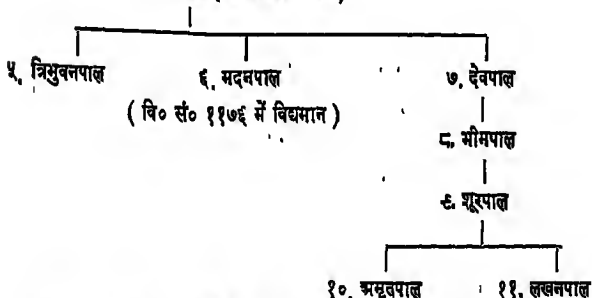
४ थापनेस्टक हिस्ती ऑफ् नॉर्दर्न इंडिया (प्राचीन काल और मध्य काल), कल कला यूनिवर्सिटी, जि० १, पृ० १६४-६५।

राठोड़ों के मूलपुरुष का नाम चन्द्र मिश्रता है और कन्नौज को विजय करने वाले राजा का नाम चन्द्र देव । बदायूँ का चन्द्र कन्नौज के चन्द्रदेव से पहले हुआ था । उस के छोटे उत्तराधिकारी मदनपाल का सं० ११७६ (ई० सं० १११६) का शिलालेख गोंडा (अवध) जिले के सहेठ सहेठ से मिला है । उस में लिखा है कि गाधिपुर (कन्नौज) के राजा गोपाल का सहायकार विद्याधर था और मदन के समय भी वह उसी पद पर नियत था । गोपाल कन्नौज के गाहड़वाल राजाओं में कोई नहीं हुआ । इस से पाया जाता है कि मदन गोपाल का पुत्र होगा । बदायूँ के शिलालेख में गोपाल के तीन पुत्रों के नाम त्रिभुवनपाल, मदनपाल और देवपाल लिखे हैं, जिन्होंने एक-दूसरे के बाद वहाँ का राज्य पाया । मदन या मदनपाल वि० सं० ११७६ (ई० सं० १११६) में विद्यमान था । उस के पहले उस का भाई त्रिभुवनपाल राजा था और त्रिभुवनपाल का पिता गोपाल कन्नौज का राजा था । इस से पाया जाता है कि बदायूँ के राष्ट्रकूट राजा गोपाल ने पड़िहारों के कमजोर होने पर उन का राज्य छीन लिया था । मदन या मदनपाल वि० सं० ११७६ में विद्यमान था, ऐसी दशा में उस के भाई त्रिभुवनपाल का वि० सं० ११५६ के आसपास होने का अनुमान किया जा सकता है और गोपाल का वि० सं० ११३६ (ई० सं० १०७६) के आसपास मौजूद होना माना जा सकता है ।

उधर गाहड़वाल चन्द्रदेव का सब से पहला दानपत्र वि० सं० ११४८ (ई० सं० १०८९) का मिला है^१, इसलिय पाया जाता है कि गाहड़वाल चन्द्रदेव ने राठोड़ गोपाल या उस के पुत्र त्रिभुवनपाल से कन्नौज का राज्य छीन लिया हो ।

बदायूँ के शिलालेख के अनुसार वंश-वृत्त नीचे लिखे अनुसार बनता है—

१. चन्द्र (राष्ट्रकूट)
२. विग्रहपाल
३. भुवनपाल
४. गोपाल (कन्नौज का राजा)



गाहड़वाल चन्द्रदेव ने कन्नौज का राज्य था तो गोपाल राठोड़ से था उस के पुत्र त्रिभुवनपाल से लिया होगा । बदायूँ का राठोड़ चन्द्र, गाहड़वाल चन्द्रदेव से भिन्न और उस से पहले हुआ था ।

उन का कथन है कि बदायूँ (कन्नौज प्रान्त) के राठोड़ों के वंशज सेवराम व सीहानी थे । जोधपुर के राठोड़ गाहड़वाल राजा जयचन्द्र के वंशज होते तो जुन्देलों की साईं वे गाहड़वालों की छोटी शाखा में माने जाते । अतः वे गाहड़वाल नहीं किन्तु शुद्ध राठोड़ ही हैं ।

१. दे०—शा० सं० ई० (न्यू सीरीज़), जि० १, पृ० ७१; ज० वं० पृ० २०, लि० ६१, भा० १ ।

ऐतिहासिक खोज के पूर्व कन्नौज के राजा जयचन्द्र को पृथ्वीराजरासो और कर्नल टॉड के अनुसार राठोड़ ही मानते थे। परन्तु अब कन्नौज के जयचन्द्र के पूर्वजों के अनेक तालपत्र मिले हैं जिन में उन को गाहड़वाल ही लिखा है, राठोड़ कहीं नहीं लिखा। इस से विद्वानों ने अनुमान किया है कि कन्नौज का गाहड़वाल राजवंश एक स्वतन्त्र वंश है, वह किसी की शाखा नहीं। इधर जोधपुर राजवराना अपने को राठोड़ मानता है इसलिए इस राठोड़-वंश का कन्नौज से आना मानते हैं परन्तु वहाँ भी कन्नौज राज्य के अन्तर्गत था। इसलिए वहाँ से गए हुए राठोड़ कन्नौज राज्य से आए हुए माने जायें तो कोई आपत्ति नहीं।

जोधपुर के राठोड़ों का सम्बन्ध कन्नौज के गाहड़वालों से मिलाना शायद भाटों की कल्पना है। आधुनिक खोजों से यह कल्पना हिल गई है और इन की उत्पत्ति कन्नौज प्रांति य व दाँवों के राठोड़ों से होना पुष्ट हो रहा है। जो हो, इस में दो तनिक भी सन्देह नहीं कि मारवाड़ में प्रथम प्रवेश करने वाले तथा इस वर्तमान राठोड़-राजवंश के मूलपुरुष राव सीहानी राठोड़ ही थे जो लगभग स० १३०० के इधर आए।

८

भूवृत्त



नकुल का पश्चिम-दिग्विजय

श्रीशुत जयचन्द्र विद्याभट्ट

महाभारत समापर्व के अन्तर्गत दिग्विजयपर्व प्राचीन भारत के भू-विभागों के अध्ययन के लिए बड़े महत्त्व का है। इन्द्रप्रस्थ में पाण्डवों की राजधानी स्थापित होने पर धर्मराज युधिष्ठिर अपने चारों भाइयों को चार दिशाओं का विजय करने भेजता है, और उन में से प्रत्येक अपनी अपनी दिशा के तमाम राज्यों, देशों और जातियों को जीत कर लौटता है। महाभारत के इस अंश के लेखक या लेखकों का अपने समय का भूमिविषयक ज्ञान इस बहाने बढ़ा अंकित हो गया है।

सब से पहले अर्जुन को उत्तर-दिग्विजय की तीन यात्राओं का वर्णन है। उन का रास्ता मैंने पहले पहल सन् १९३० के अन्त में टटोला था, और उस खोज के परिणाम प्रकाशित हो चुके हैं^१। नकुल की पश्चिम-दिग्विजय-यात्रा दिग्विजयपर्व के अन्तिम अध्याय में है। वह कुम्भभोजम्-संस्करण के अनुसार समापर्व का ३५ वाँ, तथा सुब्रह्मण्य शास्त्री के मद्रास से प्रकाशित नये दक्षिणी संस्करण के अनुसार २८ वाँ अध्याय है। काठमांडू, नेपाल के श्री ६ मान्यवर राज-शुरू हेमराज पंडित ज्यू को प्राप्त महाभारत की ताकपत्रों पर लिखित अत्यन्त प्राचीन प्रति से भी मैंने सन् १९३२ में इस पर्व का अध्ययन किया था, और सब पाठमेव ले लिये थे। मुझे अत्यन्त खेद है कि वह लेख लिखते समय वे कागजात मेरे पास नहीं हैं, और इस समय उन की प्रतीक्षा भी नहीं की जा सकती। यदि कोई विरोध बात उन में मिलेगी तो अपेक्षित संशोधन पोछे कर दूँगा। आगे की विवेचना में गोल कोटों के अन्दर दर्ज सख्याएँ कुम्भभोजम्-संस्करण के अनुसार उक्त अध्याय की श्लोक-सख्याओं को सूचित करती हैं।

नकुल खाण्डवप्रस्थ से बही मारो मेना के साथ पच्छिम दिशा को निकलता है (२,३), और पहले-पहल “गवाढ्य धन-धान्य वाले कार्तिकेय के प्रिय” रो हो त क पर जा दूटता है (४), वहाँ उस का शूर म त्त म यूर को से पकड़ लेता है—रोहतक-सिरसा। भारो युद्ध होता है, वह समूची म रु भूमि को और व हु धा न्य क को (५), शै री प क और म हे त्थ को बरा मे कर लेता है, तथा राजा आक्रोष को भी जिस के साथ कि बढ़ा युद्ध होता है (६)।

रो हो त क और शै री प क स्पष्ट ही आधुनिक रोहतक और सिरसा हैं। दिल्ली से जो रास्ता आज दक्खिन पंजाब की तरफ सीधा बढ़ता है, वह रोहतक, महेंम, हाँसो, सिरसा, फाजिलका होते हुए सवलज पार करता, और फिर

^१ भारतभूमि और उस के निवासी, आगरा १९८८, परिशिष्ट १, दली भारतीय ओरियंटल कान्फरेंस पटना का विवरण, पृ० १०१ प्र, तथा भारतीय इतिहास की रूपरेखा (हिंदुस्तानी एकादमी, प्रयाग से प्रकाशमान,) पृ० १०५९-७१, जहाँ कि उक्त खोज के अन्तिम परिणाम दर्ज किये गये हैं।

गुगेरा के सामने रावी का घाट उत्तर कर गोजरा होते हुए मंग पहुँचता है^१। मंग प्राचीन शिवि राष्ट्र को सूचित करता है। वहाँ से यह राजपथ अपनी दो बाहें उत्तर और दक्खिन फैला देता है—एक शाहपुर और रावलपिंडी अर्थात् केकय और गान्धार की तरफ, और दूसरी मुलतान और बहावलपुर की तरफ। स्पष्ट है कि नकुल ने दिल्ली से इसी राजपथ को पकड़ा था। म हे त्वं के बजाय सुनक्षत्र्य शास्त्री के संस्करण मे च है म पाठ है; मुल पाठ शायद म हे मं था, जिसे आजकल का महम समझना चाहिए। रोहतक-सिरसा के समूचे प्रदेश में कुछ अंश म रु भूमि थे, और कुछ बहु वान्य क। रोहतक के विशेषख ग वा ल्य—गौअों का धनी—तथा धन धान्य वत् भो ध्यान देने योग्य हैं। इस सब से प्रकट है कि यह वर्णन बहुत ही सच्चा है। रोहतक इलाके में म त म यूर क लोग रहते थे, यह एक नई सूचना है। मत्त-मयूरक कौन थे? कहीं मोर पालने के कारण ही तो उन का यह नाम न पड़ा था? समूचे रोहतक इलाके में आज भी मोर पवित्र प्राणी माना जाता, और घर घर बोख पड़ता है। रोहतक को यहाँ का त्ति के य का प्रिय कहा है; कार्तिकेय का वाहन मोर है। क्या रोहतक में कार्तिकेय की पूजा प्रचलित थी, और इसी से वहाँ मोर पवित्र माना जाने लगा था? जिस प्रदेश के निवासी आज भी भारत को सब से शूर और सुन्दर जातियों के अगुआ हैं, तथा मनुस्मृति के समय भी सेनाओं को हरावल्लों में रखे जाते थे^२, उस में युद्ध के देवता कार्तिकेय की पूजा प्रचलित रहना बहुत संगत था। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि इस वर्णन में रोहतक-महम-सिरसा इलाके का अत्यन्त प्रसिद्ध नाम हरि या ख क या हरि या ना नहीं है, वह नाम मध्य काल से चला दीखता है, जब कि रोहीतक, महम और शैरीषक पुराने नाम हैं।

रोहतक-सिरसा इलाके के आगे नकुल की यात्रा का वर्णन यो है—“उन दशा यों को जोत कर पाण्डु का लाल आगे बढ़ा (प्र त स्ये)। शिवि अों, त्रि ग चों, अ म्ब छों, माल बो, पञ्च क र्प टो (७) तथा मध्य म के यों और वाट धान द्विजों को (जोते हुए) फिर लौट कर (पुनश्च परिवृत्य) पुष्करा-दूसरी चढ़ाई—दक्खिन और मध्य पञ्चाव रस्यवासियों को (८)।”

रोहतक-सिरसा इलाको को यहाँ दशार्ण कहना ठीक है, या यह कोई पाठदोष है, सो मैं नहीं कह सकता। दशार्ण वास्तव में पूरबी मालवा—आधुनिक धसान—प्रदेश है, जहाँ दशार्णा या धसान नदी बहती है। सुनक्षत्र्य शास्त्री वाले संस्करण में यह पक्ति नहीं है।

इस सम्बन्ध में प्र त स्ये और पुनश्च परिवृत्य शब्द ध्यान देने योग्य हैं। नकुल अपने मुख्य रास्ते से एक तरफ प्रस्थान करता है, और फिर लौट कर पहले रास्ते पर आ जाता है। बीच में जिन जातियों के नाम हैं, वे सब दक्खिन और मध्य पञ्जाब की हैं। शिवि यों की राजधानी शिवि पुर आधुनिक शोरकोट के स्थान पर थी,^३ और सिकन्दर की चढ़ाई के समय वे लोग चिनाब के बाये किनारे मंग-शोरकोट-प्रदेश में ही थे^४। त्रि ग चों का नाम यहाँ आने से कुछ कठिनाई उपस्थित होती है। उन का उल्लेख अर्जुन के उत्तर-विजय में भी आ चुका है। यह निश्चित है कि त्रिगर्त में आधुनिक छावा (जलन्धर-दुसियारपुर) और काँगड़ा सम्मिलित थे। क्या यह व्याख्या की जाय कि त्रिगर्त का पहाड़ी हिस्सा—काँगड़ा—अर्जुन ने जीता, और बाकी—मैदान का—नकुल ने? ऐसा अर्थ करने पर भी यह कठिनाई रह जाती है कि केवल त्रिगर्त नाम यहाँ होने से इन जातियों के नाम स्थान-क्रम से नहीं रहते। अ म्ब छ

^१ इंडिया ऐंड ऐडजेसेंट कन्ट्रीज (भारत और पड़ोसी देश, भारत-सरकार के सर्वे-विभाग द्वारा प्रकाशित नक्शे),

शीट नं० ५३, ४४, ४३, ३९।

^२ मनुस्मृति, ७. १९३।

^३ भारतसूचि, पृ० २१८।

^४ भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ० ५३०।

सिकन्दर के समय अन्तिम संगम पर थे, और मालव रावी के निचले कंठ में^१। यहाँ भी उन जातियों की वही स्थिति प्रतीत होती है। पञ्च कर्पटों को पहचान मैं नहीं कर पाया हूँ। मध्यम के य का स्पष्ट अर्थ है माम्ना के लोग; पंजाब का केन्द्र प्रदेश अमृतसर-पट्टे-नरनतारन का इलाका है, जिस में सिकन्दर के समय कठ जाति रहती थी^२। उस जाति के नाम से वह प्रदेश कठ कहलाता था^३, पंजाब के मध्य में होने से वह माम्ना है। वाटघान सम्भवतः भटनेर-भटिडा का प्रदेश था, सो हम अभी देखेंगे।

इस सन्दर्भ में कई बातें विचारणीय और ध्यान देने योग्य हैं। पहले बात, जैसा कि हम ने अभी देखा, शिव और अश्वपति के बीच यदि त्रिगर्त का नाम न होता तो यह कहा जा सकता कि ये सब नाम खान-क्रम से हैं। सिकन्दर के समय शिव के पड़ोस में एक जाति रहती थी जिसे यूनानियों ने अगलसस (Agalassoi) कहा है^४। यदि त्रिगर्त के बजाय यहाँ उस जाति का नाम हो तो समूचा क्रम ठीक हो जाय, शायद किसी पुरानी प्रति में वह नाम निकल आय। दूसरे, मालवों का नाम यहाँ अश्वपति के पड़ोस में और मध्यमकेयों से पहले होने में सिद्ध है कि यहाँ पञ्जाब के आधुनिक मालवे—भीरोजपुर-खुधियाना-प्रदेश—से अभिप्राय नहीं, प्रत्युत रावी के उसी निचले कंठ से है जहाँ सिकन्दर के समय मालव लोग रहते थे। दूसरी शताब्दी ई० पू० के झुल में मालव गण दक्खिन पञ्जाब से उठ कर उत्तर राजपूताना की तरफ चला गया था^५, यह सन्दर्भ सम्भवतः उस घटना से पहले का है। तीसरे, भारतीय वाङ्मय में माम्ना का नाम सब से पहले शायद इसी सन्दर्भ में आया है; यद्यपि अभी तक वह पहचाना न गया था। माम्ना शुद्ध प्रादेशिक नाम है, न कि जातीय, इसलिए यह सन्दर्भ ऐसे समय की सूचित करता है जब वह जातीय नाम मिटने और प्रादेशिक नाम को स्थान देने लगा था।

वाटघान का विचार करना बाकी रहा। शिव अश्वपति मालव मध्यमकेय—इस क्रम के अन्त में होने से उन्हें माम्ना के पूरव या दक्खिन कहीं होना चाहिए। क्योंकि वाटघानों को जोत कर नकुल 'फिर लौट आता है', इसलिए उन का देश उस के लौटने के मार्ग पर हो तो ठीक। हम अभी देखेंगे कि लौटने के बाद वह प्राचीन घग्गढ़ या हूँकड़ा नदी के कंठ से सिन्ध की तरफ बढ़ता है। आजकल यह नदी नहीं है, केवल उस का सूखा पाट है, पर मुख्यतः जिन दो धाराओं के मिलने से वह बनती थी, वे उपरले धारा में विद्यमान हैं^६। सरसुती और मार्कण्डे दोनों सरसौर की उपत्यका के पहाड़ों से, एक साधौरा के पूरव और दूसरी पच्छिम, पैदा होती है। सरसुती थानेसर के पास से बहती हुई कुछ आगे जा कर पच्छिम में मोड़ लेती, और वहाँ चौताग कहलाने लगती है, सिरसा के प्रायः ठीक दक्खिन बहादुरन तक पहुँचने के बाद वह मरुभूमि में गायब हो जाती है, उस का सूखा पाट आगे भी विद्यमान है। मार्कण्डे साधौरा के पच्छिम शुरू हो कर शाहाबाद को बाएँ रखते हुए बढ़ता है; पिहोवा या पृथ्वी भी, जो प्राचीन काल में उत्तरापथ और मध्यदेश के बीच सीमान्त बस्ती थी, उस के बाएँ किनारे है, पटियाहा नदी का पानी लेने के बाद वह सिरसा की तरफ बढ़ता, और सिरसा को अपने दाहिने रखते हुए थोड़े दूर आगे बहने के बाद रेगिस्तान में लुप्त हो जाता है। उस के जरा ही आगे उस के सूखे पाट में बार या बाड नामक एक और सूखे नाले का पाट आ मिलता है, और फिर भटनेर को दाहिने छोड़ते हुए यह सूखा पाट रामपुरा पर चौतांग के सूखे पाट में जा मिलता है। सरसुती और मार्कण्डे के समागम से बनने वाली यह सूखी नदी वहाँ से प्रायः सीधे पच्छिम बढ़ते हुए, सरदारगढ़ पर अबोहर की तरफ से आने वाले एक और

^१ वहीं, पृ० ५५०, ५४०।

^२ वहीं, पृ० ५३७-३८।

^३ वहीं, पृ० ५४०।

^४ वहीं, पृ० ३३५-३६।

^५ अगले वर्ष के लिए 'भारत और पड़ोसी देश' नाम की पुस्तक कीटो देखिए।

सूखे नाले के संगम के बाद, ७२° देशान्तर-रेखा से कुछ पहले दो शाखाओं में बँट जातो है; दाहिनी शाखा सीधे पच्छिम बढ़ जाती है, और कुछ दूर तक टटोली जा सकती है; बाँई ज़रा दक्खिन झुकते हुए पच्छिम बढ़ती है, और सिन्ध और पञ्जाब की सीमा पर रेती नामक बस्ती के पास २८° अक्षांश रेखा तक पहुँच कर समाप्त हो जातो है।

वा र अथवा वा ड नाले के नाम से क्या वा ट धा न का कुछ सम्बन्ध नहीं हो सकता ? महाभारत के कलकत्ता-संस्करण में एक स्थल पर 'वाटधान' के बजाय 'वारधान' पाठ है भी^१ । नकुल की यात्रा की योजना में वाटधान का वाड नाले के काँठे में—मटनेर के इलाके में—रहना पूरी तरह संगत होता है। घग्घड़ नदी के जीवन-काल में मटनेर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण फौजी नाका भी था। मेरे श्रद्धेय गुरु श्रीयुक्त काशीप्रसाद जायसवाल ने हाल में यह स्थापना की है कि वाटधान=पठान^२ । मैं इस स्थापना को स्वीकार करने में असमर्थ हूँ। हमारे प्रस्तुत सन्दर्भ के अतिरिक्त महाभारत का एक और सन्दर्भ वाटधानों की स्थिति को पञ्जाब के दक्खिन-पूरबी छोर पर सर्वथा निश्चित कर डालता है। उद्योग-पर्व में जहाँ सेनाओं के जुटने का वर्णन है, वहाँ कहा है कि कौरवों की सेना हस्तिनापुर में समाती न थी, उस ने पड़ोस के सब प्रदेशों को ढक दिया; पड़ोसी प्रदेशों का उल्लेख वहाँ इस प्रकार है—

न हास्तिनपुरे राजन् अवकाशोऽभवच्छदा ॥२८॥

राज्ञे स्ववक्त्रमुखाणां प्राघाभ्येनापि भारत ।

ततः पञ्चनदं चैव कुत्सन् च कुरुनद्वक्त्रम् ॥२९॥

तथा रोहितकारण्यं मरुभूमिश्च केवला ।

अहिच्छत्रं कालकूटं गङ्गाकूलं च भारत ॥३०॥

वारणं वा ट धा नं च यामुनञ्चैव पर्वतः ।

एष देशः सुविस्तीर्णः प्रभृतधनधान्यवान् ॥३१॥

यमूव कौरवेयाणां बलेनातीव संवृतः^३ ।

अर्थात् हस्तिनापुर में कौरव सेनाये न समाती थीं; और यमूवा पञ्चनद, कुरु-राष्ट्र का वांगर (कु र जां ग ल=आधुनिक बागड़), रोहितकारण्य, मरुभूमि, अहिच्छत्र (उत्तर पञ्चाल देश की राजधानी=आधुनिक बरेली जिले में रामनगर), कालकूट (?), गंगा-काँठा, वारण (वरण=बुलन्दशहर ?), वा ट धा न और यामुन अर्थात् कौलिन्द पर्वत (=कुण्डिन्द राष्ट्र)^४—यह विस्तीर्ण देश उन से ढका गया। पञ्चनद, जैसा कि हम अभी देखेंगे, पञ्जाब नहीं, प्रत्युत सतलज का निचला काँठा है। इस प्रकार पञ्चाल से पञ्चनद तक कौरव सेनाये फैली थी, और वाटधान उन के बीच ही कहीं होना चाहिए।

जायसवाल जी ने बराहमिहिर की बृहत्संहिता का एक उद्धरण पेश किया है, जहाँ "वा ट धा न-यौ धे याः" को उत्तरापथ का निवासी कहा है। यौधेय सतलज के निचले काँठे पर रहते थे^५; वाटधानों का उन के पड़ोस में मटनेर के चौगिर्द रहना बहुत संगत है। वा ट धा न शब्द का अपभ्रंश प ठा न होना भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भले ही ठीक हो, पर पठान शब्द परतो या परुतो भाषा के प श्ता न या प र्त्ता न का हिन्दी रूपान्तर मात्र है।

^१ डे० सौरसेन-कृत महाभारत की इडेंक्स, लंडन १९०४, में वाटधान शब्द ।

^२ डे० भा० १९३३, पृ० ११९ ।

^३ डे० भा० ५. १९ ।

^४ डे० भारतभूमि पृ० ३१०-३१ ; रूपरेखा पृ० १०६४ ।

^५ रूपरेखा, पृ० १३१ ।

सुब्रह्मण्य शास्त्री वाले सस्करण में रोहतक-प्रसंग के अन्त की आक्रोश राजा वाली पंक्ति नहीं है, उस के स्थान में वहाँ यह पंक्ति है—

लिलन्धान् वटधानाञ्च हृत्तैरेव जिगाथ तात् ।

‘लिलन्धान्’ के बजाय ‘सिलीन्धान्’, ‘एलधान्’ और ‘लिथिधान्’ पाठ भी हैं। ‘वटधान’ के बजाय एक पाठ ‘पाट-धान’ भी है। फिर पञ्जाब-प्रकरण के अन्त में ‘वाटधानान् द्विजान्’ के बजाय ‘औपावृतगणान्’ पाठ है। लिलन्ध, सिलीन्ध या एलध और औपावृतगण की व्याख्या करने में मैं असमर्थ हूँ। वाटधानों का नाम पञ्जाब प्रकरण के अन्त के बजाय उस के आदि में है; इस से कुछ भेद नहीं पड़ता, क्योंकि वाटधानों की स्थिति हमने पञ्जाब और रोहतक-प्रदेश के बीच ही पाई है।

पञ्जाब से लौटने के बाद नकुल को यात्रा का बर्णन यों है—

पुनश्च परिवृत्ताय पुष्करारण्यवासिभः ॥ ८ ॥

गणानुत्सवसंकेतान् गजवत्पुरुषपदम् ।

तीसरी चढ़ाई—हॉकला से हिगोल

सिन्धुकूलाश्रिता ये च ग्रामणीया महायुगाः ॥ ९ ॥

शूद्रामीरगणान्चैव ये चाशित्य सरस्वतीम् ।

वर्त्तयन्ति च ये मत्स्यैर्षं च पर्यतवासिनः ॥ १० ॥

“फिर लौट कर अब उस पुरुषर्षभ ने पुष्करारण्य के रहने वाले उत्सवसंकेत गणों को जोता, और जो सिन्धु के काँठे में आबाद अत्यन्त शक्तिशाली ग्रामणियों के (गण हैं) तथा जो शूद्र और आमीर-गण हैं, और जो सरस्वती पर बसे हैं, तथा जो मछलियों से गुजर करते हैं, और जो पर्वतवासी हैं (उन सब को जोता) ।”

पुष्क रा र ण्य पोकन हो या पुष्कर का जंगल । नकुल सिरसा-प्रदेश के आसपास लौट कर वहाँ से सीधे सिन्धु की तरफ बढ़ता है, इस से स्पष्ट है कि वह घग्घड-हॉकला के काँठे से उत्तर-पच्छिमी राजपूताना जीतता हुआ सिन्धु पहुँचता है। रघु और अर्जुन के उत्तर-दिविजयों में हम व त्स वन्स के व का अर्थ समझ चुके हैं^१, वह किसी विशेष जाति का नाम नहीं, प्रत्युत ऐसी सब जातियों की परिभाषा थी जिन में विवाह को प्रथा स्थापित न हुई होती। पोकन प्रदेश अर्थात् पच्छिमी राजपूताना में भी वैसी कोई जातियाँ रहती रही होंगी। शूद्र या शौद्र नाम का एक गण-राज्य सिकन्दर के समय भी उत्तरी सिन्ध में था^२। आभीर देश पेरिस के लेखक के समय (लगभग ८० ई०) पच्छिमी राजपूताना में सिन्ध की सीमा पर था^३।

व र्त्त य न्ति च ये म त्स्यैः—जो मछलियों से गुजर करते हैं—उन लोगों ने सिकन्दर और उस के साथियों को भी चकित किया था। हिगोल नदी के पच्छिम, भारतवर्ष की पच्छिमी सीमा रास भलान के ठीक बाद उन्हें ऐसे लोग मिले थे, जो केवल मछली पर ही गुजर करते, तथा बड़ी मछलियों को हड्डियों से ही अपने भोजन भी बनाते और खाते थे। यूनानियों ने उन का नाम इ क्थ्यु ओ फ गो ई (Ichthyophagoi) अर्थात् मत्स्योपजीवी रक्खा था, और वहाँ भी उसी का ठीक अनुवाद है। उस जाति का जीवन आज भी वैसा ही है; उन के डोर-डंगर गाय-बकरी तक मछली खा कर रहते हैं।

शूद्रामीरगणों और मत्स्योपजीवियों के देशों के बीच जिस सरस्वती का जिक्र है, वह सिन्ध नदी के दाहिने होनी चाहिए। वहाँ तीन ही मुख्य नदियाँ हैं—हाव, पोराली और हिगोल। हाव, खीरखर और पव पर्वतों के बीच है, उस

^१ भारतभूमि पृ० ३०८ ।

^२ रूपरेखा, पृ० ५४२ ।

^३ पेरिसस, पृ० ३९ ।

की बाहिनी धारा का नाम सरना है; वही सरस्वती हो सकती है। पर्वत वासी यहाँ कलात के पहाड़ी—ब्राह्म लोग—ही हो सकते हैं। कलात का अर्थ ही है पहाड़ी गढ़।

चौथी चढ़ाई वास्तव में अलग नहीं, तीसरी के ही सिलसिले में है। उस का वर्णन यों है—

कृत्स्नं पञ्चनदं चैव तथैवामरपर्वतम् ।

उत्तरज्योतिषं चैव तथा दिव्यकटं पुरम् ॥११॥

द्वारपालं च तरसा वशे चक्रे महाभुतिः ।

चौथी चढ़ाई—मुलेमान, दोबा-काकन

रामठान् हारहूणांश्च प्रतीच्याद्चैव ये मृगाः ॥१२॥

ताम्रसर्पान् स वशे चक्रे शासनदेव पाण्डवः ।

तत्रस्थः प्रेषयामास वासुदेवाय भारत ॥१३॥

स चास्य गतमी राजन् प्रतिजग्राह शासनम् ।

—“समूचे पञ्चनद को तथा अमरपर्वत को, और उत्तरज्योतिष को तथा दिव्यकट पुर को, और द्वारपाल को उस तेजस्वी ने ऋतु वश में कर लिया। राम ठो को, हारहूणों को तथा जो पच्छिमी राजा हैं उन सब को, उस पाण्डव ने (दूतों द्वारा अपना) शासन भेज कर ही वश में कर लिया। वहीं ठहरे हुए उस ने, हे भारत, वासुदेव (कृष्ण) के पास हुक्म भेजा; और उस ने उस के हुक्म को वेधक स्वीकार कर लिया।”

इस से प्रकट है कि नकुल इस दिशा में दिव्यकटपुर तक या द्वारपाल के देश तक गया, और वहाँ से रामठों आदि के पास उस ने केवल अपना शासन भेजा। पञ्चनद का अर्थ पंजाब मान लिया गया है; वास्तव में उस का अर्थ पंजनद करना चाहिए। सिन्ध में मिलने से पहले और पंजाब की बाँको सब नदियों का पानी ले लेने के बाद सतलज पंजनद कहलाता है, और उस के काँठे का नाम भी पंजनद है। मत्स्योपजीवी देश से कलात की अभित्यका चढ़ने के बाद पंजनद पर आ उतरना स्वाभाविक था। अमरपर्वत उस के पड़ोस में मुलेमान और शीनगर के दक्खिनी घुमावों में कहीं होना चाहिए; या वह मुलेमान-शीनगर का ही नाम हो। फिर उत्तरज्योतिष, दिव्यकटपुर और द्वारपाल के देश की भी मैं ठोक ठीक पहचान नहीं कर सकता हूँ, पर इस में सन्देह नहीं कि ये भारत के सीमान्त स्थान थे; क्योंकि नकुल इन के आगे नहीं बढ़ता। उत्तरज्योतिष नाम प्राच्योतिष के नमूने पर है; दोनों ही सीमान्त देश थे; यह देखते हुए उत्तरज्योतिष को मुलेमान, शीनगर और दोबा-काकन की तिहरी पर्वतशृङ्खला का समूचा प्रदेश मानना ठीक जान पड़ता है। दिव्यकट पुर उसी में कहीं होना चाहिए; क्या वह डुकि या कुहदा में से कोई है ?

कौटिलीय अर्थशास्त्र २. २५ में हारहूण देश की अंगरी शराव का उल्लेख इस प्रकार आया है—

सूद्रीकारसो मधु । सस्य स्वदेशो व्याख्यानं कपिपायनं हारहूणकमिति ।

हारहूणक हरजवती नाम का बनाया हुआ संस्कृत रूपान्तर है। वास्तव में हरजवती संस्कृत सरस्वती का रूपान्तर है, और हरजवती का रूपान्तर—अरखुती, अरराँद^१। अंगरी की खान कन्धहार शहर जिस नदी के काँठे में बसा है, वह अब भी उसी—अररादाव—नाम से परिचित है। हमारे प्रस्तुत सन्दर्भ का हारहूण वही हारहूणक है। रामठ का अर्थ संस्कृत में हींग भी है; रामठ देश स्पष्ट ही हींग का देश था। आज भी पच्छिमी अफगानिस्तान और पूर्वी ईरान की हींग के मुख्य घर हैं; उस हींग-देश का केन्द्र हेरात तथा कन्धहार ही आज भी हींग के मुख्य बाजार हैं।

^१ शामशाओ का संस्करण २, पृ० १२०, पं० १६।

^२ भारतभूमि पृ० १५५।

रा म ठ का अर्थ हेरात का प्रदेश करना चाहिए। अर्जुन के उत्तर-दिग्विजय से तो हि त अर्थात् अफगानिस्तान के दस मण्डलों का उल्लेख आ चुका है,^१ कन्दहार और हेरात ठेठ अफगानिस्तान के किनारों के प्रदेश हैं, वे दोनों नकुल के दिग्विजय से कहे गये हैं, इसलिए वे अफगान-देश के उस जिलों में न थे।

सुनहल्य शाकी वाले संस्करण में इस प्रसंग में अरण, रोम, यवनों के पुत्र, लम्बक और वन्धक देश—इतने नाम और हैं। अरण अ र व का अपपाठ जान पड़ता है, और ये सब नाम स्पष्टतः पीछे से जोड़े हुए हैं।

उत्तरज्योतिष से नकुल मद्र देश (रावी-चिनाव के बीच) की राजधानी शाकल (स्थालकोट) वापिस

आता है, जहाँ उस का मामा शल्य 'प्रीतिपूर्वक' उस की अधीनता मानता है (१४-
पौचवीं चढ़ाई—पड़व, एक १५)। तब वह वहाँ से बड़ी तैयारी के साथ अपना अन्तिम समग्र स्थान (चढ़ाई)

करता है, और

ततः सागरकुक्षित्वान् स्लेच्छान् परमदाहणान् ॥१६॥

पह्णवान् वर्षरौचिवै किरातान् वधनाम् शकान् ।

ततो रत्नान्युपादाय वक्षे कृत्वा च पार्थिवान् ।

म्यवसंत क्रुश्रेष्ठो नकुलविषमार्गधिव् ॥१७॥

करमाणां छह्छाणि कोशं तस्य महात्मनः ।

नहुर्दश महाराज कृच्छादिषु महाधनम् ॥१८॥

—“तब सागर के पेट में रहने वाले परम दारुण स्लेच्छ पह्वों, वर्षरों, किरातों, यवनों और शकों को धरा में कर के तथा उन राजाओं से रत्नों के उपहार ले कर वित्र-मार्गों का जानकार क्रुश्रेष्ठ नकुल वापिस लौटा। दस हजार ऊँट उस महात्मा के महान् धन वाले कोश को मुश्किल से ढो कर लाये।”

सा ग र कु क्षि स्था न् श का न् इन शब्दों में दारयबहु के अमिलेखों के स का त र द र या^२ या स का पा र द र या^३ की स्पष्ट प्रतिध्वनि सुनाई देती है। पुराणे जमाने में कार्स्थियन और अरब सागर एक विस्तृत चले समुद्र और दलबल द्वारा परस्पर मिले हुए थे, और बह्नु (आमु) नदी उसी समुद्र में अपना पानी ले जाती थी। उस के तट पर रहने वाले शकों को प्राचीन ईरानी स का त र द र या या स का पा र द र या कहते थे। पह्वों या पार्थवों की मालभूमि भी उसी सागर का तट था। फारिस पर मकदूनी आधिपत्य स्थापित होने तथा बल्लभ तक में यूनानी उपनिवेश बसने के बाद से कुछ यवन (यूनानी) बल्लिषी भी उस सागर के तट पर रही हो सकती हैं। उत्तरी सिन्धु की किसी किरात जाति का भी उस सुदूर जंगली प्रदेश से सन्ध्व रहा हो सकता है, और बर्बर से भी किसी ब्रैसी ही जंगली जाति का अग्निप्राय है; अथवा वे दोनों नाम फाल्गू जोड़ दिये गए हैं। ऊँटों पर खजाना लाद कर लाने की बात यवनों को सखा बना देती है।

^१ भारतभूमि पृ० ३१२, रूपरेखा पृ० १०६८।

^२ रूपरेखा पृ० ४०६।

गोमंत पर्वत

रावबहादुर बाबुरेव अनन्तमसु बान्धवेंकर, नासिक.

[हरिवंश में वर्णित है कि, दक्षिणापथ में गोमंत पर्वत पर श्रीकृष्ण और जरासंध में एक भयानक घन-मुगल युद्ध हुआ था। मराठी की एक पत्रिका में प्रकाशित एक लेख में इस पर्वत की शिवाग्रत गोमाँ प्रदेश के एक पर्वत से करने का सूचक किया गया है। परंतु श्री० पा० वा० काणे ने उस प्रयत्न की पूरी निरर्थकता दिखालाई है और उस पर्वत को उत्तर कनाडा में सुप्रसिद्ध वेरसम्पा प्रपात के निकट कहीं बताया है जो कि ठीक है। उस का ठीक स्थान निश्चित करने का प्रयत्न हम कर सकते हैं।]

हरिवंश में श्रीकृष्ण का दक्षिणापथ में गोमंत पर्वत तक का रास्ता इस प्रकार बताया गया है। १. वेणानदी, २. करवीर-पुर (आधुनिक कोल्हापुर), ३. यज्ञगिरि, ४. खट्वांग नदी, ५. कौंचपुर, ६. अनहुह तीर्थ और ७. गोमंत पर्वत।]

इस वर्णन की पूरी जाँच करने से इतना स्पष्ट है कि 'गोमंत' अनहुह तीर्थ के नीचे परंतु वनबास्य देश की सीमा में, है। हरिवंशकार के अनुसार वनवायव्यदेश की सीमा चाहे कुछ भी रही हो अब उस से उत्तरी कनाडा ज़िले की पूर्वी सीमा पर, तिस्रों कस्बे से ३० मील आग्नेय दिशा में स्थित मैसूर राज्यान्तर्गत वनवासी गाँव का बोध होता है। इसी वनवासी गाँव के दक्षिण हरिवंश में गोमंत पर्वत है, जो कि वस्तुतः सद्मादि की एक चोटी है। विजयनगर के राजा हरिहर के कनिष्ठ भाई भारप के १३१७ ई० के एक ताम्रपत्र में इस पहाड़ का ठीक इसी नाम से उल्लेख है।

उस ताम्रपत्र के सम्बद्ध अंश का अनुवाद इस प्रकार है:—'भारप' के कदम्ब वंश के सरदार कल्लमन से पश्चिम का एक प्रदेश जीतकर गोमंत पर्वत पर स्थित सुंदर चंद्रगुप्ति पर निवास किया, और प्रजा की क्षातिपूर्वक सुखा को।।' 'गोमंत पर्वत, जिस का कि दूसरा नाम चंद्रगुप्ति है, वनवासी-बारह-हज़ार-राज्य की राजधानी तथा कुंतल देश का आभूषण ...']

हरिवंश ने इस देश के पञ्च-पक्षियों और वृक्ष-वनस्पतियों, जलप्रपातों, हाथियों, चन्दन-वनों, मरिच और लवंग-कटाओं आदि का जो वर्णन किया है, वह इस प्रदेश पर अब भी पूरी तरह बरता है।]

आपल्या विभूतिमत्त्वानें भारतवर्षातील कोटयवधि हिंदु की पुरुषांच्या अंतःकरणांत आज हजारों वर्षे ठाप देऊन बसलेल्या भगवान् श्रीकृष्णाच्या चरित्रांत, त्यांनी दक्षिणभारतांतले गामन्त नामक एका पर्वतावर जरासंधाशी युद्ध केल्याचा एक प्रसंग हरिवंशांत बघिलेला आहे. परंतु हा गोमन्त पर्वत कुठे आहे ते आजच्या भौगोलिक परिस्थितीस अनु-लक्षून सांगण्याचें आजवर कोणी मनावर घेतले नव्हते; त्याचा फायदा घेऊन, गोवें नांवाच्या पोर्तुगेज असलाखालील प्रांतांतल्या एका 'शणैगोंयबाब' नामधारी गृहस्थानें सुवईतील 'विविधज्ञानविस्तार' मासिकांत १९३१ साली एक लेख लिहून, 'गोवें या अपभ्रष्ट नांवाचे मूळचे रूप गोमन्त असे होतें, त्या प्रांताचेंच नांव त्यांतल्या एका पर्वताला होते' इत्यादि मन मानेल तसलीं हास्यास्पद विधानें करून, परमपूज्य भगवान् श्रीकृष्णाला गोव्यासारख्या ठिकाणी आणून सोडलें. त्यावर सुवईतील प्रोफेसर पांडुरंग वामन काणे, एम्० ए०, एल्-यल्० एम्० या इतिहास संशोधक विद्वान् गृहस्थानें महा-राष्ट्र-साहित्य-पत्रिका नांवाच्या नियतकालिकांत, गोयबाबच्या जखर त्या सवें जुका दाखवून, हा पर्वत उत्तर कनाडा

जिल्ह्यांतल्या सुप्रसिद्ध गेरसण्या धवधव्याच्या जवळपास असला पाहिजे असें सिद्ध केले, परंतु नक्से जागा दाखविली नाही. ती दाखविण्याचे या लेखांत योजिले आहे. तत्पूर्वी 'गोयबाव' यांच्या म्हणण्याचा किंवात् परामर्श घेणे अवश्य आहे.

गोव्याचे 'गोमंत' किंवा 'गोमंतक' हे प्राचीन नांव म्हणून सांगण्याचा त्यांचा प्रयत्न व्यर्थ असून, हे नांव गोंय-बाव सारख्या काही जणांनी आपल्या त्या भूमीला व परपरेने आपणाला मोठेपणा मिळवून देण्याच्या हेतूने, गेल्या शंभर वर्षांच्या आत, नवीन बनविलेले आहे. गोवे याचे नांव गोवा किंवा गोवे असेच असल्याचे अनेक लेखांवरून सिद्ध आहे. आणि गोव्यातील ज्या लोगराला अजर पर्वताला 'गोमन्त' असे नांव ते देऊं पाहतात, त्याचें तर नांव 'ब लं ग डों ग र' असे आहे. महाराष्ट्र-सांख्यिक १९३३, पृ० ११४. शिवाय गोमन्त याचा गोवे असा अपभ्रंश कसा होतो, हें एक व्याकरण-शास्त्रांतले नवीनच कोडें आहे. असो, आतां हरिवंशांतोळ विष्णुखंड अ० ३० ते ४० यांतील श्रीकृष्णाच्या दक्षिणापथांतील प्रवासाची माहिती देऊन, त्यांतोळ भूगोल विषयक वर्णनाची छाननी करूं

जरसय १८ व्या वेळीं मथुरेवर चालून येत असल्याचे वर्तमान समजतांच, त्याच्या भयाने त्रासलेले यादव एकत्र जमून त्याच्या प्रतिरोधाचा विचार करूं लागले. तेव्हां विकट नांवाच्या एका राजनोत्तिनिपुण व तेजस्वी यादवांनी

श्रीकृष्णाचा दक्षिणापथीरुपवास.

श्रीकृष्णाला उद्देशून भाषण केले की, "या यदुदुलाचो उत्पत्ति करी द्याही हें दुला मी सांगतो नंतर पुढे काय करावयाचे तें सांगितों. माझे बोलणे हुला शुभ! वाटले तरच मी सोनेन त्याप्रमाणे तू वाग. सर्वज्ञ व्यास ऋषीकट्टन जशी हकीगत मला कळो तरीच मी सांगितों. मनुष्या वंशांत हर्यश्व नांवाचा पराक्रमी राजा होता. त्याची मधुसूति नांवाची द्विध भार्या होती मधु नामक दैत्याची दहणी होती. एके दिवशीं हर्यश्वाला त्याच्या ज्येष्ठभ्रात्याने राज्यांतून हाडून दिले. तेव्हां पत्नीच्या आग्रहावरून हर्यश्व आपल्या सासऱ्याकडे गेला. त्याने आपले राज्य हर्यश्वाला अर्पण केले. त्याराष्ट्राचे नांव आ न र्त. त्याला यदु नांवाचा एक पुत्र झाला. पित्याच्या निघनानंतर तो अनंतदेशाचा अधिपति बनला. त्याला धूषवर्ण सर्प (नाग) राजाने, आपल्या सर्प पूर नांवाच्या राज्यांतून जेजून आपल्या अविवाहित पांचकच्या अर्पण केल्या. त्यापासून त्याला (१) मुच्छुंद (२) पद्मवर्ण (३) माधव (४) सारस आणि (५) हारित असे पुत्र झाले. ते पराक्रमी व दृढदोषक होते. ते बघात आल्यावर, पित्याच्या आज्ञेप्रमाणें मुचुकुंदाने नर्मदातीरावर 'मा हि व्स त' नांवाची आपली राजधानी स्थापिली पद्मवर्णाने सक्षाम्नीच्या पाठारावर, वेणानदीच्या काठी आपली राजधानी स्थापिली. त्या नगराचे नांव क र की र व देशाचे नांव प द्या व त, तो देश साधारणपणे लहान होता. सारसाने 'क्रौंच पूर' नांवाचें मोठे रणणीय असं नगर वसाविले. तेथील भुक्तिका तांत्रवर्णाची होती, व ह्या नगराच्या समोवाराचा विस्तृत व समृद्ध प्रदेश 'ध न वा सी' या नांवाने प्रसिद्ध आहे. हारिताने समुद्रातील एक बेट आपलें राज्य केलें. त्याद्वीपांत असूष्य रत्ने भरलेली असून तेथील स्त्रिया सुंदर होत्या. त्याराज्यांत मुद्गुर नांवाचे श्रीवर होते, इत्यादि

१ पद्मवर्णाधिपि रार्जयः सस्यष्टे दुरोत्तमम् ॥ चकार नद्या वेणायास्तीरे सरलताकुले ॥२४॥

विषयस्थानवर्णा द्यात्वा सपूर्णं राष्ट्रमेव च ॥ निवेद्येयामासमुपः सप्तत्रायमुत्तमम् ॥२५॥

२ सारसेनाधि गिरिा रन्ध्रं क्रीचतुर मद्व ॥ चंपकाशोकपहुलं विपुलं ताम्रसृष्टिकम् ॥२७॥

वनवासीति विख्यातः स्कीतो जवपदो महान् ॥ सुस्तपस्तस्तु श्रीमान्द्रुमैः सार्वर्तु कैवृच, ॥२८॥

३ दारितोपि समुद्रस्य द्वीप सममिपालयत् ॥ रत्नतटय सपूर्णं शशीजन मनोहरम् ॥२९॥

सत्यवादाजले भद्रा मदगुर नाम निभ्रता ॥ ये ररति सदा दाम्ना समुद्रांदर चारिण, ॥३०॥

हरिरय, विष्णुपर्व, अध्याय ३८.

“यदूच्या पश्चात् माधव आनर्त देशाचा राजा झाला. माधवाचा पुत्र सात्वत व सात्वताचा भीम. सात्वताचे व भीमाचे आपण (यादव) वंशज असल्यामुळे, सात्वत व भीम या नांवांनी आपण संबोधिले जातो. भीम राजा आनर्त देशावर राज्यकरीत असता, अश्वोध्येचा राजा रामचंद्र याचा बंधु शत्रुघ्न यानें लवणाचा वध करून मधुवनाचा उच्छेद केला, आणि त्याठिकाणीं आपुल्या मथुरानगरीचे स्थापना केली. राम लक्ष्मणादि बंधूंचे अवतारकृत्य समाप्त झाल्यावर, भीमराजा तेथे राज्य करू लागला. भीमाचा पुत्र अंधक व अंधकाचा रैवत. रैवत पुत्र जो ऋक्ष तोच विश्वगर्भ. त्याचे वसु, वसु, सुषेण वसमाक्ष हे चार पुत्र. वसूने कुंजिदेशांत राज्य केले. त्याला वसुदेव नांवाचा पुत्र व कुन्ति (ही पुढें पण्डूची राणी झाली) आणि कान्तिमति (चेदिराज दमयोषाची राणी) ह्या दोन कन्या होत्या. अशा रीतीने यादव वंश प्रसृत झाला. जरासंध हा सर्व विद्यमान राजांत बलवान् आहे, आणि आपली सामग्री अगदीं अल्प आहे. आपल्या नगरीला त्याने वेढा दिला तर, एक दिवससुद्धां तो सहनकरण्याचे त्राण आपणांत उरलेले नाही”.

विकटूचें हे निवेदन ऐकून, श्रीकृष्ण म्हणाला, “मीं समर्थ आहे तथापि सध्यां तुमच्या म्हणण्याप्रमाणे वागतों. मीं दुर्बलाप्रमाणे बलरामासहवर्तमान येथून निघून सद्याद्रीनें युक्त असलेल्या अक्षय व शोभित दक्षिणापथांत प्रवेश करितों”. त्या प्रदेशांत गेल्यावर, करवीरपूर आणि क्रौंचपूर या नगरांचे व ‘गोमन्त’ नामक श्रेष्ठ पर्वताचे दर्शन करूं. आम्हीं मथुरेंतून निघून गेलों असे कळावेंच, ज्याने उन्मत्त झालेला जरासंध आमचा पाठलाग करील.”

पुढे श्रीकृष्ण आणि बलराम, यदुवंशीयांनी अलंकृत केलेल्या करवीर नगरास आले. तेथे त्यांनी वेणानदीच्या तीरावर अतिविस्तृत अशा न्यग्रोध^१ वृक्षाखाली, तेजःपुंज दिसणारा, अपरिशांत व अव्यय असा मार्गवराम वसलेला पाहिला त्या श्रद्धाश्रद्धाला मधुर व नम्र शब्दांनीं श्रीकृष्णम्हणाला, “भार्गवा, आपण एक शीघ्रगामी वाण मारून समुद्र मार्गे हटविला, आणि अपरान्तामध्ये (उत्तरकोकणांत) ५०० धनुष्ये लांब व ५०० वाण रुंद येवढे ‘शूर्पारक’^२ नांवाचे क्षेत्र वसविले^३. हे विप्रा, तुला एक गोष्ट विचारावयाची आहे ती ऐकून आम्हांला खुशिंग. ” त्यावर परशुरामाने उत्तर दिले कीं, “हे सर्वशक्तिमान् कृष्णा, तुला मसलत सांगण्यासाठीच, शिष्य बरोबर घेतल्याशिवाय, अपरान्तांतून मी एकटाच येथें आलों आहे. ” हे करवीरपूर व भोंवतालचे राष्ट्रे तुझ्याच पूर्वजांनी निर्माण केले आहे. येथे हल्ली शृगाल वासुदेव नांवाचा फार क्रूर असा राजा आहे, म्हणून ह्या नगरांत तुम्ही राहूं नका. तुम्ही कोणच्या ठिकाणी राहून उन्मत्त जरासंधाशी युद्ध करावे ते मी सांगतो.

आपण आतांच्या आतां आपुल्या बाहुबलाने ही वेणानदी तरून जाऊ. आणि या पद्मावत देशाच्या सीमेवर, यज्ञगिरी म्हणून सद्याद्रीची एक शाखा आहे, त्या ठिकाणी आजची रात्र राहू. ते स्थान मांसभक्षक चोरांचे निवास-

^१ततः सद्याचलं युतं सहाय्येणाहमक्षयम् ॥ आत्मद्वितीयः श्रीमत्तं प्रवेक्ष्ये दक्षिणापथम् ॥९॥

^२वटवृक्ष.

^३स्वयां सायक वेगेन^४क्षितो मार्गव सागरः ॥ द्रुपातेन नगरं कृतं शूर्पारकं त्वया ॥२८॥

धनुष्यं च क्षतावात्ममिषुर्धनस्तोच्छ्रयम् ॥ सद्यस्यच निहुंजेषु स्फीतो जनपदो महान् ॥२९॥

अतिक्रम्योदधेरेंलासपरांते निवेक्षितः ॥ स्वयातत्कार्तवीर्येण सहस्रमुज्ज्वलनम् ॥३०॥

धनुष्य आणि वाण यांचें प्रमाण असें चार हात लोदीचें एक धनुष्य, दोन हात लोदीचा एक वाण,

^४अपरांतादहं कृष्ण संप्रती ह्यगतः प्रमो ॥ एक एव विनाशिलेयुर्ध्ववर्धनं कारणम् ॥३१॥

स्थान^१ आहे. नंतर दुसरे दिवशी आपण ख द्वां गा नांवाची नवी ओलांझून जाऊ. ती नदी पर्वतापासून खाली पडते. त्यानदीचा धवधवाहि गंगे सारखा आहे. त्यांत कसोटोचे दगड मिळतात^२. त्याठिकाणी विश्रांति घेतल्यावर, पुढें जातां जातां आपणास रमणीय असें कों च पूर लागेल. त्या नगराचा, तुझ्याच वशांतील, महाकपि नांवाचा व वनवात्य देशाचा स्वामी आहे^३. त्याची प्रजा वनचर लोकांची आहे. परंतु त्या राजालाहि न भेटतां, सुखां होईपर्यंत आ न झु ह नामक तीर्थावर जाऊन तेथेच आपण विश्रांति^४ घेऊं. तेथून मार्गस्थ झाल्यावर, आपण सहाद्वीच्या दरीतील प्रस्थानत गो म न्त नामक गिरीवर गमन करूं त्यापर्वताला अनेक शिखरे असून, त्यांतून एक फार उंच असें आहे. त्यावर संचार करून, तुम्ही दुर्ग युद्धाच्या पद्धतीने जरासवाला जिंकाल^५. शैल युद्धांत त्याचा निरुपाय होईल. तो सग्राम 'चक्रमुशल' या नांवान प्रख्यात राहील. त्यावेळीं तुम्हें विष्णुरूप उत्तम प्रकारे व्यक्त होईल." या प्रमाणें पुढे ते गोमंत शिखरावर येऊन पोचले. तो पर्वत अगळ वृक्ष (चंदनविशेष) तमाल, एला (वेलदोडा), मरोच, पिंपळी यांची वने, गळेचे (देवदार) वृक्ष, अशोक वृक्ष इत्यादि अनेक तत्कलांनी दाट भरलेला आहे. त्यावर हत्तींचे कळप होते. सिंह व व्याघ्र यांच्या आरोज्यानीं जो हुसदुसून गेला होता. त्याच्या दरीतून जलधारा बाहत असल्यामुळे चंद्रकिरणांनी तो फारच शोभिवत दिसत होता. त्याच्या प्रपातांतून निघालेल्या नद्यांची शोभा अपूर्व होती. त्याचा पायथी विशाल असून शिखर उंच होतें^६ इत्यादि. आतां, या धर्षणापैकी जरूर त्यागोष्टी विचारांत घेऊन गोमन्त पर्वताचा शोध करूं.

‘गोमंत’ शोध

विकट्ट आणि परशुराम यांच्या कथनांतून, हरिवंशातील ‘गोमन्त’ पर्वत म्हणजे सहाद्वीच्या ओळीतील द्यांनों व शिखरांनी युक्त असलेला सहावाच विशिष्ट भाग आहे. हे दिसून येईल. श्रीकृष्णाच्या दक्षिणापथांतील प्रवासाचे शेवटचे

^१तीर्त्वा वेणामिमां पुण्यां नवीमर्ध्व बाहुभिः ॥ विपद्यते निवासाय गिरिं गच्छाम दुर्गमम् ॥५५॥

रम्यं यज्ञगिरिं नाम सटस्य प्रवर्धं गिरिम् ॥ निवास मसि सहाणां वीराणां धोरकर्तृणाम् ॥५६॥

^२ब्रोजे तत्र निशामेकां लब्ध्वांगानाम निम्नगाम् ॥५७॥

मद्रते सतरिण्यामो निकषोपलसूण्याम् ॥ गंगा प्रपात प्रसिमां मद्यां भवतो मिर ॥५८॥

^३रम्यं क्रींचपुरं नाम यमिण्याम- पुरोचमम् ॥६०॥

वंशजस्तत्रते राजा कृष्ण धर्मरत्न- सदा ॥ महाकपिरितिव्यातो वनवात्य जनाधिपः ॥६१॥

^४तमहद्वर्षे राजान निवासाय गतेहनि ॥ तीर्थमगाहुरेनाम दग्नस्यास्याम संपताः ॥६२॥

^५ततस्तुता गमिष्याम- सदास्य विवरे गिरिम् ॥ गोमन्त सिद्धि विख्यात नैक श्चम विभूयितम् ॥६३॥

शृंगार्यौ तस्य शैलस्य गोमन्तस्य वनेचरौ ॥ दुर्गे युक्तेन धावतो जरासघ विजेष्यम् ॥६८॥

हरिवंश अ० ३९.

^६कृताचारं विचित्रं च नावा हुम विभूयितम् ॥ गगनागुरु पिनद्धांग चित्र चित्रैर्नानोहरी ॥७॥

हरि प्रपातद्वारैश्च शार्दूल पल्लवै ॥८॥ पनसागातकात्रोर्ध्वेन स्वद्वम र्ध्वनैः ॥११॥

त मा लै कावनयुत म री च क्षुप सज्जम् ॥ पि प्य ली वल्लिकलिल चित्रमिगुति पादरै ॥१२॥

हिंताळैश्च तमाळैश्च युक्तागौरवोप शोभितम् ॥१३॥

ना ग दू थ सभाकीर्णे मृगा सभात शोभितम् ॥१४॥ सिंह शार्दूल सवदे- सततं प्रतिवादिषम् ॥१८॥

शोविर्त वरिषारामिष्यद् पावैश्च शोभितम् ॥१९॥

मूलेन सुविशालेन शिरमापु छितेनच ॥ ते दमासाद्य गोमन्तं रम्ये भूमिधरांलमम् ॥

हरिवंश अ० ४०.

स्थळ म्हणजे हा 'गोमन्त पर्वत' होय. त्याचा शोध, कथेंत वर्णिलेली प्रादेशिक व इतर लक्षणे त्या त्या क्रमाने घेऊन त्यावरून केला पाहिजे. यदूच्या आज्ञेने त्याच्या चार पुत्रांनी स्थापन केलेली लहान-मोठी चार राज्ये दक्षिण-भारतात मोडतात. त्यांपैकी दोन म्हणजे मुचुकुंदानें ऋक्षवान् पर्वताच्या आश्रयानें नर्मदातीरावर बसविलेली माहिष्मती नगरो, आणि हारिताने समुद्रांतील एका बेटावर बसविलेलें राज्य. यांचा—निदान पहिल्याचातरी—गोमन्त पर्वताशी कांहीच संबंध येत नाही. बाकी राहिलेली दोन. पहिलें सद्माद्रोच्या पठारावर, वेणानदीच्या तीरी, पद्मावतानें बसविलेलें 'प द्वा व त' नांवाचे लहानसे राज्य. त्याची राजधानी करवीर. दुसरें, सारसाने बसविलेले 'क्रौ च पूर' नगर. त्याच्या समोवाराचा विस्तृत व समृद्ध प्रदेश 'व न वा सो' या नांवाने प्रसिद्ध होता. म्हणजे क्रौंचपूर हे वनवास्थ देशाच्या राजधानीचे शहर झाले. पद्मावत आणि वनवास्थ देश या दोन राज्यांत आलेली श्रीकृष्णाच्या प्रवासांतील स्थळे व त्यासंबंधी हरिवंशांत वर्णन केलेली माहिती यांचे सकलंन येणे प्रमाणे:—

स्थळें	लक्षणे व विशेष माहिती.
१ वेणानदी.	बाहुबलानें तरून जाण्याइतकी लहान नदी.
२ करवीरपूर.	पद्मावताच्या राजधानीचे शहर.
३ यज्ञगिरि.	सह्यपर्वताची एक शाखा. त्याच्या आसमंतात मांसभक्षण करणारे चोर राहतात. हे स्थळ पद्मावत राज्याच्या सीमेवर आहे.
४ खट्वांगा नदी.	ही नदी पोहून जाण्यासारखी नव्हती. ती पर्वतावरून खाली पडत असल्यामुळे तिचा धवधवा बनला आहे. त्या नदीत कसोटोच्या उपयोगी पडणारे दगड मिळतात.
५ क्रौंचपूर.	वनवास्थ देशाची राजधानी. येथील भुक्तिका ताम्रवर्णाची आणि प्रजा वनचर लोकांची आहे. (रानांत राहणाऱ्या मित्त लोकांसारखे, किंवा राक्षस म्हटलेल्या लोकांसारखे, अगर मूकचे द्राविडी लोक).
६ आनडुहतीर्थ.	वनवास्थ देशातील एकाद्या नदीचे बनलेलें तीर्थ.
७ गोमन्त पर्वत.	याचे वर्णन वर आलेच आहे.

आतां या स्थळांचा क्रमशः विचार करू. वेणानदी अथवा करवीर या स्थळांपासून गोमन्त पर्वतापर्यंतच्या प्रवासाचें मापन अजमासे १७०।१८० मैल होते. हा सर्व प्रवास सद्माद्रोच्या ओळींतून झालेला असल्यामुळे उपर्युक्त कोटकांतील स्थळे त्या ओळींत अगर जवळपास असली पाहिजेत हे उघड आहे. प्राचीन काळच्या देशाची, पर्वतांची, अगर पर्वतांच्या पोटभागांची, नद्यांची व तीर्थ-क्षेत्रांची नावे आजमितीसहि त्याच रूपांत अथवा किंचित् अपभ्रष्ट रूपांत तरी राहिलीं असतात असे नसल्यामुळे, अशीं शक्य स्थळे आहेत की, ज्यांची स्थाने निश्चित सांगणे मोठमोठ्या विद्वानांसहि अशक्य होते. तेव्हां यज्ञगिरि, खट्वांगानदी, क्रौंचपूर, आनडुहतीर्थ हीं स्थळे असुकच आहेत असे निश्चित सांगणे चुकीचें होईल. आतां टण्याच्या स्थळांचा तपास काढीत गोमन्त पर्वताकडे जाऊं.

१ वेणानदी:—ही नदी सातारा जिल्ह्यांत महावळेश्वराच्या पहाडांतून उगम पावून साताऱ्याच्या पूर्वेस, माहुली, गांवाजवळ कृष्णानदीला मिळते. या ठिकाणाच्या 'संगम-माहुली' म्हणतात. ही कोल्हापूरचे उत्तरेस (सुमारें ३५ मैलांवर) असल्या बद्दल सर्वांची एक वाक्यता आहे.

२ करवीरपूर:—म्हणजे सध्याचे कोल्हापूर. या बद्दल बाद नाही.

३ यक्षगिरि:—प्रो. काणे यांनी या सर्वथात कांदी लिहिलेलें नाही. रा० 'गोयवाय' यांचे मते "वेळगांवच्या उत्तरेस २० मैलावर 'हुन्नूर' नांवाचा डोंगर आहे तो. त्याला पवित्रगिरि किंवा पैअरगड अशी सांप्रत नावे आहेत. त्याच्या आसपास १०।१५ मैलांच्या मार्गांत मांस खाणारे व घोर कर्म करणारे 'थेरड' नांवाचे लोक राहतात." अशीं लक्षण सांगून त्याला बॉम्बे गेनेटियर जि. २ पा. ५७१ वे (वेळगांव) मघोल हुन्नूर डोंगराच्या माहितीचा आधार दिला आहे. पण त्यांच्या स्थळ निश्चितीला तो उपयोगी पडेल असे वाटत नाही. कारण 'हुन्नूर' हेच त्याचे मूळ (कानडी) नांव, तेथील त्याच नांवाच्या गांवावरून पडलेलें आहे. आणि 'पवित्रगड' हे हुन्नूर डोंगरावरील किल्ल्याला दिलेले अडीच-तीनशे वर्षांच्या आतलें नांव आहे. रा० 'गोयवाय' यांनी 'ग ड' शब्दाच्या जागी 'गि रि' हा पदरचा शब्द ठेवून देऊन, गिरीला गिरि शब्द बेमातृमपणें जुळवून टाकला आहे। शिवद्वजपतीच्यावेळी त्याचे नांव 'पवित्रगड' होते, असे ग्रंथक साहेबाने मराठ्यांच्या इतिहासांत लिहिलें आहे. (घृ० १३३) ह्याहुन्नूर डोंगराची उंची सुमारे २०० फूट आहे. हरिवंशांत यज्ञ-गिरीला सद्याचा उपगिरि म्हटले आहे. 'उपगिरि' याचे टोकाकार नोळकट 'प्ररुहं उपगिरिम्' असे स्पष्टीकरण करतो, व कोशकार याचा अर्थ 'डोंगरीगांव' असा देतो त्यावरून साह्यद्रीपासून एकाद्या गांवापर्यंत वाढत गेलेला त्याचा उंचवटा म्हणजे डोंगरा सारखा भाग हा यक्षगिरि असावा, असा तर्क होतो. या अतुरोधाने तपास करतां असे समजते की, कर्-घोरच्या दक्षिणेस सुमारें वीस मैलांवर, वेळगांव जिल्ह्यांतील चिकोडी तालुक्यांत, 'सौंदर्यो' या नांवाचा एक गांव आहे. त्याच्या अलीकडे दोन मैलांवर एक डोंगर असून त्याला 'मळयाचाडोंगर' म्हणतात. त्यावर यक्षमुमाचें एक चुनाट वेऊळ आहे. 'मळयाचा डोंगर' जोच हरिवंशातील 'यक्षगिरि' असे तिकडील माहत्तमार लोकांचे मत आहे. या डोंगरापासून जवळच सवामैलावर 'वेदगांग' नांवाची एक नदी आहे. खेडे गांवा जवळचा हा डोंगर असल्यामुळे वेरडां सारखे रामांत राहणारे लोक त्या ठिकाणी राहणें शक्य आहे.

खट्वांगानदी:—'घटप्रभा' नांवाची नदी वेळगांव जिल्ह्यांत आहे ती गोंकाकच्या वायव्येस १५ फूट उंचीच्या डोंगरावरून खाली वही टाकते. ह्या प्रपातामुळे नदीत सफेत व गुलाबी रंगाचे कांचमणि व वाटोळे लहान लहान गोटे आढळतात. ह्या लक्षणांवरून रा० 'गोयवाय' यांनी खट्वांगा क्षणजेच घटप्रभा असें निःसंदिग्ध विधान केले आहे. हे त्यांचें मत, अन्य साधनांच्या अभावी, बहुतांशी मला मान्य करावे लागतें.

स्कंदपुराणांत पन्नास खंडे असल्याचे एका पुस्तकांत लिहिलेलें आढळते. पन्नास खंडांची ही वाव विश्वसनीय नाहीच, पण त्यांत १५ खंडांनी युक्त अशी एक संहिता आहे, त्यांत खट्वांगो ख ड, व र दा ख ड, तुं ग म द्रा खं ड अशी खंडाची नावे मिळतात, ती नद्यांचीं द्योतक आहेत यांत सगळी नाही आणि साहचर्याच्या दृष्टीने विचार केल्यास खट्वांगो हे नांव घटप्रभांनदीचे असावे असे मानण्याकडे माझी प्रवृत्ति होते.

या ठिकाणी प्रो० काणे यांच्या कडून नकळत एक चूक झाली आहे ती सांगूं त्यांनी कौचपूर आणि वनवात्य देश हा प्रदेश कारवार जिल्ह्यांतील शिरसी जवळ, व त्याच्यापलीकडे गोमन्तगिरि, हे लक्षणांनी दाखविताना, "ह्या वर्षानाला जुळण्यासाठी खट्वांगानदी व विचा धवधवा म्हणजे गेरसप्पाचा धवधवा मानला पाहिजे, त्या धवधवाच्या पलीकडे कौचपूर व त्याचेहि पुढे गोमन्त" असे विधान केले आहे. मागे दिलेल्या कोटकांतील क्रमावरून, त्यांचे हे विधान चुकीचे आहे, हे सहज दिसून येईल. गोमन्त पर्वत वनवासीच्या दक्षिणेस जवळपास असला पाहिजे, ही त्यांची उपपत्ति

^१ जनकमोचो झां रेणुना, तां परशुरामाची दाता, इचें हे कानडी नांवेंतील नांव आहे.

बरोबर आहे, पण जग-प्रसिद्ध गेरसप्पाचा धबधबा हा शरावती नदी पासून बनला आहे, व ती नदी व तो धबधबा हीं—गोमन्त वनवासीच्या दक्षिणेस मानल्यामुळे—वनवासीच्या पश्चिमेस पण तिच्या समांतर रेंवेत दक्षिणेस आहेत.

ह्याठिकाणीं रा० 'गोंयबाब' यांनीं हि एक चूक केली आहे. त्यांनीं गेरसप्पाचा धबधबा व त्याच्या भोंवतालचा प्रदेश सद्दाद्रीच्या टापूत नसून मलयपर्वताच्या टापूत पडतो म्हणून सांगितलें, व त्याच्या समर्थनासाठीं बॉम्बे गॅझेटिअर जि० १५, (भाग १) पृ० ४ (नार्थ केनाडा गझट) चा आधार दिला आहे. त्यांनीं त्याच गजेटियर मधील एतद्विक सर्व माहिती काळजी पूर्वक वाचली असतो, तर तो धबधबा मलयपर्वतात नसून सद्दाद्रीच्याच ओळीत आहे, इतकेच नव्हे तर तेथून खाली १०० मैल पर्यंत सद्दाद्रीचीच ओळ आहे हे त्यांस दिसून येते. ("Shiravati, among magnificent forests and wild granite cliffs, dashes over the west face of sahya dris, a height of 825 feet into a pool 350 feet deep.") असो.

क्रौंचपुरः—क्रौंचपुर आणि त्याच्या खालवें आनडुहतीर्थ ही दोन्ही नावे अनुक्रमें पक्षाच्या व वृषभाच्या (अनुडुहचैल) नावांची आहेत. क्रौंचपुर ही वनवास्त्य देशाचा स्वामी जो महाकपि त्याची राजधानी होती. महाभारताच्या समाप्तपर्वीत वनवासी देश व त्याची राजधानी जयन्तिपुर ह्या दोहोंचाहि उल्लेख आहे. वनवासी हे म्हैसूर संस्थानांतोळ सोराब (सुरभि) तालुक्याच्या पश्चिमेस, व र दान दी च्या कां ठा व र, आहे. या शहराचा उल्लेख महावसो नांवाच्या बुद्धग्रंथांत आला आहे, आणि इ.स.च्या दुसऱ्या शतकांतोळ ग्रीक भूगोलवेत्ता टॉलेमी यानें पश्चिम किनार्या लगतच्या प्रसिद्ध शहरांत वनवासीचा उल्लेख केला आहे. इ.स. ११६१ च्या चालुक्य सम्राट तैलपच्या ताम्रपटात जयन्तिपुर हे त्याचें राजधानीचें शहर म्हटलें आहे, आणि वनवासी व जयन्तिपुर हीं एकत्र असें मानलें आहे. ह्या उल्लेखां शिवाय कदंबराजे आणि विजयनगरचे राजे यांच्या अमदानींतहि जयन्तिपुर हें राजधानीचे एक शहर असल्याचे कैफ उल्लेख इतिहासांत मिळतात. वनवासी आणि जयन्तिपुर हीं दोन नावे एकाच स्थळाचीं असावीं, किंवा प्राचीन वनवासीच्या सन्निध जयन्तिपुर म्हणून एकादें शहर वसलेलें असेल. ह्यामाहितीवरून हरिवंशांतोळ क्रौंचपुर हे महाभारतांत सांगितलेल्या जयन्तिपुरीचे दूसरें नांव होय असें म्हणावें लागतें. हरिवंशकारानें त्याला क्रौंचपक्षाचे छात्राणिक नांव दिलें इतकेच. ह्या क्रौंचपुराचें आणि वनवास्त्य देशाचे हरिवंशांत सांगितलेलें लक्षण तां भ्र मृ ति का हे आहे. त्या प्रमाणें त्या प्रदेशांत प्रवाशाला दांबडीच माती पहावयास मिळते. तिला 'कागदडी' असें म्हणतात. क्रौंचपुर संबंधी रा. 'गोंयबाब' यांनीं लढविलेला तर्क कुचकांमाचा आहे. त्यांचें म्हणणें असें कीं, बेळगांव जिल्ह्यांतोळ खानापूरच्या आग्नेये दिशेला १० मैलांवर, 'हळसी' किंवा 'हळसिगे' ही कदंबराजांची इ.स.च्या पांचव्या शतकांत राजधानी होती. तिला कदंबांच्या दोन ताम्रपटांत 'विजयपलाशिका' असेहि म्हटलें आहे. तेव्हां "हरिवंशांतोळ क्रौंचपुर हे विजयपलाशिका नगराचे दुसरे नांव होय." 'गोंयबाब' यांना येथून थेट पश्चिम समुद्र-किनार्यावरोळ पोर्तुगीज गोवा प्रांताच्या हद्दीवर श्रीकृष्ण-जरासंधाचें भयकर युद्ध घडवून आणावयाचे असल्यामुळे खानापूरच्या खाली—दक्षिणेस—श्रीकृष्णाला नेले तर त्यांच्या इच्छित कार्याचा नाश होईल, म्हणून क्रौंचपुर आणि आनडुहतीर्थ हीं दोन्ही ह्याटापूंतच कोठेंतरी दाखविणे त्यांना प्राप्त झालें. पण त्यांच्या शिवाय (त्यांचा तरी स्वतःच्या तर्कावर विश्वास असेलच असे दिसत नाहीं) दुसरा कोणीहि ते मान्य करणार नाहीं.

आनडुहतीर्थः—रा० "गोंयबाब" चे म्हणणे असे की, "आनडुह ह्या शब्दाचा अर्थ नंदी संबंधाचे, अर्थात् नंदीतीर्थ असा होतो. सांगत हळसीच्या (क्रौंचपुर तीच हळसी असे यांचे मत मागे दिले आहेच) उत्तरेस 'नंदो ग ड' नांवाचे लहानसे शहर लागते. त्यावरून आनडुह अर्से नंदीतीर्थ प्राचीन काळी नंदीगडाच्या जवळच कोठेंतरी असून त्याच्या सांनिध्यानेच नंदीगड हे नांव प्रसिद्धीस आले आहे". रा० 'गोंयबाब' यांना प्राचीन स्थळांची नावे निश्चिंतायांनीं

सांगण्यास अढचण म्हणून कसलोच पदत नाही. या गृहस्थाने यज्ञगिरीच्या वायवीत पवित्र गंडा ला पवित्र गि रि म्हणण्यांत जी हातचलावी केली, तरीच या ठिकाणीहि केली आहे। त्यांनी ह्मसीच्या उत्तरे कडचें 'न दी ग ढ' म्हणून जें नांव सांगितले, ते तसे नसून त्याचे 'नंद ग ढ' असेच नांव प्रसिद्ध व सर्वतोयुखी आहे. याला पुरावाच पाहिजे असल्यास वेळगांव गॅझेटिअर, पृ० ५९० वर दिलेली 'नंदगढ' ची माहिती पहावी. त्यांनी आनहुड या शब्दार्थाला जमेल असे 'नंदगढ' गांवाचे 'नंदीगढ' हे नांव बेमालूम ठेवून देण्यांत कौरात्य (?) दाखविले खरे, पण पुढें त्यांना तीर्थाची अढचण पढतांच 'नंदीतीर्थ' ह्या नांवाचें काल्पनिक तीर्थ मानाचे लागून, त्याच्या स्थानाबद्दलहि कल्पनेवरच लटक्यावें लागलें. म्हणून नावाचें मेळ घालण्याचो त्यांचो हो सर्व लटपट निखालस खोटी ठरते. 'गोंयवाच' ज्या क्राँचपुरास ह्मसी म्हणून समजतात, त्या त्यांच्या क्राँचपुराच्या दक्षिणेस आनहुडतीर्थ असलें पाहिजे (मागोल स्थळांचे कोष्टक पहा) पण त्यांचे नंदीगढा जवळपास कुठें तरी असलेले काल्पनिक नंदीतीर्थ ह्मसीच्या उत्तरेस येतें. कारण नंदगढ ह्मसीच्या उत्तरेस ३।४ मैलांवर आहे. लटपटीच्या लेखनांत 'गोंयवाच' यांनी ही मोठीच धोडचुक केली आहे.

माझ्यामते, 'आनहुड' याच्या अर्थावरून तें 'शृ प म ती र्थ' या नांवाजेंहि परिचयाचें असण्याचा समभव आहे. शिसी, वनवासी आणि म्हैसूरच्या प्रदेशांतहि 'शृषमतीर्थ' या नांवाची नद्यांच्या साग्न्यांत एक दोन तीर्थ आहेत असें तपासावरून समजतें. त्यावरून वनवासीच्या जवळपास त्या नांवाचे एकादें तीर्थ असेलहि. नव्वो माहितीच्या अभावीं निश्चित विधान करण्याचें धाडस मला करवत नसलें, तरी हरिवशांतील आनहुडतीर्थ वनवासीच्या जवळपास पण दक्षिणेस येतें, ह्मसीच्या जवळपास येऊ शकत नाही, हें खास

गोमन्तपर्वतः—येथपर्यंत, सहास्थळाच्या क्रमवार दिलेल्या माहितीवरून, गोमन्तपर्वताचा शोध आनहुड तीर्थाच्या खाली पण वनवात्य देशांतच लागला पाहिजे, हे स्पष्ट दिसून येईल. या धावीत प्रोफेसर काणे यांनीं त्याचे स्थानासंबंधी बसविलेली उपपत्ति निर्बाध असून ती मला पूर्णतः मान्य आहे, परंतु त्यांनी गोमंत पर्वताचे स्थान निश्चित सांगितलें नाहीं तें आतां निश्चित करावयाचे आहे.

गोमन्त निर्णय.

हरिवंश लिहिणाराच्या समोर महाकपोच्या वनवात्य देशाचा विस्तार कितीहि मोठा असला तरी, सध्याचें वनवासी हे उत्तर-कानडा जिल्ह्याच्या पूर्व सरहद्दीवर व शिसीच्या आग्नेयेला ३० मैलांवर—म्हैसूर संस्थानांत—सुमारे दोन हजार लोक सध्याचें एक गांव आहे. त्याच्या खाली सहागिरीचा विरष्ट भाग म्हटलेला 'गोमन्त' पर्वत आहे. त्याची व्यवस्थित माहिती न्हावी म्हणून म्हैसूर प्रांतांत एक साप्ताहिक दान पत्रातील आवश्यक तेवढा भाग खाली उद्धृत करों. विजयनगरचा पहिला हि रि हर रा य याचा कनिष्ठ बड्डा मा र प यान ह. स. १ ३ ४ ७ साली, आंध्रदेशीय अठ्ठावीस ब्राह्मणांना वरदानवीच्या तीरावरील कान्तपुरी नांवाचा गांव अग्रहार करून दिला त्याचें हें दानपत्र आहे.

कल्लासत्तान् मारप भूमिपाळः संप्राप्य रात्र्यम् दिशि पश्चिमायाम् ।

गोमन्तरौळे वरचंद्रगुप्तौ स्थित्वासुख सम्यग पाळयन्नजाम् ॥

कुंतल^१ देश मंडनायमान वनवासि द्वादश सहस्र संख्याक राज्य प्रधान राजधानी चंद्रगुप्तोऽपरनामधेय गोमन्त पर्वत द्वादश खर्वाट मध्यदेश विलासद यदनाह^२ नगरखंडे कमठपुरान्तर्गत वरदानदी तीरस्थ कान्तपुरीम् प्रतिनाम वीरमारपपुरीम्.....

मारप राजाने (कदंबवंशीय) कल्लासन राजाला जिंकून पश्चिम दिरीला राज्य संपादन केलें, आणि गोमन्तशैल. अथवा चंद्रगुप्ति येथें आपली राजधानी केल्ल, तो मुखानें राज्य पालन कर्तूं लागला. आपल्या राजधानीचा असा उल्लेख केल्यावर दानपत्राच्या शेवटच्या भागांत त्या दत्तगांवाला वीरमारपपुरी असे स्वतःचें नांव देऊन, त्याचें निश्चित स्थान सांगण्यासाठीं प्रदेशांचीं नांवां नोंदिलीं आहेत. त्यांत कुंतल देशाचें भूषण जे 'वनवासी १२ हजार राज्य,' त्याची मुख्य राजधानी चंद्रगुप्ति अथवा गोमन्त-पर्वत असल्याचें सांगितलें आहे. म्हणजे चंद्रगुप्ति^३ आणि गोमन्तपर्वत हीं एकाच स्थळाचीं दोन नांवां होतात, आणि तशीं तीं समजलीं जातात. गोमन्तशैल हे पहिलें म्हणजे हरिवंश लेखन काला इतके प्राचीन नांव असून चंद्रगुप्ति हे नांव त्या शैलाला सांगावून प्राप्त झालेले दिसते. आतां हरिवंशकाराने वर्णन केलेली लक्ष्मण या गोमन्तास कशीं लागू पडजात तें पाहूं. शिरींसासून तो चंद्रगुप्तीपर्यंतच्या प्रवासांत येणारा सहाद्रीचा भाग दक्षिणे-चर मूळतून वाढत वाढत उच होत गेला आहे. ह्या भागांत बरोच शिखरे व अनेक दऱ्या आहेत. गोमन्त हें त्यांतलेच एक शिखर आहे. त्या भागांतून कांही नद्या वाहत असतात व दऱ्यांतून व बऱ्यांचे निनाद ऐकूं येतात. त्या पर्वतावर सिद्ध, व्याघ्र ही हिंस्र जनावरें आणि हरणांचे कळप असलेले दिसून येतात. हत्तींच्या पैदासी बद्दल तर म्हैसूरचा प्रदेश सुप्रसिद्ध आहे, तसाच चंदनाच्या पैदासीबद्दलहि प्रसिद्ध आहे. तमाळ, पला, मरिच, पिंपळ यांची पैदास त्या भागांत वैपुल्याने होते. हरिवंशांत वर्णन केलेले इतर सर्व वृक्ष व सुंदर वनराजी या संबंधी मनाला आल्हाद देणारी वर्णने अनेक प्रवाशांनी लिहून ठेविलेली आहेत. उलटपत्ती रा० 'गोयबाव' च्या गोवे प्रांतांत अथवा कुवैशी डांगराच्या रानांत त्यांपैकी कांहीं एक मिळणार नाही. तेथील जंगलांत आणि गांवांत शिसा, साईल, खैर, बामूळ, पातफणस, ओख, नारळ, सुपारी, काजु, फणस पपनस, पेक, जांभूळ इत्यादि वनस्पति आहेत. (महाराष्ट्र-सांवत्सरिक). अर्थात् श्रोकृष्ण-जरासंध युद्धाने प्रसिद्ध असलेला 'हरिवंशांतील गोमन्त पर्वत', हा वर सांगितलेला म्हैसूर प्रांतांतील होय, हें निर्विवाद सिद्ध होते.

^१ दक्षिणापथांतील एका प्राचीन देशाचें नांव. भारत-प्रतिद्व चंद्रहास कुंतल देशाचा राजा होता.

^२ 'इटावनाह' ह्या मूलज्ञासोल शब्दाचे 'यदनाह' हे कावडो मापेंतील अपभ्रष्ट रूप आहे, जलें समजतें. त्याचा अर्थ आपल्या मध्य प्रदेश असा होतो. नगर अथवा नागरलह हा प्रदेश म्हैसूर संस्थानापैकीं शिकारपूर तालुका असा समजला जातो.

^३ (चंद्रगुप्ति) समुद्र सपाटी पासून १८३६ फूट उंचीचे हे पर्वत शिखर असून त्यावर रेणुकादेवी सतीनेश्यामुळें तिथें वैवालय आहे.

६

भाषातत्त्व

Dravidic names for the parts of the human body

ग्र० पृ० वि० रामलामी प्रेस, दम० प०, गी० पृ०, पर्वानुक्रम

[प्रत्येक भाषा में सव्यावाचक विशेषण, सर्वनाम, रिक्तों के सूचक नाम, शरीर के भिन्न भिन्न अवयवों के लिए प्रयुक्त नाम आदि कुछ इस प्रकार के शब्द पाए जाते हैं जिन में परिवर्तन बहुत कठिनाई से होता है। इस प्रकार के शब्दों के अध्ययन से भाषाओं के वर्गीकरण में विशेष सहायता मिलती है। प्रस्तुत निबन्ध में द्राविड भाषाओं में प्रयुक्त होने वाले शरीर के भिन्न भिन्न अवयवों के नामों का विस्तृत तुलनात्मक विवेचन किया गया है।]

इस अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ये नाम निम्नलिखित श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं—(१) सिर, आँख, कान, नाक, मुँह, दाँत, हाथ तथा पैर के सूचक नाम प्रायः समस्त द्राविड भाषाओं में समान हैं, (२) गाल, डढ़ी, कंधा, जीम, होठ, कँगुली, नाखून तथा खाल के सूचक नामों में दक्षिण तथा मध्यवर्ती द्राविड भाषाओं में विशेष भेद नहीं है, (३) गाल, गाल, गरदन, पसीना, मांस तथा हड्डी के सूचक नाम दक्षिणी द्राविड भाषाओं में प्रयुक्त हैं, (४) शूल तथा हृदय के सूचक नाम दक्षिणी तथा उत्तरी द्राविड भाषाओं में मिलते जुलते हैं, किन्तु मध्यवर्ती भाषाओं में भिन्न हैं, (५) गाल, गाल, जीम, होठ, गरदन, नाखून, खाल तथा पसीने के सूचक शूल नामों के स्थान पर उत्तरी द्राविड भाषाओं में विदेशी शब्द प्रचलित हो गये हैं, (६) चोटी, गाल, पैर, त्वचा तथा हृदय के सूचक नाम प्रायः आर्यावर्ती भाषाओं से दक्षिणी द्राविड भाषाओं में पहुँचे हैं, (७) गाल (कुन्तल) पैर तथा शूल (प्ते) के द्राविड रूपों से यह अनुमान होता है कि ये आर्यावर्ती भाषाओं में कदाचित् द्राविड भाषाओं से पहुँचे हैं, (८) द्राविड शब्दों के रहते हुए भी कुछ आधुनिक दक्षिणी द्राविड भाषाओं में भी आर्यावर्ती भाषाओं के शब्द भी साथ साथ प्रचलित हो गये हैं, (९) गाल, गाल, होठ तथा रक्त के नामों में आधुनिक दक्षिणी द्राविड भाषाओं में कुछ विभिन्नता पाई जाती है।]

In every language certain categories of words are, in normal circumstances, less open than others to replacement through internal processes of change or to displacement by foreign loans. Numerals, pronouns, names of relatives, names for the parts of the human body, expressions denoting elementary ideas like the primary colours and the activities of the senses,—these are the most prominent of such categories. These therefore might be described as forming part of the essential heritage of the vocabulary of a language-family, and except under the influence of extraordinary factors making for change, these categories might be expected to persist largely in the several units of the language-family concerned.—In Indo-European, for instance, a common base underlies widely distributed representatives like Greek *pous* (foot), Latin *pes*, Gothic *fōtus*, Lithuanian *Pėdà* (foot-track) and Indo-Āryan *Pāda*, but words for 'hand' appear

to be basically different: Greek *cheir*, Latin *manus*, English *hand*, Lithuanian *ranka* and Indo-âryan *hasta*.

The factors that make for change (*i.e.*, replacement or displacement) in the vocabulary of a language in the course of its historical evolution are both internal and external. To the former belong changes involved in the replacement of older words by basically different synonyms, the dropping of words with a view to avoiding confusion between homonyms, and the loss of old words resulting from euphemism, pejoration and from a radical change in the perspective of the people speaking the language. The external or foreign influence may operate when as the result of colonization, conquest, immigration or other historical causes, racial contact or racial coalescence comes into being. If the circumstances favouring linguistic contact are sufficiently strong, the influence of the foreign vocabulary may make itself felt not only among the "culture-words" (which normally are freely borrowed) but also among those categories of words which we have collectively described above as the lexical heritage of a family of languages.

Some of the categories of words forming part of the lexical heritage of Dravidian have already been discussed by me elsewhere. In this paper I propose to examine the available Dravidian words for the parts of the human body with special reference to the question of glossarial resemblances and variations. We shall find that (i) certain groups of words have basically persisted in all the Dravidian dialects; (ii) certain forms are confined exclusively to the South Dravidian speeches, while a few others are common only to the central Indian Dravidian dialects; (iii) many forms of the northern dialects are divergent, mostly owing to displacement by foreign loan-words; (iv) in certain cases, adaptations from Indo-âryan (possibly MIA in some) are not infrequent in the southern speeches too; (v) in certain others the parallelisms between Indo-âryan and Dravidian are such as to lead to the postulate of Dravidian origin for the bases represented in both IA and Dravidian; (vi) the degree of cultural separation indicated by our discussion between south Dravidian and north Dr. is considerable; (vii) even among the southern speeches there exist in some instances such striking variations in the popularization of forms in the modern colloquials as to indicate cultural divergences within the southern group itself; (viii) the influence of IA has been quite strong in bringing about many of these variations.

In the following table the cognates are grouped together in connection with each title. Those forms which have no cognates (with the same meanings) in other Dr. dialects are enclosed within square brackets. Adaptations from Indo-âryan (whether OIA, MIA or NIA) are marked off within brackets with the abbreviation IA prefixed to them. These forms adduced

in the lists are not the original IA words, but their modifications as they appear naturalized in different Dr dialects.

The important Dravidian speeches are all considered here. Though Kûvi is only a branch of Kûi, I have included it in the table, as some forms of this dialect differ conspicuously from those of Kûi. The uncultivated "minor" dialects of the Madras Presidency are mainly allied to one or other of the literary speeches, wherever unique forms are discoverable, they have been embodied in the course of my discussions of the several groups.

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

Bone

i *chambu,*
*embu*ii *ella*iii *chambu,*
embu,
*emmu*iv *emmu*v *edu*vi *emmu*vii *emmu*viii *emmu*ix *emmu*x *emmu*xi *emmu*xii *emmu*

Blood

i *netaru*ii *cōra*iii *cf sōr—*
(to drop, as
blood ran)iv *cf ken-nār,*
(red water
blood)v *netaru*vi *netaru*vii *netaru*viii *netaru*ix *netaru*x *netaru*xi *netaru*xii *netaru*iv [*kurudi*] [*kurudi*]v [*LA—*
ratam] [*LA—*
ratam]

Heart

i *kundi,*
*kundikkāy*ii *kundi*iii *kundi*iv *kundi*v *kundi*vi *kundi*vii *kundi*viii *kundi*ix *kundi*x *kundi*xi *kundi*xii *kundi*[ʔ cakkʃ] [NIA—
bōka]

III

(1) 'HEAD'

(i) Forms on a *tal-* basis are widely represented. The inter-relationship of the different forms of this group is clear. Tam -*ai*, Mal -*a*, Kann -*a*, Tulu -*a* are related,

Tulu -*i*- corresponding to -*l-* is a Tulu feature in instances like *Kālu* (leg), *paru* (tooth). The operation of Aphæresis (consequent on Accent-shift) has produced the *kū kūvi* forms with initial consonant groups and lengthened radical vowels.

Malts *talə* meaning 'hair' structurally belongs to this series, cf. for the meaning, Tam *alai*, Tel *tala* and Talu *taɾə*, all of which mean 'head' and 'hair of the head'

(ii) *mandə*, etc., designate 'skull', in Tōḍa, the dialect of the dwindling tribe in the Nilgiris, *maɾ* (related to *mandə*, etc.) denotes 'head'. cf. Skt *mastaka* (Modern Bengali *māthā*, etc.)

(iii) Bābū *Kālu*, according to Sir Denys Bray, means 'head', 'point of a needle or spear', 'bank of river', 'on top of'. Sir Denys Bray suggests south Dr. *Kōḍu* (top, summit of hill, etc.) as being possibly related. Semantically, there is perfect agreement, as *Kōḍu* in the south means not only 'top' but also 'bank of river' [old Tam. and Tel], but it may, I think, be difficult for us to prove the regular correspondence of B. -*d* to southern -*ḍ*.

(2) 'HAIR'

(i) Tam *mayu* is 'hair' while literary *naviram* is 'hair of a male'. Mal. *māyur* has taken on a pejorative signification in the modern varieties of speech in that it means 'hair of the privies', certain contexts in Tam. usage also suggest this. Mal. commonly uses IA *iḍman* to denote 'hair'. Kann *navu* (hair) is found in old texts while the word in common currency today is *Kōḍu* (for which, see below).

These forms *mayu* (and *navu*) are generally supposed to be ancient south Dr. adaptations of MIA (Prakrit) *mhaṇu*, *masu* derived from OIA *śmaṇu* (beard) but Gundert maintained that *mayu* was Dravidian. Is *śmaṇu* native in IA?

(ii) Tam *Kuṇḷ* (curly hair).

Mal. *Kuṇḷ*, *Kuṇḷ* (curl, hair)

Kann *Kuṇḷ* (curl)

Tel *Kuṇḷu* (curly locks of hair) cf. *mum-guṇḷu* (locks of hair on the forehead)

Tulu *Kuṇḷ* (hair)

The underlying idea seems to be that of 'curling'. The inter-related ideas of 'curling', 'bending', 'shrinking', 'contracting' are expressed by Dr. words like [Tam.] *Kuṇḷ*, *kuṇḷ*, *kuṇḷu*, *Kuṇḷu*. Verbs like Tam. *Kuṇḷ* (to curl), Tulu *Kuṇḷ* (to be coiled, contracted) do exist with a post-dental -*n*- in radical positions. One may also cite here the Tam. word *Kuṇḷ-ai* (young ones of certain animals) occurring in very old texts like *Tolkāppiyam*. While it is the post-dental -*n*- that appears in *Kuṇḷ*, *Kuṇḷai* and in *kuṇḷ* (along with its derivatives

in Tam. and cognates in other dialects), we find a cerebral *-r-* in Tsm, *Kārug-*, etc., and its derivatives with the significations of 'shrinking,' 'contracting', etc. Despite this difference in the nature of the *r*-sounds in these words, I consider the two sets (i.e., those with post-dental *-r-* and the others with cacuminal *-r-*) to be related.

Kittel's suggestion (*Kannāḍa Dict.*, p. xviii) that Skt. *Kurula*, *Kurala* (curl, lock of hair, especially on the forehead) was adopted from Diavidian, is therefore quite likely.

(iii) This group reminds us of Skt. *Kuntala* (hair), and Kittel has suggested (*op cit.*, p. xvii) a Dr. origin for this Skt. word. The basic idea of the word is preserved in Tamil: 'long, flowing tresses of hair'; structurally, therefore, the base probably was *Kār-* (pointed, tapering, abundant) which is represented in all the south Dr. speeches.—Prof. Jules Bloch (*Some Problems of IA Philology*, Forlong Lectures, 1929, p. 741) is of opinion that Kittel may be right in attributing to Skt. *Kuntala* a Diavidic origin. From the Diavidic standpoint, one may say that a formation like *Kār-d-al* (what is pointed, etc.) can produce *Kār(n)dal* < *Kāndal*.

Brāhmi *kunnal* structurally looks like a relative of this group, but the meaning of the Br. word is 'curl of hair' which the words in (ii) above denote.

(iv) Here we have another set of words with intimate IA connections.

Tam. *tuṭṭu* (tuft of hair, white curl on the forehead, ornament on the forehead).

Kann. *tuṭṭu* (tuft of hair left after tonsure)

Kann. *cuṭṭi* (frontlet)

Tel. *tuṭṭu* (tuft of hair, the *śikha*)

Tulu *tuṭṭu* (tuft of hair, hair)

Gōndi *cuṭṭi* (hair of humans and animals)

Kurukh *cuṭṭi* (hair)

„ *ṣārā* (young men's *chignon*, tuft)

Malto *cundo* (tuft of hair)

Brāhmi *cunḍ* (tuft of hair).

One may at once say that the words in Gōndi, Kurukh, Malto and Brāhmi are probably directly connected with different IA dialects; all these Dr. languages have borrowed words plentifully from IA: Gōndi from Hindi and Marāṭhi, Kurukh from Hindi, Malto from Hindi and Bengali, and Brāhmi from Baloci. Hindi *cuṭṭā* (hair-tuft), *juḍā* (top-knot), *coṭi* (top-knot, lock of hair on the head), Oriya *cuṭṭi* (bunch of hair on the head), Baloci *cunḍ* (hair-tuft) are some of the instances of NIA forms ultimately derivable from OIA *cūḍā*. We need only point out here that Gōndi and Kurukh appear to have popularised the term *cuṭṭi* with the generalised meaning 'hair', while Malto and Brāhmi *cunḍ* retain the meaning 'top-knot'.

The forms of the South Dr. speeches are also commonly explained as being adaptations of OIA *cūḍā*, or (to be more precise) of MIA representatives of OIA *cūḍā*.

Now, Indo-Aryans are inclined to think that Skt. *cūḍā* itself may have been an adaptation from Dr. forms like Tam. *śūḍ-* (to wear something on the head) and Kann. *śūḍ-*. Prof.

Bloch (op cit, p 741) observes. "The Aryans adopted probably some of the Dravidians' ways of dressing the hair; Kittel is, I think, right in quoting *Kuntala* and *cuḍḍ* as of Dr. origin."¹

(v) The other words are different in different groups

Tam *kālan* (females' hair) is probably from *lulai*—(to be soft, tender)

Tam *ṣuṇṇai* (curly hair, lock of hair, woman's hair) is a derivative of Tam *ṣuṇi*—(to be curled, rolled).

Tam *nedumai* (length, long hair) is of course from *nid-*, *ned-* (long) represented in all south Dr. speeches

Kann *pinlu* (braid of hair) with which probably Tam. *funnai* (braid of hair) is cognate, is connected with the base in Tam *pinai*—, kann *pene*—, Tel. *pene*—, *pene*—, etc, signifying 'to intertwine'

Tel *neri*, *nerulu* (tresses of hair) is from *nerai* (fold, order, beauty).

Tel. *venṭuka*, *venṭika*, *venṭika*, the common forms in Tel. for 'hair,' go back to *veni*— (the *aupavṛkṣ* base of *vennu* 'rear' 'back') meaning 'at the back of' 'in company with'

Kṛvi *bāna* (hair) is probably adapted from a word like Hindi *bālī* (hair).

NOTE It is noteworthy that, though representatives of the chief groups of words for 'hair' are found in all or most south Dr. speeches there is divergence in the forms for 'hair' actually popularised in the colloquials of to-day, Tam *mayer*, Mel *rōmam* [IA], Kann. *kodal* (Gr.), Tel. *venḍrukulu*, Tulu *koḷalu* (Gr.) Forms other than these in each dialect are either purely literary now or only employed in the colloquials in special contexts

¹ This would make one reflect if the south Dr. *juṭṭu*, *ṣuṭṭu* may not (in some of their significations) have been originally native. I shall make here a few observations in this connection from the Dravidist's standpoint, leaving the question to be discussed further by Indo-Aryansists —

(1) *juṭṭu*, *ṣuṭṭu* may structurally and semantically be derived from native Dr. *ṣuruḷ* (to curl, roll)—

ṣuruḷ + noun-forming *-i* > *ṣuruṭṭu* (roll, tuft) > *ṣuṭṭu* (with syncope as in Kannada, Tel. *cuṭṭu* 'cheroot' 'roll of tobacco' < *cuṛuṭṭu* < *cuṛuḷ* 'to roll')

Also of Tam *ṣuruḷ* (curl of hair) and *ṣuruṭṭu-i-talai* (curled hair)

(2) *ṣāḍ-*, *oḍḍ-* *ṣāḍ-* in native Dr. mean (in their oldest stages) 'to spread or curl round,' 'to surround,' 'to wrap in a coil,' 'to be twisted as a sheaf,' etc — of also old Tam *ṣāl-* (to surround, encompass) and *ṣūḷ-* (to become curved), *ṣūḷi* (curl of hair)

ṣāḍ- and *ṣūḷ-*, *ṣāl-* in their earlier significations do imply 'curling' 'coiling', and semantically they seem to be allied to *ṣuruḷ-*. A structural relationship is also possible, but it cannot be absolutely established

(3) Some of the meanings which the south Dr. forms show, may have to be recognized as having been borrowed from IA 'gold crest,' 'gold ornament,' 'bracelet' for *ṣuṭṭu*, *juṭṭu*

Similarly, the meanings 'head,' 'top' which the following Tam words show, are very probably IA *śādam*, *śāḍai*, *śāḍiyam*

The intimate nature of the Aryo-Dravidian linguistic connexions is nowhere better illustrated than in this instance

(3) 'EYE'

(i) The forms are pan-Dravidian, the spirant *x* of *kuiukh*, Malto and Br. being normal in instances like these.

(ii) A few Tam words signifying 'sight' are the following

Tam *nāḥam* from *nad* - (to covet, follow with the eye)

nōkkam from *nōkk* - (to see observe)

pārva " *pār* - (")

vil " *vil* - (to open eyes)

These are all derivatives used in this *kunstsprache*. Each of these words has a special connotation of its own, mainly depending upon its original source-meaning.

(4) 'EAR'

(i) A very widely represented set of words is this group.

(ii) Tam. *kādu* is used in the modern dialect for 'ear'; *cevu* is the older word favoured in literary usage. In the other south Dr. speeches, the forms of Gr (i) are in common currency in the colloquial today. *kādu*, however, is found only in Tam and Mal. (Malto *zed* (ve) ?). While *kādu* is the common colloquial form in Tam., Mal. uses *kādu* only in the sense of 'ear-lobe' and not 'the organ of hearing'; for instance 'rings on the ear' are described in certain varieties of the mass colloquial as *kādile mōḍiram* while 'ear-ache' which affects the organ of hearing is *cevu-kuttu*.

Tam. *kannam* (ear) from Skt. *karna* is found only in old literature.

Tel. *vinu* seems also to be a literary word derived from Tel. *vinu* - (to hear)

Kṛī *kṛī*, *kuru* and Kāvī *kṛiyu* are unique in that they show a strange *r*.

(5) 'NOSE'

This is another pan-Dr. group. Gōḍī *musōr* may possibly be a combination of *mus* (nose) and *tōr* (mouth). Br. *bā-mus* similarly is compounded probably of *bā* (mouth) and *mus* (nose). Sir Denys Bray suggests however the meaning 'in front of' for *mus* (i) and explains *bāmus* as being 'what is in front of the mouth,' i.e., the nose.

(6) 'CHEEK'

It is very likely that the words for 'cheek' in central Indian Dr. and in the north Dr. dialects are borrowings from forms connected with IA *galla* (cheek). The south Dr. words also are characterized by strange structural variations, in some cases probably owing to contamination and in others owing to their being possible loan-words

(i) This group means both 'cheek' and 'ear' IA *karna* has been suggested as being at the back of this group.—The palatalisation of *k*-to *c*-in Mal is of course purely a Dr. feature.

¹ Parallel words denoting 'nose' occur in a number of "Austro" languages Prof Bloch adverts to them in his article on *Sanskrit and Dravidian* (in *Pre-Aryan and Pre-Dravidian*, p. 57 and points out how very bewildering these parallelisms appear to be

(11), (12) and (13) These three groups look like being the derivatives (with different affixes and with the syncope of the intermediate syllable not unusual in some Dr. dialects) of a base like *kela* (side, vicinity) which is represented as such in Kann. and as *kelanu*, *kelanku*, *kelanpu*, *kelavu* (side, flank) in Tel. It is also possible that the forms of Gr (1) may have influenced the structure of words like *kennu*, *kennu*, etc. of Gr (12). Similarly, *keppe*, *ceppi* of Gr (13) may possibly have suffered some structural contamination with *kebi* *libi*, the Dr. forms for the 'ear'. The Malayalam forms *konn* [southern dialect] *kome* [northern dialect] and *lowidu* [with which we may compare *sevidu*, *cevidu* 'cheek'] also evidence structural "confusion".

We have pointed out above that the base at the back of these forms for 'cheek' may have been one like *kela* (side, vicinity) occurring in Kannada; but the resemblance of this form to late Skt *galla* (cheek) which is said to have been a *grāmya* variant (or derivative) of Skt *ganṛa* (cheek) raises complications as to whether the Dravidian base *kela* (side) may itself not have been an adaptation of IA *galla*.

(14) These are very peculiar words in Dravidian. While the south Dr. forms mean 'cheek' and 'jawbone or jaw', Kāvī *laped* [l interchanges with d in Kāvī and Kāvī] means 'chin'. I think that for our purposes we shall have to distinguish these forms from *tāṇi* (beard, chin) occurring in the south Dr. dialects which *tāṇi* is possibly a direct adaptation of IA *dādṛhka*.

The structural uncertainties are quite marked. I cannot connect these forms with any elementary Dr. base, and the words do not appear to have struck deep root in any of the southern speeches. They are not found in the literatures of the south. One can therefore strongly suspect them to have been non-Dravidian in origin. Kittel suggests the IA word *dādṛhka* as the possible source and compares Marāṭhī *dābāḍe* (*dābāḍe* 'jaw' as being a formation like *davāḍe*, etc. of this group, but Prof Bloch (*Cf cit.*, p. 741) points out (from the Indo-āryanist's point of view) that *dādṛhka* (Mann) and Hindi *dārṛh*, etc. neither phonetically nor semantically could be explained by Skt *damṛṣṭha* (tusk, fang), and he offers the suggestion that *dādṛhka* may be related directly to Tam *tadaṛ* (cheek) and Tel *davāḍe*, etc.

As I have said, *tāḍu*, *tavāḍu*, *davāḍe*, *laped*, etc. occurring in Dr. do not seem to be native and since the IA forms [Skt *dādṛhka*, Hindi *dārṛh* (beard) and Mar *dābāḍe* (jaw)] themselves are probably exotic in IA, we may have to look out for a third source for explaining the ultimate origin of these forms.

Prof S. K. Chatterjee, while making certain tentative suggestions regarding a possible relationship between Skt. *lapola* (cheek, etc.) and a few "Austric" forms, mentions the following "Austric" words (*Pre-Aryan and Pre-Dr.*, p. xxii) meaning 'cheek' or 'face'.

Khmer *thpeal* (cheek)

" *thbāl* (")

Nicobar *tapōa* (face)

Sakai *lapa* (cheek)

Semang *lelong* (cheek)

If the presence of different and alternating prefixes, together with the widespread distribution of these forms in "Austric" would warrant the suggestion that the root here may be native "Austric," then forms like *thbāl*, *tapōa* may conceivably be connected¹ with Dr. *tavaḍe*, etc.

(vi) This group again is rather peculiar in Dr.

(vii) Tam. *kavul* (cheek) an old word in Tamil and Mal. In Tamil it also means, 'temple of an elephant,' 'jaw of an elephant,' 'side'; this word is usually explained as being an adaptation of IA *kapola* (cheek, temple of an elephant, etc.)

But, as we have just seen above, IA *kapola* itself is a suspect

(viii) Among the other words, Kṛti *gaḍa* [-ḍ- < ḷ], Kur. *galle*, Malto *galle* and Bi. *kalla* are all, I think, directly borrowed from the neighbouring IA speeches, as suggested by their structural features.

In the south also, direct adaptations of IA *galla* (cheek) exist Tam. *kalam*, Kann. *galla*; Tulu *gadda* and Tel. *gadḍa* (and probably Tam. *kattai* in *mōdy-kattai*) signifying 'chin' are also probably related to Prakrit *ghaḍḍam*, Skt. *galla*.

The common colloquial forms for 'cheek' in the south Dr. speeches today are the following:

Tam. *Kannam* (cheek)

Mal. *Kavul*

Tel. *Cekkū*

Tulu *Keppe*, *Kenni*

Kann. *Kenn*, *Kenne*

'Jaw' is denoted in the colloquials by *tāḍai* [Tam.], *davade* [Tel., Kann., Tulu].

(7) 'MOUTH'

(i) This group is represented in all Dr. dialects except Kṛti-Kṛvi and Malto. In Gōṇḍi, while the usual word for mouth is *tuddḍi* or *lodḍḍi*,² the form *vāy* occurs in the phrase *vāy ē-* (to yawn < 'to raise mouth'). The IA loan *thūira* in Kur. emphasizes the configuration of the mouth, the organ itself being denoted in Kur. by the old native word *baṭ* which occurs as such and also in numerous old combinations.

¹ I can cite here one instance where a Tam.-Mal. word which is neither found in other Dr. speeches nor capable of being explained as Dr. is so remarkably alike to "Austric" forms as to raise the probability of the Tam. word being an adaptation from "Austric"

Tam. *tavakkaṭṭa*, *tavakkaḷai*, *tavaḷai* (frog), Sakai *tabel*, *tabeg* Semang *tabak* Malay *budik* (Cf. also *Pre-Aryan and Pre-Dr.*, p. xxii under 'frog')

² Prof Bloch (*Sanskrit et Dravidian*, p. 56) notes the parallelism between Skt. *tupḍa* (beak, trunk), Mar. *tōṇḍ* (mouth), Guj., Beng. *tupḍ* on the one hand, and Tam. *tupḍi* (beak), Gōṇḍi *tuddḍi* (mouth) and Malto *toro* (mouth) on the other. Prof. Bloch's reference would imply that the IA forms may have been borrowed from Dravidian. It is difficult to say how far these forms are native in Dravidian. 'Mouth' is denoted in a large majority of Dr. dialects by a different base (*vāy*, *vāy*, etc.).

(11) *Kāi suda*, Malto *toro* are (I think) direct borrowings from the IA speeches in the neighborhood of these Dr dialects.

(8) 'TOOTH'

. A widespread group.

(9) 'TONGUE'

(i) All the southern dialects have forms derived from a common base.

(11) *Vand*-in Kāi signifies 'to taste' *vand-er* of Kāi looks like a word derived from *vand*- Whether Gōndi *vanjē* is structurally connected with this form, cannot be determined

(10) 'LIP'

(i) That there exists a definite relationship between these forms and Skt. *Tunda* (and in the case of Mal probably to *tunda*) is beyond question. The question of the lender and the borrower does not, I think, admit of an easy solution.

One thing may be noted *tud* (lip) in Tamil is a rare form, not usually met with in the texts or in the colloquial. The common word in the texts is *idal*, while the colloquial has *udadu*. Tel. does not possess a cognate for *tud*, *dud*, the common form employed in Tel. being *vātera*. Kann. and Tulu alone use *tud* and *dud* for 'lip' commonly among the south Dr. speeches.

(11) These are common forms in Tam and Kann.

(111) Tam *idalu* (petal, leaf, lip) is an old adaptation of Sanskrit *dala*.

Tel *vātera* is literally 'a screen for the mouth'

. Tel. *palukappu* [*paku* (tooth) + *kappu* (covering)] is another literary word for 'lip' in this speech.

The Tulu sub-dialectal form *ofte* is adapted from MIA *ofa* (OIA *osfa*)

(11) 'NECK'

(i) The forms are not widespread. The resemblance borne by these to Skt. *gala* (neck) has been pointed out by the Tam. Lexicon, while Gundert recalls Skt. *kantha*.

(11) These forms are found only in Kann. and Tel.

(111) Tel. *meda* appears to have a direct relative in Prakrit *maḍa* (neck).

Tulu *kanthulu* is an adaptation of IA *kantha* (neck). Tulu *lekthulu* (neck) looks like an adaptation of IA *gala* (neck), modified in Tulu with native affixes (cf. for the structure 6 iv).

(12) 'BODY'

(i) A group with fairly wide representation in the dialects.

(11) This is confined to south Dr. The base *nd*-(to be attached) occurs in other words like *udaya* (belonging to, attached to), *ndu-kk*-(to wear), etc.

(111) A set of purely "literary" words in Tamil.

(13) 'STOMACH'—'BELLY'

(i) No representative exists for this group in Tel which uses *kadupu* for 'stomach'. Kñvi has *bandi* (cf. Tulu *bañgi*) and *vahi* (cf. Belgaum Tam. *vahur*, *vahur*).

(ii) Here we have a set of forms, the basic idea of which emphasizes the 'protusion of the belly.' I consider the forms native, connected as they are with

Tam *poll*-(to be blown big, enlarged)

„ *pollai* (hollow)

„ *potai* (empty, hollow)

Kaon *polle*, *holle* (hollow)

„ *polle* (egg-shell)

Tel *potla* (empty, chaff)

MIA (Prakrit) *potam* and NIA forms like Mar. *pôt*, Guj *pôt*, Hindi-Beng *pēt* are, I think, ultimately Dr-derived in origin

(iii) Tam *pandī* is compared in the Tam. Lexicō to IA *phand*. The IA form is rather rare in IA; on the other hand, *paññai* (sides of the stomach), *paññam* (cavity) etc. are native Dr. and these could very well be connected with Tam *pandī*, Mal. *pandī* and Mal. *pañña* all of which basically imply a protuberant or expanded stomach, as illustrated by the phrases: Mal. *pandī-vayaran* (huge-bellied man), *pañña vīrtu* (the sides of the stomach have expanded) etc

The IA form *phañḍa* may therefore have been derived from Dr

(iv) If the cacuminal -ḍ- is due to cerebralization of an older dental, then these words might be related to Tam *tolḷai*, *tolai* (hollow, what is bored), etc. cf. in this connection Mal. *tolḷa* (throat), Tam *tonḍai* (throat) with Kñi *ḍollu* and *ḍōka* (throat).

(v) *mōḍu* and *agāḍu* are Tam "literary" words.

For *mōḍu* (belly), cf. *mōḍu*, *mōḍu* (rising ground, protuberance) *agāḍu* (inside, belly) is connected with *agam* (inside) *uḍalu*, *oḍalu* in certain sub-dialects of Tulu means 'stomach', its normal signification being 'body'. This transference of meaning in connection with words denoting bodily organs occurs, as we have already seen, in other instances also of 6 iv

(14) 'HUNGER'

(i) These are old words in the respective speeches. Tel *pastu* (fasting) is referred to in the Śābdaratnākāma as non-Tel;² but it is probably allied to this group. A Sanskrit dictionary-word *pṛa* which means 'food' and 'hunger' has been suggested by Kittel (*Kann. Diet*) to be Dravidic in origin.

² The kind of semantic transference in the case of words denoting the members of the human body, is a general phenomenon met with in different families of languages—Of the observations of Prof. Vendryes (*Le Langage*, p. 239) relating to some of the IE speeches

² This probably represents the ingenious view that *pastu* is connected with IA *upa-vāsa* (fasting)

(15) 'HAND'

Malto *te* is probably a borrowing from Kolaman forms like *te*, *ti*, etc. which are widespread in "Austrian" languages. Br *du* has been compared to an Afghan word *du* (hand)

(16) 'FINGER'

The forms are inter-related. Gôndi *va: aŋ*, a variant of *va: iŋ* shows -a- in the radical syllable. The syncope of the intermediate syllable (with -i-) of a form like *va: aŋ* may give rise to *vaŋ* found in Kôti

(17) 'NAIL'

This group is represented in south and central Dr. Modern colloquial Tamil and Mal. use only the adaptation from IA *nakham*, *ugir* being found in Tam literary texts only. Kann and Tulu colloquials use *ugru* even today. Tel. similarly uses *uŋu* (aphorized from *ugir*) in both the written and the spoken dialects

(18) 'LEG'

Pan-Dr except for Bt. *nat* (?)

(19) 'SKIN'

(i) If *toŋal* here is the original form—as I think it is [*tŋl* < *to(h)al* < *toŋal*]¹—then the resemblance which the basal portion bears to Skt. *tvak*, *tvac* is quite remarkable. Indeed, IA *tvak* has been adapted by Tam, Kann. and Tel. as *toŋku*¹ which is probably separate from *toŋal* in its linguistic history;

(ii) Kurukh *caplā* is an adaptation of a NIA form like Bengali *cāmā*.

(20) 'PERSPIRATION'

(i) Tam, Mal., Kann. and Tulu show a common base, while Tel. *cemata* is probably allied to *cemna* (moisture) which latter looks like an ancient adaptation of a MIA form corresponding to OIA *jalam*.

(ii) Kôti *lāia*, Kôvi *gāma* and Gôndi *lālum* are adaptations of IA *ghaiam* (sweat < heat). The semantic development is met with in Hindi and Bengali *ghām*

(21) 'FLESH'

(i) The forms are met with only in Tamil and in Kôti-Kôvi now.

(ii) This group is probably based upon *irai*—(to be sprinkled)

(iii) Tam. *tā* remains an isolated form in the south, its only cognate is found in far-off Bialut

NOTE: IA forms are commonly used in the modern colloquials of the southern speeches, Mal and Tulu also use *eracet*.

1. The IA loan *toŋku* in Tam means 'rind', 'bark', 'skin' and 'sense of touch' one of the five *indriyas*, in Tel it signifies 'bark', 'rind'

(22) 'BONE'

The Central Indian Dr. dialects show in Gr (i) very near cognates confined exclusively to these speeches with the meaning 'bone', such a correspondence of forms exclusively between Kūi-Kūvi and Gōndi is also found in 9, ii and in 16. These cases point to a certain degree of "cultural mingling" between these two dialects.

(23) 'BLOOD'

(i) Whether the base of this group is an ancient adaptation of IA *rahta* through some MIA stage is not quite clear, though the structure suggests it.

For the correspondence of *d-* in the Brāhūi form to *u-* of other dialects, cf. Br *ḍr* (water) with *nṛ* of the South.

nederu in Kūi occurs only in the phrase *rahta nederu* (blood).

(ii) The base here may be *śṛ-* (to be poured, to flow) found in all south Dr speeches.

(iii) Redness being a conspicuously visible trait of blood, the words for 'redness' stand for 'blood' in Kūvi, Kurukh and Malto cf. Skt *rudhira*. This same idea is at the back of *kenṇṛ* ('red water' blood) in Kannada and *senṇṛ* of Tamil; (*ken-sen* 'red').

(iv) *kurudi* of Tap. and Mal is probably from the base *kur-* (to spout out, gush forth).

NOTE The commonly used forms in the colloquials of the south are *ṣattam* [Tam], *ṣṛa* [Mal], *nettaṣu*, *netṭuru* [Kann, Tel Tulu]

(24) 'HEART'

(i) *ḡṛud*—implies 'roundness', the words of this group signifying 'heart' in the physical sense may be related to this base.

(ii) Kann. *ede*, Tel *eḍaḍe*, *ede*, Tam *edayam* are adaptations of MIA forms corresponding to OIA *hrdaya* (heart).

(iii) Knr *bāka* is probably adapted from a NIA form like Bengali *bāka* (breast).

The above discussion of Dravidic words for the parts of the human body reveals that

(a) the most widely distributed groups are those denoting 'head' (1, i), 'eye' (3, i), 'ear' (4, i), 'nose' (5, i), 'mouth' (7, i), 'tooth' (8), 'hand' (15, i), 'leg' (18, i). These groups of words are represented in most, if not all, of the Dravidian dialects. The words in different speeches have basically persisted also with little or no structural alterations.

(b) The following appear to be common to the southern and the central Indian dialects 'cheek, chin, jaw' (6, v), 'tongue' (9, i), 'lip' (10, i), 'finger' (16, i), 'nail' (17), 'skin' (19),

(c) Those exclusively confined to the south are words denoting 'hair' (2, i, ii, iii), 'cheek' (6, i, ii, iii, iv), 'neck' (11, i), 'perspiration' (20, i), 'flesh' (21, i), 'bone' (22);

(d) A few appear in the southern and the northern dialects without being represented in central Indian Dravidian 'hunger' (i), 'mind' (24, i);

(e) Native Dr Forms have been displaced by foreign loans in the northern speeches :
'hair', 'cheek', 'tongue', 'lip', 'neck', 'nail', 'skin', 'perspiration' :

(f) The following southern groups are probable borrowings, mostly from IA : 'hair-tuft' (2, iv?), 'cheek' (6, i, ii, iii, iv < IA *galla* ?), 'cheek' (6, v, vi < 'Austrie' ?), 'belly' (13, iii), 'skin' (19, i < IA *tvac, tvak* ?), 'mind' (24, iii).

(g) The native Dravidian character of the following would suggest that the corresponding IA words may have been derived from Dravidian : 'hair' (2, ii, iii), 'belly' (13, ii, iii), 'hunger' (14, i—IA *psa*);

(h) In spite of the existence of native forms, IA words have become popular in the modern colloquials of some of the southern speeches.

Tel 'hunger'

Tel. Kann, 'heart', 'mind,'

Mal. 'body'

„ 'hair'

„ 'nail'

Tam. 'nail'

Tam-Mal 'mind' (24, iii)

Tam. 'blood'

Tam-Mal. 'flesh'.

(i) In the colloquials of the southern speeches there are divergences : 'hair', 'cheek', 'lip', 'blood'

Conjunctive Participles as Pleonastic Suffixes in the Magadhan dialects

अध्यापक वाणीकान्त काकति एम० ए०, गौहाटी

[पूर्वकालिक कृदन्त के रूपों का निरर्थक अर्थपूर्णों के समान प्रयोग तीन शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है :—

(१) पूर्वकालिक कृदन्त के वे स्वतन्त्र रूप जो मूलधातु के विकारी रूपों के बाद लगते हैं, (२) पूर्वकालिक कृदन्त के वे रूप जो मूलधातु के विकारी रूपों में ऐसे मिल गये हैं कि इन के निरर्थक प्रत्यय होने के सम्बन्ध में भ्रम होने लगता है, (३) वे पूर्वकालिक कृदन्त के रूप जिन का स्वतन्त्र अस्तित्व लुप्त हो गया है और जिन के अवशेषस्वरूप अन्य चिह्न मूलधातु के ही भाग हो गये हैं।

मागधी भाषाओं में पूर्वकालिक कृदन्त के इन तीनों प्रकार के प्रयोगों के बदाहरण मिलते हैं। प्रथम प्रकार के प्रयोग के बदाहरण नीचे दिये जाते हैं, जैसे आसामी—धरिसे गै 'वसको पकड़ लिया', बंगाली—सी कोरले गे 'और तब उस ने किया', बिहारी—जाय कहव 'जाना'। बंगाली की बोझियों से लिखे गये निम्नलिखित बदाहरण पूर्वकालिक कृदन्त के दूसरे प्रकार के प्रयोग पर प्रकाश डालते हैं, जैसे बंगाली (नोआखाळि) सरि(ध)ए 'मैं मर रहा हूँ', बंगाली (चटगान) करि 'मैं करता हूँ'। पूर्वकालिक कृदन्त के तीसरे प्रकार के प्रयोग निम्नलिखित बदाहरणों में मिलते हैं, जैसे प्राचीन बंगाली दि-आर 'अवश्य दोलिप',—कहि-आरों 'मैं अवश्य कहता हूँ', प्राचीन आसामी—हानि-एरे 'वह अवश्य मारता है',—करि-एर 'अवश्य करिप'।

ऊपर के समस्त बदाहरणों में पूर्वकालिक कृदन्त के रूपों का अपने कृदन्ती अर्थ में प्रयोग कहीं भी स्पष्ट नहीं है। इनका प्रयोग निरर्थक प्रत्ययों के समान वाक्य में प्रवाह उत्पन्न करने के लिए ही हुआ है।]

The Magadhan dialects present the strange phenomenon of using conjunctive participles as pleonastic suffixes after fully inflected verbal forms to add a certain emphasis. Let us begin with the Easternmost Bengali dialects. The conjunctive participles *giyā, gai* from the defective root *ga*, to go "is often added to other verbs to make them more forcible" (L S I V. I. p 293). The conjunctive sense having been lost, the participle is added to inflected verbs in all tenses and moods as an emphatic particle, e.g. *dūrai bidesh gechil giyā*—went away to a distant country. *Cēchār* dialect (L S I V I p 234) *lai gēcō gai*—took away: *Tippera* dialect (L S I V I p 244) *gelām gai*, I went away; *deo gai*, give away: *Chittagong* Ibid p 294 *dūrai mullukē-gēl gai*—went away to a far country. *kari gai*—let us make *Noākhāl* (Ibid pp 309, 313)

ABBREVIATIONS

A = Assamese

B = Bengali.

L S. I. = *Linguistic Survey of India* by Gernson

O. D B. L. = *Origin and Development of the Bengali Language* by Dr. Sumit Kumar Chatterji—

Pischell = *Pischell's Grammatik der Prakrit-Sprachen*.

The use of *gai* in this sense is a highly characteristic feature of middle Assamese Prose of the Chronicles. The following forms are taken at random from *Puranī Asam Burāñī* published by the Kāmarūpa, Anusandhān Samitī

- dharile *gai*—caught him up (p 104)
- rahl *gai*—he stayed there (p 108)
- thākīl *gai*—he remained there (p 107)
- bhetile *gai*—he did meet him (p 109)
- diye *gai*—he does give etc

This use of *gai* persists in Mod A. It is used in narrative prose to give a certain swing and a sense of finality to an expression.

In standard Bengali *ge* < *giya*, "added to the imperative expresses the imperative in the immediate future with a slight precative sense" (O D B L p 908) eg *āni karige, tumi kara ge* "With the simple past and the future, it has the force of "though," "nevertheless," "however," "even now," "immediately" (O D B L p 909) eg *se kōrle ge*—and then he did *tumi kōrbe ge*, and you will do

In middle and modern Assamese there is a similar use of the conjunctive *āhi* (coming, ✓ *āh* to come) > *hi eg*

phukanat baril hi—took shelter in Phukan *garh dilehi*—constructed a fort. *Pāndu pālehi*—reached Pāndu etc

This use of *hi* continues in Mod A. There is just the difference between 'going' and 'coming' in the uses of *gai* and *hi*. The former is used to indicate the consummation of the action of the verb further away from the speaker, while the latter denotes the contrary i.e. towards the direction of the speaker eg *pāle gai*,—reached, going *pāle hi*,—reached, coming

Some East Bengali dialects illustrate a similar use with ± *kāri* > *hāri, āri* eg. *giyā hāri*, having gone *Sylhet* (L S I V I p 231), where *hāri* is not pleonastic but continues the conjunctive sense of the preceding verb. The characteristic illustration is from the *Tippera dialect* (Ibid p 244) *bāper bāri gelām āri*—went to the house of the father

The standard Bengali pleonastic affix *khan, khun*, met with in expressions like *jābō-khan*, I shall go, *dilum-khun*, we gave, *habe-khun*, it will be (O D B L pp 997, 998) though connected by Dr Chatterjee With O I A *ksana*, instant, is in reality a conjunctive participle occurring in the forms *khan, kohon, khan, khā* in the Bihārī dialects

Cf *Pāch Pāganā* (L S I V II); *khāy-kahan*, eating *dhair-kahan*, catching (p 171), *uth-kohan, uth-kahan*, having risen (p 167), *Nāgpurā* (Ibid p 298) *āi-kohon*, coming, *Sadrī Kōl* *serāi-khan*, having completed, *kāmāi-khan*, having earned. (Ibid pp 159, 160), *Bhojpurī* dialect *āwat-khā*, coming in (Ibid p 206), also E Hindī, *-kan, -khan, -kehen* (L S I VI pp 177, 178, 225)

As *Sadrī Kōl* where the exact form *khan* is registered is an Eastern Magadhan dialect and just in the immediate neighbourhood of Bengali the migration of *khan* is easily imaginable and a postulate for separate origin of B *khan* is uncalled for. The following expressions from the Gospel of St Mark in Magadhi quoted in ODBL p 998 only illustrate the pleonastic use of the conjunctive participle *khan* in Magadhi: *kariai-khan*, I do, I shall do, *ailai-khan*, came, *kahal kai-khan*, said etc

THE DIALECTICAL BENGALI -re.

(*debō-ne*, I shall give, *jābā-ne*, you will go) and the dialectical Assamese (*Kām-rūp*)-ni (*khāwā-ni*, do eat, *jāwā-ni*, do go) are conjunctive endings used pleonastically

The origin of the conjunctive participles in-na in the various dialects and sub-dialects of N I A may be briefly indicated here

The forms in the *Bihārī dialects* as above noted are *kahan*, *kōhan*, *khan*, *khā*.

The *Nepali* form is *kan* (shortened for *ke-ne*)

The Bengali sub-dialects (L S I V I) *Chākmā* p 324 -nai, *jeinai*, having gone.

Khariā-Ṭhar (Mānbhum) p 93 -nā, *henā*, being *ānā*, taking

Māl Pāhārā p 99 -henak *guṭiāi-henak*, having collected

Jalpāi-gurī p 106 -hāne *jāyā-hāne*, having gone

In *Rājasthāni dialects* (L S I IX II)

Mārwāṭī p 26 -nai, -knaī :

Mālvi p 57 -ne, -ī-ne

All these n- forms go back to O I A (Vedic) -tvāna > M I A -ttāna, -ccāna, -yāna (Pischell S 592) M I A -yāna N I A -āna, -na

Bihārī kahan, *Nep kan* (< *ke-ne*), Bengali *henak*, *hāne* are double conjunctives. In the *Bihārī dialects* the termination of the conjunctive participle may be either *kai* or *ke* (shortened for *kari* > *ka* (r)ṛ). In this use *kai* or *ke* lost all traces of the verbal significance and became a mere conjunctive suffix subjoined to the conjunctive form of the principal verb. The *Rāj* dialects built up an affix in -nai, ne on the analogy of *kai*, *ke*

By blending both the forms we get, *kai* + *na* > *kaya* + *na*, *kahan*, *kan*. The combination *kai* + *na* would also > *kena*, *hena*, *henak* with the addition of pleonastic -ka, (in some East B dialects, k in the middle of a word, and the k in the verb *karite*, to do, is pronounced as h Cf L S I V I p 259, *hariā dila* = *kariā dila* Ibid p 261).

The form in -na is the strengthening of -na, and *hāne* may be derived from *ka* (often used instead of *ke*, L S I V II p 52) + *ana* + i = *kāne*, *hāne*

The form in -ina-i is parallel to M I A -ūna -ina goes back to O I A. -tvāna > tyāna (Pischell S 587) < M I A -tiāna, -iāna > N I A -ina. > -ina

DISGUISED CONJUNCTIVE FORMATIONS AS PLEONASTIC AFFIXES

The above discussions will throw light upon the origin of certain affixes tagged on to inflected verbal forms and so long regarded as pleonastic without any assignable reasons. It will be found that they are highly worn out conjunctive participles added on to emphasise the meaning of the principal verb. The following are the affixed verbal forms —

Noākhāh dialect (L S I V I p 307)

marī-(y)er —I am dying

karī-(y)er —I do

Cf E H (Baigāni) maratha-nā, I am dying, jāthe-nā, he goes

Chittāgong dialect (Ibid p 293)

karī-r also karī—I do

kara-r also karaa—thou dost

kare-r also kare—he does

khā-er also khār—he eats

Hāyong of Mymensingh (Ibid p 215)

mārib-ār mārib-ān, he struck

thākib-ār thākib-ān, he remained

Sylhet (Ibid p 226)

jāi-yār

jāi-r-ām

jāit-r-ām

} I am going

Easty B (Krishna Kirtan)

ācherā he has berhule-rā surrounded

dibo-rā shall give haibe-rā shall be

gehi-rā passed

In all these examples -rā, -erā have no clearly definable meaning. They are all used in a vague sense of emphasis and obligatoriness associated with English auxiliary verbs like 'do,' 'did,' 'shall,' 'should' etc and conveying the same shades of meaning as the conjunctive participles examined in the previous section.

In reality they are only decayed conjunctive participles. In Bihārī, there is also the conjunctive formation kar (L S I V II p 39) side by side with kai, ke. In the Western languages kar often appears as -ar. There is also the Nepālī conjunctive in -(y)er. Eastern Hindī, -ker (Turnbull Nepālī Gr p 111, L S I VI p 159).

We have already met expressions in East B with pleonastic use of hārī, āri < kārī (gelām 311) and a Chittāgong form like khāi-ī may be regarded as equivalent to

khāi kar (1) I do eat Similarly Noākhālī mari-yer may be equated to mari ker(1), I am dying (The Māl Pāhārīā dialect has a verbal root $\sqrt{\text{ker}}$ Cf ānand kerib, hāsi-mōjā kerib, LSI V I p 102)

Dr Chatterjee regards this -r- as a contracted form of kar and a verbal auxiliary added on to the root (O D B L p 996). But he has left the history and function of this -r- undiscussed

INVERTED CONJUNCTIVES

There are certain analogous formations in Early B (Krishna Kīrtan) and in Early A (Rāmāyan M Kandali) in which the position of the characteristic conjunctive ending has been inverted. The principal verb takes on the conjunctive termination and what in similar contexts pass on as conjunctive participles have personal affixes added on to them. The following are the examples —

Early B di-āra do give, āni-āra do bring, kahī-āra do speak, khā-āra, do eat,
kahi-ārō, I do speak

Early A kari-era do thou go, tāri-erā māri-erā. do save kill etc

lukāi-erō I shall have concealed

gucāi-erō I shall have removed

hāni-ere he does strike etc

Here -arā -erā are clearly related to karā, kerā and the formations di-ārā, tāri-erā may be equated to expressions like diā kara, tāri kerā = giving, do, saving, do, = give, do save. In this respect they may be regarded as compound verbs with the principal verbs put in the conjunctive forms. āniārā may be regarded as equivalent to Mod B. āniyā phelā bring off. This use of -arā, era may be due to the fact that though originally conjunctive in sense, they are used without the characteristic conjunctive terminations and were perhaps mistaken for finite verbs in the imperative. This motion once established, personal affixes of the other persons also were added on to them. Cf Western Assam (Kāmrup) dialectical forms —khā-n-1, do thou eat, khā-n-ā, do you eat, khā-n-ō, let me eat, where -n- is a conjunctive particle.

Dr Chatterjee connects -iā with the verbal noun in -ita (O D B L S 996). But the explanation suggested does not seem to be quite satisfactory.

Some Lexical Material in Jaina Māhārāstrī Prakrit

अध्यापक डा० नैर्मन ब्राह्म, पॅसिलवेनिया विद्यापीठ

[लेखक को महीपालचरित्र नामक जैन महाकाव्यी प्राकृत भाषा के अन्य से कुछ नवीन शब्द मिले हैं, उन्हें लेखक ने इस लेख में प्रस्तुत किया है तथा उनका अर्थ भी दिया है। लेखक ने इसी जहाँ तक पुस्तक पढ़ी है वहीं तक के शब्द यहाँ दिये हैं।]

In preparing an edition and translation of the *Mahāpālacaritra*, a work of 1816 stanzas in Jaina Māhārāstrī Prakrit by Viśadevasganin, whose floruit seems to have been about 1250 A.D., I have noticed in the two MSS and have so far used a number of new words, which I list here. My notes are made with special reference to the following two works, which are cited by abbreviations.

PSM *Pāṇi-Sadda-Mahannavo*, by Pandit Hari Govind Das T. Sheth 4 vols. Calcutta, 1923—28

Pischel *Grammatik der Prakrit-Sprachen*, by R. Pischel Strassburg, 1900

The references to the text are by stanzas

ardunga, adj. (not in PSM), "very deep", from Skt *abhtaṅga* *dīrgho ego kūvo mogga-jade tehm ardunga* (1035)

arsaḥḥa, adj. (not in PSM), "full of excellent qualities", from *arsay* (Skt *atīśayin*) or *arsaya* (Skt *atīśaya*), with suffix *-ḥḥa* *jaś' indenam dmnā levaliyā puthiyā arsaḥḥa, tass' annam pi hu kim ci vi sambhāvijjai na samdeho* (500).

anabbha, adj. (not in PSM), "cloudless", in *anabbha-vuttihī* (Skt *anabhā-vṛṣṭi*). *esā anabbha-vuttihī* (491).

anahhaya, adj. (not in PSM), "not inscribed", from double negative prefix *ana-* (cf. Pischel 77) and *haya* (Skt. *likhita*). *khujjo vi patla-sancam anahhayaṃ nya-karammi kūṇa* (425).

annanna, adj. or n. (add to meaning in PSM), "spell, charm-poems-poets", equivalent to *annanna Jinasundari vi bhīyā dāṭhūnam navadī me pursue, hatthe kūṇa jalam annanna-smānā bhanaṃ evam* (806).

avāda, m. (not in PSM), "non-speaking" (?), perhaps from Skt *a-vāda* (for phonetic cf. Pischel 222 end) *poṇām phutām dhanaṃ gaheṇa gayā ya vani-uttā, bhanda-sālā vinatthā gehe vi kumbhaya-avādo* (73)

ahar, vb. (not in PSM) "make inferior", from Skt *adharaya* (denom. of *adhara*). *kundu-lahiyāvali va jūm solenti danta-pantī, aharaṇi tāna ahara dāṇma-puppha-pphā-jūlam* (111).

āhiya, n. (not in PSM), "object of thought", form Skt. *ādhiṭa* · *piunā puṭṭho jampat savvaṃ jānāmi savva-āhiyaṃ* (1408).

-unna, adj in comp (not in PSM), from Skt *punya*, as in *kaya-unna* (Skt. *kṛta-punya*) · to *kaya-unno lahihi soḥkhāṃ anna-bhave* (612)

kirin, vb. (this stem not in PSM), "bny", collateral with Pkt. stem *kin*, from Skt. *krī* (*krīnāti*) (for phonetics cf *kiriyā* from Skt. *kriyā*, and see Pischel 135) · *gacchantenāṃ tenam gahro kirinittu tāda-pattānaṃ, ego rammo sango aha jina-bhavaṇe jināṃ namunūṃ* (423)

kulhuya, m. (not in PSM), "jackal" (cf *kulha*), from Skt. *kroṣṭuka* (see Pischel 242) : *Mayano puna mariṇaṃ samjāo kulhao ranne* (1091)

keki, m. (not in PSM), "peacock", from Skt. *kekin* · *ekki-kalāva-sukesā tarunī iva sohae vasukā* (1700)

khattulhiyā, f. (not in PSM), "little bed", diminutive of *khattā* (Skt. *khatvā*) · *eto Dhanamgaya-gurū Jiyasattun naya-payammū ihavūna, der kula-ekama-laddhā egā khattulhiyā tassa* (377)

khuadahiya, f. (not in PSM), variant of preceding word : to *mahayā kaḍḍanāṃ Uyyenṃ par calai Mahavūlo, cauhiṃ bhajjāhiṃ samāṃ khuadahiyaṃ appanā cadio* (535).

gauravijanta, pres. pass. ppl (not in PSM), "treated with honor," denom. vb. from *gauṛava* (cf Skt. *gaurāya*) *abhimuḥa-samāgacchiṃ rāchiṃ gauṛavijanto* (731).

Guddara, m. (?) (not in PSM), name of a mountain. *kahiyaṃ kena vi Guddara-nagammi kira atthi kāmyaṃ kūdaṃ* (1448).

goru or *°rū*, m. (not in PSM), "horned cow, ox," from Skt *gorūpa* (cf Huf. *gorū, gorūā gorūwā*). the word occurs twice in the story of the oowherd Sumanas, in *star. 12as 618, 626*.

cadi-uttar, vb. (not in PSM), "climb and descend," compound of *cadi* and *uttar* · to *so punar avi cadio puna bhaya-bhio tao samuttaro, cadiuttariṇaṃ to jāva tahiṃ atthai eso* (1189).

cuḷa, m. (not in PSM), "bird." Proportional analogy · *cuḷa* : *cidiya* Skt. *cuḷa* · Skt. *cataka* (Pkt. *cadaya*) · *tuha vi ahe maha pānā khaṇena vaccaṇṭi uddiya cidu vva* (817).

cukkav, vh. (not in PSM), "canse to lose," cans. of *cukk* : *vinaya-suya-sila-ghāi māṇḍa heū hiy' atthinaṃ jaṃ so, kiranto suha* (MSS. *suhu*) · *dhamm'attha-kāma-bhogāṇa cukkavā* (1399).

jipp, vb. (not in PSM), "be conquered," pass. of *ji*, the same form of the passive occurs in Apabhraṃśa (see Jacobi, *Sanatkumāracaritam*, Abhandl. d. Bayer. Akad. d. Wissenschaften, Philos.-philol. Kl. 31 Bd., 2 Abhandl. Munich, 1921, p. 120), a basis for this form may possibly exist either in the Aṛdhamāgadhī gerund *jeppi* (see Pischel 588) or the more common Māhāśāstī passive *jevva* (see PSM under *ji*, cf Pischel 473, 536), of which *jippai* may be only a phonetic variant : *so khujjo jippai na surehiṃ vi kim vya amhehiṃ* (493), *asamāna-viggahenaṃ jille vi hu n' atthi tuha jāso koi*,

jaha puna kaha vi na jippar to ayaso hoi aribahūo (513) , *tā jar jippar tenam to laṭṭhum hoi* (550)

lāl, vb (not in PSM), "remove, frighten away," from Skt *lālay*, caus. of *lal*; cf. Gujarati *lālavum* "remove, get rid of," Hindi *lālā* "pass beyond avoid, deter, frighten"; Platts, *Hindustani Dictionary*, derives from Skt *tāray*, caus. of *tr*, which is phonetically possible (see Pischel 218, 257) *jādasat Sūharām tam tā sūsana-devayū talam jha-tti, tassa bhāttie tuthā tam sappam tālar dūnam* (1143)

lāl, vb (not in PSM) "shake," from caus. of Skt *lal* "be disturbed", probably the same as the preceding word so (elephant) . . *aṭṭalāyām tālar pāsar haṭṭum bhāngai gihām* (201)

lakṭṭy, vb (not in PSM), "be bitten," pass. of *laṣ*, *daṣ* "bite"; made on basis of pass. ppl. *lakka* (from Skt *lakṣa dasta*, see Pischel 566) *jar dalṭṭyasa kaham pi bhūyagena* (1716)

danguraya, danguruya m. (not in PSM), "drum", cf. Pkt *ḍanka*, Hindi *ḍankā*: used as synonym of *padaka* (184) , *iya dangurao nayare vagganto hatta-majjha-sampatto chitto Mahāvālenam* (185) , *to ānguruyam dāvāva puramm* (203)

talāya, talāyāra, m (not in PSM), "city police," variants of *talāya*, *talavara* (cf. Skt. *talāya* "chief of police", see in Schmidt *Nachtrage* p. 7), perhaps from Skt *tala*, *talā* "handle of sword, archer's aim-guard," with suffixes *-ka*, *-ra*, *-ka* *-vara* *ṣe kaloṣaṭṭe utte* (MSS *utte*) *pahāvīyā tattha talāyā* (MSS *talāyārā*) (1337) , *patṭā talāya-purissā jovanā cōa-paya-pantam* (1350)

timrakkerā, m (not in PSM), "night," from *timra* with suffix *-kera* (*-kera*, Skt. *-kārya*, see Pischel 176) *rehar siresu jāsm sūsiniddho kasina-kuntala-kalāvo, muha-candāna* (MSS insert *va*) *bhaena va timrakkerō nūno va* (408).

thāgha, m (not in PSM) "shallow place", from Skt *sthāgha*, gloss in MS *A* *taṣam maccho vi tab-bhaenam moggham dāṭṭa jā, jalahi-taḍe, Mahāvālo vi hu thāgham lahiṭṭam tam mūyai haṭṭhā* (337)

devala, n (not in PSM), "temple", variant of *devaula*, *deokula* *jai nasusāmī aham gutte* (read *gutte*?) *vi hu devalassa sihar'ante, tattha vi jossantī vilakkha-cintā ya gantūna* (1341).

nikkanṭha, adj (not in PSM), "free from desire", from Skt *nirālṅka* *so irchayam na pāva Sūdhara-vaṇṇa* (MSS *vaṇṇa*) *va ittha loyamm, nikkaniḥo puna suho* (MSS *saho*) *ho jahi so pano* (read *pana*?) *pacchā* (1134)

niyada, n. (not in PSM), "foot fetter", cf. *niyala*, from Skt *niyala*, *niyada* *so* (elephant) *niyadām totṭūnam* (200).

nivved, vb (not in PSM), "find out, discriminate between, separate", cf. Hindi *nibhānā* "separate, divide", Pkt word possibly from Skt *nir-vi* (for phonetics cf. Pischel 222 end), Platts (*Hindustani Dictionary*) derives the Hindi word from Pkt. *nivvāṇa*, Skt. *nir-vāṇa* *cyāna nicchayam jo kare nivvedūna danham pi, tassa dammassa lakṭṭham* *deci nro tuthi-dānena* (184)

panc'anga-pasāya, m. (compound not in PSM), "five kinds of gifts": to *panc'anga-pasāyam dāṭṭa viṣajjio ne haḷḷe* (151), to *dāṭṭa pasāyam panc' angam so viṣajjio-rannā* (520)

padali, f. (not in PSM), "box"; from Skt. *paḷali-tamvola-padali-mayhe*. *hāro* (1480), to *padali mottum hāram* (1562).

pariyāya, m. (not in PSM), "entourage", variant of *pariyāya*, note d for r (see Emeneau in *Journal of the Amer. Or. Soc.*, vol. 51, 1931, p. 33), the form *pariyāyo* occurring in stanza 587 is followed in stanza 589 by the form *pariyāyo*.

pāṇicarana, n. (not in PSM), "service, adoration, worship", variant of *padicarana*, *padicarana* (for lengthening of first vowel see Pischel 77), from Skt.* *praticarana* to *anna-dīṇe paṭṭo purao devūṇa pāṇicaranammi* (1153)

pāvanyya, gṛdv. (not in PSM), "to be reached", from Skt. *prāpaniya āvinto ya kameṇam langhittā jala-nihim asesam pi, ega-dīna-pāvanyye kūlammi ya āgao jāva* (1002).

phū, indecl. (not in PSM) exclamation of contempt (also in free construction as a neuter noun, like *dhiya*, Skt. *dhiḥ*); Skt *phut. pāhario vi hu jampar phū na vāhasi kisa āgao etiha, eddaha-nayarasea janam vanciya kiṇ na hu dhiyam kunasi* (170).

bia-hara, see below under *vida-hara*

bhamaḍana, n. (not in PSM), "wandering about", derived from the Pkt. sb. *bhamad-bham*, Skt *bham* (see Pischel 554) *bhamūna Mahesarenam kumāra itth' atthi sasura-geham te, to tatth' eva ya jāmo kiṇ annatto bhamaḍanenaṃ* (1328).

maṇḍalaya, n (meaning not in PSM), "magic circle", from Skt. *maṇḍalaka* to *āriya bhingāram viha-puvvam pūṇṇa maṇḍala, donna vi manā bhavvā jo tumhānaṃ ihaṇṇ sacco* (190).

mānusattha, n. (not in PSM), "man's condition", from Skt *mānusa-tva*. occurs in stanza 1071.

māsahya, vb. (not in PSM), "made large or stout"; pass of denom. from adj. *māsala*, *māṇsala* (Skt *māṇsala*) *taṃ datthūṇaṃ sāhū saddhā-pulāna māsahyantaṃ* (625).

mūḍaya, m. (not in PSM), "a measure of grain"; variant of *mūḍa*, *mūḍha* (cf. Skt *mūḍa*, *mūḍaka* "basket") to *rāya-kule gantum gahio dammāna katvum lakkho, jaha pūrisaṃ dhanam mūḍaya-paya-aḷḷha-dammehim* (74).

melāvāṇa, n. (not in PSM), "meeting, joining", action noun from caus. of *mi*: to *āyā suha-lagge pāni-ggahanaṃ kunai tesim* (232) *hattha-melāvanammiṃ dmmam, āena kaṇaya-lakkham se*

mojja, n. (not in PSM), "confusion, stupidity"; from Skt *muḍhya* *maccho vi tab-bhaenaṃ mojjaṃ dāṭṭa jāi jalahi-tade* (337).

ratta-va, n. (not in PSM), "ascetic (i.e., one clothed in red)", variant of *ratta-vaḷa* *ratta-pala* (from Skt *rakta-pata*) *ya cintiya so jakkho ratta-vaḷa jathā jathā bhujanti nīya-hatthenam tesim parivesa tattha tatth' eva* (1241), to *kuḍḍanti avannam ratta-vaḷa sāhu-sanghassa* (1243).

latthaya, n. (?) (not in PSM), "satisfaction, pleasant occurrence", from *lattha* (Skt **lata-lasita*, see Pischel 564), with suffix *-ya* (Skt.-Lr) - *tā jai purassa bhāṣim ujjāne kilāi paṭhu* *lunāi o, ahaṭā mājhi ceyya iṇṇassa to latthayam ho* (640).

latthu, adj (not in PSM), "agreeable", variant of *lattha* (for which see under preceding word) *tā jai jippai tenam to latthum ho* (550)

loddā, n. (not in PSM) "theft", from Skt *loptrā* (cf Pischel 289 end), the word generally occurs in the compound *loddā-kara* "thief" occurrences in stanzas 1203, 1343, 1355, 1653, 1656.

vāya-pāna, n. (compound not in PSM), "drinking (i.e. enjoying) the air" - *tā pucchai viyada-ūtham gimhe jala-uvarā vāya-pān' altham, payadam niccala-kāyam egaṇe minam mahā-kāyam* (335)

viyāya, adj (not in PSM), "baseborn, casteless", from Skt. *vyūta*. The story is that Mahipāla, disguised as a hunchback, shows some blank pages (palm leaves) successively to a king, a purohita, and a minister, saying that Śakra had given him these as a magic book. To him only who was properly born (jo *vhiṣim janeṣim jāo*) would letters appear on the leaves. Each of the three fails to see any letters, and so they conclude *aham viyāo* (429), *mo viyāu tti* (433), *ahayam viyāu tti* (436). Curiously, in all three cases the MSS read *tyā*?

vida-kāra, n (not in PSM), "entertainment hall", there is a variant form *biḍa*°; the word is erroneously treated in my *Story of Kālaka* (Washington Smithsonian Institution, 1933), p. 110. The key to the meaning is found in the *Ardhamāgadhī vida* "dancer" (see *Ardhamāgadhī Dictionary*, vol IV, 1932), which is possibly the same word, but in a different aspect, as the Pkt *vida* (Skt *viḍa*) "dissolute person, rake, pimp." See also under the next word. *to rāyā suha-lagge pāni-ggahanam kunai tesam* (232) *lattha-melāvanamim dinnam rāena lanaya-lakkham se, dinnu ya pavara-deso bahudava-juyam vida-kāram ca* (233)

vida-purisa, m (not in PSM), "entertainer". for *vida* see preceding word *puna-puna pucchantassa vi jāhe na hu dmiṭṭharam tto, to rannā vida-purisa bhayiyā bollāvaha imāo* (419) *te vi hu can-attihim nānā-hāschim cheya* (MSS *tikeya*)-*bhauchim, na tananī lokoeyam jā tā rannā tattha ānatum* (420)

viḍh, vb (not in PSM), "cling to", variant of *veḍh* (Skt *rest*) *vedaha tti kaṭṭha so i hu Mahirālo jāra tammi nī uhai, to mino sala-saho iyao to viḍhai gāṇhayam* (336).

vināyīya, pass. ppl (not in PSM), "woven", from caus. stem ultimately from Skt root *vā*, *vi*, *u*. The Pkt. base *vun* does not appear in PSM as a verb, but is represented in the noun *vunana* "weaving", however, cf. the Hindi verb *bunnā* "to weave" *tab-lhappā padno vināyio lattho laha i* (616).

viddha (oi ° i), m. (oi f °) (not in PSM), "trick, trap", variant of Pkt *veḍha* (Skt *viḍa* "enclosure noose") *gaha-gahio si tumam ceyya jo paru-gchammī cī vaucem, atthai gihai, vanti veddham aunnam tumam lanna* (172)

veddhā, f. (not in PSM), "boat" (?), MS *A* has gloss *parvata*, but the word is possibly variant of *bedā* "boat". Perhaps in text we should read *venha· veddhā tti kaliya so vi hu Mahivālo jāva tammi ārukha, to mīno sala-saho yaro to vahaṇ gāḥayaram* (336)

sannāha, m. (not in PSM), "armor", Sanskrit *saṃnāha vireya-sannāha-sambuya-saṃro* (1771).

sala-saliya, adj. (not in PSM), "pierced by an arrow, severely hurt"; variant of *sai-saliya*, for illustration see stanza quoted under *veddhā*, cf. *aha sā . . . kāma-sai-saliya-angi* (218).

salaḥa, adj. (not in PSM), "valuable excellent" (?); from Skt. *śāḥya* (?) *īyane . . . salaḥāṇi tti munittā to iena somaṇ kumai sattiṇ* (103).

sārā, f. (not in PSM), "care, concern"; Skt. *sārā* (see Schmidt, *Nachträge . . .*), cf. Hindi *sārā* "custom, usage, practice". *ett'h'antai se māyā sārā-karan'attham āgayā dāre, soṇna kumai-soddam sā cintai kumai esā* (219).

siva, m. (not in PSM), "jackal", cf. *sivā*, from Skt. *śiva cckam khāyati maḍḍayam annam ca kad'akkha-akkhiyam dharai, annaṇi ahlasai mane masāṇo-siva-saccakha nāi* (1043).

sunnāna, n. (not in PSM), "theoretical knowledge", coupled in our text with *vinnāna*, the two meaning "theoretical and applied knowledge" (cf. Edgerton on "Jñāna and Vijnāna" in the Winternitz Festschrift). *tassa ya vinoya-thānaṇ sunnāna-vinnāna-samjvo attā, m'itto tti ya padivanno Mahivālo nāma rūutto* (22).

kattha-sannā, f. (not in PSM), "hand-language, gesture language", from Skt. *hastāsaṃjñā*. *etto mahāyanenon dinnāo tattha kattha-sannāo, mullaṇi thavūna tao bhavanāti cyaṇi smāṇi loha* (120).

O nekotoryx javlenijax rotatsizma v jazykě xindi.

प्रोफेसर डा० आ० बराम्बिकोफ़ पी० एच्० डी०, लेनिनग्राद

[लेख का विषय है—हिन्दी-भाषा में रकारीभाव की कुछ अवस्थाओं पर विचार]

हिन्दी-प्रविता की बोलियाँ—अब और अवधी, जिनका हिन्दी कविता के इतिहास में एक विशेष स्थान है, भाषा-विज्ञान की दृष्टि से बड़े ही महत्त्व की हैं। इन दो बोलियों की, ध्वनियों की, नामों और शब्दों के रूप-परिवर्तनों की, कोष की और शैली की विशेषताओं ने बहुत समय पहले से अब तक अनेक भारतीय तथा योरोपीय विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है। तो भी, बावजूद इस बात के कि अब और अवधी का अन्य पड़ोसी बोलियों से ध्वनियों में और रूप-परिवर्तन में बहुत ही सरल अन्तर है, दुर्भाग्यवश ऐसा कोई अन्य उपलब्ध नहीं है जिसमें अब और अवधी की इन विशेषताओं की वैज्ञानिक विवेचना की गई हो।

अब और अवधी में रकारीभाव के, अर्थात् शैली के निर्माणार्थ ल की अपह र के विधान करने के, दृष्टान्तों का संश्लेष अनेक भारतीय और योरोपीय विद्वानों ने किया है। ल और र की प्राचीन ध्वनियों में—अर्थात् उन ध्वनियों में जिनका सूत्र कि संस्कृत की ध्वनियों में होता जा सकता है—तथा अनेक ल और र में जो कि अर्वाचीन भारतीय भाषाओं में दन्त्य और मृदाल्य ध्वनियों के ऐतिहासिक परिवर्तन के फलस्वरूप प्रकट होते हैं, स्पष्ट भेद करना चाहिए।

अब और अवधी के बहुत से साधारण प्रयोग के शब्दों में हम ल-भाषा के ल के बजाय र की ध्वनि पाते हैं। फिर भी इन दो बोलियों का रकारीभाव पूर्ण नहीं है, और अनेक शब्द-समूहों में ल ध्वनि भली-भाँति बनी हुई है। दूसरी तरफ स्वयं बड़ी बोली में बहुत से दो रूपवाले शब्द पाये जाते हैं, जिनमें ल और र वैकल्पिक होते हैं, और उनके वैकल्पिक प्रयोग से उन शब्दों के अर्थों में यादूची अन्तर पड़ता है।

परन्तु वैदिक भाषा में भी इस प्रकार शब्दों के दो रूप प्रायः पाये जाते हैं। ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है, ल ध्वनि पुरानी र ध्वनि का स्थान लेती हुई गीष् पड़ती है। जहाँ कि ऋग्वेद के प्रथम नौ मंडलों में, जिनका उनकी भौगोलिक परिभाषाओं द्वारा अफ़ग़ानिस्तान और पंजाब से घनित सम्बन्ध प्रकट है, हम ऐसी बोली पाते हैं जिसमें रकारीभाव का पूरा जोर है, वहाँ दूसरे मंडल में, जिसकी भौगोलिक परिभाषा अधिक पूरव की है, जहाँ शब्दों में ल ध्वनि पाई जाती है, जिनमें कि पहले नौ मंडलों में र ध्वनि है। ऋग्वेद के अन्तिम अंग में ल का प्रयोग पहले अर्थों की अपेक्षा बाद गुना अधिक है। असकोली का कहना है कि ऋग्वेद में, जो कि निम्न ही बाद का है, ल का प्रयोग ऋग्वेद से सात गुना अधिक हुआ है। फिर महाकाव्यों तथा शास्त्रीय संस्कृत में ल का प्रयोग प्राचीन संस्कृत की अपेक्षा तीन गुना अधिक है। प्राकृत भाषाओं में ल का प्रयोग और भी अधिक बढ़ जाता है, मागधी प्राकृत में तो वह अपनी बरत सीमा पर पहुँच जाता है; र सर्वथा छुट हो जाता और उसकी जगह सर्वत्र ल आ जाता है।

अब तक साहित्यिक बोलियों में र और ल के विपर्यय की व्याख्या करने के सब प्रयत्न विफल हुए हैं, क्योंकि इस विषय का अब तक केवल ऊपरी अध्ययन किया गया है, जिससे केवल हल्की बात सिद्ध हो गई है कि पहले ल का प्रयोग बढ़ने की प्रवृत्ति रही, और बाद में वह घटती गई। इस विषय के विकास-सम्बन्धी तथा शैली-सम्बन्धी पहलू पर ध्यान नहीं दिया गया। यदि हम छुत्तीदास की भाषा पर विचार करें, जिनसे कि अरबन्ध रेफ़-प्रवृत्ति-बुक्त कहना सर्वथा न्यायसंगत है, तो हम देखेंगे कि दो सीमानें हैं जिनके आगे रकारीभाव की प्रवृत्ति नहीं बढ़ती।

१—संस्कृत शब्द अपने ल को सदा बनाये रखते हैं।

२—अन साधारण की बोलचाल के प्रचलित शब्दों में र नहीं छुसता।

छुत्तीदास की भाषा में रकारीभाव उन शब्दों में गीष् पड़ता है, जो कि विभिन्न श्रेणियों के पुरुषों, देवताओं और राजाओं के लिए प्रयुक्त होने पर अपने अर्थ में परिवर्तन होने देते हैं। यही बात सुरदास की रचनाओं के बारे में भी है।

यह प्रमाणित हो चुका है कि पश्चिमी आर्यावर्ती बोलियों में रकारीभाव की प्रवृत्ति थी, जब कि पूरबी बोलियों में लृट् का प्रयोग विशेष था। यह समर्थन रखना चाहिए कि पूरब के, विशेषकर बङ्गाल तथा उसके समीपवर्ती प्रान्तों के, विजय के समय उच्च वर्गों के प्रतिनिधि परिचम से आये थे। उदाहरण के लिए, विशेष कर गुप्तवंश के अभिलेख में प्रायः ऐसा उल्लेख है कि ब्राह्मण तथा वज्रिय परिचम से आये। इससे हम यह परियाम निकाल सकते हैं कि परिचम से उच्च श्रेणियाँ रकारीभाव की प्रवृत्ति लाईं, और वह कुलीनता की द्योतक समझी जाने लगी। इसी कारण ब्रज और अवधी में उपर्युक्त दशा है, और र-वाले रूप ऊँची शैली को सूचित करते हैं।

वैकल्पिक र या ल वाले शब्द रूपों के विकास की ये तीन क्रम-दशायेँ, अर्थात् (क) र वाले पश्चिमी रूप, (ख) उनका ऊँचे दर्जों की भाषा का विशेष चिह्न होना, और (ग) उन का शैली को उद्कृष्ट बनाने के लिए प्रयोग किया जाना—अत्यन्त आधुनिक खड़ी बोली में भी प्रतिबिम्बित होती है।

संस्कृत के अनेक शब्द-समूह भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि ल वाले शब्द-रूप निचले दर्जों के लोगों के शब्द-कोष के समके आते थे। जैसे, नमूने के लिए, आख्यौय संस्कृत में कई आन्तरिक अंगों के नाम ल वाले ही हैं;—जानवरो को मारवा तथा सूतक शरीर को लूना नीचतम दर्जों के ही कार्य थे। उसी प्रकार रँगने के लिए बत्तें जानेवाले रँगों में नाम भी।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि इन लेखकों की भाषा में, जिन्होंने अपनी रचनाओं में ऊँची शैली का परहेज किया है, रकारीभाव का लेशमात्र भी नहीं पाया जाता, उदाहरण के लिए कबीर की भाषा में।]

Poetické sklo dialéktu xindi—bradž [ब्रज] i avadž [अवधी], —mějšćišć stol' bol'šo značěnišć v istorii poezii xindi, predstavljajut isključitel'nyj lingvističeskij znějšć

Svošobrazie ix fonetiki, morfologii, slovarja i stilja davno užč privlěkalo vnimaniš mnogix avtorov, kak indijščev, tak i šćvropějšćev. Dolžno skazať, ođako, što bol'sinstvo rabot etix avtorov přeslěduet přemnuščěstvěnno praktičeskije tšeli—obšćit' ponimaniš jazyka togo ili drugogo avtora, dialėktičeskije osoběnnosti kotorogo v značitel'noj měři otlěny ot sovřěmennogo literaturnogo prozaičeskogo jazyka.

Xotja oba nazvannyx poetičeskix dialėkta tšesnějšim obrazom svjazany s sootvřstvujušćimi lokal'nymi dialėktami xindi, ođako, dažš pri sovřěmennoj stěpěni izučěnnosti etix dialėktov, možno skazať, što dlitělušć upotrěblěniš dialėktov bradž i avadž v literatūřě sposobstvovalo ix otkloněniju ot sootvřstvujušćix lokal'nyx dialėktov. Eti otkloněnija nabljudajutja ně tol'ko v oblasti slovara i stilja, kotoryš nāzřbšćno vsěgda otlěajut literaturnyx dialėkty ot dialėktov městnyx, v značitel'noj měři ogrančěnnyx v oblasti vyrazitel'nyx srědstv, no takžš i v oblasti fonetiki i morfologii. Nšsmotřja na otnositělnuju prostotu fonetičeskix i morfologičeskix javlěnyj my, k sožalěniju, i do six por ně mššćm ni ođnoj raboty, po svjaščěnnoj nadlěžščěstvom naučěnomu rassmotřěniju etix javlěniuj v bradžš i avadž. Dažš dauně otnositělnoz zvučěnija odnix i tšš žš form zaščastuju byvajut razbčeny u razbčenyx isslědovatelěj i často ně sovpadajut s tšmi formami, kotoryš my naxodim v razbčenyx izdanijax krupnějšix avtorov—Tulsi-Dasa i Sur-Dasa. Bššš mēnššć vnimanija uděljajetja voprosu ot ispol'zovanu razbčenyx fonetičeskix javlěniuj v potrebnostjax stilističeskogo oformlěnija.

Nastojasčěja kratkaja zaměťka iměšt svoš tššl'ju popytku pokazat', kakim obrazom ispol'zovetja javlěniš rotacijszma, to tšš fakt zaměny zvuka "i" tššřč "r" dlja potrebnostějšć stilja.

Javlěnjaja rotatismu "l > r" stol' jarko vyražěny v bradžě i v avadxi, čto davno užě privlěkal vnimaniję isslědovatelj. Kromě mnogočislěnyx indijskix avtorov na nix ukazyvajut muogiję evropějskiję avtory, v častnosti *R. Doenle*, *S. H. Kellog* i dr. Bol'sinstvo avtorov pri rassmotrěni čerědovanija zvukov "l" i "r" raznogo proisxožděnjaja, t. č. staryx "l" i "r", vosxodjaščiję k sootvėstvujušim sanskritskim zvukam i novyx "l" i "r", kotoryx pojavljajutsja v novouindyjskix jazykax v lězu' tatě istoričěskix modifikatsij zubnyx i tsěřěbral'nyx soglasnyx. V vidu kratkosti moěj zamětki, ja ograničus' faktami čerědovanija staryx "l" i "r", kotoryx v drěvneindyjskom jazykě [v vėdičěskom i sanskritě] vystupajut v kačěstvě plavnyx. Faktam čerědovanija zvukov "l" i "r" novogo proisxožděnjaja buděť uděljeno mēn'sě vnimanija.

Pri pėřexodě ot sovreměnnogo litěraturnogo jazyka [खड़ी बोली] k dialěktam bradž i avadxi my nabljudajem v etix poslednix zvuk "r" [र] na mēstě zvuka "l" [ल] pizaičěskogo jazyka to muogix vės'ma často upotrěbitel'nyx slova. Napriměr

Sur-Dasa	Kxari-Boli
बारी	बाला
गारी	गाली
बहाराई	बहलाना
बिलुरि	बिजली
दुवर	दुवंल
Tulsi-Dasa	Kxari-Boli
दरी	दलना
डारी	डालना
सरवार	सलवार
जाईफर	-फल
चपयुतली	-चुतरी
रोम	रोम, बोम i drugiě.

Količěstvo priměrov možno bylo by uvěličit' va mnogo raz

Kromě analogičnyx priměrov čerědovanija staryx zvukov "l" i "r", my nabljudajem nēkotooryx fakty čerědovanija novyx "l" i "r", napriměr

बेरा	बेला i dr.
------	------------

Na osnovanij etix i im podobnyx faktov muogiję avtory nkazyvajut, čto dialěkt Tulsi-Dasa, ravno kak i dialěkt Sur-Dasa xarakterizujutsja sil'nym rotatizmom.

Sovėjšěnnno ponjatno, čto rotatizm etix dialěktov dalěko užě polnyj, i v tsělom rjadě slov upotrěbljaetsja tol'ko "l". Takovy napriměr. बल, बोला, बालक, बाल, लये, खेला i drugiě

Povėřnostnoě nabljuděniě etix faktov, nabljudajušixsja v poetičěskix dialěktax bradž i avadxi, možěť privěsti k zaključěnyj, čto formy s "l" i "r" upotrěbljajutsja čisto slučajno, čto v osnově ix upotrěblěnjaja nět nikakogo printsipa kak to i utvėrždajut nēkotooryx avtory

například, *Beames*. Vo vsjakom slučae upotřeběním v poetických dialektax form s "r", kotorym v kxari-boli sootvřetstvujut formy s "l" obraščet na sebjja vmanimě.

Daľnějšee iznčimě etogo voprosa pokazyvaet, čto i v samom kxari-boli iměetsja značiťel'noe količestvo dublětov, gde čerědnjutsja zvuki "l" i "r", pričem značenijsja slov s "l" i "r" xotja i blizki, odnako ně pokryvajutsja odni drugimi. Takovy napríklad, चरना—चलना, चराना—चलाना, जरना—जलना, जराना—जलाना, पुत्री—पुतली, गर—गल, हर—हल i dr., novyě "l" i "r". चरा चराई—चला.

Probléma čerědovanija zvukov "l" i "r" okazyvaetsja eščě bolěe složnoj, ešli my obratimsja k dřevnim arijskim jazykam: vėdičeskorn i sanskritu

Užě v vėdax my naxodim rjad dublětov, gde vystupajut to "r" to "l". Napríklad :

पुरु	"mnogo"	पुल्ल
मिश्र	"směšannyj"	मिरल्ल
वर्युर्	"glotat'" [intěns. ot वृ]	जल्युल्ल
पिच्छोर	"svirěl'"	पिच्छोल्ल
रोमन	"volos"	लोमन i dr

J. Wackernagel v svoej grammatikě dřevněindijskogo jazyka (*Altindische Grammatik, I, Lautlehre, Goettingen, 1896, s. 215*) s polnoj avtoritětnost'ju otměčat, čto s těčiměm vrěměni upotřeběniě "l" narastaet. Měž tēm kak pėrvyě dēvjat' mandal, svoej gēografičeskoj terminologii svjazannyě s zapadom, s tēpėrěšnim Afganistanom i Pendžabom, dajut dialěkt s sil'nym rotatsizmom, gde, kromě privěděnnyx priměrov, zvuk "l" sovrěšěnnno ně vstrěčaetsja, užě v dējatoj mandalě, svjazannoj s bolěe vostočnoj gēografičeskoj terminologiěj, vstrěčajutsja formy s "l", na městě kotorigo v bolěe dřevnix mandalax bylo "r". Napríklad

जुच्—खुच्	"gibnut'"
रम्—लम्	"polnčat'"
रोहित—ओहित	"krasnyj" i dr.

Po vyčislenijam razhěnyx avtorov, v poslednix častjax Rigvėdy "l" upotřebljaetsja v 8 raz čašče, čem v bolěe rannix. S drugoj storny, po podsčětam *Ascoli* v *Atzarva-Vėdē*, to ešt' v pamjatnikě, nėsomněnno, bolěe pazdněm po svoěm jazyku, čem Rig-Vėda, zvuk "l" upotřebljaetsja v 7 raj čašče, čem Rig-Vėdē v tsělom.

Nakoněts v epičeskom i klassičeskom sanskritě upotřeběniě "l" v tri raza převoschodit po svoej častotě npotřeběniě etogo zvuka v doklassičeskoj litěraturě. Pri etom rjad slov, kotoryě v staryx pamjatnikax upotřebjalis' tol'ko s "r", v klassičeskom vystopajut tol'ko s "l". Takovy

लघु	"bystryj, lěgkij"
लम्ब	"visěl'"
ललाट	"lob"
शुक्ल	"světlyj"
रज्जय	"razryxlat'cja" i dr.

Rjad drugih slov, raněš upotrěbljavšisja isključitel'no s "r", v klassičeském sanskritě soxranjajut eto "r" ves'ma redko i vystupajut počti isključitel'no s "l". Takovy

बहुल	बहुल	"gustoj"
सू	सू	"koičn'"
वार	वार	"xvost, volosy xvosta".

Narastaně upotrěblěnja zvuka "l" nabljudasjsja čěšě v bol'sej měřě v prakritax. Kul'minacijnogo punkta eto razvitě dostigaet v prakritě Maḡadhi, gđě "r" isčězaet sovrěšenno i na ěgo mēstě javljaetsja "l"

खल	vměsto	खल
खल	,	खल
खल	"	खल i drugie

Voprosy prakritskoj grammatiki, kak izvēstno, zanimali indijskix grammatikov značitel'no mēn'sě čěm vaprosy sanskritskoj grammatiki. My možem poetomu dumat', čto v nēkotoryx slučajax, uloviv hš' obščuju tēnděnciju k zvuku "l", indijskie grammatiki, bēsni'nyš uloviv' obščie pimsipy ěgo upotrěblěnja, prosto stilizovali nēkotoryě dialěkty maḡadhi, podobno tomu, kak dramatičeskie prakrity, napriměr, vo mnogix otnoščěnjax přěstavljajut soboju často iskusstvěnně, stilizovannyě formy, a nē formy, real'no upotrěbljavšisjsja v sootvěstvujuščix narodnyx dialěktax.

Vijad li možno priznat' udovlětvoritělj'nym ob'jasnēnē indijskimi grammatikami fakta nahěja dublětov s "l" i "r" v sanskritě. Po sněščestvu formula indijskix grammatikov

र-ल-वेल यनेदः

पřěstavljajet soboju prostoj otkaz ot ob'jasnēnja nabljudasěmyx faktor

Stol' čě malo udovlětvoritělj'ny i popytki ijada evropijskix lingvistov ob'jasnit' eto javlēmē. Čto možno vidět xoja by iz utvēřžděnja Bartolome (*Bartolome, K Z*, 39, 579 A), kotoryj zjavljaet, čto v načalě drěvněindijskomu jazyku, kak i drěvněpersidskomu, byl svostivnē rotacizm, a potom anova vměsto zvyka "r" javljaetsja "l".

Pišel' (*Pischel, GGA*, 1884, 512), rassmatrivaja fakty čěrědovanja zvukov "r" i "l", pruxodit k vyvodu, čto narjadu s zapadnymi dialěktami, obladavšimi rotacizmom, suščestvovali i vostočnyě dialěkty, soxranivšie zrnk "l" i daže rasširivšie granicy ěgo npotrěblěnja. Vhjanēm etix poslědnix dialěktov ob'jasnjaetsja proniknovēmē from s "l" v klassičesku sanskrit.

Čto zaključēmē i osnovanno na izučěnni prakritov, podtvēřždasjsja takžě i nēkotorymi dannymi novindijskix jazykov. S nēkotoryx ogovorkoj my možem soglasit'sja s utvēřždēmē přišelja o bol'sě širokom npotrěblěnni zvuka "l" na vostokě, gđě, nēsomnēno, bylo značitel'noě vlijanē drěvněindijskix jazykov.

Odnako eto v vs'ma slaboj měřě ob'jasnjaet fakt nahěja dublětov s "r" i "l".

Dž Buz v svoěj sravnitel'noj grammatikě novindijskix jazykov konstatiruet, čto, vo-pervyx, v dialěktax, zanimajuščix v nastojaščě vliēmja territoriju prakrita maḡadhi, gđě,

po dannyx grammatikov i nadpisej, na městě zvuka "r" javljaetsja "l," v nastojščěx viëmja nabljudajetsja obratnaja tenděntsija i my iměem, napriměr;

करिष	vměsto	काला
कपार	"	कपाल 1 dr.

vo-vtoryx on ukazyvaët, èto v poetičeskix dialëktax xindi èasto javljaetsja "r" vměsto "l," i. v trëtix, on otmeëaët, èto v někotoryx dialëktax Indu směšěniě zvukov "r" i "l" nastoi'ko-veliko, èto govoryjaščiě odnosjajata jako-by sovrěšěnnno bezrazličěno k tomu, kakoj zvuk skazať "r" ili "l." Bimz odnako ukazyvaët, èto sootvřststvujščix grupy nasěšěniya soznajut različě měždu etimi zvukami i bėzrazličiě k upotrěblěniju zvukov "r" i "l" nabljudajetsja srědi nizšix klassov nasěšěniya. V kontě kontsov on sčitaët etu problěmu, pri sovrěměnnom emu urovně znaniju po dialëktologii, sovrěšěnnno nřrazrěšimoj.

Mně přědstavljajetsja, èto popytki ob'jasniť fakty èerědovaniya zvukov "r" i "l" v literaturnyx dialëktax okazalis' sovrěšěnnno besplodnymi potomu, èto k ix razrěšěniju podxodil smětodom èisto formal'nym. Takoj mětod pozvolil tol'ko èisto statističěski ustanovit' narastaniě upotrěblěniya zvuka "l" i potom čněmě ègo upotrěblěniya.

Semantičěskaja i stilističěskaja storona etogo javlěniya ostavljalas' bez vniimanija. Ravnym obrazom nř učityvalas' i klassovaja suščěnost' jazykovyx javlěniju. Měž tēm učet etix moměntov sposoběn proht' značitěl'nuju jasnost' na eti fakty.

Obratimsja k Tulsi-Dasu. Ègo dialëkt s polnym osnovaniěm kvalifikiruetaja obyčěno kak dialëkt s sil'nym rotacizmom. My privěli rjad priměrov, gđe na městě "l" sovrěměnnogo xindi u Tulsi-Dasa nabljudajetsja "r". Odnaka, granitsy upotrěblěniya zvuka "r" vměsto "l" nř rassirjajutsja u něgo do polnoj nřopišdělěnnosti, oni ustanavlivajutsja s dvuk storon, tak kak èst tsělyě katěgorii, kuda "r" nř promkaët.

Izučěmě těksta s polnoj uběditěl'nost'ju svidětěl'stvuēt o slědujuščix dvux faktax.

I. Zvuk "r" na městě "l" nř pronikaët v sanskritskiě slova, kotoryě pri vsěx uslovijax soxranjajut svoě "l", xotja eti slova èasto javljajutsja v narodnom, vul'garnom proiznošěni. Napriměr:

बालकाण्ड	"glava o dětstvě"
कुलदेव	"čěmějnoš [rodovoš] božěstvo"
संगल काजा	"blagoš dělo"
सील	"xarakter"
अनुकूल	"blagoprjatnyj"
सकल	"ves" i mnogně drugiš

Ravnym obrazom "r" nř pronikaët v slova, naibolěš èasto upotrěbitěl'nyě v narodnom jazykě. Napriměr.

बेना	"brat'"
लवना	"načinať"
लाग	"do"
गाल	"pastux" i t d.

Rotatismu podléhají u Tulsi-Dasy přimněšťevně slova, v kotoryě možno přivněsti raznoě soďěržānē v zavisimosti ot otněšēnija k līksam raznyx klassov. Takovy, napriměr

रोम vměsto कोम
चप-पुतरी „ पुतली

hbo kogda govornīja o bogax i tsarjax. Napriměr.

दे o Dašaratvě
वरि o Kékaji i t. d.

Ěshi my nětěm nkazānē Bimza o směšēnii zvukov "r" i "l" v sovremēnnyx dialěktax raznyx klassov, naprašivaētja vyvod, čto rotatism v ličėraturnom dialěktě Tulsi-Dasy javi-jaētja odnim iz stilističeskix prēmiov, srědstvom soobščēnija slovu xarakterā bolēē vysokogo stija.

Analogičnoě položenīē věšēj my naexodim i u Sur-Dasy.

वारे o Krišnē, no वारदेव
जरी „ जरी
गर „ गरा
गरी govornī Jašoda no गरी i t. d.

Tot fakt, čto nē dlja vsjakogo léksičeskogo elēmēnta so zvukom "r" my možem najti ěgo dublēt s "l", ob"jasnjaētja samim xarakterom proizvėdēnija Tulsi-Dasy i Sur-Dasy. V ix proizvėdēnījax vystupajut přimněšťevně bogi, tsary, gėrovi, braxmany, i proizvėdēnija etix i blizkax im avtorov vyděrašany v vysokom stilě.

Nablyndēnija sanskritologov svidětl'stvujut o tom, čto zapadnyě indoarijskē dialěkty oblađali rotatismom, vostočnym žė dialěktam bylo svojtstvēno "l"

Ěshi my vspomnim, čto pri podčinnēnii vostoka, v častnosti Bengalu i sošednix provincij, přėdstavīteli vyšix kast v svoēm bol'šinstvě javihs' s zapada, va častnosti nadpisi impėratorov dīnasty Gupta mnogokratno govornjāt o darax, kotoryě davahs' braxmanam i eti eti braxmany xarakterizujutsja v nadpisjax kak मन्वदेवदिवित, to ěst' kak vyxodisy iz tsėntral'noj, zapadnoj časti Indu, a ravnym obrazom o tom, čto s zapada přixodili přėdstavīteli vojnėkogo klassa कर्णव my možēm dnat', čto rotatism, přiměšēnnyj s zapada braxmanstvom i aristokratijė i radikāl'no izmėnivyj fonētičeskij struktura razhēnyx novoindiyax jazykov. osoznavaaja kak přinadlěžnost' jazyka vyšix klassov (*S. K. Chatterji, The Origin and Development of the Bengali Language, Part I, p. 536*)

Otaunda nėtėrdno pėiřiti k položeniju, nablyudajnsčēmsja v dialěktax bradž i avadxi, kogda formy s "r" polučajut xarakterī vysokogo stija.

Ěti tri stupeni razvītija dublėtov so zvukami "r" i "l", to-čst' osoznānē a [mėstnyx zapadnyx form so zvukom "r" kak "l"] přinadlěžāsix jazykn vyšix klassov, a vposlėd-

stvní kak osoběnnosti e vyeokogo etilja, naxodjat evoe otaženičē i v eamome eovrěměnnom Kxari-boli. Napriměr :

जलना "gorēt"	जरना "goret' v lixoradkě"
चलना "dvigat'eja"	चरना "dvigat'sja, pastis'"
चलाना "dvigat'"	चराना "dvigat', pasti'"
हल "plug"	हर "plug", osoběnnno v vyražěnnu हरलोत "pěrvaja borozda"
पुतली "děrvjannaja kukla, zračěk,"	पुत्री "doč', dēvnška" i t. d.

Ešli my v epomnim, čto vračami byli braxmany, čto slovo पुतली prnadlěžit dětskomn jazyku i čto korova iměla ogromnoe značěniē v xozjajstvěnnoj i rěligionoj žizni Indii, ně trudno budět ponjat', počěmn dublsty e "r" polučili značěniē form vysokogo stulja.

V rjadě slučaev my naxodim analogičnyē sootnošěnja značěny dublětov "r" i "l" i v eanskritě. Takovy, napriměr :

ज्वल "gorēt, pylat'"	ज्वर "gorēt' v lixoradkě"
ज्वल "plamja"	ज्वर "lixoradka"
चल "priixodit' v dvižěniē, drožat', kolěbat'sja"	चर "dvigat'sja, idti, pastis'"
कल "dēlat', prinimat'eja za"	कर "dēlat', tvorit'"
कोरिष "krasnij"	रोरिष "krasnij, ryžaja lošad' ili lan"
मला "vjanut'"	मर "umirat'"
सज्ज "smyščat'eja, etydit'eja"	रज "krasnět'"
लघु "bystrij, lěgkij, něznačitěl'nyj, ničtožnyj"	रघु "byetrij, nazvanē tsarskogo roda Ragxu"
लाघव "lěgkost', legkomyslě"	

Vslědstviē togo, čto eanskritskije elovari ně vsěgda dajut važnyē dlja nas tonkie otkěnki značěny, a takžě vslědstviē togo, čto grammatiki, kotorymi rukovodětovalis' sostavitěli slovarěj, začastuju etavili znak ravěnstva mšždu "r" i "l", často vės'ma zatrudniťno přědstavit' eēmantičěskije otkěnki značěny. V vide přědpoložěnja my možēm, napriměr, vyskazat' mysl', čto, napriměr, iz dvux dublětov रोम i लोम, přěvonačal'no v raznyx dialěktax iměvšix odno i to-žě značěniē, poslē vxožděnija ix v klasečěskij sanekrit pěrvoe imělo značěniē "voločy", a vtoroe "šěrsť" i hš' vloslědstviu omi eblizilis' v svoix značěnyax, xotja polnogo sovpaděnija v značěnyax nět i v nastojaščěš vrsnija, kak pokazyvajut frazeologičěskije oboroty

रोम रोम से = तन मन से

रोम रोम से आशीर्वाद देना i drugie, gđš dublět लोम obyčno ně upotrěbljaětsja

Rjad sanskritskix slov s polnoj jasnost'ju svidětel'stvuēt o tom, čto formy so evnkom "l" osoznavalis' kak ełěměnty slovarja nižšix kast. Napriměr:

दल्लुखल "stupka"	pri	दर "širokij"
दपल "vėrxnij kaměn"	pri	दरि "v vrěxu"
रुचंज mšl'mtsy"		
खल "zlođej, izvėrg"	pri	खर "tvėrdyj, žěstkij".

Sjuda žě odnosjajeta nazvanija različnyx vnutřennix organov. Poskoľku umějščivěniě životnyx i aopikosnověniě s trnпами pavšix životnyx vposlědstvu bylo dělom nižšix kast nazvanija vnutřennix organov v stičěnjotaja v klassičěskom sanskritě toľko s "l". Napriměr

हृगेमन् "lěgkiě"

शुद्धिन् "šěšěženka"

दुग्धि "jagoditsa" i drugě

Ravnym obrazom so zvukom "l" vystupajut nazvanija tsvětov, v kotoryě proizrodilas' okraska

पलित "sětj]"

नील "sinj]"

मल "gijazn]"

काल "čělnj]"

Sovějšěno poijatno, što detaľnoě rassmotřěniě problémv čěšědovanija zvukov "r" i "l" potěbnovalo by pivěščěnija značitel'no bolšě obširnogo matěriala, kotoryj ně mog by uložitsja v isokkax neholšoj začetki. Zdešj danj toľko němnogě, naibolšě prostě sličaj čěšědovanija etix zvukov

Mně přědstavjajětsja odnako, čto i pivědšěnyě kratkiě dannyě pozvoljajut otněstis' skoptičěski k utvēřžděniju o bėzrazličnom upotěbľěni zvukov "r" i "l" i bėapričěnnomu nastaniju, a potom paděniju upotěbľěnija "l" hl "l".

Formy s "r" i "l". povědomu, pėrvonačal'no byh xarakterny dľja različnyx lokal'nyx dialěktov. Odnako, tak kak nositěľ zapadnyx dialěktov prioděľžal na vostokě gosподstvujuščim klassam, poskoľku kasty brahmanov i kšatriev v značitel'noj měřě sostavilis' iz vyxoděševzapadnyx častěj Indu, dialěkty kotoryx xarakterizovalis' rotatsizmom, formy s "r" stali priznakom vyššix klassov obščěstva, a formy s "l" priznakom dialěktov nižšix klassov

V silu etogo, už v sanskritě namětilos' sěmantičěskoě i stilističěskoě različě dnbľětov s "r" i "l", kak prinaděľžajščix sootvěstivěno k vysokomu i nizkomu stilju

Takoě osoznaniě dnbľětov s "r" i "l" prodolžajět razvivat'sja, projavljajas' i v novyx indoarijskix jazykax, gđe dnbľětv s "r" imějut značěniě form bolšě vysokogo stilja, čěm form so zvukom "l"

Všěma xarakterno, čto v jazykě těx avtorov, kotoryě izbėgalu vysokogo stilja, my ně nablįdaěm i elěmentov rotatsizma. Takov, napriměr jazyk Kabira *

* श्री कबीर कृष्ण ने इसी लिपि से रोमन लिपि में अक्षरान्तर किया ।
F 12

देरेवाली कहावतें

[श्रीमती सुमित्रादेवी शास्त्रिणी]

कहावतों में पुरखों के सज्जन सञ्चित रहते हैं। किसी जाति की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक आदि स्थिति के अध्ययन के लिए कहावतें उपयोगी होती हैं। किसी भाषा के अध्ययन के लिए तो वे और भी महत्त्व की चीज हैं, क्योंकि उन में शब्द और मुहावरे मँजे हुए रूप में पाये जाते हैं। हमें (उत्तरी) देरे और लम्मे (दक्षिणी) देरे अर्थात् देरा-हम्माहलखान और देरा-गालीखान की बोली देरेवाली कहलाती है। वह आर्यावर्ष की सभ से पश्चिमी वाणी है। देरेवाली और मुलतानी में नाम का ही अन्तर है। बन्नु, कोहाट, पेशावर, तथा अटक, शाहपुर, खंग आदि की बोलिया भी उस से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। पश्चिमी पंजाब की ये सब बोलियाँ एक ही भाषा के भिन्न-भिन्न रूप हैं। इस भाषा का नाम पादरी तिरुवाल ने आज से ४५ वर्ष पहले लहंदा रखा था। लहंदा (देरेवाली में—लौधा) का शब्दार्थ है उत्तरता। उतरते पूर्व के उपलब्ध से किसी बोली में इस का अर्थ पश्चिम दिशा भी होगा; देरेवाली में तो पूर्व पश्चिम को हम हिस्मार (=डूँ-उमार=दिन का उभरना), दिख्ला (=डूँ-लाह=दिन का उतरना) कहते हैं। हमारी भाषा के नाम के रूप में लहंदा शब्द सर्वथा निरर्थक और अनुपयुक्त है। श्रीयुत प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकार ने इस भाषा का नाम हिन्द की प्रस्तावित किया है, क्योंकि इस की कई बोलियाँ 'हिन्दकी' या 'हिन्दकी' नाम से परिचित हैं^१।

जहाँ तक मुझे मालूम है, हिन्दकी कहावतों का अभी तक ऐसा कोई संग्रह नहीं हुआ। शाहपुरी बोली का तो एकाध छोटा-मोटा संग्रह हुआ भी है, पर देरेवाली की ओर अभी तक किसी का ध्यान नहीं गया। इस खेल में प्रत्येक कहावत के शब्दों का ठीक-ठीक अर्थ देने का यत्न किया गया है।

देरेवाली में कुछ विशेष उच्चारण है—

स्वरों में—ह्रस्व एकार और ह्रस्व ओकार अधिक हैं; उन के वही चिह्न रखे गये हैं जो इस ग्रन्थ के सम्पादकों ने नियत किये हैं। ऐ और औ का उच्चारण सर्वत्र हिन्दी शब्दों की तरह है; जैसे—बैठा और बौढ़ा शब्दों में।

व्यञ्जनों में—बर्गों के तृतीय अक्षरों से मिलते हुए चार अतिरिक्त अक्षर हैं, जिन के लिए इस खेल में ग, ज, ङ, ब चिह्न रखे गये हैं। सर ज्यार्जे त्रिपर्सन ने “लिंविस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया” में इस उच्चारण-भेद की ओर ध्यान नहीं दिया, किन्तु वह उच्चारण-भेद स्पष्ट है क्योंकि उस के कारण अर्थभेद भी हो जाता है। उदाहरण के तौर पर, गुड्डी=लँगड़ी। गुड्डी=पतंग, गुङ्ग्या। जा=जाए। जा=(व) पैदा कर। जुआ=कूकी। घुआ=दरवाजा। बच्चे=बच्चे। बूच्चे=बच्चे।

ये की अपेक्षा न्य का उच्चारण हलका होता है जिस के कारण उस का पूर्ववासी स्वर गुरु नहीं होता। न्य का प्रयोग मराठी में भी है, और वही चिह्न इस खेल में अपना लिया गया है।

इस संग्रह में मुझे अपनी पूज्य बहन श्रीमती कौशल्यादेवी विशारदा से बहुत कुछ सहायता मिली है, अतः वे मेरे धन्यवाद की पात्र हैं।

^१—‘भारतभूमि और उस के निवासी’, पृ० २१६-२१।

अकल न लान्धी, ते करने पा वान्दी !

[करना = चारंगी का फूल]

अकल नहीं पावी, और करने पहन बैठती है । हैसियत से ऊँचा काम करना ।

अकल न शहर, वावा मनसाराम कपूर ।

अकल (है) न शहर, पर बाबा (ने) (नाम) मनसा (मनीषी) राम कपूर (बराया है) ।

अकल वैठा डिंठा हाई, ते बरत वैठा खाथा हाई ।

[बरत = भाग्य]

अकल ने बैठे बैठे देखा था, और भाग्य ने बैठे बैठे खाया था—भाग्यहीन विद्वान् मारे मारे फिरते हैं और भाग्यशाली मूर्ख मौलें करते हैं ।

अकल मुत्तु मिठया चूरया ।

[मुत्तु = बिना]

(देखो तो) अकल बिना मीठे चूरमे (पा रहा है) ।

अकली थिआं दु, ते देखण थिआ नित दा ।

(बेचार का क्या दोष ?) अकलें (जो) हुई (केवल) दो और देखना हुआ नित्य का ।

वेपरवाही से देखनेवाले पर मीठी चुटकी ।

अगली न पिछली, घाड़ा मारे विचली ।

[घाड़ा मारे = छूट सचाये, विचली = मकली]

(न) पहली न अन्तिम, मकली (बीच में आ) छूट सचाये । अपना क्रम छोड़ कर अनधिकार चेष्टा करनेवाले पर आक्षेप ।

अगो चिकड़ हाई, उतुं हाँदां झुट्या ।

अगो (ही) कीचड़ आ, ऊपर से बैलों ने मूता ।

अंगल अंगूठा विथ नाल खड़ोतेन ।

[विथ = फासला]

अँगुली (और) अँगूठा फासले से रुड़े हैं ।

कुछ हो, अपने पराये का भेद रहता ही है ।

अंगल अंगल चही, नजें मण माली घड़ी ।

[माली = मासिक, गहना]

अँगुली अँगुली (कर के) चाटी गई, नौ मन शहद बढ गई ।

अजु खा सभाई खुदा ।

[सभाई = शव, अनेवाला विष = सिन्धी 'समायें']

आज खा (लो) कल खुदा (वेगा) ।

अज्ज तां अज्ज ए, पच्छां तोड़ी कज्ज ए ।

[ए=हे (=है) का सचेप; पच्छां=आज की रात, कज्ज=ढके रहना या ढकनेवाला; दूसरो के सामने गरीबी या दोष का छिपे रहना, या छिपा रखनेवाला]

आज तो आज है, आज रात तक बहुत है (ढका रहेगा) ।

किसी दिन अपूर्व लाभ की बात हो जाय तब यों हर्ष प्रकट किया जाता है ।

अट्टा काज तोड़ी, कुढी ढाज तोड़ी ।

[काज=विवाह । कुढी=दुलहिन । ढाज=दहेज]

आटा विवाह तक, दुलहिन दहेज तक ।

जब तक दहेज के कपड़े पहनती है तभी तक दुलहिन होती है ।

अठ कोठे अठ पिराः, काई नीं बीबी ठे हंगण दी भाः ।

[कोठा=अन्दर का कमरा । पिराः=कोठे और अंगन के बीच का कमरा]

आठ भीतरी कमर (हैं) आठ बाहरी, पर बीबी के हगने की कोई जगह नही !

अठ छकां, ढा निघेरां, अज्जां बीबी निरन्ने-हां !

[छक्कां=छक कर बसेवा कर्क । निघेरां=खा लूँ । निरन्ना=निराहार । हां=हृदय]

आठ (चीजों का) कलेबा कर लूँ, दस खा लूँ, अभी तक बीबी (कहती है) भूखे-पेट (हूँ) !

अढाई वूठ्यां फत्तू बागवान !

अढाई बूटे हैं, (तो भो) फत्तू बागवान (कहलाता है) ।

अढा घड़ा हमेशां उखलदे ।

आधा घड़ा हमेशा उखलता है ।

अनडिह किराड़ी मणका लद्धा, दुन्नो ते लटकन्दा !

[अनडिह=जिस ने कभी अच्छे दिन न देखे हों । किराड़ी=हिन्दू स्त्री; किराड़ शब्द बनिये के अर्थ में बर्ता जाता है; पच्छिमी पंजाब में बनिये का पेशा करनवाले खमी, अरोड़े, साटिये ही हिन्दू रह गये हैं, इसलिए किराड़ का अर्थ हिन्दू हो गया है । उसी प्रकार लट्ट और सुसलमान वहाँ समानार्थक शब्द हो गये हैं । कई बार किराड़ और बांमण में भी भेद किया जाता है । लद्धा=लवध, पाया । दुन्नो=नामि ।]

गरीब किराड़ी ने मनका पाया, नामि पर लटक रहा है ! अनदेखी चीज़ पर झूठे न समाना ।

अन्दर भरया, बाएर भरया, बुए ते काला कुन्नां धरया ।

अन्दर सखणां बाएर सखणां, बुए ते बैठा चन्न सुलखणां ।

[बुआ=दरवाजा, कुन्नां=बड़ी बटलोई । सखणां=खाली]

(एक का) भीतर भरा (है), बाहर भरा (है) परन्तु (उसके) दरवाजे पर काली बटलोई धरी है । (दूसरा)

भीतर से खाली (है), बाहर से खाली है, (किन्तु) दरवाजे पर सुलखण चाँद (बना) बैठा (है) ।

एक आदमी सब कुछ पास रहते हुए भी दुनिया में शान-शौक्य के साथ रहना नहीं जानता । दूसरा कुछ भी पास न रहते हुए ठाठ से रह लेता है ।

अन्दर भाण्डे सरखणें, बापुर् सडीन्दि आः !

[सड्डा = पुकारना]

भीतर (तो) बर्तन खाली (हैं), बाहर शाह पुकारे जाते हैं !

अन्धा के भंगदे ? हूँ अकली !

अन्धा क्या माँगता है ? दो आँखें ।

अन्धी अन्धा रल्या, दिको जुग्गा गल्या ।

[जुग्गा = घर]

अन्धी अन्धा मिला गये, एक ही घर बरबाद हुआ । जो बरबादी दो जगह आधी आधी बँटती, वह एक ही जगह आ पड़ी ।

अन्धे अमूं रोवण, ते अकली दा जिआन ।

['ते' का अर्थ 'और' या 'पर', किन्तु यहाँ केवल दो बातों को जोड़ने के लिए है, संस्कृत 'सह' की तरह । जिआन = सुकसान]

अन्धे के आगे रोना, केवल आँखों का सुकसान (करना है) ।

अन्धे, काणे, गुड्डे दी हिक रग वसेक होंदी हे ।

[गुड्डा = लँगड़ा । वसेक = विशेष]

अन्धे, काने, लँगड़े की एक रग ज्यादा होती है—उनके स्वभाव में कुछ न कुछ अनोखापन रहता है ।

अन्धे दी मुक्क, घेड़ी (या भड़) दी धुण्प, मत्रेई दी भुक्क, गरीव दी चुण्प ।

[घेड़ी = नाव । मत्रेई = सौतेली माँ]

अन्धे का मुक्का, नाव (या बदली) की धूप, सौतेली माँ की (दी हुई) भूख, गरीब की चुप्पी (बुरी तरह सताने वाली होती है) ।

अन्धे घर लोटी हे ।

अन्धे (के) घर लुट (मची) है ।

अन्न पराया हे, दिड्ड तां आपणा हे ।

अन्न पराया है, पेट तो अपना है । दूसरे के घर खाते समय अन्न पर तरस नहीं तो अपने पेट पर तो होना चाहिए ।

अन्न वलाई दा वृच हे ।

अन्न पलाओं का बाँध है ।

अन्न खाने से लोगों का सामना करने की शक्ति आती है ।

अन्न होवी तनूर ता. धन होवी तां मित्र वधा ।

अन्न दो (तो) तन्दूर वधा, धन हो तो मित्र वधा । तन्दूर को रोटी के लिए कड़ा आटा चला जाता है, इस कारण उन में आटे का संच अधिक होता है ।

अम्मां जाया न बाबे जाया, सबो लोक पराया ।

[जाया = पैदा किया]

(मेरा) माँ का बेटा या बाप का बेटा (अर्थात्, सगा) कोई नहीं, सारी दुनियाँ पराई (है) ।

अम्मां हिता, बाबे हिता, साई न हिता, कई न हिता ।

माँ ने दिया, बाप ने दिया, (पर) परमात्मा ने न दिया, (तो) किसी ने न दिया ।

अराई, तम्मै ताई, बन्नां लंघ ते खबर धिनाई !

[अराई = पंजाब की एक जाति जो खेती-बागवानी का काम करती है। तम्मै = गरज। बन्नां = खेत की मँढ़। धिनाय = ग्रहण, लेना]

अराई गरज़ (रहने) तक (मेट उपहार देते हैं), (गरज़ न रहने पर कहते हैं) मेह लॉघ और खबर लूँ !

अल्ला अल्ला खैर सल्ला ।

अल्ला अल्ला (कहते रहते) खैरियत (रहेगी) ।

आई गुपाली, विसरी जपाली ।

[गुपाली = किसी स्त्री का नाम। जपाली = अपने की माला]

स्त्री आई, आप की माला विसरी ।

विवाह के बाद पूजा-पाठ भूल गये ।

आई हाई भा धिन्नण, बण बैठी जुल्ले दी सैण ।

आई थी आग लेने, वन बैठी चूल्हे की सोंदन ।

आए दी खुशी न गए दी गमी ।

(न) आये की खुशी, न गए की गमी ।

आखां धी कूँ, सुखावां नूँ कूँ ।

[धी = दुहिता (पालि 'धीता'), बेटी। नूँ = स्तुष्टि, पतोह]

कहूँ बेटी को, सुनार्क पतोह को ।

एक को लक्ष्य कर दूसरे से बात कहना ।

आगा दौड़, पेछा चौड़ ।

आगे दौड़ (बढ़ते जाना), पीछे चौपट ।

आहा पाहा, आमक कूँ दनाः दा साहा ।

[आहा पाहा = तुकबन्दी के लिए निरर्थक शब्द है। आमक = अहमक। दनाः = दाना, सयाना। सदन = जलना]

अहमक को सयाने से जलन (होती है) ।

आदत न वचे आदती, खसलत भूल न जा ।

[वचे = जाय; वचण = वचन, ज्ञान। आदती = आदतवाली, जन्मसिद्ध। खूल = जड़ से, हर्गिज। जा = जाय।]

आदत और जन्मसिद्ध स्वभाव हर्गिज नहीं जाते ।

आदत सिर नाल बैदी हे ।

आदत सिर के साथ जाती है ।

आदमी न मनुख, सांभल दा बी दुख ।

[सांभल = संभालना, पालना]

(यह तो न) आदमी है न मनुष्य, (इसके तो) पालने का भी दुःख (है) ।

आदी हे घोड़े चढ़ी, बैदी हे जूँ रोक ।

(बीमारी) आती है घोड़े चढ़ी, जाती है जूँ की तरह । बीमारी के आते तो पता नहीं लगता, किन्तु जाके बहुत धीरे धीरे है ।

आधे दा कुभ नई गिआ, तां सांघे दा वो कुभ नई गिआ ।

[आख = कहना, आधा = कहता हुआ । साधा = सहता हुआ]

कहने वाले का कुछ नहीं गया, तो सहने वाले का भी कुछ नहीं गया ।

आप कुचल्ली वेदे दोः ।

[कुचल = सड़का, गड़र, यह पञ्जाब का बड़ा भावपूर्ण शब्द है, जो संस्कृत 'चय' से बना है, और हिन्दी में अपनाया जाना चाहिए । कुचल्ली, कुचल्ली दोनों शब्द प्रचलित हैं । वेदा = अंगन । दो = दोष ।

आप कुचल्ली, अंगन पर दोष । नाच न जाने अंगन टेढ़ा ।

आप चढ्ढा तां जग चढ्ढा ।

आप मला तो जग मला ।

आप तां गुल्ली बांमणी, जिनमान ई गल्ले नाल ।

[बी = बी, गली का संक्षिप्त रूप है ।

बांमणी आप तो बरबाद हुई (सो हुई), जिनमान भी साथ (ही) बरबाद हुए ।

आपणां अकल ते पराया धन हर कई कूँ बलैं हिसदे ।

अपना अकल और पराया धन हर किसी को बहुत बीखता है ।

आपणां घर पिआ बस्से तां लोक किउं हस्से ?

[पिआ बस्से = पड़ा बसे, बसा रहे]

अपना घर बसा रहे तो दुनिया काहे हँसे ?

घर में कलह-द्वेष न हो तो लोगों की हँसी का मौका नहीं मिलता ।

आपणा घर तां हंग भर, पराया घर तां थुक दा बी डर ।

अपना घर तो (भले ही) हंग (कर) भर, पराया घर तो थूक का भी डर ।

आपणां मूं हिसदा नई, वृण दा मांदा नई ।

अपना मुँह दीखता नहीं, दूसरे का भावा नहीं ।

आपणा वचन कश्मीर हे ।

अपना वचन कश्मीर (के बराबर) है ।

आपणी आप निभाइए, उसकी ओ जाणे ।

अपनी आप निभाइए, उसकी वह जाने ।

आपणी पत्त, ते आपणे हत्थ ।

अपनी पत्त अपने हाथ (होती है) ।

आपणे गुण्ये पुत्र माणिक होंदेन ।

पुत्र अपने गुणों से माणिक होते हैं । गुणों से मनुष्य की प्रविष्टा होती है ।

आपणे घर कुत्ता बी शीः होंदे ।

अपने घर कुत्ता भी शेर होता है ।

आपणे पैर धोन्वें कड़ाई काई बानी सड़ी ए ?

अपने पैर धोते कभी कोई दासी कड़ाई है ?

आपणे मूं दा सरावण तां धूं खावण हे ।

अपने मुँह का सराहना तो घू खाना है ।

आपणे मूं मियां मिटू ।

अपने मुँह मियां मिटू ।

आप न जोगी गुवांड बलाए ।

[जोगी=योग्य । गुवांड=पड़ोसी । बलाए=बिठावे]

अपने लायक (जगह) है नहीं, पड़ोसी को बिठावे ।

आप न मरिए ते सर्ग न जा ।

आप न मरिये तो स्वर्ग न जाइए । स्वयं श्रम किये बिना कुछ नहीं मिलता ।

आप बीबी दरमांदी, ते नेक्यां खटण जांदी ।

[दरमांदी=दर दर मांगने वाली]

आप (तो) बीबी दर दर मांगती है, और (दूसरों को दे कर) नेकियाँ कमाने जाती है ।

आप होवें तकड़ी, ते किंउ लगगी फकड़ी ?

[होवें=हू होवे । लगगी=हुके लगे । फकड़ी=ठगी, चोरी का खटका]

तू खुद तगड़ी हो, तो तुझे ठगी-चोरी का खटका काहे लगे ?

आमक दे लारे ते परन्ये बी कुआरे ।

[लारे=भरोसे । परन्ये=परिचीत, विवाहित]

अहमक को भरोसे (रहने से) विवाहित भी कारे (हो जाते हैं) ।

आया मांह पोः, हिक खा ते विआ जोः ।

[जो = जोत, शुरू कर]

आया पूस महीना, एक खा और दूसरा जोत । पूस का दिन इतना छोटा होता है कि सबेरे का खाना निपटाते ही शाम की रसोई को लगना पड़ता है ।

इण मिय, ते मैकुं विच गिण ।

[इण मिय = बच्चे की बोली का अनुकरण]

इण मिय, मुझे बीच में गिन । साहसखा दखल देने वाली पर कटाच ।

इत्थ न हिता, उत्थ न लदा, सुक्का जी अजाबें वद्धा ।

[सुक्का = सूख, सूना, व्यर्थ में । अजाबें = मुसीबतों में]

पहा (इस लोक में) दिया नहीं, वहाँ (परलोक में) पाया नहीं । व्यर्थ में जीव मुसीबतों में बँधा (रहा) ।

इया वुभारत वुभ, जो निन्द्र जिआ नहीं कुब्भ ।

यही पहली वुभ, कि नौद जैसा कुछ नहीं (होता) ।

ईसवगोल, ते कुब्भ न फोल ।

[फोलण = खोल कर बिखेरना]

ईसवगोल—और कुछ मत खोलो (पूछो) ।

यह बात ईसवगोल की तरह सोसदार है, कुछ पूछो मत ।

ई जग दी भैड़ी चाल, इंदो हों कुकड़ ते थी वंदी ए डाल ।

इस जग की बुरी चाल है; दंवी हूँ मुर्गा, और हो जाती है दाल ।

इस कहावत पर एक छोटी-सी कहानी यों है—एक स्त्री ने दूसरी को मुर्गा असातव रखने को दिया, उस ने मुर्गा तो खा डाला और देकरे को नीचे दाल का कटेरा रख दिया । भालकन ने कहा, मैं तो मुर्गा दे गई थी । इस पर उस ने एक कहावत कही ।

उखदये डुन्द लगदे नई ।

उसके दाँव (फिर) लगवे नहीं । फटे दिल फिर नहीं मिल सकते ।

उच्चा लम्मा गुमरु पल्ले ठीकरिया ।

[गुमरु = दुल्हा या पति, जर्माई]

ऊँचा लम्बा जवाँ मर्दे है, पर पछे ठीकरियाँ हैं । शरीर का तो खूब अच्छा है, पर निर्धन है ।

उजुड़ पुजुड़ निहाल ए ।

(चाहे) खो (कर) (चाहे) गँवा (कर) (हर हालत में) निहाल (खुरा) है ।

उठ ठे मुकं के आसी ? जाल दी वो ।

[जाल = पीछ की पक्षी]

ऊँठ के मुँह से क्या आएगा ? जाल की गन्ध । दुष्ट हमेशा बुराई की बात ही कहेंगा ।

उठ ठे सिरुं परूण लह पए ।

[परूण = अनाज या आटा छानने की चलनी जिस में दो-तीन सेर के करीब अनाज सजाता है]

ऊँट के सिर से परूण उतर गया है । कुछ थोड़ा-सा काम हलका हो गया है ।

उठ न रुने, बोरे रुने !

ऊँट नहीं रोये, बोरे रोये ।

ऊँट तो बोरों के बोझ को रोता नहीं, चलता बोरे रोते हैं ! ज़ालिम चलता मज़लूम की शिकायत करता है !

उठ मुल ते बकरी भूंगा ।

ऊँट मोल और बकरी घलुआ ।

अनुपात से अधिक घलुआ मोंगने पर आचपे ।

उचूँ उचूँ वत्ती घोल घोल घत्ती ।

[वत्तण = ज्योड़ावर होना । घोलण = बलिहारी होना, वारे जाना । घत्तण = डालना]

ऊपर ऊपर से (अपने को) वारी बलिहारी (किये) डालती है ।

उचूँ दी चक्खी-मक्खी, विचूँ बुड़ बुड़ तक्की ।

[बुड़ बुड़ = सौंछाव के साथ, उगलते हुए । तक्कण = सड़ना]

ऊपर से चिकनी चुपड़ी (है), बीच से सड़ाँद उगलती है ।

दिखलावे की सफाई रखने वाले पर आचपे ।

उचूँ दी भोली भोली, विचूँ दी पत्थर दी गोली ।

ऊपर की भोली भोली, बीच की पत्थर की गोली ।

उधार चा के पाए चूड़ा, रन ई कूड़ी ते मुणस ई कूड़ा ।

[रन = स्त्री (वृष्णतासूचक शब्द) । कूड़ी = झूठी, कसूरवार]

उधार ठठा कर पहने चूड़ा, (बह) औरत भी कसूरवार और मर्द भी कसूरवार ।

उबाल दे पिच्छुं टोये ।

[उबाळ = जल्दबाजी । टोये = गड्ढे]

जल्दबाजी के पीछे (परिणाम-स्वरूप) गड्ढे (होते हैं) ।

उरसी कुरसी, कन्ध ऐरे ते डुरसी ।

[उरसी = औरत प्रवृत्ति, वंशवादी । कन्ध = स्कन्ध, दीवार । ऐरा = आचार, नींव । डुरस = त्वरण, बड़बा] ।

औरत प्रवृत्ति (के अनुसार) वंश-परम्परा (होगी), दीवार नींव पर (ही) चलेगी । जैसे बाप-दादा होंगे वैसी सन्तान होगी ।

उलटा चोर कुटवाल कूं नपे !

उलटा चोर कोतवाल को पकड़े ।

उबा धड़ी मुलखणी, जेरी शौ नाल विआवे ।

[शौ = पति, बरमाणा]

वही धड़ी मुलखनी है जो मालिक को साथ बीते ।

उबो गुन्ना मिट्टा, जेरा चक्कल नईं दिट्टा ।

वही गन्ना मीठा, जो चक्कल नहीं देखा ।

तभी तक प्रत्येक गन्ना मीठा जान पड़ता है जब तक चक्का नहीं जाता ।

ए जग झूठा, हँटी हाँ मुंगर वण वैदे दूठा ।

[मुंगर = धातु का कटोरा । दूठा = मिट्टी का प्याला]

यह जग झूठा (है), वेही हूँ कटोरा बन जाता है दूठा ।

यह कहावत “ई जग दो मैबी चाल” का जबाब है । कहते हैं कि मुर्गे की बजाय दाल लौटाने वाली स्त्री ने किसी दूसरे दिन पहली स्त्री को बाज़ार से घी ला देने के लिए कटोरा दिया, उस ने भी मौका देख कटोरा अपने घर रख लिया और ठूठे में उसे घी ला दिया । पूछने पर उसे उक्त कहावत बना कर सुनाई ।

ए जग मिट्टा, अम्गूँ केँ दिट्टा ?

यह जग (तो) मीठा (है ही), आगे किस ने देखा ?

“आक़बल की खुदा जाने अब तो आराम से गुज़रती है ।”

ए त्रै पोढ़ाँ मन्याँ, पाए, पुत्र, भिरावाँ सन्याँ ।

[पाए = पति । भिरा = भाई]

ये तीन पीढ़ाएँ बहुत बुरी हैं—पति, पुत्र और भाई से सम्बन्ध रखने वाली ।

पति, पुत्र अथवा भाई इन में से किसी पर कोई आपत्ति आए तो स्त्री को असह्य वेदना होती है ।

ओ चौह ते ओ चन्दरा, ऊं भारी कूडही ते ऊं भार्या जन्दरा ।

[चन्दरा = चन्द्र]

वह चौपट (है) तो वह चण्ट (है), उस ने कुण्डी लगाई तो उस ने तावा लगाया ।
दोनों एक दूसरे से बट बट कर बुरे हैं ।

ओ हिडाड़ा डुब्बा, जहड़ां पोढ़ी चढ़था कुब्बा ।

बढ़ दिन हुआ, जब कुबड़ा घोड़ा पर चढ़ा (विवाह के लिए) ।

ओढर नई बुभेंदा वोढर बुभेंदे ।

[ओढर = नवजात शिशु । बुभेंदण = बूझना, बीमार होना । वोढर = कुछ बढ़ा बच्चा किन्तु स्तनपायी]

ओढर (कष्ट) नहीं बूझता, वोढर बूझता है । माता की बदपरहेज़ी का प्रभाव ओढर पर भले ही न हो, वोढर पर होता है । असल में तो ओढर पर अधिक प्रभाव होता है, पर बच्चा बढ़ा हो गया है अब दूध का असर उस पर बुरा नहीं पड़ेगा, ऐसा माँ कभी न सोचे, यह शिचा इस में है ।

ओ मंगे पिहावी, ओ पत्थर डाले ।

वह माँगे पिसाई, वह पत्थर डाले !

कई पीता खीर, कई पीता पाणी, रात हिनको जीं बिआणी ।

किसी ने पिया दूध, किसी ने पिया पानी, रात एक-सी बीती ।

कई गोए दी फोसी दे अग्यू ई हाल हिचा हाई !

किसी ने गोबर की चोंच के आगे भी (दिल का) हाल दिया (कहा) था !

आदमी दुखी होता है तो पत्थर को भी जा सुनावा है ।

कख दी चोरी, ते लख दी चोरी ।

तिनके की चोरी, और लाख की चोरी ।

दोनों का नाम चोरी है ।

कट्टी कुट्टी हे किल्ले ठे त्राण ते ।

कट्टी कुट्टी है खूँटे के बल पर ।

कडाई तां डोमां ई गांवण सट्या हाई ।

कभी तो डोमों ने भी गाना छोड़ दिया था ।—कभी तो हर कोई अपनी प्रकृति छोड़ देता है ।

पंजाब में डोमों का मुख्य पेशा व्याह-शाही में गाना है ।

कणक दा पथ, सुत्ते वाल दा हत्थ ।

[पथ = कई सनें का एक ढेर]

गेहूँ का पथ और सोते बालक का हाथ (बराबर होते हैं) ।—सोवा बालक बहुत बोझिल होता है ।

कन्ध ऐरे ते, रोटी पेड़े ते ।

दीवार नींव पर (अनुसार), रोटी पेड़े पर (अनुसार) ।

कन्ध दा विछोड़ा, पन्ध दा विछोड़ा ।

[पन्ध = पथ, रास्ता]

दीवार का विछोह, दूर देश का विछोह (एक ही है) ।—चाहे दीवार भर का हो चाहे दूर का हो विछोह तो विछोह ही है ।

कन्ध झूं लेपा डेवो, कन्ध ई सुंणी लगदी हे ।

दीवार को छीप दो, दीवार भी सुन्दर लगती है ।

कन्धी झूं कल हेल ।

दीवारों को (भी) कान हैं ।

कन्धी ते वृखटड़ा अज दहा के कल ।

[कन्धी = नदी का किनारा, वृखटड़ा = बूझ, पैदा]

किनार पर बूझा, आज गिरा या कल ।

बूझे आदमी की ज़िन्दगी का क्या भरोसा है ?

कन्धूं दूर, कन्धारूं दूर ।

दीवार से दूर (है तो), कन्दहार से दूर (है तो, एक ही बात है) ।

कपड़ा आधे तू मैकुं रख ताः कर, ते मैं तैकुं कदवां पातशाः कर ।

कपड़ा कहता है तू मुझे रख तब कर, तो मैं तुझे निकालूँ बादशाह (बना) कर ।

कच्वर चूनेगज, मुर्दा बेईमान ।

कज पर तो चूना फिरा है, मुर्दा बेईमान (है) । ऊपर से सुन्दर, अन्दर से कुटिल ।

कम करे गोली, टप घावे मपोली ।

काम करे दासी, क्रुद (कर) बैठे निठल्ली ।

घर में जिन्हें एक-सा काम करना चाहिए, उन में से एक तो दासी की तरह काम करती है, दूसरी निठल्ली बैठी रहती है ।

कम दा कम, ते दिल्ली तोड़ी बन ।

काम (के बदले) का काम (है), तो दिल्ली तक जा ।

दूसरे से कराये काम के बदले में उस का काम करना पड़े, तो शिकायत न करनी चाहिए ।

कम पिआरा होंदे, चम पिआरा नई होंदा ।

काम प्यारा होता है, चाम प्यारा नहीं होता ।

आदमी को काम से मसख होता है, उस का मुँह तो देखना नहीं होता ।

कमले जुट्ट कटोरा लद्धा पी पी दिड्ड अफरा !

पगले जाट ने कटोरा पाया, पी पी पेट अफरा (लिया) !

हुर्लुम चीज़ पा कर फूले न समाना ।

कमल्यां दे सिर कोई सिघ होंदेन ?

पगलों के सिर कोई साँग होते हैं ?

कर भजरी ते खा चूरी ।

कर मजदूरी तो खा चूरमा । मेहनत का फल भीठा होता है ।

कर बड़ाई ते पा छाई ।

[बड़ाई = घमण्ड । छाई = धूल]

अभिमान कर, तो धूल पा । ऊँचे बोल का सिर नीचा ।

कर्मो नाल विलल्ली भेड़े, कूड़े बने दावे ।

[विलल्ली = पगली, भोली । भेड़ = झगड़ना]

पगली कर्मों के साथ झगड़ा कर ! झूठे दावे बाँधे ।

कर्मों पर कभी किसी का बस चल सकता है ?

कहाखिआं बबाखिआं, मुट्ठीं पुत्र करेन, जेरे धरुं निकम्मे जवे बए सुणेन ।

[बबाखिआं = 'कहाखिआं' का अनुकरण शब्द । मुटीजय = मुपित होना, उठा जाना, गँवाना]

कथा कहानियाँ, गँवाक (निष्ठो) बेटे किया करते हैं, जो घर से निकम्मे (हों) वे ही बैठे सुना करते हैं ।

काई सज्जद हे जो पूरी नई आंदी ?

(यह) कोई रजाई है जो पूरी नहीं आती ?

किसी ऐसी वस्तु के विषय में, जिस का थोड़ा थोड़ा कर के बहुरों में भी बटवारा हो सके, कोई संदेह दिखलाए कि इतने आदमियों को कैसे पूरी पड़ेगी, तब यह कहा जाता है ।

काँ, किराड़, कुत्ते ते, विसा: न करें सुत्ते ते ।

कौआ, किराड़ (और) कुत्ता (इन तीनों) पर—सोताँ पर (भी तु) विश्वास न करना । इनकी नौद बड़ी कमी होती है । ज़रा से खटके से जाग जाते हैं ।

कां गए हन हंसाँ दी बोली सिक्खण, आपणी ई बबा आए हन ।

[बबावण = गँवाना]

कौए गए थे हंसाँ की बोली सीखने, अपनी भी गँवा आए थे ।

कां दी जिम्मा खाधी होई हेस (या, कां दा भेजा खाधा होया हेस,।)

(इस ने) कौए की जीभ खाई हुई है (या, कौए का भेजा खाया हुआ है) । बहुत बतियाने वाले के विषय में कहा जाता है ।

काज़ी तां मोया कज़ा नाल, तू किजं मोयों रज़ा नाल ?

काज़ी तो कज़ा से मरा, तू (अपनी) रज़ा से क्यों मरा ? जिसे लाचार कष्ट भोगना पड़े वह भोगे, दूसरा व्यर्थ क्यों भोगे ?

काइसी काइसी, जीन्यां कूं भुख मारसी, तां मोयां कूं क्या तारसी ?

['काइसी' को केवल तुकचन्दी के लिए दोहरा दिया है]

एकादशी जीतों को भूखा मारेगी, तो मरों को क्या तारेगी ?

काखी अख न रांधी गुज्झी, तैं मारी ते मैं बुज्झी ।

[गुज्झी=गुह्य, छिपी । अख मारख=आंख से इशारा करना ; काखी अख मारख=काने की तरह अर्थात् टेढ़ी आंख से देखना, दुष्टापर्य्य कटाव]

“काली आंख” छिपी नहीं रहती, तू ने “मारी” और मैंने बुझी ।

कात्यां दा चिलकार ते नौल जागदा ।

छुरियों की झनझनाहट (हुई) और न्योला जागता है । नींद से पड़ा जो व्यक्ति अपने मतलब की बात पर एकाएक जाग पड़े, उस पर अन्योक्ति ।

काल पिया डुचिचा, मा पिउ देवण छेइचा, धीरीं मार्या पिचा ।

[डुचिचा=देवरफा; काल=अकाल]

देवरफा अकाल पड़ा, माँ बाप ने देना छोड़ा वेदियों ने बाप मारा ।

माँ बाप वेदी को देना छोड़ दें वे वेदी भी ऐसा व्यवहार करती है भानो वे मर गए हो ।

काले मूल न थिंदे वमो, भर्वैं सौ मण सामण लगो ।

काले इर्गिज़ गोरे नहीं होते, भले ही सौ मन साबुन लग जाय ।

किटकिट घड़े दा पाणी सुकेंदी ए ।

किचकिच घड़े का पानी (भी) सुखा देती है ।

किराड़पुत्र जितीं दुरथा उत्ती भुरथा ।

[भुरथा=धींथ होना]

किराड़पुत्र ने जितना सफ़र किया उतना धींथ हुआ (धन से) ।

सफ़र में हर-हाल खर्चा बहुत होता है ।

किराड़ दा छोटा भाई, जुट दा ज़ुबाई ।

किराड़ का छोटा भाई जाट का जमाई (दोनों को नौकर के समान काम करना पड़ता है) ।

किराड़पुत्र वचा के सिलदे ।

किराड़पुत्र गँवा कर सीखता है ।—सुकसान उठाने के बाद उसे अकल आती है ।

किसवीं ठा किस्सव चले कुण्ड दी जान गल्ले ।

[इण्ड=इण्डिगुदि, अनाड़ी]

कारोगर की कारीगरी चली है, अनाड़ी की जान जाती है ।—कारोगर की कारीगरी से जो काम हो जाता है, वह अनाड़ी के जान देने से भी नहीं होता ।

किस्मत बाग़ न पीतो बुक भर, कौन आखे नसीब ईवें कर ?

[बाग़ = बिना । बुक = अश्लिल]

किस्मत के बिना (तू ने) अंजलि-भर (पानी भी) नहीं पिया । कौन कहे कि नसीब, (तू) ऐसा कर ?—किस्मत के बिना सामने उपस्थित जल-भण्डार मे से अश्लिल-भर पानी भी किसी को नहीं मिलता, भाग्य से कोई अपनी मनचाही नहीं करा सकता ।

कीते दा मैं कदर न जाणां खेड़ा बेबुनियादा ।

[खेड़ा = अरोहों की एक उपजाति]

किये को मैं कदर न जानूँ, (कैसा) बेबुनियाद—बेपैदी का—खेड़ा हूँ ।

कृतज्ञ पर उक्ति ।

कीर्तम चाः नाल खादाम खट्टी खाः नाल ।

(मैंने) किया (तो) चाब के साथ, (पर) खाया खट्टी छाछ के साथ ।

असफलता पर खेद ।

कुक्कड़ बाँग न डेसी, तां हों न थीसी ?

मुर्गा बाँग न देगा तो (क्या) दिन न होगा ?

कुक्कड़ बाँदा तोहां ते, भाजी हेंदा मुआं ते ।

मुर्गा अपनी खास जगहों पर ही बैठता है, (अमुक आदमी) मुँह देख कर भाजी बॉटता है (अपने लिहाज़-मुलाहज़े के आदमियों को ही देता है) । तुच्छ आदमी की मुर्गे के साथ तुलना ।

कुचज्जी गई घाँवण, से आई घघरे दी लाँवण ।

कुचज्जी नहाने गई, घाघरे का आँचल भिगो आई ।

कुभ खाया कुभ पिच्छूं जोगा रख्या ।

[जोगा = योग्य]

कुछ खाया कुछ पीछे की खातिर रखा । भला आदमी उपकार करने लगे तो एक ही समय उस पर बहुत बोझ न डालना चाहिए ।

कुत्ता राज बलाइए, चक्री चट्टण जा ।

कुत्ते को राजगद्दी पर बिठाइए (फिर भी) चक्री चाटने जायगा ।

कुत्ता बी पूछली बता बाँदे ।

[बतावण = बुझाना, फेरना]

कुत्ता भी पूँछ फेर कर (पूँछ से जगह साफ़ कर के) बैठता है ।

-६]

कुत्ते दी पुच्छ कूँ कई बारां बरचे नइकी इच रख्या हाई, तां ई सिध्दी नाई थई ।
कुत्ते की पूँछ को किसी ने बारह वर्ष नली में रख्ला था तो भी सीधी न हुई ।

कुत्ते धरमसाल दे जिन्द टिचीवैठे दाल ते ।

[धरमसाल = गुरद्वारा]

धरमसाला के कुत्ते दाल पर जान दिए बैठे हैं । पंजाब को धरमसालों या गुरद्वारों में रांटी-दाल का लंगर (भण्डारा) खुला रहता है । धर्मस्थानों पर अपनी जीविका का निर्भर रखने वालों पर अन्यायिक ।

कुर्नीं उभरदी ए, आपणे कण्डल पई सड़ेदी ए ।

[साक्ष = जलाना]

हाँडी उभरती है, अपने किनारे जला रही है । क्रोधी अपना ही विगाड़ करता है ।

कुम्हार दे घर बुट्टा लोटा ।

कुम्हार के घर फूटा लोटा ।—कुम्हार के अपने घर में फूटे लोटे ही रहते हैं, हलवाई स्वयं मिठाई नहीं खाते ।

कोई न रिहा नाल, ते वैदी राम सम्भाल ।

[सम्भालण = स्मरण करना]

कोई न रहा साथ, (तू) बैठी राम का स्मरण कर ।

कोई मरे कोई जीवे, सुधरा घोल पतासे पीवे ।

[सुधरा = वस इलाके का एक साधुओं का सम्प्रदाय]

कोई मरे कोई जीवे, सुधरा वलासे घोल कर पीता रहता है ।

किसी के सुख-दुःख में सहायुभूति न रखने वाले पर आचेप ।

कोड़ी नूँ देटा खल दा, सूणी नूँ देटा महल दा ।

[कोड़ी = कुरूप । सूणी = शोभना, सुन्दर]

कुरूप पतोंदू (माने) खली का टुकड़ा है, (और) सुन्दर पतोंदू (माने) महल का टुकड़ा है ।

कोल्यां दी दलाली इच हत्थ ई काला पेर ई काला ।

कोयली की दलाली में हाथ भी काला पैर भी काला ।

कोही घड़ा भरे, धी दा वेद पूरा करे ।

[वेद = विवाह का देन]

(सो-नाप चाहे) कौड़ी में (एक) घड़ा भरें, (पर वेदी का देन पूरा करें—जैसे तैसे वेदी का देन पूरा करना चाहिए) ।

कौन कई कण आँवदा ? ते किस्मत आँदा देर ।

कौन किसी को पास आता है ? भाग्य ही उसे चला लाता है । बड़े भाग्य से किसी का आना होता है, आने-वाले का स्वागत ही करना चाहिए ।

खबरां पों न हिके मर गए हिके छोड़ गए ।

खबरे पढ़ती हैं या तो मर जाने से या छोड़ जाने से । जब तक आदमी पास रहता है उस की परवा नहीं की जाती, पीछे पता चलता है ।

खाई कोलूं चाई पिआरी होंदी प ।

खाने से उठवाना प्यारा होता है । बच्चा खिलाने वाले की अपेक्षा उठाने वाले पर अधिक रीझता है ।

खा गए रंग ला गए छोड़ गए सो बोड़ गए ।

(जो) खा गए (सो) रंग लगा गए (मौज कर गए), (जो) छोड़ गए सो डुबा गए ।

खादे इच बढ़या तां छिंडकां कोल क्या दरया ?

[खाड़ा = हैज़]

हैज़ में घुसना तो छींटों से क्या डरना ?

खाधा घूं, ते रख्या मूं ।

खाया (तो) गू (बन गया), घौर (किसी को देने के लिए) रक्खा गया (तो) सुरौबत बढ़ी ।

खाधा तां रज के सुत्ता तां मूं कज के ।

[रज्ज्य = अधाना]

खाया (जाय) तो अधा कर, सोया (जाय) तो मुँह ढक कर ।

खाधा पीता पाया संतोख, भाण्डे मांजण बड़हा औस ।

खाया पिया (तो) संतोख पाया, (पर) बर्तन मांजना बढ़ी कठिनाई है ।

खा न पी पुत्र बड़हा पिआ यी ।

खा न पी पुत्र बढ़ा होता रह ।

खाली बातों से प्रेम दिखलाना ।

खादी पींदी नां मरे उधलांदड़ी मर जा ।

[उधलावण = जँभाइया लेना, बहम करना]

खाती पीती (तो) नहीं मरती, बहम करती करती मर जाती है ।

रोगों का मुख्य कारण बहम होता है ।

खादी पींदी मकड़ी बाळू, सुकदी वैदी लकड़ी बाळू ।

खाती पीती (है) मकड़ी की भाँति, सुखती जाती (है) लकड़ी की भाँति ।

खान्धे खान्धे खू ई खुट वैदेन ।

[खुट्य = चय होना, समाप्त होना]

खाते खाते (घन के भरे) कुएँ भी खतम हो जाते हैं ।

खा पी न मुकर ।

खा पी (कर) मुकर मत ।

खावण आपणा तात पराई ।

खाना अपना पड़ताल पराई । अपना खाना है तो दूसरों की पड़ताल क्यों की जाय ?

खावण दी मै दुत्थी पुत्थी, पाई तां मैदा जुँव ।

कत्तण दी मैं भौंयणी, बिमाई बाड़ा सुँव ।

[दुत्थी-पुत्थी = फोकी-फाकी, पाई = कूरीब सोलह सेर, जुँव = एक समय का भोजन, फावणी = बहुत ही तेज़, बाड़ा = कूरीब आध पाव घुनी हुई लई का गोला, सुँव = शूय]

खाने में मैं बहुत ही डोली हूँ, पाई भर मेरा एक समय का भोजन है । कातने में मैं बहुत ही तेज़ हूँ—छमाही में एक बाड़ा कमी निकालती हूँ, कमी वह भी नहीं ।

खावणा खाण ते पड़ मारने पिस्सी दे ।

खाना चोकर और पाद मारना मैदे के ।

अमीरी की झूठो हींगें झोंकना ।

खावों पीवों सत वलाई, उठी न सग्रां बुए ताई ।

खाऊँ पीऊँ (तो) सात बलाएँ, (पर) उठ न मऊँ दरवाजे तक (दरवाजे तक भी उठ कर न जा सकूँ) ।

खावे गुल्ला मरीजे कल्ला ।

खावे (तो) सारा परिवार (और) मारा जाय अकेला—पाप की कमाई करने वाले का बन खाता तो सारा परिवार है, पर फल उसे अकेले ही भोगना पड़ता है ।

खावे पा कमावे स्वा, खावे सेर कमावे शेर ।

खावे पाव तो कमावे राख, खावे सेर तो कमावे शेर (की तरह) । जो खायगा अधिक वह कमायेगा भी अधिक ।

खिल खिल विड़ाई कलेजे हय धवाई ।

[विदावण = हिसाब या वदला चुकाना]

(ऊपर से) हँस हँस (कर) चुका दूँ, (अन्दर से) कलेजे में हाथ डालूँ ।

ऊपर से सीठे और अन्दर से धावक बनना ।

खिल्या हस्या मन परचाया, नाँ कुभ गिआ नाँ कुभ आया ।

हँस लिया, मुसकरा लिया, मन बहला लिया (इस से) न कुछ गया न कुछ आया ।—खुशमिजाज बनने से यदि हाथ कुछ न आय तो जाता भी तो नहीं ।

खीर दा खीर पाणी दा पाणी, गुजरी बेच के पिच्छूताणी ।

[खीर=खीर, दूध]

दूध का दूध (रहा) पानी का पानी (हो गया); गुजरी बेच कर पछताई। इस कहावत पर एक कहानी है— एक गुजरी दूध में पानी मिला मिला कर बेचती रही। थोड़े दिनों में उस के पास कुछ रुपये जमा हो गए। उन से उस ने सोने के कंगन बनवाये। एक दिन वह नदी में मुँह हाथ धोने लगी तो उस के हाथ का एक कंगन गिर पड़ा और बह गया। तब उस की समझ में आ गया कि जो कंगन गिर गया वह पानी की कमाई का था और जो बचा है वह वास्तव में दूध की कमाई का है। सो वह बहुत पछताई और उस दिन से उस ने पानी मिलाना छोड़ दिया।

खुट्टी दा दारू कोई नईं ।

आयु-खय की कोई दवा नहीं ।

खुआं द्विआवां दा अन्त पाते, वन्धां दा अन्त कई नईं पाता ।

कुआं नदियों का अन्त पा लिया गया है, (पर) मनुष्यों (के हृदय) का अन्त किसी ने नहीं पाया।

खू दी मिट्टी खू खा वैदे ।

कुएँ की मिट्टी कुआँ (ही) खा जाता है ।

गज़ां मुत्तू पगां वदा कबेदे ।

[कच्छुय = मापना। वत्तय = फिरना; सहायक क्रिया-रूप में]

गज़ों बिना पगड़ियों नापता फिरता है ।

सावनों बिना काम साधने की डींग हॉकना ।

गूँढ न पल्ले, खीसा हल्ले ।

गोँठ पल्ले (तो) कुछ है नहीं, जेब हिल रही है। पास में तो कुछ है नहीं, बाते बढ़ी बढ़ी बनाई जा रही हैं।

गञ्जी छुट्टी धौवण्यों तेल मिट्टी लावण्यों ।

गंजी नहाने और तेल-मिट्टी लगाने से बच गई। पच्छिमी पंजाब और सिन्ध में प्रायः मुल्लवानी मिट्टी से ही बाल धोये जाते हैं।

गरमी दा मण सहीता वैदे, बा दी रची ई नईं सहीती वैदी ।

पित्त का मन-भर सह लिया जाता है, बात की रची भर भी नहीं सही जाती।

गुरोबां रोज़े रख्ये, डों वड्हे थरा ।

गुरीवों ने रोजे रखे (तो) दिन बढ़े हो गए।

दैव की मार भी गुरीवों पर ही पड़ती है।

गुल्लो ते आया, तल्लो ते खाया ।

[तल्लो = हथेली]

गली पर आया, हथेली पर खाया (गया)। घर के अन्दर भी न पहुँच पाया और खा उड़ा लिया गया।

गल्ली ते सटेसी, शरीक ते मिन्नत न लैसी ।

[शरीक=रिश्तेदार, दाय मे भाग बैटाने वाला]

गली पर फँकेगी, (पर) शरीक पर पहचान न करेगी ।

चीज़ ज़ाबा चली जाय किन्तु किसी को देना नहीं ।

गुं न वच्छी, निन्द्र कर डच्छी ।

(तेरे पास) गाय है न बछिया, अच्छी नोद कर ।

गाय बछिया वालो को दिन रात का काम रहता है ।

गाल नाल गाल अखाई, बलने नाल नक कपाई ।

[बछा=धुमाव]

बात के साथ बात कहूँ, एक टंग से नाक काटूँ ।

टंग से बात कह के दूसरे को शर्मिदा कर देना ।

गाली करेदे, रखे टे गुन कोलूँ सिव्याँ ।

[रम्मा=खुरा, गन=दख]

बातें करता है खुरपे के दस्ते से भी सीधी ।

वे-सिर-पैर की बातें करता है ।

गालीं घां गाली, रोकां दे मोठ ।

बातों की बातें, दांभों के मोठ ।

इस कहावत पर एक कहानी चली आती है । कोई आदमी मुलतान जा रहा था । उस के मित्रों, परिचितों से से किसी ने कहा मेरे लिए वहाँ का रेशम लाना, किसी ने कहा चाँदी के बटन लाना, इत्यादि । दाम किसी ने न दिये । एक ने अपनी पकड़ात छुप कहा मेरे लिए दो पैसे के मोठ लेते आना । जब वह लौटा तो जिस ने दाम दिये थे, उसे तो मोठों की पोटी पकड़ा दी । बाकियों से इधर-उधर की बातें करना शुरू किया । जब सब ने अपनी अपनी चीज़ों के बिषय में पूछा तब उसने उक्त कहावत सुना दी ।

गिड़ड़ कुं जेरे वेले सी लागदे, ऊँ वेले खुह खटेदे ।

[सी=सीत]

गौदड़ को जिस समय जाड़ा लगता है, उस समय बिल खोदता है ।

गुजर गई गुजरान, क्या भुपड़ी क्या मिदान ?

गुजर हो गई—भांपही (हुई तो) क्या ? (और) मैदान हुआ तो क्या ?

गुड़ टी भा केरी कौड़ी होटी है ?

गुड़ की कौन सी जगह कदबी लगती है ?

सभी म्नेही एक से प्यार लगते हैं ।

गुमास्ते खादे शकराँ, ते शाः मरेदे टकराँ ।

गुमास्ते शक्करे खाते हैं और शाह टकरें मारते हैं ।

गो कू मिली गो, जिआं ओ ते जिआं ओ ।

गोह को गोह मिल गई, जैसा वह है वैसा वह है ।

गोगी आप जोगी ।

[गोगी = छोटी सी मोटी रोटी]

गोगी अपने लायक ही है ।—जिस कं पास गोगी है, उसी का पेट उस से मुश्किल से भर पाता है, दूसरे को क्या दे ?

गोरी नार, कजले दा सिंगार ।

गोरी खी (का) काजल ही सिंगार हो जाता है ।

घर ए तां जग ए ।

[ए = हे = है]

घर है तो जग है ।

घर ऊड़ी जुण होका ।

[ऊड़ी = बहू, दुबहिन]

घर (मे) बहू, लोगों मे ढंढोरा ।

घर डाँग नई बन्दूक ले आओ ।

घर लाठी नही है, (कहते हैं) बन्दूक ले आओ ।

घर दाखे नई, “अम्मां पीहण गई ए” ।

घर दाने नहीं है (कहते हैं) अम्मां पीसने गई है ।

घर दा जोगी जोगड़ा, बार दा जोगी सिद्ध ।

घर का जोगी जोगड़ा, बाहर का जोगी सिद्ध ।

घर दा भेदी लंका ढावे ।

घर का भेदी लंका ढाय ।

घर दी सड़ी भर गई, ते भर कू लग्गी भा ।

घर की जली भरने गई, तो भरने को (भी) आग लग गई ।

घर दी गंगा धांदा कोई नई ।

घर की गंगा नहावा कोई नहीं ।

घर दी होवे रज्जी, बारुं आवे थाली कज्जी ।

घर की अघाई होवे (तो) बाहर से भी थाली ढकी आवे ।

घर लकल टा, बुर कल टा ।

घर लाख का, बाहर तिनके का ।

घरुं न फिट्टे ताणो, ते कोई न सड्डे काणी ।

घर मे से जाना न बिगड़े, वो कोई कानी न पुकारे । घर के लोगो मे एकता हो तो बाहर बेइज्जती नहीं हो सकती ।

घरुं सिख हिराणी दी मत, वारुं सिख गवाँडण दी मत ।

[हिराणी = हिरानी, किन्तु पति के साई को—चाहे वह बड़ा हो छोटा—डरे (देवर) कहा जाता है, इस लिए यहाँ हिराणी का अर्थ जेठानी है] ।

घर में से सीख जेठानी की मति, बाहर से सीख पड़ोसन की मति ।

घाई या मारेंटा मर गिआ, घव सावे दा सावां ।

[घा मारण = घास काटना]

घसियारा घास काटता काटता मर गया, दूब हरी की हरी ।

घिच खादे सुके, ते पाणी पीदे कुपे ।

[कुपे = मोटे मुसन्धे]

घी खाते सूखे, और पानी पीते मोटे-दाढ़े ।

घिन्नण कीते भीण विल्याणी, देवण कीते मुसलमानी ।

छेने की खातिर 'बहन सखि' (पुकारती है), देने की खातिर (अपने को) मुसलमानी (बताती है) ।

घूं इच जित्ती लकड़ मारो उत्ती वो खिन्डटी हे ।

गू मे जितना लकड़ी चलाओ उतनी बदनू फँसली है ।

घूं ई गोए ते चघदे ।

[चघण = डोप बता कर बिद्वाना]

गू भी गोवर को चिढ़ावा है ।

चड्के दी चढाई, उलटा सिर कू खाचण आई ।

मले की मलाई उलटा सिर को खाने आई । मले ने बुरे की मलाई की, तो मले को कष्ट ही उठाना पड़ा ।

चारे पल्लो मैह चिकड़ भरघे, केरा मल मल धोवां ?

मेरे चारों पल्ले कीचड़ से भरें (हैं), कौन सा मल मल कर धोऊँ ?

चाकरां दी चूकरां ते चूकरां दी कीस कीस ।

[चूकर = चाकर के नयूने पर कथित शब्द]

चाकर (के जिम्मे) की (बात) 'चूकर' पर पड़ी, चूकरों की टालमटोल ।

एक दूसरे पर छोटता है, दूसरा तीसरे पर, इस तरह काम यों ही रह जाता है ।

चाँदणी रात ते मा फिज दा राज ।

चाँदनी रात और माँ बाप का राज । माँ बाप का राज्य चाँदनी रात की तरह होवा है ।

चिट्ठा सिर धुप ते कीतेस !

[चिट्ठा = सफेद]

(अमुक ने) धूप पर (से) सिर सफेद किया है ।

बूढ़ा है, किन्तु व्यवहार बुद्धिमत्ता का नहीं ।

चिट्ठी दाढ़ी ते अट्टा खराब ।

सफेद दाढ़ी है और (फिर भी) आटा खराब (अपनी मिट्टी खराब करते हैं) । सफेद दाढ़ी होने पर भी बुराइयों से बाज़ नहीं आते ।

चिन्ता चित्ता बरोबर हे ।

चिन्ता चित्ता समान है ।

चिट्ठे कपड़े ते सलामां दी चट्टी ।

सफेद कपड़े तो सलामों की आफत । केवल सफेद कपड़े पहन कर बने फिरने वालों के कारण लोगों पर सलामी की आफत ही पड़ती है ।

चिट्ठे तां बड़े दे बहुम्मे ई वउं पएन; गुण होवेन ।

सफेद तो कपास के डोहे भी बहुत पड़े हैं, गुण हों । गोरे रंग से कुछ नहीं होता, गुण होने चाहिए ।

चिट्ठे तां भेडक दे वट्टे ई वउं पएन ।

[भेडक = दूधिया रंग का पत्थर; वट्टा = पत्थर, भेडक दे वट्टे = दूधिया रंग के पत्थर]

चुआ खुद न मावे पिच्छूं वन्ने छज्ज ।

चूहा (स्वयं तो) बिल में नहीं समाता (और अपने) पीछे सूँघ बाँधे (बाँध लाता है) ।

चुल अंगारयों नई रज्जी, मा बाल्यो नई रज्जी ।

चूल्हा (कभी) अंगारो से नहीं अबाया; माँ (कभी) बच्चों से नहीं अघाई ।

चुल ते, सो दिल ते ।

(जो) चूल्हे पर, सो दिल पर । जो समीप होता है उसी से अधिक प्रेम होता है ।

चुल दी खैर, कुल दी खैर ।

चूल्हे की कुशल, कुल की कुशल । पहले अपनी मलाई करो कुल की मलाई स्वयं होगी ।

चुल दे पिच्छूं पसेरा, हुण उठी सस्सेइ घर मेरा ।

अग्ने खाधा हेई बतेरा, हुण वारा आया ई मेरा ।

[खाधा हेई = तुने खाया है]

(बहु कहती है) चूल्हे के पीछे पसेरी [ये शब्द केवल तुकबन्दी के लिए हैं], अब उठ सास, घर मेरा (है) ।

आगे तुने बहुतेरा खाया है, अब मेरी बारी आई है ।

चेत्र विसाख भँवे, जेठ हाड़ सँवे,
सावण भद्रार्थो धोवे, अस्सूँ कत्ते थोड़ा खावे,
तबीब पुछण न जावे ।

चैत्र वैसाख घूमे, जेठ अमाद सोवे,
सावन भादो नहावे, अस्सूँ काविक थोड़ा खावे,
(ता) हकीम (को) पूछने न जावे ।

चोर आवे नै छपोजे, चुमाल आवे गाल लुकीजे ।
चोर भाय तो चोड़ छुपाई जाय, चुगलखोर भाय तो बात छुपाई जाय ।

चोर कूँ आख्या 'घर भन्न', साध कूँ आख्या 'भनदा पई' ।
चोर को कहा 'घर फोड़', साधु को कहा 'दूट रहा है' । इधर की बात उधर, उधर की इधर ।

चोर दा उगाः गण्डीकप ।

चोर का गवाह गिरहकट ।

चोरी कोलूँ मीणां हे, जूरी कोलूँ मीणां हे, पोरये दा के मीणां हे ?
चोरी से उलहना (मिलना) है, जूरी से उलहना है, मेघनत मजूरी में क्या उलहना है ?
छत्ते भूँ दो आ वैसेन, जुम्मां आया खदे !

[छत्ते = सिर के बाल, भूँ दो = सुँड की तरफ]

छत्ते सुँह के सामने आ जायेंगे, जुम्मा आया खदा है । सुसलमान लोग जुम्मे पर हजामत कराते हैं । जब कोई किसी के दोप दिखाय तो वह कहवा है, समय दूर नहीं है, दुम्हारे दोष भी सामने आ जायेंगे ।

छा न मक्खण अज़ाया भग्गण ।

छाछ न मक्खन, व्यर्थ का बिलोना ।

छिक्के ते पड़छिका, तुसां वारां ते मै हिका ।

[पड़छिका = कीकी की परम्परा]

एक छोके पर दूसरा छोका, उस पर वीसरा, (इसी प्रकार) तुम बारह और मैं अकेली ।
एक छोके पर दैँगे अनेक छोके जैसे एक ही छोके का काम देवे हैं, वैसे तुम बारह का मैं अकेली मुकाबला कर सकती हूँ ।

जँव पराई ते आमक नच्चे ।

पराई धरात पर मूख नाचता है ।

जुट कूँ किस दी वडाई ? थुक दी वडाई ।

जाट को किस का अभिमान ? थूक का । दुच्छ मतुज्य दुच्छ वरलु पर इतराता है ।

जुट के जाणे कचालू खा ?

जाट क्या जाने अरबी खाना ? बन्दर क्या जाने अदरक का स्वाद ?

जुट बुथान, अल्ला दी अमान ।

भोंदू जाट, भगवान् पर आश्रित ।

जुट कुर्बीचट्ट, पिआला धो ते मुच्छां वट्ट ।

जाट देगची चाटे, प्याला धोवे (धो कर पो जाय) और (उस पर भी) मुँछों पर ताव देता है ।

जम ते मत होंदी ए ।

जन्म पर समझ होती है । आयु के अनुसार समझ ।

जम्म न हिंत्ता हुंदवण ते लालां भरया वात ।

[जम्म = 'जम' कर, जम्म ले कर; हुंदवण हुं वण = दातुन करना; वात = वक्त्र, मुँह]

पैदा हो कर (पैदा होने के बाद से) दातुन नहीं किया तो (भी) मुँह लारों से भरा है ! दातुन करने से लार टपकनी चाहिए, पर उस को बिना टपक रही है । उन्न भर तो अमुक चीज देखने को नहीं मिली, अब नखरे हो रहे हैं ।

जवाँ दी ढेरी, गुडहु रक्ता ।

जौ की ढेरी, गधा रखवाला । दूध की राखी बिल्ली ।

जाए सिरिंदे आए ।

[जाए = पैदा हुए, बच्चे]

बच्चे सीख देते आए (हैं) । आने वाली सन्तति पिछली से अधिक चतुर होती है ।

जागद्यां छां कटद्यां, सम पिआं दे कट्ट ।

जागती की कटड़ियाँ सोती के कटड़े । बैठवारे के समय जागने वालों ने तो कटड़ियाँ ले लीं और सोने वालों के हिस्से के कटड़े बचे । जागरुक नज़्मे में रहते हैं ।

जात दी किरली, छतीरां हथ धत्ते ।

जाति की छिपकली (हो कर) शहतीरो पर हाथ डाले ।

तुच्छ व्यक्ति ऊँचे काम में हाथ डालना चाहता है ।

जाया पुत्र ते बंडो रेत ।

पुत्र पैदा हुआ है तो बालू बाँटे । कुपूत है इस कारण ।

जितना पोश उतना पाला;

जितना धन उतना दिवाला;

जितना कुटुम्ब उतना मुकाला ।

जितने कपड़े उतना जाड़ा (अधिक कपड़ों वाले को जाड़ा अधिक लगता है), जितना धन उतना दिवाला; जितना कुटुम्ब उतना सुँह काला (भययश) ।

जित्ती गुड़ तित्ती मिठाई ।

जितना गुड़ उतनी मिठास ।

जित्ती पढ़्या उत्ती सढ़्या ।

जितना पढ़ा उतना जला (बिगड़वा गया) ।

जित्थां घग्घर वाली वस्से, उत्थां सिन्नां सुका मूल न वच्चे ।

[घग्घर वाली = कोई एक स्त्री]

जहाँ घग्घर वाली बसे, वहाँ गीला (हरा) सूखा कुछ भी नहीं बचता ।

जित्थां लग्गी भा, उवा सदी भा ।

जिस जगह आग लगी, वही जगह जली । जिस तन लगी सोई तन जाने और न जाने कोई ।

जिन्ते सौ तिन्ते पंफाः ।

जिघर सौ (गये) वघर पचास (और सही) ।

जिन्द सुख, जहान सुख ।

(अपनी) जिन्दगी सुखी (है) तो जहान सुखी (है) ।

अपनी तविमत्त खुश हो तभी सब कुछ अच्छा लगता है ।

जिन्द ए तां जहान है ।

जिन्दगी है तो दुनिया है ।

जिन्नां घर दाणे, औ कमले ई सिआणे ।

जिन के घर दाने (भल अर्थात् धन बान्ध), वे मूल भी सयाने ।

जिन्नां जुत्ते खु सुख न सुत्ते रु ।

[रु = रुख]

जिन्हो ने कुएँ (रहट) जोते (खेती-बाड़ी की), वे सुखी चित्त से न सोए ।

पच्छिमी पंजाब में खेती कुओ के चौगिर्द ही होती है । और कुओ पर रहट चलते हैं ।

जिन्नां रड़ा भोगिआ सावण तिनां ते बुट्टे ।

[रड़ा = सूखी शूल या सूखा मँदाग, बुट्टे = बरसे]

जिन्होने सूखा भोगा, सावन वन्हीं पर बरसे ।

दुःख के बाद सुख अनिवार्य होता है ।

जिन्म आख्या मिहा मिहा, संग आख्या कुम न हिहा ।

जीभ ने कहा सीठा सीठा, गले ने कहा कुछ न देखा । चीज़ स्वादु, तो थी, पर थी इतनी क़रा सी कि गले तक पहुँची ही नहीं ।

जीन्दा शेर ए, मोया मिट्टी दा ढेर ए ।

जीवा (मनुष्य) शेर है, मरा मट्टी का ढेर है ।

जीवें करनी उवें भरनी ।

जैसी करनां वैसी भरनी ।

जीवें चोली पाड़ी हेइ, उवें वै कर सी ।

जैसे (तू ने) चोली फाड़ी है, वैसे बैठ कर सी ।

जुलाव धिन्नण तां पके कोठे कू संथ लावण हे ।

जुलाव लेना तो पक्के कोठे को सेंध लगाना है ।

जूं मुत्तुं सुरकार नई, धी मुत्तुं हाल नई ।

जूं के बिना खुजलाहट नहीं, धी के बिना (दिल का) हाल नहीं (कहा जाता) । माँ अपना दिल बेटी के आगे खोलती है ।

जे नूं कुआरी, सस गुल्यां तूं वारी ।

जे नूं परनी सस शीख हिंत्ती घड़नी ।

जे नूं पीढ़े वैठी आ के, सस शीख हिंत्ती ता के ।

[शीख = बोहे की सलाई, जिस पर कचाव सूना जाता है]

जो (जब) बहू क़ारी, तो सास गलियों पर बारी (बहू के कूचे पर भी बारी जाती है) । जो बहू ज्याही आई, तो सास ने सलाई गढ़ी जाने को दी । जो बहू पीढ़े पर आ के बैठे, तो सास ने सलाई तपा कर दी ।

जेरा वाल पिआ खुरके, ऊँदी मा किचैं थुड़के ?

जो बच्चा हगता रहे, उस की माँ क्यों छरे ?

कब्ज़ न होगी तो बच्चा बीमार न होगा ।

जेरा बोले, उवो बुआ खोले ।

जो बोले, वही दरवाजा खोले ।

जेरा सड़े, चार हिहाड़े अग्रे मरे ।

जो जले (ईर्ष्या करे), चार दिन पहले मरे ।

जेरा सुख हे छज्जू दे चवारे, ओ न बलख न बुखारे ।

जो सुख है छज्जू के चौबारे, वह न बलख में न बुखारे में ।

अपने घर में जो सुख है वह विदेश में हरिगंज नहीं। छज्जू भगत का चौवारा लाहौर में अब भी है। यह छज्जू की चक्ति मानी जाती है। वह बहुत दूर दूर घूमा था।

जेरी फुट्टी न बिआई, ओ के जाणे पीड़ पराई।

जो न (कभी) फूटी (जिस के कभी गर्मपात नहीं हुआ) और न बियाही, वह पराई पीड़ा क्या जाने ?

जेरे राह न वैजणा, ऊँटा पंथ के पुछणा ?

[पन्थ = पन्था, दूरी]

जिस रास्ते न जाना, उस की दूरी क्या पूछना ?

जेरां दे शेर थी खड़ेदेन।

[जर = जरायु]

जरायुओं (छोटे वृक्षों) के शेर वन खड़े होते हैं। छोटे बच्चे के मरने का भी अफसोस कुछ कम न मानना चाहिए। बढ़ा हो कर वह भी जवान बन जाता।

जे बस होवी आपणा, पाखी मंग न पी।

यदि अपना बस चले, (तो) पानी (भी) माँग कर मत पी।

जहाँ तक हो स्वावलम्बी बने।

जैकू रखे साइयाँ, मार न सगुं को।

जाक्रो रखे साइयाँ, मार न सकिहै कोय।

जै खापी सगुले दी ढाल, ओ के जाणे टवरां नाल।

[सगुला = छोटी देगभी। टवर = कुनवा]

जिस ने (छोटी सी) देगभी की ढाल खाई हो वह कुनवों के साथ (रहना) क्या जाने ?

जैदा खाविण, ऊँदा गाँविण।

जिस का खाइए, उस का गाइए।

जैदा बाल बुलाया, ओ या बुलाई।

जिस के बच्चे को बुलाया (दिया, खिलाया) गया, वह माँ बुलाई गई।

जैदी पेकी पवाई दुक्ली, ओ थी के जलेसी सुक्ली ?

जिस का मायका तरफ दुःखी, वह बेटी क्या सुखी (जीवन) गुलारेगी ?

जैटे पिच्छं चार, ऊकू कड़हो मार।

जिस के पीछे चार (आदमी पड़ जायें) उस को मार निकालो।

जैदे हत्थ डोई, झुक्ख मोया सोई ।

जिस के हाथ चिल्ला, वही भूखा मरा ।

बाँटने वाला सदा घाटे मे रहता है ।

जो कुम्भ करे खीर, न गुर करे न पीर ।

जो कुछ (लाभ) दूध करता है, (सो) न गुर करता है न पीर ।

जो कुम्भ करे घिउ, करे न मा करे न पिउ ।

जो कुछ (लाभ) घी करता है, (सो) न माँ करती है न बाप ।

जो मन होवी आपणा पर बी उाव्बो जाण ।

(तेरा) अपना मन जैसा हो, दूसरे का भी वैसा जान ।

भड़ भिड़केल हौं गिआ, विलल्ली दा टबुर झुक्ख मोया ।

भड़ बदली मे दिन चला गया, कुचब्जी का कुनवा भूखा मरा ।

भिक्षा न खावे धिक्का ।

[भिक्षा = झुकने वाला, विनीत]

झुकने वाला धक्का नहीं खाता ।

टके दी रन, ते आने घां जुलमां ।

टके की लुगाई और आने की ओकों । स्वयं तो टके की है, पर अपनी चिकित्सा के लिए आना खर्चना चाहती है ।

टप पोंदे तां नै टप वेंदे, खड़े वेंदे तां अह तूं खड़े वेंदे ।

[अह = खेत में पानी रोकने को डाली गई मछी]

फौंद पड़ता है तो नदी फौंद जाता है, खड़ा हो (रुक) जाता है तो मेढ़ से (पर) खड़ा हो जाता है ।

ठह्ठा घड़ा आप कूं छां ते रखवेंदे ।

ठण्डा घड़ा अपने को छाया में रखवाता है । गुपी की आप से आप कदर होती है ।

ठुल्ली वन्नी खावे खन्नी, पाए आखे मैही कोठी भन्नी ।

पतली नार खावे चार, पाए आखे मैही सरफेदार ।

[वन्नी = दुलहिन । खन्नी = आधी । भन्नी = दूदी । सरफेदार = किफायतशार]

मोटी दुलहिन आधी (रोटी) खाये (तब भी) पति कहे मेरी कोठी (अन्न की) दूदी । पतली दुलहिन चार-

खाये, तब भी पति कहे मेरी (खी) किफायतशार है ।

ठुल्ला सुत्र बगवाणी दा, न पेटे दा न ताणी दा ।

[बगवाणी = बागवान की स्त्री; पेडा = बाला]

मालिन का मोटा सूत, न बाने (के काम) का, न ताने (के काम) का ।

मोटी अकल के आदमी पर अन्योक्ति ।

हई पारें जुमदी ए ।

दही पहरो में जमता है । कर्मों का फल देर में मिलता है ।

हंहा पीर मुस्टब्बा तकइयां ताड़यां दा ।

हंहा मोटों मुस्टण्डो का (भी) पीर है । बन्दे भी सीधे रास्ते ले घाता है ।

हुण्डुम मोटे दा मोटा, न ला ज़ाणे न गोटा ।

[ला = लाग, प्रेम । गोटा = घटना]

ढोठ मोटे का मोटा है, न किसी से समवेदना करना जानता है न घटना (जानता है) ।

हुंग ते पहेदी, मुद्दा रोटी तोड़ी,

लक्खी ते करोड़ी मुद्दा रोटी तोड़ी ।

[हुंग = छाठी, पहेदी = लकड़ी के डबों की सीढ़ी ।]

(जिस के पास केवल) छाठी और निलेनी (है उस का भी) लच्छ रोटी तक (है और जो) लक्खपति और करोड़पति (है उस का भी) लच्छ रोटी तक है ।

हुची बी ते तोड़ा त्री ।

[हुची = कैटनी, तोड़ा = कैट]

कैटनियों बीस और कैट तीस (बराबर हैं) ।

हुढे कोल न डर, हुढे दी हुढई कोल्लं डर ।

जुवरदस्त से मत डर, जुवरदस्त की जुवरदस्ती से डर ।

‘हुढे ते मैं फर न आवां, हीणो ते चढ़ लत्तां हुंवां ।

[फर भाव्य = काबू पाना]

जुवरदस्त पर मेरा दाव न लगे, दुर्बल पर बढ़ (कर) लत्तों से दवाऊँ ।

हुढे, दा सत्तां विआं सौं हे ।

जुवरदस्त का सात बीसे सौ है ।

हिं गी रोटी खाध्ये कोई दिह हिं गा यींटे ?

देड़ी रोटी खाने से कोई पेट टेढा होता है ?

हिंहे नईं सो मिहे नईं ।

(जब तक) देखे नहीं (तब तक) मीठे नहीं । देखने के साथ ही मीठे लगने लगते हैं—पति और पत्नी एक दूसरे को ।

हिचा गिद्दा भायां दा, काला कुन्नां सायां दा ।

दिया लिया भाइयों का, काला देगचा साईयों का ।

क्रूरुप बहू के माँ बाप बहुत कुछ देवे' भी तो वह देन-दहेज तो शरीक-बिरादरी में बट जाता है। मालिकों के घर से तो बही रहती है।

हिराणिआं जिठाणिआं, रत्न वाँचन तां करने कहाणिआं, नईं तां हड्डां धां विराणिआं।

[विराणिआं = बैरिने]

दिरानिएँ जिठानिएँ मिल बैठें (मेल से रहे) तो कहानियाँ कहें, नहीं तो हाड़ों की बैरिने।

हिस्सरा दे बगले विच्चूँ मच्छ्यां दे टरकाऊ।

दीखने के बगले अन्दर से मछलियों को हड़पने वाले। बगला भगत।

हीवा तां कौड़ी दा लाल ए।

दिया तो कौड़ी का लाल है।

हीं लत्था मलक निखत्था !

दिन ढला जनाव निकले !

हुपार तत्ता गुड्डं मत्ता।

दोपहर तपा गधा मचला।

सुबह ठण्डे वक्त न आ कर दोपहर आने वाले पर आंचेप।

हू ते हू ? चार रोठ्याँ।

दो और दो चार रोठियाँ।

हू घरां दा मिज़मान मुक्त्ता रांघे।

दो घरों का मेहमान भूखा रहता है।

हू भाण्डे खडकदे आपुन।

दो बर्तन टकराते आये हैं।

हू रन्नां त्रीभा धन्नां।

[धन्नां = आदमी का नाम, धनपत का संक्षेप]

दो स्त्रियाँ तीसरा धन्ना।

स्त्रियों के बीच में कोई मर्द बैठे बोले तो उस पर यह व्यंग्य चलता है।

हू के धिनखी, नां रखाईं पिनखी।

[पिनखी = मीन सागना]

दे कर लेने वाली (का) नाम रखलूँ संगवी।

हूँण मोई हूद सट मोई।

बाइन मरी दाँत फेंक मरी।

डोहर कां, डोहर कां, पाए दा खट्या पिउ दा नां ।

[डोहर का = पहाड़ी कौआ—यहाँ ये शब्द केवल तुलसीदास के लिए हैं]

डोहर का डोहर कां, पति की कमाई बाप का नाम ।

होमां घर विश्वा, जीवें आवी उवें गां ।

होमों के घर न्याह (है) जैसा आप वैसा गाओ ।

होरे अमूं गाँविए, अन्हे अमूं नचिए ।

वहरे के आगे गाया जाय, अन्हे के आगे नाचा जाय (तो क्या लाम) ?

हुट्टी हिता वरुडी खाधा ।

[हुट्टी = एक धूर्त स्त्री, वरुडी = वमी नमूने की दूसरी]

हुट्टा ने दिया, वरुडी ने खाया । चुपचाप दिया गया, जिस से कुछ यश नहीं हुआ ।

तलवार दा फट मिल वैदे, जवान दा फट नई मिलदा ।

तलवार का बाव मिल (भर) जाता है, जवान का बाव नहीं भरता ।

तलवार सामणें आवें, सोण सामणें न आवें ।

[सौण = समची]

तलवार सामने आवे, समची सामने न आवे ।

ताड़ी हमेशा दुहत्थेइ बज्जदी हे ।

ताली हमेशा दो हाथों से बजती है ।

तुरत दान महा पुज ।

[तुरत = पुण्य]

तुछाहे पीठे दा कोई छापान हे ?

आप के पीसे का कोई छानना है ? आप के काम में संशोधन की आवश्यकता नहीं ।

तूं आपणी भरी निवेइ ।

तू अपनी भरी निपटा । (दूसरे की बात में व्यर्थ दखल मत दे) ।

तूं कौन ? मै खासुता ।

तू कौन ? मैं खाहमखाह ।—दात भात में मूमलचन्द ।

तूं न जाण मैकें, तां मै थुकां तैकें ।

तू मुझ न जान (मेरी परवाह न कर) तो मैं तुझे (तुम पर) शूकूं ।

तेरांताली ते वारां-वेसी, अन्दर मार वासी परदेसी; बापु र वेदन कईं कूं न डेसी ।

तेरह चालों वाली और वारह भेस (वनाने) वाली (अत्यन्त चालाक है); अन्दर परदेसी मार बैठेगी, बाहर किसी को पता न देगी ।

तैडड़ी हे तां मैडड़ी हे, मैडड़ी कूं हथ न ला ।

तेरी है तो मेरी है, मेरी को हाथ न लगा ।

तैड़ा मैड़ा जोड़, मैड़े कोटे ते हाथी ठोर ।

तैड़ा मैड़ा नजोड़, मैड़े कोटे ते सुई न पोड़ ।

तेरी मेरी बनी है (तो) मेरी छत पर हाथी चला ।

तेरी मेरी अनवन है (तो) मेरी छत पर सुई मत गाड़ ।

थुक सट के निगलींटी हे ?

थुक फेंक कर निगली जाती है ?

थोड़ा थोड़ा कत्ते निकम्मी मूल न धत्ते ।

थोड़ा थोड़ा काते, पर निकम्मी हर्गिज़ न रहे ।

दम हिआतीं ते नित्त विसाखी ।

प्राप्त घने हैं तो नित्त वैशाखी (है) । वैशाखी या वैशाख-संक्रान्ति पंजाब का सब से बड़ा त्यौहार है; वह नववर्षारम्भ का दिन होता है ।

दिल विच होवी सच्च, गली ते नंगी थी के नच्च ।

(तें) दिल में होवे सचार्ह, तो (मले ही) गली में नंगी हो कर नाच ।

दिल्लीं टे लड्डु जेरा खावे, पछतावे; जेरा न खावे ओ वी पछतावे ।

दिल्लीं के लड्डू जो खाए पछताए जो न खावे सो भी पछताय ।

दुनिआँ रंग-वरंगी कोई राजा ते कोई भंगी ।

दुनिया रंग-बिरंगी कोई राजा तो कोई भंगी ।

द्विराख कण्ठ बलाई, चप्पर उखड़ आई ।

बढ़ई ने पीठ फोरी, चिप्पड़ उखड़ आई ।

धन्न करेदा कम्म, काली रात कूं ।

धन काली (अंधियारी) रात में भी काम कर देता है ।

धाता किराड़, धुवखा धिघाड़ ।

नहाया किराड़, भूखा बबेला (सा होता है)—हिन्दू को नहाने के बाद बड़ी भूख लगती है ।

घिए डी मैं तैहूँ आलां, लुपं डी तू कन्न कर ।

अरी बेटी मैं तुझे कहूँ, अरी पतोहू तूँ कान कर । एक को लुप्त कर दूसरे से बात कहना ।

धी उसरी भीख विसरी ।

[वसरी = बड़ी हुई]

लड़की बड़ी हुई, वहन विसर गई ।

धी दा डेप, कुन्ने दा लेप, कडाई पूरा नई थोदा ।

बेटी का देन, देगची का लेप (मट्टी का), कमी पूरा नहीं होता ।

धी निवी आई, खा यिन, नू निवी आई हंडा यिन,

[हंडाचय = किसी चीज़ का, विशेष कर कपड़ गहने का, प्रयोग कर के घिसाया]

बेटी नहीं आई तो खा ले, पतोहू नहीं आई तो पहन ओढ़ ।

धी वृन्धण्ये मां संभृण्ये ।

[व'भया = सम्भा सा कपड़ा जिस से बच्चा-देराजात के इलाके में गोद के बच्चे को बाँध कर सुझाते हैं, कहते हैं इस से बच्चा ठोस और मजबूत होता है । सम्भय = संभय करना] ।

बेटी गोद में, माँ (दहेज के कपड़े लुचे) जमा करने में । बेटी को पैदे होते ही माँ को उस को दहेज की फिक्र करनी पड़ती है ।

धीरीं आयां कत्त के, मा ठरी वे लोको ठरी ।

धीरी मंगेन धग्घरियां, मा सड़ी वे लोको सड़ी ।

[वे लोको = अरे लोगो]

बेटियों काव के आई तो मा (की छाती) ठंडी हो गई, बेटियों धाघरियों भाँगें तो मा जल भुन गई ।

धीरीं मंग्यां कई नई, लुध्यां हर कई हेन ।

बेटियाँ माँगीं किसी ने नहीं, पाईं हरेक ने हैं ।

धी लांघी हे मा दी हित्त ।

बेटी माँ बाप की बेन पाती है । मा बाप संबन्धियों मित्रों को बेटियों को जैसे जैसे देते हैं वैसे वैसे ही बेटियों को उन लोगो से मिलता है ।

धोबी टा कुत्ता न घर दा न घाट दा ।

धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का ।

धोल्यां वे घर पए चोर, ओ न मुट्टे मुट्टे होर ।

[मुट्टे = मुपित]

धोवियों के घर चोर पड़े, (तो) उन का कुछ लुकसान नहीं हुआ, दूसरों का लुकसान हुआ ।

धुक धुक मोई, पेक्ये न अपड़ी ।

दौड़ दौड़ मरी, मायके न पहुँची ।

न काबल दी खट्टी, न चौके दी भीत ।

[भीत = मितव्यय]

न काबुल की कमाई, न चौके का मितव्यय । काबुल की कमाई से उतनी बचत नहीं हो सकती, जितनी रसोई की किरायात से ।

न कोहण दी न डोहण दी ।

न मार कर मांस बनाने लायक, न दुहने लायक । किसी काम की नहीं ।

नक-कन्न-कण्ठ्या, ते शर्म साईं रख्या ।

नाक-कान-कटा हुआ, और लाज भगवान् ने कसी । बिलकुल निर्लज्ज ।

नक न नासां, पलंगां ते चढ़ बासां ।

नाक है न नखुने हैं, पलंगों पर चढ़ बैठेंगी । अत्यन्त क्रूर होते हुए भी शाही ठाठों में रहती है ।

नंगी घासी, के निचड़ेसी ?

नंगी नहायगी, क्या निचोड़ेगी ? जिस के पास कुछ न हो, वह किसी को देगा कहाँ से ?

नचदी टपदी रह गई, काई भूल बन्दी झूँ पै गई ।

[बन्दी = बन्दा का स्त्रीलिङ्ग]

नाचती कूदती रह गई, बन्दी को कोई भूल पड़ गई । सब तैयारियाँ यों ही पड़ी रह गईं ।

नच न जाणां, वेड़े डोः ।

नाच न जानूँ आँगन को दोष ।

न ठहरे सुख, न तत्ते सुख ।

न ठंढे में सुख, न गरम में सुख ।

नदी-नाव-संजोगां दे मेले होदेन ।

नदी-नाव-संयोगों के (की तरह) मेल होते हैं ।

न परन्ये हासैं न जँज दुक्ये हासैं ।

[जँज = बरात; जँज दुक्ये = बरात ले जाया]

न (हम) व्याहे थे न बरात ले गए थे । हमारे लिए यह बात अपूर्व है ।

नवी छुड़ी, नचें हिहाड़े ।

नयी दुलहिन, नौ दिन (तक) ।

न सरा: न सरा:, मतां निंदावणी पोवी ।

मत सराह मत सराह, ऐसा न हो कि (फिर) निन्दा करनी पड़े ।

नानी मुखस कीता, चट्टी होत्र्यां कू पई ।

[मुखस = मुख, नार]

नानी ने (दूसरा) मर्द किया, घाटा दोहवों को पड़ा । ननमाल से मिलना बन्द हो गया ।

नाले डू डू नाले चोपड़्यां ।

साथ ही दो दो साथ ही चुपड़ी हुईं ।—चुपड़ी और दो दो ।—अनुचित मोंग ।

नां-चढ़था वपारी खट्ट खावे, नां-चढ़था चोर फाए टिच्चे ।

[नां = नाम, नां-चढ़था = नामी]

नामी व्यापारी कमा खावे, नामी चोर फाँसी चढ़े ।

नां तैदा धिरां मैदा ।

नाम तेरा, ग्रास मेरा । खावे एक, नाम दूसरे का लगे ।

निकम्मा किराड़ ते बहियाँ फोले ।

निकम्मा किराड़ बहियाँ उलटता पलटता है ।

निकलदे दे' धरुं बोरा, ते बड़दे दे घर भोरा ।

[भोरा = छोटा सा टुकड़ा]

निकलते के घर से बोरा, और घुसते के घर टुकड़ा । चोंटने वाले के घर से बोरा निकला, पाने वाले को टुकड़ा मिला । बहुत आदमियों में बाटे तो देंगे चीज़ थोड़ी थोड़ी आपसी ।

निका निका कम्म, त्रुट मोई रख ।

-छोटा छोटा काम, छुगाई दूट मरी । फुटकर काम छोटा छोटा भी जान ले लेता है ।

निमाज़ां बरक्वावण गई हाई, रोज़े गल पा आई ।

[बरक्वावण = माफ़ करवाना]

निमाज़ें छुडवाने गई थी, रोज़े गले बलवा आई ।

नियत खोटी बहाने ढेर ।

स्पष्ट ।

नीम इकीम खतरा जान, नीम मुल्लां खतरा इमान ।

[मुल्लां = मुल्ला, इमान = ईमान]

-स्पष्ट ।

नूरपुर थां गई, उवे चोर ते उवे साईं ।

[नूरपुर = कांगड़ा ज़िले में एक बस्ती, लच्छा से कोई भी अन्य स्थान]

नूरपुर की गौएँ, वही चोर और वही साईं । नूरपुर में चोर और सालिक का फ़रक़ नही होता—बड़े बड़े आदमी भी चोरी करते हैं ।

नेकी बरबाद, गुनां वाकी ।

नेकी बरबाद, गुनाह बाकी । किसी का जो भला करोगे उसे वह भुला देगा, जो बुरा करोगे याद रखेगा ।

पक्का धिन के अन्दर वड़िए, सब्बड़ धिन के बैर निकल्लिए ।

(असौज कातिक में रात को सोने के लिए) पंखा ले कर अन्दर घुसिए; (चैत बैसाख में) रजाई ले कर बाहर निकलिए । असौज-कातिक में ओस में सोना बहुत बुरा है; चैत-बैसाख में अन्दर की बन्द हवा में सोना बुरा है ।

पँचां दा आख्या सिर मत्थे, परनाला उथाईं दा उथाईं ।

पंचों का कहा सिर माथे, पनाला वहीं का वहीं । मुँह से तो मान लेना, अमल में न जाना ।

पट्या पहाड़ निखत्था जुआ, उवो ई मोया ओया ।

खोदा पहाड़ निकला चूहा, वह भी मरा हुआ ।

पड्डल नूं चङ्डी, खोसल नूं मन्दी ।

[खोसल = खरखा कातते समय तार तोड़ तोड़ फँकने वाली]

पादने वाली बहू भली, पर खोसल (सूत बिगाड़ने वाली) बहूबुरी ।

बूढ़ी औरतों की दृष्टि में कातते समय रुई की रत्ती भी न खराब होनी चाहिए ।

पढ़न वाले दा टोपा, सुणन वाले दी पाई;

ढेरी उन्नां दी जिन्नां तन नाल लाई ।

[टोपा = मापने का एक बर्तन जिस में प्रायः चार सेर अनाज समाता है; पाई = १९ सेर अनाज का बर्तन]

पढ़ने वाले का टोपा, सुनने वाले की पाई; ढेरी उन की जिन्हे ने चित्त से लगाई । सुनने वाले को पढ़ने वाले से चौगुना फल मिलता है और अमल करने वाले को उस से भी कई गुना ।

परदेस दी सारी कोलूं घर दी खनी चङ्डी हे ।

परदेस की सारी (साबुत) से घर की बाधी अच्छी है ।

पर मोया जुट, बैठा कवर पट ।

पार साल जाट मरा, (और अब उस का तू साथी) कन्न खोद बैठा । सुइतों की बीवी बात छेड़ता है ।

पराई आस कुबें दी वास ।

पराई आशा तो देगची की बास (मात्र) है (जिस से पेट नहीं भरता) ।

पराई मंझ दा चड्हा बड्हा हिसदे ।

[चड्हा = बनों का उपरला भाग जिस में वृक्ष भरा रहता है]

पराई भैंस सा चड्हा बड़ा दोखता है ।

पराया गाथा पा, ते अद्धा हाल वंवा ।

पराया गहना पहन, तो आधा हाल गँवा ।—खोने टूटने का अँदिसा बराबर लगा रहता है जो कि आधा खो देने के बराबर है ।

पराया मोया ते डूँखी खाधा ।

पराया मरा तो डॉइनों ने खाया ।—हमे क्या ?

पराये घर उठ मोया नई लभदा ।

पराये घर मरा ऊँट भी नहीं मिलता ।—क्योंकि अपने घर की तरह वहाँ स्वतन्त्रता से खोजा नहीं जा सकता ।

परू दे रोः सुहावणे लगदेन ।

[रो = पहाड़]

दूर के पहाड़ सुहावने लगते हैं ।

पहाज मक्खण दी ई नई सिवांदी ।

[पहाज = सौत, सिवांदी = सही जाती]

सौत मक्खन की (बनी हो तो) भी नहीं सही जाती ।

पाए आवणी पुत्र जावणी दी हिको मन पकेसां ।

[जावणी = पैदा होना, मन = सीमा मोटा रोड जो बपलों पर पकाया जाता है और स्त्रोहारों, बस्त्रों पर लाया जाता है]

पति आने और पुत्र पैदा होने का एक ही मन पकाऊँगी ।

पाणी हमेशा भिक्की भा खड़ेवे ।

पानी हमेशा नीची जगह ठहरता है ।

पिउ कोल मै अग्गे जाई, हाटे दा गुड़ खा के ।

तमाशा देखने में गई पड़हाडा कुच्छड़ चा के ।

बाप से मैं पहले जन्मी, दादा का गुड़ खा कर ।

तमाशा देखने में गई, परदादा बगल में उठा कर । छोटे लुँह बड़ी बात ।

पुखटा कावल ते कन्धार वज बड़दे ।

पूछता पूछता काबुल और कन्धार जा पहुँचता है ।

पुत्र कपुत्र तां क्या धन जोड़े ? पुत्र सपुत्र तां क्या धन लोड़े ?

पूत कपूत है तो काहे धन जोड़े ? पूत सपूत है तो धन काहे चाहिये ?

पुत्र कपुत्र बन्धण्यो सुजापदेन ।

पूत कपूत बन्धण्यो मे (शैशव मे) पहिचाने जाते हैं ।

पुत्रों कोलूँ पोत्रे वध वैदेन ।

पुत्रों से पोते बढ़ जाते हैं । मूल से व्याज बढ़ जाता है ।

पेकी शुक्ल इचूं धी निकल वैदी ए, सावरी शुक्ल इचूं नई निकलदी ।

[शुक्ल = गरीबी, सावरी = ससुराल की]

बेटी मायके की गरीबी मे से निकल जाती है, (पर) ससुराल की गरीबी मे से नहीं निकल सकती ।

पेके न सावरे बुढ मोई नानावरे ।

न मायके न ससुराल, बूढ़ गरी ननियाँ ससुराल । न इधर के रहे, न उधर के रहे ।

पेट ई आपणा ए ते कत्त ई आपणा ए ।

पेट भी अपना है और छुरी भी अपनी है । अमुक का चरित्र तो निश्च है, पर क्या करें अपना ही आदमी है !

पेट न पिआं रोटिआं ते सब्भे गुल्लां खोटिआं,

पेट न पिआ ताम ते याद न आया राम ।

[ताम = खाने की डोस चीज़]

पेट न पड़ी रोटियाँ, तो सभी बातें खोटी ।

पेट न पड़ा खाना, तो याद न आया राम ।

पेरां दे बेर होदेन ।

पैरों के बेर होते हैं । परिश्रम से मीठा फल मिलता है ।

पैला सुआ, तां क्या हुआ ? दुभा सुआ भिटी दी न्याई' ।

[भिटी = अशुचि होना, दूने लायक न रहना; भिटी = मासिक-धर्म]

पहला प्रसव, तो क्या हुआ ? दूसरा प्रसव मासिक धर्म की न्याई' । स्वस्थ स्त्री को पहले प्रसव को तो कुछ अनुभव ही न करना चाहिए और दूसरे का भी कष्ट मासिक धर्म से अधिक न मानना चाहिए ।

पैली कू पिछली नई' मिलदी ।

पहली को बाद की नहीं मिलती । पीछे अपनाई हुई दुलहिन अथवा नौकर चाकर पहले वाले की बराबरी नहीं कर सकता ।

पैले डीं मिहमान, दुम्मे डीं बईमान ।

पहले दिन मेहमान दूसरे दिन बेइमान । अधिक दिन मेहमान न बने रहना चाहिए ।

पैसा हिता रोक, खल्ला मारचा ठोक ।

पैसा नकद दिया और जूता ठोक मारा । नकद दाम देने वाला माल ठोक-झका कर ले सकता है ।

फुज्जर गई निमाशां आई ।

सबरे गई सन्ध्या (को) आई ।

फुल दी वो कश्मीर बाग तोड़ी वैसी, बन्दे दी नेकी बदी दिल्ली कश्मीर तोड़ी वैसी ।

फुल की दुर्गन्धि सुगन्धि बाग तक जाएगी, आदमी की नेकी बदी दिल्ली कश्मीर तक जायगी ।

फुल नाई हँदी मांगवां, ते हिंसा बाग छुट्य ।

[मांगवां = बघार मांगा गया]

बघार मांगा फुल नहीं देती थी, और बाग छुटा दिया । जीते जी रत्ती भर चीज़ किसी को न दी, मरने पर सबैल दूसरों के हाथ चला गया ।

बुजं गुलामी जुगमा चौड़ ।

बहुत (बहुतों की) गुलामी मे घर चौपट । जहाँ बहुतों के हाथ में प्रबन्ध हो वहाँ व्यवस्था नहीं रहती ।

बुजं पिआर ते बुजं खुआर ।

बहुत प्यार तो बहुत क्षार (बिगाड़) ।

बुकरी खीर हुंसी मेढरो घत के ।

बकरी दूध देसी मेगनियां ढाल के । काम कर भी दिया तो बहुत कहने सुनने पर और बुरे ढंग से ।

बल्लू ब्रिक्ता कुत्ता है, जेदे पिच्छूं लग बंजे !

भाग्य पागल कुत्ता है, जिस के पीछे पड़ जाए ।

बगो मूल न रींदे काले, भावें मल वाधेन मुकाले ।

गेरे हर्गिज़ काले नहीं होते, भले ही मुँह पर कालख मल बैठें ।

बणी बणाई, ते बुध जवा आई ।

बनी बनाई, और बुद्धि बही आई । जो होनहार होता है वैसी ही बकल हो जाती है ।

बुत्ती खुए खा, ते राणी हज्ज कू चली !

बचीस चूहे खा कर रानी हज्ज को चली है !

बुत्ती इन्द नईं बुत्ती कात्यां इन ।

बचीस दाँत नहीं हैं बचीस छुरियाँ हैं । सोच समझ कर मुँह खोलना चाहिए ।

बन्दा खुट वेंदे, बन्धा नईं खुटदा ।

बन्दा खतम हो जाता है, धन्दा खतम नहीं होता ।

बन्दे दे पिछूं बन्दा, बन्दे दा अवकल अन्धा ।

बन्दे के पीछे बन्दा, बन्दे का अकल अन्धा । किसी आदमी के पीछे सब लोग पड़ जाय—सभी उसे बुरा कहने लगें—तो वह धबरा कर अन्धा सा हो जाता है ।

बाल गुमटाल होंदेन ।

बच्चे गुम टालने वाले होते हैं ।

बाल हथ दी कड़खी होंदेन ।

बच्चे हाथ की कड़खी होते हैं । बच्चों से काम-काज में बहुत कुछ सहायता मिल सकती है ।

वालां दा कम असूंगड़ा होंदे ।

[असूंगड़ा=सुफु का]

बच्चों का काम सुफु का होता है ।

बावा टल, पकी पकाई धल ।

[बावा टल=एक पंजाबी सन्त जिन के नाम का लंगर अमृतसर के गुरुद्वारे में है]

हे बावा टल, पकी पकाई भेज । जो आदमी चाहे कि सेहनत कुछ न करनी पड़े और काम तैयार मिल जाय, उस पर व्यंग्य ।

बिल्ली कुत्ता खावे, मनुक्का अर्थ न आवे ।

बिल्ली कुत्ता खा जाय पर मनुष्यों के काम न आवे । जहाँ अन्यवस्था से चीज़ ज़ाया हो, उस पर उक्ति ।

बिल्ली कूं खाब छिड़इयां दा ।

बिल्ली को छोछड़ों का खाव । अपने मतलब की बात का ही ध्यान रखना ।

बिल्ली शींठ पढ़ाया, शींठ बिल्ली कूं खावण आया ।

बिल्ली ने सिंह पढ़ाया, सिंह बिल्ली को खाने आया । गुरुद्वारे ।

विशर्मां थां दूर बलाईं ।

वेशर्मा की बलायें दूर (हो जाती हैं) । एकां लज्जां परित्यज्य त्रिलोक-विजयी भवेत् ।

बुद्धा धिउ पीवे, ते जुआन न थीवे ।

बूढ़ा भी पीवे, तो (भी) जवान न होवे ।

बुद्धू दी नूं, सुंवे दे पासे मूं ।

[बुद्धू=किसी का नाम । सुंवे=शून्य]

बुद्धू की पतोह, उजाड़ अंगल की ओर झुँह । आदमियों से मिलना जुलना पसंद न करने वाले पर अन्योक्ति ।

बूटे बूटे लग्गी भा, मैं निम्मी लाई, लाई एई खुदा ।

पौदे पौदे लगी आग, मैंने नहीं लगाई, खुदा ने लगाई है । दुराई कर के कहना कि परमात्मा की करनी है ।

बूढ़ी दिठ्ठे पर हिंगे होदेन ।

नाब देख कर पैर टेढ़े पडते हैं । बाहन सामने रहने पर पैदल नहीं चला जाता ।

वैर सुखीदा लख दा, अन्दर त्रै पा अट्टा पकदा ।

बाहर छाल का सुना जाता (है), अन्दर तीन पाव आटा पकता है ।

भट्ट भठ्यारी भाटिआ, ब्रइये कुपची ज्ञात ।

भाट भटियारी भाटिया, चीनों बुरी जात हैं ।

भट्ट सूनां जेरा कंन त्रोदे, भट्ट मूरखेन जेरा रंन छोड़े ।

धिक्कार उस सोने को जो कान तोड़े, धिक्कार उस मूर्ख को जो बहू छोड़े ।

भाजी दी भाजी, ते की मुथाजी ?

भाजी (के बदले) की भाजी, तो क्या मुहवाजी ?

भा दी सही, टिंहाणे कोल डूरी ।

आग की जलो, जुगनू से डरी ।

भांदि दा मैकुं सन्भो कुछ भांदा, न भांदि डा कुफ न भांदा ।

माने वाले का मुझे सब कुछ भाता (है), न माने वाले का कुछ नहीं भाता ।

भावे आपणी कन्ध है पोवे, तां बी पराई मंभ ज़रूर मरे ।

भले ही अपनी दीवार गिर पड़े, वो भी पराई भैंस जरूर मरे ।

मिण्ड्यां तूर्यां, कई न कीत्यां पूर्यां ।

[मिण्डी तूरी = मिण्डी]

मिण्डियाँ किसी ने पूरी न कीं । मिण्डी की वरकारी से कभी पूरा नहीं पडता, क्योंकि वह बहुत सूख जाती है ।

भीण दे घर भाई, ओ बी कुत्ता, सोरे घर जँवाई ओ बी कुत्ता ।

बहन के घर भाई वह भी कुत्ता, ससुर के घर जमाई वह भी कुत्ता ।

शुख सुख है ।

भूख सुख है । भूख लगना स्वास्थ्य की निशानी है ।

शुना तां खना होदे ।

सुनता तो रोया (हुआ) होता है । सिक्कड़ जाने के कारण बहुत थोड़ा बनता है ।

भैड़ा जी न धुप साहे न सी ।

जो डुरा (है) न धूप सहता है न शीत । किसी अवस्था में सन्तुष्ट नहीं रहता ।

भैड़े दी पतझाई, मंगो मीं ते घुलले छाई ।

[मीं = मेव]

बुरे की बादशाही, मोंगो मेह तो चल पड़ता है अन्धड़ ।

मक्खन खाईं कईं दे इन्द घसदेन ?

मक्खन खाते किसी के दाँत घिसते हैं ?

मक्खणां दी पल्ली, डुकरां दी गुल्ली ।

मक्खनों पर पली, (रोटी के) डुकड़ों से दुबला गई ।

मक्खी खाईं नां मरे, ते मलमला मर जा ।

मक्खी खाने से नही मरता, पर (उस की) मक्खी (से) मर जाता है । वहम बुरी चीज़ है ।

मखट्टू पुत्र ते खोटा पैसा, औखे बेले कम आँदेन ।

निखट्टू बेटा और खोटा पैसा, कठिन समय काम आते हैं ।

मच्छी संदे पूगड़े, जमथों पए तरेन ।

[सदे = सग-दे, साथ के; पूगड़ा = जानवर का बच्चा]

मछली के बच्चे पैदा होते ही तैर रहे होते हैं ।

मत्तीं डेदी बिवां कूं, ते लुढ़दी वैदी आप ।

मत देती है दूसरों को, और आप बहती जाती है ।

मत्तीं डेवेन भीण भाई, मन कूं न लग्गे काई ।

सीख देवे बहन भाई, (पर) मन को कुछ नहीं लगता । किसी भी हितैषी के उपदेश का असर नहीं होता ।

मत्रेई, अल्ला मरेई ! बावे मैडे लिक्खी;

पेड़ा घड़े फीती जेडा ताड़ी मारें तिक्खी;

बावे कूं जो आँदा डेखें टिक्की डेवें तिक्खी ।

[फीती = करीब जैसे जितना लकड़ी का एक गोख छोटा सा डुकड़ा]

हे सौतेली माँ, तुझ पर ईश्वर की मार पड़े ! तू मेरे बाप की लिक्खी है (मेरे बाप ने तुझे मेरे भाग्य में लिख दिया है); तू फीती जितना पेड़ा बनावी है, पर तिक्खी (ज़ोर की) चाली बजाती है (पेड़ा ज़ोर से थपकाती है जिस से मालूम हो कि भारी रोटी बना रही है) । बाप को जो (तू) भ्राता देखे तो रोटी बड़ी जल्दी देती है (ताकि छोटी रोटी बना के देने की बात बाप को मालूम न हो) ।

मनभवन्दा खाइये ते जण-भवन्दा हंडाइये ।

मन-भाता खाइये और जन-भाता पहिरिये ओढ़िये ।

मन मंगे पतशाइयां, मैं कित्थूँ नित्त कहाँ ?

मन माँगता है बादशाहियाँ, मैं कहाँ से नित-नित निकालूँ ?

मन हरामी ते हुज्जतां ढेर ।

मन हरामी है तो हुज्जतें बहुत हैं ।

ममणां ममणां, हिक खा ते बिआ समणां ।

[ममणा ममणा—निरर्थक हुकबन्दों] ।

एक खाना और दूसरा सोना ।

मम्मोटाणां, कुज्ज न जाणां ।

(मैं तो) मोली-माली (हूँ) कुछ नहीं जानती । अनजानपन का डोग करने वाले पर उक्ति ।

मर न जी, हलाक पई थी ।

[हलाक = अत्यन्त दुःखी]

न मर (और) न जी, अत्यन्त दुःखी होती रह । जिस आदमी को न मरने दिया जाय न जीने दिया जाय—काम करने की स्वतंत्रता भी न दी जाय और काम के लिए ज़िम्मेदार भी ठहराया जाय—वह अत्यन्त दुःखी रहता है ।

मरन्यो भुग, ते परन्यो सीरा ।

[सीरा = हलुआ]

मरने से भूँग और शादी से हलुआ । किसी के मरने पर सिर्फ़ भूँग ले लेने से भवलभ, और किसी की शादी पर सिर्फ़ हलुआ से ।

मर्दे की कण्ठ गुड़ दी हे ते मूँ लोहे दा ।

मर्दे की पीठ गुड़ की है और मुँह लोहे का ।—पुरुष मुँह से कट्टर पर अन्दर से हितैषी होते हैं ।

मर्दां टा खट्या खा, टिट्टा न खा ।

मर्दों का कमाया खा, (पर) देखा न खा । स्त्री को पुरुष की कमाई खर्चने को मिलनी चाहिए पर खर्च का हिसाब उस से न माँगा जाना चाहिए ।

मर्दां दी पट्ट दी गुंठ होंटी हे ।

मर्दों को रेशम की गाँठ होती है । मर्दे अपने दिल में पक्की गाँठ बाँधते हैं ।

मलूक वणन साखड़ा ते गड्डर वणन आखड़ा ।

आराम-वलय बनना सहल (है) और मॉटे रहन-सहन वाला बनना कठिन है ।

माँ सिआला आएड़ा दर दर बलचां भाई । हर कईं दा अन्त लघोसैं कोई कईं दा नाईं ।

[माह = माम, लघोसैं = हम न पाया]

जाड़ का मास आया, दर दर आगे जलती हैं । हर एक का अन्त पाया, कोई किसी का नहीं ।

मा कड्डे धी खावे, घर दी बला घर इच राहे ।

माँ निकाले (दान का संकल्प कर) बेटी खावे, घर की बला घर मे रहे ।

मा कोलूं धी सिआणी, रिद्धे-पक्के पाए पाणी ।

माँ से बेटी सयानी, रंधे-पके मे पानी डाले ।—है तो ऐसी लायक कि रंधे-पके मे पानी डाल देती है और बनती है माँ से भी सयानी ।

मा ज़रोंदी सत पुत्र, बल न डेदीं बंड ।

माँ सात बेटे पैदा करती है, पर भाग्य नहीं बाँट देती ।

मा जिआं मासी, कन्ध ऐरे ते आसी ।

[कन्ध = स्कन्ध, दीवार]

माँ जैसी मौसी, दीवार नांव के अनुसार आएगी ।

माजू दी यज्याणी, रातीं परनी डिआं चुधर्याणी ।

दुहाजू की दूसरी बहू, रात को ज्याही दिन को चौधराइन ।

माणक मोती नैं बहें, मिने पिरारबध ।

[नैं = नहीं]

नदी मे माणक मोती बहते हैं पर मिलती है प्रारब्ध ।

मा दा हां पट्ट, ते बाल दा हां भट्ट ।

माँ का जी रेशम, पर संतान के जी को धिक्कार ।

मा टे लेखे पुत्र वड्डा पिआ थोदे, ईं न जाण डीं पए खुटदेन ।

माँ की समझ मे बेटा बड़ा हो रहा है, यह नहीं जानती कि दिन (उम्र को) घट रहे हैं ।—ज्यों ज्यों दिन बीतते हैं जीवन-काल घटता जाता है ।

मा धी आपो आप, बुआ भतीजी हिको साथ ।

[आपो आप = अपनी अपनी जगह पर]

माँ बेटी अलग अलग (होती हैं), पर बुआ भतीजी एक ही साथ की ।—बुआ भतीजी का रूप स्वभाव आदि बहुत बार एक-सा होता है ।

६] मा भी न करे, थी हंग हंग ययरे भरे ।
माँ (नो उसे) घंटी नहीं बजती, (पर) घंटी हंग हंग (माँ को) लहंगे भरे । एक पत्र को गिनाने उपेक्षा, दुगने पत्र का स्नेहाविषय ।

मा न पावे गुल्मड़ी, श्री दी गिन्नी आरुढ़ी ।
[गुल्मड़ा = डरना; पर परी सोटी गेटी]
माँ टिफड न पावे, (पर) घंटी को गर्दन धकटो टूटे है ।

मा न भीषण, कौन करे वीण ?
[वीण = मरन का गाना]
(न) माँ ई न बहन, कौन विनाप करे ?

मा पिन्ने, पुत्र घोड़े पिन्ने !
मा भीख माँगे, बेटा घोड़े लेवे (गर्गदे) !

मा भठ्यारी पुत्र तिल्लेदारी !
[तिल्ला = स्त्रायत्; तिल्लेदारी = शय्या; शय्या वेगारी पढ़ने गाना]
माँ भठियारन बेटा राजकीय-वेगारी !

माया जगु विरमाया है ।
माया न जगत् का भरमाया है ।

मारण आले डा हय नप्या बेंदे, अलावण आले डा मूं नई नप्या बेंदा ।
[नप्य = पकड़ना, अलावण = पालपन]
मारने वाले का हाथ पकड़ा जाता है, (पर) बोलने वाले (बुरा भला कहने वाले) का मुँह नहीं पकड़ा (राका) जाता ।

मार न कुट्ट, आन्द्र च घुट्ट ।
[आन्द्र = अन्धस्तन, प्राण]
(न) मार न पीट, और दस घोट दे । मर्म-वेदना पहुँचाना ।

मारे मा, न मारण डे ।
माँ (खुद भले डी) पीट ले, पीटने नहीं देती ।

मिजमान आया, भगवान आया ।
मेहमान आया, (मानो) भगवान् आया ।

मित्रां नाल करेदे ठगिआं, बीदे जनम कसाई ।
जो (मित्रों) के साथ ठगी करते हैं (भगल्लो) जन्म (में) कमाई होते हैं ।

मिश्रां करे निका निका, बीबी डेवे हिको धिका ।

मियाँ करे छोटा छोटा, बीबी दे (डाले) एक ही धक्का-। मियाँ तो थोड़ा थोड़ा कर के जोड़ता है, बीबी उसे एक-बारगी उजाड़ डालती है ।

मिश्रां घर नई, बीबी कूँ डर नई ।

मियाँ घर नहीं, बीबी को डर नहीं ।

मिश्रां बीबी राजी तां कीं ए मुथाजी ?

मियाँ बीबी राजी तो (किसी दूसरे की) मोहताजी क्या है ?

मुट्टी रत्न सवादां दी, ते रक्खे आइतवार ।

लुगाईं स्वादे की मारी है, और आदित्यवार (व्रत) रखती है । बहुत लोग आदित्यवार का व्रत रखते हैं, और उस में नमक नहीं खाते, कोई स्वादे की मारी मीठा खाने के लिए ही व्रत करती है ।

मुड़दा न बोले तां न बोले, बोले तां खफून शोड़े ।

मुर्दा न बोले तो न बोले, बोले तो कफून तोड़े । सदा चुप रहने वाला कभी कभी बड़ी चुभन वाली बात कहता है ।

मुल्लां गए, मुहावे चुके ।

मुझा गए, स्नेहकथा समाप्त । मुँह के सामने ही खैरबाही थी ।

मुल्लां हर कई कूँ थुके, मुल्लां कूँ कोई न थुके ।

मुझा हर किसी को थुके, मुझा को कोई न थुके । दूसरे को तो कह सुन लेता, पर खुद किसी की न सहना ।

मूँ खांदे, अकखीं शरमान्धेन ।

मुँह खाता है, आँखें शरमाती हैं ।

मूँ दी मिट्टी, तन दी खोटी ।

मुँह की मीठी, भीतर से खोटी ।

मूँ न मत्था, जिन पिटेदा लत्था ।

मुँह है न माथा, (राता-) पीटता जिन छतर आया है । गुसैल घृणास्पद चेहरा ।

मूरख दा हासा, थी पिआ विणासा ।

मूर्ख की हँसी, और विनाश (वैमनस्य) हो पड़ा ।

मूरख दा हासा मरोड़ भन्ने पासा ।

[पासा = पार्श्व]

मूर्ख की हँसी पहलू मरोड़ (कर) तोड़ डाले ।

भूल कोलूँ बिहाज पिआरा होदि ।

भूल से ब्याज प्यारा होता है ।

मैं चब्बा के मैदा भाई ? ओ मिट्टी ते ओ छाई ।

मैं अच्छा कि मेरा भाई ? वह मिट्टी और वह धूल ।

मैदा नां जिन, न हें न धिन ।

मेरा नाम जिन (है), न दे न ले । रुखा सूखा व्यक्ति ।

मैं न पिछाँ, मैदा ठूठा पिछे ।

मैं भीख न मागूँ, मेरा खप्पर भीख माँग । खुद न माँगना प्रत्युत किसी के द्वारा माँगना ।

मोत्यां दी परख सराफां कोल होंदी है ।

मोतियों की परख सराफों के पास होती है ।

मोया नई ते आकड़या पए ।

मरा नहीं और अकड़ा पड़ा है । मार कर कहता है कि मरा नहीं, अकड़ा पड़ा है ।

मौत चमेटीं मारिआं, ते चेता आया म्हा ।

मौत ने चपलें मारों तो होम ठिकाने आये ।

रकेव्यां भुल थां, बढायां सुल थां ।

[भुल = भूल]

रकेवियों भूल की हैं, बढाइयाँ (अभिमान) व्यर्थ की हैं ।

रज खाये दी मार है ।

अधा खाये की मार है । अधा कर खाना मिल गया, इसलिए नज़रेबाज़ी हो रही है ।

रन गई सिआपे, दुल रोवे आपे आपे ।

लुगाईं स्थापे गई, आप से आप (अपने) दु खों को राने । दुःख की जगह जा कर अपने दुःखों की याद आप से आप आ जाती है ।

रंडुइं गिआं कुडमाई, आपणी करे के पराई ?

[कुडमाई = सगाई]

रंडुआ (किसी की) सगाई के लिए गया, अपनी करं या पराई ?—रंडुए को पहलूँ अपने लिए चाहिए, दूसरे को क्या करायेगा ?

रत्तें दी रंगावी, ते चिट्टे दी धुवावी ।

[रत्ता = रक्त, रंग हुआ]

रंगदार की रंगाई और सफेद की धुलाई (बराबर पड़ जाती है) ।

रख बिलछी कींवे जाये ? गाल करे ते खिल्ले आपे ।

पगली लुगाई कैसे जानी जाय ? बात करे और आप ही हँसे ।

रत्नां अत्तर-तालियां अत्तर ताल करेन ।

हौंघे बिचूँ कइठ के हथाले विच बुडेन ।

[अत्तर-तालियां = सत्तर चाले करने वाली, अत्यन्त धूर्त । हौंघा = गहरा । हथाला = जिस में हाथ लग जाय, बखला]

धूर्त लुगाइयां अनेक चालें चलती हैं, गहरे मे से निकाल के उथले में डुबोती हैं ।

रत्नां रत्नां आखिए, रत्नां सन्दी वस्ती ।

वसटे जुगो चौड़ करेयां, दख रनां दी मस्ती ।

[सन्दी = सनी, सरी]

(उन्हे) लुगाइया कहिपे (अर्थात्, वे कहलाती तो हैं लुगाइयाँ), (वह) लुगाइयों की भरी वस्ती है । वसटे घर (घराने) चौपट करती हैं, देख (तो) लुगाइयों की मस्ती ।

रख करे सबब गरीबां लोकां दे ।

[सबब = कारण, घटनाओं का अनुकूल बनाव]

भगवान् गरीब लोगों का रास्ता बना देता है ।

रख सूली दा कंदा कीतेस ।

भगवान् ने सूली का काँटा कर दिया है । जहाँ सूली लगने वाली थी, वहाँ भगवान् ने ऐसा कर दिया कि काँटा ही चुभ कर रह गया । बड़ी आपत्ति के बजाय थोड़ा सा कष्ट-हुआ ।

राजे दी धी पाड़ पाड़ सी, निकम्मी मूल न थी ।'

राजा की बेटी फाड़ फाड़ सी, निकम्मी हर्गिज़ न हो । निकम्मी तो नहीं रहती, पर फिज़ूल काम करती है जिन से कुछ लाभ नहीं ।

राजे दे घर मोत्यां दा काल ठे ।

राजा के घर मोलियों का अकाल है ।

रात आपणी तात ठे ।

[तात = (सं०) तात]

रात अपनी तात है । आदमी का दिन का समय दूसरों के अधीन हो तो भी रात अपनी होती है ।

रीस कतींदे सुत्र, रीस न थोँदे पुत्र ।

रीस से सूत काते जाते हैं, (पर) रीस से बेटे नहीं (पैदा) होते ।

रीसड़िआं घर बुढे, हूसड़िआं घर मुढे ।

रीस करने से घर बसे, ईर्ष्या करने से घर उजड़े ।

रक्खी सुक्खी खा के ते ठड्डा पायी पी, नां हेख परयां चोपड़्यां, ते नां तरसावी जी।
रुखी सूखी खा कर ठंका पानी पी। पराई चुपड़ी मत देख, ताकि जी न तरसे।

रुप्पा गुल्ले, मूनां पल्ले।

चांदी (भले ही) गल जाय (बरबाद हो जाय), (पर) सोना पल जाय। रुपया-पैसा नष्ट कर भी आदमी को अपने स्वास्थ्य को रक्षा करनी चाहिए।

रूप बूँठा डिठ्ठा हाई, ते वल्लू बूँठा खाया हाई।

रूप ने बैठे बैठे देखा था और भाग्य ने बैठे बैठे खाया था। दे० ऊपर—अकल बूँठा०।

रोटी खाओ शकर नाल, दुनियां भेलों मकर नाल।

[दुनियां = सप्ताह, धन]

रोटी शकर के साथ खाओ, मकहारी के साथ धन जोड़ो।

लए शर दे टिकड़े कौन कंड दो पट्टे ? फूका हिल्यें उड्ड गुए पंज सत्त कट्टे।

[लया = लड़या नामक कस्बा जो सिन्धु नदी के बायें भस्कर से १६ मील दक्षिण है; टिकड़ा = टिकड़ा = पतली पतली मीठी या फीकी मट्ठी। ठीक शब्द 'लड़या' और 'टिकड़ा' हैं, पर यहाँ पद्य में 'लया' और 'टिकड़ा' कर दिया गया है।]

लड़या शहर की मट्ठियाँ, कौन किसी को भेजे ? (जो) फूँक देने से पाँच सात एक साथ ही उड़ गए।

लम्पो लग लड़ाई, शकर मैं बिंदाई।

[लग—निरर्थक शब्द]

(अहा ! लड़ाई छिड़ गई, (तो) मैंने शकर बॉटी।

लल मरेंदी डिंगे, रब सिधियां टोरे।

[लल = पगली की बात, डिगा = टेढ़ा]

उलटी सीधी होंक देवी है, भगवाण सीधी चला देता है।

लाऊ भलाऊ भोडे घलाऊ।

[लाऊ = लगाने वाला, चुगलघोर]

चुगलघोर, बहकाने वाला, भगड़े डलवाने वाला।

लाल आए हुष गुए, सुन्दकके आए तर गुए। जिनां ते उमैठ नाई, ओ पर्वत चढ गुए।

नाल आए हुष गुए, मीप आयें वैर गुए। जिन पर उमीद नहीं थी वे पर्वत चढ़ गए।

ला लगा वृष दिंगर।

[लघग = लगाना। दिंगर = उंछे की शक्ति]

(रुपया) लगा लगा कर (भी दरवाजे पर) कांटी की बाड़ ही रही। खर्च कर के भी चीज-अच्छी न बनी।

लुच्चे खावेन लुचिआं, भलेमानस खावेन जुतिआं ।

लुच्चे लुचुइयाँ खावें, भलेमानस जूते खावें ।

लुट्ट गुरे लुट्ट, धुवाला कड़ी न सावा ।

[धुवण = खींचना-खसोटना]

लूट चीख हो गई, खसोटने वाला कभी हरा नहीं होता । लूट का माल अपने पास बचने नहीं पाता ।

लुइदा खरबूजा पित्तीं दे नां ।

बहुता खरबूजा, पित्तों के नाम । खरबूजा बहा जाता था तो उसे पित्तों के नाम संकल्प कर दिया—बची-खुची किसी को देता ।

लेला गिदोसँ उन कीते, हथूँ चरे कपाः ।

मेमना लिया ऊन के लिए, उलटा चरे कपास ।

लोक कत्ते गैली वत्ते, लोक चाए गैली ढाए ।

लोग कातें पगली धूमे, लोग उठाएँ (चलाई) पगली बिछाए ।

लोभ कूँ सोभ काई नई ।

लोभ को कोई यश नहीं ।—लोभी को कभी यश नहीं मिल सकता ।

लोहा लूँण कुट्टेदिआं उमरा गुरे बिहा ।

लोहा नमक कूटते उम्र बीत गई । सदा मुसीबतों में ज़िंदगी कटी ।

वैज धिआ रावी, न कोई वंजी न कोई आवी ।

जा बेटी रावी, न कोई (बेरे पास) जाए न कोई आए । बेटी को दूर ब्याहना ।

वट्टे सट्टे दी कुइमारि, गंजी गुरे ते काणी आई ।

अदले बदले की सगाई, गंजी गई तो कानी आई ।

वड्डा बैरी कौन ? सक्के पिउ दा पुत्र ।

बड़ा बैरी कौन ? सगे बाप का बेटा ।

वड्डे घर दी अधरोड़ी नई अज़मावण दी ।

बड़े घर की खुरचन (भी) अन्दाज करने की नहीं होती ।

वड्ड्याँ इच वड्ड्ही वरकत होंदी हे ।

बड़ों में बड़ी बरकत होती है ।

वड्ड्याँ दे सूँ ते खल्याँ दी पंचाई ।

[पंचाई = पंच की हैसियत और अधिकार]

बड़ों के मुँह पर जूँसों की पंचाई । बड़ों का पंच बनना जूँते खाने के लिए ही होता है ।

वधणो आई वधावण कूं, खोर खण्ड खवावण कूं ।

हिचकी आई बढाने को (और) दूध खौड़ खिलाने को । छोटे वच्चे को हिचकी आना स्वास्थ्य का चिह्न है ।

बल बल आप कूं, न माई कूं न बाप कूं ।

फिर फिर (चाहे कुछ भी हो) अपने आप को, न माई को न बाप को ।

अच्छे बुरे कसों का फल मनुष्य को अपने आप को मिलता है दूसरें किसी को नहीं ।

बस्सल भनीदे तां वो उठदी हे ।

[भस्त्रण = तोड़ना, भनीग्रण = तोड़ा जाना]

प्याऊ तोड़ा जाता है तो गन्ध उड़ती है । कोई बात खोलो तभी फैलती है ।

वांघे डांड कूं छमकां !

चलते पैर को मटियों । अच्छा सला काम करते को फटकार बताना ।

वांध्यां नद्यां थल करे, थलूं करे दिआ ।

(ईश्वर की लीला) बहती नदियों को स्थल करती और स्थलों से दरिया कर देती है ।

विसविस दी कुर्ची सदी आई होदी हे ।

[विसविस = बहम, खाने-पीने रहन-सहन आदि में निषेधों का उचित से अधिक ध्यान रखना]

बहम की देगवी जली हुई होती है । बहुत बहम करने से मनुष्य नष्ट हो जाता है ।

वेला न कुबेला, ते वोके अन्धा छेला ।

[वोःअ = मिस्रियाना]

बख्त बेवख्त अन्धा बकरा मिस्रियावे ।

बेला बन्दा साईं दा चोर हे ।

निकम्मा आदमी ईश्वर का चोर है ।

बेली जुटी उन बेले ।

निकम्मी जादनी ऊन बेले ।

बेले दी संध्या कुबेले दी निमाज़ ।

बन्त की संध्या, बेवस्त की निमाज़ ।

अधरखोरयां कूं अकर मिल गंधी हें ।

शकरगंधों के शकर मिलती रहती है । जैसा खर्च करने की जिसे आदत हो, वैसी आय भी उसे हो ही जाती है ।

अगवी कोलं अम भला नेग तुरत हुंवे जवाव ।

(बपन न निमानं बाले) उदात्त में (तो) मूल (ही) भला जो तुरत जवाब दे दे ।

शरी शूय दा हिसाब बरोबर थी वैदे ।

उदार कंजूस का हिसाब बराबर हो जाता है ।

शरम करे, भुक्ख मरे, घर दा करे ज़िआन ।

(जो) शर्म करे (सो) भूख (से) मरे, घर का नुकसान करे ।

शरम वाला अन्दर बढ़या, विशरम आख्या मैं कोल डुरया ।

शर्म वाला अन्दर घुस गया (सामने मुकाबला कर तो सकता था परन्तु इबज़त के खयाल से हट गया), बेशर्म ने कहा, मुझ से डर गया ।

शरीक दी कन्ध ढावे, भाँवे आप हेट आ जावे ।

शरीक की दोवार गिरे, भले ही खुद नीचे दब जावे ।

सिंहों दे मूं कै धोतेन ?

सिंहों के मुँह किस ने धोये हैं ?

संग तल्लू लत्था, जिआं लड्डू तिआं मट्टा ।

गले से नीचे उतरा, जैसा लड्डू वैसा रायता ।

संग तारे, कुसंग वोड़े ।

सत्संग तैराप, कुसंग डुबोप ।

संग सुई, पेट खुई ।

गला सुई, पेट कुँआ । दीखने मे पसला दुबला, पर पूरा पेट ।

सच मरचां कूड़ गुड़, पीर पैसा रत्न गुर, जीवें आखी खर्वे दुर ।

(तुच्छ आदमी के लिए) सत्य मिर्चे हैं, झूठ ड है, पैसा पीर है, बहू गुरु है, जैसे कहे वैसे चल (चलता है) ।

सज्जणां सिआवां दी फुल्लां दी अत्रो होंदी ए ।

सज्जनों ससबियों की फूलों जैसी आबरू होती है ।

सह्नी दा रज्जा ।

छठी का तृप्त । सदा का तृप्त । ऐसा विरवास है कि बच्चे की छठी के दिन माँ ब्रथा कर खा ले तो बच्चा सदा तृप्त-स्वभाव होता है ।

सठ सांघी हे पंभा: नई सांघी ।

साठ सहवी है पचास नही सहवी । बहुत की हानि करना थोड़े को बचाना ।

सड़्ये कूं पढ़काठ्यां पिआं हित्यां ।

[पढ़काठी = (पढ़ + काठी) मुर्दा अपने बराबर तौल की लकड़ी से यदि पूरी तरह न जले तब जो और लकड़ी उसे जलाने को ढाकी जाती है ।]

जले को पढ़काठियां पढ़ी दी । मरे को मारना ।

सदके मासी, धोले मासी, भणौंजा रोटी घर बैँख खासी ।

वारी जाय मौसी, बलिहारी जाय मौसी, भानजा रोटी घर जा खाएगा । खाली बावो से प्रेम दिखलाना ।

सप्य ई मरे ते दिग्मा ई राह्वे ।

सॉप भी मरे और लट्टु सो रहे ।

सरफा करे, पट डंडावे ते मैदा खावे ।

किफायत करे (करना चाहे) (तो) रेशम पहरे और मैदा खाए ।

सज्जड़ देखे पर त्रिघरीदेन ।

[त्रिघरय = फैलाना, त्रिघरावय = फैलाना, त्रिघरीजय = फैलाया जाना]

रजाई देखे पैर पसारें आते हैं ।

सज्जड़ डूँची शीह निकल आए ।

रजाई में से सिंह निकल आया है । एकाएक कोई भारी सुखीबत आ पड़ना ।

सस न निनाए, बीबी आप प्रधान ।

न सास न ननद, बीबी स्वयं प्रधान ।

सस न सौरा, पाए बीजी छेरा निदोरा ।

न मास न समुर, पवि मिले (हुम्मे) निरा छोकरा । सॉ बाप आदि बड़ा मिर पर न हो तो शिष्ट संवान नहीं होती ।

सस विलेसी गुल्लिआं, नूं विदेसी छल्लिआं ।

[छल्लिआ = कुकुरियां, वेदन = लपेटना, विदेसी = लपेटेगी]

सास बातों में बहुलाएगी, पचोहू कुकुरियां खूब कातेगी ।

सहज पके सो मीठा हो ।

सहज पके सो मीठा होय ।

साईं वहे हन कचावे चढ़यें, उगाः वहे हन गुते खांदे ।

[कचावा = फेंट की कोहान पर रक्ता जाने वाला लकड़ी का चौकौर लटोला जिस के अन्दर दोनों तरफ बैठते हैं; उगाः = गवाह]

मानस कचावे पर चढ़ें फिरते थे, गवाह गोते खाते फिरते थे । मुहई सुस्त गवाह सुस्त ।

साईं वाले सटा निराने ।

पट है ।

साग ढोढा पच्छां ताई, खिचड़ी डुपार ताई,
सींविआं डकार ताई, भत्तड़ा निसत्तड़ा चाँके टी बुनाली ताई ।

[ढोढा = मिसरोटी । कविता में 'खिचड़ी' का 'खिचडी' रूप गबला है]

साग-रोटी रात तक, खिचड़ी दोपहर तक, सिवई डकार तक, मारहीन भात रसोई की सुण्डेर तक ।—रोटी खाने से रात तक वृप्ति रहती है, इत्यादि ।

वाटी कहे में आऊँ जाऊँ, रोटी कहे भंझिल पहुँचाऊँ,
दाल भात का ऐसा खाना, मेरे भरासे कहीं न जाना ।

साग मथे दा भाग, डेवो पुत्रां कूं;
दाल मोई पिआर्यां नाल डेवो धीरीं कूं;
वड़ियां गुल्ला-सड़ियां डेवो नोरी कूं;
साग—माथे का भाग—पुत्रों को दो,
दाल—(अपने) प्यारों के साथ मोई—बेटियों को दो;
वड़ियां—गालें जलाने वाली—पतेहुओं को दो ।

सांझी बाब न रोवे कोई ।
माभे के बाप को कोई नहीं रोता ।

साधां कूं के सवाधां नाल ? सरो मलाई आवण डे ।
साधुओं को स्वादों से क्या ? मलाई से सना आने दो । किसी साधु से पूछा गया कि आप को मलाई हटा कर दूध दिया जाय या मलाई-समेत । उस ने बड़ा वैराग्य दिखलाते हुए उक्त उत्तर दिया ।

साल दा त्रै-सौ-सठ दिहाड़ा हे ।
साल का तीन सौ साठ दिन है ।

सावरा साग मथे दा भाग, पेकी खट्ट बैठी तक ।
ससुराल का साग माथे का भाग, मायके की खाट बैठी तक । ससुराल में माग-पात खा कर रहना भी अच्छा,
मायके से पलंगों पर बैठे रहना भी अच्छा नहीं ।

साँबलिआं मनभावलिआं, गोरी गोए दा पिन्न ।
सब्बे गोर्यां छोड के हिका साँबली पिन्न ।

[पिन्न = पिण्ड]

साँबलियाँ मनमोहिनियाँ (होती हैं), गोरी गोबर का पिण्ड । सब गोरियाँ छोड़ कर एक ही साँबली ले ।

सिआखा कां विठ ते धाँदे ।

स्थाना कौआ भीठ पर बैठता है । असुक भादमी स्थाना है तो क्या, वह स्थाने कौए की तरह है ।

सिकयां दी गंजी त्रौड़े पई गंजी ।

[सिकया = तरसना, गंजी = मन्थ, चारपाई]

(सन्तान के लिए) तरसने वालों की गंजी (बेटी अथवा बहू भी) चारपाई तोड़ती रहे । जिन्हें तरस तरस कर बहू अथवा बेटी मिली हो, उन को यहाँ वह अंगहीन होने पर भी आदर पाती है ।

सिकयें सिकयें रन लुद्धी, सिर ते वहे पण्ड वुद्धी ।

[पण्ड = गठरी, मोटरी]

तरसते तरसते बहू मिली, (उसे) सिर पर गठरी बाँधे (बना कर) फिरता है ।

सिर चिट्ठा, अकल फिट्ठा ।

सिर सफ़ेद, अकल विगड़ा ।

सिर तू लात्पी छोई, मैहा को करेसी कोई ।

सिर से छोई खर गई, (तो) मेरा कोई क्या करेगा ? निर्लज का कोई कुछ नहीं विगाड़ सकता ।

सिर वहे सरदारां दे, दिढ वहे शउकारां दे, पैर वहे गंवारां दे ।

सिर वहे सदर्पों के, पेट वहे साहूकारों के, पैर वहे गंवारा के ।

सिंसार दुमुई चुंआती है ।

[चुआती = अधजली लकड़ी जो काटा कर दे]

ससार दुमुँही चुंआती है ।

सिंसारी कण्डयां दी बाड़ी है ।

संसार कौंटों की बाड़ है ।

सांख उवे जेरे थल ते गज्जेन, मा-पिउ उवे जेरे पड़ते कज्जेन ।

[पल = खुला मैदान]

समधी बही जो सरं-ग्राम गरजें, माँ-बाप वही जो परदे ढकें (लाज रखें) । समधी प्रायः सुँहफट हाँते हैं, माँ-बाप सन्तान को लाज रखते हैं ।

सुई पा वड़देन, सलाई पा निकलदेन ।

सूँह खाल कर घुमते हैं, सलाई खाल कर निकलते हैं । (नौकर चाकर) पहले दोन बन कर आते हैं, पीछे शोख बन कर निकलते हैं ।

सुफलां रुं दुँदेदी गां, दुख न चारा हे ।

सुगों को दैटनी हैं, (पर) दुःख (सुख की) चारा नहीं (आने) देता ।

सुख्या खावे अन्न, दुख्या खावे धन ।

सुखी खावे अन्न, दुखी (बीमार) खावे धन ।

सुत्ती दा अद्दा खा गई कुत्ती ।

सोई (हुई) का आटा खा गई कुत्तिया । सदा जागरूक रहना चाहिए ।

सौरा आवे तां चरखा घूके, सस कैदे अगूं कूके ?

[घूके = घू घू आवाज़ करे; कूके = चीखे]

ससुर आवे वो चरखा घूँ घूँ करे (तेज़ी से चले), सास किस के सामने शिकायत करे ?

सौ सिआणे मत हिका, सौ विलांगे गंठ हिका ।

सौ स्थाने मत एक, सौ घुमाव गॉठ एक ।

हँगाई आई, मुत्राई गई ।-

[हँगाई = हगना; मुत्राई = मूतना]

हगते आई, मूतते गई । जैसे वे दोनों क्रियायें साथ साथ होती हैं, उसी प्रकार भट आई और भट गई ।

हट्टी ते बावण नई दीदा, 'उड़दा उड़दा तोल' ।

दुकान पर बैठना नहीं मिलता, (कहते हैं)—'उड़ता उड़ता (ज़्यादा ज़्यादा) तोल' ।—दुकानदार के साथ उन का इतना लिहाज़-मुलाहज़ा नहीं है कि दुकान पर बैठना भी मिल सके, पर चाहते हैं कि दुकानदार उन्हें ज़्यादा तोल दे । हम उन्हें अपने घर घुसने भी नहीं देना चाहते, पर वे चाहते हैं हमारे घर आ कर खा भी जाँय ।

हत्थूं डिंवीजे, ज़ामन न पुवीजे ।

[पेवण = पटना; पुवीजण = पड़ा जाना]

हाथ से (पल्ले से मले ही) दिया जाय, (किसी का) ज़ामिन न बना जाय ।

हथ कळ्ळण कूं आरी क्या ?

हाथ कङ्कन को आरसी क्या ?

हथ काना, शार दिवाना ।

[काना = सरकण्डा]

हाथ मे मरकण्डा, शहर (भर मे) दीवाना (हुआ फिरता है) । लड़का बगल मे ढँढोरा शहर में ।

हथ न लग्गे तां वथ किथाई दुर वैदी हे ?

[वथ = वस्तु]

हाथ न लगे तो वस्तु कहीं चली (चल कर) जाती है ?

हथ न बैदा, 'थू खट्टे हेन' ।

हाथ पहुँचवा नहीं, (कहते हैं) "थू खट्टे हैं" । अंगूर खट्टे हैं ।

हथ पुराणे खोसड़े बसन्ते हुआं आपनी ।

[खोसड़ा = फटा जूता, बसन्ते हुआं = बसन्ते जी]

हाथ में पुराने फटे जूते (खिये) बसन्ते साहब आप हैं ।

हथ विच होवनी रोकड़े, सँवीं-संभ विआह ।

[सँवीं-संभ = संभ होते ही]

हाथ मे नकद (पैसे) हों (तो) नांभ होते ही (जल्दी) व्याह (हो सकता है) ।

हरकत इच बरकत होदी हे ।

हरकत (गति) मे बरकत होती है ।

हाड़ दा इम्भ, सावण दा अम्भ, भद्रचो दा अम्बरतफल ।

[इम्भ = खट्टा तीखा फल]

आपाद का (आम) खट्टा तीखा फल, सावन का (आम) आम, भादों का (आम) अमृतफल ।

हिक अखाई, इभा भूँ ते ।

एक (तो) कहूँ, (और) दूसरे सुँ पर ।

हिक खान्दे नई, हिक लांघे नई ।

एक खाते नहीं, एक पाते नहीं ।

हिक चुप सौ सुख ।

एक चुप सौ सुख ।

हिक चोर, इभा चतरा, त्रीभा शरम नई कतरा ।

एक चोर, दूसरे चतुर, तीसरे जरा भी शर्म नहीं ।

हिक ही हे ते इ पिछावें हेन ।

एक दिन है और दो परछाइयाँ हैं । समय सदा एक सा नहीं रहता ।

हिक थोक उच कड़ाई इ तलवारां मां ने ?

एक म्यान मे कसो दा तलवारें ममाती हैं ?

हिक दर बूझ, सँ दर छोड़े ।

(भगवान्) एक द्वार बन्द करता है तो सँ द्वार खोल देता है ।

हिक न आपणा, मग्ने पराये ।

एक अपना नहीं, मग्न परायें हैं ।

हिक न खट्ठा, खावां चार ।

एक नहीं कमाऊँ, (और) खाऊँ चार ।

हिकनां दा तेल नई बलदा, हिकनां दा मुत्र ई बलदे ।

[हिकनां दा = एकों का]

कइयो का तेल नहीं जलता, कइयो का मूत्र भी जलता है । अपनी अपनी किस्मत ।

हिक पन्थ हूँ कारिज ।

एक पन्थ दो काज ।

हिक पिनणां, डुभा हलवे दी खरैत ।

एक (भीख) माँगना, दूसरे हलवे की ख़ैरात ।

हिक मच्छी गन्दी, जल सारा गन्दा ।

एक मछली गन्दी, जल सारा गन्दा ।

हिक मोए, वृए उगम्ये, कटी न खुट्टे राँद ।

[उगम्ये = उद्गमन, गर्भ में पड़ना, राँद = खेल]

एक मरे, दूसरे गर्भ में पड़े, खेल कभी ख़तम न होवे ।

हिक हिक हूँ ग्यारां, त्रै अठारां ।

एक एक दो ग्यारह, तीन अठारह । एक और एक ग्यारह ।

हिके ईद बरात हिके जुमेरात ।

या तो ईद बरात या जुमेरात । दोनों तरफ़ अति ।

हिके भा खड़ा पाणी ई त्रक वेंदे ।

एक ही जगह खड़ा (हुआ) पानी (भी) सड़ जाता है ।

हिके मोले कड़ाई चावल निकल्ये ?

[मोला = मूख]

एक मूख (भारने) से कभी चावल निकले ? किसी काम से सहसा सफलता नहीं मिलती ।

हीजइचां दें घर पुत्र जम्या हाई, चुम चुम मार सव्या हानें ।

हिजड़ों के घर पुत्र पैदा हुआ था, (उन्हो ने) चूम-चूम कर मार डाला था !

हुण डुडी थणें पोंदी हे ?

अब (क्या) दुडी (गई) थनों में पड़ती है ? अब पछताप होत क्या, जब चिड़ियों चुग गईं खेत ?

होवणहार हो कर मिटे, सीता किउं बन भोग्ये ?

होनहार हो कर मिटती है, (अन्यथा) सीता ने क्यों बन भोगा ?

१०

वैयक्तिक



महामहोपाध्याय राय बहादुर गोरेशंकर हीराचंद ओझा
 [ई० स० १८६८ में काठियावाड़ की यात्रा के समय जूनागढ़ में बहार हुआ चित्र । उस समय आपने तिरिनार की बहान पर
 बुढ़े हुए सम्राट् अशोक के अभिलेखों की खुर्रों तैयार की थी, जो इस चित्र में देल पड़ती है ।]

परिचय

पं० गौरीशङ्कर हीराचन्द्र ओभा का जन्म विक्रमी संवत् १८२९ भाद्रपद शुद्ध द्वितीया को सिरोंही राज्य रोहेडा गाँव में एक सहस्र औदीच्य ब्राह्मण के यहाँ हुआ। सहस्र औदीच्यों की एक शाखा सिरोंही राज्य 'गोल' नामक गाँव के नाम से गोरवाल कहलाती है। आधू के आस-पास इन की काफी बस्तियाँ हैं, सिवाइस प्रमुख हैं और वाइस-स्थान नाम से ख्यात हैं। ओभा जी इसी शाखा के हैं। इन के दादा का पीताम्बर और पिता का हीराचन्द्र था, जो तीन भाई थे—सदाशिव, मायाराम और हीराचन्द्र। यह हीराचन्द्र एक विद्याव्यसनी और कर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। इन के चार पुत्र हुए—नन्दराम, भूर जी, गौरीशङ्कर। ६ वर्ष के होने पर बालक गौरीशङ्कर को गाँव की पाठशाला में पढ़ने बिठाया गया, ४ साल तक शिचा पाई, जिस में हिन्दी पढ़ना, लिखना, पट्टो-महाड़ा और थोड़ा-बहुत हिन्दी ८ साल के होने पर यज्ञोपवीत संस्कार के बाद कुल-परिपाटी के अनुसार इन्हें शुद्ध यजुर्वेद प्राप्त गया। बालक की स्मरणशक्ति बहुत तीव्र थी। एक बार सम्पूर्ण वेद पढ़ लेने के बाद, ४० अव्याय एक-एक कर ४० दिन में ही आप ने अध्यापक को कण्ठाग्र कर के सुना दिये।

बालक की प्रतिभा देख कर पिता ने उसे उच्च शिचा दिलाने का निश्चय किया, पर घर की शर्ति स्थिति बहुत खराब थी। इन के दादा पीताम्बर अच्छे व्यापारी थे। मेवाड़ के पहाड़ी प्रदेश भोमत सिरोंही राज्य के बीच सारा व्यापार उन्हीं के जरिये होता था। इस के अलावा वे अफीम का भी व्यापार करते थे। इस से उन्हे आमदनी भी खूब थी, पर उन के बाद हीराचन्द्र जी के सब से बड़े भाई सदाशिव मोलोन से आगापीछा बिना सोचे ही लोन्दन में सारा रुपया बरबाद कर दिया। ऐसी हालत में सिरोंही के और कोई धन्य न रहा। स्वयं हीराचन्द्र को पढ़ने लिखने का बहुत शौक था। उन्हो ने बहुत स्वयं अपने हाथ से नकल कर इकट्ठे किये थे। लिखने को कागज़ को घोट कर चिकना करना, ला स्याही बनाना, घर में उपयोग के लिए दियासलाई, रंग आदि तैयार करना तथा घावो पर लगावने मलहम बनाना आदि सब काम ये अपने हाथ से करते। घर की हालत सुधारने को उन्होंने नन्दराम को बंबई में मुनीमी करने भेज दिया था। बालक गौरीशङ्कर को भी उच्च शिचा दिलाने के बड़े भाई के पास बंबई भेज दिया गया।

राजपूताने में तब रेल न थी। उस समय के लोगों के लिए रेल एक अचम्भा था। एक लौटे आप के एक मित्र ने गाँव में रेल का बर्णन यों किया था—ढिब्यों को एक-दूसरे से जोड़ के आगे एक लोहे का घोड़ा होता है, जो सब को खींचता है। अस्तु, बंबई जाने को रेल पर इन्हे गाँव से अपने बड़े भाई ओंकार जी के साथ १६० मील पैदल चल कर अहमदाबाद पहुँचना समय आप की उम्र १४ साल की थी। पहले पहल रेल देख कर आप इतने प्रसन्न हुए कि वो बंटे एकटक उस के संचालन आदि की प्रक्रिया को बड़े ध्यान से निहारते रहे।

बंबई में कुछ दिनों तक एक प्राइवेट स्कूल में गुजराती सीखने के बाद गोकुलदास-तेजपुर स्कूल में भरती हुए। १७ वर्ष की उम्र में एलफिंस्टन-हाई-स्कूल में भरती हुए। इन्हीं दिनों विद्यालक्ष्मी-पाठशाला में संस्कृत और प्राकृत का भी अध्ययन चला करता। कालवादेवी में इन के भाई का

(२)

पृष्ठ
५७
५९
८३, ८४
८४

पक्ति
४
३
अनेक तत्सम शब्दों में
१९

अशुद्ध
पाइआछे
ठीक
ज, व
जाय ।

शुद्ध
पाइआछि
ठिक
य, व
जाय,

(विभाग ४)

१८	२४	रहाठो	रहाटं
१८	३१	कलचुरके	कलचुरी
१९	१२	मोहिने	मोहिते
१९	१७	लावेद	तावडे
१९	२७	पाटपकर	पाटणकर
२०	१०	आरम्भ होता	होता
२१	१०	तातखीनी	तातखी
२४	५	राजद्वारीय	राजद्वारीय
२४	६	सवले	संवत्सरे
२४	७	मुख्यायात्म	मुख्यामात्य
२४	१७	ने	के
२४	२१	रायपुर	रामपुर
२४	२४	तब उससे	इसी से
२५	१६	बकील की	बकील के
२६	३२	१७६७	१७६७ में
२७	१९	मराठा	अंग्रेज
२८	४	सम्बन्धी	तत्सम्बन्धी
२८	१६	को	से
२८	२३	तख्तसिंह	वख्तसिंह
२८	२४	१८०३	१८०३ में
२८	२५	को	की
३७	२७	देवावा	ठेवावा
३८	३३	इतिहासांत महाराजांच्या	इतिहासांत शिवाजी महाराजांच्या
४०	१३	लुटण्यात	लुटण्यात
"	१५	दिलीरखान पैकी	दलीरखान या पैकी
"	३२	हत्याप्रमाणे	हत्याप्रमाणे
"	१०	का	कों
४१	१४	चमूद	नमूद
४२	२८	नय्याकरिता	नय्याकरितां
"	९	महाराणी	महाराजानी
४३	३३	उगवत	उगवून
४४			

४५	२३
४६	४
"	२३
४९	२१
"	२३
"	३१
४९	३३
"	"
५०	१९
"	२१
"	२९
५१	१३
५१	२६
५२	१८
५२	२१
५३	४
५३	२०
"	२३
"	२८
५४	१८
५६	१७
५७	२२
५८	१
"	५
"	११
"	१२
५९	३३
६०	३०
"	३२
६१	२९
६२	७८
६२	९
६२	२७
६३	३
८	८११
९	६
९	१८

अशुद्ध
ताव्याद
निचाच
समजले जाते
स्वानया
जुन्या नांवाखाली
डपलेला
१७२४
१७३९
खळवळले
दोबांचेही
चौधसरदेशमुखीचो
१७५७
हानीघेतली
पुढे
साय
ढोले
दधिका
वापरीति
तेथे
विघेची
मुकीचा
सुद्ध
शीच
सेष
द्यावीद्ध
उदवलेल्या
सेते
उभाघईस
हे
लावकीप्रमाणे
थोडयाच
आपल्या
पद्यत
एकट्या

(विभाग ६)

सवर्षण
my
Mahendraverman

शुद्ध
ताव्यात
तिचाच
समजले जात
स्वारथा
नावाखाली जुन्या
ठरलेला
१७२१
१७२९
खळवळले
दोबांचेही
चौधसरदेशमुखीची
१७५९
हानी घेतली
पुढे सवासिद्धिरी अलायन्स
माध्य
ढोळे
दधिका
वापरीत
तेथे
विघेची
युक्तिचा
शुद्ध
तशीच
ऐष
द्यावी
उद्धवलेल्यां
होते
उदवईस
मुकसान होईल हे
लायकीप्रमाणें
थोडयाच
आपल्या
पद्यत
एकट्या

समवसरण
may
Mahendravai man

(४)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९	२९	<i>Pravibhagya</i>	<i>pravibhagya</i>
१०	३	<i>ie</i>	(<i>e</i> .)
१०	१८	<i>Chandraprabha</i>	<i>Chandraprabha</i>
१४	४	<i>bhūmī</i>	<i>bhūmī</i>
१४	१७	<i>dand</i>	<i>danda</i>
१४	३२	<i>Jaina</i>	<i>Jaina paintings</i>

(विभाग ७)

२०	३४	<i>sort</i>	<i>soil</i>
२१	२०	<i>her</i>	<i>her son</i>
२१	२५	<i>Kings</i>	<i>kings</i>
२२	२१	<i>पयोधिभ्याम्</i>	<i>पयोधिभ्याम्</i>
२२	२१	<i>श्रीरिवासिता</i>	<i>श्रीरिवासिता</i>

(विभाग ८)

११	७	<i>महा ११४</i>	(महा ११४)
११	१५	<i>मधुमति</i>	<i>मधुमती</i>
११	२१	<i>मा हि ष्म ति</i>	<i>मा हि ष्म ती</i>
११	२४	<i>विहित</i>	<i>विहितं</i>
११	३०	<i>सावेतु कैवृत्त.</i>	<i>सार्वतुकैवृत्तः</i>
१२	५	<i>वसमात्</i>	<i>व समात्</i>
१२	५	<i>कुन्ति</i>	<i>कुन्ती</i>
१२	६	<i>कांतिमति</i>	<i>कान्तिमती</i>
१३	१९	<i>खट्वांगानाम</i>	<i>खट्वांगां नाम</i>
१३	२०	<i>भ्रष्टाच</i>	<i>भ्रष्टा च</i>
१३	२३	<i>तीर्थमानहुहं नाम</i>	<i>तीर्थमानहुहं नाम</i>
१३	३१	<i>सन्नादैः</i>	<i>सन्नादैः</i>
१३	३२	<i>सेवितं</i>	<i>सेवितं</i>
१४	२३	<i>देशाची</i>	<i>देशाची</i>
१५	८	<i>ह्याहुन्नूर</i>	<i>ह्या हुन्नूर</i>
१५	३०	<i>जमदग्नीचा ता</i>	<i>जमदग्निची ती</i>
१६	११	<i>अनहुह</i>	<i>अनहुह्</i>
१६	१६	<i>एकत्र</i>	<i>एकच</i>
१७	२९	<i>१९०</i>	<i>सन् १९०४</i>
१८	१९	<i>ओख</i>	<i>ओरब</i>

